सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय

३२

(नवम्बर १९२६-जनवरी १९२७)

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय

जुलाई १९६९ (श्रावण १८९१)
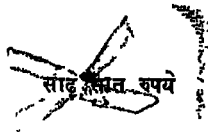
निदेशक, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली – १ द्वारा प्रकाशित
और शान्तिलाल हरजीवन शाह, नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद–१४ द्वारा मुद्रित

भूमिका

इस खण्डमें ५ नवम्बर, १९२६ से २० जनवरी, १९२७ तकका समय लिया गया है जो अपेक्षाकृत शान्तिकाल था। राजनैतिक गतिविधियाँ मन्दी होनेके कारण गांधीजी-को लगातार यात्रा करने तथा आम सभाओंमें बोलनेसे छुटकारा मिला। उन्होंने इस समयका उपयोग कताई व खादी प्रचार, छुआछूतका विरोध, मद्यनिषेध, हिन्दू-मुस्लिम एकता और गो-रक्षा आदि कार्योंकी देखरेखमें लगाया जो उन्हें राजनीतिकी अपेक्षा कहीं ज्यादा प्रिय थे। इसके अलावा इस समयका उपयोग उन्होंने विभिन्न क्षेत्रोंसे प्राप्त होनेवाले पत्रोंके उत्तर देनेमें भी किया।

किन्तु इन सबसे भी बड़ी जो चीज थी वह यह कि उन्हें इस अवधिमें आत्म-निरीक्षण और आध्यात्मिक मूल्योंपर विचार करनेका अवसर मिला। इस तरहके सवालोंमें एक सवाल लावारिस कुत्तोंका था जिसने गांधीजीके मनको उद्वेलित कर रखा था। गांधीजीके शब्दोंमें प्रश्न यह था कि "अमुक परिस्थितियोंमें जब अन्य सब उपाय व्यर्थ सिद्ध हो जायें तब कुत्तोंको मारना अहिंसाकी दृष्टिसे धर्म हो सकता है या नहीं? मैं मानता हूँ कि हो सकता है और इस बारेमें दो मत नहीं हो सकते, ऐसा मैं अब भी मानता हूँ (पृष्ठ ४२-४३)।

स्पष्ट ही इस सम्बन्धमें दो मत थे। उन लोगोंने गांधीजीको नफरतसे भरे बड़े कड़े पत्र लिखे जिनकी मान्यताएँ अहिंसाके बारेमें औपचारिक तथा बाह्य स्वरूपकी थीं। गांधीजीने अहिंसाको जैसा स्वयं समझा था उसके अनुसार उन्होंने उसके सिद्धान्तोंका बड़ा सरल और स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए एक लेखमालामें अपने आलोचकोंको जवाब दिया। "क्या यह जीवदया है?" शीर्षकसे पिछले खण्डमें शुरू की गई यह लेखमाला इस खण्डमें समाप्त हो रही है। गांधीजी कहते हैं: "कर्म-मात्र सदोष है, क्योंकि उसमें हिंसा है। तथापि कर्मके क्षयके लिए भी हम कर्म ही करते हैं। . . . लेकिन यह हिंसा . . . अल्पतम हो, उसके पीछे केवल करुणा हो, विवेक हो, तटस्थता हो और वह सहज-प्राप्त धर्म हो। . . . स्वयं दुख उठाकर, यहाँतक कि मृत्यु होती हो तो उसे भी स्वीकार करके, दूसरोंको सुख भोगने देनेका नाम ही अहिंसा-धर्म है। अमुक व्यक्ति किस हदतक यह दुख उठानेको तैयार है, उसका अन्दाज कोई तीसरा व्यक्ति नहीं लगा सकता। धर्म एक है और अनेक भी है, क्योंकि आत्मा भी एकानेक है" (पृष्ठ ३७३-७४)।

इस खण्डमें उनके 'गीता-शिक्षण' का स्वाभाविक ही गौरवपूर्ण स्थान है। यह आश्रममें उनके अवकाशपूर्ण स्वाध्याय-कालका सर्वोत्तम सुफल है। खण्डका श्रीगणेश होता है गांधीजी द्वारा श्रीमद्राजचन्द्रके व्यक्तित्व-विश्लेपणसे, जो 'गीता-शिक्षण' जैसी उनकी इस सहज-स्फूर्त रचनाकी उपयुक्त भूमिका-सा बन पड़ा है। श्रीमद्राजचन्द्र-जैसे सन्मित्रने ही सन् १८९३-९४ में स्वधर्मके प्रति गांधीजीके मनमें उठे अनेक सन्देहोंका निरसन किया था, और उन्हें आश्वस्त किया था कि अन्य और किसी धर्ममें हिन्दू-धर्म जैसी विचारोंकी सूक्ष्मता तथा गूढ़ता, आत्मदर्शन अथवा उसकी जैसी उदारता नहीं है;

और इसी आश्वासनके परिणामस्वरूप वे अपनी खोई हुई मनःशान्तिको पुनः प्राप्त कर सके थे। उन दिनों गांधीजीको जिस वातकी अत्यन्त आवश्यकता थी, और जो श्रीमद्‌राजचन्द्र द्वारा दिये गये उनके प्रश्नोंके उत्तरोंने और श्रीमद् द्वारा भेजी गई पुस्तकोंने उन्हें प्रचुर मात्रामें प्रदान की, वह थी आध्यात्मिक प्रेरणा और आत्मानुभूति तथा इसी जीवनमें मोक्ष-प्राप्तिकी एक आशा और झलक, जिनकी प्राप्तिके लिए कठोरतम उत्तरदायित्वके साथ नैतिक अनुशासनका परिपालन कोई भी मानव, दूसरोंको छूट देते हुए भी, अपने लिए स्पृहणीय मानेगा। श्रीमद्‌राजचन्द्रने जो पुस्तकें गांधीजीको भेजीं और जिनके स्वाध्यायका सुझाव दिया उनमें एक थी 'योगवाशिष्ठ' का मुमुक्षु-प्रकरण। इस प्रकरणमें सांसारिक समस्याओंका मुकावला करनेके लिए मानवीय-पुरुषार्थ-की बड़ी हिमायत की गई है तथा पग-पगपर उपस्थित होनेवाली अनुभूतियोंका परि-शीलन और गुण-दोषोंका विश्लेषण करनेका निर्देश किया गया है। अतः जब गांधीजी मेटलैंड और टॉलस्टॉयके विचारोंके सम्पर्कमें आये तो वे अपने परम्परागत वैष्णव धर्मकी परिसीमामें उनका समावेश और प्रयोग करनेके लिए तत्पर हो सके, क्योंकि तबतक श्रीमद्‌राजचन्द्रके सत्परामर्शसे प्रभावित होकर वे मुमुक्षत्वकी दीक्षा ले चुके थे। मोक्षकी भावनासे अभिभूत धर्ममय जीवनकी इसी आन्तरिक पुकारको गांधीजी एकमात्र समुचित दीक्षा मानते थे। कोई भी सच्चा धर्म किसी-न-किसी अध्यात्म-भूमिकापर अपने अनुयायियोंसे इसकी अपेक्षा करता है।

विविध कारणोंसे गांधीजीने यद्यपि श्रीमद्‌राजचन्द्रको परम्परागत अर्थमें अपना गुरु नहीं माना परन्तु वे उनके इस परामर्शके लिए अत्यन्त अनुग्रहीत थे कि मानवको अपने ही धर्मके प्रति आस्थावान बना रहना चाहिए, दूसरे धर्मोंका समादर करना चाहिए और कालान्तरमें सारे धर्मोंका अतिक्रमण कर देना चाहिए; क्योंकि आखिरकार ये धर्म सीमाओंमें बँधे विविध दायरे ही तो हैं, जिनमें मानव-मात्र आबद्ध हैं। प्रत्येक धर्ममें जो-कुछ उत्कृष्ट है उसका अध्ययन करते हुए और उस-उस धर्मके अनुयायियोंको उसका सार समझाते हुए एक सत्यान्वेषी इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि "अमुक सीमाके बाद शास्त्र सहायता नहीं करते, अनुभव करता है" (पृष्ठ ९); क्योंकि उस सीमाके पार पहुँच जानेपर शास्त्र भी एक बन्धन बन जाता है और साधककी प्रगतिमें बाधक होने लगता है। चूँकि प्रत्येक धार्मिक विश्वासके परे जाकर उसे अनुभूतिमें रूपान्तरित करना होता है अतः "सब कोई अपने-अपने धर्ममें ही रहकर अपनी स्वतन्त्रता अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि मोक्ष प्राप्त करनेका अर्थ है सर्वथा राग-द्वेष रहित होना" (पृष्ठ ११)।

'गीता-शिक्षण' में स्थान-स्थानपर 'बाइबिल,' 'कुरान', और 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' तथा स्वयं श्रीमद्‌राजचन्द्रकी कृतियोंका उल्लेख किया गया है जिनके कारण गांधीजीकी यह तत्परता और योग्यता प्रकट होती है कि वे 'गीता'को निरा एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं मानते; वे उसे विश्व-धर्मकी पोथी और शुद्ध नीति-शास्त्रका ग्रन्थ मानते हैं, "जिसे सभी धर्मावलम्बी पढ सकते हैं" (पृष्ठ ३४७)।

गांधीजी सम्पूर्ण 'महाभारत' की ही तरह 'गीता' की व्याख्या भी आध्यात्मिक एवं लाक्षणिक ढंगसे करते हैं। व्यासजीने जिस युद्धका वर्णन किया है, उनकी दृष्टिमें

वह कोई सांसारिक या ऐतिहासिक घटना नहीं है बल्कि वह तो उस अदृश्य संघर्षका सजीव और काव्यात्मक निरूपण है जो हमारे अन्तरमें निरंतर चल रहा है। वे कहते है, हमारे मनमें "जो . . . पाण्डव कौरवोंसे युद्ध कर रहे है, इसमें उसीकी बात है। . . . कृष्ण तो आत्मा है, वह हमारा सारथी है। उसके हाथमें अपनी लगाम दे देनेपर ही हम जीतेंगे" (पृष्ठ ११२)।

इस प्रकार जीवनकी वागडोर अन्त:स्थित श्रीकृष्णके हाथों सौंप देनेपर और अध्याय २ में जिसका व्यक्तित्व-दर्शन किया गया है, उस आदर्श स्थितप्रज्ञको अपने हृदयमें उतारकर, उसे सुप्रतिष्ठित कर लेनेपर मानव अपनी स्वायत्तता, निर्णय-स्वातन्त्र्य और अपने प्रयत्नोंके उत्तरदायित्वमें ठीक समर्थ वन जाता है—कमजोर नही। "'गीता' हमारी तरफसे कोई निर्णय नही करती। . . . ममत्वको छोड़कर धर्मकी दृष्टिसे ही संकटकी घड़ीमें निर्णय लोगे तो त्रुटि होनेपर भी तुम्हें शोक नहीं करना पड़ेगा" (पृष्ठ ११२)। अनासक्तिकी दिशामें हमारी प्रगतिका माप करनेके लिए "'आत्मौपम्य' ही . . . गज है" (पृष्ठ ३६७)। यहाँ प्रगति कर पाना यद्यपि आसान काम नही है किन्तु व्यक्ति "दूसरोको और अपनेको ईश्वरके माध्यमसे देखनेमें" (पृष्ठ २३३) सहायता प्राप्त करता है। तादात्म्य भावकी इस प्रक्रियामें हमारा पहला कदम होगा अर्जुनके साथ अपना तादात्म्य सिद्ध करना, ताकि हम यह प्रतीति कर सकें कि श्रीकृष्ण जो उपदेश अर्जुनको दे रहे हैं, वह हमारे ही लिए है।

इसीलिए हमारी सार्वजनिक प्रार्थनामें भी स्थितप्रज्ञके प्रति हमारी तादात्म्य भावना-की अनुभूतिको सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता है, जिसका उल्लेख 'गीता' के दूसरे अध्यायमें किया गया है। "ये श्लोक समझकर आत्मसात् करनेकी दृष्टिसे कहे गये है" (पृष्ठ १२९)। यह आदर्श मानव हमारे हृदयकी भूमिमें वोये हुए वीजकी तरह है जो वहाँ विविध परिस्थितियोंसे गुजरता हुआ स्वच्छन्द रूपसे पनपता रहता है। यह धर्मशास्त्र, अर्थात् 'गीता' भी वह भूमि ही है, जिसका उपयोग हमारा मन अंकुरित होते हुए बीजकी तरह अपने सर्जनके लिए करता है और विकासकी इस प्रक्रियामें आवश्यक तत्त्वोंको ग्रहण करता और वाकीको छोड़ता चलता है। अपने सम्मुख उठनेवाले धर्म, अधर्मके द्वन्द्वोंको सुलझानेमें मनुष्य धर्म-शास्त्रोंका किस प्रकार और किस हदतक पालन करे, इस वातका आधार मनुष्यकी मनोवृत्ति और शिक्षा-दीक्षापर अवलम्बित है। 'गीता' के काव्यानन्दका रसास्वादन तो सभी कर सकते हैं, (पृष्ठ २२०, २७७) परन्तु एक तत्पर साधकको तो 'गीता' का स्वाध्याय प्रारम्भ करनेसे पूर्व यम, नियम आदिका तथा अन्य अनुशासनोंका पालन करते हुए खरा अधिकारी वनना चाहिए। "इन साधनोंके विना" 'गीता' द्वारा धार्मिक मार्ग-दर्शन प्राप्त करनेका प्रयत्न ठीक वैसा ही होगा, जैसा कि "विना वनस्पतियोंको देखे वनस्पति-शास्त्रका अभ्यास करना" (पृष्ठ १०७)। दूसरे शब्दोंमें कहा जाये तो गांधीजीकी गीता-दृष्टि प्रयोगात्मक और व्यावहारिक है, निरी मीमांसात्मक और शास्त्रीय नहीं। 'गीता' का सम्मोहक काव्य हमें जीवनकी समस्याओंसे पलायनका पाठ नहीं पढ़ाता, वल्कि वह तो हमारे अहम्का उन्मूलन करनेके लिए जिस आचरणका

निर्देश करता है, अनवरत रूपसे उसका पालन करनेकी प्रेरणा भी देता है। 'गीता' का अध्ययन और मनन करनेके लिए हमें उसका भावार्थ समझ लेना ही काफी नहीं है। "'गीताजी' के शब्द केवल इसलिए नहीं हैं कि हम उनका भाव और अर्थ समझ लें। वे तो तदनुसार आचरण किये जानेके लिए हैं।... हम जिस विचारका पालन नहीं कर सकते, हमें उसकी बात छोड़ देनी चाहिए। यह बुद्धि और शक्तिका अपव्यय है कि हम जिस बातका पालन नहीं कर सकते, उसको झूठ-मूठ पढ़ते चले जायें" (पृष्ठ २१५)।

गांधीजीने असन्दिग्ध रूपसे 'गीता' के मूल रहस्यकी ओर निर्देश किया है। उस रहस्यका सम्पूर्ण तात्पर्य और अभिप्राय यही तो है कि हम अपने उस अहम्‌का, जो एक प्रतिबिम्ब और छाया-मात्र है और जिससे हम चिपटे रहते हैं, रूपान्तरण कर दें या उसका निर्मूलन। वे कहते हैं "आध्यात्मिक बीमारी एक ही है, कारण भी एक है और उसका उपाय भी एक ही है। ऐसी एकता सिद्ध करनेके लिए 'गीता' में एक आत्यन्तिक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। स्वजन यदि वधके योग्य हों तो उनका वध किया जाना चाहिए।... हम जिस हदतक ममत्व छोड़ेंगे, उसी हदतक सत्यका पालन कर सकेंगे" (पृष्ठ ११०)। अर्जुनका विषाद हत्या करनेकी अनिच्छाके कारण नहीं है बल्कि अपने स्वजनोंकी हत्याकी अनिच्छाके कारण है।

'गीता-शिक्षण' के ४१ से ४५ प्रकरणोंमें यज्ञकी व्यापक व्याख्या की गई है। किन्तु गांधीजीने उसमें उतनी ही छूट ली है जितनी कि शास्त्र-सम्मत हो सकती है। वे कहते हैं कि ज्यों-ज्यों परिस्थितियाँ बदलती चलती हैं और मानव अधिकाधिक ज्ञान-सम्पन्न होता जाता है, ऐसेमें "पितासे प्राप्त जायदादमें पुत्रका वृद्धि करना उचित ही है।" हम उस दिनका अनुमान लगा सकते हैं जब "चरखेका भावार्थ कोई इस तरह निकाले कि जिस साधनसे सारे समाजको जीवन मिल सके, वह साधन अथवा वह काम — केवल लकड़ीकी ही बनी हुई चीज नहीं है" (पृष्ठ १५२)।

इस विशद व्याख्याके अनुसार यज्ञका अर्थ होगा: "परोपकारके लिए किया गया कर्म" (पृष्ठ १५३)। इसीलिए देवताओंको खुश करनेका अर्थ (३,११) यह होगा कि "देव और मनुष्य एक-दूसरेका पोषण करें...। देवका अर्थ जीव-मात्र अथवा ईश्वरकी समूची पोषक शक्ति।... इसीलिए हमने "देव" शब्द छोड़कर "दूरवर्ती" ऐसा अर्थ निकाला, अर्थात् अदृश्य व्यक्ति भी। हम उन्हें अपना नौकर मानकर नहीं, वरन् देवता मानकर विनय और आदरके साथ उनकी सेवा करें अर्थात् सारे संसारकी सेवा करें" (१५३-५४)। साथ ही गांधीजी दूसरे अध्यायके ५२-५३ तथा चौथे अध्यायके १७ वें श्लोककी व्याख्या अत्यन्त संयत भावसे करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि गांधीजी इस बातसे बचनेको बड़े उत्सुक हैं कि कहीं उनके इस साधारणसे विवेचनमें वे परम्परागत अर्थोंका अतिक्रमण न कर जायें। गांधीजीके प्रयासमें जो-कुछ महत्त्वपूर्ण है वह उनकी मौलिकता नहीं, धर्म और आचारमें सामंजस्य और समन्वय स्थापित करनेका उनका सत्य-संकल्प है।

गांधीजीकी दृष्टिमें धर्म निरा रूढ़िगत लोकाचार नहीं था। धर्मको वे एक नैतिक सत्य-प्रयास मानते थे। वे उसे एक ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति मानते थे जिसमें

श्रद्धा और सदाचारका समावेश है — कर्म जहाँ ज्ञानका पोषक है और ज्ञान कर्मका मार्गदर्शक। मतलब यह है कि धर्म कोरा बाह्योपचार या निर्दिष्ट थोथा कर्म-मात्र ही नही होता। यों तो "प्रवृत्ति-मात्र कर्म है" (पृष्ठ ३४८)। "श्वास रोकनेका इरादा करनेमें भी कर्म है। कर्मका अनारम्भ भी कर्म है (पृष्ठ १४७)। जीनेकी क्रिया भी कर्म है। . . . कर्म किये विना कोई रह नहीं सकता" (पृष्ठ १९७)।

अतः कर्मसे चूँकि छुटकारा ही नहीं है, 'गीता'ने उसे ज्ञान और भक्तिसे समन्वित कर दिया है। "'गीता' कर्म-प्रधान हो, ऐसा नहीं है। ज्ञान-प्रधान हो, यह भी नहीं है। और भक्ति-प्रधान हो, सो भी नही है। . . . कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों जरूरी हैं और अपने-अपने स्थानपर ये सभी चीजें प्रधान भी हो जाती है" (पृष्ठ ३४८)। यों अपनी जगहपर ज्ञान और कर्म दोनों ही श्रेष्ठ है, पर व्यवहारमें एकके बिना दूसरा काम नही दे सकता। कर्मके वन्धनोंको तो केवल ज्ञान ही नष्ट कर सकता है और उसे अकर्ममें परिणत कर सकता है। पर ऐसा कर सकनेमें ज्ञान तभी समर्थ हो पाता है, जब वह बौद्धिक धरातलसे उतरकर हृदयमें अवगाहन करे और जीवनकी खरी अनुभूति वन जाये। थालीमें रखा अथवा पेटमें उतरा हुआ भोजन भी भूखको शान्त नहीं कर सकता। "वास्तवमें पेटमें पहुँचकर उसके पचने और खून बन जानेके वाद ही भूख शान्त होती है" (पृष्ठ २०६)।

हमें अपने स्वधर्मके लिए — हमारी आध्यात्मिक भूखको शान्त करनेवाली इस दैनिक खुराककी खोजमें — कही भटकनेकी आवश्यकता नहीं है। वह तो हमारे लिए परोसी ही रखी है। वह है "अमुक क्षणमें प्राप्त कार्य। हमें किसी न किसी द्वारा सौंपा हुआ काम करना है" (पृष्ठ ३६३)। यह हमें सहज रूपमें और "अनायास ही प्राप्त रहता है। अनायास प्राप्त हमारा यह धर्म ही हम अच्छी तरह कर सकते हैं" (पृष्ठ ३६०)। अनासक्त भावसे और बुद्धिपूर्वक स्वधर्मका निरन्तर पालन ही कर्म-योग है। यही "राजमार्ग है, सहज मार्ग है, राजयोग है" (१२२)।

यह आध्यात्मिक साधना, यह राजयोग कोई विशेष धार्मिक कृत्य नहीं हैं; इसका तो "व्यवहारके साथ निकटका सम्बन्ध है। जिसका व्यवहारमें उपयोग नहीं हो सकता, वह धर्म नहीं है, अधर्म है। पाखाना भी साफ करना है, तो धर्म-वृत्तिसे ही करना है" (पृष्ठ १५०)। परन्तु 'गीता'का कर्म कोई "जोर-जबरदस्तीसे किया गया कर्म नही है। उसकी पृष्ठभूमिमें . . . ज्ञान तो होना ही चाहिए" (पृष्ठ ३४८)।

जो कर्म विवेक और संकल्प-पूर्वक किया जाता है और आत्मार्थ होता है वही कर्म खरा अकर्म वन जाता है। "कर्मके फलका त्याग करना अर्थात् दूसरोंके लिए कर्म करना हो तो हम उसमें घोड़ोंके-जैसे जुट जायें और अगर अपने लिए करना हो तो निःस्पृह भावसे जड़ होकर उसे करें। यह एक हार्दिक स्थिति है, मनकी भावना है" (पृष्ठ २०५)।

यज्ञ तो वह कर्म है जो परोपकारार्थ किया जाता है, अतः "यज्ञके अर्थ की गई हिंसा, हिंसा नही है" (पृष्ठ ३४९)। यह यज्ञ-भावना ही तो कर्मको अकर्ममें रूपान्तरित कर देती है, यहाँतक कि हिंसाको भी अहिंसामें परिणत कर देती है। ऐसी अहिंसाका

दृष्टान्त देते हुए गांधीजी राजा हरिश्चन्द्रका, जो अपनी पत्नीका गला काटनेके लिए उद्यत हैं, या ऑपरेशन करते हुए किसी सर्जनका और ऐसे पथिकका उदाहरण पेश करते हैं, जो मार्गमें पड़े हुए किसी घायल व्यक्तिके अध-कटे गलेको दयार्द्र होकर पूरा काट देता है (पृष्ठ १७२-७३)। अतः व्यवहारमें कर्मका मतलब होगा प्रत्येक कर्ममें घटित होनेवाली अहिंसाकी मात्राको अल्पतम करना (पृष्ठ ३५०)। "जो कर्म यज्ञार्थ किया जाता है, वह बन्धनकारक नहीं होता" (पृष्ठ ३५१)।

हिंसाके विरुद्ध जो आपत्ति उठाई जाती है, वह कोई हठधर्मी नीतिशास्त्रके आधारपर नहीं उठाई जाती बल्कि वह तो सीधी-सी मानस-शास्त्रकी बात है। हिंसाका निषेध तो हमारी मानव-सुलभ सहज संवेदनशीलता ही करती है। "दूसरोंके दुःखोंके नाशकी इच्छा . . . 'महास्वार्थ' . . . है" (पृष्ठ २४१)। हमें यह स्पष्ट रूपसे स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमारी सारी क्रियाएँ स्वार्थ-प्रेरित होती हैं, लेकिन यह स्वार्थ आखिर है क्या? "यदि यह स्वार्थ आत्मासे सम्बन्धित हो तो उसकी वह प्रवृत्ति परोपकार-प्रवृत्ति ही होगी। उसके सारे काम सेवा-धर्मके अंग बन जायेंगे" (पृष्ठ ३५९)।

जब हम कहीं अन्याय होता देखते हैं या अकारण ही किसीको दुःख भोगता पाते हैं, तो हमें मर्मान्तिक पीड़ा होती है। हमारे मनमें विक्षेप उठते हैं और विषाद छा जाता है। "जबतक रोगकी परिस्थिति इतनी खराब नहीं हो जाती, हम परम औषधिके लिए आतुर नहीं होते। इसे प्रसूतिकी वेदना समझिए" (पृष्ठ ३५७)। मदान्ध होकर दूसरोंपर आक्रमण करनेकी अपेक्षा ऐसी परिस्थितिमें अहिंसावादी सुधारक अन्तर्मुख हो जाता है। वह परिस्थिति-विशेषमें फँसे हुए सारे लोगोंमें एक ही भगवानके दर्शन करता है और अपने विरोधियोंके तथा स्वयं अपने उद्धारके लिए तपाचरण करने लगता है। बुराईसे जूझते हुए वह उसमें फँसे सारे लोगोंका सहायक बनता है। उसकी विनम्रता उसमें शक्तिका संचार करती रहती है। यह विनम्रता ही हमारे शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक बलको विशृंखलित करनेकी बजाय सुगठित करती है। यों भौतिक दृष्टिसे इस विशाल विश्वमें हमारी कोई हस्ती नहीं है। "विश्वमें, ब्रह्माण्डमें, तारा, ग्रह, सूर्य इत्यादिमें हमारा स्थान कितना नगण्य है" (पृष्ठ ३६९)। अपनी इस असहाय स्थितिपर काबू पानेमें कोई प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति भी खुदको लाचार ही पाता है। ऐसे क्षणमें ही योगेश्वर श्रीकृष्ण — प्रत्येकके हृदयमें निवास करनेवाला वह आत्म-पुरुष — धीरेसे अन्तरमें बोल उठता है: यहाँ "केवल बुद्धिसे काम नहीं चलेगा। योग आवश्यक है, कर्मयोग आवश्यक है" (पृष्ठ ३५८)।

वह बुराई जो किसी समय हमें पागल बनाये हुए थी, एक नया अर्थ धारण कर लेती है। अब उसका रूप उतना असाध्य नहीं रह जाता। अब वह प्रयत्नसाध्य हो जाती है। उसका तो अस्तित्व ही इसीलिए था कि हम उसे सहारा दिये हुए थे। हम उस अवलम्बको हटा लेते हैं और वह ढह पड़ती है। वास्तवमें अपने गुण-दोषों सहित यह सारा विश्व स्वयं हममें उतना ही समाया है, जितने कि हम उसमें। "खालिस पाप दुनियामें टिक नहीं सकता। जबतक उसे किसी प्रकारके धर्मका सहारा नहीं मिलता, उसका निर्वाह नहीं हो सकता" (पृष्ठ १०२)। "साम्राज्य दुष्टताका नहीं

है, केवल साधुताका है" (पृष्ठ १८६)। इतना ही नहीं, बुराईका अस्तित्व भी तो ईश्वरके कारण है। वही रावण बनकर प्रकट होता है, और मानवको वीरताके कर्म करनेका आह्वान देता है। बुराईका अस्तित्व भी इसीलिए तो है कि उसके प्रतिकार-में मानव तपस्वी बने, मनकी शान्ति और पवित्रता हासिल करे और इस प्रकार ज्ञान-संवर्धन करे। राजा जनकका उदाहरण और श्रीकृष्णका उपदेश इन दोनोंको हमारे अनुभवोंपर अभिभावी होना चाहिए, क्योंकि "हम अपूर्ण मनुष्य हैं और अपूर्ण अनुभवके बलपर अपूर्ण सिद्धान्त निश्चित कर लेते हैं" (पृष्ठ ३५८)। इस प्रकार इन कर्म-योगियोंने जिस सत्यकी शिक्षा दी, और गांधीजीने केवल 'गीता-शिक्षण' के इन २१८ प्रकरणोंमें ही नहीं, बल्कि अपने समग्र लम्बे जीवन-भर जिसकी उदार व्याख्या की वह सत्य यह है कि कर्मके मार्गसे ही हम ज्ञानतक पहुँच सकते हैं और यह अनवरत, अनासक्त कर्म और सच्चा आत्म-निरीक्षण ही हमारे अहम्‌का विनाश कर सकता है और हमें यह आनन्दमयी अनुभूति कराता है कि "सारे जगत्‌में ईश्वर ही ईश्वर है" (पृष्ठ २०६) तथा हममें और "दूसरे जीवोंमें कोई अन्तर नहीं है" (पृष्ठ २६२)।

आभार

प्रस्तुत खंडकी सामग्रीके लिए हम, साबरमती आश्रम संरक्षक तथा स्मारक न्यास (साबरमती आश्रम प्रिजर्वेशन ऐंड मेमोरियल ट्रस्ट) और संग्रहालय, नवजीवन ट्रस्ट, गुजरात विद्यापीठ ग्रंथालय, अहमदाबाद; गांधी स्मारक निधि व संग्रहालय, नई दिल्ली; श्री घनश्यामदास बिड़ला, कलकत्ता; श्रीमती वसुमती पण्डित, सूरत; श्री परशुराम मेहरोत्रा, नई दिल्ली; श्रीमती मीराबहन, गाडेन, आस्ट्रिया; श्रीमती तहमीना खम्बाता, बम्बई; श्री महेश पट्टणी, भावनगर; श्री जी० वी० केतकर, पूना; श्री हरिइच्छा कामदार, बड़ौदा; श्रीमती लम्सडन, ओंटेरियो, कनाडा; श्रीमती राधाबहन चौधरी, कलकत्ता; श्रीमती गंगाबहन वैद्य, बोचासन; श्रीमती सुशीलाबहन गांधी, फीनिक्स, डर्बन; श्री कनुभाई मशरूवाला, अकोला; श्री डाह्याभाई मनोरदास पटेल, अहमदाबाद; श्री वा० गो० देसाई, पूना; 'गांधीजीनुं गीता-शिक्षण'; 'बापुना पत्रो: मणिबहेन पटेलने', 'श्रीमद् राजचन्द्र'; 'हैंड-स्पिनिंग एण्ड हैंड-वीविंग', पुस्तकोंके प्रकाशकों और निम्नलिखित समाचारपत्रों और पत्रिकाओंके आभारी हैं; 'अमृतबाजार पत्रिका', 'आज', 'नवजीवन', 'फॉरवर्ड', 'बॉम्बे क्रॉनिकल', 'यंग इंडिया', 'लीडर', 'सर्चलाइट', 'साबरमती', 'हिन्दुस्तान टाइम्स' और 'हिन्दू'।

अनुसंधान और संदर्भ-सम्बन्धी सुविधाओंके लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी पुस्तकालय, गांधी स्मारक संग्रहालय, इंडियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स पुस्तकालय, सूचना और प्रसारण मन्त्रालयके अनुसन्धान और सन्दर्भ विभाग, नई दिल्ली; साबरमती संग्रहालय, गुजरात विद्यापीठ ग्रन्थालय, अहमदाबाद; और श्री प्यारेलाल नय्यर, नई दिल्ली हमारे धन्यवादके पात्र हैं। प्रलेखोंकी फोटो-नकल तैयार कर देनेके लिए हम सूचना और प्रसारण मन्त्रालयके फोटो-विभाग, नई दिल्लीके आभारी हैं।

पाठकोंको सूचना

हिन्दीकी जो सामग्री हमें गांधीजीके स्वाक्षरोंमें मिली है उसे अविकल रूपमें दिया गया है। किन्तु दूसरों द्वारा सम्पादित उनके भाषण अथवा लेख आदिमें हिज्जोंकी स्पष्ट भूलें सुधार दी गई हैं।

अंग्रेजी और गुजरातीसे अनुवाद करते समय उसे यथासम्भव मूलके समीप रखनेका पूरा प्रयत्न किया गया है। किन्तु साथ ही भाषाको सुपाठ्य बनानेका भी पूरा ध्यान रखा गया है। जो अनुवाद हमें प्राप्त हो सके हैं हमने उनका उपयोग मूलसे मिलाने और संशोधन करनेके बाद किया है। नामोंको सामान्य उच्चारणके अनुसार ही लिखनेकी नीतिका पालन किया है। जिन नामोंके उच्चारणके बारेमें संशय था उनको वैसा ही लिखा गया है जैसा गांधीजीने अपने गुजराती लेखोंमें लिखा है।

मूल सामग्रीके बीच चौकोर कोष्ठकोंमें दिये गये अंश सम्पादकीय हैं। गांधीजीने किसी लेख, भाषण आदिका जो अंश मूल रूपमें उद्धृत किया है वह हाशिया छोड़कर गहरी स्याहीमें छापा गया है। भाषणोंकी परोक्ष रिपोर्ट तथा वे शब्द जो गांधीजीके कहे हुए नहीं हैं, बिना हाशिया छोड़े गहरी स्याहीमें छापे गये हैं। भाषणों और भेंटकी रिपोर्टोंके उन अंशोंमें जो गांधीजीके नहीं हैं, कुछ परिवर्तन किया गया है और कहीं-कहीं कुछ छोड़ भी दिया गया है।

शीर्षककी लेखन तिथि दायें कोनेमें ऊपर दे दी गई है; जहाँ वह उपलब्ध नहीं है वहाँ निश्चित तिथि अनुमानसे चौकोर कोष्ठकोंमें दे दी गई है और आवश्यक होनेपर उसका कारण स्पष्ट कर दिया गया है। जिन पत्रोंमें केवल मास या वर्षका उल्लेख है उन्हें आवश्यकतानुसार मास या वर्षके अन्तमें रखा गया है। शीर्षकके अन्तमें साधन-सूत्रके साथ दी गई तिथि प्रकाशन की है। गांधीजीकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ और लेख जहाँ उनकी तिथि उपलब्ध है अथवा जहाँ दृढ़ आधारपर उनका अनुमान किया जा सका है, वहाँ लेखन तिथिके अनुसार और जहाँ ऐसा सम्भव नहीं हुआ है वहाँ उनकी प्रकाशन तिथिके अनुसार दिये गये हैं।

साधन-सूत्रोंमें 'एस० एन०' संकेत, साबरमती संग्रहालय, अहमदाबादमें उपलब्ध सामग्रीका; 'जी० एन०' गांधी स्मारक निधि और संग्रहालय, नई दिल्लीमें उपलब्ध कागजपत्रोंका और 'सी० डब्ल्यू०' सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय (कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी) द्वारा संग्रहीत पत्रोंका सूचक है।

सामग्रीकी पृष्ठभूमिका परिचय देनेके लिए मूलसे सम्बद्ध कुछ परिशिष्ट दिये गये हैं। अन्तमें साधन-सूत्रोंकी सूची और इस खण्डसे सम्बन्धित कालकी तारीखवार घटनाएँ दी गई हैं।

विषय-सूची

१. 'श्रीमद् राजचन्द्र'की भूमिका

५ नवम्बर, १९२६

प्रस्तावना

श्री रेवाशंकर जगजीवनने[1], जिन्हें मैं अपने बड़े भाईके समान मानता हूँ, जब श्रीमद् राजचन्द्रके[2] पत्रों और लेखोंकी इस आवृत्तिके[3] लिए प्रस्तावना लिखनेको कहा तब मैं उन्हें इनकार नहीं कर सका। इस प्रस्तावनामें मुझे क्या लिखना चाहिए, इसपर विचार करते हुए मुझे लगा कि यरवदा जेलमें[4] मैंने उनके संस्मरणोंके कुछ प्रकरण लिखे थे, उन्हें ही यहाँ दे दूँ तो उससे दो अर्थ सिद्ध होंगे। एक तो यह कि जेलमें किया हुआ मेरा यह प्रयास है तो अधूरा किन्तु मैंने जो भी लिखा वह शुद्ध धर्मवृत्तिसे ही लिखा था, अतः मेरे जैसे मुमुक्षुओंको इसका लाभ मिलेगा और दूसरा यह कि श्रीमद्से अपरिचित लोगोंको उनका कुछ परिचय मिल जायेगा और इस प्रकार उनकी कतिपय रचनाओंको समझनेमें मदद भी मिलेगी।

ये प्रकरण हैं तो अधूरे और मैं उन्हें पूरा कर सकूँगा, ऐसा भी मुझे नहीं लगता क्योंकि अवकाश मिलनेपर भी मैंने जितना लिखा है उससे आगे बढ़नेकी मेरी इच्छा नहीं होती। इसलिए मैं ऐसा चाहता हूँ कि अन्तिम प्रकरण, जो कि अधूरा रह गया था उसमें कुछेक बातोंका समावेश कर पूरा करके दूँ।

इन प्रकरणोंमें एक विषयपर विचार नहीं हुआ है। उसे मैं पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करना उचित समझता हूँ। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि श्रीमद् पच्चीसवें तीर्थंकर थे। कुछ मानते हैं कि उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया था। मुझे लगता है कि ये दोनों मान्यताएँ ठीक नहीं हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं वे या तो श्रीमद्को अच्छी तरह जानते नहीं अथवा तीर्थंकरकी या मुक्त पुरुषकी उनकी व्याख्या कुछ भिन्न है। अपने प्रियतमके लिए भी हमें सत्यको हलका अथवा सस्ता नहीं करना चाहिए। मोक्ष अमूल्य वस्तु है। मोक्ष आत्माकी अन्तिम स्थिति है। मोक्ष ऐसी महँगी वस्तु है कि समुद्रके किनारे बैठ सींकसे एक-एक बूंद करके समुद्र उलीचनेके लिए मनुष्यको जितना प्रयत्न करना पड़ेगा और जितना धीरज रखना पड़ेगा, मोक्ष-सिद्धिके लिए उससे भी अधिक प्रयत्न और धीरजकी आवश्यकता है। इस मोक्षका सम्पूर्ण वर्णन करना असम्भव है। तीर्थंकरको मोक्षके पूर्वकी विभूतियाँ सहज ही प्राप्त होती हैं। देह रहते हुए जो मुक्त हो जाता है ऐसे पुरुषको रोगादि व्याधियाँ नहीं व्यापतीं।

१. रेवाशंकर जगजीवन झवेरी।

२. राजचन्द्र रावजीभाई मेहता, रायचन्द भाईके नामसे प्रसिद्ध, देखिए खण्ड १।

३. द्वितीय आवृत्ति। यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि प्रथम आवृत्तिका प्रकाशन कब हुआ था।

४. गांधीजी जेलमें मार्च १९२२ से फरवरी १९२४ तक रहे थे।

निर्विकार शरीरमें रोग होना सम्भव नहीं। रागके बिना रोग नहीं होता। जहाँ विकार होगा वहाँ राग अवश्य होता है और जहाँ राग है वहाँ मोक्ष सम्भव नहीं है। मुक्त पुरुषके लिए आवश्यक वीतरागता अथवा तीर्थंकरकी विभूतियाँ श्रीमद्को प्राप्त नही हुई थीं। सामान्य मनुष्योंकी तुलनामें श्रीमद्की वीतरागता और विभूतियाँ बहुत ज्यादा थीं। इसलिए हम उन्हें लौकिक भाषामें वीतराग और विभूतिमान कहते हैं। लेकिन मुक्त पुरुषके लिए जिस वीतरागताका और तीर्थंकरकी जिन विभूतियोंकी कल्पना की गई है, उनतक श्रीमद् नहीं पहुँच सके थे, ऐसा मेरा दृढ़ मत है। यह बात मैं एक महान् और पूजनीय व्यक्तिके दोष बतानेके लिए नहीं कह रहा हूँ अपितु उनके और सत्यके साथ न्याय करनेके लिए ऐसा लिख रहा हूँ। हम सब संसारी जीव हैं जबकि श्रीमद् असंसारी थे। हमें अनेक योनियोंमें भटकना पड़ेगा जबकि श्रीमद्को कदाचित् केवल एक और जन्म ही काफी होगा। हम शायद मोक्षसे दूर जा रहे हैं जबकि श्रीमद् वायुवेगसे मोक्षकी ओर बढ़ रहे थे। यह कम पुरुषार्थ नहीं है। ऐसा होनेपर भी मुझे कहना चाहिए कि जिस अपूर्व पदका श्रीमद्ने स्वयं सुन्दर वर्णन किया है उस पदको वे प्राप्त नहीं कर सके थे। उन्होंने खुद ही कहा है कि यात्राके मार्गमें सहाराका मरुस्थल बीचमें आ गया और उसे पार करना बाकी रह गया। लेकिन श्रीमद् राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेखोंमें उनके अनुभवका सार है। जो उन्हें पढ़ेगा, उनपर विचार करेगा और उनके अनुरूप चलेगा उसके लिए मोक्ष सुलभ हो जायेगा, उसके कषाय, उसकी भोगलालसा क्षीण होगी, वह संसारके प्रति उदासीन हो जायेगा और देहका मोह छोड़कर आत्मार्थी बनेगा।

इससे पाठक देखेंगे कि श्रीमद्के लेख अधिकारी व्यक्तिके लिए हैं। सारे पाठक उनमें रस नहीं ले सकते। टीकाकारको उनमें टीका करनेका कारण मिलेगा लेकिन श्रद्धावान तो उनसे आनन्द ही आनन्द प्राप्त करेंगे। मुझे हमेशा ऐसा लगा है कि उनके लेखोंसे सत्यका निर्झर बह रहा है। उन्होंने अपना ज्ञान बघारनेके लिए एक भी शब्द नहीं लिखा। लेखकका हेतु पाठकको अपने आत्मानन्दमें भागीदार बनानेका था। जो आत्म-क्लेशको दूर करना चाहता है, जो अपना कर्त्तव्य जाननेको उत्सुक है उसे श्रीमद्के लेखोंमें से बहुत-कुछ मिल जायेगा, ऐसा मेरा विश्वास है फिर चाहे वे हिन्दू हों अथवा अन्यधर्मी।

और इस आशासे कि मेरे द्वारा लिखित श्रीमद्का स्मरण ऐसे व्यक्तिके लिए उपयोगी सिद्ध होगा, मैं उन्हें इस प्रस्तावनामें स्थान दे रहा हूँ।

रायचन्दभाईके कुछ संस्मरण

प्रकरण १: प्रास्ताविक

मैं जिनके पवित्र संस्मरणोंको लिखना आरम्भ कर रहा हूँ उन स्वर्गीय श्रीमद् राजचन्द्रकी जयन्ती आज अर्थात् कार्तिकी पूर्णिमा सम्वत् १९७९ है। मेरा प्रयत्न श्रीमद् राजचन्द्रका जीवन-चरित्र लिखनेका नहीं है। यह कार्य मेरी शक्तिके बाहर है। मेरे पास सामग्री नहीं है। यदि जीवन-चरित्र लिखना ही हो तो मुझे चाहिए

कि मैं कुछ समय उनकी जन्म-भूमि ववाणीया[1] वन्दरगाहमें विताऊँ, उनके रहनेका मकान देखूं, जहाँ वे खेले-कूदे उन स्थानोंको देखूं, उनके बालमित्रोंसे मिलूं, उनकी शालामें हो आऊँ, उनके मित्रों, अनुयायियों, सगे-सम्बन्धियोंसे मिलूं, उनसे जानने योग्य जानकारी हासिल कर लूं और फिर लिखने वैठूं। इनमें से मैं किसी वस्तुके वारेमें कुछ नहीं जानता हूँ।

और अब तो संस्मरण लिखनेकी अपनी योग्यता और शक्तिके वारेमें भी मुझे सन्देह होने लगा है। मुझे याद है, मैंने अनेक वार यह कहा है कि अगर मुझे अव-काश मिला तो मैं उनके संस्मरण लिखूंगा। उनके एक शिष्यने जिनके प्रति मेरे मनमें बहुत आदरभाव है, यह वात सुनी और मेरा यह प्रयत्न मुख्यतः उनके सन्तोषके लिए है। श्रीमद् राजचन्द्रके, जिन्हें मैं प्रेम और मानपूर्वक रायचन्दभाई अथवा कवि कहा करता था, संस्मरण लिखने और मुमुक्षुओंके सामने उनका रहस्य खोलनेकी वात मुझे अच्छी लगेगी। किन्तु अभी तो मेरा प्रयास केवल उक्त मित्रको सन्तोष देनेके लिए है। उनके संस्मरणोंको मैं पूर्ण न्याय दे सकूं इसके लिए मुझे जैन दर्शनका परिचय होना चाहिए; मुझे स्वीकार करना चाहिए कि ऐसा नही है। अतः इन संस्मरणोंको लिखनेमें मैं अपना दायरा अत्यन्त सीमित रखनेवाला हूँ। मेरे जीवनपर जिन संस्मरणोंकी छाप पड़ी है मैं उनका विवरण और उनसे मुझे जो शिक्षा मिली है उसे देकर ही सन्तोष मानूंगा और आशा करूँगा कि जो लाभ मुझे मिला है वह अथवा वैसा ही लाभ उन संस्मरणोंसे मुमुक्षु पाठकोंको भी मिलेगा।

"मुमुक्षु" शब्दका प्रयोग मैंने जान-बूझकर किया है। मेरा यह प्रयास हर तरहके पाठकके लिए नहीं है।

मुझपर तीन पुरुषोंने गहरा प्रभाव डाला है। टॉलस्टॉय, रस्किन और राय-चन्दभाई। टॉलस्टॉयने अपनी एक पुस्तक-विशेष द्वारा और उनके साथ मेरा जो थोड़ा-सा पत्र-व्यवहार हुआ उसके द्वारा, रस्किनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' के द्वारा — जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है, और रायचन्दभाईने अपने निकट सम्पर्कके द्वारा। जिस समय मेरे मनमें हिन्दूधर्मके वारेमें शंका उत्पन्न हुई उस समय उसके निवारणमें मदद देनेवाले रायचन्दभाई ही थे। १८९३ में दक्षिण आफ्रिकामें मैं कुछ ईसाई सज्जनोंके सम्पर्कमें आया। उनका जीवन निर्मल था, वे धर्मपरायण थे। अन्य धर्मावलम्बियोंको ईसाई बननेके लिए समझाना उनका मुख्य कार्य था। हालाँकि उनसे मेरा सम्पर्क व्यावहारिक कार्यको लेकर ही हुआ था फिर भी वे मेरे आत्मिक कल्याणकी चिन्तामें लग गये। इससे मैं अपना एक कर्त्तव्य समझ सका। मुझे यह प्रतीति हो गई कि जवतक मैं हिन्दू धर्मके रहस्यको पूरी तरह नहीं समझ लेता और मेरी आत्माको उससे सन्तोष नही होता तवतक मुझे अपना जन्मका धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। इसलिए मैंने हिन्दू और अन्य धर्म-पुस्तकोंको पढ़ना आरम्भ किया। ईसाइयों और मुसलमानोंके धर्मग्रन्थोंको पढ़ा। लन्दनमें वने अपने अंग्रेज मित्रोंके साथ पत्र-व्यवहार किया। उनके सामने अपनी शंकाओंको रखा। उसी तरह हिन्दुस्तानमें

१. सौराष्ट्रमें।

भी जिन लोगोंपर मेरी थोड़ी-बहुत आस्था थी उनके साथ भी मैंने पत्र-व्यवहार किया। इनमें रायचन्दभाई मुख्य थे[1], उनके साथ तो मेरे अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। उनके प्रति मेरे मनमें आदरभाव था। इसलिए उनसे जो मिल सके उसे प्राप्त करनेका विचार किया। उसका परिणाम यह हुआ कि मुझे शान्ति मिली। मनको ऐसा विश्वास हुआ कि मुझे जो चाहिए वह हिन्दू-धर्ममें है। इस स्थितिका श्रेय रायचन्दभाईको था; इसलिए पाठक स्वयं इस बातका अनुमान लगा सकते हैं कि उनके प्रति मेरा आदरभाव कितना नहीं बढ़ा होगा।

लेकिन तब भी मैंने उन्हें अपना धर्म-गुरु नहीं माना। धर्म-गुरुकी तो मैं शोध ही करता रहता हूँ और अभीतक तो मुझे सबके बारेमें 'नहीं, यह नहीं', उत्तर ही मिला है। ऐसे सम्पूर्ण गुरुके लिए जो अधिकार चाहिए सो मैं कहाँसे लाऊँ?

प्रकरण २

रायचन्दभाईके साथ मेरी पहली भेंट जुलाई १८९१ में जिस दिन मैं विलायतसे वापस बम्बई पहुँचा, उसी दिन हुई। इन दिनों समुद्रमें तूफान आया होता है। इसलिए ज़हाज देरसे पहुँचा और रात हो चुकी थी। मैं डाक्टर-बैरिस्टर — और अब रंगूनके प्रख्यात झवेरी — प्राणजीवनदास मेहताके यहाँ ठहरा था। रायचन्दभाई उनके बड़े भाईके दामाद थे। स्वयं डाक्टरने ही उनसे मेरा परिचय करवाया। उनके दूसरे बड़े भाई झवेरी रेवाशंकर जगजीवनदाससे भी मेरा परिचय उसी दिन हुआ। डाक्टरने रायचन्दभाईका परिचय "कवि" कहकर दिया और मुझसे कहा, "कवि होनेके बावजूद ये हमारे साथ व्यापारमें हैं; ज्ञानी हैं, शतावधानी हैं।" किसीने सुझाव दिया कि मैं उनके सामने कुछ शब्द कहूँ और वे शब्द चाहे किसी भी भाषाके क्यों न हों लेकिन जिस क्रममें मैं उन्हें कहूँगा उसी क्रममें वे उन्हें दुहरा देंगे। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। एक तो मैं नौजवान, तिसपर विलायतसे आया था फिर अपने भाषा-ज्ञानको लेकर मुझे अहंकार भी था। मुझे उस समय विलायतकी हवा कोई कम नहीं लगी हुई थी। विलायतसे आया हुआ अर्थात् आकाशसे उतरा हुआ। मैंने अपना सारा ज्ञान उँडेल दिया; भिन्न-भिन्न भाषाओंके शब्दोंको पहले तो मैंने लिखा — क्योंकि मुझे क्रम कहाँ याद रहनेवाला था — और बादमें उन शब्दोंको मैं पढ़ गया। रायचन्दभाईने धीमे स्वरमें उन शब्दोंको (उसी क्रममें) एकके-बाद एक दोहरा दिया। मैं बहुत खुश हुआ, मैं चकित हो गया और कविकी स्मरणशक्तिके बारेमें मेरे मनमें ऊँची धारणा बन गई। कहा जा सकता है कि विलायतके प्रभावको कम करनेके लिए यह अनुभव बहुत अच्छा रहा।

कविको अंग्रेजीका तनिक भी ज्ञान न था। उनकी आयु उस समय २५ वर्षसे अधिक न थी। गुजराती स्कूलमें भी वे ज्यादा नहीं पढ़े थे। तिसपर भी इतनी स्मरण-शक्ति, इतना ज्ञान और आसपासके लोगोंके मनमें उनके लिए इतना मान! इन सबसे मैं मोहित हो गया। स्मरणशक्ति स्कूलमें नहीं बेची जाती। ज्ञान भी स्कूलके

१. देखिए परिशिष्ट १।

बाहर, यदि इच्छा या जिज्ञासा हो तो, मिल जाता है और मान प्राप्त करनेके लिए विलायत अथवा कहीं जाना नहीं पड़ता। लेकिन गुणको यदि मानकी आवश्यकता हो तो वह उसे मिल जाता है। यह पदार्थ-पाठ मुझे बम्बईमें उतरनेके साथ ही मिल गया।

कविके साथ मेरा यह परिचय आगे बहुत बढ़ा। स्मरणशक्ति अनेक लोगोंकी तीव्र होती है, इससे आश्चर्यचकित होनेकी कोई जरूरत नहीं। शास्त्र-ज्ञान भी बहुत लोगोंमें देखनेमें आता है। लेकिन यदि वे संस्कारी न हों तो उनके पाससे फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती। जहाँ संस्कार शुभ हों वहीं स्मरणशक्ति और शास्त्र-ज्ञानका मेल शोभा देता है और संसारको शोभान्वित करता है। कवि संस्कारी ज्ञानी थे।

प्रकरण ३ : वैराग्य

ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा? कब होऊँगा बाहर और भीतर निर्ग्रन्थ?
सब सम्बन्धोंके कठिन बन्धनको भेदकर, कब चलूँगा महापुरुषके मार्गपर?

सम्पूर्ण रीतिसे उदासीन वृत्ति धारण किये हुएको देह केवल संयमके लिए ही होगी,
वह अन्य किसी कारणसे, कोई [अन्यथा] कल्पना नहीं करेगा; उसकी देहमें भी मूर्छाका लेश नहीं होगा।'

अठारह वर्षकी आयुमें लिखित रायचन्दभाईकी कविताके ये पहले दो पद हैं।

इन पंक्तियोंमें जो वैराग्य झलक रहा है, उसे मैंने उनके दो वर्षके प्रगाढ़ परिचयमें क्षण-क्षण देखा। उनके लेखोंकी एक असाधारण विशेषता यह है कि उन्होंने स्वयं जो अनुभव किया, केवल वही लिखा। उनमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। दूसरोंपर प्रभाव डालनेके लिए उन्होंने एक पंक्ति भी लिखी हो, ऐसा मैंने नहीं देखा। उनके पास हमेशा कोई-न-कोई धर्म-पुस्तक और एक कोरी बही पड़ी ही रहती थी। उनके मनमें जो विचार आते वे उन्हें उस बहीमें लिख देते थे। कभी गद्य और कभी पद्य। 'अपूर्व अवसर' नामक कविता भी इसी तरह लिखी गई होगी।

खाते, बैठते, सोते, प्रत्येक क्रिया करते हुए उनमें वैराग्य तो होता ही था। उन्हें कभी भी जगतके किसी भी वैभवके लिए मोह हुआ हो, ऐसा मैंने नहीं देखा।

मैं उनके नित्यक्रमको आदरपूर्वक परन्तु अत्यन्त बारीकीसे देखता था। भोजनमें जो मिलता उसीमें सन्तुष्ट रहते। वेशभूषा बिलकुल सादी थी, धोती और कुरता, अंगरखा और सूत तथा रेशम मिले कपड़ेकी पगड़ी। यह कोई बहुत साफ अथवा इस्त्री किए हुए होते थे, सो याद नहीं। जमीनपर बैठना अथवा कुर्सीपर बैठना, दोनों उनके लिए समान थे। अपनी दुकानमें होते तब सामान्यतः वे गद्दीपर बैठते थे।

उनकी चाल धीमी थी, और देखनेवाला समझ सकता था कि चलते हुए भी वे विचारमग्न हैं। उनकी आँखोंमें अद्भुत शक्ति थी — अत्यन्त तेजस्वी; उनमें विह्वलता तनिक भी न थी। दृष्टिमें एकाग्रता थी। चेहरा गोल, होंठ पतले, नाक न तो नुकीली

और न चपटी; छरहरा बदन, मध्यम कद, वर्ण श्याम। वे शान्तिकी मूर्ति दिखाई देते थे। उनके कंठमें इतना माधुर्य था कि उनको सुनते हुए मनुष्य कभी नहीं थकता। चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था, उसपर अन्तरानन्दकी चमक थी। भाषा उनकी इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार व्यक्त करते हुए किसी दिन कोई शब्द ढूंढ़ना पड़ा हो, सो मुझे याद नहीं। पत्र लिखते समय मैंने उन्हें कदाचित् ही शब्दोंको बदलते हुए देखा हो, फिर भी पढ़नेवालेको यह महसूस नहीं होगा कि विचार कहीं अपूर्ण हैं अथवा वाक्य-रचना छिन्न-भिन्न या शब्दोंके चयनमें त्रुटि है।

यह वर्णन किसी संयमीके लिए ही सम्भव है। बाह्याडम्बरसे मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता — वीतरागता तो आत्माका प्रसाद है। यह केवल अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे ही मिल सकता है, ऐसा हर कोई व्यक्ति अनुभव कर सकता है। रागोंको दूर करनेका प्रयत्न करनेवाला व्यक्ति जानता है कि रागरहित होना कितना कठिन है। यह रागरहित दशा कविके लिए स्वाभाविक थी, ऐसी मुझपर छाप पड़ी।

वीतरागता मोक्षके मार्गका पहला चरण है। जबतक जगतकी एक भी वस्तुमें हमारा मन आसक्त है तबतक हमें मोक्षकी बात कैसे भा सकती है अथवा भायेगी भी तो केवल कानको ही भायेगी। यह ठीक वैसा ही होगा जैसे हमें अर्थ जाने-समझे बिना संगीतका केवल स्वर ही भा जाये। ऐसे मात्र-कर्णप्रिय विनोदमें से मोक्षका अनुसरण करनेवाला आचरण आते-आते तो बहुत समय बीत जायेगा। आन्तरिक वैराग्यके बिना मोक्षकी लगन नहीं लगती। ऐसे वैराग्यकी लगन कविको थी।

प्रकरण ४ : व्यापारी जीवन

वणिक उसका नाम जो झूठ न बोले
वणिक उसका नाम जो कम न तोले
वणिक उसका नाम जो पिताके वचनका पालन करे
वणिक उसका नाम जो व्याज सहित धन लौटाए।
विवेक माप है वणिकका, और उसकी साख ही माप है सुलतानका
यदि वणिक व्यापारमें चूकता है तो दुःख-रूपी दावानल फैल जाता है।

शामल भट्ट

सामान्यतया यह मान्यता है कि व्यवहार अथवा व्यापार और परमार्थ अथवा धर्म ये दो भिन्न और विरोधी वस्तुएँ हैं। व्यापारमें धर्मका अनुसरण करना पागलपन है; ऐसा करनेसे दोनों बिगड़ते हैं। यह मान्यता यदि झूठी न हो तो कहना होगा कि हमारे भालमें केवल निराशा ही लिखी हुई है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है, ऐसा एक भी व्यवहार नहीं है जिससे हम धर्मको दूर रख सकें।

रायचन्दभाईने अपने जीवनसे यह प्रदर्शित कर दिखाया कि धार्मिक मनुष्यका धर्म उसके प्रत्येक कार्यमें झलकना ही चाहिए। धर्मका पालन एकादशीके दिन ही, पर्युषण-पर्वमें, ईदके दिन अथवा रविवारको ही करना है; अथवा मन्दिरोंमें, गिरजाघरों अथवा मस्जिदोंमें ही करना है और दुकान अथवा दरबारमें नहीं करना है, ऐसा कोई

नियम नहीं है। इतना ही नही वरन् रायचन्दभाई कहा करते थे कि ऐसा कहना धर्मको न समझनेके बराबर है। वे ऐसा मानते थे और अपने आचार-व्यवहारसे उन्होंने इस बातको सिद्ध करके दिखा दिया था।

उनका व्यापार हीरे-मोतीका था। वे श्री रेवाशंकर जगजीवन झवेरीके साथ इस व्यापारमें उनके हिस्सेदार थे। साथमें कपड़ेकी दुकान भी चलाते थे। मेरे मनपर हमेशा यही छाप पड़ी कि वे अपने व्यवहारमें सम्पूर्ण ईमानदारी बरतते थे। जब वे सौदा किया करते तब मैं कभी-कभी अनायास ही वहाँ उपस्थित रहता। उनकी बात स्पष्ट और एक ही होती थी। "चालाकी" जैसी कोई चीज मैंने नही देखी। सामनेवाले व्यक्तिकी चालाकीको वे तुरन्त भाँप लेते थे और वह उन्हें असह्य होती थी। ऐसे समय उनकी भृकुटि तन जाती और मैं देखता कि उनकी आँखें लाल हो गई हैं।

लोगोंको यह जो भ्रम है कि धर्मकुशल व्यक्ति व्यवहारकुशल नही होता, यह बात उन्होंने गलत सिद्ध कर दिखाई। वे अपने व्यापारमें पूरी सावधानी और होशि-यारीसे काम लेते थे। हीरे-मोतीकी परीक्षा वे अत्यन्त सूक्ष्मतासे कर सकते थे। हालाँकि उन्हें अंग्रेजीका ज्ञान नहीं था तथापि पेरिस-स्थित अपने एजेन्टकी ओरसे प्राप्त होने-वाले पत्रों और तारोंका मर्म वे तुरन्त समझ जाते थे और उनकी चालाकी समझनेमें उन्हें देर न लगती थी। उनके किए हुए अनुमान बहुधा सत्य निकलते थे।

इतनी सावधानी और होशियारी होनेके बावजूद उनमें अपने व्यापारके सम्बन्धमें उतावली अथवा चिन्ता न थी। दुकानमें बैठे हुए भी जब उनका काम पूरा हो जाता तब उनके पास कोई-न-कोई धर्मग्रन्थ तो होता ही था। वे या तो उसे पढ़ने लगते अथवा अपनी उस पुस्तकको खोलते जिनमें वे अपने उद्गार लिखते थे। मेरे जैसे जिज्ञासु उनके पास रोज आते ही रहते थे। उनके साथ धर्म-चर्चा करनेमें वे तनिक भी संकोच नही करते थे। व्यापारके समय व्यापार और धर्मके समय धर्म, अथवा एक समयमें एक ही काम, इस सामान्य और सुन्दर नियमका कवि पालन नहीं करते थे। स्वयं शतावधानी होनेके कारण ही वे ऐसा कर सकते थे। लेकिन यदि कोई दूसरा उनका अनुसरण करनेका प्रयत्न करे तो यह एक ही समयमें दो घोड़ोंकी सवारी करने-जैसा होगा। सम्पूर्ण रूपसे धार्मिक अथवा वीतरागी पुरुषको भी वह जिस समय जो क्रिया कर रहा हो उसीमें लीन होना चाहिए, यह न केवल उचित है बल्कि यही बात उसे शोभा देती है। यह उसके योगकी निशानी है; इसमें धर्म है। व्यापार अथवा ऐसी कोई भी क्रिया यदि कर्त्तव्य हो तो उसमें भी पूरी एकाग्रता होनी ही चाहिए। अन्तरमें आत्मचिन्तन तो मुमुक्षुके लिए श्वास-प्रश्वासकी तरह स्वाभाविक और सहज होना चाहिए। उससे वह एक क्षणभरको भी वंचित नहीं रहता। किन्तु इस तरह आत्म-चिन्तन करते हुए भी उसे अपने बाह्य कार्यमें भी लीन होना चाहिए।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि कवि ऐसा नही करते थे। मैंने ऊपर कहा ही है कि वह अपने व्यापारमें पूरी सावधानी बरतते थे। तथापि मुझपर यह छाप अवश्य

पड़ी है कि कविने अपने शरीरसे आवश्यकतासे अधिक काम लिया। कहीं यह योगकी अपूर्णता तो नहीं थी? धर्म-नीति कहती है कि कर्त्तव्य करते हुए शरीर भी दे देना चाहिए लेकिन अपनी शक्तिसे ज्यादा कोई काम अपने सिरपर लेना और उसे कर्त्तव्य मानना राग है। ऐसा सूक्ष्म राग कविको था, ऐसा मुझे हमेशा महसूस हुआ है।

अनेक बार परमार्थके विचारसे मनुष्य अपने ऊपर अपनी शक्तिसे बाहर काम ले लेता है और फिर उसे पूरा करनेमें उसे अपने साथ जबरदस्ती करनी पड़ती है। इसे हम गुण मानते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं। लेकिन परमार्थ अर्थात् धर्मकी दृष्टिसे देखनेपर इस तरह लिये गये काममें अज्ञानका होना बहुत सम्भव है।

यदि इस जगतमें हम केवल निमित्तमात्र ही हैं, यह शरीर हमें केवल भाड़े-पर ही मिला है और इसके द्वारा तुरन्त मोक्ष साधना ही यदि परम कर्त्तव्य है तो जो भी वस्तुएँ इस मार्गमें विघ्न उपस्थित करती हों उनका त्याग हमें अवश्य करना चाहिए। यही पारमार्थिक दृष्टि है, अन्य नहीं।

मैंने ऊपर जो तर्क दिया है उसे दूसरे ढँगसे और अपनी चमत्कारी भाषामें रायचन्दभाईने मुझे स्वयं बताया था। फिर भी उन्होंने ऐसी सारी मुसीबतें क्यों मोल ले लीं जिनके फलस्वरूप उन्हें भीषण बीमारी भोगनी पड़ी?

यदि मेरी यह मान्यता सत्य है कि परोपकारके बहाने रायचन्दभाईको भी एक क्षणके लिए मोहने घेर लिया था तो "प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति" यह श्लोकार्ध यहाँ पूरा उतरता है। इसका अर्थ इतना ही है कि जो लोग कृष्णके उपर्युक्त वचनका उपयोग मनमाना व्यवहार करनेके लिए करते हैं वे तो उसका केवल दुरुपयोग ही करते हैं। रायचन्दभाईकी प्रकृति उन्हें बलपूर्वक गहरे पानीमें ले गई। किन्तु ऐसे कार्यको केवल उन्हीं व्यक्तियोंके लिए दोषपूर्ण माना जा सकता है जो लगभग सम्पूर्णताकी स्थितिको पहुँच गये हों। हम सामान्य लोग तो परोपकारके कार्यके पीछे पागल बन जायें तभी कदाचित् उसका सम्पादन कर सकते हैं। अस्तु, इस विषयको हम इतना कहकर ही समाप्त करें।

ऐसी भी मान्यता देखनेमें आती है कि धार्मिक व्यक्ति तो बहुत भोले होते हैं और उन्हें सब धोखा दे सकते हैं। उन्हें दुनियाकी बातोंकी कोई खबर नहीं होती। यह बात सच हो तो कृष्ण और रामचन्द्र-जैसे अवतारी पुरुषोंकी गिनती तो संसारी मनुष्योंमें ही होनी चाहिए। कवि कहा करते थे कि जिसे शुद्ध ज्ञान है उसे धोखा देना असम्भव है। यह हो सकता है कि कोई मनुष्य धार्मिक अर्थात् नीतिवान हो पर ज्ञानी न हो। लेकिन मोक्षके लिए नीति और अनुभव-ज्ञानका सुसंगम होना चाहिए। जिसे अनुभव-ज्ञान हो उसके आगे पाखण्ड टिक ही नहीं सकता। सत्यके निकट असत्य नहीं टिक सकता। अहिंसाके सान्निध्यमें हिंसा बन्द हो जाती है। जहाँ सरलता उद्भासित होती है वहाँ छल-रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। ज्ञानवान् और धर्मवान् कपटीको देखनेपर तुरन्त ही पहचान लेता है और उसका हृदय दयासे भीग उठता है। जिसने आत्माको प्रत्यक्ष देखा है वह दूसरोंको पहचाने बिना कैसे रह सकता है? और कविके बारेमें यह नियम सदा ही सही उतरता था, ऐसा मैं

नहीं कह सकता। कोई-कोई धर्मके नामपर उन्हें धोखा दे जाते थे। ऐसे उदाहरण नियमकी अपूर्णता नहीं सिद्ध करते, बल्कि यह सूचित करते हैं कि सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञान कितना दुर्लभ है।

इन अपवादोंके बावजूद व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका जैसा सुन्दर मेल मैंने कविमें देखा वैसा किसी अन्यमें नही।

प्रकरण ५: धर्म

इससे पहले कि हम धर्मके बारेमें रायचन्दभाईकी मान्यतापर विचार करें, धर्मके स्वरूपका उन्होंने जो निरूपण किया है उसे देख जाना महत्त्वपूर्ण है।

धर्म अर्थात् अमुक मत-मतान्तर नही। धर्मका अर्थ शास्त्रके नामसे जानी जानेवाली पुस्तकोंको पढ़ना या रट डालना या उनमें कही हुई सब बातोंको मानना भी नही है।

धर्म आत्माका गुण है और यह दृश्य अथवा अदृश्य रूपमें मनुष्य-मात्रमें विद्यमान है। धर्मके द्वारा हम मानवजीवनके कर्त्तव्यके बारेमें जान सकते हैं, इसके द्वारा हम दूसरे जीवोंके प्रति अपने सच्चे सम्बन्धको जान सकते हैं। और स्पष्ट है कि ये दोनों बातें तबतक सम्भव नहीं हैं जबतक हम अपनेको न पहचान लें। इसलिए धर्म वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने आपको पहचान सकते हैं।

यह साधन हम जहाँसे मिले वहाँसे ले सकते हैं, फिर चाहे वह भारतवर्षमें मिले अथवा यूरोपसे आये अथवा अरबसे। जिन लोगोंने विभिन्न धर्मोंके शास्त्रोंका अध्ययन किया है वे यही कहेंगे कि इस साधनका सामान्य स्वरूप सब धर्म-शास्त्रोंमें एक ही है। असत्य बोलना चाहिए अथवा उसका आचरण करना चाहिए, ऐसा कोई शास्त्र नही कहता। हिंसा करनी चाहिए, यह बात भी कोई शास्त्र नहीं कहता। सारे शास्त्रोंका दोहन करके शंकराचार्यने "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" कहा। 'कुरान शरीफ' ने इसी बातको दूसरी तरह कहा, "ईश्वर एक है और केवल वही है, उसके बिना और कुछ नहीं है।" 'बाइबिल' में कहा गया है कि "मैं और मेरा पिता एक ही है।" ये सब एक ही सत्यके रूपान्तर हैं। लेकिन इसी एक सत्यका विकास करनेमें अपूर्ण मनुष्योंने अपने-अपने दृष्टिकोणका प्रयोग कर हमारे लिए जो मोहजाल रचा है उसमें से हमें निकलना ही होगा। हम जो स्वयं अपूर्ण हैं, अपनेसे कम अपूर्ण व्यक्तियोंकी मदद ले कर आगे बढ़ते हैं और ऐसा मानते हैं कि अमुक सीमातक जानेके बाद आगे बढ़नेका कोई रास्ता ही नहीं है। हकीकतमें ऐसा कुछ नहीं है। अमुक सीमाके बाद शास्त्र सहायता नहीं करते, अनुभव करता है। इसीलिए रायचन्दभाईने गाया है।

जिस पदको श्रीसर्वज्ञने ध्यानमें देखा
शब्दोंमें जिसका वर्णन श्री भगवन्त नहीं कर सके।
मुझे उसी परमपद प्राप्तिकी धुन लगी है;

किन्तु अभी तो वह मेरी शक्तिके बाहर है,
और इसलिए मनोरथरूप ही है।[१]

इसलिए, अन्ततः आत्माको मोक्ष देनेवाला स्वयं आत्मा ही है।

रायचन्दभाईने अपने लेखोंमें इस शुद्ध सत्यका निरूपण विविध ढँगसे किया है। उन्होंने अनेक पुस्तकोंका अच्छा अध्ययन किया था। उन्हें संस्कृत और मागधी भाषा पढ़नेमें तनिक भी कठिनाई महसूस नहीं होती थी। उन्होंने वेदान्तका अभ्यास किया था और 'भागवत्' तथा 'गीता' का भी। जैन पुस्तकें तो जितनी उनके हाथमें आती थीं, वे उन सबको पढ़ जाते थे। पुस्तकें पढ़ने और उनके सार ग्रहण करनेकी उनकी शक्ति अपार ही थी। उन पुस्तकोंके रहस्यको समझनेके लिए उन्हें एक बार पढ़ जाना उनके लिए पर्याप्त था।

उन्होंने अनुवादके द्वारा 'कुरान' और 'ज़ेंद अवेस्ता' आदिका पठन भी कर लिया था।

वे मुझसे कहा करते थे कि जैन-दर्शन उन्हें ज्यादा प्रिय है। उनकी मान्यता थी कि 'जिनागम' में[२] आत्म-ज्ञानकी पराकाष्ठा है। मुझे यहाँ उनके इस मतका उल्लेख अवश्य कर देना चाहिए। अलबत्ता, इसके बारेमें अपना मत व्यक्त करनेके लिए मैं अपने आपको अनाधिकारी मानता हूँ।

रायचन्दभाईके मनमें अन्य धर्मोंके प्रति अनादरका भाव नहीं था। वेदान्तके प्रति तो उनमें विशेष अनुराग भी था। वेदान्तीको कवि वेदान्ती ही जान पड़ते थे। मेरे साथ चर्चा करते हुए उन्होंने मुझे कभी यह नहीं कहा कि मुझे मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अमुक धर्मका अनुसरण करना चाहिए। उन्होंने मुझे मेरे आचारपर ही विचार करनेके लिए कहा। मुझे कौन-सी पुस्तकें पढ़नी चाहिए, इस प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने मेरी रुचि और मेरे बचपनके संस्कारको ध्यानमें रख कर 'गीता' का अध्ययन करनेके लिए कहा और प्रोत्साहित किया तथा दूसरी पुस्तकोंमें 'पंचीकरण', 'मणि-रत्नमाला', 'योगवासिष्ठ' का वैराग्य प्रकरण, 'काव्य दोहन' पहला भाग और अपनी 'मोक्ष माला' पढ़नेका सुझाव दिया।

रायचन्दभाई अकसर कहा करते थे कि धर्म तो वाड़ोंकी तरह है जिसमें मनुष्य कैद है। जिन्होंने मोक्षकी प्राप्तिको ही पुरुषार्थ माना है, उन्हें अपने भालपर किसी धर्मका तिलक लगानेकी आवश्यकता नहीं है।

तुम चाहे जैसे भी रहो।
जैसे-तैसे हरिको लहो।

यह सूत्र जिस तरह अखाभगतका[३] था, उसी तरह रायचन्दभाईका भी था। धर्मके झगड़ोंसे उनका जी ऊब उठता था, वे उसमें शायद ही पड़ते थे। उन्होंने सब धर्मोंके

१. लगता है, गांधीजीने यहाँ भूलसे प्रथम दो पंक्तियाँ २०वें छंदकी और प्रथम दो पंक्तियाँ २१वें छंदकी दे दी हैं।

२. जैनियोंकी धर्म-पुस्तकें।

३. गुजराती कवि।

गुणोंको अच्छी तरह देख लिया था और जो जिस धर्मका होता, वे उसके सामने उसी धर्मकी खूबियाँ रखते थे। दक्षिण आफ्रिकामें रहते हुए मैंने उनके साथ जो पत्र-व्यवहार किया था उसमें से भी मैंने उनसे यही बात सीखी थी।

मेरी तो यह मान्यता है कि सारे धर्म उनके अपने भक्तोंकी दृष्टिसे सम्पूर्ण ही हैं और सब धर्म अन्य लोगोंकी दृष्टिमें अपूर्ण हैं। स्वतन्त्र रूपसे विचार करें तो सारे धर्म पूर्णापूर्ण हैं। अमुक सीमाके बाद सारे शास्त्र बन्धनरूप जान पड़ते हैं। लेकिन यह तो गुणातीतकी स्थिति हुई। रायचन्दभाईकी दृष्टिसे विचार करें तो किसीको अपना धर्म छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। सब कोई अपने-अपने धर्ममें रहकर अपनी स्वतन्त्रता अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि मोक्ष प्राप्त करनेका अर्थ है सर्वथा राग-द्वेषरहित होना।

मोहनदास करमचन्द गांधी

[गुजरातीसे]
श्रीमद् राजचन्द्र

२. पत्र : घनश्यामदास बिड़लाको

दीपावली[1] [५ नवम्बर, १९२६]

भाई घनश्यामदासजी,

आपका लंबा पत्र मीलनेसे मुझको बड़ा आनंद हुआ है। आपकी निंदाके शब्द मेरे कानोंपर पड़े थे। मैं उसका विश्वास नहिं करता था। परंतु आपके पत्रसे मुझको पूरा संतोष हुआ। कहनेवालेने यह कहा कि आप सौके बदलेमें ५०० रुपये[2] देकर काम ले रहे हैं। जिस ढंगका आपने मुझको वर्णन दीया है उसमें तो मुझे कुछ भी नहिं कहना है।

जिनीवाके बारेमें मेरी राय यह है। आप धीरज रखें। जानेसे कोई बड़ा लाभ मैं नहिं देखता हुं। यदि यूरोपका अनुभव आवश्यक है तो आप स्वतंत्रतया जायं। जानेका मौका बहौत हि मिलेगा। आज नहिं है ऐसा अंतरात्मा कहता है। आखरमें तो आपको अंतरात्मा जो कहे वही कीजीये।

तबीयत अच्छी होगी।

आपका,
मोहनदास गांधी

मूल पत्र (सी० डब्ल्यू० ६१३७) से।
सौजन्य : घनश्यामदास बिड़ला

१. घनश्यामदास बिड़लाकी प्रस्तावित जिनीवा-यात्राके उल्लेखसे प्रकट होता है कि यह पत्र १९२६ में लिखा गया था। उस वर्ष दीपावली ५ नवम्बरको थी।
२. यहाँ शायद ५० रुपये होने चाहिए।

३. सन्देश : 'फॉरवर्ड'को

उनकी[1] महान् विरासतके उत्तराधिकारी होनेके नाते अपने कामोंके द्वारा उसका पात्र बनना हमारा कर्त्तव्य है।

[अंग्रेजीसे]

फॉरवर्ड, ६-११-१९२६

४. क्या यह जीवदया है?–५[2]

एक भाईने लम्बा पत्र लिखा है। उसमें उन्होंने अपनी कठिनाइयोंका वर्णन किया है और बादमें स्वयं श्रावक होनेके नाते जैन-धर्म क्या बतलाता है सो लिखा है। उनमें से एक प्रश्न यह है:

> आपने लिखा है कि "आवारा कुत्तोंका पालन किया जा सकता है! और यदि ऐसा न किया जा सकता हो तो उनके लिए पिंजरापोल बनवाये जाने चाहिए। दोनोंमें से यदि एक भी सम्भव न हो तो उन्हें मारनेके अलावा मैं और कोई उपाय नहीं देखता।" क्या आपके इस कथनका आशय यह है कि कुत्ता पागल न हो फिर भी, उपर्युक्त दोनों उपायोंकी अनुपस्थितिमें आवारा कुत्तोंको मार देना चाहिए?
>
> उत्तर यदि "हाँ" में हो तो जिन अनेक हानिकारक पशु-पक्षी और जन्तुओंको हम तबतक नहीं मारते जबतक वे मानव जीवनको सचमुच कोई नुकसान नहीं पहुँचाते, क्या यह सोचकर कि भविष्यमें वे नुकसान पहुँचायेंगे, अब उन्हें देखते ही मारना शुरू कर दिया जाये? सवाल यह है कि इसमें दयाधर्मका पालन कैसे होगा? प्राणि-मात्रका भला चाहनेवाला कोई व्यक्ति क्या ऐसा कर भी सकता है?

ऐसे प्रश्न मेरा आशय ठीक-ठीक न समझनेसे ही उठते हैं। महज मारनेकी खातिर तो मैं पागल कुत्तोंको भी मारनेके लिए नहीं कहता। तो फिर आवारा कुत्तोंकी तो बात ही क्या? आवारा कुत्तोंको देखते ही मार डालनेका सुझाव भी मैंने नहीं दिया है। मैंने तो वैसा कानून बनानेकी बात सुझाई है। यदि वैसा कानून बन जाये तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि दयालु लोग जाग जायेंगे तथा आवारा कुत्तोंकी रक्षाके लिए कुछ उपाय खोजेंगे। उनमें से कुछको पाल लिया जायेगा, कुछको

१. चित्तरंजन दास।

२. इस लेखमालाके पिछले चार लेखोंके लिए देखिए खण्ड ३१।

एक स्थानपर इकट्ठा कर लिया जायेगा। यह उपाय एक बार ही करना होगा। आवारा कुत्ते कोई आकाशसे नही उतरते है। वे समाजके आलस्यकी, शिथिलताकी, अज्ञानकी निशानी हैं। उनके उपद्रवका कारण ज्ञान और दयाका अभाव है। यदि कोई आवारा कुत्तेको रोटी नहीं दे तो वह भाग जायेगा। मैंने जो उपाय सुझाया है उसमें यद्यपि समाजका स्वार्थ अवश्य है तथापि उसमें कुत्तोंकी भलाईका विचार भी है। कोई भी प्राणी आवारा न रहे, ऐसी इच्छा करना और इस दिशामें प्रयत्न करना दयाधर्मीका धर्म है। उसके पालनके लिए किसी-किसी अवसरपर कुत्तोंका वध आवश्यक हो सकता है।

दूसरा प्रश्न यह है:

> जब-जब कुत्तोंका उपद्रव हो तब-तब वे मनुष्यके हाथों मरेंगे, यह बात तो ठीक है। लेकिन आप तो यह भी कहते है कि वे पागल हों, तबतक राह देखनेमें दयाभाव नहीं है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि चूंकि प्रत्येक कुत्ता भविष्यमें पागल होनेवाला ही है इसलिए सावधानीकी खातिर उन्हें उनकी अच्छी हालतमें ही मार डालना चाहिए। इसके बारेमें आश्रममें रहनेवाले एक मित्रसे मेरी बातचीत हुई है। उन्होंने आपसे पूछा था; और सुना है आपने उनसे यह कहा कि कुत्तोंको देखते ही उन्हें ढूंढ़-ढूंढ़कर मारनेकी बात मैं नहीं कहता, लेकिन जब वे मनुष्य जीवनके लिए संकटका कारण बन जायें और उसके निवारणका अन्य कोई उपाय न हो तभी अन्तिम उपाय अनिवार्य होगा। अनिवार्य होगा, ऐसा भी आप नहीं कहते। आपके लेखोंसे ऐसा अर्थ आसानीसे नहीं निकलता और तोड़-मरोड़कर निकालनेमें भी कठिनाई मालूम होती है। तो क्या आप इसके सम्बन्धमें अधिक स्पष्टीकरण नहीं करना चाहेंगे?

मेरे पहलेके लेखों और उपर्युक्त उत्तरके बाद इसके विशेष स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नही रह जाती। हाँ, कुत्तेके पागल होनेकी राह नही देखी जा सकती — अपनी यह बात मुझे स्पष्ट करनी चाहिए। हर आवारा कुत्ता हानिका कारण है। यह उपद्रव शहरोंमें ही होता है और यह बन्द होना चाहिए। हम सर्पके काटनेकी राह नहीं देखते। कुत्ता काटता है — इसीमें उसके पागल होनेकी बात छिपी हुई है। एक मित्र ने मुझे पागल कुत्तोंके शिकार रोगियोंके आँकड़े भेजे हैं। ये आँकड़े अहमदाबादके सिविल अस्पतालमें कुत्तोंके काटे हुए रोगियोंके है। ऐसे तो अन्य अनेक रोगी होंगे जो वहाँ आये ही न हों।

अवधि	शहरोंके रोगियोंकी संख्या	अन्य रोगियोंकी संख्या	कुल संख्या
१९२५ (जनवरीसे दिसम्बर)	१९४	९२३	१११७
१९२६ ,, (जनवरीसे सितम्बर)	२९५	६९५	९९०

ये आँकड़े प्रत्येक समाज-हितेच्छुको चौंकानेवाले हैं; विशेषरूपसे दयाधर्मीको। मैं जानता हूँ कि जितने कुत्ते काटते हैं वे सबके-सब पागल नहीं होते, लेकिन कौनसा कुत्ता पागल है और कौन-सा नहीं, इसकी पहचान करना मुश्किल है। और चूँकि कई मामलोंमें यह सिद्ध हुआ है कि काटनेवाला कुत्ता पागल था अतः लोग डरके मारे अस्पताल दौड़े आते हैं। इस डरसे उन्हें मुक्त करनेका एक ही उपाय है और वह यह कि आवारा कुत्तोंको आवारा न रहने दिया जाये। चालीस वर्ष पूर्व जब इंग्लैंडमें पागल कुत्तोंके काटनेके उपद्रवके खिलाफ कदम उठाये गये तब मैं वहाँ था। वहाँ आवारा कुत्ते तो थे ही नहीं। फिर भी कुत्ता पालनेवालोंके लिए सरकारने यह कानून बनाया कि जिन कुत्तोंके गलेमें पट्टी न होगी और उस पट्टीपर मालिकका नाम-धाम नहीं होगा और जिन कुत्तोंके मुँहपर जालीदार जाबी नहीं होगी उन कुत्तोंको मार दिया जायेगा। यह कानून केवल दयासे प्रेरित होकर बनाया गया था। उसके परिणामस्वरूप दूसरे ही दिन लन्दनमें सारे कुत्तोंके गलेमें पट्टा और मुँहपर जाली दिखाई देने लगी; उन्हें मारनेकी जरूरत क्वचित ही पड़ी होगी। यदि हममेंसे कोई ऐसा मानते हों कि पश्चिमके लोगोंमें जीवदया नही है तो वे अज्ञानमें हैं। जीवदयाका आदर्श वहाँ नीचा है लेकिन जो आदर्श है उसपर वे हमसे ज्यादा दृढ़ताके साथ अमल करते हैं। हम आदर्शकी उच्चतासे सन्तुष्ट हो जाते हैं और अमलके बारेमें उत्साहहीन अथवा आलसी होते हैं। बेघरबार मनुष्यों, ढोरों और अन्य प्राणियोंकी ओर देखिए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हम घोर अन्धकारमें पड़े हुए हैं। ये हमारे धर्मके नहीं अधर्मके चिह्न हैं।

तीसरा प्रश्न यह है:

> **आप व्यक्तिगत और सामाजिक धर्मकी भिन्न-भिन्न व्याख्या करते हैं, यह तो मैंने सुना है, लेकिन व्यक्तिगत धर्मके अनुसार ही सामाजिक धर्मकी व्याख्या करनेमें क्या हर्ज है? आदर्श ध्येय तो सबके लिए सर्वश्रेष्ठ ही होना चाहिए न? उसका पालन न हो सके, न हो सकता हो, यह अलग बात है। और यह बात तो व्यक्तिगत धर्मपर भी लागू होती है। आप ही ने कहा है कि अपने जीवनको जोखिममें डालकर क्रूर पशुको भी बचानेकी मेरी भावना है; लेकिन ऐसा प्रसंग आयेगा तब मैं क्या करूँगा, सो मैं नहीं कह सकता। सामुदायिक धर्मके लिए भी यदि हम यही आदर्श स्वीकार करें तो दोनों धर्मोंकी व्याख्या पृथक्-पृथक् करनेकी जरूरत ही कहाँ रह जाती है?**

व्यक्तिगत और सामाजिक धर्मकी व्याख्या मैंने अलग-अलग मानी ही नहीं है। धर्मका सिद्धान्त तो [दोनोंके लिए] एक ही होता है लेकिन उसपर अमल करनेकी मर्यादा मैंने व्यक्ति और समाजके लिए भिन्न-भिन्न मानी है। वस्तुतः अमल करनेकी मर्यादा तो हर व्यक्तिकी भी अलग-अलग होती है। ऐसे किन्हीं दो पुरुषोंको मैं नहीं जानता जिनकी अहिंसा धर्मकी व्याख्या समान होते हुए भी अहिंसाके पालनकी सीमा एक ही हो। सामाजिक अमलकी मर्यादा समाजके सब सदस्योंकी क्षमताके

औसतके अनुसार होती है। उदाहरणके लिए, जहाँ समाजका एक भाग दुग्धाहारी और दूसरा फलाहारी हो वहाँ इस सम्बन्धमें सामाजिक व्यवहारकी मर्यादा दूध और फलाहारकी मानी जायेगी अर्थात् दोनों अपनी-अपनी मर्यादामें रहकर व्यवहार करेंगे।

इन प्रश्नोंके बाद पत्र-लेखकने दो जैन-सिद्धान्तोंका इस तरह निरूपण किया है:

जैन-सिद्धान्तकी रचना स्याद्वादके आधारपर की गई है। स्याद्वादको अनेकान्तवाद भी कहते हैं। स्याद्वादके अनुसार व्यवहारके लिए कोई निरपेक्ष नियम नहीं हो सकता।

मतलब यह है कि अमुक परिस्थितियोंमें जिस कार्य-विशेषको हिंसा कहा जायेगा उसे ही भिन्न परिस्थितियोंमें अहिंसा माना जा सकता है। लेकिन प्रत्येक मनुष्यको विवेकपूर्वक और सोच-समझकर इस बातका निर्णय करना चाहिए। जैन समाजकी दो शाखाओं, साधुओं और श्रावकोंने अपने-अपने धर्मकी व्याख्या इस प्रकार की है:

साधु —– सर्वथा अहिंसक। अपने जीवनकी रक्षाके लिए खाता भी नहीं; खानेके लिए पकाता भी नहीं —– यहाँतक कि एक कदम भी नहीं उठाता। जो-कुछ करता है कल्याण सिद्धिके लिए तथा जहाँतक बन सके वहाँतक दोषोंसे मुक्त रह कर। इन दोषोंकी संख्या ४२ कही गई है। साधुको जैन-दर्शनमें निर्ग्रंथ कहा गया है; त्यागी, सर्वथा त्यागी कहा गया है। मेरा खयाल है कि इस समय इस व्याख्या और कल्पनाके अनुरूप एक भी साधु नहीं है (हो तो अपने अल्पज्ञानके कारण मैं नहीं जानता)।

श्रावक निरपराधी होता है; उसे जिसकी जरूरत न हो और जिसमें उसका स्वार्थ न हो, ऐसे किसी भी जीवकी वह हत्या नहीं करता।

श्रावक संसारी है। इसलिए शास्त्रकारोंने ऐसा माना है कि वह इससे ज्यादा दयाका पालन नहीं कर सकता। और आदर्श दयाका माप [गणितकी भाषामें] बीस मानकर ऐसा नियम निश्चित किया है कि साधु तो पूरी बीस अंश दयाका पालन करेगा और श्रावक सवा अंश दयाका पालन करेगा। यदि श्रावक इससे ज्यादा दयाका पालन करता है तो माना जायेगा कि साधुवृत्तिकी ओर बढ़ रहा है। लेकिन श्रावकावस्थामें इससे ज्यादा दयाका पालन करना असम्भव ही है।

इस निरूपणसे मैं अपरिचित न था। मैं तो जानता ही हूँ कि मैंने जो मत प्रकट किया है वह जैन-सिद्धान्तोंमें स्वीकृत मतका विरोधी नही है। उपर्युक्त निरूपण यदि जैनोंको मान्य हो तो मेरा मतलब उसीमें से निकाला जा सकता है। लेकिन यह सिद्धान्त जैनोंको मान्य हो या न हो, मेरी नम्र रायमें मेरे द्वारा व्यक्त किये गये अभिप्रायका प्रतिपादन स्वतन्त्र रूपसे हो सकता है और हुआ है।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, ७-११-१९२६

५. मढडा आश्रमके बारेमें

मढडा आश्रम और भाई शिवजीके बारेमें मैंने जो लेख[1] लिखा था उसका उत्तर उन्होंने अखबारोंमें भेजा था। वही उत्तर अब उन्होंने प्रकाशनके लिए मेरे पास भेजा है। दैनिक अखबारोंमें वह उत्तर प्रकाशित हो चुका है इसलिए मैं उसे प्रकाशित करनेकी आवश्यकता नहीं समझता। लेकिन उसका कुछ भाग जिसमें मेरे साथ उनके सम्बन्धोंका उल्लेख है, जनोपयोगी है, इसलिए उसका उत्तर मैं यहाँ देता हूँ।

भाई शिवजीके लेखको पढ़कर मुझे दुःख हुआ है। उन्होंने "उलटा चोर कोत-वालको डाँटे" की रीति अखत्यार की है।

भाई शिवजी और मेरे बीच मतभेद नहीं है किन्तु भाई शिवजीने जिन बातोंको स्वयं स्वीकार किया है उनके आधारपर मैंने उनके चरित्रके तथा कामकाजकी उनकी व्यवस्थाके बारेमें अमुक राय स्थिर की है। अपनी यह राय मैंने काठियावाड़ राज-नीतिक परिषद्के सम्मुख रखी और आवश्यक जान पड़नेपर उसे 'नवजीवन'में प्रकाशित करनेका विचार किया। इस विचारको कार्यान्वित करनेके पहले मैंने भाई शिवजीको लिखा ताकि मेरे हाथों उनके प्रति कोई अन्याय न हो। प्रश्न यह था, भाई शिवजीके बारेमें मुझे अपनी राय प्रकाशित करनी चाहिए या नहीं। इसे मतभेदका नाम नहीं दिया जा सकता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पंचकी बात करनेवाला मैं ही था। यह भाई शिवजीके सन्तोषके लिए था, मेरे सन्तोषके लिए नहीं। मेरे ऊपर कोई आरोप नहीं है। एक सार्वजनिक व्यक्तिके नाते अपने एक साथीपर लगाये गये आरोपोंकी जाँच करनेका कर्त्तव्य मेरे ऊपर आ पड़ा। मैं यह जाँच कर रहा था और इस सम्बन्धमें मैंने जो-जो कार्रवाई की उस-उस कार्रवाईसे भाई शिवजीको अवगत करता गया। अन्तमें उनसे मिला। मिलनेपर उन्होंने जो स्वीकार किया वह इतना पर्याप्त था कि फिर मेरे लिए ज्यादा कुछ करनेको नहीं रह गया। भाई शिवजीने अपने मुँहसे अपने-आपको अपराधी ठहराया। बादमें जब उसी दिन परिषद् समितिके आगे यह बात रखी गई और मेरे लिए उसे 'नवजीवन' में प्रकाशित करना अनिवार्य हो गया तब भाई शिवजीने अपना रूप बदला।

अब यदि भाई शिवजी अथवा उनके स्नेही मित्र भाई शिवजीने क्या-क्या दोष स्वीकार किये इसका ब्योरा माँगते हों और मैंने जो जाँच की थी उसमें क्या था यह भी जानना चाहते हों तो इस हकीकतको उन्हें लिख भेजनेके लिए मैं तैयार हूँ। इस सिलसिलेमें उनके साथ अथवा अन्य लोगोंके साथ मैंने जो पत्र-व्यवहार किया उसे यदि भाई शिवजी और उनके स्नेही मित्र प्रकाशित करना चाहते हों तो उन्हें इसकी छूट है। मैं स्वयं उसे प्रकाशित कर पाठकोंका समय नहीं लेना चाहता।

१. देखिए खण्ड ३१, पृष्ठ ४९०-९२।

मैं तो केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि मेरी जाँचके बाद भाई शिवजीने जो व्यवहार किया है उससे, उनके विरुद्ध मेरी राय दृढ़ होती गई है। पहले तो मैं न्यायाधीश था और अन्य लोग जिन्होंने भाई शिवजीको पैसे दिये थे फरियादी थे। जब मेरी राय भाई शिवजीके गले नहीं उतरी, तब कहा जा सकता है कि मैं भी फरियादी बन गया। अब भाई शिवजी अपने इस उत्तरसे मुझे दोषी मानते दीख पड़ते हैं। लेकिन उन्हें और उन सब लोगोंको, जो लोकसेवकोंके व्यवहारमें थोड़े-बहुत अंशोंमें नीतिके नियमोंका पालन और जनताके द्रव्यका यथोचित उपयोग देखनेके इच्छुक हैं, जानना चाहिए कि पंच नियुक्त करनेका प्रस्ताव भी भाई शिवजीके हितार्थ था। भाई शिवजी मेरी दृष्टिमें अभी भी दोषी हैं। दोष भी गम्भीर हैं, जिनमेंसे कुछेक दोषोंको भाई शिवजीने स्वयं मेरे समक्ष स्वीकार किया है। जहाँतक मुझे मालूम है, पंचनामा जिसमें मैं हस्ताक्षर कभी नहीं कर सकता था, भाई शिवजीका ही तैयार किया हुआ था। भाई शिवजीने अपने इस पत्रको लिखकर जलेपर नमक छिड़का है और अपने अपराधमें इजाफा किया है।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, ७-११-१९२६

६. पत्र : बनारसीदास चतुर्वेदीको

कार्तिक शुक्ल ३ [१९]८३ [८ नवम्बर, १९२६]

भाई बनारसीदासजी,

आपका पत्र मीला है। आपका द० आ० जाना मुझे प्रिय है। परंतु जिस कारण से जाना चाहते हो मुझे अनुचित सा प्रतीत होता है। यदि अखबारोंमें लीखनेसे ही आजीविका पेदा करना चाहते हो तो द० आ० जानेसे हेतु सफल नहि होगा। अच्छा तो यह है कि कीताब लीखकर द्रव्योपार्जन कीया जाय या कोई नौकरी लेकर।

आपका,

मोहनदास गांधी

पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी
फीरोजाबाद
(यू० पी०)

मूल पत्र (जी० एन० २५७४) की फोटो-नकलसे।

७. पत्र : जमनालाल बजाजको

कार्तिक सुदी ३, १९८३ [८ नवम्बर, १९२६]

चि० जमनालाल,

तुम्हारा पत्र मिला है। चुनावकी बात तो मैं भूल ही गया था। तुम्हें जैसा ठीक लगे वैसा करनेमें तो मैं कोई बाधा नहीं देखता। मैं इसमें कोई भाग नहीं ले सकता इसलिए मैंने तो सबको 'ना' ही लिख दिया है। तुम्हें बहुत जगह घूमना-फिरना पड़े, इस बातको मैं पसन्द नहीं करता। उससे तुम्हारी तबीयतको नुकसान हो सकता है।

बा का स्वास्थ्य तो बहुत अच्छा हो गया है। इसलिए चिन्ताका कोई कारण नहीं है। देखेंगे, मेरे आनेपर क्या होता है। उम्मीदवार तो कई होंगे। आबहवा बदलनेके खयालसे, साथमें लक्ष्मीदासको लाना चाहता हूँ।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० २८७६) की फोटो-नकलसे।

८. पत्र : सैयद जहीरुल हक़को

साबरमती
१० नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपके पत्रके[1] लिए धन्यवाद। इससे मेरी अहंभावनाको सन्तोष मिल सकता है, लेकिन मैं समझता हूँ कि मुझमें ऐसी कोई भावना नहीं है। मैं अपनी अयोग्यता और सीमाओंको जानता हूँ। अगर मेरे बीचमें पड़नेसे सफलताकी जरा भी गुंजाइश होती तो मैं अपने एकांत-वासको उसके आड़े नहीं आने देता। लेकिन मुझे वैसी कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती। इसलिए मैं चुपचाप बैठा हुआ प्रार्थना कर रहा हूँ।

मेरे लिये चरखेकी कीमत लोगोंके प्राणोंसे ज्यादा नहीं है। जैसे बच्चा अपनी माँकी छातीसे लगा रहता है, वैसे ही मैं चरखेसे चिपका हुआ हूँ; क्योंकि मेरा विश्वास

१. पटनाके सैयद जहीरुल हक़ने २५ अक्तूबर, १९२६ के एक खुले पत्रमें दुर्गापूजाके अवसरपर हावड़ाके हिन्दू-मुस्लिम दंगोंकी ओर गांधीजीका ध्यान खींचा था और उनसे अपील की थी कि 'आप अपना आश्रम छोड़िए और राष्ट्र-रक्षककी तरह लोगोंको गहरी खाईमें गिरनेसे बचाइए।' यह खुलापत्र और गांधीजीका जवाब हिन्दूमें "हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य: हस्तक्षेपकी अपीलपर गांधीजीका जवाब" शीर्षकसे छपा था। यह पत्र-व्यवहार सर्चलाइट, २६-११-१९२६ में भी छपा था।

है कि इसमें लाखों लोगोंको कंगाली और अधोगतिसे बचा सकनेकी सामर्थ्य है। मैं इसे अपनानेकी सिफारिश आपसे भी करता हूँ।

हृदयसे आपका,

[अंग्रेजीसे]
हिन्दू, १९-११-१९२६

९. पत्र : च० राजगोपालाचारीको

१० नवम्बर, १९२६

प्रिय सी० आर०,

आपका पत्र मिला। कुत्तोंके सवालको लेकर 'नवजीवन'को काफी मसाला मिल रहा है[1] इससे डाक टिकटोंकी बिक्री भी बढ़ गई है और यह सब भलेके लिए ही है।

छोटालाल आपके यहाँ १६ को रवाना हो रहा है। ऐसा उसका विचार तो है। वह जबतक वहाँ पहुंच नहीं जाता, उसे चैन नही है। वह बहुत अच्छा आदमी है; लेकिन उसका मन अशान्त रहता है। काम, काम, काम।

मैं समझता हूँ कि आपको वर्धा आना चाहिए। सफर लम्बा है, लेकिन आप किसी तरह समय निकाल सकें तो अवश्य आइए। गौहाटी न जानेका निर्णय सही निर्णय है।

कृषि-सम्बन्धी आयोगके सम्बन्धमें मेरे विचार आप-जैसे ही हैं। आशा है इस विषयमें अगले सप्ताह कुछ लिख सकूंगा।

देवदास एक दिनके लिए यहाँ आया था। वह प्यारेलालकी जगह काम करने पंचगनी चला गया है। प्यारेलाल अपने किसी रिश्तेदारकी सेवा-परिचर्याकी दृष्टिसे पंजाब गया है।

आपका,
बापू

अंग्रेजी पत्र (एस० एन० १९७२८) की फोटो-नकलसे।

१. अभिप्राय "क्या यह जीवदया है ?" लेखमालासे है।

१०. पत्र: वि० ल० फड़केको

कार्तिक सुदी ५, १९८३, १० नवम्बर, १९२६

भाई मामा,

चुप रहनेका इरादा रखकर चुप रहा हूँ, ऐसी बात नहीं है। तुम्हारे पत्रका जो अंश लिखने योग्य था उसके बारेमें लिखा है। लेखमाला शुरू करनेपर उसमें गोधरासे सम्बन्धित अंश तुम्हें भेजनेके बाद ही छापूंगा। रामचन्द्रवाला चरसा लेनेमें कोई अड़चन नहीं होनी चाहिए, ऐसा मानता हूँ। अलबत्ता, उसके मिलनेमें कुछ कठिनाइयाँ खड़ी हो गई हैं। तुम्हें मदद देनेमें कोई कसर तो नहीं रही है।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० ३८१६) की फोटो-नकलसे।

११. आदर्शोंका दुरुपयोग

बाल विधवाओंके पुनर्विवाहपर मेरे पास आये हुए एक पत्रमें से मैं निम्नलिखित अंश उद्धृत करता हूँ:

> २३ सितम्बरके 'यंग इंडिया' में[1] आगराके 'ब' महोदयके पत्रके उत्तरमें आपने कहा है कि बाल-विधवाओंके माता-पिताओंको चाहिए कि वे उनका पुनर्विवाह कर दें। यह बात उन लोगोंके बारेमें कैसे सम्भव है जो कि कन्यादान करते हैं अर्थात् जो शास्त्रोक्त विधिसे अपनी कन्याओंका विवाह करते हैं? निश्चय ही जिन माता-पिताओंने अपनी पुत्रीपर अपने सारे हक संकल्पपूर्वक और धार्मिक विधियोंके अनुसार दामादको सौंप दिये हैं, उनके लिए दामादकी मृत्युके पश्चात् अपनी पुत्रीका दूसरे व्यक्तिके साथ विवाह करना असम्भव है। वह स्वयं चाहे तो पुनर्विवाह कर सकती है, लेकिन चूंकि वह अपने माता-पिता द्वारा दामादको दान स्वरूप दे दी गई थी इसलिए संसारमें किसी दूसरेको उसका पुनर्विवाह करनेका हक नहीं है। और इसलिए स्वयं उस बाल-विधवाको भी अपना पुनर्विवाह करनेका कोई हक नहीं है। यदि वह अपने पतिसे उसकी मृत्युके समय स्पष्ट आज्ञा पाये बिना अपना पुनर्विवाह करती है तो वह अपने परलोकवासी पतिके प्रति विश्वासघात करती है और उसे धोखा देती है। अतएव तर्ककी दृष्टिसे ऐसी विधवाके लिए, जिसका विवाह अधिकांश

१. देखिए खण्ड ३१, पृष्ठ ४६२।

सनातनी हिन्दुओंके यहाँ प्रचलित 'कन्यादान' प्रथाके अनुसार किया गया है, और जिसने अपने पतिकी मृत्युके पूर्व उसकी सम्मति प्राप्त नहीं कर ली है, पुनर्विवाह करना अशक्य है — फिर चाहे वह बालिका हो, युवती हो या वृद्धा। लेकिन कोई सच्चा सनातनी हिन्दू पति ऐसी इजाजत देनेका खयालतक नहीं सहन कर सकता। यदि पत्नी सती हो सकती हो तो वह उसे सती होनेकी अनुमति दे सकता है; यदि न हो सकती हो तब वह हर हालतमें यही पसन्द करेगा कि उसकी पत्नी अपना शेष जीवन पतिका ध्यान अथवा कहिए ईश्वराधना करते हुए बिता दे। ऐसा करनेमें उसका एकमात्र उद्देश्य या धार्मिक भाव यही होगा कि हिन्दू समाजमें रूढ़ विवाह और वैधव्य (जो कि एक-दूसरेके पूरक हैं, न कि एक-दूसरेसे अलग और स्वतन्त्र)के उच्च आदर्शोंकी रक्षा हो।

मैं इस प्रकारके तर्कको किसी उच्चादर्शका कुत्सित विनियोग मानता हूँ। इसमें शक नहीं कि पत्र-लेखकका मन्शा अच्छा है, लेकिन स्त्रियोंकी पवित्रता विषयक अतिचिन्तामें पड़कर वे सीधे-सादे न्यायको ही भूल बैठे हैं। छोटे-छोटे बच्चोंका विवाह करते हुए कन्यादानके क्या मानी हैं? क्या किसी पिताको अपने बच्चोंके ऊपर स्वामित्वका अधिकार प्राप्त है? वह उनका संरक्षक-मात्र है, न कि स्वामी। और जब वह अपनी कन्याकी स्वतन्त्रताका विनिमय करनेकी तदबीर करता है तब तो वह संरक्षण करनेका यह अधिकार भी खो देता है। इसके सिवा जो बच्चा उक्त दानको प्राप्त करनेके सर्वथा अयोग्य है उसे वह दान दिया भी कैसे जा सकता है? जहाँ ग्रहण करनेकी शक्तिका अभाव हो, वहाँ दान सम्पन्न ही कैसे हो सकता है? निस्सन्देह कन्यादान एक निगूढ़ धार्मिक प्रथा है और उसका आध्यात्मिक महत्त्व है। ऐसे शब्दोंका बिलकुल अक्षरार्थ लेकर प्रयोग करना भाषा और धर्मका दुरुपयोग करना है। तब तो पुराणोंकी प्रतीकात्मक भाषाका भी इसी प्रकार शाब्दिक अर्थ किया जायेगा और हम यह मानेंगे कि पृथ्वी थालीके मानिन्द चपटी है, उसे सहस्र फनवाले शेषनागजी साधे हुए हैं और नारायण क्षीरसागरमें उन्ही शेषनागकी शय्यापर आनन्दसे शयन कर रहे हैं।

जिन माता-पिताओंने अपनी नन्हीं बच्चीको मूढ़तावश किसी बूढ़े या किसी १६, १७ वर्षके बालकसे ब्याह दिया है, कमसे-कम उन माता-पिताओंका कर्त्तव्य यह है कि वे अपनी इस बच्चीके विधवा होनेपर उसका विवाह करके पापसे मुक्त हों। जैसा कि मैं किसी पिछले अंकमें अपनी टिप्पणीमें कह चुका हूँ,[1] ऐसी शादियोंको तो शुरूसे ही अमान्य घोषित कर दिया जाना चाहिए।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, ११-११-१९२६

१. देखिए खण्ड ३१, पृष्ठ ३९२-९६।

१२. करघा बनाम चरखा

लगता है, यह बात अब सामान्यतः स्वीकार कर ली गई है कि चूंकि हिन्दुस्तानकी आबादीके ७१ प्रतिशत लोगोंकी गुजर-बसर खेतीपर होती है, और उनके सालमें कमसे-कम चार महीने बेकारीमें बीतते हैं, इसलिए देशको किसी सहायक धन्धेकी जरूरत है। अगर उस धन्धेको सार्वत्रिक होना है तो वह सिर्फ हाथ-कताईका धन्धा ही हो सकता है। मगर कुछ लोग कहते हैं कि हाथ-बुनाईका धन्धा हाथ-कताईसे अच्छा है क्योंकि उसमें आमदनी अधिक होती है।

आइए, अब हम कुछ तफ़सीलमें जाकर इस दलीलकी जाँच करें। यह कहा जाता है कि हाथ-बुनाईसे आठ आने रोजकी आमदनी हो जाती है; मगर चरखा चलाकर तो आदमी एक ही आना पैदा कर पाता है। अगर कोई सिर्फ दो घंटे काम करे तो बुनाईके जरिये उसे दो आने मिलेंगे और उतने ही समय चरखा चलानेसे केवल एक पैसा मिलेगा। यह भी कहा जाता है कि १ पैसेकी आमदनी कुछ ऐसी चीज नहीं है कि कोई उसकी ओर आकृष्ट हो। अगर लोगोंको बुननेका काम दिया जा सकता हो तो उस हालतमें उसके बजाय उन्हें चरखा चलानेको कहना गलत होगा। करघेके हिमायती यह भी कहते हैं कि हिन्दुस्तानकी जरूरतके लायक मिलका सूत मिलनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी। अन्तमें वे कहते हैं कि करघेको, जिसे अब तक मिलोंसे प्रतियोगिता करनेमें सफलता मिलती रही है, पूरे उत्साह और निश्चयके साथ बढ़ावा दिया जाना चाहिए। करघेके कुछ हिमायती तो यहाँतक कहते हैं कि हाथ-कताई यानी चरखा-आन्दोलन एक शरारत-भरी बात भी है क्योंकि यह हाथ-बुनाईके सम्माननीय उद्योगकी ओरसे लोगोंका ध्यान हटाकर उन्हें एक ऐसे धन्धेका समर्थन करनेकी प्रेरणा देता है जो अपनी सहज सामर्थ्यहीनताके कारण मर चुका है।

आइए, अब हम ऊपरसे ठीक प्रतीत होनेवाले इस तर्ककी जाँच करें।

पहली बात तो यह है कि सहायक धन्धेके रूपमें हाथ-बुनाईकी योजना व्यावहारिक नहीं है; क्योंकि इसे सीखना सरल नहीं है, यह किसी भी जमानेमें सम्पूर्ण हिन्दुस्तानमें प्रचलित नहीं थी; इसके लिए व्यक्तिको कई सहयोगियोंकी जरूरत पड़ती है, और इसे अवकाशमें चाहे जब नहीं किया जा सकता। यह तो स्वतन्त्र धन्धेके रूपमें ही रहा है, और साधारणतः इसी तरह रह सकता है। ज्यादातर तो मोचीगिरी या लोहारीकी तरह इसे अपना पूरा समय देकर ही किया जा सकता है।

इसके अलावा जिस अर्थमें हाथ-कताई हिन्दुस्तानमें घर-घर फैल सकती है, उस अर्थमें तो यह कभी नहीं फैल सकती। हिन्दुस्तानको सालाना ४६,६१० लाख गज कपड़ेकी जरूरत है। एक जुलाहा औसतन एक घंटेमें पौन गज मोटी खादी बुनता है। इसलिए यदि हम विलायती और देशी मिलोंके कपड़ेका बिलकुल ही उपयोग न करें तो हमें इसके लिए दो घंटे रोजाना काम करनेवाले अधिकसे-अधिक ९० लाख बुननेवालोंकी जरूरत होगी। अगर यह कहा जाये कि इससे केवल इतने जुलाहोंको

ही नहीं, जुलाहोंके उतने ही परिवारोंको काम मिलेगा तो फिर दो घंटेकी दो आनेकी आमदनी कई आदमियोंमें बँट जायेगी और इस प्रकार एक आदमीकी रोजाना आमदनीमें काफी कमी हो जायेगी।

अब हम जरा चरखेकी सम्भावनाओंपर भी विचार करें। हम यह जानते है कि एक समय कताई हिन्दुस्तानके घर-घरमें होनेवाला सहायक धन्धा था। करोड़ों लोगोंको अभीतक कताईका हुनर भूला नही है, और अब भी लाखों घरोंमें चरखा है। इसलिए हाथ-कताईका चाहे जितने बड़े पैमानेपर, चाहे जितना प्रसार फौरन किया जा सकता है। और यह भी देखा गया है कि १० कातनेवाले १ जुलाहेके काम लायक सूत दे सकते हैं; इसलिए यदि ९० लाख जुलाहे हों तो ९ करोड़ लोग कातकर अपनी आमदनीमें वृद्धि कर सकेंगे। उनके लिए यह अतिरिक्त आमदनी कोई मामूली वृद्धि न होगी; यह वृद्धि उनकी आयकी कमसे-कम २५ प्रतिशत बैठेगी। मैंने फी आदमीकी औसत सालाना आमदनी ४० रुपये मानी है; जब कि औसत आमदनी इससे काफी कम है। बुनाईके कामको चाहे जब बन्द नही किया जा सकता किन्तु कताईका काम किसी भी समय बन्द किया जा सकता है, और इसलिए जब जितनी फुरसत मिले, हम उतने समयमें ही कुछ-न-कुछ काम कर ले सकते हैं। चरखा चलाना जल्दी और आसानीसे सीखा जा सकता है और कातनेवाला शुरूसे ही कुछ-न-कुछ सूत तो निकालने ही लग जाता है।

इसके अतिरिक्त यह भरोसा करना भी गलत है कि मिलसे सूत बराबर मिलता रहेगा। हाथ-बुनाई और मिलकी बुनाई एक-दूसरेके सहायक धन्धे नहीं हैं। वे दोनों परस्पर विरोधी धन्धे हैं। अन्य सभी यन्त्र-उद्योगोंके समान, कपड़ेकी मिलोंकी प्रवृत्ति भी हाथके कामको समाप्त करनेकी ही है। इसलिए यदि हाथ-बुनाई बड़े पैमानेपर एक सहायक धन्धेका रूप ले भी सके, तो उसे पूरी तरह मिलोंपर ही निर्भर करना पड़ेगा और मिलें सूतके दामके रूपमें जुलाहेसे उसकी दमड़ी-दमड़ी खींच लेगी और इस धन्धेको जल्दीसे-जल्दी खत्म कर डालेंगी।

दूसरी ओर हाथ-बुनाई और हाथ-कताई परस्पर सहायक धन्धे हैं। यह बात मौजूदा कताई केन्द्रोंके अनुभवसे सहज ही साबित की जा सकती है। यह लेख लिखते समय भी मेरे पास साथी कार्यकर्त्ताओंके पत्र पड़े हुए हैं जो यह लिखते है कि सूतकी कमीसे उन्हें जुलाहोंको खाली हाथ लौटा देना पड़ रहा है।

यह बात कम लोग जानते हैं कि मिलके सूतसे कपड़ा बुननेवाले जुलाहोंकी बहुत बड़ी संख्या साहूकारोंके चंगुलमें फँसी हुई है और जबतक वे मिलके सूतके भरोसे रहेंगे उनकी ऐसी ही हालत बनी रहेगी। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाका तकाजा है कि जुलाहोंको सूत मिलोंसे न लेकर अपने साथी किसानसे ही लेना चाहिए।

इसके सिवा जहाँतक पता चलाया जा सका है, आज २० लाख जुलाहे काम कर रहे हैं। एक नये करघेको बैठानेका अर्थ १७ रुपयेकी नई पूंजी लगाना होता है, जब कि एक नये चरखेके लिए साढ़े तीन रुपयेसे अधिककी जरूरत नही होती। खादी प्रतिष्ठानके चरखेका दाम तो दो ही रुपये है। दूसरा कुछ प्रबन्ध न हो सके तो तकली तो बिना खर्चके घरपर ही तैयार कर ली जा सकती है।

इस प्रकार चरखा ही वह एकमात्र आधार मालूम पड़ता है, जिसपर सन्तोष-जनक रूपसे ग्रामीण जीवनकी संरचना हो सकती है। यही वह मध्यविन्दु है जिसके गिर्द गाँवका पुनर्गठन सम्भव है।

मगर यह कहा जाता है कि गरीब देहातियोंके लिए भी फी दो घंटे एक पैसेकी आमदनी आर्थिक दृष्टिसे आकर्षक नहीं होगी। पहली बात तो यह है कि चरखा उन लोगोंके लिए नहीं है, और उन्हें चरखा चलानेको कोई कहता भी नहीं, जिनके पास ज्यादा आमदनी देनेवाला कोई रोजगार हो। आज हजारों औरतें रोजाना या हफ्तेमें एक बार अपना सूत जमा करके उसके बदले दो पैसे लेने और कच्ची कपास लेनेके लिए दो-तीन मील चलकर आती हैं। आखिर यह क्योंकर हो रहा है? उन्हें अगर कोई हाथ-करघेपर बुनाई करनेको कहे तो वे उसे कभी न करेंगी। इसके लिए उन्हें न तो समय मिल पायेगा, और न वे इसमें कुशल ही होंगी। शहरके रहनेवालोंको आम जनताकी घोर गरीबीका कोई अनुमान ही नहीं है। उनके सन्दर्भमें हमारा मशीन युगकी बात न करना ही अच्छा होगा। मैन्चेस्टरकी मशीनोंने उनकी सूखी रोटीके साथकी दाल छीन ली है; चरखा ही उनकी दाल था। चरखा तो छिन गया लेकिन बदलेमें वैसी ही या उससे बेहतर कोई चीज उन्हें नहीं मिली। अतएव इन लोगोंकी आशाका एकमात्र आधार चरखा ही है।

यहाँ मैं कृषिकी उन्नति-सम्बन्धी अधिक साहसिक किन्तु काल्पनिक योजनाओंकी मीमांसा नहीं करूँगा। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि उनकी काफी गुंजाइश है। मगर उसके लिए तो समय और शिक्षाकी अपेक्षा है। हमारी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने-वाली गरीबीकी तो तुरन्त ही कोई दवा होनी चाहिए। और यह सिर्फ चरखेसे ही सम्भव है। वैसी उन्नतियोंकी सम्भावनामें चरखा कोई दखल नहीं देता, न वह उनकी उपेक्षा ही करता है। चरखा तो मानो उनकी भूमिका है। जहाँ-जहाँ चरखा गया है, गाँववालोंके जीवनपर उसका एकाधिक ढँगसे प्रभाव पड़ा है और शहरी लोगोंको इसके माध्यमसे देहातियों और देहातोंके साथ जीवन्त सम्पर्क रखनेका मौका मिलता है।

आलोचकगण पूछते हैं "आप चरखा चलानेके जो गुण बताते हैं अगर वे सब उसमें हैं, तो फिर क्या बात है कि वह सब जगह नहीं फैला?" यह सवाल सर्वथा उचित है। इसका जवाब सीधा-सादा है। चरखेका मन्त्र हमें जिन लोगोंतक पहुँचाना है वे ऐसे लोग हैं जिनमें कोई आशा नहीं बची और काम करनेका जिनका माद्दा खत्म हो चुका है और जिन्हें अगर उनके हालपर छोड़ दिया जाये तो सम्भव है वे भूखों मरते चले जायेंगे, काम करके जीवित रहनेकी कोशिश नहीं करेंगे। अरसे तक उपेक्षित रहनेके कारण आलस्य इनका स्वभाव ही बन गया है। इस आलस्यको दूर करनेका यही एक उपाय है कि उनके सामने ऐसे चरित्रवान् परिश्रमी पुरुषोंके उदाहरण आयें जो स्वयं चरखा चलाते हों और फिर उनसे उनका जीवन सम्पर्क स्थापित हो तथा उन्हें धीरे-धीरे रास्ता दिखाया जाये। दूसरी बड़ी कठिनाई है, खादीके लिए बने-बनाये बाजारका अभाव। मैं मानता हूँ कि फिलहाल खादी, मिलके कपड़ोंसे होड़ नहीं कर सकती। मैं किसी ऐसी प्रतियोगितामें पड़ना भी नहीं चाहता। वह हानिकारक होगी। जिसके पास पूँजी है, वह बाजारपर कब्जा करनेके लिए अपना

मखमल भी मिट्टीके मोल बेच सकता है। लेकिन वह व्यापारी जिसकी एकमात्र पूंजी उसकी मेहनत ही है, ऐसा करनेकी हिम्मत नहीं कर सकता। क्या एक बहुत ही सुन्दर, सुघड़ किन्तु बनावटी गुलाब और असमान पंखुड़ियोंवाले सच्चे गुलाबका कोई मुकाबला हो सकता है, या किसी जीवित व्यक्ति और मोमकी बनी उसकी मूरतमें कोई बराबरी हो सकती है? खद्दर जीवित वस्तु है; किन्तु सच्ची कलाको पहचाननेकी हिन्दुस्तानकी शक्ति ही खत्म हो गई है और इसलिए वह बाहरी चमक-दमकपर ही खुश है। खद्दरके प्रति स्वस्थ राष्ट्रीय रुचि पैदाकर दीजिए और फिर देखिए कि मधुमक्खियोंके छत्तेके समान हर गाँव कार्य-व्यस्त नजर आने लगेगा। अभी तो खादी मण्डलोंको अपनी बहुत-सी शक्ति खादीके लिए बाजार तैयार करनेमें ही लगानी पड़ती है। आश्चर्य तो इस बातका है कि इतनी कठिनाइयोंके होते हुए भी यह आन्दोलन बढ़ता ही चला जा रहा है। अभी पिछले साल-भरमें ही १२ लाख रुपयेसे अधिककी खादी बिकी थी। मगर अभी जितना कुछ करनेकी जरूरत है उसे देखते तो यह कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार मैंने सहायक धन्धेके रूपमें करघेके मुकाबले चरखेके दावेको यहाँ संक्षेपमें प्रस्तुत किया है। किन्तु कोई विचार-विभ्रम न हो; मैं हाथकरघेका विरोधी नहीं हूँ। वह एक बहुत ही बड़ा और उन्नतिशील कुटीर उद्योग है। अगर चरखेको सफलता मिली तो यह आप ही आप उन्नति करेगा। अगर चरखा असफल रहा तो इसकी मृत्यु भी निश्चित है।

यदि कोई इन तर्कोंकी आलोचनामें कुछ कहे तो मैं उसे सुनूंगा। अगर कोई इन तर्कों या तथ्योंको गलत साबित कर सके तो मैं अपनी बात बखुशी वापस ले लूंगा।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, ११-११-१९२६

१३. गोरक्षा

एक सज्जन लिखते हैं:

> अधिकांश हिन्दुओंका यह महसूस करना कि गोरक्षा हर हालतमें की जानी चाहिए, स्वाभाविक ही है; मैं भी ऐसा ही मानता हूँ। जिन जिलोंको अकाल पीड़ित घोषित कर दिया गया था मैंने उनमें भूखों मरती कलोर गायोंकी दुर्दशा देखी थी। वहाँ वे मुसलमान चमड़ेके व्यापारियोंके हाथ झुंडकी-झुंड बेच डाली जाती थीं।
>
> मालूम होता है कि हिन्दू-धर्मके अनुयायियोंका गोरक्षाका फर्ज केवल उनके ग्रन्थोंतक ही सीमित है। मैं इसके तत्त्वको समझनेकी कोशिश करता आया हूँ। जन्मसे लेकर मरणोपरान्त तक लगातार फायदेमन्द होनेके कारण अगर

गोरक्षा शुद्ध स्वार्थके खयालसे ही आवश्यक है, तो गोरक्षाका भाव हिन्दुओंतक ही सीमित न रहकर विश्व-भरमें फैल जाना चाहिए था; क्योंकि मनुष्य प्रकृतिसे ही स्वार्थी होता है। अगर इसके प्रतिकूल गायकी रक्षा करना उसकी लाचारी और दीन स्वभावके कारण जरूरी है, तो भेड़ और हिरन-जैसे दूसरे जानवर भी मनुष्यकी रक्षा पानेके उतने ही हकदार हैं। तब फिर गायमें ऐसा कौन-सा खासगुण है जो सिर्फ हिन्दुओंके लिए ही उपयोगी है या जिसे सिर्फ हिन्दू ही जानते हैं और जो अन्य पालतू जानवरोंमें नहीं है। अगर हिन्दू लोग, जिनमें शाकाहारी और कट्टरपन्थी हिन्दू भी शामिल हैं, भैंसों, बकरों और भेड़ों इत्यादिको आहार या बलिदानके लिए मार सकते हैं तब मुसलमानों द्वारा आहार या बलिदानके निमित्त गायोंके कत्ल करनेसे हमको चिढ़नेका क्या हक है? क्या हिन्दुओं द्वारा आहार अथवा बलिके लिए पशुवध करना छोड़ देनेके बाद ही मुसलमानोंसे गायको न मारनेकी हमारी अपील ज्यादा मुनासिब और जोरदार न होगी?

पत्र-प्रेषक महोदयने जो दलील पेश की है उसके पक्षमें बहुत-कुछ कहा जा सकता है। लेकिन मनुष्य कोरे तर्कसे शासित नहीं होता। वह एक बहुत ही जटिल प्राणी है। इसलिए उसपर बहुत-सी बातें अपना प्रभाव डालती हैं और उसके अमुक काम करने या न करनेके पीछे कई कारण हुआ करते हैं। अगर कोई हिन्दू गायकी रक्षा करता है, तो उसे तर्ककी रूसे तो अन्य पशुओंकी भी रक्षा करनी चाहिए; लेकिन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए हम उसके गोरक्षा करनेपर महज इस बिनापर एतराज नहीं कर सकते कि वह अन्य पशुओंकी रक्षा नहीं करता। इसलिए विचारणीय प्रश्न इतना ही रह जाता है कि उसका गोरक्षा करना उचित है या नहीं। यदि सामान्य रूपसे अहिंसामें विश्वास रखनेवालेके लिए पशु-वध न करना धर्म माना जाये, तब तो उसका गोरक्षा करना गलत हो ही नहीं सकता। प्रत्येक हिन्दू, बल्कि सभी धार्मिक व्यक्ति ऐसा विश्वास करते हैं। सामान्यतः पशुओंको न मारने, और इसलिए उनकी रक्षा करनेके कर्त्तव्यको एक निर्विवाद बात मान ली जानी चाहिए। उस हालतमें हिन्दूधर्मके लिए यह एक सराहनीय बात है कि उसने गोरक्षाके कामको कर्त्तव्यके रूपमें अपना लिया है। साथ ही जो हिन्दू केवल गोरक्षा ही करता है और सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरे पशुओंकी रक्षा नहीं करता वह हिन्दुत्वका सही पालन नहीं करता। गाय तो एक प्रतीक ही है; और उसकी रक्षा कमसे-कम हिन्दू-मात्रसे अपेक्षित है। लेकिन जैसा कि मैं अपने पिछले लेखोंमें बतला चुका हूँ, वह अपने इस प्रारम्भिक कर्त्तव्यपालनसे भी च्युत हो रहा है।

हमें गोरक्षाके लिए प्रेरित करनेवाला भाव 'शुद्ध स्वार्थपूर्ण' भाव ही नहीं है; हालाँकि इसमें कोई शक नहीं कि स्वार्थभाव उसमें आ जरूर जाता है। अगर वह शुद्ध स्वार्थपूर्ण ही होता तो गाय, पूर्ण लाभ देना बन्द करते ही, मार डाली जाती, जैसा कि अन्य देशोंमें होता है। हिन्दू लोग गायको चाहे वह उनके ऊपर एक भारी

बोझ ही क्यों न हो जाये, कदापि नहीं मारेंगे। लूली-लंगड़ी और अनुपयोगी गायोंको पालनेके निमित्त धार्मिक वृत्तिके लोगों द्वारा जो अगणित गोशालाएँ खोली गई हैं वे इस दिशामें किये जा रहे प्रयत्नकी साक्षी हैं। यद्यपि आज उद्देश्यकी महत्ताके अनुपातमें ये संस्थाएँ बहुत अच्छी नहीं हैं, तथापि इस बातसे उन गोशालाओंको स्थापित करनेके पीछे जो भावना है, उसका मूल्य कम नहीं होता।

अतएव गोरक्षाका सिद्धान्त मेरी दृष्टिमें बहुत उच्च है। यह सिद्धान्त, जहाँतक जीवित रहनेकी स्वतन्त्रताका प्रश्न है, पशु-जगत्को मनुष्यके साथ बराबरीके दर्जेपर रख देता है। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, गोरक्षामें विश्वास न रखनेवालोंको गोवध करनेसे जबरदस्ती रोकना हिन्दूधर्मका अंग नहीं है। जहाँतक मनुष्यके लिए सम्भव है अहिंसाधर्मका पालन करके ही हिन्दू लोग मुसलमानों तथा शेष जगत्को अपने विचारोंके अनुकूल बना सकेंगे। वे तो इतना ही करें कि इस सिद्धान्तको अपने जीवनमें उतारें और उसके प्रभावके जरिये बाहरी दुनियाको प्रभावित करें। वे शक्तिबलसे उन लोगोंको नहीं बदल सकते जिनका इस सिद्धान्तमें विश्वास नहीं है। हाँ, अहिंसाकी शक्तिसे निश्चय ही वे उन्हें बदल सकते हैं। पूरी तरह आचरित अहिंसाकी शक्ति कैसी अद्वितीय होती है, इसका हमें कोई अन्दाज ही नहीं है।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, ११-११-१९२६

१४. पाठशालाओंमें तकली

खादी प्रतिष्ठानके डा० प्रफुल्लचन्द्र घोषने पाठशालाओंमें तकली चलानेकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें मुझे नीचे लिखा पत्र भेजा है:[1]

मैं मलिकन्दा राष्ट्रीय पाठशालाके अधिकारियोंको बधाई देता हूँ। अधिक सूत तैयार करनेके खयालसे तकलीकी अपेक्षा चरखा हर हालतमें ज्यादा अच्छा है। मेरा यह विचार कभी नहीं रहा कि चरखेके मुकाबले तकलीको हर हालतमें प्राथमिकता दी जाये। किन्तु मुझे इस बारेमें कोई सन्देह नहीं है कि हमारी बहुत-सी पाठशाला-ओंका सामान्य अनुभव पर्याप्त रूपसे यही सिद्ध करता है कि चरखेकी अपेक्षा तकलीका प्रयोग अधिक सफल होता है। इसके कारण स्पष्ट हैं। पाठशालाओंके कमरे इतने छोटे होते हैं कि उनमें सभी लड़कों और लड़कियोंके लिए चरखे रखनेकी जगह नहीं निकल पाती। दूसरे, यदि चरखोंके लिए पर्याप्त जगह हो भी, तो चरखे तकलियोंकी अपेक्षा बहुत महँगे पड़ते हैं। तीसरी बात यह है कि चरखा अकसर खराब हो जाता

१. यहाँ नहीं दिया जा रहा है। पत्र-लेखकने मलिकन्दा (ढाका) स्थित राष्ट्रीय पाठशालाके छात्रों द्वारा चरखेपर कताई-कार्यकी प्रगतिका ब्योरा देते हुए कहा था कि ऐसा कहना ठीक नहीं है कि पाठशालाओंमें चरखेकी अपेक्षा तकलीको हमेशा प्राथमिकता मिलनी चाहिए। यह बात उन छोटे लड़कोंके मामलेमें ही ठीक है जो चरखा नहीं चला सकते।

है और शालाके अध्यापक या छात्र उसे तुरन्त ठीक नहीं कर सकते। चरखा खराब हो जानेपर उसे सुधारनेमें काफी वक्त लगता है। बड़ी तादादमें छात्रों द्वारा चरखोंसे सूत काते जानेकी परिस्थितिमें उनके कामकी निगरानी करना सम्भव नहीं होता। इसके विपरीत, तकली बहुत-ही सस्ती होती है। इसे एकसाथ हजारों छात्र चला सकते हैं। कमरा लोगोंसे भरा हुआ होनेपर भी यह चलाई जा सकती है क्योंकि हम लगभग नहींके बराबर जगहमें इसका प्रयोग कर सकते हैं। एक तो यह खराब होती ही कम है; और यदि खराब हो भी जाये तो तुरन्त बदल दी जा सकती है। इसके अलावा, कितने ही छात्र एकसाथ तकलीपर काम क्यों न कर रहे हों, उनकी कताईकी निगरानी की जा सकती है। सामूहिक रूपसे कुल मिलाकर चरखेकी अपेक्षा तकलीसे अधिक सूत कतता है; किन्तु तकलीकी प्रशंसामें इतना कहनेपर भी यह कहनेकी जरूरत नहीं है कि यदि कोई शाला ऊपर बताई गई कठिनाइयोंको दूर कर सकती है तो वह तकलीके बजाय चरखेसे काम ले सकती है। इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, ११-११-१९२६

१५. टिप्पणियाँ

खद्दर और सरकारी नौकर

एक सज्जन लिखते हैं:

> **कई सरकारी नौकर हमारे फेरीवालोंके पहुँचनेपर हाथकता और हाथबुना खद्दर खरीदनेकी बात सुनते ही काँप उठते हैं। उनका खयाल है कि उन्हें खद्दर नहीं खरीदना चाहिए और इधर बम्बई सरकार खुले तौरपर लोगोंसे देशी उद्योग-धन्धोंको प्रोत्साहित करनेकी अपील कर रही है। क्या आप बता सकते हैं कि मद्रासके सरकारी नौकरोंको खादी खरीदनेमें कोई भय या इसकी मनाही तो नहीं है?**

अगर मैं इस सवालका जवाब दे सकता तो मुझे बड़ी खुशी होती, मगर मैं इसपर अधिकारपूर्वक कुछ नहीं कह सकता। वैसे किसी भी सरकार द्वारा हाथकते और हाथबुने कपड़ेके व्यवहारकी मनाही मेरी समझके बाहरकी बात है। यह तो समझा जा सकता है कि एक खास तरहकी पोशाक पहननेपर जोर दिया जाये, मगर वह पोशाक किस कपड़ेकी बनी हो, इसके विषयमें हुक्म निकालनेकी बात तो अक्लके बाहरकी है। यह देखकर कष्ट होता है कि ऐसे सरकारी नौकर हैं जो काल्पनिक भयसे घबराया करते हैं। मैंने कितने ही सरकारी नौकरोंको बिना किसी रोक-टोकके खद्दर पहनते देखा है। अगर मैं मद्रास सरकारका नौकर होता तो जरूर बेहिचक खादी

पहनता, और अगर सरकारकी ओरसे इसका निश्चित निषेध किया जाता तो मैं नौकरीसे इस्तीफा दे देता।[1]

यह टिप्पणी लिख चुकनेके बाद श्रीयुत सी० पी० रंगम् चेट्टीको मद्रास सरकारके भेजे हुए एक पत्रकी नकल मिली है। पत्र इस प्रकार है — "चरखा संघके प्रबन्धकको सूचना दी जाती है कि सरकारी नौकरोंमें उनके पत्रमें लिखे हुए भय या मान्यता (खादी खरीदनेसे सरकारकी नाराजगी) के होनेका कोई कारण नहीं है।" मैं दोनों पक्षोंको बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि अगर कोई सरकारी नौकर भयसे खादी न खरीदते हों तो वे अब अपना भय और विलायती कपड़ेका उपयोग छोड़ देंगे।

खादी कार्य और स्वयंसेवक

डा० हार्डीकरने हिन्दुस्तानी सेवा दलकी कर्नाटक शाखाको जो काम करने हैं, उनसे सम्बन्धित प्रस्ताव मेरे पास भेजे हैं। मैं उस प्रतिमें से निम्न अंश यहाँ दे रहा हूँ :

> हिन्दुस्तानी सेवा दलकी कर्नाटक शाखाके संगठनकर्त्ताओं और कार्यकर्त्ताओंकी एक बैठक १३, १४ और १५ अक्तूबर, १९२६ को हुबलीमें हुई थी। इसकी अध्यक्षता होसकोप्पा कृष्णरावने की। बैठकमें पूर्ण विचार-विनिमयके बाद दलके भावी कार्यक्रमके सम्बन्धमें निम्न प्रस्ताव पास किये गये :
>
> प्रस्ताव १ :— कर्नाटक दलके संगठनकर्त्ताओं और कार्यकर्त्ताओंकी यह बैठक निश्चय करती है कि उन्हें अपना ध्यान निम्न कार्यक्रमपर केन्द्रित करना चाहिए :
>
> (क) पहली फरवरी, १९२७ से लेकर १३ अप्रैल, १९२७ की आधी रातको पूरे होनेवाले बहत्तर दिनोंमें कर्नाटकमें ४०,००० (चालीस हजार) रुपयेकी खादी बेची। (इन्हीं दिनोंके भीतर राष्ट्रीय सप्ताह आ जाता है)। महात्मा गांधी, श्रीयुत जी० बी० देशपाण्डे और एस० वी० कौजलगीसे सलाह करके डा० हार्डीकर और श्री होसकोप्पा कृष्णराव इस योजनाको अन्तिम रूप देंगे।
>
> टिप्पणी :— इस कार्यका आरम्भ पहली फरवरी, १९२७ तक इसलिए स्थगित कर दिया गया है कि असम कांग्रेसके आदेशानुसार दलको मध्य नवम्बरसे पूर्ववर्ती अवधिमें अपनी सारी शक्ति गौहाटीमें केन्द्रित करनी है।

यह खादी-सम्बन्धी एक अच्छा कार्यक्रम है। यदि यह पूरा हो जाये तो दल एक अच्छा काम सम्पन्न करेगा। इस सम्बन्धमें मेरा और मेरे साथी कार्यकर्त्ताओंका जो अनुभव है, उसपरसे मैं यहाँ बता दूँ कि खादीका कार्य तबतक नहीं फलफूल सकता जबतक खादीके मुख्य कार्यकर्त्ताओंको कपास ओटने, रुई धुनने और सूत कातनेका वैज्ञानिक ज्ञान न हो, वे कपासकी कई तरहकी किस्मोंको न पहचानते हों और

१. यहाँतकका अंश यंग इंडियासे अनुवादित है। इसके बादका अनुच्छेद हिन्दी नवजीवनसे लिया गया है। यंग इंडियामें यह अनुच्छेद नहीं है।

साथही असली खादी और नकली खादीमें अन्तर न कर सकते हों। खादीका काम तभी सफल हो सकता है जब कार्यकर्त्ता उसमें अपनी पूरी शक्ति लगा दें। मैं इस कार्यकी प्रगति बहुत दिलचस्पीसे देखता रहूँगा। दलने एक दूसरा प्रस्ताव भी पास किया है। इसमें उसने अगले साल खादी बिक्रीके दिनोंमें मुझे अपने प्रान्तमें निमन्त्रित किया है। यदि स्वयंसेवक मुझे बुलाकर और अपना एक खादी विक्रेता बनाकर केवल ४०,००० रुपयेकी खादी बेचनेकी आशा करते हों, तब तो मैं उन्हें अधिक श्रेय नहीं दूँगा। दलके सदस्योंको जान लेना चाहिए कि मैं वहाँ आनेकी काफी बड़ी कीमत वसूल करना चाहूँगा। उन्हें मेरे सामने अधिक आकर्षक कार्यक्रम रखना होगा, तभी मैं वहाँ आ सकता हूँ। उन्हें यह भी जान लेना चाहिए कि मैं उस सौभाग्यकांक्षिणी स्त्री की तरह हूँ जिसे बहुतसे लोग वरना चाहते हैं; किन्तु चूंकि मैं बहु-पतित्वकी प्रथामें विश्वास नहीं करती, इसलिए जो मुझे सबसे ज्यादा आकर्षक चढ़ावा देगा, वही मुझे प्राप्त करेगा। इसलिए अच्छा यह है कि वे अगले साल मेरे कर्नाटक आनेकी कोई बड़ी आशा न बाँधें।

अब्राह्मणोंमें खादी

एक पत्र-लेखक लिखते हैं :

> आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि निपानीके अब्राह्मण खादीमें गहरी दिलचस्पी ले रहे हैं। यही एक ऐसा मंच है जिसपर ब्राह्मण और अब्राह्मण एक हो रहे हैं। २३ अक्तूबरको यहाँ एक बड़ी सभा हुई थी। यह सभा बहुत अच्छी हुई। श्री रावन सभामें मौजूद थे। उन्होंने खादीका हार्दिक समर्थन किया। उन्होंने यह जरूर कहा कि वे अब्राह्मण दलके कार्यक्रममें अब भी भाग लेते रहेंगे। निपानीमें एक खादी भण्डार भी खोला गया। इसका श्रेय मुख्यतः कच्छके सेठ मूलजी सिक्काको है। उन्होंने लागत दाममें खादी बेचनेका वचन दिया है। अब्राह्मण मित्रोंको यह विश्वास हो गया जान पड़ता है कि जन-साधारणकी, जिनमें अब्राह्मण भी आते हैं, बढ़ती हुई गरीबीका प्रश्न तबतक हल नहीं किया जा सकता जबतक सब लोग खादीका व्यवहार न करें। इसलिए निपानीके नेता यह अनुभव करते हैं कि खादीका विरोध करनेसे काम न चलेगा, बल्कि समस्त उपलब्ध साधनोंसे खादीको प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

मैं निपानीके अब्राह्मण मित्रोंको उनके इस निर्णयपर बधाई देता हूँ और यह आशा करता हूँ कि वे खादीकार्यका संगठन स्थायी आधारपर करेंगे।

पाठशालाओंमें कताई

आशा है, गुण्टूर नगरपालिकाकी शालाओंमें कताईकी प्रगतिकी निम्न लिखित रिपोर्ट दिलचस्पीसे पढ़ी जायेगी :

> यहाँ पाठशालाओंकी संख्या ३५ है।

लड़कियोंकी पाठशालाएँ ९ हैं और लड़कोंकी २६ हैं। उनमें ४५४ लड़कियाँ हैं और ३६३ लड़के हैं। सूत कातनेवाली लड़कियाँ ७० हैं और लड़के ६०। लड़कोंकी शालाओंमें १५ और लड़कियोंकी पाठशालाओंमें १७ चरखे दिये गये। सालभरमें लड़कोंने २४,००० गज सूत काता और लड़कियोंने २६,००० गज। लड़कोंके सूतका वजन ११८ तोला है और लड़कियोंके सूतका १३० तोले। नगरपालिकाने ४६ रु० ८ आ० की लागतसे ३ मन पूनियाँ खरीदी थीं। सूत नगरपालिकाके दफ्तरमें है। लगभग १०० छात्र खादी पहनते हैं। अध्यापकोंकी कुल संख्या ८७ हैं जिनमें ३० स्त्रियाँ हैं और ५७ पुरुष। लगभग सभी खादी पहनते हैं। इनमें से ६३ अध्यापक अपना सूत अखिल भारतीय चरखा संघको दे देते हैं और एक अध्यापक सूतके रूपमें चन्दा देने-वाले कांग्रेसके सदस्य हैं।

कुल ५०० रुपयेकी खादी खरीदी गई।

इस समय १० शालाओंमें सूत कातना सिखाया जाता है। १० शालाओंमें हिन्दी सिखाई जाती थी, किन्तु वह नगरपालिका द्वारा उसके विरोधमें पास किये गये एक प्रस्तावके कारण बन्द कर दी गई।

पंचम वर्णके लड़कों और गरीब लड़कोंको खादी मुफ्त बाँटी जा रही है। सवर्ण अध्यापक पंचमोंकी शालाओंमें और पंचम अध्यापक सवर्णोंकी शालाओंमें पढ़ा रहे हैं।

राष्ट्रीय वीरोंके जन्मदिनों और पुण्यतिथियोंपर छुट्टियाँ रखी जाती हैं।

सभी अध्यापक सूत कात सकते हैं। उनका सूत नगरपालिकाके दफ्तरमें है। हर अध्यापकको एक-एक चरखा दिया गया है। अध्यापकगण लगभग २ मन पूनियाँ काममें लाते हैं।

नगरपालिकामें अन्य कर्मचारियोंकी संख्या १०० है। वे लगभग सभी खादी पहनते हैं।

युद्धकालमें सूत कताई

मोम्बासासे एक सज्जनने एक पत्रमें जनरल वॉन केटो वोर्बेककी पुस्तक, 'माई रेमिनिसेन्सेज ऑफ ईस्ट आफ्रिका', में से निम्न उद्धरण भेजे हैं। इनमें बताया गया है कि कठिन परिस्थितियोंके दबावमें भी सूत कातना किस प्रकार सम्भव है:

> टांगामें लूटका बहुत माल हमारे हाथ लगा था। किन्तु फिर भी लड़ाई लम्बी होनेकी सम्भावना जान पड़ती थी, इसलिए यह स्पष्ट दिख रहा था कि हमारे पासका भण्डार चुक जायेगा। न्यू मोशीके वतनी एकाएक रेशम पहनने लग गये थे। किन्तु यह उनके फिजूल खर्च हो जानेका लक्षण तो कदापि न था। भारतीयोंकी दुकानोंमें सूती कपड़ेका जखीरा खत्म हो रहा था। हमें स्वयं संजोदगीसे माल तैयार करनेका विचार करना पड़ा। हमारे पास जो

बहुत-सी कच्ची सामग्री थी उसे तैयार मालके रूपमें परिवर्तित करनेकी दृष्टिसे हमारी जीवनचर्यामें एक अद्भुत परिवर्तन हुआ जिसे देखकर हमें स्विस परिवारके रॉबिन्सनके अध्यवसायका स्मरण हो आता था। वहाँ कपासके काफी खेत थे। ऐसी सरल पुस्तकें जिनमें सूत कातने और बुननेकी भूली हुई कलाओंके सम्बन्धमें जानकारी हो, खोजी गईं। गोरी और काली स्त्रियोंने हाथसे सूत कातना शुरू कर दिया। मिशनों और निजी कारखानोंमें चरखे और करघे बनाये जाने लगे। इस प्रकार थोड़े ही समयमें सूती कपड़ेका एक उपयोगके लायक थान बना लिया गया। एनडा नामक पेड़की जड़से विविध परीक्षणोंके बाद अत्यन्त उपयुक्त ऐसा भूरा-पीला रँग बना लिया गया जो घास और झाड़ियोंमें बिलकुल मिल जाता था और इसलिए वर्दियाँ रँगनेके लिए विशेष रूपसे उपयुक्त था।

क्या अच्छा होता कि हम भारतको भी युद्धकी अवस्थामें पड़ा हुआ समझते और विदेशी कपड़े या मिलोंके कपड़ेका इस्तेमाल न करते। तब हाथसे सूत कातनेके विरुद्ध जो तर्क दिये जाते हैं वे सब धुएँकी तरह विलीन हो जाते। हमारे पास इस बातके निश्चित प्रमाण हैं कि भारतके करोड़ों लोग आधापेट खाकर रह रहे हैं। तब क्या हम युद्धकी अवस्थासे भी बुरी अवस्थामें नहीं हैं?

'सब तेरी भेंट'

एक कृपालु तमिल मित्रने मेरे मौनके दिन उपयोग करनेके लिए कुछ उद्धरण भेजे हैं। इन्हें पढ़कर प्रत्येक मनुष्यको आत्मिक लाभ होता है। मैं 'यंग इंडिया' में ऐसे उद्धरण ही देता हूँ जो सारगर्भित और प्रचलित तथा प्रसंगके अनुरूप होते हैं। इन मित्रने उद्धरणोंका जो संग्रह मुझे भेजा है उसमें जॉर्ज हर्बर्ट रचित निम्न पद्य हैं, जो बहुत ही उपयुक्त हैं:[1]

> मुझे दृष्टि दो, हे मेरे प्रभु, हे मेरे स्वामी
> कि सभी चीजोंमें मैं तुम्हारे दर्शन कर सकूं।
> और जो कुछ करूँ सो तुम्हारे निमित्तसे करूँ;
> जो समर्पित होकर सेवा करता है
> वह रोजमर्राको दिव्य बना देता है;
> जो तुम्हारे नियमानुसार एक कमरा भी झाड़ता है
> वह कमरेको और झाड़नेको
> एक सौन्दर्य सौंपता है।

मैं इतना ही उपयुक्त एक अन्य उद्धरण देता हूँ। यह रस्किनका है:

१. देखिए खण्ड १७, पृष्ठ १०३ भी।

हम भवन-निर्माण करें तो ऐसा कि आनेवाली पीढ़ियाँ कृतज्ञताका अनुभव करें। हम पत्थरपर-पत्थर जमाते हुए ध्यान रखें कि ऐसा समय आनेवाला है जब पत्थर इसलिए पवित्र माने जायेंगे कि हमने उन्हें छुआ था और जब लोग कहेंगे, देखो, हमारे पुरखे हमारे लिए कितना-क्या कर गये हैं।

यदि हम प्रत्येक कार्य उस प्रभुके चरणोंमें समर्पित करें जो राजाओंका भी राजा है और उसे अपने स्वार्थके लिए नहीं, बल्कि अगली पीढ़ियोंका हित सोचकर करें तो हमारा सार्वजनिक जीवन आज जितना शुद्ध है उससे कहीं अधिक शुद्ध हो जायेगा।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ११-११-१९२६

१६. भूल सुधार

इस 'भूल सुधार'[1] को छाप सकनेमें मुझे बहुत प्रसन्नता है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, सम्बन्धित टिप्पणियाँ, पहले एक सहयोगीने लिखी थी और उसके बाद उनमें सुधार दूसरेने किया था। वे जल्दीमें लिखी गई थी। यह कहना अनावश्यक है कि दोनों लेखकोंमें से किसीका मंशा इन दोनों संस्थाओंका मुकाबला करनेका नहीं था। उनका उद्देश्य केवल इतना दिखाना था कि खादीके दाम लगातार घट रहे हैं। सतीशबाबूने जो भूल सुधार किया है, उसका स्वागत है। उससे लेखकोंके दिये गये उन तर्कोंका समर्थन होता है जिन्हें उन्होंने प्राप्य आँकड़ोके आधारपर प्रस्तुत किया था। मैं पाठकोंको प्रतिष्ठानकी सही और बढ़ी हुई बिक्रीका ब्योरा दे सका, इसकी मुझे बहुत खुशी है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ११-११-१९२६

१. यहाँ नहीं दिया जा रहा है। सतीशचन्द्र दासगुप्त द्वारा २ नवम्बर, १९२६ को भेजे गये इस भूल सुधार वाले पत्रमें आँकड़े देते हुए कहा गया था कि यंग इंडियाके २८-१०-१९२६ के अंकमें प्रकाशित "एक मात्र कुटीर उद्योगके रूपमें चरखा" शीर्षक लेखमें 'खादी प्रतिष्ठान' और 'अभय आश्रम' के बीच जो तुलना की गई है, वह उचित नहीं है।

१७. पत्र : डॉ० के० के० कुरुविल्लाको

साबरमती
११ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। डा० फरेटके साथ पत्र-व्यवहारकी मुझे खूब याद है। मेरी रायमें उनका रास्ता स्पष्ट है। नोटिसके बावजूद उन्हे धरना तो देते ही रहना चाहिए। यदि जनमत उनके साथ है तो वह धरना जारी रख सकेंगे। यदि जनमत उनके साथ नहीं है तो उन्हें जेल जाना पड़ेगा। और उनके कैद होनेसे अन्ततोगत्वा सफलता मिलेगी। लेकिन ऐसा कदम उठानेसे पहले उन्हें जनमत तैयार करना चाहिए और यह बात सरकारके सामने साफ कर देनी चाहिए कि उनका इरादा हिंसापूर्ण धरना देनेका नहीं है।

हृदयसे आपका,
मो० क० गांधी

डॉ० के० के० कुरुविल्ला
मार्टहाउस सेमिनरी
कोट्टायम्

अंग्रेजी पत्र (एस० एन० १९७३२) की माइक्रोफिल्मसे।

१८. पत्र : सतीशचन्द्र दासगुप्तको

१२ नवम्बर, १९२६

प्रिय सतीश बाबू,

आपसे इतनी दूरीपर बैठा हुआ भी मैं आपकी पीड़ाको महसूस करता हूँ, और इसलिए आपको लिखनेसे घबड़ाता हूँ। अपने क्षेत्रसे बाहर जाकर कुछ और करनेके लिए आपसे कहते हुए तो मुझे और भी संकोच होता है।

लेकिन इस समय मैं आपसे जो-कुछ करनेको कह रहा हूँ, वह शायद एक मजेदार मन बहलाव ही रहे। किसी दिन यों ही बाग बाजारमें कैप्टेन पेटावलका प्रतिष्ठान देखने चले जाइए और लिखिए कि वहाँ क्या हो रहा है। क्या उसमें कोई सार है? वे बहुत ही अधिक आग्रह कर रहे हैं और चाहते हैं कि मैं उनके कामकी चर्चा करूँ।[1] मुझे न तो उनका काम ही जँच रहा है, न खुद वे ही। कहीं ऐसा

१. देखिए "पत्र : जे० डब्ल्यू पेटावलको", १२-११-१९२६।

न हो कि मैं उनके प्रति ज्यादती कर रहा होऊँ; इसलिए मैं चाहता हूँ कि आप मुझे सही स्थिति बतायें। आप जान चुके होंगे कि अब तो डा० राय[1] भी उनके साथ हैं।

आप निराशाके इस दलदलसे बाहर निकल आइए और प्रसन्नचित्त रहिए, भले ही हर बातका नतीजा उलटा ही निकलता दिखाई दे रहा हो। कीमतोंके बारेमें आपके सुझावोंको न मानते हुए मैंने कुछ मनमानी की है; वह तो आपने देख ही लिया होगा।

हेमप्रभा देवी कैसी चल रही हैं? उन्हे पखवाड़ेमें कमसे-कम एक बार मुझे पत्र लिखना चाहिए। आपकी बस्तीमें मलेरिया थम गया है या नहीं?

क्या आप २३ को शामिल हो सकते हैं?

सस्नेह,

आपका,

बापू

अंग्रेजी पत्र (जी० एन० १५६३) की फोटो-नकलसे।

१९. पत्र : सी० विजयराघवाचारीको

[१२ नवम्बर, १९२६][2]

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला, प्रसन्नता हुई। मेरे लिए यह स्वीकार करना सम्भव नही है कि मैं उत्तर भारतका पक्षपात करता हूँ और दक्षिणकी उपेक्षा। मैं नहीं समझता कि यदि मैं कांग्रेस अधिवेशनमें चला गया तो कांग्रेसकी कार्यवाही आदिमें कोई खास भाग ले भी सकूँगा या नही। इस विषयमें मुझे सन्देह है। मैं तो यही चाहूँगा कि १९१५-१८ में मेरा जो रुख था, वही फिरसे अख्त्यार कर सकूँ, अर्थात् मैं अपना कार्य अपने विशेष विषयोंतक ही सीमित रखूँगा। कारण कुछ भी हो, कौसिलोंके प्रति मेरे दिलमें जरा भी दिलचस्पी नहीं है। जो-कुछ चल रहा है, उसे देखकर दुख होता है।

आपका स्वास्थ्य कैसा है?

हृदयसे आपका,

सी० विजयराघवाचारी
आराम, सेलम

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७३०) की फोटो-नकलसे।

१. प्रफुल्लचन्द्र राय।

२. १७ नवम्बर, १९२६ के विजयराघवाचारीके पत्र (एस० एन० १२०८३) के आधारपर तारीख निर्धारित की गई है।

२०. पत्र : एच० बी० तेजूमलको

[१२ नवम्बर, १९२६][1]

प्रिय मित्र,

धर्मग्रन्थोंके उद्धरण देनेसे कुछ लाभ नहीं होगा। द्रौपदीकी प्रार्थना एक प्रसिद्ध दृष्टांत है। यदि किसी व्यक्तिको अपनी प्रार्थनामें विश्वास है, तो मेरे मनमें जरा भी सन्देह नहीं है कि उसकी प्रार्थना पहाड़ोंको भी हिला सकती है। विश्वास और प्रमाण दो विरोधी बातें हैं। इसलिए दृष्टान्तोंसे कुछ लाभ नहीं। केवल प्रार्थना ही करनी है, चाहे प्रार्थनाका उत्तर मिले या न मिले। प्रार्थना स्वार्थ-सिद्धिके उद्देश्यसे कभी नहीं की जानी चाहिए।

हृदयसे आपका,

श्रीयुत एच० बी० तेजूमल
चिकित्सक
न्यू सक्खर (सिंध)

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७३१) की फोटो-नकलसे।

२१. पत्र : जे० डब्ल्यू० पेटावलको

साबरमती
१२ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

अनवरत प्रयत्नके लिए मैं आपका आभारी हूँ। कृपया उसे जारी रखिए। किसी दिन मैं आपको और आपकी योजनाको ज्यादा अच्छी तरह समझ पाऊँगा। आपको कताईमें काफी मदद मिल रही है। इसलिए मुझे धीरजके साथ आप अपनी गतिविधि-पर गौर करनेका अवसर दें। किसी दिन मुझे आपके प्रतिष्ठानको स्वयं आकर देखना ही होगा।

हृदयसे आपका,

कैप्टेन पेटावल
पॉलीटेकनिक इन्स्टीट्यूट
बागबाजार, कलकत्ता

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७३३) की माइक्रोफिल्मसे।

१. साबरमती संग्रहालयमें एस० एन० रजिस्टरके आलेखानुसार यह तारीख तय की गई है।

२२. पत्र : गिरिराज किशोरको

१२ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। आप चाहें तो आ सकते हैं। लेकिन मैं आपको फिक्रसे आगाह करता हूँ। हो सकता है कि मैं आपके रहनेके लिए अपने बरामदेके एक कोनेमें ही जगह दे सकूँ। शायद यहाँ आपको कोई बौद्धिक काम बिलकुल ही न दिया जाये और सारा काम शरीरश्रमका ही हो जिसमें सफाईका काम, पानी ढोने आदिका काम तो होगा ही। आपको प्रतिदिन आठ घंटे कताई या ऐसे ही अन्य कामोंमें लगाया जा सकता है।

आपसे शायद खुद अपना खाना पकानेकी अपेक्षा की जाये। किसी भी तरह आपका खर्च १५ रु० महीनासे ऊपर नहीं होना चाहिए। कुछ लोग तो यहाँपर १० रु० से कममें काम चला लेते हैं।

यदि यह सब आपको आकर्षित करता है, तो आप यहाँ प्रसन्न रहेंगे, अन्यथा नहीं।

हृदयसे आपका,

गिरिराज किशोर
रोहतक

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७३४) की माइक्रोफिल्मसे।

२३. पत्र : मुरलीप्रसाद अम्बरथाको

१२ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

खद्दरकी वकालत मैंचेस्टरकी तबाहीके लिए नहीं, बल्कि जनताकी हालत बेहतर बनानेके लिए ही की जाती है।

मिलें केवल कुछ लाख लोगोंको काम दे सकती हैं। आंशिक रूपसे बेरोजगार रहनेवाले लाखों लोगोंके लिए कोई उद्योग-धंधा सुलभ करना जरूरी है। चरखा ही एकमात्र ऐसा उद्योग है। एक अत्यन्त महत्त्वके जरूरी उद्योगपर कीमतके सवालका असर नहीं पड़ने दिया जा सकता। इसलिए मँहगी खादी आर्थिक दृष्टिसे सस्ती खादीसे भी सस्ती है। एक सालके अन्दर सारे भारतको खद्दरके कपड़े पहनाये जा सकते हैं।

यह मिलोंके जरिये असम्भव है। मिलोंको इसमें कुछ नहीं तो २० सालोंसे भी ज्यादा समय लग जायेगा।

हृदयसे आपका,

श्रीयुत मुरलीप्रसाद अम्बरथा
द्वारा बी० गोकुलप्रसाद
वकील
मुरादपुर डाकघर
पटना

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७३५) की माइक्रोफिल्मसे।

२४. पत्र : इडा मिलरको

१२ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिल गया है। मैं समझता हूँ कि एम० रोनिगर 'द स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमेंट्स विद ट्रुथ' का अनुवाद करेंगे।

हृदयसे आपका,

कुमारी इडा मिलर
१३ बामगार्टेंस्ट्रास, ५३
विएना

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७३६) की फोटो-नकलसे।

२५. पत्र : मूलचन्द अग्रवालको

कार्तिक शुक्ल ७, १९८३ [१२ नवम्बर, १९२६]

भाई श्री मूलचन्दजी,

आपका पत्र मीला। संस्कारोंपर मेरी श्रद्धा है परन्तु संस्कारकी जातिमें देशकाल और स्थितिका परिवर्तन होनेसे परिवर्तन होता है। उपवीतादि संस्कारके लीये में तटस्थ हुं।

मैं वर्णाश्रममें मानता हुं परंतु आज दोनोंका लोप हो गया प्रतीत होता है। हम सब शुद्र बन गये हैं। पांच वर्ण तो कभी नहि थे।

कातनेकी क्रिया केवल यज्ञ है और सबके लीये है परंतु जो उस क्रिया आजी-विकाके लीये करे वह वैश्य है। अध्यापक धंदेकी दृष्टिसे ब्राह्मण है यदि वह बगैर तनख्वाह धंदा करे।

आपका,
मोहनदास गांधी

मूल पत्र (जी० एन० ७६४) की फोटो-नकलसे।

२६. पत्र : बहरामजी खम्बाताको

शुक्रवार [१२ नवम्बर, १९२६][1]

भाई श्री खम्बाता,

चि० देवदासने कहा है कि आप दोनों कुछेक मित्रों सहित यहाँ रहनेके लिए आना चाहते हैं परन्तु आपको कहनेमें संकोच होता है। संकोच करनेका कोई कारण नही है। जब भी आना हो निःसंकोच चले आइए। जगहकी तंगी तो है लेकिन आपकी व्यवस्था तो कहीं न कही कर दी जायेगी। आशा है कि आपकी तबीयत अच्छी होगी। श्री एडीकी पुस्तकके बारेमें जब आप आयेंगे तब बात करेंगे। मैंने उसपर कुछ विचार तो किया ही है।

बापूके आशीर्वाद

भाई बहरामजी खम्बाता
२७५ हार्नबी रोड
फोर्ट, बम्बई

गुजराती पत्र (जी० एन० ६५८७) की फोटो-नकलसे।

१. डाककी मुहरमें तारीख १३-११-१९२६ है; लेकिन शुक्रवार १२ नवम्बरको था।

२७. पत्र : श्रीप्रकाशको

[१३ नवम्बर, १९२६][1]

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। जिन कुत्तोंका आपने उल्लेख किया है, उन्हें मैं वेकारकी वला नहीं मानता; फिर भी जहाँतक उनका सवाल है, मैं चाहूँगा कि उनका जीवन भी जितना संकटमय है, उससे कम संकटमय बन सके। लेकिन अहमदाबाद-जैसे शहरमें ऐसे कुत्ते हैं जो समाजके लिए खतरनाक हैं, जिनकी कोई देखभाल नहीं की जाती और जो अवांछनीय हैं। यदि उनकी देखभाल नहीं की जा सकती या वे हमारी ही तरह नहीं रखे जा सकते, तो जीवित होते हुए भी मृतकों-जैसे बने रहनेके बजाय बेहतर होगा कि उनको मार डाला जाये।

खद्दरके सवालपर आशा है कि 'यंग इंडिया' में चर्चा करूँगा।

हृदयसे आपका,

श्रीप्रकाश
सेवाश्रम (बनारस छावनी)

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७२९) की माइक्रोफिल्मसे।

२८. पत्र : वसुमती पण्डितको

शनिवार [१३ नवम्बर, १९२६][2]

चि० वसुमती,

तुम्हारे दोनों पत्र मिले हैं। तुम्हारी तबीयत अच्छी रहे तो मैं निश्चिन्त हूँ। यहाँ आनेमें देर-सवेर हो तो मैं सहन कर सकता हूँ लेकिन तबीयत खराब होनेकी बात सहन नहीं कर सकता। इन्द्रवदनके भाई विक्रमको तो तुम पहचानती ही होगी। वह आश्रममें रहना चाहता है। इसके बारेमें तुम्हारा क्या खयाल है?

देवदास एक दिन यहाँ रहकर पंचगनी गया।

बापूके आशीर्वाद

चि० वसुमती धीमतराम
मार्फत अम्बालाल मथुरादास
पलियड वेडा, डाकखाना डाँगरवा

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ४७२) तथा (एस० एन० ९२२०) से भी।
सौजन्य : वसुमती पण्डित

१. एस० एन० रजिस्टरके आधारपर।
२. डाककी मुहरसे।

२९. पत्र : तुलसी मेहरको

शनिवार, कार्तिक शुक्ल ८, १९८३ [१३ नवम्बर, १९२६]

चि० तुलसी महेर,

तुमारे खत आते हैं। किसी पत्र आश्रमवासीयोंको सुनाता हूँ। स्वप्न अच्छा था; उसमें जो तुमने सुना उससे ज्यादाह् कुछ भी मैं नहिं कह सकता। इतना हि हो जाय तो काफी। तवीयत अच्छी होगी। नेपालमें गैया और भैंसें रहती हैं क्या? जिस खतपर लीखते हो वह हाथका बना हुआ है। वहां वनता है या वहारसे आता है। उसका क्या दाम होता है? भणसाली भाईके ४० चालीस उपवास सोमवारको पूरे होंगे। तवीयत वहोत अच्छी है।

बापूके आशीर्वाद

मूल पत्र (जी० एन० ६५२८) की फोटो-नकलसे।

३०. क्या यह जीवदया है?– ६

एक मित्रने एक लम्बा लेख लिखकर अनेक प्रश्न उठाये हैं और अपनी शंकाओंको अभिव्यक्त किया है। उन्होंने शुद्धभावसे अपनी शंकाएँ प्रस्तुत की हैं। इस लेख-मालावाले 'नवजीवन' के अंकोंको भी उन्होंने अपनी टिप्पणियों सहित भेजा है। मैं मानता हूँ कि इनके लेखमें उठाये गये अनेक प्रश्नोंका समाधान तो हो चुका तथापि प्रश्नोंके समुचित उत्तर मैं यहाँ दे रहा हूँ।

मुझे लगता है कि इन प्रश्नोंपर मैं तटस्थ भावसे विचार कर रहा हूँ। मुझसे हिंसाका पक्षपात तो हो ही नही सकता। अपने मतामतोंका भी मुझे कोई पक्षपात नहीं है। पक्षपात तो मुझे सत्यका ही है और उसकी खोज मुझे अहिंसक मार्गसे ही करनी है। दूसरे मार्गसे वह कदापि नहीं मिल सकता, ऐसा मैंने अनुभव किया है। सत्य ही परम उद्दिष्ट है या नहीं और अहिंसा परम धर्म है अथवा नही, यह बात मेरे लिए विवादग्रस्त नहीं है। इसके बारेमें अपने मनमें शंका उठनेकी सम्भावना तक मैं नहीं मानता। लेकिन उसका पालन कैसे हो मेरे सम्मुख हमेशा यह प्रश्न रहता है। प्रतिक्षण नवीनताएँ दिखाई देती हैं। उसके पालनमें भूलोंका होना मैं अवश्य ही सम्भव मानता हूँ। वैसी भूलोंसे बचनेके लिए मैं बहुत जाग्रत रहता हूँ। फिर भी झपकी आ सकती है। इसलिए यदि किन्हीं मित्रोंका विरुद्ध मत मुझे मान्य न हो तो वे मुझे दुराग्रही न मानें अपितु नासमझ जानकर क्षमा करें और धीरज रखें।

१. पागल कुत्तेके काटनेसे होनेवाला रोग निमित्तमात्र है।

२. इस रोगके निवारणके लिए सरकार प्रयत्न करे अथवा नगरपालिका, लेकिन यह प्रयत्न एक ही दृष्टिसे होगा। यदि महाजनमें[1] सचमुच अहिंसाकी भावना हो तो वह ही इसका सही उपाय ढूँढ़ सकती है। कुत्तोंको न मारनेके धर्मको सरकार स्वीकार नहीं करेगी। नगरपालिकामें भी अनेक सम्प्रदायोंके लोग होते हैं इससे वे भी इसका अहिंसक उपाय नहीं ढूँढ़ेंगे।

३. अहिंसक उपाय खोज निकालनेका बोझ महाजनपर ही है। महाजनको निर्दोष अथवा निरुपाय मानना भूल है।

४. इस चर्चाके लिए पागल कुत्ते और खूनी मनुष्यमें मैं कोई भेद नहीं देखता। खून करनेकी प्रवृत्ति भी एक रोग है। खूनी अपना-आपा खो बैठता है तभी खून करता है। दोनों दयाके पात्र हैं लेकिन यदि वे दूसरोंको कष्ट पहुँचाते दिखाई दें और उन्हें देहमुक्त करना उचित हो तो वैसा करके भी उन्हें रोकनेका धर्म उत्पन्न होता है। यह धर्म अहिंसक व्यक्तिके लिए तो और भी जरूरी है।

५. कुत्तोंको घर-घर पाला जाना चाहिए, मेरे कहनेका ऐसा आशय ही नहीं है। मैं इतना ही कहता हूँ कि यदि कुत्ते रखने ही हों तो वे पालतू होने चाहिए। पालतू कुत्तोंको रोग नहीं होता, ऐसा नहीं, लेकिन पालतू कुत्तेके लिए उसका स्वामी जवाबदेह होगा।

६. आज गलियोंमें घूमनेवाले लावारिस कुत्ते सीधे-सादे नहीं हैं; कभी थे भी नहीं। पालतू कुत्ते वैसे होते हैं। वे सीधे-सादे रहें इसलिए ही यह चर्चा चल रही है।

७. आवारा कुत्तोंको देखते ही मार दिया जाये, ऐसा विचार मैंने व्यक्त नहीं किया है लेकिन मैंने ऐसे कानूनका सुझाव दिया है। इसमें कुत्तेके प्रति दयाभाव निहित है। क्योंकि इससे दयालु मनुष्य अपना धर्म समझकर या तो कुत्तोंको पालेंगे या दूसरा कोई उपाय ढूँढ़ निकालेंगे और ऐसे कानून बननेपर कुत्तोंका यों ही मारे-मारे फिरना बन्द हो जायेगा। भिखारीको भिक्षा न देनेका उद्देश्य भिखारीको मारना नहीं है; उसका उद्देश्य उसे स्वावलम्बी बनाना, मनुष्य बनाना है। कुत्तोंको मारनेका धर्म तो मैंने पिछले अंकोंमें जो परिस्थितियाँ बताई हैं, उन्हीमें उत्पन्न हो सकता है। कुत्तोंका मारना पाप है, ऐसा कहनेमें मेरे मतका खण्डन नहीं है क्योंकि मैंने उसके विरुद्ध मत व्यक्त ही नहीं किया है।

८. अम्बालाल सेठने क्या किया और जो किया वह उचित है अथवा नहीं, तथा मैंने जो मत व्यक्त किया है वह उचित था या नहीं, इसकी चर्चा करना व्यर्थ है। हमारे पास उस घटनाके सारे तथ्य भी नहीं हैं। उससे उत्पन्न होनेवाली अहिंसाकी महान् समस्या ही चर्चा करने योग्य है और भाई अम्बालालकी बात छेड़ना मैं उस समस्याके समाधानमें विघ्न रूप मानता हूँ।

९. सवाल इतना ही है कि अमुक परिस्थितियोंमें जब अन्य सब उपाय व्यर्थ सिद्ध हो जायें तब कुत्तोंको मारना अहिंसाकी दृष्टिसे धर्म हो सकता है या नहीं?

१. जातीय पंचायत।

मैं मानता हूँ कि हो सकता है और इस बारेमें दो मत नही हो सकते, ऐसा मैं अब भी मानता हूँ। वैसी परिस्थिति किसी समय है या नही, इसके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है लेकिन इतना समझ लेना काफी है कि ऐसे अवसर बहुत ही कम होते हैं।

१०. लेकिन मुझे एक मतभेद अवश्य दिखाई दे रहा है। जिनकी शंकाओंका समाधान करते हुए मैं यह लेख लिख रहा हूँ उनके लेखोंमें और अन्य अनेक लेखोंमें यह देखता हूँ कि उनके लेखकोंको देहके आत्यंतिक विनाशकी बात, हर अवसरपर, भयंकर मालूम होती है। उदाहरणके लिए वे पागल कुत्तोंको एक स्थानपर बन्द कर उन्हें कष्ट सहते हुए मरने देनेका सुझाव देते हैं, जबकि मेरी दयाभावना इस बातको कदापि स्वीकार नही कर सकती। मैं कुत्तोंको अथवा मनुष्योंको तड़पता हुआ नहीं देख सकता। तड़पते हुए मनुष्यको मैं मारता नही क्योंकि मेरे पास उसके लिए आशा-जनक उपचार है। किन्तु मैं तड़पते हुए कुत्तोंको मारनेके लिए राजी हूँ क्योंकि उनके लिए मेरे पास कोई आशाजनक उपचार नहीं है। मेरे बच्चेको पागल कुत्तेके काटनेसे होनेवाला रोग हो जाये और उसके रोगके निवारणके लिए मेरे पास आशाजनक इलाज न हो और वह कष्टसे तड़प रहा हो तो उसकी देहका अन्त करना मैं धर्म समझूँगा। दैवपर आधार रखनेकी भी एक सीमा है। सारे प्रयत्न कर चुकनेके बाद ही हम दैवाधीन बनते हैं। तड़पते हुए बालकके लिए अनेक उपचारोंमें अन्तिम उपचार देहमुक्त करनेका भी है।

लेकिन इस चर्चाको मैं फिलहाल लम्बा नहीं खींचना चाहता। मेरी दृष्टिमें तो जो अहिंसा-धर्मियोंकी कमजोरी है वही इस धर्मको ठीक रूपमें समझनेमें अन्तराय है। इसलिए मैं विनती करता हूँ कि इस मतभेदको सहन कर लिया जाये।

यह तो हुआ एक विवेकी मित्रके प्रश्नोंके बारेमें; आइए अब एक क्रोधी मित्रके प्रश्नोंपर विचार करें :

> हमें तो लगता है कि आप पाश्चात्य देशके वातावरणमें बहुत कालतक रहे हैं, आपने उसके साहित्यका अध्ययन किया है और उसके संस्कार आपके हृदयमें घर कर गये हैं, इसीसे आप मनुष्यके प्रति दयाभाव रखकर प्राणियोंकी जान लेना ज्यादा इष्ट समझते हैं। इसलिए आप बहुत शान्तिसे सोच-विचार कर अपनी भूल स्वीकार करें और संसारसे क्षमा माँगें। संसारमें महापुरुष माने जानेवाले व्यक्तिका यह कर्त्तव्य है। आपको अत्यन्त सूक्ष्मतासे विचार करनेके बाद ही जो इष्ट हो वह करना चाहिए लेकिन आपने तो चर्चाको बहुत तूल देकर अपने नामको बट्टा लगाया है।

इस तरहके पत्रोंमें से मैंने यह एक अपेक्षाकृत सौम्य वाक्य उद्धृत किया है। मैंने विचार किये बिना अपनी राय देनेमें उतावली की है, ऐसी बात नहीं है। जो मनुष्य अपना मत स्थिर करते हुए अपने बड़प्पनका विचार करता है वह सत्यका निर्णय नही कर सकता। उसके सामने तो उसका बड़प्पन होता है और यह सत्यका दर्शन करनेमें विघ्नरूप होता है।

मैं ऐसा नहीं मानता कि पश्चिमका सब कुछ त्याज्य है। पश्चिमकी सभ्यताकी मैंने कड़े शब्दोंमें निन्दा की है। मेरा मन अभी भी उसकी भर्त्सना करता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि पश्चिमका सब कुछ त्याज्य है। पश्चिमसे मैंने बहुत-कुछ सीखा है और मैं उसका ऋणी हूँ। पश्चिमके रहन-सहन और उसके साहित्यने मेरे ऊपर कुछ भी प्रभाव न डाला हो तो इसे मैं अपना दुर्भाग्य समझूँगा। लेकिन कुत्तोंके बारेमें मैंने जो मत व्यक्त किया है सो पश्चिमकी शिक्षाके प्रभावसे किया है, ऐसा मैं नहीं मानता। पश्चिम — एक छोटे सम्प्रदायको छोड़ दें — तो यह सिखाता है कि मनुष्येतर प्राणिमात्रको मनुष्यकी भलाईके लिए मारनेमें कोई दोष नहीं है। इसीसे पश्चिमने जीवित प्राणियोंकी चीर-फाड़को प्रोत्साहन दिया है। पश्चिममें स्वादके लिए अनेक प्रकारकी हिंसा करनेमें दोष नहीं माना जाता। इन बातोंको मैं स्वीकार नहीं करता। पश्चिमके रिवाजके अनुसार तो जो निकम्मा हो गया हो ऐसे किसी भी प्राणीको मारनेमें पाप नहीं बल्कि पुण्य माना जाता है। मैंने जो विचार व्यक्त किया है, उसमें तो हर कदमपर मर्यादा है। शाकाहारको मैं हिंसा मानता हूँ, यह शिक्षा पश्चिमकी नहीं कही जा सकती। सिद्धान्त और उसके अमलका विचार करते हुए हमें व्यर्थकी दलीलों अथवा मिथ्यारोपोंको स्थान नहीं देना चाहिए। मेरे मतकी परीक्षा स्वतन्त्र रूपसे की जानी चाहिए। वह पश्चिमसे आया हो अथवा पूर्वसे, उसका मूल सत्य है अथवा असत्य, उसमें अहिंसा है अथवा हिंसा, इसपर विचार किया जाना चाहिए। मेरा विश्वास है कि उसका मूल सत्य और अहिंसा ही है।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, १४-११-१९२६

३१. बोठाका मेला

हमारे देशमें जगह-जगह मेले होते ही रहते हैं। वर्षमें कहीं-न-कहीं मेला होता ही रहता है। उनमें आसपाससे अनेक प्रकारके लोग आते हैं। बड़े मेलोंमें भाग लेनेके लिए तो लोग सारे हिन्दुस्तानसे आते हैं।

ऐसा ही एक मेला प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमाके अवसरपर बोलका ताल्लुकेके बोठा ग्राममें होता है। उसमें कांग्रेस जिला समितिकी ओरसे कुछ वर्षोंसे भाई डाह्याभाई स्वयंसेवकोंकी टुकड़ी इकट्ठी करके सेवा करते आ रहे हैं। इस साल भी उन्होंने स्वयं-सेवकोंकी माँग करते हुए अपील निकाली है। पिछले वर्ष और उससे भी पिछले वर्ष मैंने इस मेलेमें भाग लेनेका इरादा किया था लेकिन परिस्थितिकी लाचारीके कारण ऐसा नहीं कर पाया। मुझे खेद है कि मैं वहाँ इस वर्ष भी नहीं जा सकता। लेकिन जो लोग वहाँ सेवाके लिए जा सकते हों उन्हें मेरी सलाह है कि वे अवश्य जायें। धर्मार्थ होनेवाले मेलोंमें भी आज बुराईका प्रवेश हो गया है और यह बढ़ती जा रही है। ठग लोग वहाँ जाकर भोले लोगोंको धोखा देते हैं, अनेक प्रकारकी अनैतिक बातें

होती हैं, जुआ खेला जाता है तथा हर तरहकी विषय-वासनाओंको उत्तेजना मिलती है। स्वयंसेवक वहाँ जायें तो इसमें थोड़ा बहुत सुधार अवश्य कर सकते हैं। मुझे उम्मीद है कि जो लोग इसके लिए समय निकाल सकते हैं वे लोग वहाँ आकर यथासम्भव सेवा करेंगे।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, १४-११-१९२६

३२. पत्र : गर्ट्रूड ग्रोगनको

१४ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

मुझे आपका व्यग्रतापूर्ण पत्र[1] ठीक लगा। यदि कभी ईश्वरने चाहा कि मैं अमेरिका जाऊँ, तो वह मेरे लिए रास्ता खोल देगा और मेरा पथ-निर्देशन करेगा।

हृदयसे आपका,

कुमारी गर्ट्रूड ग्रोगन
बर्नार्ड कॉलेज
न्यूयॉर्क

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७३७) की फोटो-नकलसे।

३३. पत्र : रामेश्वरदास पोद्दारको

कार्तिक शुक्ल ९, १९८३ [१४ नवम्बर, १९२६]

भाई रामेश्वरजी,

रामनामके सिवा और कोई चारा हमारे लीये नहिं है रामनाम हि लेना हरगिज निराश नहिं होना।

आपका,
मोहनदास

मूल पत्र (जी० एन० १८८) की फोटो-नकलसे।

१. पत्र-लेखिकाने अपने १५ अक्तूबर, १९२६ के पत्रमें गांधीजीको लिखा था कि अमेरिकाको आध्यात्मिक दिशा-निर्देशकी आवश्यकता है और यह भी लिखा था कि "आप जैसी महान् अंतर्दृष्टि रखनेवाला व्यक्ति ही उस जरूरतको पूरी कर सकता है। अमेरिकामें जो लोग आपकी जरूरत महसूस करते हैं, हे महात्मा! उनकी खातिर आइए; आपका यहां हार्दिक स्वागत होगा।" (एस० एन० १०८३०)।

३४. पत्र : फीरोजको

१५ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। वासनाओंके निग्रहके लिए कोई राजमार्ग नहीं है। इसके लिए लगातार प्रयत्न और निरन्तर ईश्वरकी प्रार्थना, इन दो बातोंकी जरूरत है।

हृदयसे आपका,

फीरोज
बी० चकवानो
डाकघर फलिया
जिला गुजरात
पंजाब

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७३८) की माइक्रोफिल्मसे।

३५. पत्र : फेलिक्स वाल्येको

१५ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

श्री पिक्थॉलने[1] आपकी पत्रिकाके लिए एक लेख या संदेशकी मुझसे माँग की है। लेख लिखनेको मेरे पास एक क्षणकी भी फुर्सत नहीं है। मैं आपको यह कहनेके सिवा और क्या संदेश भेजूँ कि मेरी राष्ट्रीयता प्रगाढ़ अंतर्राष्ट्रीयता है। मैं राष्ट्रों या धर्मोंके झगड़ोंसे तंग आ गया हूँ।

हृदयसे आपका,

डा० फेलिक्स वाल्ये
होटल रिचमंड
जिनीवा

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७३९) की फोटो-नकलसे।

१. मार्माड्यूक पिक्थॉल जो एक समयमें बॉम्बे क्रॉनिकलके सम्पादक रह चुके थे।

३६. पत्र : जमनालाल बजाजको

सोमवार [१५ नवम्बर, १९२६][1]

चि० जमनालाल,

तुम्हारे पत्र मिलते रहते हैं।

कमलाकी तबीयत और उसका मन दोनों ही फिलहाल तो ठीक हैं।

खास तौरसे चरखा संघकी सभाके लिए आनेकी कोई जरूरत नही हैं। लेकिन वहाँ आराम मिले तो ठीक अन्यथा किसी दूसरी जगह भाग जाना चाहिए।

मैंने तार पढ़ लिये हैं। तुमने जो उत्तर दिये हैं मुझे तो वे सब उचित मालूम हुए।

भणसालीके उपवासके आज ४० दिन पूरे हो जायेंगे। कल सबेरे उपवास तोड़ेगा। शक्ति बहुत ही अच्छी रही है। उसने किसीसे तनिक भी सेवा नही ली।

२ दिसम्बरको यहाँसे निकलूंगा[2], ऐसी उम्मीद है। कौन-कौन साथ होगा यह अभी निश्चय नहीं हुआ।

देवदास मथुरादासके लिए पंचगनी गया है। प्यारेलालको अपनी बहनके लिए पंजाब जाना पड़ा।

सोनीरामजीको ऑपरेशनकी जरूरत थी और रंगूनके अलावा अन्य किसी स्थानपर ऑपरेशन करवानेके लिए उनकी माताजी आदि तैयार न थीं।

चम्पा बहन यहीं है। उन्हें अभी कोई जिम्मेदारी नहीं सौंपी है।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० २८७७) की फोटो-नकलसे।

३७. पत्र : लालन पण्डितको

आश्रम

१५ नवम्बर, १९२६

भाईश्री लालन,

मेरी भाषामें हिंसा हो तो मुझे इसका ज्ञान नही है। पाखण्डीको पाखण्डी कहनेमें हिंसा नहीं है लेकिन न कहनेमें हो सकती है। साँपको क्या कहें? अपने पुत्रके आवारा होनेके बावजूद यदि मैं उसके परिचयमें अन्य विशेषणोंका प्रयोग करूँ तो असत्यके दोषका भागी होऊँगा; और मेरी नम्र राय है कि असत्य-मात्र हिंसा है।

१. पत्रमें भणसालीके उपवासकी जो चर्चा है उससे स्पष्ट हो जाता है कि यह पत्र आगामी शनिवार १३ नवम्बर, १९२६ के बाद लिखा गया था; देखिए "पत्र : तुलसी मेहरको", १३-११-१९२६।

२. वर्धा जानेके लिए; गांधीजी वहाँ ४ दिसम्बरको पहुँचे थे।

हिंसा आवारा आदमीको निकम्मा कहनेमें नहीं, उसके खिलाफ उसीकी तरह निकम्मा बन जानेमें है। मैं 'बम्बई समाचार' नहीं पढ़ता।

मोहनदासके वन्देमातरम्

भाई लालन पण्डित
मार्फत सेठ छोटालाल मलूकचन्द
हठीभाईनी बहारनी वाडी
अहमदाबाद

गुजराती पत्र (एस० एन० १९९६२) की माइक्रोफिल्मसे।

३८. पत्र : देवचन्द पारेखको

[१५ नवम्बर, १९२६][1]

भाईश्री देवचन्दभाई,

भाई फूलचन्दने[2] तुमपर दया की, यह ठीक ही हुआ। लेकिन मैं तो नहीं कर सकता। मैं किससे नकल करवाकर भेजूं? इसलिए अभी तो तुम्हें मेरी ही लिखावट पढ़नी होगी; इसके बिना गति नहीं है।

तुम्हारा पत्र आज ही मिला। इसलिए पोरबन्दर तार दिया है कि मार्चकी तारीखें मुझे अनुकूल पड़ेंगी।

मालवीयजीको परिषद्में[3] खींच लाना सम्भव नहीं दिखता। इसके सिवा वे खद्दर परिषद्में[4] क्या बोलेंगे? मेरी दृष्टि तो अभी जयसुखलाल मेहता अथवा वल्लभभाई पटेलपर जाती है। लोग यदि कामसे आकर्षित होकर आयें तो अच्छी बात है, महज नामके कारण आयेंगे तो वे क्या देंगे?

तथापि ये सब मेरे अपने विचार हैं, इन्हें ऐसा ही समझना। सही निर्णय तो वही होगा जो तुम सब लोग तय करोगे। मैं यहाँसे २ दिसम्बरको रवाना हो जाऊँगा। इसके बाद वापस कब आऊँगा सो तो राम जाने। ठीक परिषद्के समय ही आऊँ तो आश्चर्य नहीं। इसलिए मुझसे जो काम लेना हो वह इसी मासमें ले लेना।

भाई फूलचन्दसे कहना, उनके पत्रपर जब वह यहाँ आयेंगे तब विचार करेंगे।

बापू

१. डाककी मुहरसे।
२. फूलचन्द कस्तूरचन्द शाह।
३. काठियावाड़ राजनीतिक परिषद्के अधिवेशनमें।
४. यह काठियावाड़ राजनीतिक परिषद्के साथ उसी स्थानपर होनेवाली थी; देखिए खण्ड ३१, पृष्ठ ५५६।

[पुनश्च :]

अंग्रेजी पत्र वापस भेज रहा हूँ।

गुजराती पत्र (जी० एन० ५७२१) की फोटो-नकलसे।

३९. तार : माधोजी, मण्डल-मंत्री, नीमखारको[1]

[१५ नवम्बर, १९२६ या उसके पश्चात्]

मुझे दखल नही देना चाहिए।

गांधी

अंग्रेजी तार (सी० डब्ल्यू० ४९६४ बी०)से।
सौजन्य : परशुराम मेहरोत्रा

४०. 'हैंड-स्पिनिंग एण्ड हैंड-वीविंग' की भूमिका

साबरमती
१६ नवम्बर, १९२६

लोगोंको स्मरण होगा कि पिछले सालके शुरूमें राष्ट्रीय कांग्रेसके संयुक्त कोषाध्यक्ष श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवन मेहताने कताईपर लिखे सबसे अच्छे प्रबन्धके लिए १००० रुपयेके पुरस्कारकी घोषणा की थी। श्रीयुत अम्बालाल साराभाई, शंकरलाल बैंकर, मगनलाल गांधी और मुझे निर्णायक नियुक्त किया गया था। इसके अलावा ६८ और प्रबन्ध प्राप्त हुए थे। काफी विचार-विमर्शके बाद निर्णायकोंने प्रोफेसर एस० बी० पुणताम्बेकर, जो इस समय बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालयमें हैं, और श्रीयुत एन० एस० वरदाचारीके बीच पुरस्कार बराबर-बराबर बाँट देनेका निर्णय किया। जो प्रबन्ध अब जनताके सामने प्रस्तुत किया जा रहा है इन दोनों पुरस्कार विजेताओंके सम्मिलित प्रयत्नका परिणाम है, जिनसे अपने निबन्धोंको एक संयुक्त प्रबन्ध बना देनेका अनुरोध किया गया था। यह कह सकना कठिन है कि प्रस्तुत प्रबन्ध मूल दोनों प्रबन्धोंसे कहाँतक अच्छा बन सका है। लेकिन हाथकताईके विस्तृत क्षेत्रमें काम करनेवाले लोगोंको इन पृष्ठोंमें ऐसी बहुतसी सामग्री मिलेगी जिससे वे अपनी स्थिति सुदृढ़ बना सकेंगे। शंकालु लोगोंको भी सोचने विचारनेकी काफी सामग्री इसमें मिलेगी; न मिले तो मुझे बहुत ही आश्चर्य होगा।

१. यह तार १५ नवम्बरके एक तारके जवाबमें भेजा गया था जिसमें लिखा था: कृपया तार द्वारा कहें कि आप बिरलाको ज्यादा पसंद करते हैं या श्रीप्रकाशको। कांग्रेसके कामका हर्ज हो रहा है।

लेखकोंने निम्नलिखित मुद्दोंपर मुख्य रूपसे विचार किया है:

क्या भारतमें करोड़ों लोग ऐसे हैं जिन्हें एक पूरक धंधेकी जरूरत है, और जिनमें से अधिकांश सालमें कमसे-कम चार महीने ऐसे धंधेके अभावमें निठल्ले रहते हैं? क्या हाथकताई ही एकमात्र ऐसा पूरक धंधा है; और यदि है तो क्या लोग आसानीसे इस धंधेको अपना सकते हैं? क्या हाथकते सूतसे बुनकर तैयार किया गया खद्दर विदेशी तथा भारतीय मिलोंके बने कपड़ोंके मुकाबलेमें बेचा जा सकता है?

पाठक देखेंगे कि लेखकोंने इन सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका जवाब हाँमें देनेका प्रयास किया है। क्या ऐसे प्रत्येक व्यक्तिका, जो भारतीय जनताकी हालतको बेहतर देखना चाहता है, यह कर्त्तव्य नहीं हो जाता कि वह इन लेखकोंने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनको गौरसे पढ़े और यदि उनके निष्कर्षोंसे सहमत हो तो खद्दर आन्दोलनका समर्थन करे? इन लेखकों द्वारा निरूपित तथ्योंका खण्डन करनेमें समर्थ हुए बिना इस प्रबन्धको व्यर्थका प्रयत्न कहकर तिरस्कृत नहीं किया जा सकता।

मो० क० गांधी

[अंग्रेजीसे]
हैंड-स्पिनिंग एण्ड हैंड-वीविंग

४१. पत्र: एन० एस० वरदाचारीको

आश्रम
साबरमती
१६ नवम्बर, १९२६

प्रिय वरदाचारी,

यह रही भूमिका[1]। आशा है, यह समय रहते मिल सकी है। यदि आपको इसमें कुछ सुधारका सुझाव देना हो तो संकोच न कीजिएगा। आप खुद अपनी भूमिका लिख सकते हैं और उसे प्राक्कथन कह सकते हैं, या फिर यदि आप चाहें तो अपने लेखको भूमिका और मेरे इस लेखको प्राक्कथन कह सकते हैं। यह तो आप देख ही लेंगे कि प्रबन्धमें कोई त्रुटि नहीं बच रहती।

हृदयसे आपका,

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० ११२४६) से।

१. देखिए पिछला शीर्षक।

४२. पत्र : कनकचन्द्र शर्माको

[१६ नवम्बर, १९२६]

मुझे आपका पत्र और खद्दरका टुकड़ा मिल गया है।[1]

कनकचन्द्र शर्मा
[सचिव एवं अकाउन्टेन्ट
अ० भा० च० सं०
नवगांव
असम]

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० ११२४७) की माइक्रोफिल्मसे।

४३. पत्र : ब्रजकृष्ण चाँदीवालाको

कार्तिक शुक्ल ११, १९८३ [१६ नवम्बर, १९२६][2]

भाई ब्रजकृष्ण,

तुम्हारे खतका उत्तर केवल कालके अभावसे इसके पहले नहीं दे सका हूं। जब आना चाहो अवश्य आना और जाना है तब जाना मैं जो कुछ आश्वासन दे सकूं देना चाहता हुं।

देवदास आया ऐसा हि पंचगनी गया।

बापूके आशीर्वाद

मूल पत्र (जी० एन० २३५१) की फोटो-नकलसे।

१. नवगाँव जिलेमें खद्दर उत्पादन-कार्यकी स्थिति बयान करते हुए और कपासकी बेहतर खेती करनेका सुझाव देते हुए लिखे गये बिना तारीखके एक पत्रपर यह पंक्ति लिखी हुई है।

२. देवदास १९२६ में पंचगनी गये थे। कार्तिक शुक्ल ११, १६ नवम्बरको पड़ी थी।

४४. पत्र : मुन्नालाल गं० शाहको

कार्तिक सुदी ११ [१६ नवम्बर, १९२६][1]

भाई श्री मुन्नालाल,

आपका पत्र मिला। जो ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रहका पालन करनेका प्रयत्न करे, अस्पृश्यताको पाप समझे, शरीर-श्रम करते हुए न थके, पाखाना साफ करना धर्म समझे, स्वादेन्द्रियपर विजय प्राप्त करे, नित्य काते तथा पींजे और शुद्ध खादी पहने, वह आश्रममें रह सकता है।

मोहनदासके वन्देमातरम्

श्री मुन्नालाल गंगादास शाह
बुरहानपुर

गुजराती पत्र (एस० एन० १९९६४) की माइक्रोफिल्मसे।

४५. महाकविकी[2] वाटिकाके पुष्प

स्वर्गीय व्योमेशचन्द्र बनर्जीकी सुपुत्री श्रीमती ब्लेयरने मुझे नीचे लिखा अनुवाद भेजा है। यह अनुवाद उनके लिए महाकविकी भतीजी प्रमथा चौधरीने विशेष रूपसे किया है। श्रीमती ब्लेयर कहती हैं :

> मुझे अपने दैनिक व्यवहारके लिए कुछ ऐसी सहायक कहावतोंकी जरूरत थी जैसी अंग्रेजीमें हर किसीको मिल सकती हैं। ये उद्धरण उन्होंने मेरे लिए बंगलामें लिखे थे और उनका चुनाव महाकविके शान्तिनिकेतनमें समय-समयपर दिये गये भाषणोंमें से किया गया था। ये भाषण जिस समय दिये गये थे उसी समय लिख लिये गये थे, किन्तु मेरा खयाल है कि ये कहीं छपे नहीं हैं। मुझे ये उद्धरण इतने अच्छे लगे हैं कि मैंने उनका अनुवाद अंग्रेजीमें करवा लिया है।

मुझे विश्वास है कि महाकविकी वाटिकाके इन पुष्पोंको 'यंग इंडिया' के पाठक सँजोकर रखना चाहेंगे।[3]

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, १८-११-१९२६

१. डाककी मुहरमें तारीख १८ नवम्बर, १९२६ है। लेकिन कार्तिक सुदी ११, १६ नवम्बरको पड़ी थी।

२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

३. इनका अनुवाद यहाँ नहीं दिया जा रहा है। उद्धरणोंके लिए देखिए हमारा अंग्रेजी खण्ड ३२, शीर्षक "फ्लावर्स फ्रॉम द पोयट्स गार्डन"।

४६. चरखेसे मरणासन्न व्यक्तिको सान्त्वना

एक कथा है कि एक वीर बौद्ध महिला अपने मरणासन्न पतिको इन शब्दोंमें सान्त्वना देती है: आप अपने मनसे समस्त सांसारिक दुश्चिन्ताएँ निकाल दें और शान्तिपूर्वक प्राण-त्याग करें; क्योंकि मैं चरखा चलाना जानती हूँ, इससे मैं अपना और अपने बच्चोंका निर्वाह कर लूँगी। 'यंग इंडिया' में इस कथाके दो रूप दिये गये हैं। पहला सन् १९२१ में छपा था और दूसरा इसी वर्ष। किन्तु इन दोनोंमें अशुद्धियाँ या अपूर्णताएँ थीं। पालीमें मूल कथा देखनेके बाद बौद्ध-धर्म अंगुत्तर निकायके चक्कमपट्ट (सारणीय वग्ग)के १६ वें खण्डके पहले अनुच्छेद और दूसरे अनुच्छेदके एक अंशका अनुवाद नीचे दिया जा रहा है।

गृहपति नकुल-पिता भयंकर रूपसे बीमार और अत्यधिक चिन्तित थे। तब उनकी पत्नी नकुल-माताने उनसे कहा 'आपको अब एक क्षणके लिए भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मस्तिष्कपर चिन्ताओंका भार लेकर मृत्युको प्राप्त होना अत्यन्त ही पीड़ाजनक होता है; और भगवान् बुद्धने इस प्रकारकी मृत्युको निन्द्य बताया है। कदाचित् आपको यह भय है कि आपके मरनेके बाद मैं बच्चोंका पेट नहीं पाल सकूँगी और गृहस्थी नहीं चला पाऊँगी। आपका यह भय निराधार है क्योंकि मैं चरखा चलानेमें और केश-सज्जामें निपुण हूँ। (वाक्यके अन्तिम अंशका अर्थ मेरी समझमें स्पष्टतः नहीं आया है। मेरी इच्छा है कि पालीके कोई विद्वान इसपर और प्रकाश डालें।——वा० गो० दे०) इसलिए मुझे आपके बाद अपना और बच्चोंका भरण-पोषण करनमें कोई कठिनाई न होगी। अतः आप कृपया अपने मस्तिष्कसे समस्त क्षोभजनक विचार निकाल दें।

इसके अतिरिक्त कदाचित् आपको ऐसी आशंका है कि आपकी मृत्युके बाद मैं सम्भवतः दूसरा विवाह कर लूँगी, किन्तु आपको इस तरहका भय अपने मनसे निकाल देना चाहिए। आप देखते ही हैं कि हम पिछले सोलह सालसे विवाहित होनेपर भी संयमपूर्वक जीवन बिता रहे हैं और गृहस्थी चला रहे हैं। आप कृपा करके अपने मनको पूर्णतया शान्त रखें।'

इस टिप्पणीमें से मैंने मूल पाठ निकाल दिया है क्योंकि मैं नही समझता 'यंग इंडिया' के पाठकोंके लिए मूल संस्कृत या पाली-पाठकी कोई जरूरत है। किन्तु वा० गो दे० ने मूल पाठके नीचे जो टिप्पणी दी है उसे मैं नही छोड़ सकता।

अफसोस कि पालीके सारे मूल ग्रन्थ लैटिन लिपिमें प्रकाशित किये गये हैं। और 'जातक' के सम्पादक, डेनमार्क-वासी कोपेनहेगनके फॉसबालने तो बड़े दम्भसे लिखा है:

"मैं अबतक प्राच्य ग्रन्थोंको लैटिन लिपिमें लिखता रहा हूँ और आगे भी मैं पालीके जिन ग्रन्थोंका प्रकाशन करूँगा उनमें यही क्रम जारी रखूँगा, क्योंकि मेरा विश्वास है कि जिन भाषाओंका अपना कोई साहित्य नहीं है या जिनका साहित्य तो है, किन्तु वह अबतक अप्रकाशित है, ऐसी सभी भाषाएँ सुन्दर लैटिन लिपिमें ही लिखी जानी चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि एक दिन जब अमेरिका और यूरोपकी सभ्यता दूसरी समस्त सभ्यताओंको इस प्रकार आच्छादित कर लेगी, जैसे लावेने हरक्यूलिनियन और पाम्पेईको कर लिया था, तब संसार-भरमें यही एक लिपि सर्वोपरि हो जायेगी।" पता नहीं 'पाली टेक्स्ट सोसाइटी' के बौद्ध-संरक्षकोंको भविष्यका यह कल्पना-चित्र कहाँतक पसन्द आयेगा।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १८-११-१९२६

४७. राजाओं और रानियोंकी कलाएँ

चरखा देशकी जो सेवा कर रहा है, उसका व्यक्तिगत अनुभव रखनेवाले एक सज्जनने रस्किनकी 'सीसेम ऐंड लिलीज' पुस्तिकामें से यह एक उद्धरण मेरे पास भेजा है:

कलाओंके राजा कृषिके बाद अब लीजिए आदमीकी दूसरी शीर्षस्थ कला, बुनाईको। यह रानियोंकी कला है। प्राचीन कालमें गैर-ईसाई जातियोंकी सभी कुलीन महिलाओंने अपनी चिर कुमारी देवी (एथेना)की उपासनाके रूपमें इस कलाको प्रतिष्ठित किया; और समस्त यहूदी महिलाओंने उसे अपने प्रधान पुरोहितके शब्दोंके अनुरूप ऊँचा उठाया है। उनके प्रधान पुरोहित द्वारा इस देवीका चित्र इन शब्दोंमें प्रस्तुत किया गया है: 'उसके हाथ चरखेके हत्थेपर रखे हुए हैं; उसके हाथ ऊनकी लपेटनी थामे हैं; उसके हाथ दीन-हीनोंकी ओर दानकी मुद्रामें खुले हैं। उसे अपने परिवारके लोगोंको हिम-शीतसे बचानेकी चिन्ता नहीं सताती, क्योंकि परिवारके सभी लोग उत्तमोत्तम वस्त्रोंसे सज्जित हैं। गृह-सज्जाके लिए आवश्यक शोभा-वस्त्र वह स्वयं तैयार करती है; उसके वस्त्र रेशमी-रंगीन होते हैं; वह अत्युत्तम क्षौम-वस्त्र बनाती और बेचती है। व्यापारीके पास जो कटि-पट्ट हैं, वे उसीके दिये हुए हैं।' यूनानी कुमारियों और ईसाई महिलाओंकी इस वैभवपूर्ण कलाका इतने हजार वर्षोंमें हमने कौन-सा उत्कर्ष किया है? क्या हम छः हजार वर्षोंतक बुनाई होते रहनेके बाद भी बुनना सीख पाये हैं? क्या हमारे घरोंकी सभी अनावृत दीवारें शोभा-वस्त्रोंके राजसी

आवरणसे शोभित नहीं की जा सकती थीं, क्या सभी नारियोंकी कंचुकियाँ मोहक सुनहरे रंगोंसे रंजित नहीं हो सकती थीं? हमने किया क्या है? लगता है कि हमारे पास इतनी अँगुलियाँ ही नहीं हैं कि हम अपना तन ढँकने लायक मोटा-झोटा कपड़ा भी पर्याप्त मात्रामें बुन लेते। नदियोंके प्रवाहका उपयोग करके और धुँआ उगलती चिमनियाँ खड़ी करके हमने चरखोंको शक्ति-चालित बना दिया है, पर क्या हम अपने लिये पर्याप्त वस्त्र सुलभ कर पाये हैं? क्या यूरोपकी राजधानियोंकी सड़कोंपर फटे-पुराने और जीर्णशीर्ण वस्त्रोंकी बिक्रीके अशोभनीय दृश्य दिखलाई नहीं पड़ते? क्या आपके प्यारे-प्यारे नन्हें-मुन्नोंका सौन्दर्य वस्त्रहीनतासे कलंकित नहीं दिखाई पड़ता — जब कि प्रकृति चिड़ियोंके कोटरोंमें उनके सुकुमार शावकों और भेड़ियोंकी गुफाओंमें उनके स्तनपायी-नवजातोंको कहीं अधिक शोभा और शालीनताके साथ मोहक आवरणोंसे सुसज्जित कर देती है। और क्या शीत ऋतुका हिम हर बार ऐसी प्रत्येक वस्तुको आवृत नहीं कर देता जिसे आप अनावृत छोड़ देते हैं और हर ऐसे प्राणीको कफन नहीं ओढ़ा देता जिसे आप कफनतक नहीं दे पाते; और क्या शीत ऋतुकी बर्फानी हवा हर बार कुछ निरीह प्राणियोंको परमधाम नहीं पहुँचा देती, जो ईश्वरके समक्ष आपके विरुद्ध साक्षी देंगे और ईसा मसीहकी इस गुहारको गुंजा देंगे कि 'मैं नंगा था और तुमने मुझे वस्त्र नहीं पहिनाये?'

पत्र-लेखकने इसपर टीका की है:

दोषारोपण सचमुच बड़ा ही तिक्त है, पर उन्होंने कितने आग्रहके साथ चरखेको अपनानेकी बात कही है। यदि वे (रस्किन) यूरोप जैसे समृद्ध देशके लिए इसे इतना ठीक बतलाते हैं, तो भारत जैसे देशके लिए तो, जो निर्विवाद रूपसे कहीं अधिक निर्धन है, यह सचमुच ही ठीक है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १८-११-१९२६

४८. दक्षिण आफ्रिकाकी परिस्थिति

डर्बन पहुँचनेपर श्री एन्ड्रयूजने एक पत्र भेजा है। उसके कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं :

मुझे यहाँ फिरसे आ सकनेकी खुशी है। रास्तेमें मुझे तकलीफ हुई लेकिन अच्छा हुआ कि मैं चला ही आया और अधिक रुका नहीं। प्रतिनिधि मण्डलके दक्षिण आफ्रिका पहुँचनेसे पहले यहाँ कितनी ही बहुत-सी बातें तय करना और कितनी ही चीजोंको साफ और सरल रूप दे लेना है। मेरा सारा समय इसीमें खप जायेगा।

आज मेरा, जैसा हार्दिकसे-हार्दिक स्वागत हो सकता था, वैसा स्वागत हुआ। 'स्वागत-समारोह' के अवसरपर शामको रावतका बाइस्कोप भवन खचाखच भरा हुआ था। मैं सोराबजीके साथ १९ फर्स्ट एवेन्यूमें ठहरा हूँ। ११० फील्ड स्ट्रीटवाला पुराना मकान गिरा दिया गया है और जमीन यूरोपीयोंको बेच दी गयी है!

तमाम दिन अत्यधिक व्यस्ततामें गुजरे और आशाके विपरीत उससे बचना सम्भव ही नहीं हुआ। हिन्दुस्तानी मुहल्लोंमें चेचकका जबर्दस्त प्रकोप हुआ था। और जिसको भी चेचक निकली वे सबके-सब हिन्दुस्तानी ही थे। मौतें भी बहुत अधिक हुईं। हर चार रोगियोंमें एक मर गया। चेचक बड़ी ही सांघातिक किस्मकी थी। अखबारोंमें बड़े दुर्भावनापूर्ण पत्र छपा करते थे और उनमें गन्दी आदतोंके लिए हिन्दुस्तानियोंको भला-बुरा कहा जाता था। हम भी सिर्फ वही कर सकते थे जो जोहानिसबर्गमें आपने किया था। मैंने पहले आप टीका ले लिया (टीका लिये बिना मैं कुछ कर ही नहीं सकता था) और फिर स्वास्थ्याधिकारीकी अनुमति लेकर अलग रखे हुए हिन्दुस्तानी रोगियोंके पास रोज जाकर जहाँतक हो सका, उन्हें धीरज देनेकी कोशिश करता था। इसके बाद हम लोगोंने मिलकर एक हिन्दुस्तानी स्वास्थ्य सभा कायम की और डाक्टरके निर्देशके मुताबिक काम करनेका निश्चय किया। डाक्टरने काम शुरू करा भी दिया है। ज्यों ही यह बात प्रकट हुई, अखबारोंका स्वर ही बदल गया और जहाँ पहले हमें भला-बुरा कहा जाता था, अब वहाँ हमारी तारीफ होती है। खैर कुल मिलाकर इस सबका परिणाम अच्छा ही होगा।

यहाँकी स्थिति समझने और उसे काबूमें लानेके लिए अबतक मुझे काफी समय मिल चुका है, बेशक, अगर हम अगले कुछ हफ्तोंमें शीर्षस्थ लोगोंके मत अपने पक्षमें कर सके तो कई अच्छे-अच्छे अखबार भी हमारे पक्षमें हो जायगे

और फिर पहले ही से अपने अनुकूल वायुमण्डल तैयार करके हम सम्मेलनको भी अच्छी सहायता पहुँचा सकेंगे। यहाँ, लोगोंको सम्मेलनके समय एक बड़ा प्रदर्शन करनेसे रोकना कठिन हो रहा है, क्योंकि इनकी समझमें उसका सम्मेलनमें भाग लेनेवालोंपर असर पड़ेगा। मैं उन्हें समझा रहा हूँ कि किसी अच्छे ठोस कामका, जैसे, सफाई करके गन्दे मुहल्लोंकी कुछ गन्दगी कम कर सकनेका, उनपर, भाषणों और प्रदर्शनोंसे कहीं अधिक असर पड़ेगा।

फिर भी मैं यह तो कदापि नहीं चाहता कि वे इसके ठीक उल्टे अर्थात् उदासीन, निष्क्रिय और आलसी बन जायें। जरूरत है इस जोश और शक्तिको समुचित रास्तेपर ले जानेकी। मैंने, हमसे सहानुभूति रखनेवाले अच्छेसे-अच्छे यूरोपीयोंसे बातें की हैं। वे सभी कहते हैं कि पिछले साल हमने जो हड़ताल और प्रार्थना दिवस मनाया था, उसका सही अर्थमें असाधारण असर पड़ा था और किसीने उन्हें अनुचित तो माना ही नहीं था। उससे उन्हें यह मालूम हुआ था कि हिन्दुस्तानी लोग अपने तरीकेसे और अच्छे ढंगसे सही काम कर रहे थे।

फील्ड स्ट्रीटके मकानके जिक्रसे मुझे बहुत ही पुरानी बातोंकी याद हो आती है। यह हिन्दुस्तानियोंकी सबसे पुरानी मिल्कियतोंमें से थी। दक्षिण आफ्रिकामें सबसे पहले बसनेवाले हिन्दुस्तानी व्यापारियोंमें से एक, हाजी अबूबकर अहमदने बहुत लम्बे पट्टेपर सम्पत्ति ली थी। यह स्व० पारसी रुस्तमजीको किरायेपर दे दी गई थी और उनके मरनेके समयतक उन्हींके कब्जेमें रही। इसे एक आदमीकी खास जायदाद कहनेके बदले सार्वजनिक स्थान कहना ही अच्छा होगा। हिन्दुस्तानियोंकी अधिकांश अनौपचारिक सभाएँ यहीं होती थीं। सारे महत्त्वपूर्ण निश्चय यहींपर किये गये थे। गोखले अपने दिनका समय अधिकतर यहींपर बिताया करते थे। एन्ड्रयूजने यहींपर काम किया। यह अमीर और गरीब दोनोंका ही आश्रय-स्थल था। यह एक सच्ची धर्मशाला बन गया था। पट्टेका समय बीतनेपर, डर्बन टाउन कौंसिलने नया पट्टा लिखनेसे इनकार कर दिया और सम्पत्तिके नीलामका विज्ञापन दे दिया। उस नीलाम-में हिन्दुस्तानियोंको बोली लगानेका अधिकार नहीं दिया गया। डर्बन कौंसिलको यह मालूम था कि हिन्दुस्तानियोंके लिए वह जगह पाक थी; मगर इससे क्या होता है? वह यूरोपीयोंके हाथमें चली गई। इसीलिए एन्ड्रयूजने इसका जिक्र किया है और विस्मयका चिह्न लगाया है।

उनका इस समय वहाँ रहना, सचमुच ही ईश्वरकी कृपा है। दुर्भाग्यपूर्ण-चेचकके इस प्रकोपसे सहज ही यूरोपीयों और हिन्दुस्तानियों, सबमें घबराहट फैल जाती। गोरे तो शायद बड़े ही सख्त उपाय काममें लाते और हिन्दुस्तानी भयसे किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते। श्री एन्ड्रयूजने फौरन जो कारंवाई की उससे बहुत बड़ा संकट सिद्ध हो सकने योग्य एक परिस्थिति टल गई।

उस धार्मिक पुरुषकी उपस्थितिसे सम्भवतः पलड़ा हिन्दुस्तानियोंके पक्षमें झुकेगा। यद्यपि सम्मेलनसे किसी भी बड़ी बातकी उम्मीद नहीं की जा सकती है किन्तु तो भी

इस पेचीदा समस्याके शान्ति और न्याययुक्त हलके लिए वे उपयुक्त वायुमण्डल तैयार कर रहे हैं।

सर मुहम्मद हबीबुल्लाके प्रतिनिधिमण्डलके कन्धेपर जवाबदारीका बहुत बड़ा बोझा है। उनके पक्षमें सारा लोकमत है। हम यथासम्भव अच्छेसे-अच्छे परिणामकी आशा करते हैं।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १८-११-१९२६

४९. नगरपालिकाओंके अन्तर्गत कताई

नगरपालिकाओं और स्थानीय बोर्डों तथा जिला बोर्डोंके अन्तर्गत चलाये जानेवाले स्कूलोंमें जो कताई की जाती है उसके सम्बन्धमें मुझे जानकारी संयोगसे ही मिल जाती है। यदि नगरपालिकाओं और स्थानीय तथा जिला बोर्डोंके अध्यक्ष और मन्त्री, जो 'यंग इंडिया' देखा करते हैं, कृपा करके मुझे उन स्कूलोंमें कताईके आरम्भकी और उसकी प्रगतिकी जानकारी भेजेंगे कि इन स्कूलोंमें कितना सूत काता जाता है और सूत कातनेवाले लड़के और लड़कियोंकी संख्या कितनी है तो इसके सही-सही आँकड़े दिये जा सकेंगे।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १८-११-१९२६

५०. शान्तिवादी हड़तालकी शर्तें

एक मित्रने मुझे ब्रिटेनके शान्तिवादियोंके मुखपत्र 'नो मोर वार' (और युद्ध नहीं) से एक उद्धरण भेजा है। मैं इस उद्धरणमें से श्री ए० फेनर ब्रॉकवेने शान्तिवादी हड़तालकी कसौटीके रूपमें जो शर्तें दी हैं उनको नीचे ले रहा हूँ:

> १. जिन सामाजिक बुराइयोंकी लपेटमें आकर मनुष्योंके प्राण जाते हैं उनके विरोधमें की गई हड़ताल शान्तिवादके उतनी ही अनुकूल हो सकती है, जितनी युद्धके विरुद्ध की गई हड़ताल। (आदमीको अधपेट रखनेवाली मजदूरीसे उतने ही मनुष्य मरते हैं, जितने तोपोंसे।)
>
> २. यदि यह कहा जाये कि उन बुराइयोंका अन्त करनेके लिए 'वैधानिक' साधनोंका प्रयोग किया जा सकता है तो युद्धके सम्बन्धमें भी यही कहा जा सकता है। हमारा "वैधानिक" तन्त्र अपूर्ण है। दो वर्ष पूर्व मतदाताओंको न तो यह मालूम था कि मजदूरीकी दरें घटाई जायेंगी और न उन्हें इस बातका अनुमान था कि युद्ध छिड़ जायेगा।

३. यदि यह कहा जाये कि मजदूरोंकी दरोंमें कमीके विरुद्ध हड़ताल (मुख्यतः आम हड़ताल) राष्ट्रपर या सरकारपर 'बेजा दबाव डालनेका' प्रयत्न है तो यही बात युद्धके विरुद्ध की गई आम हड़तालके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। असलमें जबतक राष्ट्रका अधिकांश भाग इनका समर्थन न करे तबतक इनमें से किसीके भी सफल होनेकी कोई आशा नहीं है।

४. हड़तालकी तुलना आर्थिक नाकेबन्दीसे करना ठीक नहीं है। जहाँतक भूखके खतरेका सम्बन्ध है वहाँतक सबसे पहले हड़तालसे हड़तालियोंको ही कष्ट होगा। तथ्य तो यह है कि ट्रेड यूनियन कांग्रेसकी अभी हालकी हड़तालमें कांग्रेस लोगोंकी प्राणरक्षा और स्वास्थ्य-रक्षामें सहयोग देनेके लिए तैयार थी, किन्तु सरकारने उसका सहयोग लेनेसे इनकार कर दिया था।

५. कोई हड़ताल शान्तिवादी है या नहीं, इसका निर्णय मूलतः उस भावनासे होता है जिससे प्रेरित होकर हड़ताल की गई हो। युद्धके विरुद्ध की गई ऐसी हड़ताल शान्तिवादी नहीं होगी जिसका हेतु युद्धके विरुद्ध घृणा न होकर सरकारके सदस्योंके प्रति घृणा अधिक हो, और जिसके पीछे ऐसी भावना हो जिसका परिणाम गृह-युद्ध हो सकता है। इसी तरह मजदूरीकी दरोंमें कमीके विरोधमें की गई वह हड़ताल भी शान्तिवादी नहीं होगी जो मालिकों अथवा सरकारके सदस्योंके प्रति घृणा, अथवा समाज विरोधी भावनासे प्रेरित होकर की गई हो। किन्तु यदि उक्त दोनों प्रकारकी हड़तालें, इनमें भी निहित दोषोंके विरोधमें की गई हों तब वे शान्तिवादी हड़तालें होंगी।

६. यद्यपि यह बात मान ली गई है कि अभी हालकी बड़ी हड़तालमें हड़तालियोंने यदा-कदा अपनी वाणीसे और एकाध बार व्यवहारमें भी अशान्ति-वादी भावना व्यक्त की थी, किन्तु मुझे यह कहनेमें तनिक भी झिझक नहीं है कि उसमें हड़तालियोंका प्रमुख हेतु आत्मत्यागपूर्वक नैतिक-विरोध व्यक्त करना ही था, समाजविरोधी शक्ति या व्यक्तिगत घृणा व्यक्त करना नहीं। इस तथ्यके कारण ही उसे आत्मिक बल मिला; उन लोगोंने जो आश्चर्यजनक अनुशासन दिखाया उसका रहस्य यही है।

७. जो शान्तिवाद यदा-कदा होनेवाली युद्धकी निर्दयताओंको तो देखता है, किन्तु हमारी समाज-व्यवस्थाके अधीन निरन्तर होनेवाले निर्दय कृत्योंको नहीं देखता, ऐसा शान्तिवाद निकम्मा है। जबतक हमारा शान्तिवाद उस व्यापक मानवीय आन्दोलनमें व्यक्त नहीं होता जिसका हेतु केवल युद्धका अन्त करना ही नहीं, बल्कि हमारी उसी प्रकारकी अशान्तिवादी समूची सभ्यताका अन्त करना भी है, तबतक वह मानवजातिकी आत्मिक प्रगतिमें बिलकुल सहायक न होगा; और तबतक जीवनके प्रति मानवका दृष्टिकोण यही रहेगा और उसपर इसका कोई प्रभाव न पड़ेगा।

'और युद्ध नहीं' आन्दोलनका उद्देश्य उसी हदतक पूरा होगा जिस हदतक उसमें इन बातोंका ध्यान रखा जायेगा।

मैं इन स्तुत्य शर्तोंमें केवल एक कसौटीकी बात और जोड़ देना चाहता हूँ। शान्तिवादी हड़ताल केवल उन्हीं लोगों द्वारा की जाये जो उस दोषके शिकार हों जिसे दूर कराना अभीष्ट है। इस प्रकार मान लें कि टिम्वकटूके दियासलाई बनानेवाले मजदूर, जो अपनी अवस्थासे बिलकुल सन्तुष्ट हैं, वहाँके मिलोंके मजदूरोंसे, जिन्हें अधपेट रखनेवाली मजदूरी मिल रही है, सहानुभूति बतानेके लिए हड़ताल कर दें तो दियासलाई बनानेवाले मजदूरोंकी यह हड़ताल एक प्रकारकी हिंसा होगी। किन्तु यदि वे टिम्वकटूके मिल मालिकोंके साथ अपने मालका व्यापार बन्द कर दें तो इससे वहांके मजदूरोंको बहुत ही पुरअसर ढंगसे सहायता पहुँचेगी और उनपर हिंसाका आरोप भी नहीं लगाया जा सकेगा। किन्तु ऐसे अवसरोंकी भी कल्पना की जा सकती है जब ऐसे मजदूरोंके लिए भी काम बन्द करना कर्त्तव्य हो जाये, जिनको कोई प्रत्यक्ष कष्ट नहीं है। ऐसे ऊपर दिये गये काल्पनिक उदाहरणमें टिम्वकटूके दियासलाईके कारखानेके मालिक मिल-मालिकोंसे मिल जायें तो मिल-मजदूरोंके साथ हड़तालमें सम्मिलित होना दियासलाईके कारखानेके मजदूरोंका स्पष्ट कर्त्तव्य हो जायेगा। किन्तु मैंने यह अतिरिक्त सुझाव केवल बातको स्पष्ट करनेके लिए दिया है। अन्ततः तो हर मामलेमें स्थिति देखकर ही उसके अनुसार विचार करना पड़ता है। हिंसाकी शक्ति सूक्ष्म होती है। हम उसे अनुभव कर रहे हों तब भी, हिंसा हो रही है या नहीं, इसे निश्चित रूपसे जान लेना सदा सरल नहीं होता।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १८-११-१९२६

५१. टिप्पणियाँ

रामचन्द्र-कोस

'रामचन्द्र पशु-चालित कोस'[1] के बारेमें मेरे और श्री रामचन्द्रनके नाम बहुत से पत्र आये हैं। कुछ लोगोंने तुरन्त उसे भेज देनेको कहा है, और कुछने उसके बारेमें कई वाजिब सवाल पूछे हैं। श्री रामचन्द्रन सारे पत्र मेरे पास छोड़ गये हैं। कोसकी बनावटको पेटेंट कराया जा चुका है। आविष्कारकके पास अभी कोस तैयार नहीं हैं, तैयार करवाने हैं। कोसके लिए जो माँगें आ चुकी हैं, उन्हें शीघ्र ही पूरा करनेका कोई साधन श्री रामचन्द्रनके पास नहीं है। मैं उसके शीघ्र उत्पादनके लिए सुविधाएँ प्राप्त करनेकी कोशिश कर रहा हूँ। श्री रामचन्द्रन अपने निजी कामोंको निवटानेके लिए मद्रास गये हैं ताकि लौटकर कोस बनाने और उनको ठीक-ठीक लगवानेके कामकी देखभालको अपना पूरा वक्त दे सकें। इसलिए मैं पत्र-लेखकोंसे अनुरोध करूँगा कि वे

१. यह कोस चरस या मोटका सुधरा हुआ रूप था। देखिए खण्ड ३१, पृष्ठ ५६१-६३।

धीरजसे काम लें, और जबतक कोसकी माँग पूरी करनेके लिए सारा आवश्यक प्रबन्ध पूरा नहीं हो जाता, इन्तजार करें। कोशिश की जा रही है कि कोसका उत्पादन राष्ट्रीय भावनासे हो। इसलिए कमसे-कम लागतपर इनका उत्पादन करानेके लिए अलग-अलग लोगोंसे उनकी दरें माँगी जा रही हैं।

पत्र-लेखक मुझे पत्रोंका अलग-अलग जवाब न देनेके लिए क्षमा करेंगे। जो प्रश्न किये गये हैं, उनमें से कुछका जवाब मैं नीचे देता हूँ:

१. जो कोशिशें की जा रही हैं, वे पूरी हो गई तो कोसके बारेमें जानकारी देते हुए उसकी आकृति स्पष्ट करनेवाला चित्र छापा जायेगा।

२. कोसके पुर्जे बिलकुल भी जटिल नहीं हैं; बल्कि एकदम सीधे सादे हैं। निस्सन्देह उसकी बनावट गाँवोंकी आवश्यकताओंके अनुरूप ही है।

३. लोहेकी थोड़ी रेल (लोहेकी पटरी), गरारियाँ और बँटा हुआ तार शहरोंसे मँगाना पड़ेगा।

४. कोस कई सालतक काम दे सकेगा। डोल और रस्सी शायद कुछ जल्दी-जल्दी बदलना पड़े।

५. कोसमें मरम्मतकी जरूरत पड़नेपर जहाँतक मैं समझता हूँ, गाँवोंके मामूली लोहार उसे ठीक कर लेंगे।

६. कोसको किसी होशियार मिस्त्रीके द्वारा लगवाना चाहिए। वजन, ढाल आदिका खयाल रखना पड़ेगा। लोहेकी पटरी मजबूतीसे जमाई जानी चाहिए। गरारीको बिलकुल ठीक जगह लगाया जाना चाहिए। लेकिन मैं समझता हूँ कि एक मामूली होशियार आदमीको यह आसानीसे और जल्दी ही सिखाया जा सकता है। मिस्त्रीको सफर-खर्च आदि देना होगा। तफसीलकी इन सारी बातोंपर विचार किया जा रहा है।

७. कमसे-कम खर्च पड़नेकी दृष्टिसे काममें लाया जानेवाला भैंसा भारी होना चाहिए। भैंसा जितना ही भारी होगा, उतनी ही आसानीसे पानी खिच सकेगा।

८. खाली होनेपर ट्राली डोलके वजनसे अपने-आप वापस चली जायेगी।

९. मोटे तौरपर डोलका वजन ४० पौंड और ट्रालीका वजन १०० पौंड है। (ट्राली बिछाई गई पटरीपर लुढ़कती है और भैंसा उसीमें जोता जाता है।)

१०. कोसका इस्तेमाल गहरेसे गहरे कुएँमें हो सकता है। यहाँतक कि १२५ फुट गहरे कुएँमें भी अर्थात् जहाँ-जहाँ मामूली मोट काम देता है, वहाँ यह भी काम देगा।

खादीकी बिक्री

यथेष्ट प्रकार होनेतक खादीकी बिक्रीकी समस्या, यदि अधिक नहीं तो खादीके उत्पादनके बराबर महत्त्वकी तो है ही। अभीतक बिक्रीकी रफ्तार, उत्पादनकी रफ्तारसे कम रही है। बिक्रीके लिहाजसे सबसे सुसंगठित प्रान्त बेशक बंगाल ही है। डा० राय और उनके सहायक सतीशचन्द्र दासगुप्त द्वारा स्थापित संस्था खादी प्रतिष्ठानने जो मिसाल कायम की, बंगालके अन्य संगठनोंने बराबर वही स्तर कायम रखा है। स्थानीय आवश्यकताओंके अनुसार खादीका उत्पादन करनेमें भी बंगालने

काफी सफलता पाई है। यह सही अर्थशास्त्र है। इस तरह कार्यकर्त्तागण एक ओर खादी खरीदनेवाले मध्यवर्गीय लोगोंसे, और दूसरी ओर खादी तैयार करनेवाले निर्धन वर्गोंसे सम्बन्ध बनानेमें सफल हो सके हैं। फलस्वरूप खरीदारके ध्यानसे कपड़ेके प्रकार, विविधता और कीमतमें सुधार हुआ है। खादीके बढ़ते हुए सस्तेपनकी एक विलक्षण बात यह है कि खादीके मूल्यमें तो कमी हुई है, लेकिन धुनियाँ, कातनेवाले, और बुनकरोंकी मजदूरीमें कोई कमी नहीं हुई है। कीमतोंमें यह कमी उद्योग सम्बन्धी ज्ञान बढ़ने और प्रबन्ध-कुशलताके कारण हुई है।

सुसंगठित बिक्रीका सबसे ताजा विवरण सिलहटसे मिला है। श्रीयुत धीरेन्द्रनाथ दासगुप्त सिलहटके निकट कुलौरामें एक छोटा-सा खादी केन्द्र चलाते रहे हैं। उन्होंने लिखा है कि केवल पूजाकी छुट्टियोंके दौरान उन्होंने २६०० रुपयोंसे भी अधिककी खादी बेची।

हालाँकि इसमें सन्देह नहीं कि बंगालकी ही तरह अन्य प्रान्तोंमें भी काफी प्रगति हुई है, लेकिन वहाँ बिक्री-कार्यका संगठन इतने अच्छे ढँगसे नहीं हुआ है। बिहार, बंगालके बहुत करीब पहुँचनेकी कोशिश कर रहा है। लेकिन सभी प्रान्तोंमें कार्यकर्त्ताओंको बिक्री बढ़ानेके तरीके ढूंढ़ने चाहिए। श्री भरूचा और अन्य प्रमुख लोगोंके अनुभवोंको एकत्र करना चाहिए और हर प्रान्तकी आवश्यकताओंको देखते हुए वहाँके उपयुक्त योजनाएँ तैयार करके उन्हें कार्यान्वित किया जाना चाहिए। फेरी लगाकर बेचना और प्रदर्शनियाँ आयोजित करना, ये दो उपाय तो स्थायी रूप ग्रहण कर चुके हैं। किन्तु यदि छोटीसे-छोटी तफसील भी तय न कर ली जाये तो योजनाएँ अव्यावहारिक हो जायेंगी और सारी पूंजीके निरीक्षण और प्रबन्धमें लग जानेका खतरा पैदा हो जायेगा। इस लिहाजसे हिन्दुस्तानके विभिन्न भागोंमें कुछ भंडार ऐसे हैं जिन्हें बन्द कर देना चाहिए। जिस खादी भंडारका सालाना खर्च ५०० रु० हो और सालमें खादीकी बिक्री भी इतनी ही हो, वह बन्दकर देने लायक है। या तो वहाँ हद दर्जेकी बदइन्तजामी है और या फिर वहाँके कार्यकर्त्ताओंको खादीके कामके बारेमें ही कुछ भी जानकारी नहीं है।

सच्ची भावना

एक पत्र-लेखकने लिखा है:[१]

मेरी समझमें तो जहाँतक भावनाका सवाल है उक्त पत्र-लेखक दोनों ही संस्थाओंका सदस्य है। नियमकी दृष्टिसे यदि वह अपना काता हुआ सूत अखिल भारतीय चरखा संघके अपने जिलेके प्रतिनिधिके सामने प्रस्तुत कर दे और अपने उस सूतका दाम भेज दे तो वह सदस्य बन जायेगा। किन्तु कुछ लोगोंके लिए इतनी रकम भेजना भी सम्भव नहीं होता। उस हालतमें वे अपनी भावनामें उसके सदस्य

१. पत्र यहाँ नहीं दिया गया है। इसमें पत्र-लेखकने लिखा था कि अपनी आर्थिक कठिनाइयोंके कारण स्वयं सूत कातनेवाला और बुनकर होनेके बावजूद वह अखिल भारतीय चरखा संघ और अखिल भारतीय गो-रक्षा संघका सदस्यता-शुल्क नहीं दे पाता।

बने रह सकते हैं और अपना नाम स्वयंसेवकोंमें लिखा सकते हैं। वे अपने कार्यकी रिपोर्ट समय-समयपर भेजते रहें और कहे जानेपर जो सेवा कर सकें, उसके लिए तैयार रहें।

मद्य-निषेध सम्बन्धी सुधार

पिछले कुछ दिनोंसे त्रावणकोरके कुछ ईसाई सज्जन शराब पीनेके आदी लोगोंमें काम करके शराबखोरीकी उनकी आदतको लगनके साथ छुड़ानेका प्रयत्न कर रहे हैं; याने वे उनसे मिलते हैं और समझाते हैं। शराबखानोंमें जानेवाले लोगोंको चेतानेके उद्देश्यसे वे धरनेका आयोजन भी करना चाह रहे हैं। जान पड़ता है, इस सीधी-सादी कार्य-प्रणालीसे त्रावणकोरके अधिकारी डर गये हैं। कोट्टायमके जिला मजिस्ट्रेटने डाक्टर जेड० एन० परेटके बोलनेपर पाबन्दी लगा दी है। डाक्टर परेट त्रावणकोरके जानेमाने ईसाई हैं और जहाँतक मैं जानता हूँ, उनकी अहिंसाकी भावनापर अभीतक किसीने कोई सन्देह नहीं किया है। नोटिस इस तरह है:

> कोट्टायम जिलेके पुलिस सुपरिटेंडेंट को दी हुई रिपोर्टोंसे मुझे मालूम हुआ है कि आप भाषणों द्वारा लोगोंको शराबकी दुकानोंके सामने धरना देने और अन्य गैरकानूनी कार्य करनेके लिए भड़का रहे हैं। चूंकि आपके भाषणोंसे शान्तिभंग होने और सरकारकी सत्ताके प्रति घृणा फैलनेकी सम्भावना है इसलिए मैं इस नोटिसके द्वारा आपको सख्त ताकीद करता हूँ और १९०५ के कानून ४ के खण्ड २६ के अन्तर्गत ताकीद करता हूँ कि आप आजसे कोट्टायम जिलेके किसी भी भागमें कोई भाषण, जोशीली तकरीर या उपदेश न दें।

नोटिसमें यह मान लिया गया है कि ऐसा हर भाषण, जिसमें धरना देनेकी सलाह दी जाये लोगोंको भड़काना है। लेकिन इससे भी आरोप अस्पष्ट ही बना रहता है। अन्य गैरकानूनी कार्रवाइयाँ कौन-कौनसी हैं यह इस हुक्ममें साफ नहीं किया गया है। इस तरह यदि मजिस्ट्रेटका यह हुक्म कानूनका ठीक मतलब समझकर निकाला गया है तब इसका तो अर्थ यह होता है कि त्रावणकोरमें कानूनका मंशा शराबखोरीके दुर्गुणको बढ़ावा देनेका है। राज्य शराब पीनेकी सुविधाएँ देता है, इतना ही नहीं, बल्कि वह सुधारकोंको शराबखोरोंके पास सीधे जाने और उनसे शराब पीनेकी आदत छुड़ाने योग्य एकमात्र प्रभावकारी और शान्तिपूर्ण तरीकेका आश्रय लेनेसे भी रोकता है। मुझे आशा है कि त्रावणकोरका कानून सदोष नहीं है और जिला मजिस्ट्रेटने उसकी व्याख्या करनेमें भूल की है। उनकी इस व्याख्याकी जाँच ऊँची अदालतसे कराई जानी चाहिए। कुछ भी हो, सुधारकोंका कर्त्तव्य तो स्पष्ट है। यदि कानूनमें दोष है तो उन्हें उस कानूनको रद करानेका प्रयत्न करना चाहिए। कानूनको ठीक करानेके उनके प्रयत्न असफल हो जानेपर उन्हें चाहिए कि वे अपना शान्तिपूर्ण धरनेका काम जारी रखें और इसमें जेल जानेका जोखिम हो तो उसको भी उठायें। उन्हें यह सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि जो लोग उत्तेजित होनेका कारण आनेपर अपने ऊपर संयम न रख सकें, ऐसे लोगोंको स्वयंसेवक

न बनाया जाये। यह बात ध्यान देने योग्य है कि भाषणपर लगाई गई इस पाबन्दीकी कोई अवधि नहीं कही गई है।

क्या यह सन्देहातिरेक है?

> मुझे शुरूसे ही भय था कि शाही कृषि आयोग खेती-बाड़ीके औजारोंको बेचनेकी एक ब्रिटिश व्यावसायिक चाल-भर है। मेरे उस सन्देहकी पुष्टि इंग्लैंडमें होनेवाली बैठकोंकी रिपोर्टोंसे हो रही है।

मैंने यह अंश एक ऐसे सज्जनके पत्रसे लिया है जो प्रत्येक शब्द तोलकर लिखते हैं, जिनका मन द्वेषसे मुक्त है, और जिनकी इन दिनों राजनीतिमें बड़ी दिलचस्पी भी नहीं है। मेरे उक्त अंश देनेका कारण यह है कि यही भय मुझे भी था। सम्भव है कि यह भय मेरे ही अन्दरके अविश्वासकी प्रतिध्वनि हो, और आयोगकी स्थापना वास्तवमें हिन्दुस्तानके लोगोंकी कृषि-सम्बन्धी हालतकी बखूबी जाँच करनेके सदुद्देश्यसे ही की गई हो। यदि मेरा यह सन्देह या भय बिलकुल निराधार साबित होता तो मुझे खुशी होती। लेकिन अगर वह मेरे मनमें बना हुआ है और अगर यही सन्देह औरोंके मनमें भी है, तो उस सन्देहको मनमें छिपाकर रखनेसे अच्छा है कि उसे जाहिर कर दिया जाये।

अभी हाल ही में मैंने प्रदर्शनी देखकर आये हुए एक सज्जनके पत्रमें से कुछ अंश 'यंग इंडिया' में प्रकाशित किया था। वे सद्भावना लेकर उस प्रदर्शनीको देखने गये थे। लेकिन वे यह कहे बिना न रह सके कि उस प्रदर्शनीमें प्रमुखता उन कृषि-यन्त्रों और औजारोंकी थी जिन्हें हमारे किसान कभी काममें नहीं लायेंगे। उन्होंने तो यहाँतक कहा कि प्रदर्शनीमें रखी गई कुछ मशीनें तो 'कूड़ेके ढेर' पर फेंक देने लायक थीं। ये महानुभाव काफी बड़े पैमानेपर मशीनोंसे काम ले चुके हैं इसलिए उन्होंने जो-कुछ कहा था अज्ञान-वश नहीं कहा था। उनकी रायमें बहुत-सी ऐसी चीजें प्रदर्शनी-में रख ली गई थीं कि जिनका न परीक्षण किया गया था और न जिनके बारेमें कोई गारंटी ही थी। किसी प्रदर्शनीको अगर शिक्षाप्रद और लाभदायक बनाना है, तो वहाँ ऐसी चीजें नहीं रखनी चाहिए जिनका पहले परीक्षण न कर लिया गया हो। वहाँ जानेवाले भोले-भाले लोग उन मशीनोंकी बड़ी-बड़ी तारीफें सुनकर उन्हें खरीद लेंगे और उन्हें बेकार पानेपर उस दिनको कोसेंगे जिस दिन उन्होंने उन्हें खरीदा था। फिर भी बुद्धिमत्ता और न्यायकी बात तो यह होगी कि आयोगकी रिपोर्ट प्रकाशित होनेसे पूर्व ही लोग उसके बारेमें कोई राय कायम न करें बल्कि उस ओर पूर्वाग्रहहीन दृष्टि रखें।

विधवाएँ और विधुर

एक भाई लिखते हैं:

> गत १४ अक्तूबर, १९२६ के 'यंग इंडिया' में 'प्रश्नोत्तर' शीर्षकसे छपे एक पत्र-लेखकके प्रश्न और आपके उत्तर मैंने ध्यानसे पढ़े हैं। पत्र-लेखकके पहले प्रश्नका उत्तर देते हुए आपने लिखा है, 'यदि ऐसी किसी भी विधवा

या ऐसे किसी भी विधुरका जिसने सयाना होनेपर अपनी खुशीसे विवाह किया था, पुर्नविवाह करना पाप ठहराया जाने लगे तो मैं इस आशयके सुधारका समर्थन करूँगा।'

मेरी समझमें हिन्दू धर्मशास्त्रमें कोई ऐसा परिवर्तन करनेका फल बहुत ही बुरा होगा और उसका सारे समाजके नैतिक मानदण्डोंपर प्रभाव पड़ेगा। जैसे मान लीजिए कि किसी मर्द या औरतने सयाने होनेपर विवाह किया। दुर्भाग्यसे कुछ दिन विवाहित जीवन बितानेके बाद उसकी स्त्री या पतिकी मृत्यु हो गई। तो आप क्या उन्हें केवल इसीलिए पुर्नविवाह न करने देंगे कि उनका विवाह जवानीमें हुआ है, भले ही अभीतक उनके मनमें विवाह-सुखके भोगनेकी जबर्दस्त इच्छा बाकी क्यों न हो? अगर हिन्दू धर्मशास्त्रमें ऐसा कोई सुधार हो जाये तो मुझे लगता है कि लोग अपनी अपूर्त इच्छाकी पूर्तिके लिए कोई अनीतियुक्त रास्ता ढूँढ़ निकालेंगे और समाजमें अनीति फैल जायेगी। इसलिए मेरी रायमें इस सवालको, पूरी तरह सम्बन्धित-व्यक्तियोंकी विवेक-बुद्धिपर छोड़ दिया जाना ही ठीक रहेगा।

प्रश्नकर्त्ताको मैंने जो जवाब दिया वह कानूनकी रचना करनेवाले पुरुषको चुनौती है। पुरुष स्मृतिकार अपनी स्वाधीनतामें कतर-ब्योंत नही होने देता। इसलिए मैंने अपने जवाबमें यह स्पष्ट करना चाहा है कि जो बात पुरुषके लिए वाछनीय समझी जाती है, वह स्त्रीके लिए भी वांछनीय होनी ही चाहिए। और इस कारण, किसी विधुर पुरुषको पुर्नविवाह करनेका जो अधिकार है, वह अधिकार विधवा स्त्रीको भी होना चाहिए। फिर हिन्दू धर्मशास्त्र ब्रिटिश संविधानके अन्तर्गत बने कानूनोंकी तरह लचीला तो हो नही सकता। इसलिए पाठक देखेंगे कि मैंने जानबूझकर 'अपराध' के बदले 'पाप' शब्दका व्यवहार किया है। 'अपराध' के लिए मनुष्य-संचालित राज्यके कानूनोंके अनुसार दण्ड मिलता है। किन्तु पापका दण्ड या तो भगवान देता है, या पाप करनेवालेकी आत्मा; और कोई नही। मेरा यह दृढ़ विचार कि मैंने अपने उत्तरमें हिन्दू समाजके लिए जो ऊँचा स्तर निर्धारित किया है, अगर वह उस स्तरतक ऊँचा उठ जाये तो इससे हिन्दू समाजको और मनुष्य जातिको बहुत लाभ पहुँचेगा।

खद्दर किसे कहते हैं?

एक मित्र पूछते हैं कि 'लीडर' समाचारपत्रमें प्रकाशित हुई 'कांग्रेसमैन' की निम्नलिखित परिभाषा ठीक है या नही:

जो लोग शुद्ध खद्दर यानी अपने ही हाथसे काते गये सूतसे अपने ही द्वारा बुना गया कपड़ा नहीं पहनते, उन्हें अपने आपको कांग्रेसमैन कहनेका कोई हक नहीं है और न उनको कांग्रेसमैन माना ही जाना चाहिए।

खद्दरकी ठीक-ठीक परिभाषा तो कांग्रेसके प्रस्तावोंमें दी हुई है। लेकिन उन लोगोंके सुभीतेके लिए जिन्हें कांग्रेसके प्रस्ताव देखनेका अवकाश नहीं है, मैं कह देना चाहता हूँ कि काग्रेसकी मंशा यह कभी नही रही है कि कांग्रेसजन जो खद्दर इस्तेमाल करें,

वह उन्हींके द्वारा बुना गया हो। बल्कि हकीकत तो यह है कि उस खद्दरके सूतके उन्हींके द्वारा कते होनेकी भी जरूरत नहीं है। कताई-सम्बन्धी शर्त खद्दर पहननेसे एक अलग बात है और वह केवल व्यक्तिकी इच्छापर छोड़ दी गई है। खद्दरका पहनना तो लाजिमी है — जरूरी इतना भर है कि वह खद्दर हाथकता और बुना हो। इस बातसे कोई गरज नहीं कि वह किसके द्वारा काता और बुना गया है। यह जरूरी नहीं कि जो सूत किसी कांग्रेसमैनने काता हो, उसका इस्तेमाल उसके पहने हुए वस्त्रमें किया ही जाये। मुझे इस बातपर आश्चर्य होता है कि इतने दिन हो जानेपर भी खद्दरका अर्थ समझानेकी जरूरत है। अलबत्ता यह सवाल बेशक मौजूं होगा कि कितने कांग्रेसमैन उस प्रकारका शुद्ध खद्दर पहनते हैं जैसा कि कांग्रेसके प्रस्तावमें वर्णित है, न कि जैसा उपरोक्त वाक्यमें कहा गया है।

सूतकी जाँच करनेकी आवश्यकता

स्वयंसेवक और पैसा लेकर सूत कातनेवाले, जो भी सूत कातते हैं, उनके सूतकी जाँच करनेकी जरूरतपर मैंने अक्सर जोर दिया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सूतकी जाँच हर रोज की जाये; किन्तु यदि हम सूतकी मजबूती और एकसारपनमें सुधार करना चाहते हैं तो हमें समय-समयपर सूतकी जाँच जरूर करनी चाहिए। इन पृष्ठोंमें यह भी बताया जा चुका है कि सूतकी जाँचकी मशीन बिना किसी कठिनाई-के किस प्रकार तैयार की जा सकती है। मुझे आशा है कि खादीकेन्द्र इस बहुत ही आवश्यक सुधारको अवश्य लागू कर लेंगे।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १८-११-१९२६

५२. पत्र : वसुमती पण्डितको

आश्रम

बृहस्पतिवार, १८ नवम्बर, १९२६

चि० वसुमती,

तुम्हारा पत्र मिला। वर्धा आ सकती हो। तुमने अपनी तबीयतके बारेमें कुछ नहीं लिखा जिसके लिए मैंने खास तौरसे पूछा था। मुझे जो लिखना हो सो लिखना। रामदास दो दिन रहकर आज चला गया। हरिभाई[1] आज आये हैं। वे और कुसुम[2] कल भड़ौंच जा रहे हैं।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (एस० एन० ९२२१) की फोटो-नकलसे।

१. भड़ौंचके हरिभाई देसाई; साबरमती आश्रमके प्रारम्भिक कालमें इन्होंने कुछ समयके लिए गांधीजीके सचिवके रूपमें कार्य किया था।

२. हरिभाई देसाईकी पत्नी।

५३. पत्र : रेवाशंकर मेहताको

कार्तिक सुदी १४ [१८ नवम्बर, १९२६][1]

आदरणीय रेवाशंकर भाई,

आपका पत्र मिला। जमनादास स्कूलका काम करे तो यह बहुत अच्छी बात है।

[रामचन्द्रनकी] लिफ्टमें[2] कितनी पूँजी लगाई जा सकती है सो बताइएगा। इस बारेमें तनिक भी संकोच न कीजिएगा। रुपये-पैसेके मामलेमें जाननेकी इच्छा मैंने कभी की ही नही है इसलिए मुमकिन है अवगत न होनेके कारण मैं कोई साहसिक माँग कर बैठूं। ऐसा हो तब उसे रोकना आपका धर्म है और इसी विश्वासको लेकर मैं उचित अवसरपर माँग करते हुए संकोच नहीं करूँगा। आपने देवलाली जानेका विचार करके ठीक किया। धीरूका[3] मन यदि यहाँ लग जाये तो उसे यहाँ भेजनेमें कोई अड़चन नहीं है। मुझे कोई बोझ नहीं होगा। आजकल मौसम तो बहुत अच्छा है।

मेरा देवलाली जाना संभव नहीं और फिलहाल जानेकी कोई जरूरत भी नहीं है।

मोहनदासके प्रणाम

गुजराती पत्र (जी० एन० १२६०) की फोटो-नकलसे।

५४. पत्र : बापूभाई नारणजी वशीको

कार्तिक सुदी १४, १९८३, १८ नवम्बर, १९२६

भाईश्री ५ बापूभाई,

आपके पत्रके अन्तिम अनुच्छेदका उत्तर मैं 'नवजीवन' में दे रहा हूँ। उसमें अन्य प्रश्नोंका उत्तर नहीं देना चाहता।

ऋषि दयानन्दके चरित्रके प्रति किसी भी हिन्दूके मनमें आदरके सिवा और कोई भाव हो ही नही सकता। 'सत्यार्थप्रकाश' निराशाजनक है, इसके कारणकी खोजमें न पड़ना ही अच्छा है। महान् पुरुषोंके गुणोंका स्तवन करना चाहिए। उनमें जो अपूर्णता हो उसे देख लें; किन्तु भक्तजनोंको उसके कारणोंकी खोजमें नही जाना चाहिए।

१. पत्रमें रेवाशंकरके देवलाली जानेकी जो चर्चा मिलती है उससे मालूम होता है कि यह पत्र १९२६ में लिखा गया था; देखिए "पत्र : रेवाशंकर ज० मेहताको", २५-११-१९२६।

२. एक ही जानवरकी मददसे कुँएसे पानी खींचनेके लिए मद्रासके कृषि कालेजके रामचन्द्रन द्वारा तैयार किया गया चरसा या कोस।

३. रेवाशंकरका पुत्र।

'सत्यार्थप्रकाश' से उद्धरण देनेका विचार मैंने जान-बूझकर छोड़ दिया है। जिनके लिए इन उद्धरणोंको देनेका विचार था वे मुझसे मिल गये थे। उन्हें मैंने ये उद्धरण दिखाये थे। अब अगर मैं उन्हें देता हूँ तो इससे उस महापुरुषकी निन्दा होती है, उनके गुण ढँक जाते हैं और इससे विवाद बढ़ सकता है। इसीलिए मैंने उन उद्धरणोंको नहीं दिया।

'आर्य' शब्दका उपयोग करनेमें कृत्रिमता देखता हूँ। 'हिन्दू' शब्दकी उत्पत्ति चाहे जैसे भी हुई हो लेकिन उस शब्दमें जिस अर्थका समावेश सहज ही हो जाता है वह अन्य किसी शब्दसे जोर-जबरदस्तीसे ही निकाला जा सकेगा।

एक श्लोकमें कहा गया है कि जन्मसे हम सब अधम हैं। मनुष्य द्विज तो संस्कारसे होता है। अन्य लोग जन्मपर जोर देते हैं। दोनों अपनी-अपनी दृष्टिसे सही हैं। जन्म पूर्व संस्कारका अनुसरण करता है। नये संस्कार उसमें कुछ परिवर्तन करते हैं। हम जैसे जन्मे हों, लोगोंको अपनेको वैसा ही मानने देनेमें नम्रता है और शक्तिका संचय है।

प्रारब्ध अर्थात् जन्मसे पूर्व किये गये कर्मोका फल। पुरुषार्थ अर्थात् उसमें आवश्यक परिवर्तन करनेका प्रयत्न। कितनी ही बार वे एक-दूसरेके विरोधी होते हैं और कितनी ही बार एकसाथ चलते हैं। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इनमें से कोई एक-दूसरेसे सदा बलवान् ही होता है। प्रारब्धको भुलाया नहीं जा सकता, पुरुषार्थको छोड़ा नहीं जा सकता। इसीलिए निष्काम कर्मका महत्त्व माना गया है।

मोहनदासके वन्देमातरम्

गुजराती पत्र (एस० एन० १९९६५) की माइक्रोफिल्मसे।

५५. पत्र: घनश्यामदास बिड़लाको

कार्तिक शुक्ल १४, १९८३ [१८ नवम्बर, १९२६]

भाई घनश्यामदास,

आपका पत्र मीला है। जिनीवाके बारेमें मैंने मेरा अभिप्राय आपके काशीजीके पतेपर कई दिनोंसे भेज दीया है। देवीप्रसादजीके खतपर से तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप वचनबद्ध हैं। यदि ऐसा हि है तो जाने न जानेका प्रश्न हि उपस्थित नहिं होता है। ऐसी हि हालत है तो जाना ही चाहिए।

आपका,
मोहनदास

मूल पत्र (सी० डब्ल्यू० ६१३८) की फोटो-नकलसे।
सौजन्य: घनश्यामदास बिड़ला

५६. पत्र : परमेश्वरदयाल गुप्तको

१९ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपके प्रश्नोंपर 'यंग इंडिया' में खास तौरसे चर्चा करनेका मेरा इरादा नही है। पहले भी ऐसी कठिनाइयोंपर मैंने चर्चा की है, और जो लेखमाला में लिख रहा हूँ, शायद उसीमें प्रसंगवश इनपर चर्चा करूँ।

मैं राम और कृष्णको वैसे ऐतिहासिक पात्र नही मानता, जैसे कि वे पुस्तकोंमें वर्णित हैं। रावण हमारी वासनाओंका और कौरव हमारे भीतरके दोषोंका प्रतिनिधित्व करते हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' का उद्देश्य हमें अहिंसाका उपदेश देना है।

'महाभारत' में वर्णित हर चीजको मैं सत्य नही मानता।

यदि आप अहिंसापर मेरे लेखोंको फिरसे पढ़ेंगे, तो आपने जिन अंशोंको उद्धृत किया है, उनमें कोई विरोधी बातें नहीं पायेंगे।

यदि कोई व्यक्ति अहिंसात्मक उपायोंसे अपने देशकी रक्षा नही कर सकता तो उसका हिंसात्मक उपाय अपनाना उचित होगा, बनिस्वत इसके कि वह कायरोंकी तरह हार मान बैठे।

हर हालतमें, हर मूल्यपर सत्य ही प्रकट करना चाहिए, ऐसा मैं जरूर कहता हूँ। लेकिन सदैव कोई व्यक्ति तथ्योंको जाहिर करनेके लिए बाध्य नही है।

हृदयसे आपका,

परमेश्वरदयाल गुप्त
क्राइस्ट चर्च कॉलेज
कानपुर

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७४०) की फोटो-नकलसे।

५७. पत्र : सत्यानन्द सरस्वतीको

साबरमती
११ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र

आपका पत्र मिला। मेरा विश्वास है कि राजेन्द्रबाबू कोई नीच काम कर ही नहीं सकते। लेकिन यदि आप मुझे अपना पत्र राजेन्द्रबाबूको भेजनेकी अनुमति दें, तो मैं उनसे इस विषयमें पूछ लूँगा।

मुझे मुसलमानोंके बारेमें अपनी धारणाके लिए पश्चात्ताप नहीं है।

हृदयसे आपका,

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
द्वारा बी० एन० सिन्हा
समस्तीपुर
बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७४२) की फोटो-नकलसे।

५८. पत्र : देवचन्द पारेखको

[११ नवम्बर, १९२६][1]

भाईश्री देवचन्द,

तुम्हारा पत्र मिला। डा० प्राणजीवनदासको तकलीफ देना ठीक न होगा।[2] लेकिन हम रेवाशंकरभाईको[3] ले सकते हैं। क्या तुम नानाभाई नरसिंहप्रसादको पसन्द करोगे? जमनालालजी चाहिए? अंग्रेजीकी काफी दिक्कत है नहीं तो राजगोपालाचारी-को लिया जा सकता है। कृपलानीको लोगे? मेरा सुझाव यह है कि तुम किसी भी विशेष खादीप्रेमी व्यक्तिको लो। आशय यह है कि नामके बदले कामकी ओर देखो। तुम्हारा तार मिला है। ३० तारीख[4] मुझे अनुकूल पड़ती है।

बापू

गुजराती पत्र (जी० एन० ५७०५) की फोटो-नकलसे।

१. डाककी मुहरसे।
२. उन्हें काठियावाड़ राजनीतिक परिषद्का अध्यक्ष-पद प्रदान करके।
३. रेवाशंकर झवेरी, डा० प्राणजीवन दास मेहताके भाई।
४. काठियावाड़ राजनीतिक परिषद्की कार्यकारी समितिकी बैठकके लिए।

५९. पत्र : बहरामजी खम्भाताको

शुक्रवार [१९ नवम्बर, १९२६][1]

भाईश्री बहरामजी,

आपका पत्र मिला। जब आना चाहें तब आइएगा; मैं यहाँसे २ दिसम्बरको निकलनेवाला हूँ। आश्रम कबतक लौटूंगा, यह निश्चित नहीं है। आपको कोढ़ होनेका भय है, ऐसी चेतावनी देवदासने मुझे दी थी। यदि कोढ़ हो भी जाये तो भी क्या? इसमें चिन्ता करनेकी अथवा घबरानेकी कोई जरूरत नहीं है। कोढ़ ही हो तो भी मैं मानता हूँ कि आपमें इतना ज्ञान है कि आप आनन्दित रह सकते हैं। आप जल्दी आ जायेंगे तो हम इसके बारेमें बात करेंगे।

श्रीमती एडीकी पुस्तक सामान्य है। उसमें नया कुछ नहीं है। उनकी भाषामें वैचित्र्य है। उस महिलामें, सम्भव है कोई शक्ति हो, लेकिन मुझे लगा कि उसने अपने ज्ञानका दुरुपयोग किया है। दुःख मिटानेका उपाय दुःख सहन करनेमें ही है। दुःख मिटानेके लिए मनुष्यको आध्यात्मिक शक्तिका व्यय कदापि नहीं करना चाहिए। ईसाने दुखियोंके दुःख-दर्द दूर किये; उसका अर्थ यह नहीं कि सबको अपने दुःख-दर्द आध्यात्मिक शक्तिसे दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यह शरीर नाशवान है, अतः उसके दुःखदर्द मिटानेके लिए जो उपाय किये जायें वे भी शारीरिक ही होने चाहिए।

इसलिए ईश्वरके प्रति रोगीकी प्रार्थना ऐसी होनी चाहिए :

"हे ईश्वर। मेरा यह रोग मुझसे जाने-अनजानेमें हुए पापोंका परिणाम है। मुझे तू पापसे मुक्त कर और इस दुःखको सहन करनेकी शक्ति दे।"

यदि रोगी ऐसा मानता है कि उसे रोग नहीं है तो यह एक प्रकारकी मूर्छा है। रोगी यह जानते हुए भी कि वह रोगी है निर्लेप रहे, इसीमें पुरुषार्थ है। रोगीको चाहिए कि वह अपनी सत्ताका विश्लेषण करे, आत्मा और शरीरके भेदको पहचाने और दोनोंके सम्बन्धको समझकर मोक्षके रहस्यको समझे।

मेरी तो आपको यही सलाह है कि आप 'क्रिश्चियन साइन्स' को छोड़ दें। आप अपनी व्याधिका जो भी सामान्य इलाज करना चाहें निःसंकोच करें या फिर शान्त रहें, ईश्वरका अवलम्ब लेकर बैठ जायें। मध्यम मार्ग यही कहता है। निर्दोष इलाज करें और सहनशीलताकी शक्तिका विकास करें।

इसमें आपको मुझे कहने-जैसी कोई बात लगे तो कहिएगा। आपने जितने ध्यानसे श्रीमती एडीकी पुस्तक पढ़ी है उतने ध्यानसे मैंने नहीं पढ़ी है। मैंने तो उसे ऊपर-

१. महादेव देसाईने २१ नवम्बरको बहरामजी खम्भाताको पत्र लिखा था और जैसा कि मालूम होता है, इस पत्रको ही ध्यानमें रखकर उनसे पूछा था कि क्या आपको बापूका 'क्रिश्चियन साइन्स' से सम्बन्धित पत्र मिला है? इसलिए लगता है कि यह पत्र उससे पहलेके शुक्रवार अर्थात् १९ नवम्बरको लिखा गया था।

ऊपरसे देखा है। यदि मैंने उनके साथ अन्याय किया हो तो वह अनजाने ही किया है। लेकिन मुझपर पुस्तककी जो छाप पड़ी उसे मैं आपसे कैसे छिपा सकता हूँ।

इसलिए मेरी आपसे आखिरी बात यह है कि मेरे विचार भले ही कैसे [भी] क्यों न हों, आप उन्हें तोलना, लेकिन मानना तो वही जो आपकी अन्तरात्मा कहे। मनुष्य स्वयं ही अपने आपको बन्धनमें बाँधता है और अपना मोचन भी स्वयं करता है। दूसरे तो बोलकर अलग हो जानेवाले होते हैं।

आप दोनोंको आशीर्वाद।

बापू

श्री बहरामजी खम्भाता
२७५, हार्नबी रोड
फोर्ट, बम्बई

गुजराती पत्र (जी० एन० ७५३४) की फोटो-नकलसे।

६०. पत्र : हरजीवन म० व्यासको

कार्तिक पूर्णिमा १९८३ [१९ नवम्बर, १९२६]

भाईश्री ५ हरजीवन,

आपका पत्र मिला।

आपके दोनों प्रश्नोंके बारेमें मेरी दृष्टि आपकी दृष्टिसे भिन्न है।

मिलके कपड़ेमें चरबी पड़ती हो या न पड़ती हो; लेकिन उस कपड़ेके उपयोगसे करोड़ों मनुष्योंकी चरबी चूसी जाती है इसलिए वह त्याज्य है।

अगर विदेशी चीनीको साफ करनेमें हड्डियोंके चूरेका उपयोग होता है तो ऐसा माननेका कोई कारण नहीं कि देशी चीनीको साफ करनेमें उसका उपयोग नहीं होता होगा। लेकिन चीनी आदि पदार्थोंका कमसे-कम उपयोग करना इष्ट है।

कोई भी चीज हो, वह कैसे बनाई जाती है — इस बातका यदि हम सूक्ष्म रूपसे अध्ययन करें तो हमें कोई-न-कोई दोष अवश्य दिखाई देगा; इसलिए विचारवान् व्यक्ति कमसे-कम वस्तुओंसे अपना काम चलायेगा। इसके सिवा यदि कोई वस्तु पड़ोसकी मिल सकती होगी तो वह बाहरकी वैसी वस्तुका, ज्यादा अच्छी लगनेपर भी, त्याग ही करेगा।

मोहनदास गांधीके वन्देमातरम्

ब्रह्मचारी हरजीवन मणिशंकर व्यास
झामका, पो० आ० बगसरा, भायानी
काठियावाड़

गुजराती पत्र (एस० एन० १९९६७) की माइक्रोफिल्मसे।

६१. पत्र : सतीशचन्द्र मुकर्जीको

२० नवम्बर, १९२६

प्रिय सतीश बाबू,

आपका लम्बा पत्र पाकर मुझे खुशी हुई। लेकिन यह जानकर दुःख हुआ कि आपको मलेरिया हो गया था और कृष्णदासको दुखद अनुभव हुए। मेहरबानी करके अपना ध्यान अवश्य रखें और कृष्णदासको अपने पास ही रखें। आशा है कि आप दोनों मुझे अपने तथा कृष्णदासके बारेमें खबर देते रहेंगे।

आपकी हितकर समालोचनाके लिए मैं आभारी हूँ। मैं जो लेखमाला लिख रहा हूँ उसमें इसके कुछ मुद्दोंपर चर्चा करूँगा। "अधिकसे-अधिक लोगोंका अधिकसे-अधिक कल्याण", यह सिद्धान्त अहिंसाके आधारपर सही नहीं ठहराया जा सकता। अहिंसा सभी लोगोंके अधिकसे-अधिक कल्याणका आग्रह रखती है। निस्सन्देह कुत्तोंको मार डालनेको मेरे सही ठहरानेमें कुछ तो उपयोगितावाद है और कुछ अपनी दुर्बलताके आगे झुकना और उसे स्वीकार करना। लेकिन मैंने कष्ट भोग रहे जानवरोंको मार डालना धर्मके उच्चतम आधारपर भी सही ठहराया है।

हृदयसे आपका,

सतीशचन्द्र मुकर्जी
द्वारा एस० सी० गुहा
दरभंगा

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७४३) की माइक्रोफिल्मसे।

६२. पत्र : जमनालाल बजाजको

कार्तिक बदी १ [२० नवम्बर, १९२६][1]

चि० जमनालाल,

तुम्हारा पत्र मिला। भगवान् करे कि तुम दीर्घायु हो और तुम्हारी पवित्रतामें उत्तरोत्तर वृद्धि हो। इस जगत्में ऐसा कोई नहीं जिसमें दूषण न हो। हम तो उसे दूर करनेका प्रयत्न ही कर सकते हैं और वह प्रयत्न तुम कर रहे हो। प्रयत्नशीलकी दुर्गति नहीं होती, ऐसा भगवानका आश्वासन है।

अब तो ४ तारीखको ही मिलेंगे। ताप्ती घाटी [रेलवे] से होकर आनेका विचार कर रहा हूँ। शास्त्री कल आ रहे हैं।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० २८७८) की फोटो-नकलसे।

१. डाककी मुहरपर २३ नवम्बर, १९२६, वर्धा दिया हुआ है, जहाँ उस समय जमनालाल बजाज थे।

६३. क्या यह जीवदया है?—७

एक भाईके पत्रके अवतरण उन्हें संक्षिप्त करनेकी दृष्टिसे, मैं अपनी भाषामें दे रहा हूँ। प्रत्येक प्रश्नके नीचे उसका उत्तर भी दे रहा हूँ।

> जीव-मात्र तड़प-तड़पकर मरता है। नरकमें पड़ा हुआ व्यक्ति भी जीनेकी इच्छा रखता है। कुत्तेको भी मरना अच्छा नहीं लगता। इसलिए जो मनुष्य उसे मारता है वह उसे दुर्गति देनेमें सहायक होता है।

एक मनुष्य दूसरेको मारकर उसे दुर्गति किस तरह देता है, यह मेरी समझके बाहर है। मनुष्य खुद ही अपने बन्धन और मोक्षका कारण होता है, दूसरोंके बन्धन और मोक्षका नहीं। अहिंसाधर्मका पालन अपने मोक्षके लिए होता है।

> जो मनुष्य अपने सुखके लिए हिंसा करता है वह अपनी शक्तिका दुरुपयोग करता है।

यह निर्विवाद है। मैंने जहाँ भी कुत्तोंके वधका सुझाव दिया है वहाँ कुत्तोंका हित ही प्रधान हेतु है। उसमें मनुष्यका सुख भी है लेकिन वह गौण है। जो अपने सुखके लिए वध करता है वह तो हिंसा ही करता है।

> यदि आप ऐसा मानते हैं कि जीवका तो नाश नहीं होता, नाश तो केवल देहका ही होता है, इसलिए उसका नाश जल्दी हो या देरसे, इससे क्या फर्क पड़ता है, तो यह ठीक है; लेकिन इससे मनुष्यको दूसरोंके प्राण लेनेका अधिकार नहीं मिलता।

इसके बारेमें मुझे तनिक भी शंका नहीं है। ऐसी हिंसा भी हम अनिवार्य समझ कर ही करते हैं; उदाहरणके लिए आहारादिके निमित्त होनेवाली हिंसा। देह नाशवान होनेसे यद्यपि दूसरोंके प्राण लेनेका इजारा मनुष्यको नहीं मिलता लेकिन आवश्यकता पड़नेपर उसका नाश करनेमें संकोच करना देहके प्रतिक्षण होनेवाले नाशको भूल जानेके समान है। सड़े हुए हाथको काटनेमें देहका नाश है तथापि हम उसे काटते हैं।

> और यदि हम उस प्राणीके सुखका विचार करके उसे मारें तो यह भी मोह है। सुख-दुःख जैसी कोई चीज जगतमें है ही नहीं। आप दूसरेको तड़पता हुआ नहीं देख सकते, यह बात आपके अज्ञानकी परिचायक है। दूसरोंके सुख-दुःखका जिसपर असर नहीं होता वही भव्य आत्मा है और इससे वह किसीकी भी हिंसा नहीं करता।

इस प्रश्नमें निहित दलीलमें मैं विचार-दोष देखता हूँ — ऐसा विचार-दोष जिसकी ओर शायद दलील करनेवालेका ध्यान नहीं गया है। दूसरोंके सुख-दुःखका जहाँ असर नहीं होता वहाँ न तो दया है, न धर्म और न अहिंसा ही है। दूसरोंके सुखकी शोध

करनेमें ही अहिंसाकी शोध हुई है। मनुष्यने जब अपनेको दूसरोंमें देखा और दूसरोंको अपनेमें देखा तब वह दूसरोंके सुखमें सुखी हुआ, और उनके दुखमें दुखी। इसीके फलस्वरूप उसने अपने ऐहिक सुखके त्यागमें आत्मिक सुखका अनुभव किया और उसने अपने स्वार्थके लिए मूक प्राणियोंकी हिंसा करना बन्द कर दिया।

> संसारियोंके दुःखको मिटानेका प्रयत्न करना — यह दृष्टि ही संसारमूलक है इसलिए उसमें ही हिंसा है। तो फिर उससे अहिंसाका प्रतिपादन कैसे हो सकता है?

पत्र-लेखकका यह वाक्य ऐसा है जो उसे अथवा किसीको भी शोभा नही देता। हम सब संसारके दुःखको मिटानेका सतत प्रयत्न करते हैं। भूख, प्यास, सर्दी और गर्मीको मिटानेमें हम अपना बहुत-सारा समय खर्च करते है। लेकिन जो अपनी ही भूख-प्यास आदि मिटाकर चैनसे बैठ जाते हैं उन्हें स्वेच्छाचारी-भोगी कहा जाता है। वीतराग तो वही है जो दूसरोंकी भूख-प्यास मिटाकर अपनी मिटानेका अल्प प्रयत्न करता है।

एक अन्य भाई लिखते हैं:

> आप रायचन्दभाईके लिखेको भूल गये जान पड़ते हैं। आपने उनसे पूछा था 'मुझे जब साँप काटनेके लिए आए तब मुझे क्या करना चाहिए'? उन्होंने कहा था, "तुम अपने देहको जाने दो लेकिन साँपको मत मारो।" अब कुत्तोंके बारेमें आप दूसरी नीति अपनाते जान पड़ते हैं।

मैं दूसरी नीति नही अपना रहा हूँ। अपने लिए किसीको मारनेकी बातका मैंने समर्थन नही किया है। मेरा ऐसा प्रयत्न है कि मुझे साँप काटनेके लिए आए अथवा कोई मारनेके लिए आए, तब उसे मारकर मैं जीनेकी इच्छा न करूँ और भगवान मुझे देहको नष्ट होने देनेकी शक्ति प्रदान करे। हमारी यह चर्चा सामाजिक हितकी और दुःखसे तड़प रहे प्राणीके हितकी दृष्टिसे की जा रही है। कष्टसे पीड़ित सर्पको, जिसे जिलानेका मेरे पास कोई इलाज नही है मारना चाहिए अथवा नही अथवा मेरे संरक्षणमें रहनेवाले किसी व्यक्तिको कोई सर्प काटनेके लिए आए और उसे भगानेकी मेरी शक्ति न हो तो रक्षितकी रक्षाके लिए मुझे उस सर्पको मारना चाहिए अथवा नहीं यह प्रश्न मैंने रायचन्दभाईसे पूछा होता तो रायचन्दभाईने इसका क्या उत्तर दिया होता, यह बात हममें से कोई भी निश्चित रूपसे नही कह सकता। अपने अभिप्रायके बारेमें मेरे मनमें कोई शंका नहीं है।

एक तीसरे भाई लिखते हैं:

> आपके लेखोंके प्रति मेरे मनमें बहुत श्रद्धा है। लेकिन आपके अभी हालके लेखोंसे शंका उपजती है। श्रीमद् अमृतचन्द्र आचार्यजीके मतसे आपका मत विरुद्ध दिखाई देता है हालाँकि आजतक आपका और आचार्यजीका मत मिलता मालूम होता था। वे कहते हैं:[1]

१. मूल संस्कृत श्लोक नहीं दिये जा रहे हैं।

> इस एक जीवके मरनेसे बहुत जीवोंकी रक्षा होती है, ऐसा मानकर हिंसक जीवोंकी भी हिंसा नहीं करनी चाहिए।
>
> बहुत जीवोंकी हत्या करनेवाले ये जीव जीवित रहेंगे तो अधिक पापका उपार्जन करेंगे, ऐसा मानकर दयावश भी हिंसक जीवोंको मारना नहीं चाहिए।
>
> अनेक दुःखोंसे पीड़ित जीव शीघ्र दुःखसे मुक्त हो जायें ऐसी विचार-रूपी तलवार लेकर उसके द्वारा भी दुखी जीवोंको नहीं मारना चाहिए।
>
> इनमें और आपके अभी हालके विचारोंमें मतभेद दिखाई पड़ता है। इसका स्पष्टीकरण 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में है। मैं चाहता हूँ कि आप उसे देखनेके बाद अपना अभिप्राय व्यक्त करें।

'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' मुझे श्री रेवाशंकरभाईने दक्षिण आफ्रिकामें भेजा था तब मैं उसे पढ़ गया था। मेरे विचार अब किसीपर आधारित नहीं हैं। इन सब विचारोंको मैंने पहले-पहल जहाँसे भी ग्रहण किया हो लेकिन इस समय तो वे मेरे जीवनके अंश हैं और उन्हें व्यक्त करनेका अवसर उपस्थित हुआ है इसलिए मुझे उन्हें बताना पड़ता है। अहिंसाधर्मकी ऐसी सूक्ष्म चर्चासे कोई बहुत ज्यादा तात्कालिक लाभ होगा ऐसा मैं नहीं मानता। लेकिन मुझे लगता है कि उसके बारेमें अभी इतना ज्यादा अज्ञान फैला हुआ है कि यदि मैं किसी भय अथवा मोहके कारण अपने विचारोंको छिपाऊँ तो दोषमें पड़ता हूँ। इसीसे लाचार हो मैं यह लेखमाला लिख रहा हूँ।

मेरे मतानुसार उपर्युक्त श्लोकोंमें और मेरे विचारोंमें भेद नहीं है। परन्तु कदाचित् ऐसा सिद्ध होता हो तो मुझे भी मेरे विचार अहिंसा धर्मके अनुकूल मालूम होते हैं।

उपर्युक्त श्लोकोंका आशय मैंने यह समझा है कि मनुष्यको उनमें वर्णित भावना-से प्रेरित होकर किसीका भी वध नहीं करना चाहिए। कारण स्पष्ट है। ऐसा वध अनिवार्य है और इसलिए स्वाभाविक होना चाहिए। भावनामें इरादा और आरम्भ आते हैं और इरादा या आरम्भमें हिंसाका दोष है। जिसे 'गीता' निष्काम कर्म कहती है उस सहज-प्राप्त धर्मका अनुसरण करना मुमुक्षुका कर्त्तव्य है। उसे जगतके मोक्षका विचार नहीं करना है अपितु अपने मोक्षके मार्गमें आनेवाली सेवा करनी है। मैले पानीके डबरेको मुझे पूरना चाहिए। लेकिन यह कार्य मेरे लिए स्वाभाविक होना चाहिए। उसे पूरते हुए मुझे ऐसा अभिमान नहीं रखना चाहिए कि "ऐसा करके मैं जगत्की सेवा कर रहा हूँ।" आचार्यके वचनोंमें निरभिमानता, नम्रता, अल्पारम्भ इत्यादिकी रक्षा है। जब ऐसा प्रसंग आए कि वध किये बिना काम ही न चले उस समय कैसी मानसिक स्थिति होनी चाहिए, इसे बतानेके लिए इन श्लोकोंकी रचना की गई जान पड़ती है।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, २१-११-१९२६

६४. यज्ञसूतकी खादी

अ० भा० चरखा संघके एक सदस्य लिखते हैं:

> सदस्योंकी ओरसे मिलनेवाले सूतमें से जो खादी बुनकर बेची जाती है, उससे प्राप्त पैसेकी क्या व्यवस्था की जाती है? यह खादी यदि गरीबोंको बुनाई आदिका और अन्य खर्च जोड़कर सस्ती कीमतमें दी जाये तो क्या बुराई है? आज जो पद्धति चल रही है उससे आपको क्या लाभ होता दिखाई देता है? मेरी इच्छा है कि आप 'नवजीवन' में इसका स्पष्टीकरण करें।

मुझे ऐसा लगता है कि इस प्रश्नका उत्तर एक बार दिया जा चुका है। अभी तो यह यज्ञका सूत इतना कम, और यद्यपि उसकी किस्म दिन-प्रतिदिन सुधरती जा रही है फिर भी वह इतना अव्यवस्थित आता है कि उससे केवल उसे लेने और रखनेका खर्च ही निकल पाता है। इसलिए सूतसे जो खादी बनती है वह सामान्य दरपर बेच दी जाती है। गरीबोंको दी जा सके उतनी खादी न तो यज्ञके सूतमें से बनती है और न दूसरे सूतसे ही बनती है। लेकिन सूतका यज्ञ गरीबोंके लिए अन्नपूर्णाका काम जरूर कर रहा है। गरीबोंके काते सूतसे जो खादी बनती है वह हालांकि मिलके कपड़ेसे प्रति गजके हिसाबसे महँगी होती है फिर भी मध्यम और धनिक वर्गके लोग उसे खरीदकर फिलहाल कातनेकी कलाको सफल बना रहे हैं। छोटे पैमानेपर चलता हुआ यह यज्ञ जब व्यापक हो जायेगा तब गरीब वर्ग लगभग मुफ्त खादी पहनेगा और मध्यम तथा धनिक-वर्ग सस्ती पहनेगा। इस समय तो चरखा संघको मिलनेवाले सूतसे मात्र भावनाका पोषण हो रहा है, उसमें वृद्धि होनेपर अर्थका पोषण भी होगा। यदि चरखा संघमें सदस्य न हों, और उनके लिए कातनेकी शर्त न हो तो इस समय जो लोग खादी-कार्य कर रहे हैं, वे भी उसे न करें। इसलिए यद्यपि चरखा संघको मिलनेवाले सूतकी खादी अभी गरीब लोग नहीं पहन पा रहे हैं फिर भी उसकी प्रवृत्तिका सारा लाभ तो उन्हें मिल ही रहा है। चरखा संघका अस्तित्व ही गरीबोंके लिए है।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, २१-११-१९२६

६५. टिप्पणियाँ

स्वर्गीय सर लल्लूभाई आशाराम

सर लल्लूराम आशारामके देहान्तसे कौन दुःखी नहीं होगा? वे गुजरातके भूषण थे। उनकी न्याय-बुद्धिके बारेमें सब एक स्वरसे स्तुति कर रहे हैं। स्वयं मुझे उनका परिचय बहुत कम था। लेकिन मैं जहाँ-जहाँ सुनता हूँ वहाँ-वहाँ मेरे कानोंमें उनके चारित्र्यकी स्तुति ही सुनाई पड़ती है। विद्वत्ता, लक्ष्मी और चारित्र्य इन तीनोंका संगम भाग्यसे ही दिखाई देता है; सर लल्लूभाईमें यह दुर्लभ संगम सिद्ध हुआ था। प्रत्येक गुजराती और प्रत्येक भारतीय उनपर गर्व कर सकता है और उनके गुणोंका अनुकरण कर सकता है। सर लल्लूभाईके कुटुम्बीजनोंको ईश्वर इस महादुःखको सहन करनेकी शक्ति और धीरज दे।

काठियावाड़में खादीकी फेरी

मैं लिख ही चुका हूँ कि अमरेली खादी कार्यालयने बड़ी मात्रामें खादी तैयार की है। मेरा मत है कि इस खादीकी खपत काठियावाड़में ही होनी चाहिए। यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि हमें खादीकी फेरी करनी पड़ती है। यदि खादीकी बिक्री घर बैठे हो जाये तो फेरी करनेवालोंकी शक्तिका व्यय और अधिक खादी तैयार करनेमें हो सकता है। खादी कोई शौककी खातिर तैयार नहीं की जाती, अपितु बेरोजगार बहनोंको धन्धा देनेकी खातिर की जाती है। इस बातको जाननेवाले काठियावाड़ियोंको काठियावाड़की खादीका उपयोग कर लेना चाहिए। इसमें भारतवर्षकी सेवा है। इसमें सच्चा अर्थशास्त्र भी है। हम सब यदि अपना-अपना बोझ उठा लें तो समस्त संसारकी सेवा उसमें ही हो जाती है। सारी दुनिया दूसरोंका बोझ उठानेके इस महाकष्टसे ही पिसी जा रही है। यदि अधिकांश धनवान गरीबोंके कन्धोंपरसे उतर जायें तो उनका बोझ कम हो जाये। लेकिन दुनियामें अमीर और गरीब तो हमेशा रहेंगे। इससे गरीबोंकी सेवा करनेका धर्म उत्पन्न होता है। हममें गरीबोंके समान बननेकी शक्ति भले ही न हो परन्तु उनके दुःखमें भाग लेनेकी शक्ति तो सबमें हो सकती है।

कातनेकी आवश्यकता इसीलिए है। यदि हम गरीबोंके काते सूतकी खादी उन्हींसे बुनवाकर पहनें तो कहा जा सकता है कि हमने उनकी उतनी सेवा की है।

अब यह सेवा हमें अपने पड़ोसीकी सेवासे शुरू करनी चाहिए। इसीलिए काठियावाड़की खादीको सबसे पहले काठियावाड़ियोंको ही खरीदना चाहिए।

लेकिन कहा जाता है कि वह तो महँगी पड़ती है, मोटी है, साफ नहीं होती और टिकाऊ नहीं है। उसमें ये सब दोष हों तो भी मेरा मत है कि उसे खरीदना चाहिए। माँकी बनाई हुई मोटी और टेढ़ी रोटी दिल्लीकी गोल, सुन्दर और सस्ती रोटीसे ज्यादा अच्छी है।

इस बातको ध्यानमें रखकर अब्बास साहब अब फिर काठियावाड़में खादीकी फेरी लगायेंगे। फेरी १९ तारीखको शुरू होगी। कार्यक्रम इस तरह है:

गोंडल	ता० १९, २०	जेतपुर	ता०	२०, २१, २२
धोराजी	„ २२, २३, २४	उपलेटा	ता०	२४, २५
राणावाव	„ २६, २७	पोरबन्दर	„	२८, २९, ३०
माणावदर, वाटवा	„ १, २, ३, ४			
माँगरोल	„ ४, ५, ६	वेरावल	„	७, ८, ९
जूनागढ़	„ १०, ११	जामनगर	„	१२, १३, १४

मुझे उम्मीद है कि इन सब स्थानोंपर लोग अब्बास साहब और उनके कार्य-कर्त्ताओंका स्वागत करेंगे और खादी खरीद लेंगे।

इतना कहना चाहता हूँ कि चार वर्ष पहले खादी जैसी थी आज वह उससे ज्यादा अच्छी, महीन, टिकाऊ और सस्ती है। समय बीतनेके साथ और प्रोत्साहन मिलनेपर वह और भी सस्ती तथा अच्छी होगी। इस स्थितिको लाना भी हमारे हाथमें ही है।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, २१-११-१९२६

६६. पत्र : सी० एफ० एन्ड्रयूजको

२२ नवम्बर, [१९२६][1]

प्रिय चार्ली,

प्रार्थना दिवसके[2] सम्बन्धमें तुम्हारा तार अभी-अभी मुझे मिला है। मैं इस तारको सरोजिनीके पास भेज रहा हूँ और 'यंग इंडिया' में उसके समर्थनमें एक जोरदार अग्रलेख[3] लिख रहा हूँ। उस दिन तुम्हारी प्रार्थनामें सारा आश्रम तुम्हारा साथ देगा। मुझे उम्मीद है कि उस दिन मैं वर्धामें होऊँगा। यद्यपि मेरा शरीर विनोबा और जमनालालजीके साथ वहाँ होगा, परन्तु मेरी आत्मा उस दिन तुम्हारे साथ होगी।

शास्त्री कल यहाँ थे। हमने इतमीनानसे खूब लम्बी बातचीत की।

१. मूल पत्रमें वर्ष नहीं दिया गया है। सन्का अनुमान उपनिवेशोंमें पैदा हुए हिन्दुस्तानियोंके सम्बन्धमें २५-११-१९२६ को "टिप्पणियाँ" के अंतर्गत छपे लेखके उल्लेखसे किया गया है।

२. श्री एन्ड्रयूजका सुझाव था कि गोलमेज परिषद्के लिए जिस दिन भारत सरकारका प्रतिनिधि मण्डल दक्षिण आफ्रिका पहुँचे, उसके बाद पड़नेवाले पहले रविवारको अर्थात् १९ दिसम्बरको 'राष्ट्रीय प्रार्थना दिवस' के रूपमें मनाया जाये। इस सुझावका भारत और दक्षिण आफ्रिका — दोनों जगह स्वागत किया गया। गांधीजीका यह पत्र उसी सुझावके उत्तरमें लिखा गया था।

३. देखिए "प्रार्थनाका एक दिन", २५-११-१९२६।

स्मरण रहे कि हमारी ओरसे स्वैच्छिक या अस्वैच्छिक स्वदेश प्रत्यावर्त्तन योजनामें शरीक होने न होनेका सवाल नहीं उठता। सभी लौटे हुए प्रवासियोंकी देखभाल तो हमें करनी ही होगी। लेकिन यह काम किसी योजनाका अंग नहीं हो सकता। इस तरहका कोई समझौता देशप्रत्यावर्तनको कानूनन न सही वस्तुत: अनिवार्य बना देगा।

आशा है कि तुम्हें 'यंग इंडिया' बराबर मिल रहा होगा। लगभग हर अंकमें मैं दक्षिण आफ्रिकी मामलोंपर चर्चा करता ही हूँ। आगामी अंकमें उपनिवेशमें जन्मे भारतीयोंपर चर्चा होगी। इसमें उनसे अपील की गई है कि वे अपने लिए किसी विशिष्ट व्यवहारकी माँग न करें।

आशा है, तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक चल रहा होगा।

यहाँ चुनावोंने वातावरणको पूरी तरह विषाक्त कर दिया है।

सप्रेम,

तुम्हारा,
मोहन

अंग्रेजी पत्र (जी० एन० ९६७) की फोटो-नकलसे।

६७. पत्र : सतीशचन्द्र दासगुप्तको

२२ नवम्बर, १९२६

प्रिय सतीश बाबू,

मुझे आपके दो पत्र मिले हैं। जो कोई व्यक्ति कैप्टेन पेटावलके सम्बन्धमें आपका पत्र पढ़ेगा, वह विनोदकी कमी होनेका आपपर आरोप नहीं लगा सकता। संक्षिप्तता और चुभते हुए व्यंगकी दृष्टिसे इससे, अच्छा पत्र लिखना कठिन है।

प्रफुल्ल बाबूके बारेमें आपके पत्रसे मुझे बहुत ज्यादा दुःख हुआ है। अच्छा होता कि आपने मुझे इस अचानक परिवर्तनका कारण लिखा होता। वह अब क्या करनेवाले हैं? क्षितीश बाबूके जैसा शान्त और स्थिर उत्साहवाला व्यक्ति यदि मेरे अर्थात् आन्दोलनके अधिक करीब लाया जा सके, तो वह मेरे लिए जरूर महत्त्वपूर्ण बात होगी।

आपको किसी भी हालतमें, और किसी भी कारणसे अपनी मानसिक शान्ति नहीं खोनी चाहिए। अयोध्याकांडका वह अंश, जिसमें राम वनगमनका प्रसंग है, बार-बार पढ़िये। कष्टमें पड़े किसी व्यक्तिको प्रसन्न बनानेके लिए वह काफी है। जबतक स्वयं आपका आत्मविश्वास नहीं डिगता तबतक चाहे सारा संसार आपको त्याग दे, तो भी क्या? यदि खादीमें सच्चाई है, और उसके पुरस्कर्त्ता सच्चे हैं, तो वह कितने ही और झटके झेल जायेगी। आपको शीघ्र ही वर्धा आ जाना चाहिए और वहाँ शान्तिसे कुछ दिन बिताने चाहिए।

निश्चय ही यदि आप जरूरत समझें तो मुझे प्रफुल्ल बाबूको पत्र लिखनेको कहें।

अभय आश्रमसे यह पत्र प्रकाशनार्थ आया है। कृपया मुझे बताइए कि इसका क्या किया जाये। मैं सुरेश बाबूको सूचित कर रहा हूँ कि छापनेसे पहले मैं इसे आपके पास भेज रहा हूँ।

हेमप्रभादेवीका पत्र मधुर है।

सस्नेह,

बापू

अंग्रेजी पत्र (जी० एन० १५६४) की फोटो-नकलसे।

६८. पत्र : हेमप्रभादेवी दासगुप्तको

सोमवार [२२ नवम्बर, १९२६][1]

प्रिय भगिनि,

आपका पत्र मीला है. मुझे बहोत आनंद हुआ हमेशा लीखना चाहिये.

प्रफुल्ल बाबुके नीकल जानेका सबब तो मैं नहि जानता हुं. ऐसा तो जगतमें होता हि रहेगा. आपने ठीक लीखा है कि दुःखकी बरदास करनेसे आत्माका विकास होता है. सर्वधर्मका यही शिक्षण है.

आप सबका स्वास्थ्य अब अच्छा जानकर मुझे शांति रहती है.

बापूके आशीर्वाद

मूल पत्र (जी० एन० १६४५) की फोटो-नकलसे।

६९. पत्र : च० राजगोपालाचारीको

२२ नवम्बर, १९२६

प्रिय सी० आर०,

आपका पत्र मिला। मैंने जब "हाथबुनाई बनाम हाथकताई"पर लेख[2] लिखा था, उस समय भी मैं जानता था कि जिन लोगोंको ध्यानमें रखकर लिखा है, उनपर इसका कुछ असर नहीं होगा। लेकिन मैं यह भी समझता था कि उनके जैसे सोचने-वाले और भी बहुतसे लोग हैं। वे शायद स्थितिको समझ सकें। यदि मैं कभी वाइस-

१. तारीखका निर्णय इस पत्रमें उल्लिखित बातोंका मिलान गांधीजी द्वारा सतीशचन्द्र दासगुप्तको लिखे गये २२-११-१९२६ के पत्रके साथ करके किया गया है। देखिए पिछला शीर्षक। सोमवार २२ नवम्बरको था।

२. देखिए "करघा बनाम चरखा", ११-११-१९२६।

रायसे मिलूँ, तो मैं उनको भी इससे ज्यादा कुछ नहीं बता सकूँगा। दो पैसे रोजकी बात गलेमें अटकती है। चरखा स्वीकार करनेका अर्थ है, अपने दृष्टिकोणमें आमूल परिवर्तन करना।

छोटेलाल वहाँ आपके पास है। आशा है कि आप उसकी मन:स्थितिको निश्चित ही प्रसन्न बना सकेंगे। यदि उद्वेग और अवसादकी मन:स्थितिसे उसका उद्धार किया जा सके तो मैं उसके विवाहकी बातकी भी स्वीकृति दे दूँ। यदि आप उसे एक नया आदमी बना सकें और वह अपने अलावा दूसरोंके बारेमें भी सोचने लगे तो अपनी नव-निर्मित निकायकी अगली बैठकमें मैं आपके प्रति धन्यवादका प्रस्ताव रखूँगा।

शास्त्रीने[1] कलकी शाम हम लोगोंके साथ आनन्दसे बिताई। उन्होंने आश्रम भी देखना चाहा और हर चीजको बड़ी दिलचस्पीके साथ देखा।

पैंथिक-लॉरेंसने मुझे लिखा है कि आपके साथ उनका समय अच्छा बीता।

सस्नेह,

आपका,
बापू

[पुनश्च :]

वर्धाके बारेमें क्या सोचा है?

अंग्रेजी पत्र (एस० एन० १९७४४) की फोटो-नकलसे।

७०. पत्र : रविशंकर ग० अंजारियाको

कार्तिक वदी ५ [२३ नवम्बर, १९२६][2]

भाईश्री ५ रविशंकर अंजारिया,

आपके प्रश्नोंको पढ़ गया हूँ। विश्वास अन्धा हो तो वह आत्माका हनन ही करता है। इसके सिवा, यह ऐसा विषय नहीं है जिसमें किसीपर विश्वास रखनेकी जरूरत हो। इसलिए सब लोग अपनी-अपनी बुद्धिका उपयोग करके निर्णय करें, यही उचित माना जायेगा।

सारे आवारा कुत्ते बुरी हालतमें हैं, ऐसी कोई बात आपने मेरे लेखमें नहीं देखी होगी।

सारे कुत्ते काटनेवाले होते हैं अथवा उनके पागल होनेकी सम्भावना है, ऐसा भी मैंने कहीं नहीं कहा है।

कुत्ता जातिके विनाशका भी मैंने कहीं सुझाव नहीं दिया है।

१. वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री।

२. पत्रमें १०-१०-१९२६ और १७-१०-१९२६ को नवजीवनमें पागल कुत्तोंके बारेमें जो लेख प्रकाशित हुए थे, उनकी चर्चा की गई है। इसपर से मालूम होता है कि यह पत्र १९२६ में लिखा गया था।

उपयोगिताकी खातिर मैं कभी हिंसाका सुझाव नहीं दूंगा। मेरी दृष्टिमें जहाँ धर्म नही वहाँ उपयोगिता नही।

लेकिन जिस तरह साग-सब्जीकी हिंसाको अनिवार्य मानकर साग-सब्जीकी हिंसा करनेवाले गायकी हिंसाको रोकनेका यत्न करते हैं उसी तरह कुत्तोंकी हत्या करनेवाले भी गोहत्याको रोकनेका उद्यम निस्संकोच भावसे कर सकते हैं। कुत्तोंकी हिंसा कब अनिवार्य है, इस प्रश्नपर [प्रसंगके उपस्थित होनेपर] हर समय विचार किया जा सकता है। बकरेकी हिंसा करनेवाले हिन्दू गोवधका त्याग करते हैं न?

जो मनुष्य अपने ही सुखकी खोजमें हिंसा करता चलता है वह धर्मको जानता ही नही है।

मेरे लेखोंसे अहिंसाकी नींव उखड़ जायेगी, ऐसा भय न रखिये।

मच्छर आदिकी कृत्रिम वृद्धिको जिस तरह हम अनावश्यक मानते हैं उसी तरह कुत्तोंको पालनेकी बातको भी क्यों न मानें?

मेरा प्रयास हिंसा सिखानेका नहीं है, अपितु झूठी अहिंसाकी निन्दा करनेका है। लेकिन मैं देख रहा हूँ कि आजकी परिस्थितियोंमें, अर्थात् जब अहिंसाके नामपर घोर हिंसा चल रही है तब, लोग शुद्ध अहिंसाको एकाएक नही समझ सकते।

मेरे अभिप्रायके मूलमें शुद्ध अहिंसा निहित है, इस बारेमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। इसलिए मैं धीरज धरकर बैठा हुआ हूँ। आपको इसमें घबड़ानेकी कोई जरूरत नही है, क्योंकि मैं आपको अथवा किसी भी व्यक्तिको कुत्ते अथवा किसी भी प्राणीको मारनेके लिए प्रेरित नही करूँगा।

मोहनदासके वन्देमातरम्

डाक्टर साहेब रविशंकर गणेशजी अंजारिया
माँगरोल
काठियावाड़

गुजराती पत्र (एस० एन० १९९६८) की माइक्रोफिल्मसे।

७१. पत्र : जनकधारी प्रसादको

आश्रम
साबरमती
२४ नवम्बर, १९२६

प्रिय जनकधारी बाबू,

आपका पत्र मिला। ज्वरकी बातसे दुख हुआ; साथ ही यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप उससे नजात पा गये हैं।

'कमिंग ऑफ़ दि वर्ल्ड टीचर' सम्बन्धी साहित्य पढ़नेके लिए समय निकालनेको मेरा दिल नहीं चाहता; क्योंकि उसमें मेरा विश्वास नहीं जमेगा। अगर एक महान उपदेशक धरतीपर आता है, तो हम चाहे उसे मानें या न मानें, वह अपना प्रभाव डालेगा ही। जबतक हम ईश्वरमें विश्वास करते हैं और अपने सच्चे दिलसे उसकी पूजा करते हैं, तबतक हमारे पाँव ठोस आधारपर हैं। हमारे लिए जो भी कुछ कर्त्तव्य है, उसके लिए वह हमारा रास्ता साफ़ कर देगा।

हृदयसे आपका,

जनकधारी प्रसाद
गांधी विद्यालय
हाजीपुर

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७४६) की माइक्रोफिल्मसे।

७२. पत्र : एफ० डब्ल्यू० पॅथिक-लॉरेंसको

आश्रम
साबरमती
२४ नवम्बर, १९२६

प्रिय श्री लॉरेंस,

आपका पत्र[1] पाकर मुझे प्रसन्नता हुई। मित्रोंने सचमुच मुझे आपका और श्रीमती लॉरेंसका आश्रममें स्वागत करनेको तैयार कर दिया था और मैं आपके यहाँ आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे खेद है कि आप नहीं आ सके। यदि मैं गौहाटी

१. पॅथिक-लॉरेंसने जो अपनी पत्नीके साथ उस समय भारतका दौरा कर रहे थे, १६ नवम्बरको अदयारसे पत्र लिखते हुए उस समयकी याद दिलाई थी जब कई साल पहले गांधीजी लंदनमें उनके घर गये थे, और आशा व्यक्त की थी कि अगले महीने गौहाटी-कांग्रेसमें फिर गांधीजीसे मुलाकात होगी (एस० एन० १०८४०)।

आया तो निश्चय ही मुझे वहाँ आपसे मिलकर प्रसन्नता होगी। इस बातकी थोड़ी-सी सम्भावना है कि मैं शायद कांग्रेसके आगामी अधिवेशनमें शामिल न हो सकूँ। दिसम्बरके दूसरे सप्ताहमें मुझे यह और अच्छी तरहसे मालूम हो जायेगा।

४ से २० दिसम्बरके बीच मैं नागपुरके पास वर्धामें होऊँगा।

मुझे बेशक याद है कि लन्दनमें जब मैं दक्षिण आफ्रिकी शिष्टमण्डल लेकर गया था, उस समय मुझे आपके साथ दोपहरका भोजन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

हृदयसे आपका,

श्री एफ० डब्ल्यू० पॅथिक-लॉरेंस
द्वारा ग्रेट ईस्टर्न होटल
कलकत्ता

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७४७) की फोटो-नकलसे।

७३. पत्र : जे० डब्ल्यू० पेटावलको

आश्रम
साबरमती
२४ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। आपके लेखोंके अलावा आपकी गतिविधिके बारेमें कुछ जान सकनेके लिए मैंने कलकत्ताके एक स्नेही मित्रको आपका ठिकाना देखनेको लिखा है।[1] उनके पत्रका एक अंश संलग्न है।[2] इसलिए आप देखेंगे कि मैं अपने ही तरीकेसे आपके आन्दोलनको समझनेका प्रयत्न कर रहा हूँ। मै तो चाहूँगा कि इस चीजकी जाँच-पड़ताल आप मुझे अपने ढँगसे करने दें।

हृदयसे आपका,

श्री जे० डब्ल्यू० पेटावल
बागबाजार
कलकत्ता

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७४८) की माइक्रोफिल्मसे।

१. देखिए "पत्र : सतीशचन्द्र दासगुप्तको", १२-११-१९२६।
२. देखिए "पत्र : सतीशचन्द्र दासगुप्तको", २२-११-१९२६।

७४. पत्र: देवचन्द पारेखको

बुधवार [२४ नवम्बर, १९२६][1]

भाईश्री देवचन्दभाई,

तुम्हारा पत्र मिला।

जितने लोग आयेंगे उनके ठहरनेका प्रबन्ध यहाँ हो जायेगा। हकीम साहब, डाक्टर अन्सारी आदिके बारेमें विचार करेंगे। तुम सोमवारकी शामको आओगे, यह ठीक है।

बापू

गुजराती पत्र (जी० एन० ५७१०) की फोटो-नकलसे।

७५. टिप्पणियाँ

शास्त्रीको मानपत्र

परम माननीय श्री शास्त्री अपने निजी कामसे अहमदाबाद आये थे। इस अवसरका लाभ उठाकर अहमदाबादके लोगोंने उनको मानपत्र दिया और थैली भेंट की। ऐसा करके उन्होंने अपने आपको ही गौरवान्वित किया है। यह उल्लेखनीय बात है कि इस समारोहमें सभी दलोंके लोगोंने हिस्सा लिया। अच्छा हो कि हम लोग ऐसे अवसरोंका प्रायः लाभ उठायें और राजनीतिक अथवा धार्मिक मतभेदोंके बावजूद आपसी एकताका सबूत दें तथा विभिन्न दलोंके बीच शिष्टतापूर्ण और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धोंको बढ़ावा दें।

उपनिवेशोंमें पैदा हुए हिन्दुस्तानी

दक्षिण आफ्रिकामें पैदा हुए भारतीयोंकी तरफसे मेरे पास एक पत्र आया है, जिसमें 'उन्हें बिलकुल भूल जानेके लिए' उन्होंने मेरी खबर ली है। वे लिखते हैं:

> हमारी केवल यही इच्छा है कि आपका कमसे-कम एक सन्देश हम पा जायें। मुझे इत्मीनान है कि आप हमारी यह अन्तिम प्रार्थना अस्वीकार नहीं करेंगे।

जो प्रेम इस फटकारमें छिपा हुआ है उसकी मैं कद्र करता हूँ क्योंकि उपनिवेशोंमें पैदा हुए हिन्दुस्तानियोंसे मैं एक मजबूत डोरसे बँधा हुआ हूँ। लेकिन मेरे खयालमें उन्हें भेजने योग्य कोई खास सन्देश नहीं था। मेरे अधिकांश सन्देश तो उन

1. डाककी मुहरमें २५ नवम्बर, १९२६, तारीख दी हुई है।

तीनों साप्ताहिक पत्रों द्वारा ही दिये जाते हैं, जिन्हें मैं सम्पादित कर रहा हूँ। 'यंग इंडिया' और गुजराती तथा हिन्दी 'नवजीवन' में तो दक्षिण आफ्रिकामें बसे हुए भारतीयों तथा उनकी सन्तानोंके लिए सदा ही सन्देश आदि दिये जाते रहते हैं। हालांकि मेरे नाम आई हुई निजी चिट्ठी-पत्रियोंके जवाब मैं स्वयं लिखवाता हूँ, तो भी परिस्थितिके कारण मुझे मजबूर होकर यह करना पड़ा है कि उतने ही निजी पत्रोंके जवाब दूँ जितनोंके दे सकता हूँ, और अपने इन तीनों साप्ताहिक पत्रोंको अपने पत्र-व्यवहारका जरिया बना लूँ। ये पत्र, जैसा कि एक मित्रने एक बार ठीक ही कहा था, समाचारपत्र नहीं बल्कि मेरे विचारपत्र हैं। दक्षिण आफ्रिकावासी भारतीयोंको श्री एन्ड्रयूजके द्वारा भी मेरे सन्देश मिल चुके है, लेकिन ये मित्र (जिन्होंने भूल जानेकी शिकायत की है) चाहते हैं कि मैं परम माननीय श्रीनिवास शास्त्रीकी मारफत विशेष सन्देश भेजूँ। मैं इस अनुरोधका अभिप्राय समझता हूँ। इन भाइयोंके इस पत्रसे मुझे उन दिनोंकी याद हो आयी जब गोखले दक्षिण आफ्रिकामे थे। उपनिवेशोंमें जन्मे भारतीय गोखलेके साथ मेरे सम्बन्धको जानते हैं और उनका मुझसे यह आशा करना ठीक ही है कि अपने विचारों और भावोंको उनतक पहुँचानेके लिए मैं श्रीनिवास शास्त्रीका उपयोग करूँ। निस्सन्देह उपनिवेशोंमें पैदा हुए हिन्दुस्तानी तथा दक्षिण आफ्रिकाके अन्य मित्रगण श्रीनिवास शास्त्रीसे जितना चाहते है उतना पा लेंगे।

मैं ये पंक्तियाँ श्रीनिवास शास्त्रीसे मिलनेके पूर्व लिख रहा हूँ। हम लोग दक्षिण आफ्रिकाके पूरे सवालपर विचार करेंगे — सिर्फ इसी पहलूसे नही कि दक्षिण आफ्रिकाकी सरकार क्या-क्या कर सकती है और क्या-क्या नहीं बल्कि इस पहलूसे भी कि भारतीय लोग (जिनमें उपनिवेशोंमें पैदा हुए भारतीय भी शामिल है) क्या कर सकते हैं और क्या नहीं कर सकते। लेकिन हिन्दुस्तानियोंसे एक बात मैं खुले तौरपर कह देना चाहता हूँ कि वे अपनी इस प्रवृत्तिसे सावधान हो जायें कि हम तो उन हिन्दुस्तानियोंसे जुदा हैं जो भारतसे आकर महज बस गये है, और चूँकि हमारी पैदाइश दक्षिण आफ्रिकामें हुई है इसलिए हमको खास हकूक मिलने चाहिए। वे याद रखें कि बावजूद इसके कि वे दक्षिण आफ्रिकामें पैदा हुए है वे हिन्दुस्तानी हैं और हर सूरतसे हिन्दुस्तानी रहेंगे। इसलिए उनका फर्ज है कि वे अपने-आपको सिर्फ आकर बसे हुए हिन्दुस्तानियोंके साथ पूरे तौरसे मिला दें और जहाँतक मुमकिन हो हर तरीकेसे उनके साथ मिलजुलकर काम करें। ऐसा करनेसे वे अपनी तथा अपने देशकी सेवा करेंगे। उन्हें उस कामको याद रखना चाहिए जो कि उन्होंने १८९९ मे बोअर-युद्धमें स्ट्रेचर बेयरर्स कोर (आहत सहायता-सेवा-दल) में तथा १९०५ से १९१४ के बीच चलनेवाले सत्याग्रह आन्दोलनके दिनोंमें निःस्वार्थभावसे और बड़ी बहादुरीके साथ किया था। उस समय प्रवासी भारतीयोंसे अपनेको अलग करनेका, या केवल अपने लिए विशेष अधिकार माँगनेका किसीके मनमें खयाल भी नही था। अगर वे इस मौकेको हाथसे न जाने देंगे तो उनके सामने उज्ज्वल भविष्य है। अगर वे हिन्दुस्तानके सर्वोत्कृष्ट गुणोंका परिचय देंगे और पाश्चात्य सभ्यताके सम्पर्कमें आकर वे

उसकी उन सब अच्छी बातोंको ग्रहण कर लेंगे जिसका प्रतिनिधित्व वहाँके अच्छेसे-अच्छे अंग्रेज और अच्छेसे-अच्छे बोअर लोग करते हैं, तो वे हिन्दुस्तान और दक्षिण आफ्रिकाके बीच जीती-जागती कड़ी बन जायेंगे।

गलतबयानी

'नाइन्टीन्थ सेंचुरी ऐण्ड आफ्टर' (उन्नीसवीं सदी और उसके बाद) नामक पत्रमें मेरे विषयमें एक लेख निकला था जिसे कुछ समय पहले एक मित्रने मेरे पास भेजा था। मैंने उसे देख लिया मगर उसमें इतनी अधिक गलतबयानियाँ थी कि मैंने उसे पूरा पढ़ना बेकार समझा और उसमें दी हुई गलत बातोंका खण्डन करनेकी भी मुझे इच्छा न हुई। जो लोग उसपर विश्वास करते हैं उनपर मेरे खण्डनका कुछ असर पड़ेगा भी नहीं। लेकिन अब मुझे कानूनके एक विद्यार्थीका पत्र मिला है जिसे देखकर लगता है कि उन्हें लेखसे बहुत चोट पहुँची है और हालाँकि उन्हें उसकी बातोंमें कोई विश्वास नहीं है, फिर भी वे लेखमें कही गई दो खास बातोंके विषयमें लिखनेको कहते हैं। वे हैं:

> गांधीके अधीन किसी स्कूलमें ऊँची जातिके किसी आदमीने अपने लड़केको छोटी जातिवालोंके साथ पढ़ानेसे इनकार किया, और शिक्षकने भी, जो ऊँची जातिका था, नीची जातिके लड़कोंको पढ़ानेसे इनकार किया। गांधीके पास यह झगड़ा पहुँचा और उन्होंने ऊँची जातिवालोंकी ही बात कायम रखी। गांधीका यह कहना कि अगर उनकी चलती तो वे अछूतोंकी सहायता करते, काफी नहीं है।
>
> उस समयके अखबारोंमें छपा था कि गांधी इस समय बम्बईमें चंदा वसूल करनेमें लगे हुए हैं और फिलहाल नहीं जा सकते, इत्यादि।

ये दोनों बातें गलत हैं। जिन्हें अछूतोंके लिए किये गये मेरे कामोंका ज्ञान है, वे जानते हैं कि दोस्ती और सार्वजनिक कामोंके लिए चन्दे खोनेका खतरा उठाकर भी मैंने राष्ट्रीय संस्थाओंमें अछूतोंके प्रति हर प्रकारके भेदभावका विरोध किया है। चाँदपुरवाली बात आधी सच्ची है। यह ठीक है कि जब झगड़ा शुरू हुआ तब मैं वहाँ नहीं गया किन्तु लेखमें बताया गया कारण सरासर झूठ है। मैं सर्वव्यापी नहीं हूँ। मेरा कार्यक्षेत्र भी सीमित ही है। जो काम मेरे सामने आ जाता है, उसमें लग जाता हूँ। मैं वहीं जाता हूँ जहाँ मेरी जरूरत मानी जाती है और जहाँ मैं अपनेको कुछ करनेके योग्य समझता हूँ। जहाँ कहीं हिन्दू-मुस्लिम झगड़े होते हैं वहाँ यदि मैं दौड़ा नहीं जाता तो इसका कारण यह नहीं है कि मैं जाना नही चाहता या काममें व्यस्त रहता हूँ, बल्कि इस कारण कि मैं अपनेको असमर्थ समझता हूँ। इसी तरह जहाँ-कहीं मजदूरोंके झगड़े होते हैं, मैं वहाँ भी नहीं जाता, चाहे मुझे बुलाया ही क्यों न जाये। उस समय मैं जो काम कर रहा था, उससे और मेरे

चाँदपुर न जानेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अगर वहाँ जाना मुझे जरूरी मालूम होता तो हर कीमतपर मैं वहाँ जाता ही।

कानूनके इस विद्यार्थीसे और दूसरे लोगोंसे जिनका मुझपर अनुराग है, मैं कहूँगा कि वे मेरे विषयमें गलत खबरें देखकर घबरायें नहीं। सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओंके भाग्य-में तो यह बदा ही रहता है। गलत खबरोंसे मेरी प्रतिष्ठामें कुछ बट्टा न लगेगा। हाँ, अगर मैं कोई अनुचित काम करूँ तो धब्बा जरूर लगेगा। फिर किसी भी प्रकार-की लीपा-पोती मेरी प्रतिष्ठाको बचा नहीं सकेगी। आज मैं हर प्रकारके आक्षेपसे मुक्त हूँ, हालाँकि एक जर्मन मित्र मुझे बताते हैं कि किसी जर्मन पत्रमें मुझपर एक फिल्म कम्पनी खड़ी करनेका दोष लगाया गया है। उस नादान लेखकको पता ही नहीं कि आजतक मैं कभी सिनेमा देखने गया ही नहीं और दयालु मित्रोंके बहुत जोर देनेपर भी मैं आजतक ईश्वरका दिया हुआ समय सिनेमा देखनेमें नष्ट करनेसे इनकार करता हूँ। कहा जाता है कि इसका शिक्षाकी दृष्टिसे महत्त्व है। सम्भव है कि हो। मगर इसका बुरा असर तो मुझे रोज ही दिखाई पड़ता है। इसलिए शिक्षाके लिए मैं दूसरा ही दरवाजा झाँकता हूँ।

इंग्लैंडमें चरखा

एक सज्जनने लिखा है:

> मैं जे० एल० ग्रीनकी 'विलेज इंडस्ट्रीज' (ग्रामोद्योग) नामक पुस्तकसे लिये गये कुछ उद्धरण नीचे देता हूँ:
>
> "जहाँ-तहाँ सहायक धन्धेके रूपमें सूत कातना और कपड़ा बुनना भी फिर शुरू किया गया है। उत्साह हो तो इस दिशामें कितना काम किया जा सकता है, इसका एक अच्छा उदाहरण विले नामके सुन्दर गाँवसे मिलता है। सरेका इलाका इस गाँवके कारण प्रसिद्ध है। कुछ साल पहले इस गाँवकी मार्गरेट लीय नामक एक तरुणीने अपने बागमें स्थित एक बड़े आरामदेह कमरेमें कताई और बुनाईकी शिक्षा देनेके खयालसे एक साप्ताहिक कक्षा आरम्भ की थी। और उसके अपने इस उदाहरणसे और उसकी कार्यशक्तिके परिणामस्वरूप अब लगभग समूचे गाँवको इस कार्यमें दिलचस्पी पैदा हो गई है।"
>
> "तीसरा उदाहरण विंटरस्लोके कताई और बुनाई उद्योगका है। वहाँ अनेक स्त्री-पुरुष अपने-अपने घरोंमें और एक छप्परदार बुनाई घरमें काम करते हैं।"
>
> यदि चरखा इंग्लैंडमें अनुपयुक्त नहीं हुआ है तो भारतमें उसके अनुपयुक्त होनेकी कितनी कम गुंजाइश है?

इस उद्धरणसे (इन पृष्ठोंमें प्रायः उद्धृत) उन फुटकर वचनोंका महत्त्व प्रकट होता है जिन्हें कोयम्बटूरवासी श्रीयुत बालाजी राव बड़ी मेहनतसे इस जीवनदायी उद्योगकी व्यापक उपयोगिता बतानेके लिए इकट्ठा करते रहते हैं।

खद्दर और मद्रास सरकार

श्रीयुत सी० वी० रंगम चेट्टीने मद्रास सरकारको निम्न लिखित पत्र भेजा है:

> मैं नम्रतापूर्वक आपके ध्यानमें यह बात लाना चाहता हूँ कि जब हमारे फेरीवाले हाथ-कते सूतकी हाथबुनी खादी लेकर सरकारी नौकरोंके पास जाते हैं तो उनमें से कुछ लोग उसको खरीदते हुए बुरी तरह डरते हैं। उनका खयाल है कि उन्हें इन कपड़ोंको नहीं खरीदना चाहिए। आप जानते हैं कि बम्बई सरकारने लोगोंसे खुला अनुरोध किया है कि वे भारतीय उद्योगोंको प्रोत्साहन दें। पिछली गर्मीमें मेरे फेरियोंने ऊटीमें ८०० रुपयेकी खादी बेची थी। ज्यादातर खरीदार सरकारी नौकर हैं। मेरी प्रार्थना है कि आप कृपा करके मुझे यह बतायें कि सरकारी नौकरोंको हाथ-कते सूतकी हाथ-बुनी खादी खरीदनेकी इजाजत है या नहीं और इस बारेमें उन्हें मद्रास सरकारसे डरनेकी जरूरत तो नहीं है।

उनको मद्रास सरकारकी ओरसे इसका निम्न उत्तर मिला है:

> अखिल भारतीय चरखा संघकी 'आन्ध्र शाखा' के अवैतनिक व्यवस्थापकको सूचित किया जाता है कि सरकारके पास यह माननेका कोई कारण नहीं है कि उनके किसी कर्मचारीको ऐसा कोई भय या खयाल है जैसा बताया गया है।

मैं दोनों पक्षोंको बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि यदि कोई ऐसे सरकारी नौकर हों जो सरकारके भयसे खादी खरीदनेसे इनकार करते हों तो वे अपने भयका और विदेशी कपड़ोंका त्याग कर देंगे।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २५-११-१९२६

७६. प्रार्थनाका एक दिन

श्री सी० एफ० एन्ड्रयूजने मेरे पास निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तार भेजा है:

> कार्यकारिणी द्वारा आगामी १९ दिसम्बरको, यानी जिस दिन सम्मेलन शुरू होगा, उस दिनको प्रार्थना दिवसके रूपमें मनाना निश्चित। इसमें पादरी लोग सहयोग कर रहे हैं। अच्छेसे-अच्छे यूरोपीय लोगोंसे सलाह करनेपर मालूम होता है कि शायद लोग इसे खूब पसन्द करेंगे। सरोजिनी देवीको सूचित करें।

श्री एन्ड्रयूज एक अत्यन्त धार्मिक वृत्तिके पुरुष हैं और इसलिए प्रार्थनामें उन्हें श्रद्धा है। प्रार्थना ही उनकी राजनीतिका नियमन करती है, उसे खुशरंग करती है और ऊपर उठाती है। उनके लिए प्रार्थना कोई थोथी दलील नहीं है। उनके लिए प्रार्थनाका अर्थ है, परमेश्वरके साथ घनिष्ठ और निरन्तर सम्बन्ध बनाए रखना और

अपने छोटे-बड़े सभी दैनिक कार्योंके मार्ग-दर्शनमें उसकी सहायता माँगना। परमात्माके नामपर किया गया — उसको समर्पित — कोई काम छोटा नहीं होता। इस प्रकार किये गये सभी कार्योंका महत्त्व एक समान होता है। भगवान्‌की सेवामें झाड़ू लगानेवाला भंगी और अपनेको केवल रक्षक-भर मानकर भगवान्‌को भेंट चढ़ानेवाला राजा, दोनों ही एक समान पुण्य करते हैं। हम अपूर्ण जीवोंके विपरीत, वहाँ उसके दरबारमें तो कामके बजाय कामके उद्देश्यसे ही महत्त्व निश्चित होता है। हम लोग तो कामके आधारपर उद्देश्यका अनुमान लगाते हैं। लेकिन परमात्मा काम और उसके उद्देश्य दोनोंको जानते हुए, उद्देश्यकी कसौटीपर कामकी परख करता है।

और चूँकि एन्ड्रयूजके उद्देश्य अत्यन्त पवित्र हैं, इसलिए उनका विश्वास है कि ईश्वर उन्हें अवश्य सफलता देंगे। उनके पास ऐसा विश्वास रखनेका पूरा-पूरा कारण भी है। जहाँ अबतक दूसरे असफल होते रहे हैं उन्हें वहाँ भी सफलता मिली है, एन्ड्रयूजकी कितनी ही सेवाएँ तो अज्ञात हैं; और किसीको उन सेवाओंके इतिहासका पता नहीं है। उनकी जिन सेवाओंसे लोग परिचित हैं, वे उनकी सार्वजनिक महत्त्वकी या फलदायी सेवाएँ नही हैं; हालकी घटनाओंकी बात छोड़ दें तो भी। यह कौन जानता है कि लॉर्ड हार्डिंगके बहुतसे हितकारी निर्णयोंमें एन्ड्रयूजका कितना हाथ रहा था? उनके बारेमें यह सच ही है कि उनके दाहिने हाथका काम उनके बाँये हाथको भी मालूम नहीं हो पाता।

इस भले आदमीने दक्षिण आफ्रिकाके मामलेमें अपना तन-मन लगा रखा है। पहले-पहल उन्हें काममें स्वर्गीय गोखलेने लगाया था। वे इसके विषयमें गूढ चिन्तन करते हैं और हृदयसे प्रार्थना करते हैं। इस तारके लिए, जिसे मैंने ऊपर प्रकाशित किया है, उन्होंने मुझे पहलेसे ही पत्र लिखकर तैयार कर रखा था। उनके संसर्गसे भारतीयोंमें भी प्रार्थनामें विश्वासका भाव फैल गया है। मैं उन सभी लोगोंको जानता हूँ; किन्तु यह मानना ही होगा कि उनमें बहुतोंने उनकी सलाहको एक रस्मके तौरपर, या उनको खुश करनेके लिए या उससे राजनीतिक लाभ उठानेके लिए स्वीकार किया है। मगर मैं यह भी जानता हूँ कि उनमें कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्होंने सच्चे दिलसे उनकी बात स्वीकार की है। इन थोड़े लोगोंकी सच्ची श्रद्धा ही बहुत लोगोंकी अश्रद्धा या उदासीनताको आच्छादित कर लेगी।

अपनी समझके अनुसार दक्षिण आफ्रिकाके डच लोग भी धार्मिक लोग हैं। इसी कारण दक्षिण आफ्रिकामें अकाल पड़ने या टिड्डियोंके दल आनेपर सरकारकी ओरसे प्रभुके सामने विनय और प्रार्थनाके लिए दिन निश्चित किये जाते हैं। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नही है कि एन्ड्रयूजको एक ऐसे कामके लिए जो उनके मस्तिष्कमें नही बल्कि हृदयमें प्रतिष्ठित है, वहाँके अच्छेसे-अच्छे यूरोपीय सज्जनोंकी सहानुभूति प्राप्त हुई है। मगर उन्हें अल्पमें सन्तोष नही होता। वे भारत और भारतकी सार्वजनिक संस्थाओंकी पर्याप्त सहायता चाहते हैं। वे हमसे प्रस्ताव पास करनेको नहीं कहते, पैसोंके लिए हाथ नहीं पसारते, वे तो हमारे दिल पिघलाना चाहते हैं। अगर हम इसपर राजी हों तो वे चाहते हैं कि हम भगवानपर भरोसा करें, और उससे सहायता माँगें।

एन्ड्रयूज अंग्रेज होते हुए भी भारतीय बन गये हैं। वे शासन करना चाहते हैं किन्तु ताकतसे नहीं, प्रेमसे। और प्रेम हमेशा प्रेमीका अपने प्रियके साथ तादात्म्य स्थापित करता है। उनका विश्वास है कि दक्षिण आफ्रिकामें यूरोपीयोंकी प्रतिष्ठा खतरेमें है। दक्षिण आफ्रिकामें लोगोंने इतने कष्ट सहे हैं कि एन्ड्रयूजको विश्वास है कि एशियावासियों और सभी काले तथा गोरे लोगोंके सम्बन्धोंका भविष्य बहुत-कुछ इसी सम्मेलनपर निर्भर है, जिसे करानेका ज्यादातर श्रेय उन्हींको है। इन प्रार्थनाओंके द्वारा वे भगवान्‌का आशीर्वाद चाहते हैं और उस आशीर्वादको माँगनेमें हमारा भी सहयोग चाहते हैं। अब कोई यह न पूछे कि प्रार्थना क्या है, ईश्वर कौन है और कहाँ है? प्रार्थना और ईश्वरमें विश्वास, ये केवल श्रद्धाकी बातें हैं। इसलिए जिन लोगोंमें वह श्रद्धा हो, वे इस अंग्रेज-भारतीय सज्जनकी अपीलपर ध्यान दें।

अपनी असमर्थताको खूब समझ लेने और सब-कुछ छोड़कर ईश्वरपर भरोसा करनेकी भावना ही प्रार्थनाके रूपमें फलित होती है। अपनी असमर्थताको हम जानते जरूर हैं। अपनी रवानगीसे पहले परम आदरणीय श्रीनिवास शास्त्रीने कहा कि भारतीयोंकी जिस स्थितिकी रक्षाके ध्येयको लेकर मैं दक्षिण आफ्रिका जा रहा हूँ, वह बहुत संकटपूर्ण स्थिति है। इसलिए, अगर हमें ईश्वरमें विश्वास हो तो हम १९ दिसम्बरको प्रार्थना करें। अगर चाहें तो सभी हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी और दूसरे लोग इस प्रार्थनामें शरीक हो सकते हैं। ईश्वरको चाहे हम हजार अलग-अलग नामोंसे पुकारें किन्तु वह परमात्मा हम सबके लिए समान और एक ही है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २५-११-१९२६

७७. अनोखे विचार[1]

यह एक संयुक्त वक्तव्य है जिसे एक बोर्ड हाई स्कूलके शिक्षकोंने तैयार किया है। इसलिए यह लेख एक हदतक प्रातिनिधिक और जिम्मेदाराना है। अगर इसमें यह विशेषता न होती तो मैं इसे न छापता। अस्पृश्यता आन्दोलन तथा अन्य सामाजिक और धार्मिक सुधारोंके लिए चलनेवाले आन्दोलनोंके फलस्वरूप अब यह प्रकाशमें आ रहा है कि पढ़े-लिखे लोगोंके भी कैसे-कैसे भोंड़े और हल्के विचार होते हैं। शिक्षकों द्वारा भद्दे अन्धविश्वासोंके इस समर्थनसे सिद्ध होता है कि यदि हम किसी बातको ठीक मानते हों तो फिर उसके समर्थनमें तर्क भी मिल जाते हैं। इसलिए किसी भी बड़े आन्दोलनमें तर्कोंका स्थान बहुत मामूली होता है। इसमें तो सिर्फ सुधारका

१. वह संयुक्त वक्तव्य जिसमें ये विचार प्रकट किये गये थे, यहाँ नहीं दिया जा रहा है। इसमें शिक्षकोंने गांधीजीके अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलनकी बुद्धिमत्तामें सन्देह व्यक्त किया था। उन्होंने सुझाव दिया था कि गांधीजी स्वयं ऋषियोंकी तरह योग-साधना करें और अपने कुछ अनुयायियोंको गाँवोंमें काम करनेके लिए भेजें।

उदाहरण ही वास्तविक चीज है। कोई सिद्धान्त गलतफहमी, निन्दा और दण्ड, यहाँ तक कि मृत्युके सामने भी टिके रहकर शक्ति हासिल कर लेनेपर ही फैलता है। अस्पृश्यता और दूसरी बातोंके बारेमें भी यही बात सिद्ध होगी। लेकिन आइए, हम जरा इन शिक्षकोंकी दलीलोंपर भी विचार करें।

पहली बात तो यह कि उन्होंने बहुत ही बेढंगी उपमा ढूँढ़ी है। मुझे नहीं मालूम, कौन लोग मुझे छूते या मेरे पास आते डरते हैं। बल्कि जब कभी मैं दौरेपर निकलता हूँ, तब मेरा स्पर्श करनेके लिए लालायित भीड़के कारण मुझे परेशानी होती है। मुझे तो वे स्नान करते समयतक भी एकान्त नहीं देते।

दूसरे, अगर हमारे अछूत देशवासी, ऊँची जातिवालोंको छूनेसे डरते हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि ऊँची जातिवाले कुछ अधिक शुद्ध हैं, बल्कि यह है कि उन्हें सिखाया गया है कि वे ऊँची जातिवालोंको न छुएँ; और वे जानते हैं कि छूनेकी कोशिश करनेसे गाली या मार खानी पड़ेगी।

तीसरे, चारित्र्यके सम्बन्धमें अकारण ही अछूतोंको निम्न कोटिका मान लिया गया है। यदि उनके सारे समाजको लेकर देखा जाये तो हम देखेंगे कि अनुकूल परिस्थितियोंमें उन्होंने वैसी ही सच्चाई, शुद्धता और दूसरे सार्वजनिक या व्यक्तिगत गुणोंका प्रदर्शन किया है जैसा कि अन्य किसी समाजने।

ऐसा कहना कि अछूतोंको तथाकथित ऊँची जातिवालोंके बराबर पहुँचनेके लिए कई जन्म लेने पड़ेंगे, पुनर्जन्मके सिद्धान्तका दुरुपयोग करना है। 'गीता' हमें सिखलाती है कि किसी विद्वान् पण्डितके समान ही एक अछूतके लिए भी इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त कर लेना सम्भव है। ऊँची जातिवाले अगर सचमुचमें ही ऊँचे हैं तो उन्हें अछूतोंसे मिलने-जुलनेमें डरनेका कोई कारण नहीं है। ऐसा करनेसे ऊँची जातिवालोंका तो कुछ बिगड़ेगा ही नहीं, साथ ही अछूतोंको उनके साथ मिलने-जुलनेसे बड़ा लाभ पहुँचेगा। किन्तु यह उसी हालतमें सम्भव है, जब वे सेवाका भाव लेकर अछूतोंसे मिलें, न कि महज मिलने-जुलनेके लिए; क्योंकि [साधारण] मेल-जोलमें तो गुण और दुर्गुण दोनोंका परस्पर आदान-प्रदान होता है। अगर मैं सुधारक बनकर शराबखानेमें इस नीयतसे जाता हूँ कि शराबीकी बुरी आदत उससे छुड़ाऊँ, तो मैं वहाँ जाकर अपवित्र नहीं हो जाता; किन्तु यदि मैं सिर्फ किसी दोस्तका साथ देनेके लिए, और मित्रके आग्रह अथवा शराबखानेके प्रलोभनोंसे बचनेका दृढ़ निश्चय किये बिना शराबखानेमें जाऊँ तो जरूर ही अपवित्र हो जाऊँगा।

शिक्षकोंने चारित्र्यपर आहारके प्रभावकी जो दलील दी है, वह भी अनोखी ही है। चूँकि मैं खुद भोजनमें सुधारके प्रयोग करता रहता हूँ, इसलिए बहुतसे मित्र, भोजन विषयक सुधार और उसे सादासे-सादा बनानेके मेरे उत्साहके कारण मुझे आधा पागल समझते हैं। मगर मेरी समझमें ये शिक्षक भी भोजन और चरित्रपर पड़नेवाले उसके प्रभावपर जरूरतसे ज्यादा जोर दे रहे हैं। अगर ऐसे कार्यकर्त्ताके मिलनेतक, जो किसी प्रकारका मीठा-खट्टा न खाते हों और भोजन सम्बन्धी किसी पक्के नियमका पालन करते हों, सारे सार्वजनिक काम बन्द रखे जायें, तब तो फिर

कोई सार्वजनिक काम होगा ही नहीं। कार्यकर्त्ताओंको सादे, कम दामके, और अनुत्तेजक आहारके लाभ ही बतलाये जा सकते हैं। मगर जबतक यह सुधार हो नहीं लेता तबतकके लिए सारे सार्वजनिक काम बन्द रखनेका साहस कोई नहीं कर सकता। सच्चे धार्मिक भावके विकल्पमें धर्म और चरित्रको आहारकी कसौटीपर परखनेकी हमारी आदतसे बड़ी बाधा पहुँचती है। ये सुयोग्य शिक्षक तो उस विवाह सुधारको भी, जिसे बहुत दिन पहले ही शुरू हो जाना चाहिए था, तबतक स्थगित रखना चाहेंगे जब तक लोग उनका बताया सात्विक आहार शुरू न कर दें। इस 'सात्विक आहार' शब्दका कुछ भी अर्थ क्यों न हो, मगर आत्मसंयम और आहारमें बड़ा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है, इसमें कोई शक नहीं। किन्तु इसके साथ इस बातके भी बहुतसे उदाहरण हैं कि साधारण ढंगका भोजन करते रहनेवाले लोग भी आत्मसंयम बरतते रहते हैं। जो लोग आत्मसंयमके अभ्यासी हैं वे आत्मसंयम पैदा करनेकी दृष्टिसे आहारसंयमका महत्त्व स्वयं समझ लेते हैं। इसलिए और दूसरे सुधारोंके लिए आहारमें सुधार करनेको परमावश्यक शर्त बनाना गलत होगा।

बालविवाहकी क्रूर प्रथाको हटानेके सम्बन्धमें इन शिक्षकोंको याद रखना चाहिए कि ऐसे भी लोग हैं, सादासे-सादा आहार करनेपर भी जिनके लिए अपनी वासनाओंका दमन करना बहुत कठिन होता है। सब करने और कहनेके बाद भी मन तो मन ही है। वह स्वर्गको भी नरक और नरकको स्वर्ग बना सकता है। इसके अलावा, स्त्रियोंके पावित्र्यके विषयमें इस तरहकी विकृत चिन्ताकी जरूरत ही क्या है? पुरुषोंको सच्चरित्र बनानेके लिए स्त्रियों द्वारा चिन्ता किये जानेकी बात तो कभी नहीं सुनी गयी। तब पुरुष ही क्यों स्त्रियोंकी पवित्रताका ठेका देनेका दुःसाहस करें? पवित्रता बाहरसे तो लादी नहीं जा सकती। यह तो आन्तरिक विकासकी वस्तु है, और इसलिए यह हर व्यक्तिके अपने ही प्रयासपर निर्भर है।

जहाँतक योग और अहिंसाके अभ्यासका सम्बन्ध है, यौगिक क्रियाएँ और अहिंसा व्रत करनेवाले अभ्यासियोंकी ओरसे शिक्षकों द्वारा किये गये दावेका मैं समर्थन नहीं कर सकता। बड़ेसे-बड़े योग-सिद्ध पुरुष भी प्रकृतिके अचल-अटल नियमोंके विरुद्ध नहीं जा सकते। वे भी प्रकृतिके नियमोंसे वैसे ही जकड़े हुए हैं जैसे हम सब। अपने ही नियमोंमें परिवर्तन करनेका अधिकार स्वयं परमात्माने भी अपने पास नहीं रखा है; उसे परिवर्तन करनेकी कोई जरूरत भी नहीं है। वह सर्व-शक्तिमान् है, सर्वज्ञ है। वह एक ही समय और अनायास ही भूत, भविष्य और वर्तमानका भेद जानता है। इसलिए उसे न कुछ फिरसे विचार करना है, न दुहराना है, न बदलना है, न सुधारना है।

निस्सन्देह अहिंसक योगाभ्यासी अपने अन्दर कुछ शक्तियाँ पैदा कर लेते हैं, मगर वे सब होती हैं प्राकृतिक नियमोंके भीतर ही। मैं कोई योगाभ्यास नहीं करता, क्योंकि एक तो मुझे उसके बिना ही आन्तरिक शान्ति प्राप्त है (हो सकता है, मेरा अपनी वर्तमान स्थितिसे ही सन्तोष करना गलत हो), और दूसरे मुझे ऐसा कोई आदमी नहीं मिला जिसपर मैं पूरा-पूरा विश्वास कर सकूँ और वह मुझे उपयक्त यौगिक क्रियाएँ सिखला सके।

जहाँतक गाँवोंमें जाकर काम करनेका सवाल है, मेरे कई सहकर्मी गाँवोंमें पहले ही से काम कर रहे हैं। मगर मैं कबूल करता हूँ कि यह मुश्किल काम है। मैं यह भी मानता हूँ कि केवल इच्छा करनेसे ही हरएकके लिए गाँवोंमें जाकर बस जाना सम्भव नहीं है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २५-११-१९२६

७८. तमिलनाडमें खादीकार्य

नीचे तमिलनाडके खादी कार्यका साल-भरका विवरण दिया जा रहा है:[1] विवरण सावधानीके साथ लिखा गया है। आशा है पाठकगण इसे रुचि पूर्वक पढ़ेंगे। इससे पता चलता है कि वहाँ खादीके सभी विभागोंमें, धीमी गतिसे ही सही, उन्नति निश्चित रूपसे हो रही है। खादीके दाम २५ प्रतिशत घटे हैं, यह एक बड़ी उपलब्धि है; किन्तु दामोंमें यह कमी कुछ हदतक कपासके भाव गिर जानेके कारण हुई है। खादीकी किस्ममें भी काफी सुधार हुआ है। खपतसे सम्बन्धित एक खूबी यह है कि जितनी खादी तैयार होती है उसका तीन-चौथाई हिस्सा वहींका-वहीं बिक जाता है। शुरू-शुरूमें यह बात नहीं थी। इस शुभ परिणामका मुख्य कारण खादीकी फेरी-योजना ही है। इस रिपोर्टमें सरकारके उस अज्ञानपूर्ण और असाधारण प्रस्तावकी ओर भी ध्यान खींचा गया है जिसके द्वारा उन स्कूलोंमें चरखा चलानेकी मनाही की गई है जहाँ कताईके साथ ही बुनाईकी शिक्षा भी न दी जाती हो। इससे कताई-शिक्षा लागू करना लगभग असम्भव ही हो जाता है। इस प्रस्तावको रखनेवालेके अज्ञानकी तुलना उस प्रख्यात अर्थशास्त्रीसे की जा सकती है जो मानता है कि उसने हाथकताईको नेस्तनाबूद कर दिया है, मगर जो बराबर हाथबुनाईको ही हाथकताई समझता आ रहा है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया २५-११-१९२६

१. विवरण यहाँ नहीं दिया जा रहा है। इसमें अक्तूबर, १९२५ से सितम्बर, १९२६ तक तमिलनाडके १३ जिलोंमें ६४ खादी संगठनों द्वारा किये गये कार्यका ब्योरा दिया गया था।

७९. पत्र : सी० विजयराघवाचारीको

आश्रम
साबरमती
२५ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र[1] मिला। क्योंकि मैं नहीं समझता था कि मैं कुछ कर भी सकूँगा या नहीं, अतः क्या मैंने अपने पहले पत्रमें यह नहीं लिखा था कि इस वर्ष कांग्रेसमें मेरा शरीक होना निश्चित नहीं है? फिर भी यदि मेरी अनुपस्थितिका गलत अर्थ निकाले जानेकी जरा भी सम्भावना हुई तो मैं निश्चय ही वहाँ जाना नहीं टालूँगा। लेकिन जब चुनावका यह दूषित जोशोखरोश ठंडा हो जायेगा, तब मैं मित्रोंसे सलाह लूँगा।

हिन्दू-मुस्लिम एकताके बारेमें मेरा रुख अपरिवर्तनशील है। मैं तनिक-सी भी सौदेबाजीके बिना, एकता कायम कराना चाहता हूँ और इसके लिए मैं जो कोशिश सम्भव होगी करूँगा।

हृदयसे आपका,

श्रीयुत सी० विजयराघवाचारी
आराम, सेलम
द० भारत

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १२०८७) की फोटो-नकलसे।

८०. पत्र : एल० आर० पांगारकरको

आश्रम
साबरमती
२५ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। मैं दिलसे उसकी कद्र करता हूँ। मैं आपको इसका कुछ अन्दाज नहीं दे सकता कि मैं उन सभी तरहके विषयोंपर जो मेरे पास भेजे जाते हैं, लिखना या कहना कितना टालता हूँ। लेकिन कुछ मामलोंमें पूछे गये प्रश्नोंपर

१. अपने १७ नवम्बरके पत्रमें विजयराघवाचारीने गांधीजीकी तुलना चंदनसे की थी "जो कुचलनेवाले हाथको सुगंधित करता है और आहिस्तेसे छूनेवाले हाथको सुगंध नहीं देता" और आशा व्यक्त की थी कि गौहाटी कांग्रेस अधिवेशनमें गांधीजी हिन्दू-मुस्लिम एकताकी समस्या हल करेंगे (एस० एन० १२०८३)।

बोलना या लिखना टाल सकना असम्भव हो जाता है; चाहे उसमें लोकप्रियता और उससे भी ज्यादा कुछ गँवा देनेकी जोखिम ही क्यों न हो। आप जो-कुछ महसूस करते हैं, जब उसे कहना प्रसंगानुकूल हो और फिर भी यदि आप उसे न कहें तो आप असत्यके दोषी हैं। प्रसंगानुकूल सत्यको कहनेके बजाय उसे दबाकर मैं अपने जीवनकी पूरी राह ही बदल दूं, यह नहीं हो सकता।

हृदयसे आपका,

श्री एल० आर० पांगारकर
नासिक सिटी

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७४९) की माइक्रोफिल्मसे।

८१. पत्र : रेवाशंकर ज० मेहताको

गुरुवार [२५ नवम्बर, १९२६][1]

आदरणीय रेवाशंकर भाई,

आपका पत्र मिला। [रामचन्द्रके] कोसके[2] बारेमें समझ गया हूँ। मुझे लगता है कि चि० धीरूकी खुराकपर निगरानी रहनी चाहिए।

मैं यहाँसे २७ तारीखको वर्धाके लिए रवाना होऊँगा। चि० रतिलालने[3] किसी हीरेके व्यापारीको हीरा भेजनेके लिए लिखा था; वह पोस्टकार्ड मेरे हाथ पड़ गया। उसे कुछ भान नहीं रहता। मैंने उससे बात की तो उसने स्वीकार कर लिया। धोराजीसे दोनों वापस आ गये हैं।

मोहनदासके प्रणाम

श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवन मेहता
रोजडेल
देवलाली

गुजराती पत्र (जी० एन० १२६५) की फोटो-नकलसे।

१. डाककी मुहरसे।
२. देखिए खण्ड ३१, पृष्ठ ५६१-६३।
३. डा० प्राणजीवनदास मेहताके पुत्र।

८२. एक पत्र[1]

आश्रम
बृहस्पतिवार, २५ नवम्बर, १९२६

भाईश्री,

आपका पत्र मिला। खेतीके महत्त्वके बारेमें मेरे मनमें तनिक भी शंका नहीं है, लेकिन उसकी उन्नतिके लिए मैं चरखेसे अलग किसी और उपायको नहीं जानता।

मोहनदास गांधीके वन्देमातरम्

गुजराती पत्र (एस० एन० १९९६९) की माइक्रोफिल्मसे।

८३. पत्र : घनश्यामदास बिड़लाको

कार्तिक कृष्ण ६, १९८३ [२५ नवम्बर, १९२६]

भाईश्री ५ घनश्यामदासजी,

आपका तार मीला है। कहते हुए मुझे खेद होता है कि मेरा अगला पत्र आपको पू० मालवीयजीके पतेपर भेजा गया था। उसमें इतना था। मेरी राय आपके इस कारण यूरोप जानेके विरोधमें है। यदि जाना आवश्यक है तो स्वतंत्र जाना चाहिये। ऐसे खतोंकी नकल नहीं रहती है। परंतु मतलब यही थी। यदि आपने जानेका वायदा कीया था तो बात बदल जाती है। और जानेका आपका धर्म हो जाता है।

आपका,
मोहनदास गांधी

मूल पत्र (सी० डब्ल्यू० ६१३९) से।
सौजन्य : घनश्यामदास बिड़ला

१. पत्र जिसे लिखा गया था, उसका नाम ज्ञात नहीं है।

८४. पत्र : लीलावतीको

कार्तिक कृष्ण ६, १९८३ [२५ नवम्बर, १९२६]

चि० लीलावती,

राम नामसे बड़के कोई अच्छा मंत्र नहि है। चर्खासे बड़कर कोई अच्छा यज्ञ इस युगमें इस देशमें नहि है।

मोहनदास

मूल पत्र (जी० एन० ६२७७) की फोटो-नकलसे।

८५. तार : खगरिया कांग्रेस कमेटीके अध्यक्षको[1]

[साबरमती
२६ नवम्बर, १९२६ या उसके पश्चात्]

चुनावोंमें दखल नहीं दे रहा हूँ। सारी जिम्मेदारी स्वराज्यवादियोंको सौंप दी है।

गांधी

अंग्रेजी मसविदे (सी० डब्ल्यू० ४९६४) से।

सौजन्य : परशुराम मेहरोत्रा

१. यह तार २६ नवम्बर, १९२६ को साबरमतीमें प्राप्त हुए तारके जवाबमें भेजा गया था। अध्यक्ष महोदयने अपने तारमें गांधीजीसे कहा था कि यहाँ आपके कहे जानेवाले इस आशयके तारकी छपी प्रतियाँ प्रकाशित की गई हैं कि कांग्रेसियोंको अपना मत देना गुनाह है। कौंसिलके मतदाता इससे उलझनमें पड़े हुए हैं।

८६. 'गीता-शिक्षण'[1]

[१]

प्रस्तावना

बुधवार, २४ फरवरी, १९२६

पण्डितजीने[2] जो श्लोक[3] सुनाया वह गीता-अभ्यासकी कुंजी है। इसमें प्रार्थना है, और एक हठ भी है। कहा गया है कि "तू विष्णु हो, त्रिपुरारि शिव हो, चाहे जो हो, यदि तू राग-द्वेषसे मुक्त है तो तुझे मेरा नमस्कार है।"

'महाभारत' कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, धर्म-ग्रन्थ है। किसी भी घटनाका वर्णन कौन कर सकता है? अपने द्वारा देखी हुई पानीकी एक बूंदका हूबहू वर्णन करनेकी सामर्थ्य भी आदमीमें नहीं है। भगवानने उसे ऐसा ही लाचार बनाया है; ऐसी अवस्थामें घटित घटनाका पूरा वर्णन तो कौन कर सकता है। तिसपर इस युद्धमें लड़नेवाले व्यक्ति थे एक ओर धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारसे उत्पन्न पाँच पुत्र और दूसरी ओर एक ही समयमें उत्पन्न सौ भाई। क्या किसीने ऐसी सम्भावनाकी कल्पना भी की है? दुर्योधन अधर्मके रथपर बैठा हुआ था और अर्जुन धर्मके रथपर। इसलिए यह धर्म और अधर्मके बीचका युद्ध है। संजय एक भक्तहृदय व्यक्ति है। युद्ध दूरीपर हो रहा है और उसमें उसे देखनेकी शक्ति नहीं है, इसलिए व्यासने दिव्य चक्षु देकर उसे युद्धको देखनेकी शक्ति दी। परन्तु इसका क्या अर्थ है? इसका यही अर्थ है कि जो युद्ध हमारे शरीर-स्थित अनेक कौरवों और पाँच पाण्डवोंके बीच चल रहा है, यह वर्णन उसीका है। हमारे ही अनेक गुणों और अवगुणोंने साकार रूप धारण कर लिया है और युद्ध उन्हीं गुणों और अवगुणोंके बीच हो रहा है। हिंसा-अहिंसाके प्रश्नको हम दूर ही रखें, इस द्वन्द्वमें व्यक्तिका कर्त्तव्य क्या है, यह बतानेके लिए यह धर्म-ग्रन्थ लिखा गया है।

१. श्रीमद्भगवद्गीतापर सत्याग्रह-आश्रम, अहमदाबादकी प्रातःकालकी प्रार्थनाके समय गांधीजीने २४-२-१९२६ से २७-११-१९२६ तक प्रवचन दिये थे। ये प्रवचन महादेवभाई देसाई और एक अन्य आश्रमवासी पुंजाभाई द्वारा लिये गये नोटोंके आधारपर नरहरिभाई परीख द्वारा सम्पादित किये गये और **गांधीजीनुं गीताशिक्षण** नामसे १९५५ में प्रकाशित हुए थे।

२. नारायण मोरेश्वर खरे; आश्रमके संगीत-शिक्षक।

३. विष्णुर्वा त्रिपुरान्तको भवतु वा ब्रह्मा सुरेन्द्रोऽथवा
भानुर्वा शशलक्षणोऽथ भगवान् बुद्धोऽथ सिद्धोऽथवा।
रागद्वेषविषार्तिमोहरहितः सत्त्वानुकम्पोद्यतो
यः सर्वैः सह संस्कृतो गुणगणैस्तस्मै नमः सर्वदा॥

[२][1]

अध्याय १

गुरुवार, २५ फरवरी, १९२६

धृतराष्ट्र-जैसे अनेक नेत्रहीन हमारे शरीरके भीतर रहते हैं। हजारों बरस पहलेका यह युद्ध कोई युद्ध नही है; बल्कि हमारे भीतर आज भी सतत चलनेवाला युद्ध ही है।

दुर्योधन द्रोणाचार्यसे कहता है कि व्यूहकी रचना आपके ही शिष्य धृष्टद्युम्नने[2] की है। वैसे तो सभी योद्धा आपके शिष्य हैं और सभीको आपने समान युद्ध-विद्या सिखाई है; किन्तु यह उन्हींपर निर्भर है कि वे अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उसका सदुपयोग करते हैं अथवा दुरुपयोग।

[३]

शुक्रवार, २६ फरवरी, १९२६

पहले दिन "पश्यैतां पाण्डुपुत्राणाम्" वाले श्लोकमें मैंने "पश्यैतां" का पदच्छेद सही नहीं किया। मैंने इस तरह पहले दिन ज्ञान प्रदर्शित न करके अपना अज्ञान ही प्रदर्शित किया। फिर भी व्याकरण न जानते हुए यदि कोई व्यक्ति मुमुक्षु हो तो उसे 'गीता'से बहुत-कुछ प्राप्त हो सकता है। 'भगवद्गीता'में ही कहा गया है कि भक्ति हो तो स्त्री, वैश्य, शूद्र सभी ज्ञान-सम्पादन कर सकते हैं। फिर भी विद्वत्ताकी अव-गणना नही की जा सकती। किसी भी बातको समझानेके लिए विद्या अपेक्षित है। यदि कोई ऐसी भूल करता तो मैं उसे अक्षम्य गिनता।

अस्तु, यहाँ मुख्य वर्णन शरीर-क्षेत्रका है। 'गीता'ने क्या युद्धको सर्वथा त्याज्य ही माना है? नहीं; युद्ध किया जा सकता है। किन्तु यहाँ युद्धकी आड़में शरीर-क्षेत्रका ही वर्णन किया गया है। इस दृष्टिसे सारे नाम व्यक्ति-वाचक नहीं, वरन गुणवाचक हैं। साकार गुणोंका शरीरके क्षेत्रमें युद्ध हो रहा है। व्यासके समान ज्ञानी पुरुष स्थूलयुद्धके वर्णनमे पड़ेगा ही नही। इस शरीरको ही कुरुक्षेत्र और उसे ही पवित्र धर्म-क्षेत्र कहा गया है। जब शरीरको ईश्वरकी सेवामें अर्पित कर दिया जाता है, तब वह धर्म-क्षेत्र बन जाता है। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि क्षत्रियके लिए युद्ध-क्षेत्र हमेशा धर्म-क्षेत्र है। जिस क्षेत्रमें पाण्डव भी हो, वह तो पाप-क्षेत्र हो ही नहीं सकता।

बंकिमचन्द्र[3] कहते हैं कि द्रौपदीके पाँच पुत्र थे अथवा नही, इसमें शंका है। फिर भी निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। कर्ण सूर्य-पुत्र था। सभीका जन्म अलौ-

१. आरम्भमें अध्यायके पहले तीन श्लोक पढ़कर सुनाये गये थे।

२. द्रौपदीके भाई।

३. बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय (१८३८-१८९४); प्रसिद्ध बँगला उपन्यासकार और कवि। कृष्ण-चरित्रके लेखक जिसे गांधीजीने यरवदा जेलमें रहते हुए पढ़ा। हमारा प्रसिद्ध राष्ट्रगान 'वन्देमातरम्' भी इन्हींके गीतका अंश है।

किक है। स्वयं दानवीर होनेके कारण अथवा दुर्योधनके प्रति सहानुभूति उत्पन्न होनेके कारण वह उसके पक्षमें सम्मिलित हो गया। कर्णके अतिरिक्त भीष्म और द्रोण-जैसे सत्पुरुष उस पक्षमें हैं; इससे प्रकट होता है कि खालिस पाप दुनियामें टिक नहीं सकता। जबतक उसे किसी प्रकारके धर्मका सहारा नहीं मिलता, उसका निर्वाह नहीं हो सकता। असहयोगमें भी यही तत्त्व निहित है कि सरकारकी पाप-पूर्ण पद्धतिको भले आदमियोंका जो समर्थन मिल रहा है, वह उसीसे टिकी हुई है। यदि उसे उनका समर्थन मिलना बन्द हो जाये तो वह टिकी नहीं रह सकती। जिस तरह सरकारको बनाये रखनेके लिए भले आदमियोंके समर्थनकी आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार अपने पक्षको उत्तम प्रकट करनेके लिए दुर्योधनको भीष्म, द्रोण-जैसे भले आदमियोंकी आवश्यकता हुई।[1]

[४][2]

शनिवार, २७ फरवरी, १९२६

आज तो केवल

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अपर्याप्त और पर्याप्त शब्दों की ही चर्चा हुई।

अपर्याप्त और पर्याप्त इन दोनों शब्दोंके दो-दो अर्थ होते हैं; अपर्याप्त अर्थात् (१) अमर्यादित अथवा अपरिमित, (२) अपूर्ण अथवा सीमित; और पर्याप्त अर्थात् (१) मर्यादित और (२) पूर्ण अथवा असीमित।[3]

दुर्योधनके मानसिक भावपर ही इसका अर्थ निर्भर करता है। मैंने अपर्याप्तके इन दो अर्थोंमें से 'अपूर्ण' अथवा 'असीमित' अर्थको स्वीकार किया है। बचपनसे ही मुझे यही अर्थ ठीक लगता रहा है। दुर्योधनके मनका भाव यह है कि हमारी सेनाके सेनापति भीष्मपितामह हैं और वह सेना परिपूर्ण शक्तिशाली नहीं है, जब कि पाण्डवोंकी सेनाके रक्षक भीम हैं और वह सेना पूर्ण है; क्योंकि भीष्मपितामह तो दोनों ही पक्षोंसे प्रेम करते थे इसलिए दुर्योधनके मनमें भय था कि भीष्मपितामह अपने पक्षकी ओरसे मन:पूर्वक युद्ध नहीं करेंगे।

[५]

रविवार, २८ फरवरी, १९२६

संस्कृत भाषामें प्रार्थना करना एक स्थूल बात है; धर्मका रहस्य हृदयके भीतर उतारना ही मुख्य उद्देश्य है। मैंने एक गँवार आदमी होते हुए भी 'गीताजी' पढ़नेका

१. यहाँ पहले अध्यायके ९ श्लोक समाप्त हुए।

२. १० वें श्लोकसे १६ वें श्लोकतक। मुख्य रूपसे १० वें श्लोकके विषयमें ही बोले।

३. अधिकांश टीकाकार अपर्याप्तका अर्थ अपरिमित और अजेय तथा पर्याप्तका परिमित और जीतनेमें सुगम करते हैं।

आग्रह क्यों मान लिया और महादेव[1] उससे इनकार क्यों करता है? मैंने यह जिम्मेदारी अपने ऊपर क्यों ली? मेरे मनमें पर्याप्त नम्रता है। मैं ऐसा मानता हूँ कि यों तो हम सभी अपूर्ण हैं किन्तु धर्म क्या है, इसे मैंने यथायोग्य जान लिया है और उसका आचरण भी किया है। यदि मेरे हृदयकी गहराईमें धर्मभावना और प्रभु-भक्ति होगी तो मैं उसे आप लोगोंके भीतर भी जगा सकूँगा। जिस दीपकमें तेल और बत्ती हो उसीको जलाया जा सकता है, पत्थरको नहीं जलाया जा सकता। जिनके हृदय दीपकके समान होंगे, मेरी दियासलाईसे वे अपनेमें जोत जगा लेंगे और इसी तरह जिनमें कुछ तत्त्व होगा वे इस पठन-पाठनमें से कुछ ग्रहण कर लेंगे।

शब्दोंका हमारा उच्चारण ऐसा होना चाहिए कि उसे सुनते ही चित्त सहज ही प्रसन्न हो जाये। कल मैंने व्याकरणकी एक भूल कर दी थी। "शंखम् दध्मौ प्रतापवान्" शब्द-समूहमें मैंने 'प्रतापवान्' को 'शंख' के साथ जोड़ दिया, जोड़ना था उसे भीष्मपितामहके साथ। किन्तु मेरी संस्कृत तो एक गँवारकी संस्कृत है। मुझे उसका इतना ज्ञान नहीं है कि कुछ गलती होते ही वह मुझे खटक जाये अथवा वह मुझे कर्णप्रिय न लगे।

पाण्डवोंके पक्षमें शंख बजाये जा रहे हैं और संजय उनका वर्णन कर रहे हैं।

"कैर्मया सह योद्धव्यम्": अर्जुन यह नहीं पूछता कि मुझे युद्ध करना है अथवा नहीं, बल्कि यह पूछता है कि मुझे किनके साथ युद्ध करना है। यदि उसे युद्ध न करना होता तो वह पहले ही दिन कृष्णसे कह देता कि मुझे तो युद्ध ही नहीं करना है। किन्तु उसके मनमें लड़नेके प्रति कोई वैराग्य नहीं था। लड़नेके लिए ही तो युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर वह इन्द्रके पाससे आयुध ले आया था। यदि बात ऐसी होती, तो कृष्ण अर्जुनसे कहते कि तुम जाओ और दुर्योधनको समझाओ। किन्तु परिस्थिति ऐसी थी ही नहीं। वनवासकी अवधिमें भी अर्जुन युद्ध करता रहा था। जब विराट् राजापर दुर्योधनने आक्रमण किया तब उसने युद्ध किया था। लड़ाईमें तो वह डूबा हुआ था। उसके सामने प्रश्न यही था कि मुझे किन लोगोंसे लड़ना पड़ेगा। यह बात हमें भली-भाँति याद रखनी चाहिए।

[६]

मंगलवार, २ मार्च, १९२६

अर्जुन श्रीकृष्णसे प्रार्थना करता है कि आप मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर खड़ा कर दें ताकि मैं देख सकूँ कि यहाँ कौन-कौन लड़नेके लिए आये हैं।

वह देखता है कि वे सबके-सब कुटुम्बी और मित्र हैं, जिन्हें एकाएक मारनेकी इच्छा नहीं हो सकती।

अर्जुन कहता है: "स्वजनोंको मारनेमें मुझे भलाई दिखाई नहीं देती।" यहाँ जोर 'स्वजन' पर है। तीनों लोकोंके राज्यके लिए भी मैं इनसे नहीं लड़ूँगा। तब फिर

१. गांधीजीने कहा था कि महादेव देसाई श्लोकोंका पठन और उनकी व्याख्या दोनों अधिक अच्छी तरहसे कर सकते हैं, किन्तु वे इसके लिए तैयार नहीं हुए।

जमीनके छोटे-मोटे टुकड़ोंके लिए तो लड़ ही कैसे सकता हूँ। यह इसलिए कि पाण्डवोंकी माँग पाँच ही गाँवोंकी थी। अर्जुन वार-बार पूछता है, स्वजनोंकी हत्यासे सुख किस प्रकार मिल सकेगा? वह जो-कुछ कहता है उसका सार यही है कि "कैर्मया सह योद्धव्यम्" — मुझे किन लोगोंके साथ लड़ना है? अर्जुनको दुःख मारनेमें नहीं; किन्हें मारना पड़ेगा यह सोचकर दुःख है। अर्जुनके मुखसे वार-वार गीताकारने स्वजन शब्द कहलवाकर यह दर्शाया है कि वह कैसा मोहग्रस्त और मूर्च्छाग्रस्त हो गया था। अर्जुन लौकिक दृष्टिसे वातचीत कर रहा है और कृष्ण उसके लौकिक तर्कोंका ही खण्डन करना चाहते हैं। यहाँ यही सूचित किया गया है।

अपने कुटुम्बीजनोंके विरोधमें अदालतवाजीतक की संसार निन्दा करता है। अर्जुन थर्रा उठा है। श्रीकृष्ण उसकी इस घबराहटको एकदम समाप्त करनेके लिए आतुर नहीं हैं। व्यवहारमें भी हमें जो यत्किंचित् त्याग करना पड़ता है, यदि परमार्थके मार्गमें हम उतना भी त्याग न करें तो धर्म अधर्म वन जाता है। लौकिक व्यवहारमें लोकापवादके भयसे हम कुछ चीजें करना टालते हैं, जिनसे साधारण लोग भी वचना चाहते हैं, फिर यहाँ प्रश्न उन वातोंको टालनेका नहीं है, यहाँ तो हजारों-लाखों आदमियोंको मारनेकी वात है। अर्जुन ऐसा किस तरह करे? किन्तु इस प्रश्नको लेकर अर्जुनका कृष्णके पास जाना आवश्यक नहीं था। ऐसी वात तो कोई हमारे पास आकर कहे, तो हम भी यही कहेंगे कि 'मत लड़ो।' हमारा कलियुगका धर्म भी जव यह कहता है कि ऐसी निरर्थक लड़ाई नहीं करनी चाहिए, तव प्रश्न उठता है कि अर्जुन श्रीकृष्णके पास क्यों गया और उन दोनोंके बीच इतना लम्वा-चौड़ा संवाद क्योंकर चला। इसपर विचार किया जाना चाहिए। इस तरह हम 'गीता' के शिक्षणको ठीक-ठीक तभी समझ सकते हैं जव हम लेखकके उद्देश्य और घटनासे सम्बन्धित परिस्थितिपर पूरी तरह विचार कर लें। किन्तु यह अन्तिम श्लोक वहुत महत्त्वपूर्ण है इसलिए इसपर हम कल विचार करेंगे। क्योंकि उठाये गये सारे तर्कोंका आधार इसी श्लोकपर है।

[७]

बुधवार, ३ मार्च, १९२६

साधारणतया प्रचलित लोक-व्यवहारको उचित गिना जाता है। यदि हम यहाँ अथवा कही और ऐसा कोई आदमी देखें जो अपने लौकिक अधिकारको छोड़ देता है, या जो अपने आत्मीयोंको ही नहीं, परायोंको भी क्षमा कर देता है, तो हम उसे अच्छा आदमी मानते हैं। यदि हम किसी चोर अथवा अन्य किसी आततायीको मारें-पीटें नहीं, उसे दण्ड न दें, उसे समझायें और अपनी वस्तु वापस लेकर उसे छोड़ दें तो इसे भलमनसाहत कहा जायेगा, अहिंसा माना जायेगा और इसके विरुद्ध क्रियाको हिंसामें गिनेंगे। ऐसा होते हुए भी श्रीकृष्ण अर्जुनको इस प्रकारके तर्क-वितर्क करनेसे रोकते हैं, यह क्या वात है? 'भगवद्गीता' में प्रत्यक्ष रूपसे जो उलटी सीख है, वह किस लिए दी गई? श्रीकृष्ण अर्जुनको 'क्लीव' और दुर्वल क्यों कहते हैं?

पहले श्लोकसे लेकर अन्तिम श्लोकतक 'गीता' में सुसंगति है। इसीलिए हम इसका मनन करते हैं और आशा करते हैं कि हमें उससे मोक्षके मार्गका दर्शन होगा। इसलिए हमें सोचना चाहिए कि अर्जुन जो-कुछ कहता है, वह ठीक है अथवा उसमें कोई त्रुटि है।

कहीं ऐसा न हो जाये कि 'खोदें पहाड़ और निकले चुहिया', इसीलिए प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर कृष्ण भगवानने[1] इसे उपनिषद् कहा है, योगशास्त्र कहा है और ब्रह्मविद्या कहा है और इस पहले अध्यायको अर्जुन-विषाद-योग कहा है।

इस बातपर विचार करना आवश्यक है कि अर्जुनने जो प्रश्न किया सो क्या है और वह किस अवसरपर किया गया। अपने रथके दोनों सेनाओंके बीचमें आ खड़े होनेके बाद, उसने कहा कि वह उन लोगोंको देख लेना चाहता है जिनके विरोधमें उसे लड़ना पड़ेगा। उन्हें देखते ही उसे मोह उत्पन्न हुआ, और वह घबरा गया। उसका पूर्व इतिहास तो यह है कि वह बड़ा भारी योद्धा है और वह लड़नेके लिए तैयार हो जानेपर धर्मराजकी तरह तर्क-वितर्क लेकर नहीं बैठता। पहले तो उसने लड़ते समय कभी विरोधीके कुटुम्बी होनेका विचार ही नहीं किया। १४ वर्षोंके वन-वासकी अवधिमें भी उसने कौरवोंके द्वारा अपने तिरस्कारको धर्मराजके समक्ष खुलकर व्यक्त किया है। इतना ही नहीं, युद्धमें विजय-प्राप्तिका मुख्य आधार ही उसपर है। भीम साहसी और शक्तिशाली है किन्तु जो शक्ति अर्जुनमें है वह उसमें नहीं है। चौदह वर्षतक युद्धकी तैयारी चलती रही और उस सारी अवधिमें सभीने अर्जुनको प्रमुखता दी। जब विराट्नगरमें युद्ध हुआ तब छद्मवेषधारी अर्जुनने स्वयं समरांगणमें जानेकी माँग की। जिस व्यक्तिको युद्ध करनेमें इतना आनन्द आता हो वह ऐसा किस लिए चाहता है कि दोनों पक्षोंके बीचमें उसका रथ खड़ा किया जाये और वह देखे कि युद्ध करनेकी इच्छासे कौन-कौन लोग इकट्ठा हुए हैं। वह तो सभी व्यक्तियोंसे अच्छी तरह परिचित हैं। वह किस लिए कृष्णके साथ तर्कमें पड़ता है और जो-कुछ उसने कहा है वह सब किसलिए कहता है। वह चाहता तो तुरन्त वहाँसे चल देता। अर्जुनका सैन्य-बल कम है — सात अक्षौहिणी और कौरवोंकी सेनाकी संख्या ११ अक्षौहिणी है। अब मान लीजिए कि अर्जुन युद्धसे पराङ्मुख होना चाहता है। वह सोचता है कि उसके शत्रु स्वभावसे दुष्ट हैं और पापी हैं, तथापि वे उसके सगे-सम्बन्धी हैं और इसलिए वह उनका वध नहीं कर सकता। यदि वह रणक्षेत्रसे चला जाये तो उसके पक्षके असंख्य मनुष्योंका क्या होगा? यदि अर्जुन उन्हें छोड़कर चल दे, तो क्या कौरव उनपर दया दिखायेंगे। यदि अर्जुन युद्धसे पराङ्मुख हो जाता तो पाण्डव-सेनाका विनाश निश्चित था। तब फिर उन सबके बाल-बच्चोंका क्या होता? मैंने 'नवजीवन' में यूरोपके युद्धका विवरण प्रकाशित किया है, सो सकारण है। उससे हमें महाभारतकी लड़ाईका भान होता है। मैंने वह विवरण इसीलिए दिया है कि सभी लोग यह समझ जायें कि महायुद्धसे समूची प्रजाकी क्या हालत हो जाती है और उसकी कितनी खराबी होती है। यदि अर्जुन युद्धके मैदानसे भाग

१. अभिप्राय स्पष्ट ही महाभारतकार महर्षि व्याससे है, कृष्णसे नहीं।

जाता तो जिन आपत्तियोंका उसे भय था, वे सब टूटे बिना न रहतीं। कुल-क्षय होता और कुल-धर्म तथा जाति-धर्मका नाश हो जाता। इसलिए लड़े बिना तो छुटकारा था ही नहीं। यह तो लड़ाईका स्थूल अर्थ हुआ मानव शरीर-क्षेत्रकी बातपर हम बादमें आयेंगे।

मैं फीनिक्समें 'गीता'के विषयमें चर्चा किया करता था। उस समय मैंने क्या कहा था सो मैं कल बताऊँगा।

[८]

अध्याय २

गुरुवार, ४ मार्च, १९२६

श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं: "हृदय दौर्बल्य" छोड़कर खड़ा हो जा। उसकी मानसिक स्थिति 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' के भक्तराज (क्रिश्चियन)के जैसी है। जो अर्जुन सब-कुछ छोड़नेके लिए कटिबद्ध है, कृष्ण उससे ऐसे वचन क्यों कहते हैं?

मैं लन्दनमें अनेक क्रान्तिवादियोंसे विचार-विनिमय करता था। श्यामजी कृष्णवर्मा[१] और सावरकर[२] आदि मुझसे कहा करते कि आपका कथन 'गीता' और 'रामायण'के कथनके विरुद्ध ही है। उस समय मुझे ऐसा लगता कि यदि व्यास मुनिने ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेके लिए ऐसे युद्धके दृष्टान्तकी योजना न की होती तो कितना अच्छा होता! क्योंकि जब अच्छे-अच्छे विद्वान् और गहराईसे विचार करनेवाले व्यक्ति ही 'भगवद्गीता'का ऐसा अर्थ निकालते हैं तो साधारण आदमीके विषयमें क्या कहा जा सकता है। जिसे सर्वशास्त्रोंका दोहन कहा गया है— उपनिषद् कहा गया है— यदि उसका ऐसा उलटा अर्थ निकाला जा सकता है तो व्यास भगवानको चाहिए था कि वे कोई दूसरा योग्य दृष्टान्त चुनकर यह उपदेश देते।

अर्जुन और कृष्णका उन्होंने ऐसा सजीव चित्रण किया है कि हम उन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति ही मानते हैं। तिसपर यह इतिहासकार नगर, जाति और व्यक्तियों आदिका विवरण देते हुए कहता है कि मैं उस कालके इन श्रेष्ठ पुरुषोंको वर्णित कर रहा हूँ। यह सब सोचकर मेरे मुँहसे निकल गया कि ऐसा भगवान् व्यासने न किया होता तो अच्छा होता। कहा जा सकता है कि यह तो छोटे मुँह बड़ी बात हुई। किन्तु सत्यसेवक और क्या कर सकता है? यदि दोष दृष्टिगोचर हो तो वह क्या करे? दोषका आभास होनेपर यदि वह नम्रतापूर्वक उसकी ओर इशारा करे तो यह अपराध नहीं है। कितने ही वर्षोंतक यह बात मेरे मनमें पड़ी रही। फिर मैंने सोचा कि मुझे सम्पूर्ण 'महाभारत' पढ़ना चाहिए। 'गीताजी'के आसपासके वातावरणको समझनेके लिए और उस वातावरणमें व्याप्त सुगन्ध अथवा दुर्गन्धको जाननेके लिए मैंने 'महाभारत' पढ़नेका निश्चय किया। मैंने जेलकी चहारदीवारीमें रहते हुए 'महाभारत'का गुजराती अनुवाद प्राप्त किया और उसे पढ़ा। मैंने देखा कि व्यास युद्धको

१. देखिए खण्ड ६, पृष्ठ ८९-९०।

२. विनायक दामोदर सावरकर।

त्याज्य नही मानते थे और इसलिए उन्होंने अपनी दृष्टिसे जो दृष्टान्त लिया है वह अतिशय सुन्दर दृष्टान्त है। जिस तरह 'ईसप' की कहानियों और 'पंचतन्त्र' की कहानियोंमें पशु-पक्षियोंके संवादको आधार बनाकर नीतिकी शिक्षा दी गई है, उसी तरह 'महाभारत' में भी गुणावगुणोंको साकार बनाकर उत्तम ज्ञान प्रस्तुत किया गया है। युद्धका वर्णन तो निमित्त-मात्र है। 'महाभारत' युद्धका विवरण प्रस्तुत करनेकी दृष्टिसे नही लिखा गया। इस प्रसंगके निमित्त 'गीता' द्वारा ऐसा सुन्दर ज्ञान देनेका अवसर सध गया है। यदि कोई सावधान न रहे तो उसे भ्रम हो ही सकता है। धर्म-मात्रके विषयमें यह बात ठीक है कि व्यक्ति सावधान न रहे, तो वह भ्रममें पड़ सकता है। कोई बिना सोचे प्रह्लादका अनुकरण करने लगे तो भी ऐसा ही होगा। अधिकारके बिना शास्त्रोंका पठन-पाठन न करनेके लिए कहा गया है — सो इसीलिए कहा गया है। धर्मकी पहेलीको व्यक्ति उतावलीमें हल नही कर सकता। यदि उसने यम, नियम आदिका पालन करके अधिकार प्राप्त न कर लिया हो तो वह इस पहेलीको सुलझा नही सकता। इन साधनोंके बिना यदि हम ऐसी कोई पुस्तक एकदम हाथमें ले लें तो अन्धेरे गड्ढेमें जाकर गिरेंगे। यदि कोई बिना वनस्पतियोंको देखे वनस्पति-शास्त्रका अभ्यास करना चाहे, तो उसकी जो हालत होगी, उसकी तुलना इससे की जा सकती है।

अर्जुनके लिए 'गुडाकेश' शब्दका प्रयोग किया गया है। गुडाकेशका अर्थ होता है निद्राको जीतनेवाला, सावधान। और इसलिए हमें युद्धके इस दृष्टान्तपर सावधानीके साथ विचार कर लेना चाहिए। पहली बात तो यह है कि अर्जुन स्वजन और परजनमें भेद करता है। उनके मनमें यह एक मोह उत्पन्न हो जाता है कि परजन आततायी न हो तो भी उसे मारा जा सकता है और स्वजनको आततायी होनेपर भी नही मारा जा सकता। यदि मेरा पुत्र शराबी हो तो भी उसे मेरी सम्पत्ति मिल जायेगी। पराया लड़का बिगड़ा हुआ हो तो मैं 'नवजीवन' में उसकी आलोचना कर डालूँगा। किन्तु अपने लड़केके साथ वैसा नही करूँगा। 'गीता' कहती है कि नही, यह ठीक नही है। दूसरोंकी तरफ अँगुली उठानेका हमें अधिकार नही है। पहले अपना दोष देखना सीखो। अर्जुन द्रोणाचार्यका सबसे अच्छा शिष्य था। भीष्मने तो उसे इतना स्नेह दिया था, मानो वह उनका अपना पुत्र ही हो। अर्जुनको चाहिए कि वह उन्हें भी मारनेको तैयार रहे। यह उसका कर्त्तव्य हो गया है कि वह इन दोनोंके साथ असहयोग करे, क्योंकि वे असत्यके पक्षमें जा बैठे हैं। यदि तुम क्षत्रिय हो, तुम्हारे हाथमें तलवार है और तुम्हें अपराधीका गला काटना है, तो फिर वह अपराधी सगा बाप ही क्यों न हो, तुम्हें तलवारसे उसकी गरदन उतारनी ही पड़ेगी। इसीलिए श्रीकृष्ण अर्जुनसे अपने-आपको मोहसे मुक्त करनेके लिए कहते हैं — इन सबका मोह छोड़नेके लिए कहते हैं। 'नवजीवन' के संचालककी हैसियतसे मेरा क्या कर्त्तव्य है? दूसरे किसी लड़केने चोरी की हो तो उसकी डौंड़ी पीटूँ और मेरे आश्रमके किसी बालकने चोरी की हो, तो उसे छिपाऊँ? नहीं, 'गीताजी' स्वजन और परजनका भेद नहीं कर सकती। यदि मारना ही है तो स्वजनको पहले मारो। यहाँ श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि तू 'मेरे कुटुम्बी, मेरे कुटुम्बी' किसलिए कह रहा है।

'गीताजी' अर्जुनको अपने और परायेके मोहसे मुक्त करना चाहती हैं। जब वह मारनेका निश्चय कर चुका है तब अमुकको नहीं मारना है, ऐसा विचार ठीक नहीं हो सकता। यह मारना कोई स्वार्थको लेकर नहीं है। रामके हाथों रावणका विनाश होना ही था। रामने ऐसे प्रज्ञावादका सहारा क्यों नहीं लिया? वे भली-भाँति जानते थे कि रावण सीताको कोई हानि नही पहुँचा सकता, किन्तु उन्होंने यह बात नहीं सोची। और हम भी यह नहीं कहते कि वे सीताके लिए लड़े, बल्कि यही कहते हैं कि उन्होंने रावणका संहार करनेके लिए युद्ध किया।

हम अहिंसक भले ही हों, किन्तु यदि हम कायरतावश दीनोंकी रक्षा न करें, तो यह अनुचित होगा। यदि अर्जुन अपने और परायेका भेद भूल जाता और उसके कण-कणमें ऐसी अहिंसा व्याप्त हो जाती जिससे वह दुर्योधनका हृदय-परिवर्तन कर सकता, तब तो वह स्वयं श्रीकृष्ण ही हो जाता। किन्तु वह तो दुर्योधनको दुष्ट मानता था। सम्भव है कि मैं साँपसे मित्रता करने चला जाऊँ किन्तु यदि साँप आपमें से किसीको काटने आये तो आपकी रक्षाके लिए मुझे साँपकी हत्या करनी ही चाहिए। अर्जुनके सामने दो ही धर्म उपस्थित थे: या तो वह विपक्षियोंका वध करे अथवा उनका हृदय-परिवर्तन करे। यहाँ तो परिस्थिति यह थी कि यदि अर्जुन शस्त्र-संन्यास कर देता तो उसके पक्षका सत्यानाश हो जाता। उस समय यदि वह युद्ध न करता तो परिणाम भयंकर होता। इसलिए व्यासजीने यह दृष्टान्त देकर उचित ही किया है। जो व्यक्ति युद्धमें विश्वास करता है और उसमें हिंसाके होते हुए भी यह मानता है कि युद्धमें की हुई हिंसा हिंसा नहीं होती, यहाँ ऐसे ही व्यक्तिसे हिंसा करनेके लिए कहा गया है।

[९]

शुक्रवार, ५ मार्च, १९२६

अर्जुन श्रीकृष्णसे यह नहीं पूछता कि मेरा हिंसा करना उचित है या हिंसा न करना। वह तो यही पूछता है कि स्वजनोंको मारना उचित है अथवा नहीं। यह प्रश्न पक्षपातसे उत्पन्न प्रश्न है। आत्मीय और पूज्य ऐसे भीष्म और द्रोण दो बुजुर्ग उसकी आँखोंमें तैर रहे हैं। इन्हें किस तरह मारा जा सकता है? जिसके सामने हिंसा-अहिंसाका धर्म-संकट नहीं, बल्कि सवाल केवल यह है कि वह किसे मार सकता है और किसे नहीं, उसको तो स्थूल बुद्धिसे केवल एक ही उत्तर दिया जा सकता है। किन्तु अर्जुन-जैसे ईश्वरसे डरकर चलनेवाले व्यक्तिको विचार करना ही पड़ता है। ऐसे सूक्ष्म प्रश्नका समाधान कि मुझे गायत्री मन्त्रका जाप करते रहना है अथवा किसी दु:खीकी पुकार सुनकर मददके लिए दौड़ पड़ना चाहिए, सूक्ष्म बुद्धिवाला व्यक्ति ही कर सकता है। ईश्वरसे डरनेवाले व्यक्तिके लिए ऐसे प्रश्नोंका समाधान पानेमें देर नहीं लगती। महाभारतकारने 'महाभारत'में पद-पदपर सूक्ष्म प्रश्नोंकी चर्चा की है। व्यक्तियोंके उदाहरण लेकर उन्होंने ज्ञान गूँथा है। सम्भव है इसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी ले लिये गये हों, किन्तु उनका विवेचन तो कवि और ऋषिगणोंकी परम्पराके

अनुसार ही हुआ है। अंग्रेज कवियोंने भी ऐतिहासिक पात्रोंको लेकर नाटक और काव्य रचे हैं। विश्वामित्र ऋषिने गोमांस चुराकर खाया या नहीं, चमारके यहाँ खाया या नहीं, महाभारतकार मनमें ऐसे प्रश्नोंको उत्पन्न करता है। इस तरह 'महाभारत' के लेखकने तीन प्रकारकी समस्याओंको उपस्थित किया है।

[१०]

शनिवार, ६ मार्च, १९२६

आजसे 'भगवद्गीता'की विषय-वस्तु शुरू हो रही है, इसलिए हम पहलेकी तरह झपाटेके साथ आगे नही बढ़ सकेंगे। रायचन्दभाईने कहा है कि निर्दोष सुख, निर्दोष आनन्द कहीसे भी मिले ले लो। इसी तरह 'गीता'का अर्थ करते हुए भी हम अनेक बातें ग्रहण करेगे।

[इस दूसरे अध्यायके] ग्यारहवें श्लोकसे अन्तिम अध्यायतक अर्जुनकी शंकाओका समाधान करनेवाले तर्क चलते हैं। पहले भगवान् कृष्ण यह बताना चाहते हैं कि आत्मा और शरीर अलग-अलग है; क्योंकि आत्मज्ञानके लिए पहली बात यही जाननी होती है। कुछ बातें हमें पहलेसे जान लेनी चाहिए, तभी हम बढ़ सकते हैं। कल्पना की गई है कि अर्जुन जिज्ञासु, आत्मवादी, यम-नियमोंका पालन करनेवाला व्यक्ति है और इसलिए पहले आत्मज्ञानकी बात कही गई है। ब्रह्मचर्य और सत्यका पालन करनेवालेको ही [आत्मज्ञानके] अभ्याससे सम्बन्धित प्रश्न पूछनेका अधिकार होता है और उसीको ऐसे प्रश्नोंका उत्तर दिया जा सकता है। अर्जुनके पास यह पात्रता है; उसमें दासत्व है, विनय है।

गीता-विचारकी नींव किस बातपर है, अभीतक हमने इसे पूरी तरह नहीं देखा है। कल हम इस विषयकी चर्चा कर रहे थे कि स्वजनोंको मारना बुरा है अथवा उन्हें न मारना। उत्तरमें कहा गया कि तू स्वजन और परजनका भेद भूल जा। हिन्दू धर्म-शास्त्रोंमें कहा गया है कि अहिंसा ही परम धर्म है, इसलिए मारने, न मारनेका प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता। ऐसा प्रश्न तो नास्तिक ही उठायेगा। अर्जुनने यम-नियमोंका[1] पालन किया है, जिनमें अहिंसाको तो पहला ही स्थान दिया गया है। किन्तु अहिंसा एक ऐसी वस्तु है, जिसका सर्वांशमें पालन करना अशक्य है। विचारोंमें उसका पालन शक्य है, किन्तु व्यवहारमें उसका सम्पूर्ण पालन अशक्य है। शंकराचार्यने कहा है कि 'घासके एक तिनकेसे बूँद-बूँद करके सागरको उलीचकर खाली कर देनेके लिए जितने धैर्यकी आवश्यकता है, मोक्ष पानेके लिए मुमुक्षुको उससे भी अधिक धैर्य रखना चाहिए।' इसी तरह पूर्णतः अहिंसक बननेके लिए भी इतने ही धैर्यकी आवश्यकता है। देहमें रहते हुए अहिंसाका सम्पूर्ण पालन अशक्य है। इसीलिए मोक्षको परमधर्म कहा है। हिंसा तो भाग्यमें लिखी है। जबतक पलकें खुलती बन्द होती हैं, अथवा नख काटना आवश्यक है तबतक कुछ-न-कुछ हिंसा तो करनी ही पड़ेगी। 'गीता' आगे चलकर कर्ममात्रको दोषमय कहती है। इसलिए अर्जुनने हिंसा-

१. अहिंसासत्यमस्तेयशौचमिन्द्रियनिग्रहः। मनुस्मृति (१०।६३)

अहिंसाका सवाल उठाया ही नहीं है। जिस तरह मोहमें पड़कर माता अपने बालकका पक्ष लेती है, उसी प्रकार अर्जुनके मनमें स्वजन और परजनका भेद उपजा है।

'भगवद्गीता' में सारी बीमारियोंको एक जगह समेट दिया गया है। अलग-अलग बीमारियोंकी वैद्य अलग-अलग दवा देते हैं, किन्तु आधुनिक कालमें वैद्यक शास्त्रकी खोजोंके आधारपर वैद्य इस निर्णयपर आते जा रहे हैं कि बीमारियाँ दिखाई अलग-अलग पड़ती हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा वे अनेक नहीं हैं। वे सब किसी एक ही कारणसे उत्पन्न होती हैं और उनका उपाय भी एक ही हो सकता है। इसी तरह भगवान् कहते हैं कि आध्यात्मिक बीमारी एक ही है, कारण भी एक है और उसका उपाय भी एक ही है। ऐसी एकता सिद्ध करनेके लिए एक आत्यंतिक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। स्वजन यदि वधके योग्य हों तो उनका वध किया जाना चाहिए; पृथ्वीका नाश भी उससे होता हो तो आगा-पीछा नहीं करना चाहिए। यह अर्जुनका अधिकार ही नहीं, बल्कि यह तो उसका कर्त्तव्य है। स्वजनको मारनेका संयोग आ जाये तो क्या तब भी इस नियमका कोई अपवाद नहीं हो सकता? इस प्रश्नका अर्जुनको निश्चय-पूर्वक उत्तर दिया गया है, इसलिए यह निश्चयवाद है। यह उसी तरह है जिस तरह सत्यके पालनमें अपवाद नहीं होता; क्योंकि सत्य परमेश्वर है और यदि सत्यका अपवाद हो तो परमेश्वर भी सत्यासत्य हो जाये। इसलिए जो दृष्टान्त लिया गया है, वह निरपवाद है।

श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं, तू बातें बड़ी चतुराईकी करता है। 'गीताजी' में न तो कर्म-मार्ग बताया गया है, न ज्ञान-मार्ग और न भक्ति-मार्ग। व्यक्ति चाहे जितना वैराग्य अपना ले, चाहे जितने कर्म करे, भक्तिमें डूबा रहे, तो भी जबतक वह अहंभाव, ममत्वको नहीं छोड़ता, तबतक उसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। ममत्व छोड़नेपर ही उसे आत्मदर्शन हो सकता है। जो ममत्व छोड़ चुका है, आत्मदर्शन उसीके लिए शक्य है। अंग्रेजीमें 'आई' लिखते समय एक खड़ी लकीर बनाई जाती है और उसके ऊपर बिन्दु अर्थात् शून्य रखा जाता है। यह अहंभाव शून्य हो जानेपर ही आत्मज्ञान होता है। व्यक्तिने किस हदतक अपनी अकड़को छोड़ा है, वह कितना विनयशील बना है, इसे देखकर ही उसकी भक्तिको समझा जा सकता है। अहंके शून्य हो जाने पर भक्त बगुला-भक्त नहीं होगा, ज्ञानी होगा। आडम्बरशून्य व्यक्ति ही ज्ञानी है। 'गीता' उक्त तीन मार्गोंमें से किसी एकका उपदेश नहीं करती बल्कि कहती है कि ये एक ही हैं। मुझे ऐसा लगा है कि 'गीता' यही बतानेके लिये लिखी गई है। हम जिस हदतक ममत्व छोड़ेंगे, उसी हदतक सत्यका पालन कर सकेंगे।

यही समझानेके लिए श्रीकृष्णने यह सुन्दर मीमांसा की।

[११]

रविवार, ७ मार्च, १९२६

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ (२, १३)

देहीको इस देहमें जिस प्रकार कौमार, यौवन और जराकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार उसे देहान्तर प्राप्ति[1] (मृत्यु) होती है। यहाँ 'देहान्तर प्राप्ति' शब्दका अर्थ पुनर्जन्म विवक्षित नहीं है; यहाँ मरणके भयको हटाना ही प्रस्तुत है, पुनर्जन्मके भयको नही।

[१२]

मंगलवार, ९ मार्च, १९२६

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ (२,१४–१५)

जबतक रस्सीको साँप माना है तभीतक भय है। इसी तरह यदि देहकी सभी स्वाभाविक अवस्थाओंका ज्ञान हो जाये तो शोक ही न रहे। भगवान् कृष्ण अर्जुनकी उत्तेजनाको शान्त करनेके लिए उसे आत्मा और देहकी स्थिति समझाना चाहते हैं।

इन्द्रियोंके स्पर्श शीत, उष्ण तथा सुख और दुःख देनेवाले होते हैं; ये आने-जानेवाले हैं, अनित्य हैं; इसलिए हे अर्जुन, तू इन्हें सहन कर।

जो व्यक्ति इनसे क्षुभित नहीं होता — इनसे व्यथित नहीं होता — भ्रममें नहीं पड़ता — दुःखी नहीं होता, वही अमरपद पानेके योग्य है।

जिसे इन्द्रियाँ स्पर्श ही नही करतीं, उसे कोई चिन्ता हो ही नही सकती। इन्द्रियोंके स्पर्श ही सुख-दुःखके लिए उत्तरदायी हैं। किसीने कहा है: क्रोधित मनुष्यके स्नायु तेरह गुने और हँसते हुए व्यक्तिके स्नायु नौ गुने कठिन हो जाते हैं। इसलिए क्रोधित व्यक्तिका शक्ति-व्यय अधिक होता है। जिसकी शक्तिका अपव्यय होता है, उसे अमरपद नहीं मिलता। सुख-दुःखमें समभाव रहना अभ्यास-साध्य है। ऐसे शान्त व्यक्तिके विषयमें यदि हम यह कहें कि वह साक्षात् ईश्वर है तो भी अनुचित नही होगा। फीनिक्समें एक पाखण्डी स्वामी आये हुए थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मुझे 'गीता'का जो श्लोक मालूम हो, उन्हें सुनाऊँ। मैंने उन्हे यही श्लोक सुनाया। अपनी वकालतके प्रारम्भिक दिनोंमें मैं एक दिन बहुत परेशान हुआ। घूमने निकला, किन्तु परेशानी बनी रही। तभी यह श्लोक याद पड़ा और कह सकता हूँ कि मैं नाच ही उठा। हमें अपनेको अर्जुनके स्थानपर मानकर श्रीकृष्णको अपना सारथी मान लेना चाहिए। इस तरह 'गीता'का स्थूल अर्थ यह हुआ कि एक बार युद्धमें कूद पड़नेके बाद जूझते ही चले जाना चाहिए [अर्थात्] एक बार जो काम हाथमें ले लिया उसे छोड़ना नही चाहिए। इस तरह जो दृष्टान्त लिया गया है वह मिथ्या नहीं हो सकता, अपूर्ण नही हो सकता, ऐसा सोचकर समझदार व्यक्ति-को उसमें से उलटा अर्थ भी नहीं निकालना चाहिए।

१. यह एक श्लोक ही उस दिन चलता रहा। विशेषत: 'देहान्तरप्राप्तिः' शब्दकी मीमांसा। विवरण संक्षिप्त ही जान पड़ता है।

व्यासके मनमें तो भाव दूसरा ही था। वे चाहते थे कि 'महाभारत' इस तरह लिखा जाये कि एक बालक या बालिका भी उपदेश ग्रहण कर सके, तथा सद्गुणी व्यक्तियोंका आदर्श सामने रखें और दुर्गुणी लोगोंसे दूर रहें। वे तो हमारे मनके भीतरकी अच्छी वृत्तियोंको प्रबल करके बुरी वृत्तियोंको दबा देना चाहते थे। स्त्रियोंके लिए भी उन्होंने द्रौपदीका उदाहरण सामने रखकर सिखाया कि संकटके समय उन्हें सिंहकी तरह गरजना चाहिए और अपने धर्मकी रक्षा करनी चाहिए। ऐसी गर्जना करके द्रौपदी अर्जुन, युधिष्ठिर और भीमको जाग्रत कर देती थी। महाभारतकारने स्त्रियोंको बड़ा ऊँचा दर्जा दिया है, किन्तु 'महाभारत'का मुख्य उद्देश्य तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म युद्धकी बात करना ही है। हमारे शरीरमें जो अर्जुन आदि पाण्डव कौरवोंसे युद्ध कर रहे हैं, इसमें उसीकी बात है। सूक्ष्म युद्धके धर्म-संकट स्थूल युद्धमें उत्पन्न होनेवाले संकटोंकी अपेक्षा अधिक कठिन होते हैं। स्थूल त्रुटिके परिणामस्वरूप नाशवन्त शरीरका नाश होता है, किन्तु यदि सूक्ष्म युद्धमें त्रुटि हो जाये तो परिणाम नरक-निवास होता है। मलिन उद्देश्यका दण्ड बहुत कड़ा कहा गया है। कालान्तरमें लोग पाण्डवों और कौरवोंको भूल जायेंगे। इस युगके क्षय हो जानेपर उनकी स्मृतिका भी क्षय हो जायेगा। हमें यह मोह नहीं करना चाहिए कि सभी युगोंमें लोग इनकी याद बनाये रखेंगे। इस युगके पहले भी अनेक युग हो चुके हैं। जब इन सभी युगोंकी स्मृति नष्ट हो जायेगी, तब भी हृदयमें यह जो युद्ध चल रहा है वह तो चलता ही रहेगा। उससे किस तरह त्राण पाया जा सकता है, 'गीता' यह बताती है। व्याधके बाण मारनेसे जिसकी मृत्यु हुई कृष्ण वह नहीं है और न अर्जुन ही वह है जिसका गाण्डीव हाथसे छूट गया था। कृष्ण तो आत्मा है और वह हमारा सारथी है। उसके हाथमें अपनी लगाम दे देनेपर ही हम जीतेंगे। ईश्वर नटकी भाँति हमें नाच नचाता है। नटके इशारेपर नाचनेवाली कठपुतलियोंसे भी छोटे हैं हम। इसलिए हमें चाहिए कि जिस तरह बालक अपने-आपको माता-पिताके हाथमें छोड़ देता है, उसी प्रकार हम अपनी बागडोर ईश्वरके हाथमें दे दें। हम कच्चा अनाज न खायें। भगवान् कृष्ण-रूपी रसोइया हमारे लिए आत्मिक प्रसाद पकाये और वह जितना चाहे उतना हमें दे।

'गीता' हमारी तरफसे कोई निर्णय नहीं करती। भगवान् कृष्ण अठारह अध्यायोंमें केवल इतनी ही बात समझाकर कहते हैं कि यदि तुम ममत्वको छोड़कर धर्मकी दृष्टिसे ही संकटकी घड़ीमें निर्णय लोगे तो त्रुटि होनेपर भी तुम्हें शोक नहीं करना पड़ेगा।

[१३]

बुधवार, १० मार्च, १९२६

'मात्रास्पर्श'से सम्बन्धित श्लोकमें जागरणके साथ निद्राका समावेश भी है। हमें तो एक चेतनायुक्त यन्त्र बन जाना है। ऐसी तन्मयता आत्मसात् करें, जिस तरह सोये हुए व्यक्तिको किसी बातका भान नहीं रहता उसी तरह हमें भी किसी वस्तुका भान न रहे। हजरत अलीने कहा है कि जब वे नमाज़ पढ़ने लगें, उस समय उनके शरीरमें बिंधा हुआ बाण खींच लिया जाये, क्योंकि उस समय वे खुदामें तल्लीन

हो जायेंगे। निद्राके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बाण बिंधा हुआ है तो सम्भवतः नींद आये ही नहीं। हजरत अलीकी तरह जो व्यक्ति कर्त्तव्य-मात्रमें तल्लीन हो सकता है, जो व्यक्ति चौबीसों घंटे ऐसी अवधूत स्थितिमें रहता है, वही अमरत्व प्राप्त करता है।

अब मात्रास्पर्शोंको असत्य बतानेका कारण दिया जा रहा है:

> नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। (२,१६)

जो असत् है उसका भाव नहीं है और जो सत् है उसका अभाव नही है। सूर्य भी आता-जाता रहता है। मोमबत्ती है भी और नहीं भी है। क्योंकि जल जानेके बाद वह पंचमहाभूतोंमें मिल जाती है। नाम-रूपका नाश है किन्तु ईश्वरकी कृतिके रूपमें उसका नाश नही है।

[१४]

गुरुवार, ११ मार्च, १९२६

ज्ञानियोंने देखा है कि कुछ वस्तुएँ सत् हैं और कुछ असत्। नाम और रूप कांचकी तरह तड़क जानेवाली चीजें हैं। ज्ञानी इस बातको जानते हैं कि सत् और असत्के बीच जो भेद है उसमें किन-किन बातोंका समावेश होता है। हम तो एक मोटा भेद जानते हैं — ईश्वर सत् है और शेष सब-कुछ असत्।

हम प्राणोंका त्याग करके आश्रमकी प्राणप्रतिष्ठा कर सकते हैं। यहाँ बने हुए मकान और यहाँकी जमीन नाशवन्त है किन्तु यदि हम लोगोंने उसमें प्राणकी प्रतिष्ठा की है तो उसका नाश नहीं होगा।

> अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
> विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।। (२,१७)

जिससे अखिल आच्छादित है उस तत्त्वको अविनाशी जान। कोई भी उस अव्ययका नाश नहीं कर सकता।

अनेक गोवर्धन पर्वत कनिष्ठिकापर उठानेवाले इस अशरीरीको अविनाशी समझो।

अव्यय अर्थात् जिसे कोई खर्च न सके।

[१५]

शुक्रवार, १२ मार्च, १९२६

> अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
> अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।। (२,१८)

[नित्य द्वारा धारण किये हुए शरीरियोंके शरीर अन्तवन्त हैं।
नित्य अविनाशी है, अप्रमेय है; इसलिए हे भारत, तू युद्ध कर।]

अप्रमेय — जिसका कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् जिस तरह धुएँको अग्निका प्रमाण माना जाता है, उस तरह जिसका कोई प्रमाण नहीं है।

'तस्माद्युध्यस्व भारत' — इसलिए हे भारत, युद्ध कर। यदि हम कहें कि इन सबके शरीर नाशवन्त हैं, इसलिए इन्हें मारा जा सकता है, तो क्या मेरा आश्रमके सब स्त्री और बच्चोंको मार डालना उचित है? क्या उस अवस्थामें यह कहा जायेगा कि नाशवन्त शरीरवालोंको मारकर मैंने 'भगवद्गीता' के कथनानुसार आचरण किया है। हमारे चौकीदारने एक व्यक्तिकी हत्या कर दी, इसलिए हम मानते हैं कि चौकीदार [क्रोधमें] पागल हो गया था। किन्तु यदि वह अपने कामके समर्थनमें 'गीता' के इस श्लोकका हवाला देता तो हम उसे क्रूर मानते। जो प्रज्ञावाद[1] करता हुआ ऐसी दुष्टता करे उसे हम क्या कहें? इसके स्पष्टीकरणके लिए हमें पहला अध्याय देखना पड़ेगा। अर्जुनने कहा कि स्वजनोंका वध करके तो मैं सुरोंके राज्यकी भी इच्छा नहीं करता। किन्तु स्वजनोंका वध तो उसे करना ही है, क्योंकि उसने मारनेका धर्म स्वीकार किया है। यह 'युद्धस्व' वाली बात उसपर लागू होती है, दूसरोंपर लागू नही होती। इस श्लोकके द्वारा श्रीकृष्ण अर्जुनका मोह दूर कर रहे हैं। हरिश्चन्द्रके सामने तारामती-जैसी सती स्त्रीका वध करनेका धर्म आ खड़ा हुआ। उसके मंगल-सूत्रपर जब दृष्टि पड़ी तब उसका हाथ काँप उठा। यदि कोई और स्त्री होती तो सम्भव है उसका हाथ न काँपता। ऐसे अवसरपर यदि हाथ काँपता है तो कृष्ण भगवान् उसके पास जाकर खड़े हो जाते हैं और कहते हैं: इसे मारना तेरा कर्त्तव्य है। वे उससे कहते हैं कि तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। आजतक तू व्यक्तियोंको मारता रहा। आज अपनी पत्नीके ममत्वके कारण तू पराङ्मुख हो रहा है। ऐसा करना अपने धर्मको डुबोना है। श्रीकृष्ण उससे कह सकते हैं कि तेरी और तेरी स्त्रीकी देह नाशवन्त है। जिसे दूसरेका गला काटनेकी बजाय अपना गला काट लेना अधिक ठीक लगता है, कृष्ण उससे कह सकते हैं कि मारना तेरा धर्म है।

कृष्ण इसके बाद दूसरा तर्क प्रस्तुत करते हैं:

> य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
> उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।। (२,१९)

जो इसे (आत्माको) हन्ता समझता है और जो इसे हत समझता है, वे दोनों ही नही जानते। न यह मारता है और न मारा जाता है।

आत्मा न मारता है और न मरता है। यह बात तो उसी व्यक्तिसे कही जा सकती है. . .[2] यह तो घोड़ेके सामने गाड़ी रखने जैसा हुआ। इसी तरह यदि शरीर आत्माका संचालन करना चाहे तो यह सम्भव हो ही नहीं सकता। यदि कोई कहे कि ऐसा हो सकता है, तो वह प्रलाप करता है।

१. अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ (२, ११)

२. साधन-सूत्रमें कुछ शब्द छूटे हुए हैं।

[१६]

शनिवार, १३ मार्च, १९२६

आज मैं. . .को[1] 'गीता'का रहस्य सिखाऊँगा। मान लो कि तुम्हारे पिताजी शिक्षक हैं। तुम्हारा और. . .का[2] दोष समान है, किन्तु फिर भी तुम्हारे पिताजी . . .को[3] दण्ड देते हैं और तुम्हें छोड़ देते हैं, तो क्या यह ठीक होगा?[4] तुम जैसा बच्चा भी इस बातको समझ गया किन्तु अर्जुन इसे नहीं समझा। श्रीकृष्णने यही समझानेके लिए सारी 'गीता' अर्जुनको सुनाई।

जिसे डर लगता है, वह मारता है। जिसे मरनेका भय ही न हो, वह किसीको नही मारता।

प्रार्थना-सभामें 'गीता'के विषयमें क्या-कुछ कहा जा रहा है, जिनका इसपर ध्यान नहीं है, उनके विषयमें यही माना जाना चाहिए कि वे प्रार्थनामें उपस्थित नही है। जैसे हमारे घर किसी मेहमानके आनेपर यदि हम उसका आदर-सत्कार करें, उसे प्रेमपूर्वक घरके भीतर ले जायें, उसके हाथ-पाँव धुलवायें, स्वच्छ आसनपर बैठायें, उसे अच्छेसे-अच्छा, वह भोजन करायें जो हमने अपने लिए रख छोड़ा है और फिर बचा हुआ हम खायें, तभी कहा जायेगा कि हमने उसका आदर-सत्कार किया। और इसीको सत्याचरण भी कहा जायेगा। परन्तु जो व्यक्ति किसी अतिथिके आनेपर नाक-भौं सिकोड़ता है, प्रेमके साथ उससे नही बोलता, सामने जो थाली रखता है वह ठीक मँजी हुई नहीं होती, जो परोसता है, वह भी ताजा नही होता और एक बार परोसनेके बाद दुबारा पूछता भी नहीं, वह यदि इस सबके बाद कहे कि मैंने मेहमानको भोजन कराया है, तो वह भोजन कराना तो गिना ही नहीं जा सकता, बल्कि उसका अपमान करना कहा जायेगा। और इसलिए वह असत्याचरण भी कहा जायेगा। सड़ाबासा अथवा उच्छिष्ट भोजन तो भिखारीको भी नही दिया जाना चाहिए। देनी ही हो तो अच्छी चीज ही देनी चाहिए। यदि नही देनी है तो समझदारीके साथ उसे समझा दिया जाना चाहिए कि दे नहीं सकते। ऐसा आचरण भी सत्याचरण कहलायेगा। इस तरह विवेकपूर्वक सत्य और असत्यका निर्णय किया जा सकता है।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। (२,२०)

यह (आत्मा) न जन्म लेता है, न मृत्युको प्राप्त होता है और इसका भाव होनेपर पुनः अभाव नहीं होता। यह आत्मा अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है। शरीरके नष्ट होनेसे नष्ट नहीं होता।

१, २ व ३. साधन-सूत्रमें व्यक्तियोंके नाम छोड़ दिये गये हैं।
४. इस प्रश्नका उत्तर नकारात्मक मिलनेपर गांधीजीने आगेकी बात कही।

यह जो आत्मा है, इसका जन्म नहीं होता, यह मरता नहीं है। हो जानेपर ऐसा नहीं है कि फिर न हो। इन सभी गुणोंको अलग-अलग विशेषण देकर व्यक्त किया गया है। कहा गया है कि यह अज है, नित्य है, पुराण है। सब इस बातको जानते हैं। शरीर नष्ट होनेके बाद भी आत्माका नाश नहीं होता। यह तो एक परम्परागत ज्ञान है। हरएक माता-पिताको चाहिए कि यदि यह बात न समझाई हो तो वे इसे बालकको समझा दें।

> वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
> कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ (२,२१)

जो मनुष्य इस भाँति आत्माको अविनाशी जानता है, नित्य जानता है, अज जानता है और अव्यय जानता है वह किसीको किस तरह मार सकता है या मरवा सकता है?

'गीताजी' सूत्र-रूपमें नहीं लिखी गई है, वरन् हर घड़ी मनमें रखनेके लिए लिखी गई है। वह ज्ञानियोंके लिए नहीं लिखी गई बल्कि चारों वर्णोंके लिए — कहना चाहिए कि अठारह जातियोंके पठन-पाठनके लिए — लिखी गई है। शूद्र, भंगी, स्त्री आदि सभी वर्गोंके लोगोंके लिए लिखी गई है। इसीलिए एक ही अर्थ रखनेवाले एक ही वस्तुका वर्णन करते हुए नाना प्रकारके विशेषणोंका प्रयोग किया गया है। उद्देश्य यही है कि कहीं जानने योग्य बात रह न जाये। यह वैसा ही हुआ, जैसे माँ अपने बालकको एक ही बात बार-बार बताती-समझाती रहती है।

[१७]

रविवार, १४ मार्च, १९२६

> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
> नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
> न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (२,२२)[1]

यदि मेरा मन इस जर्जर शरीरको छोड़ दूसरा शरीर लेनेको करे तो क्या मैं शरीर न बदलूँ। आँखसे दिखाई न दे, कानसे सुनाई न पड़े, जीभका स्वाद चला जाये तो आदमी खाटपर पड़े रहना पसन्द करेगा अथवा शरीर छोड़ना?

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ (२,२३)

शस्त्र इसे काट नहीं सकता। यदि कोई हवामें हथियार चलाये तो क्या हवाका कुछ बिगड़ता है। यह तो हवासे भी सूक्ष्म है। अग्नि इसे नहीं जलाता, पानी इसे

१. जहाँ अर्थ स्पष्ट है वहाँ कई बार साधन-सूत्रमें श्लोकोंके शब्दार्थ नहीं दिये हैं।

भिगोता नहीं, फिर भला पवन उसे कैसे सुखायेगा? इतना कहनेके बाद इसीको एक-एक विशेषणके द्वारा व्यक्त किया गया है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽमक्लेद्योयऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। (२,२४)

और फिर इसके बाद विशेषण दिये गये हैं: नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, स्थिर, सनातन। आगेका श्लोक भी इसी बातका वर्णन करता है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।। (२,२५)

आत्माका ऐसा स्वभाव है, अतएव वह शोक करने योग्य नही है। इसलिए तू स्वजनोंके लिए निरर्थक शोक क्यों करता है?

[१८]

मंगलवार, १६ मार्च, १९२६

जो हमें धूपसे बचाती है, हम उसे क्या कहते हैं?[१] इसी तरह जिसका जन्म नहीं है उसके लिए एक ही शब्द है 'अज'। और जिसका छेदन नहीं किया जा सकता उसके लिए है 'अच्छेद्य'।

कृष्ण धीरे-धीरे अर्जुनको अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जा रहे हैं। तुमने आत्माको देखा है?[२]

यह आत्मा इतना नटखट है कि वह हमारे भीतर पड़ा हुआ है किन्तु हम उसे देख नहीं सकते। आत्मा एक ऐसा हिरन है कि रामचन्द्रजी-जैसे व्यक्ति भी उसे नहीं मार सकते। रामचन्द्रजी सर्वशक्तिमान् हैं, इसका यही अर्थ है कि वे उसीको मार सकते हैं जो मर्त्य हो।

इतना कह चुकनेके बाद कृष्ण कहते हैं कि मान लो आत्मामें ये सब गुण नहीं हैं तो इससे भी क्या होता है? वह सदा जन्म लेनेवाला और मरनेवाला हो, तब भी क्या हुआ? उस अवस्थामें तो शोक उचित है ही नहीं।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। (२, २६-२७)

मरनेवालेका जन्म निश्चित है। अपरिहार्य अर्थात् जिसका उपाय नही है, उसके लिए शोक करना शोभा नही देता।

१. यह प्रश्न एक बालकसे किया गया था और उसने कहा, "छतरी"।
२. यह भी एक बालकसे पूछा गया था और उसने उत्तरमें "नहीं" कहा था।

[१९]

बुधवार, १७ मार्च, १९२६

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।। (२,२८)

देह-मात्र जन्म लेनेसे पहले अव्यक्त रहता है। और मृत्युके बाद भी वह अव्यक्त हो जाता है। जन्म और मरण ईश्वरके हाथकी बातें हैं। इसलिए इनका रहस्य ईश्वर ही जानता है। डाक्टर भी इस विषयमें हार मान बैठे हैं; क्योंकि वे शरीर उत्पन्न नहीं कर सकते। 'मैं कौन हूँ, कहाँसे आया और सचमुच कहाँ जाऊँगा।' देह धारणके बाद आत्मा आकार लेता है। इस मध्यम स्थितिको ही हम देख पाते हैं। विचार करनेवालोंने कहा है कि पट्टीपर गोल आकृति बनाने और मिटानेमें जितना समय लगता है, उसके असंख्यवें भाग जितना समय भी ईश्वरको जीवन और मरण प्रदान करते हुए नहीं लगता। कोई भी गणितज्ञ समयके इस भागको नहीं आँक सकता।

'तत्र का परिदेवना'—तब फिर इसमें दुख किस बातका? यह ईश्वरका एक जबर्दस्त रहस्य है। जैसे जादूगर पलक मारते ही आमका वृक्ष पैदा करता है और उसे फिर गायब कर देता है, ऐसे ही ईश्वर भी जादूके अनेक खेल करता है। हम उनका आदि और अन्त नहीं जान पाते। तब उसके लिए शोक किसलिए किया जाये?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।। (२,२९)

कितने ही ज्ञानी इसे आश्चर्यवत् देखते हैं, कितने ही इसे आश्चर्यवत् कहते हैं, सुनते हुए भी कितने ही इसे समझ नहीं पाते, ऐसी करुणाजनक स्थिति है हमारी। ईश्वरके गुणोंका बखान करते हुए उनका पार नहीं पाया जा सकता—ऐसी ही उसकी लीला है।

अन्तमें सारांश दे दिया है:

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।। (२,३०)

हे अर्जुन, यह आत्मा सभीके शरीरमें सर्वदा अवध्य है। शरीरका नाश तो काँचके तड़क जाने जैसा है। यह चक्र तो चलता ही रहता है।

[२०]

गुरुवार, १८ मार्च, १९२६

आज जो चोरी हुई है[१] उसे 'भगवद्गीता' का एक पदार्थपाठ समझना चाहिए। जहाँ ममत्व है वहाँ हिंसा है। वस्तुको अपनी कहकर संगृहीत रखना पड़ता है। यदि

१. आश्रममें चोरी हुई थी, यहाँ उसीका उल्लेख है।

उसे दूसरेको दे दिया जाये तो ममत्व समाप्त हो जाता है, क्योंकि हमने उसे अपना मानना समाप्त कर दिया। संसारकी हरएक वस्तु हमारी है, फिर भी उसके विषयमें तटस्थ रहना चाहिए। उसकी ओरसे निश्चिन्त होकर सोना चाहिए। इस तरह आश्रममें जो-जो वस्तुएँ हैं वे जिस प्रकार हमारी हैं, उस प्रकार दूसरोकी भी हैं— ऐसा मानकर हमें तटस्थ भावसे बैठ रहना चाहिए। दूसरा मार्ग मार-धाडका अथवा राक्षसी है। हमने उसका अनुसरण नही किया। किन्तु आज हमारा एक मिला-जुला मार्ग है। हम सामुदायिक परिग्रहको स्वीकार कर चुके हैं। व्यक्तिगत परिग्रह जितना कम हो, उतना अच्छा। ममत्वकी इस भावनाको भूल जानेकी बात कृष्णने अर्जुनसे कही और अर्जुन-कृष्णके निमित्तसे व्यासने इसे हमें बताया।

ज्ञानकी बात कह चुकनेके बाद अब श्रीकृष्ण एक लौकिक बात कहते हैं। वे अर्जुनको बताते हैं कि उसका व्यवहार-धर्म क्या है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।। (२,३१)

धर्म-युद्ध करनेसे बढ़कर क्षत्रियका दूसरा कोई कर्त्तव्य नहीं है। इसे धर्म-युद्ध किस लिए कहा गया है। क्योंकि अर्जुन स्वयं इस युद्धको प्रारम्भ करने नही गया था। वह तो अपने घरमें आरामसे बैठा था। दुर्योधनने वही जाकर उसे छेड़ा है। उसके बिना कुछ किये ही यह युद्ध उसके सिरपर आ पड़ा। इससे मानो स्वर्गका द्वार ही खुल गया।

इसके आगे कीर्त्तिका उल्लेख किया गया है:[1]

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।। (२,३४)

पाखाने साफ करना जिन्होंने स्वधर्मकी तरह स्वीकार किया है, यदि वे ऊबकर कहें कि यह तो भंगीका काम है, तो कृष्ण उनसे कहेंगे कि तुम अपने धर्मसे च्युत हो रहे हो और इस कारण लोग तुम्हें नाम रखेंगे। रात-दिन लोकमें तुम्हारी निन्दा होगी। इज्जतदार आदमीके लिए अकीर्त्ति मरणसे भी अधिक भोंडी है। कृष्ण कहते हैं—तू भयके कारण भाग गया है, महारथियोंको ऐसा कहनेका कारण मिल जायेगा।[2] अन्तमें निम्नलिखित श्लोकसे तर्कको परिपूर्ण बनाते हैं:

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। (२,३८)

इस श्लोकमें जो बात कही गई है, वह लौकिक नहीं बल्कि आत्मिक है।

१. इसके पहले निम्नलिखित दो श्लोक अध्याहारमें समझिए।
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
अथ चेत्त्वमिमम् धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ (२, ३२-३३)

२. दूसरे अध्यायके श्लोक संख्या ३५-३७का अभिप्राय भी इन्हीं पंक्तियोंमें आ जाता है।

[२१]

शुक्रवार, १९ मार्च, १९२६

उक्त श्लोक केवल अर्जुनको ही नहीं, हम सभीको ध्यानमें रखकर कहा गया है। "स्वजनको मारनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा"; यह बात 'गीता' में जहाँ-तहाँ आती ही रहती है। हार-जीत तो चलती ही रहती है, ऐसा समझकर आदमी तटस्थ रहे तो पाप नहीं लगता। किन्तु साथ-साथ यह भी कहना चाहिए कि पुण्य भी नहीं लगता। पुण्य प्राप्त करनेकी बात करेंगे तो हम पाप भी अर्जित करेंगे। अच्छीसे-अच्छी वस्तुमें भी कोई-न-कोई दोष होता ही है। संसारमें सर्वथा दोषहीन अथवा सर्वथा दोषमय कुछ भी नहीं है। जहाँ कर्म है वहाँ कुछ-न-कुछ दोष भी है। यदि हरिश्चन्द्रके मनमें तारामतीके प्रति करने योग्य व्यवहारको लेकर कोई शंका उठी होती तो कोई ऋषि अथवा मुनि उससे क्या कहता? यही कहता — तू अपनी पत्नीके गलेपर छुरी फेर दे, तुझे पाप नहीं लगेगा। यदि लाभ और अलाभ, सुख और दुःखमें भेद न मानें तो पाप करनेका लोभ कदाचित् ही हो।

यदि हमने चोरोंको दोष दिया होता और उन्हें बहुत ही दुष्ट माना होता तो हम लोग भीतरही-भीतर क्रोधसे जल उठते और उन्हें मारनेका विचार भी करते।[१]

बालकके जन्मके अवसरपर उत्सव न करना सहज है, किन्तु मरणके अवसरपर दुःख न मानना कठिन बात है। यदि हम इस तरह तटस्थ रहनेका अभ्यास करें और गुस्सेमें न आनेका प्रयत्न करते रहें तो किसी दिन इस द्वन्द्वपाशमें से निकलनेकी घड़ी प्राप्त हो सकती है।

यहाँतक 'भगवद्गीता' की तीन बातें हैं: (१) तुझमें यह कमजोरी कहाँसे आई? (२) अर्जुनके प्रश्न, और (३) कृष्णका उसकी बुद्धिको खोलना और यह कहना कि आत्मा अलग है, देह अलग है तथा इसके बाद लौकिक व्यवहार-बोध।

तब फिर व्यक्तिका कर्त्तव्य क्या है? देह और आत्माको अलग-अलग मान लेनेके बाद लौकिक व्यवहार किस तरह चलाया जाये? उक्त तीन बातोंके बाद यह चौथी बात आती है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।। (२,३९)

इस तरह मैंने तुझसे सांख्य-बुद्धिका बखान किया। अब योग-बुद्धिके विषयमें सुन। यदि उसे समझकर तू कार्यरत हुआ करेगा, तो तू कर्मोंके बन्धनको काट फेंकेगा।

'सांख्य' शब्दको थोड़ा उलझा हुआ माना गया है। शास्त्रियोंके लेखे यह उलझा हुआ होगा, हमारे लिए वैसा नहीं है। कृष्ण तो इतना ही कहते हैं कि अभीतक मैंने तार्किक दृष्टिसे बातें कीं, आत्मा और देहके पृथकत्वकी बात बताई। इस सैद्धांतिक बातको बता चुकनेके बाद अब उसीको योगके प्रकाशमें समझाऊँगा। 'योग' शब्दका अर्थ है प्रयोग। इन सब बातोंको जानकर तुझे इस ज्ञानका प्रयोग करना

१. यहाँ भी आश्रमकी चोरीकी ओर इशारा है।

है। वही अब बताया जायेगा। 'योग' शब्द 'गीता'में बार-बार आता है। इससे प्रकट होता है कि कर्म किस तरह किया जाना चाहिए। कृष्ण कहते है, यदि तू यह जान लेगा, तो कर्मबन्धनसे छूट जायेगा।

[२२]

शनिवार, २० मार्च, १९२६

'गीता'को ध्यानसे पढ़नेवाले देखेंगे कि कल जो श्लोक हमने हाथमें लिया था उसके अर्थके विषयमें बड़ा मतभेद है। किन्तु मैं ऐसा मानता हूँ कि मैंने जो नियम स्वीकार कर लिया है, आप भी उसे स्वीकार कर लें। असमर्थ व्यक्ति साधुके समान भी लग सकता है। हम शास्त्रार्थके झगड़ेमें नही पड़ेंगे। बिशप बटलर एक बड़े विद्वान हुए, किन्तु उन्होंने शास्त्रार्थ न करनेकी प्रतिज्ञा ले रखी थी। एक नास्तिक आये। चाहते तो बिशप उसके साथ वाद-विवाद कर सकते थे, किन्तु उन्होंने अपने एक मित्रको पत्र लिखा कि मैं उनसे बहसमें नहीं पड़ूँगा। उन्होंने कहा कि यह सम्भव है कि मैं उनकी एकाध बातका जवाब तुरन्त न दे सकूँ अथवा मान लीजिए कि लोगोंके ऊपर मेरे कहनेका असर न पड़े तो उससे लोगोंपर हक-नाहक उलटा असर पड़ेगा। इससे तो चुप रहना अच्छा है। नास्तिकतामें विश्वास रखनेवाला झगड़ता हो तो झगड़े। स्वयंसिद्ध ईश्वरके विषयको लेकर तर्कमें क्यों पड़ें?

रायचन्दभाईको एक बार ऐसा लगा था कि वे शतावधानी बनकर जगत्का कल्याण करें। उन्होंने सोचा कि यदि किसी उच्च न्यायालयके न्यायाधीशकी अध्यक्षतामें बम्बईकी नगरपालिकाके सभाभवनमें वे भाषण दें और शतावधानताका प्रयोग करें, तो लोगोंकी प्रवृत्ति आत्मार्थी बननेकी ओर होगी। दो-तीन दिनके बाद उन्हें ऐसा लगा कि इस सारे आडम्बरमें पड़नेकी क्या जरूरत है। उन्होंने सोचा कि इससे तो लोग केवल उनकी अपनी शक्तिके बारेमें ही जान सकेंगे। उससे ईश्वरकी शक्तिका माप थोड़े ही हो सकता है और इसलिए उन्होंने एक पत्र लिखकर क्षमा माँगी कि मै वहाँ नही जाऊँगा और वह इसलिए कि मैं यह प्रदर्शन नहीं करना चाहता।

जिस तरह शिवके विषयमें भक्त कह सकता है कि भले ही वे दिगम्बर हों, नरमुण्डोंकी माला पहनते हों किन्तु मेरे लिए तो वे ईश्वर ही हैं, मुझे किसी दूसरे आराध्यकी आवश्यकता नही है। इसी प्रकार इस श्लोकके विषयमें भी समझना चाहिए। सांख्यके अनेक अर्थ हो सकते हैं। मुझे तो जितना समझमें आया उतना मैंने कह दिया और आपकी बुद्धिको जगाया। अब प्रयोग करके बता रहा हूँ। अर्थोकी विविधता शास्त्रियोके लिए रुचिकर हो सकती है, हमारे लिए नही। हमें तो शास्त्रोंका अवगाहन करके दास अथवा भक्त बनना है। ईश्वरको पहचानना है। ईश्वरको पहचाननेके लिए इतनी ऊहापोहकी आवश्यकता नही है। इस क्षण मेरे लिए तो सारा संसार, [सामने बैठे हुए] ये बालक ही हैं। मे उनकी बुद्धिको जाग्रत करूँ, और मनोविनोद करते

हुए उन्हें समझदार बनाऊँ। इससे अधिक मेरा कोई उद्देश्य नहीं है। हम रोज कहते हैं:

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।[1]

यदि इस नित्य पाठके बावजूद हम असत्‌को ही सत् मानते रहे और वैसा ही बरताव करते रहें तो शब्दोंकी यह आवृत्ति किस कामकी?

हमें तो प्रतिक्षण यही निर्णय लेते रहना है कि हमारे अमुक कार्यमें से आत्मा सिद्ध होती है या देह। हम देहका पिंजरा तो तोड़कर फेंक नहीं सकते, इसलिए हमें एकसाथ विद्या और अविद्याको जानना है।[2]

अब, जो व्यक्ति ज्ञानको व्यवहारमें उतारता है वह किस तरह त्राण पा जाता है, इस विषयमें कहते हैं:

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात्॥ (२,४०)

कर्ममार्गमें प्रयोग करनेवालेको दोष नहीं व्यापता। आरम्भका नाश नहीं है। इस धर्मका स्वल्प पालन भी महान भयसे रक्षा कर लेता है। यह राजमार्ग है, सहज मार्ग है, राजयोग है। इस मार्गमें किसीके ठोकर खानेकी बात तो रहती ही नहीं। आरम्भ कर देनेके बाद कोई अड़चन ही नहीं है।

मैंने कल ही एक भाईको लिखा कि तुम्हें भगन्दर नहीं है, कोई दूसरी बीमारी है। इनसे मैंने कहा कि भाई, रामनाम ही लेते रहो। इस आरम्भका नाश तो है ही नहीं। यदि मैं उनसे यज्ञ करवानेकी बात कहूँ तो उससे क्या होगा। सच्चा यज्ञ करनेवाला नहीं मिलेगा। और भी अड़चनें आयेंगी। न मैं यह कह सकता हूँ कि जगन्नाथपुरी चले जाओ और अमुक देवताको अमुक भेंट चढ़ाओ। यदि मेरे बताये उपायका अनुगमन करते हुए वह नास्तिक हो जाये तो? और यदि उसे यह रामबाण लग जाये तो वह महान भयसे छुटकारा पा जाये। इस व्यक्तिका रोग मानसिक है। इसके मनकी आसक्ति निकल जानी चाहिए। वह केवल रामनामका ही स्मरण करे। डाक्टर भी यही कहते हैं कि हम अपने रोगके बारेमें चिन्ता न किया करें।

यह एक महत्त्वपूर्ण श्लोक है। इसमें यह अद्भुत तत्त्व भरा हुआ है कि आरम्भका नाश नहीं होता। उसमें दोष नहीं है, रक्षण है। यह राजमार्ग है, समकोण है, सत्य है। सभी समकोण ९० अंशके होते हैं। यह मार्ग सत्यका है। इसका अनुसरण करनेमें किसी प्रकारकी हानि नहीं है, कोई नाश नहीं है। किन्तु गायकी रक्षा करनेके लिए असत्य भाषण किया जा सकता है या नहीं, प्राणरक्षाके लिए गोमांस खाया जा सकता है या नहीं, इस तरहकी दलील करनेवालेके लिए तो कोई रोक ही नहीं है।

१. *श्रीमद्भगवद्गीता* (२, १६)।
२. देखिए *ईशोपनिषद्*।

[२३]

रविवार, २१ मार्च, १९२६

आत्माकी देहसे भिन्नता सिद्ध करनेके लिए तीन बातें, तीन कसौटियाँ रखीं। 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' में निहित तत्त्वका हम प्रतिक्षण प्रयोग करके देख सकते हैं। किन्तु वह कौन-सी चीज है जिसे हम इसी क्षण कर सकते हैं और जिसके आरम्भका नाश नहीं होगा। हम ऐसी कोई वस्तुके विषयमें सोचें तो उत्तर यही मिलेगा कि तत्काल तो 'भगवद्भजन' का विचार ही किया जाना चाहिए और सो भी सावधान चित्तसे।

रामस्वामी अय्यरने असहयोग आन्दोलनके शुरूमें बम्बईमें [खादीके विषयमें] भाषण दिया था। और तब खाडिलकरने[1] कहा कि राजकीय प्रवृत्तियोंमें यही एक ऐसी प्रवृत्ति है जो तीनों शर्तोंको पूरा करती है। इसका फल तत्काल प्राप्त होता है। इसमें प्रत्यवाय नहीं है और यह साठ करोड़ रुपये खोनेके महान भयसे मुक्ति देती है।

यही बात समझानेके लिए आगेका श्लोक कहा गया है:

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ (२,४१)

हे अर्जुन, व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मक) बुद्धि तो एक ही है। मैं जो मार्ग तुझे बता रहा हूँ, उसपर बुद्धिको इतना अधिक दृढ़ रखना चाहिए कि वह इधरसे उधर न हो। अव्यवसायीकी, जो एकनिष्ठ नहीं है उसकी प्रवृत्तियोंकी अनन्त शाखाएँ होती हैं। बन्दरकी तरह मन एक डालसे दूसरी डालपर छलाँगें लगाता रहता है। ऐसी है यह बुद्धि। जैसे जीनेकी इच्छा रखनेवाला व्यक्ति वैद्य, संत-महात्मा, ओझा, जो मिले उसीकी मददके लिए आतुर हो जाता है, उसी प्रकार बन्दर एक डालीसे दूसरी डालीपर कूदता फिरता है और अन्तमें उसे असमय गोफनसे निकले हुए पत्थरका शिकार बनना पड़ता है। अव्यवसायात्मिका बुद्धिवाले मनुष्यका मन दिनोंदिन कमजोर होता चला जाता है और इतना अधिक अव्यवस्थित हो जाता है कि फिर उसे अपने मनमें बैठी हुई वासनाके सिवाय कोई दूसरी बात सूझती ही नहीं है। आजकी राजनीतिमें गुण एक भी नहीं है, दोष अपार हैं। क्योंकि उसमें खुशामद ही खुशामद है और भयसे त्राण देनेकी शक्ति नहीं है; उलटे वह खतरेमें डालनेवाली है। इससे आत्माका दर्शन करनेमें मदद नहीं मिलती। इसके फेरमें तो हम आत्मा खो बैठते हैं। इसमें पड़कर धर्म डूब गया, कर्म भी डूब गया। यह लोक और परलोक दोनों बिगड़ गये। किन्तु यदि चरखेकी प्रवृत्तिमें विश्वास उत्पन्न हो जाये तो उससे हम लोगोंको लाभ पहुँचा सकते हैं, स्वयंको सन्तोष मिल सकता है और हम महाभयसे अर्थात् जो लोग हमें दबाये हुए हैं, उनसे निर्भय होकर रह सकते हैं। साथ ही परलोक सुधारनेका साधन

१. आशय कदाचित् महाराष्ट्रके प्रसिद्ध उपन्यासकार, पत्रकार और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकरसे है।

भी हमें मिल जाता है। यदि कोई व्यक्ति इसका प्रयोग करते हुए मनमें दृढ़ निश्चय न रखे, तो मानना चाहिए कि वह राजमार्गका अनुसरण नहीं कर रहा है।

हम उसी हालतमें समताका अनुभव कर सकते हैं जब यह विश्वास रखें कि हम सब भिन्न होते हुए भी एक हैं। यों तो संसारमें दो पत्ते भी एक-से नहीं होते।

आगेके तीन श्लोकोंमें अव्यवसायीका वर्णन आयेगा।

[२४]

मंगलवार, २३ मार्च, १९२६

जो व्यक्ति छोटी बातोंके विषयमें निश्चयात्मक हो सकता है, वह बड़ी बातोंके विषयमें भी निश्चयात्मक हो सकता है। यदि उससे कहा जायेगा कि गीली मिट्टी लेकर उसका पिण्ड बनाओ और उसमें ध्यान लगाओ तो वह एकाग्र होकर ऐसा करेगा। जिसके मनमें ध्यान लगाते समय अनेक कुतर्क और जंजाल उठेंगे उसकी बुद्धि अव्यवसायी कहलायेगी। कर्मयोगकी साधना करनेवाला व्यक्ति छोटी-बड़ी सभी बातोंके विषयमें निश्चयात्मक बुद्धिवाला होता है।

अब अव्यवसायी बुद्धिका वर्णन किया जाता है। यह वर्णन करते हुए व्यासजीने जैसा कभी नहीं किया होगा, वैसा किया है — अर्थात् 'वेद'की निन्दा की है। शास्त्रोंमें अनेक अवान्तर बातें अंकित की गई हैं। फिर भी हम इन सबको ईश्वर-प्रणीत ही मानते रहे। यदि हम ऐसा करेंगे तो वेदवादरत कहे जायेंगे। 'वेद'का अर्थ होता है जानना। जिसके द्वारा हम ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं वह 'वेद' है। जो हमें ब्रह्मज्ञानके सर्वोत्तम साधनोंसे सज्ज कर दे वह 'वेद' है।

> यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
> वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।
> कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
> क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।
> भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
> व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।। (२,४२–४४)

अज्ञानी व्यक्तिगण अर्थात् वे लोग जो पण्डित होते हुए भी वास्तविक ज्ञानसे शून्य हैं, जो पुष्पित अर्थात् अच्छी लगनेवाली, नित्य नई कलियाँ फेंकनेवाली बोली बोलते हैं, जो वेदवादमें मशगूल हैं, अनेक कामनाओंवाले हैं (अनेक प्रकारकी इच्छाएँ रखते हैं और रखनेको प्रेरित करते हैं), जो स्वर्गपरायण हैं (केवल सुख भोगनेकी इच्छा करते हैं। जो यहाँ भी मनमाने मज़े लूटनेको कहते हैं और स्वर्गमें भी ऐसी ही वस्तुओंके मिलनेका प्रलोभन भरा वर्णन करते हैं), जो कहते हैं इस स्वर्गके अतिरिक्त कुछ [प्राप्य] है ही नहीं, जो सदा यही कहते हैं कि जन्ममें किये हुए कर्मोंका फल अवश्य मिलता है और सुख तथा बड़प्पन पानेके लिए अनेक क्रियाओंका उपदेश करते हैं (आज भी इस तरहकी बातें करनेवाले लोग हैं), जो अनेक देवताओंका

समाधान करनेके लिए कहते हैं और फलस्वरूप हमें पराधीन बना डालते हैं। जो काल्पनिक देवताओंकी काल्पनिक स्तुतियाँ करनेको कहते हैं और सभी देवताओंके देवताकी स्तुतिसे विमुख करते हैं। ऐसे व्यक्ति हमें रोज-रोज दलदलमें फँसाते चले जाते हैं। हमारे मनमें प्रायः तर्क-वितर्क हुआ करते हैं। इसे भी बहुशाखावाली बुद्धि कहेंगे। किसी छोटी बातको भी ले लें तो कह सकते हैं कि हमारी बुद्धि निश्चयात्मक नहीं हुई है। किन्तु यदि हम एक निश्चय कर लें और हृदयपूर्वक उसपर दृढ़ रहें तो हमारी बुद्धि निश्चयात्मक हो जायेगी और यह तभी होगा जब हम तत्काल फलकी आशा रखे बिना काम करें। आज राजनीतिके क्षेत्रमें कहिए, चाहे समाज-सेवाके क्षेत्रमें कहिए, हम एक शाखापरसे दूसरी शाखापर कूदते फिरते हैं। हमने शुरूमें गीली मिट्टीका दृष्टान्त लिया था और कहा था कि मिट्टीपर भी एकाग्र हो जायें तो आत्मदर्शन हो जाता है।

मुझसे एक सज्जनने पूछा कि आपको आत्मदर्शन क्यों नहीं हुआ। मैंने उनसे कहा कि साधन ही को मेरा साक्षात्कार समझ लीजिए। इस प्रश्नसे यही प्रकट होता है कि पूछनेवालाभाई मेरे वचनकी नम्रताको समझे बिना दूसरे अनेक लोगोंके पास भटकेगा। ऐसी ही स्थिति व्यासके कालमें थी। जो भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त हैं, जिनका मन अनेक प्रकारके वचनोंसे भ्रमित हो गया है, उनकी बुद्धि व्यवसायात्मिका, एक निश्चयवाली हो ही कैसे सकती है? समाधिका अर्थ होता है ईश्वरके विषयमें एक-ध्यान होना। इस समाधिमें व्यक्तिकी बुद्धि स्थिर कैसे हो सकती है। लाख मिले तो भी तृप्ति नहीं है। कल दस लाख पानेकी इच्छा करता है। आज जिसे लोग महात्मा कहते हैं इसलिए जो कल भी महात्मा कहलानेकी इच्छा करता है ऐसे व्यक्तिके चित्तमें अनन्त विकार उत्पन्न होते रहते हैं, रंग आते-जाते रहते हैं। उसका चित्त खादीके रंगकी तरह सफेद नहीं होता। उसका मन तो शौकीन स्त्रियोंकी तरह अपने चित्तको रंग-बिरंगी किनारदार साड़ी पहनानेका होता रहता है। ऐसा व्यक्ति ईश्वर-परायण हो ही नही सकता। जिस व्यक्तिके भीतर नम्रता हो और 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस'के भक्तराजकी तरह जिसके मनमें श्रद्धा हो, उसीकी बुद्धि व्यवसायात्मिका कही जायेगी।

[२५]

बुधवार, २४ मार्च, १९२६

कल हमने देखा कि भोग और ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाला व्यक्ति व्यवसायात्मिका बुद्धिवाला व्यक्ति हो ही नहीं सकता; जो हजरत अलीकी तरह समाधिस्थ हो, वही हो सकता है। जिसका चित्त पूर्ण रूपसे निर्मल हो गया है, जिसका अन्तर विकसित हो गया है, जाग्रत हो गया है और जिसका हृदय दर्पणकी तरह स्वच्छ हो गया है, उसीके स्वच्छ अन्तरमें ईश्वरका साक्षात्कार होता है। इसमें से यदि कोई स्वर निकलेगा तो वह रामनामका ही स्वर होगा। इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवानने 'वेद'की

चर्यामें रत व्यक्तिका उल्लेख किया। आगे एक ही श्लोकमें ऊपरके तीन श्लोकोंकी बात कही गई है:

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ (२,४५)

'वेद' तीन गुणवाले हैं। तू तीनों गुणोंसे शून्य हो जा। (किन्तु यह बात ठीक नहीं है। यदि यह तथ्य हो तो फिर 'वेद'को ईश्वरका वचन नहीं कह सकते। यहाँ अभिप्राय 'वेद'की उस व्याख्यासे है जो कर्मकाण्डी पण्डित करते हैं। यह केवल कर्मकाण्डात्मक 'वेद'की बात हुई, इसलिए यह एकपक्षीय वर्णन है। जिस 'वेद'में नेति-नेति कहा गया है, जिसमें सत्के सिवाय कुछ है ही नहीं, वह 'वेद' तो हमारे लिए पूज्य हैं। हम 'गीताजी'के आधारपर ही कह सकते है कि 'गीता' हमसे उस 'वेद'को माननेके लिए कहती है।)

निर्द्वन्द्व हो जा अर्थात् सुःख-दुखसे परे हो जा। पाण्डवों और कौरवोंके इस युद्धके साथ तेरा कुछ लेना-देना ही नहीं है, ऐसा बन जा। नित्यसत्वस्थ अर्थात् सदा चित्तको स्थिर रखकर बैठा रह। निर्योगक्षेम अर्थात् प्राप्ति-संग्रह और रक्षणका विचार ही छोड़ दे। किन्तु और कुछ नहीं तो देहका संग्रह तो करना ही पड़ेगा, इसलिए उसके विषयमें तटस्थ हो जा। योग और क्षेमके विचारसे शून्य होकर आत्मवान हो जा। ऐसा समझ ले कि मैं देह नहीं हूँ, नाम-रूप नहीं हूँ, वरन् इनसे अतीत हूँ।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ (२,४६)

जो वस्तु एक छोटेसे हौजमें है वह एक बहुत बड़े सरोवरमें तो होती ही है। जो व्यक्ति ब्रह्मको जानता है, उसे तो सब-कुछ प्राप्त हो चुकता है। सिद्धियाँ भी उसके पास हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्धियोंकी परिसीमा है। गुण तो 'वेद'में उपस्थित हैं ही, किन्तु जो गुणोंसे भी ऊपर उठ गया, वह ब्रह्मज्ञानी हो गया। जिसे राज्यासन मिल गया है वह कोई फौजदारी या दीवानी विभागका छोटा-बड़ा अधिकारी होना नहीं चाहेगा। जिसने गंगोत्रीको पा लिया उसे गंगाजी तो मिल ही गई। गंगासे जो-कुछ प्राप्त हो सकता है, वह सब गंगोत्रीमें प्राप्त ही है। फिर भी वह अलग-थलग और निर्द्वन्द्व बैठा रहता है। हुगलीके आगे गंगाका पानी मटमैला है, किन्तु ऋषिकेश अथवा हरद्वारके पास वह स्वच्छ है। जैसे-जैसे हम ऊपरकी स्थितिमें पहुँचते हैं, वैसे-वैसे अधिक स्वच्छता मिलती है।

(कुछ लोग इस श्लोकका दूसरा अर्थ करते हैं, किन्तु हम उसे छोड़ देंगे।)

इतना कहकर भगवान कहते हैं कि मैं जो राजयोग तुझे बताना चाहता हूँ, वह यह है:

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ (२,४७)

तेरा अधिकार कर्मके विषयमें ही है, फलके विषयमें नहीं। मालिक गुलामसे कहता है: तुझे कामसे काम है; खबरदार, अगर बगीचेके फलमें हाथ लगाया। तू

वही चीज ले सकता है, जो तुझे मैं दूँ। ऐसा ही ईश्वरने हमें बाँध रखा है। वह कहता है कि तेरी गरज हो तो काम कर, किन्तु फलपर तो मेरा ही अधिकार है। तुझे तो मेरी स्तुति करनी है और स्तुति करनी है कुदाली लेकर काम करते हुए; नदीकी काई साफ करते हुए, अपने आँगनका कूड़ा-करकट हटाते हुए। यह बड़ी कठिन बात कही गई है। गुलाम-मालिकका सम्बन्ध खराब सम्बन्ध है। इनके बीचका सम्बन्ध स्वार्थका सम्बन्ध है। सिंह और बकरेके बीच भी ऐसा ही सम्बन्ध है, किन्तु मनुष्य स्वयं दौड़-भाग करके ईश्वरके मुखमें जा पड़ना चाहता है। ज्ञानी मनुष्य वहाँ ज्ञानपूर्वक जाता है और कहता है: मुझे संसारकी गुलामी नहीं तेरी ही दासता स्वीकार करनी है। ईश्वर उसे अपनेसे जितना-जितना हटाता जान पड़ता है, वह उतना ही उसके अधिक पास जाता है। यह श्लोक इस विचित्र प्रकारके सम्बन्धको वर्णित करनेके लिए दिया गया है। पलकें आँखकी रक्षा करती हैं, किन्तु रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करती। वह तो अपने-आप होता रहता है। इसी प्रकार ईश्वर और मनुष्यके बीचका सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध है। मीराबाईने कहा है: "हरिजीने मुझे कच्चे धागेसे बाँध लिया है और वे जिधर खींचते हैं, मैं उधर जाती हूँ।" इस पदमें वर्णित सम्बन्ध भी हमारे और ईश्वरके बीचका सम्बन्ध है।

धागा कच्चा है और तिसपर एक ही है।

'मा कर्मफलहेतुर्भूः' कर्मफलका हेतु मत बन। [अ] कर्मका [भी] संग मत कर।[1] कर्मके भी लालचमें मत पड़।[2] तू यही समझ कि यह सब-कुछ मैं कर रहा हूँ। तू ऐसा क्यों मानता है कि यह सब तू कर रहा है? यदि मारना होगा, तो वह मारेगा। न मारना होगा, तो हाथ पकड़नेवाला भी वही है।

[२६]

गुरुवार, २५ मार्च, १९२६

'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'—मैंने कल इसमें 'अकर्मणि'की जगह 'कर्मणि' पढ़ा। यह इसलिए हुआ कि मैं सदा ऐसा ही बाँचता आया हूँ। अकर्म अर्थात् जो कर्म तुझे करना चाहिए उसके अतिरिक्त कर्म। इनमें तेरी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। तू अकर्मके प्रति आसक्ति मत रख।

> **योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।**
> **सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥** (२,४८)

संग [आसक्ति]को छोड़कर योगस्थ होकर कर्म कर। योग अर्थात् कर्मफलका त्याग। योग अर्थात् जो अकर्म है उसके फलकी इच्छा न रखना। हम किसी भी वस्तुके प्रति ममता रखकर काम न करें। क्या अच्छे कामके प्रति आसक्ति भी खराब है? हाँ। स्वराज्य प्राप्त करनेके विषयमें आसक्ति हो तो हम अशुद्ध साधनोंका उपयोग

१. देखिए अगली तिथिमें पहली पंक्ति।

२. अधिकांश टीकाकार इसका यह अर्थ करते हैं कि तू कर्मोंको छोड़नेके प्रति भी आसक्त मत हो।

करनेमें भी न हिचकिचायें। यदि कोई ऐसा आग्रह करे कि वह स्वयं अपनी पूनियाँ मुझे लाकर देगा, तो वह पूनियोंकी चोरी भी कर सकता है। इसलिए अच्छे कामके प्रति भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। साधन उसी अवस्थामें शुद्ध रहेंगे और कर्म भी शुद्ध रहेगा।

आगे कहते हैं, सफलता और विफलताके विषयमें सम रहना चाहिए। इसलिए तू सारे काम कृष्णके नामपर कर। अपना सिर उनकी गोदमें रख दे। जो समत्व रखता है, कहा जा सकता है कि वह योगका पालन करता है। इसी बातको आगे समझाते हैं।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।। (२, ४९)

बुद्धियोगके बिना किया हुआ कर्म बहुत ही हानिकर होता है। तू बुद्धिकी शरण ले। बुद्धि अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धि। इसके बाद तर्क-वितर्कमें पड़ना ही नहीं पड़ता है। फलकी इच्छा करनेवाला कृपण अर्थात् दयाका पात्र है।

[२७]

शुक्रवार, २६ मार्च, १९२६

जिसका कोई निश्चय है ही नहीं, उसका मन व्यभिचारी है। भर्तृहरिने व्यभिचारके अनेक प्रकारोंका वर्णन किया है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। (२, ५०)

जो व्यक्ति बुद्धियुक्त है, निश्चयात्मक बुद्धिवाला है; बुद्धिमें ही लीन हो गया है, वह योगी है। वह अच्छे और बुरे कार्यका त्याग कर देता है; अर्थात् दोनोंके विषयमें तटस्थ रहता है। इसलिए तू योगी बन। कर्ममें कौशल ही योग है। अमुक काम करना चाहिए या नहीं, यदि यह जानना हो तो मनुष्यको योगीके पास जाना चाहिए। इसीलिए कहा है कि जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और धनुर्धर अर्जुन हैं, वहाँ श्री, विभूति इत्यादि सभी कुछ है।[1]

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।। (२, ५१)

योगी पुरुष कर्ममें से उत्पन्न होनेवाले फलको छोड़ देता है और जन्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जिसका देहके प्रति मोह मिट गया है, उसका मरण कैसे हो सकता है? उसे तो अनामय पद — अमरपद मिलता है।

१. यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ (१८, ७८)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ (२, ५२)

जब तेरी बुद्धि मोहके दलदलको पार कर लेगी, तो सुनने योग्य अथवा सुने हुएके प्रति तुझे वैराग्य प्राप्त हो जायेगा अर्थात् तू तटस्थ हो जायेगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ (२, ५३)

बहुत सुननेके कारण विपरीत अवस्थाको प्राप्त तेरी बुद्धि जब ईश्वरके ध्यानमें लीन हो जायेगी, तब तू योगको प्राप्त होगा, समाधिमें अचल हो जानेपर व्यक्ति प्रेममें मस्त हो जाता है और इस संसारको तुच्छ गिन सकता है।

[२८]

शनिवार, २७ मार्च, १९२६

अब अर्जुन पूछता है कि जो समाधिस्थ है, उसकी भाषा क्या है। भाषा अर्थात् निशानी। माता जो पोषण देती है, वह अलग है और 'गीता' जो पोषण देती है, वह अलग। गीता-माताके सामने माता मिथ्या है। जिस व्यक्तिने 'गीता'को प्रयाण-कालतक अपने हृदयमें अंकित कर रखा है उसकी मुक्ति निश्चित है। जिस बालकने गीता-माताकी आराधना की होगी, वह बालक ध्रुव अथवा सुधन्वा-जैसा हो जायेगा। ये श्लोक समझकर आत्मसात् करनेकी दृष्टिसे कहे गये हैं।

हम 'स्थितप्रज्ञस्यका भाषा' वाले श्लोकसे लेकर दूसरे अध्यायके अन्ततकके श्लोक आश्रमकी सायंकालकी प्रार्थनामें पढ़ते हैं।

[२९]

रविवार, २८ मार्च, १९२६

भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि तू मेरा हाथ है। हाथको गति देनेवाला मैं हूँ। यह वैसा ही है जैसा हम सुबहकी प्रार्थनाके श्लोकोंमें कहते हैं कि सब इन्द्रियोंको गति देनेवाला तू है। धैर्य रखकर, एकध्यान होकर काम करनेवाला कर्ममें कुशल योगी कहलाता है।

[३०]

मंगलवार, ३० मार्च, १९२६

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ (२, ५५)

जो व्यक्ति मनमें आनेवाली सभी खराब कामनाओं — इच्छाओंको छोड़ देता है वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। खराब शब्द इसलिए जोड़ा कि यहाँ आश्रममें हम लोग रात-दिन काममें लगे रहते हैं। जो पंगु है उससे चलनेके लिए नहीं कहा जाता।

फिर भी अन्तमें तो इच्छा-मात्रको छोड़नेकी बात उपस्थित होती है। ईश्वर-दर्शनकी इच्छा भी। क्योंकि ऐसे व्यक्तिके लिए सभी कुछ स्वाभाविक हो जाता है। साक्षात्कार हो जानेके बाद ईश्वर-दर्शनकी इच्छा किसको रहेगी? नदीमें कूद पड़नेके बाद नदीमें कूदनेकी इच्छा नहीं रहती। जब हम ईश्वरमें तल्लीन हो जाते हैं, उसमें ओतप्रोत हो जाते हैं, तब उसके दर्शनकी इच्छा नहीं रहती।

नदीमें चौबीसों घंटे पड़े रहें तो बीमार हो जायेंगे। दिन-रात सोते रहें तो बीमार हो जायें और खाते ही रहें तो भी बीमार हो जायें। जिसकी हमेशा ही इच्छा करते रह सकें, ऐसी एक भी बात नहीं है। सुख-दुःखका प्रश्न इसीसे उत्पन्न होता है। जगत्में इच्छा एक ऐसी वस्तु है, जिसे जितना ज्यादा बढ़ाओ, वह उतनी अधिक बढ़ती जाती है। उसे जितना तृप्त करते जाओ, वह उतनी ही प्रबल होती जाती है। ऐसी ही 'गीताजी' की कथा भी है। यद्यपि मैं इसमें कोई बड़ा रस पैदा नहीं कर पाता, किन्तु यदि 'गीता' को सुननेकी सच्ची इच्छा हो तो वह बढ़ती ही जायेगी। यह इच्छा बढ़ती रहे तो इसका इच्छुक बीमार ही नहीं पड़ता, अथवा कह सकते हैं कि जो इच्छा हम सदा करते रहते हैं, प्रयासपूर्वक उसकी इच्छा नहीं करनी पड़ती। सूरज उदित और अस्त होता रहता है। उसके विषयमें हम चिन्ता नहीं करते। जिसे अपनी इच्छाओंका शमन करना हो, उसके सारे काम स्वाभाविक ही होने चाहिए। चलना-फिरना, उठना-बैठना जितना स्वाभाविक है, उतने ही स्वाभाविक।

जगत्में अच्छी वासना केवल एक है। इसको पूर्ण करनेके लिए जो-जो साधन आवश्यक हैं, उनकी इच्छा भी अच्छी इच्छा कहलायेगी।

जो इस तरह कामना छोड़ सकता हो, वह कौन है? जिसका आत्मा अपने-आपमें सन्तुष्ट हो, वही स्थितप्रज्ञ है।

कोई ईश्वरकी कथा सुना रहा हो तो हमें सब-कुछ भूलकर वहाँ दौड़ जाना चाहिए। 'रामायण', 'गीता' आदिका पाठ हो रहा हो तो हम उसमें लीन हो जायें। ऐसा व्यक्ति चार बजे सवेरे उठनेमें भी परेशानी नहीं मानेगा।

जो अपने विषयमें आत्मसन्तुष्ट होता है, उसके विषयमें नरसी मेहताने यह पंक्ति कही है: "ब्रह्म लटका करे ब्रह्म पासे" — ब्रह्मके सामने ब्रह्म नाचता रहता है। कविने इस पंक्तिमें वही कहा है, जो 'गीता' कहती है। ब्रह्म अपना पूरा आनन्द ब्रह्मके माध्यम, ब्रह्मकी संगतिमें ही प्राप्त करता है। गुलाम मालिकके बिना अपनी हस्तीकी कल्पना ही नहीं कर सकता। जो चौबीसों घंटे किसीका नाम रटता है, वह तन्मय हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा परमात्मा बन जाती है। आत्मा परमात्माकी किरण भले हो, किन्तु यह किरण भी सूर्य ही है। ईश्वरको छोड़कर हमारी हस्ती ही नहीं है। जो व्यक्ति ईश्वरकी दासता स्वीकार करता है, वह ईश्वरमय हो जाता है।

यह स्थिति उस व्यक्तिकी-सी स्थिति नहीं है जो अपने विषयमें सन्तुष्ट तो है, किन्तु जिसे सन्तुष्ट रहनेके लिए अनेक उपाधियोंका संग्रह करना होता है। हमें अपने-आपमें से सन्तोष प्राप्त करना चाहिए। साधन और साध्य दोनों एकरूप हो जाने चाहिए। किन्तु आत्मामें से आत्माका आनन्द कौन प्राप्त कर सकता है? कर्मोंको

भिन्न मनःस्थिति रखकर करें तो यह बात सम्भव हो जाती है। जो व्यक्ति अफीम खाकर सोयेगा उसकी नींद, अच्छी नीद नही होगी किन्तु जो निर्दोष ढंगसे सोता है, उसकी निद्रामें शान्ति होगी और उसका मन ईश्वरमें ओतप्रोत रहेगा।

इसके बाद जो श्लोक दिया गया है वह इसी श्लोककी टीका है।

जो मनुष्य स्वाश्रयी बनता है, ऐसा नही है कि वह दूसरेकी मदद नही लेता; बल्कि उसे दूसरेकी मदद लेनेकी जरूरत ही नही होती।

श्रद्धा हो तो बालक, स्थितप्रज्ञ बन सकते हैं। उनकी चिन्ता करनेवाले शिक्षक और माता-पिता होते हैं, इसलिए उन्हें कोई चिन्ता ही नही करनी पड़ती। वे अपने पिताके संरक्षणमें आचरण करते हैं। वे ब्रह्मचारी, मुनि और स्थितप्रज्ञ हैं। इस अर्थमें कि उनसे जितना कहा जाता है, वे उस सबको करते हैं, उस सबका पालन करते हैं। ऐसे सब बालक प्रह्लाद-जैसे बन सकते हैं।

[३१]

बुधवार, ३१ मार्च, १९२६

'प्रजहाति' वाले श्लोकका यह अर्थ तो हो ही नहीं सकता कि हम जैसे हैं वैसे ही बने रहें। यदि यह अर्थ होता तो दूसरी पंक्ति लिखी ही न जाती। जो व्यक्ति आत्मामें से ही सन्तोष प्राप्त करता है वह सभी कामनाओंका त्याग कर देता है। किन्तु आत्मामें से आत्मसन्तोष तभी प्राप्त हो सकता है जब अच्छे बननेकी इच्छा, उन्नतिकी इच्छा जाग्रत हो। जो व्यक्ति आत्माके आधारपर ही आत्मसन्तुष्ट होना चाहता है उसे तो इसमें बाधक होनेवाली सभी बातें छोड़ देनी चाहिए। यदि केवल शेखचिल्लीकी तरह कल्पना ही करनी हो तो फिर क्या अच्छा है, क्या बुरा है, यह सोचनेसे लाभ ही क्या? नरक अच्छे इरादोंका भण्डार है। इसीलिए कहा गया है कि एक खण्डी विचार नदीमें डाल दो, और आधा तोला आचरण करो।

(जो लड़का डटकर खाता है, वह ब्रह्मचर्यका पालन कर ही नहीं सकता, ऐसा मैंने एक अंग्रेजी पुस्तकमें पढ़ा था। पेटके चारों कोने भोजनसे नही भर देने चाहिए।)

> दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
> वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। (२,५६)

दुःखमें अपने मनको उद्विग्न न करनेवाला, दुःखसे दुःखी न होनेवाला, (दुःख किसी कारणका परिणाम होता है, इसे ज्ञानपूर्वक समझकर आपत्ति आनेपर दुःखी न होनेवाला) और भाँति-भाँतिके सुखोंके सामने होनेपर भी उनके प्रति आकर्षित न होनेवाला, जिसकी आसक्ति, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं ऐसे व्यक्तिको स्थितधी, अर्थात् जिसकी बुद्धि अचल रहती है और भँवरमें नही पड़ती, कहेंगे।

> यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
> नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (२,५७)

जो व्यक्ति सभी वस्तुओंपर से अपनी प्रीति और इच्छाओंको उठा लेता है; शुभ अथवा अशुभ वस्तु पाकर जो व्यक्ति तटस्थ रहता है, उदासीन रहता है, न प्रसन्न

रहता है, न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है; अर्थात् जहाँ होनी चाहिए, वहाँ है, ठिकानेपर है। इसके लिए दृष्टान्त देते हैं:

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (२,५८)

जिस प्रकार कछुआ अपने सारे अंगोंको सब ओरसे समेट कर अपने कवचके भीतर कर लेता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियोंको उनके विषयोंमें से खींच लेता है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है। वही व्यक्ति ईश्वरमें लीन माना जा सकता है, जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंको स्वेच्छासे समेट लेता है। जब हमारी इन्द्रियाँ चल-विचल हों, तब हमें सदा कछुएके दृष्टान्तपर विचार करना चाहिए। इन्द्रियोंके विषय मानो कंकड़ हैं। यदि हम उन्हें अपने वशमें रखें तो हमें कंकड़ोंकी चोट नहीं लगेगी अर्थात् हमें अपने हाथ-पाँव, आँख इत्यादि वशमें रखने चाहिए।

[३२]

गुरुवार, १ अप्रैल, १९२६

अब बताते हैं कि इन्द्रियोंके विषयोंको किस तरह रोका जाये।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। (२,५९)

जो आदमी अपनी देहको निराहार रखता है, विषय उसी आदमीके शान्त हो पाते हैं। जो आदमी डटकर खानेवाला होता है, उसकी सभी इन्द्रियाँ जागरूक रहती हैं किन्तु यदि वह खाना बन्द कर दे तो उनकी सारी शक्ति समाप्त हो जाये। अपनी इन्द्रियाँ जिसके वशमें न रहती हों, उपवास करना उसके लिए इष्ट है, ऐसा शास्त्र कहता है। रमजान, अधिक-मास इत्यादिमें निराहार रहनेके लिए कहा गया है; इस सबका उद्देश्य इन्द्रिय-दमन है। यदि मैंने यह सोचा हो कि आज अहमदाबाद जाकर नाटक देखूंगा, किन्तु उस दिन मैंने उपवास किया हो तो जानेका मन नहीं होगा। यदि विषयोंका शमन न हो तो लंघनकी अवधि बढ़ा देनी चाहिए। फिर भी शमन न हो तो एकदम निराहार रह जाना चाहिए। श्लोकके पहले भागका यह अर्थ हुआ।

अब दूसरा भाग:

विषय शान्त हो जाते हैं किन्तु रसका शमन नहीं होता, रस कायम ही रहता है। उपवास करनेवाले व्यक्तिको जबतक ऐसा लगता है कि मैं सुरक्षित हूँ तबतक उसे उपवास नहीं सालता, किन्तु सामान्य रूपसे रस बचा रह जाता है। उपवास करते हुए तो विकार शान्त हो जाता है, किन्तु व्यक्ति, जल्दी ही उपवास समाप्त हो जाए, ऐसी इच्छा करता रहता है। जबतक रस नहीं चला जाता, उपवास नहीं टिकता। वैराग्यके बिना त्याग नहीं टिकता। अवसर आनेपर विषय सिर उठाये बिना नहीं रहते। इसका यह अर्थ नहीं है कि त्याग निश्चित अवधिके लिए करना ही नहीं चाहिए। जिन चीजोंको छोड़ना जरूरी है, उन्हें छोड़ना अवश्य चाहिए।

श्लोकके पहले भागमें यह कहा गया है कि विकार निराहारके द्वारा रोकना चाहिए। किन्तु केवल निराहारी होनेसे ही पूरा फल नहीं मिलता। इसके लिए कुछ अधिक करना चाहिए। ईश्वरका दर्शन हो जाये तो रस भी शान्त हो जाता है। यह आखिरी बात एक पहेली-जैसी है। जबतक आदमीके विषयोंका नाश नहीं होता तबतक वह समाधिस्थ नहीं हो पाता; और जबतक व्यक्ति समाधिस्थ नहीं होता तबतक वह विषयोंका त्याग नहीं कर पाता।

इस पहेलीको किस तरह हल करें? धीमे-धीमे प्रयत्न करें। धीरे-धीरे और नित्य गहरे-गहरे ईश्वरकी झाँकी देखें। खानेका विचार ही छोड़ दें और मनमें ऐसा निश्चय करें कि विषयोंके दास बननेकी अपेक्षा अच्छा है कि मेरे देहका नाश हो जाये। किन्तु अपने गलेपर छुरी फेर लेनेसे तो दमन नहीं होता। दमन तो इच्छाओंका ही किया जाना चाहिए। जो व्यक्ति शरीरको निभानेकी दृष्टिसे खाता है, उसे खानेका अधिकार है; किन्तु खानेसे जिस व्यक्तिके विषय जाग्रत हो जाते हों, उसे आहार छोड़ देना चाहिए। आहार छोड़नेके बाद यदि वह धीरज रख सके, तो उसके विषय भी एकदम शान्त हो जायेंगे। यदि विषयोंके एकदम शान्त हो जानेके बाद देहको टिकाये रखनेकी दृष्टिसे पानी अथवा दूध लेनेका मन हो तो ले लें। बुद्ध भगवानके विषयमें कहा जाता है कि वे अपने उपवासके कारण मूर्च्छित होकर गिर पड़े थे। एक बहन[1] आई और उसने उनके होठोंपर दूध डाल दिया। क्या इस दूधसे उनके विकार जाग्रत हो गये? नहीं; उलटा हुआ। इसके बाद उन्हें ईश्वरका दर्शन हुआ।

इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि शुद्धिके लिए उपवास किया जाना चाहिए। किन्तु शास्त्र कहता है कि उपवास करनेके साथ-साथ विषय निवृत्तिकी पूरी-पूरी भूख भी होनी चाहिए। यदि साथमें दर्शन करनेकी इच्छा होगी तो उपवास फल सकेगा, अन्यथा नहीं। विषयोंकी निवृत्तिकी इच्छा भी ईश्वर-दर्शनके लिए की जाती है। उपवास करते हुए उसकी आतुरता यही होनी चाहिए कि मुझे तो ईश्वरके दर्शन करने हैं। विषय उसके आड़े आते हैं, इसलिए उन्हें समाप्त किये बिना चारा नहीं है। ईश्वर-दर्शन हो जानेके बाद खाना, न खाना एक-सा हो जाता है। विनोबाने चैतन्यके[2] विषयमें बताया कि शक्करकी डली उनकी जीभपर कंकड़ीकी तरह पड़ी रही, वह घुली ही नहीं। इसका यही कारण था कि रस मर चुका था। मैंने कहा है कि अन्तमें रस जीभमें नहीं मनमें होता है। जिस व्यक्तिका रस चला जाता है, वह समाधिस्थ हो जाता है; अथवा फिर उस व्यक्तिकी जीभपर भी कोई चीज नहीं घुलती, पीलिया जैसा रोग हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि त्यागी और रोगीकी स्थिति एक हो जाती है; एककी स्वेच्छासे, दूसरेकी जबरदस्ती।

चैतन्य देवको लगता था कि मैं ईश्वरकी कृपासे निभ रहा हूँ और मुझे जो-कुछ खाना है, वह ईश्वर-दर्शनके लिए ही। ईश्वरके साक्षात्कारके लिए विषयोंको सम्पूर्ण रूपसे जीतना चाहिए, भोगोंके प्रति रस भी जाता रहना चाहिए। यह

१. सुजाता।
२. महाप्रभु चैतन्य।

श्लोक इसी वातकी चावी है। विषयोंपर कावू रखनेके लिए निराहार रहना, अर्थात् इन्द्रियोंका आहार वन्द कर देना। इन्द्रियाँ यदि अपना व्यापार छोड़ दें तो इसका अर्थ उनका निराहार होगा। इसके वाद दूसरा कदम होना चाहिए आत्मदर्शनमें मनको लगाना। इसके वाद रस एकदम शान्त हो जायेगा। जिसे यह स्थिति प्राप्त हो जायेगी, उसकी स्थिति जनककी भाँति वन सकेगी।

[३३]

शुक्रवार, २ अप्रैल, १९२६

कलका श्लोक ही ले रहे हैं। यह वहुत महत्त्वपूर्ण श्लोक है। कल सारे दिन मैं इसीपर विचार करता रहा। चार सौ, पाँच सौ वर्ष पहले यूरोपमें और अरविस्तानमें इन्द्रिय-दमनको अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। पैगम्वरके समयमें नफ़स (इन्द्रियोंके समुदायके लिए यह शब्द वहुत अच्छा है। इसका एक अर्थ वासना भी है)का दमन करनेके लिए तीन वस्तुएँ आवश्यक मानी जाती थीं — वन्दगी, रोजा और जागरण। पैगम्वर साहव रातके दो-तीन वजेतक जागते रहते थे। खानेके विषयमें भी ऐसा ही था। पैगम्वर स्वयं ही रोजा रखते हों, ऐसा नहीं था। रोज़े रखना तो सवके लिए आवश्यक माना जाता था। दुनियादारीमें फँसे हुए लोगोंको भी रोज़े तो रखने ही चाहिए। पैगम्वर तो प्रायः रोजा रखते ही थे। रोजा रखते हुए दिनको पानी पीनेकी भी मनाही होती है। किन्तु सूर्यास्त हो जानेपर नियम है कि [कुछ खाकर] पानी पीना चाहिए। पैगम्वर साहव अपने ऊपर इस नियमको लागू नहीं करते थे। इसलिए उनसे किन्हीं सज्जनने पूछा कि जव आप नहीं खाते, तो हमें भी नहीं खाना चाहिए। पैगम्वर साहवने कहा: "न; तुमको खुदा खुराक कहाँ देता है? मुझे तो देता है।" यह सुनकर उक्त सज्जनने अपने मुँहपर तमाचा मार लिया और सोचा कि इन्हें खुदासे सन्देश मिलता है और वे हमें भी वही सन्देश दे देते हैं, किन्तु हम लोग तो उसके पालनका पाखण्ड-भर करते हैं। पैगम्वर साहवके लिए भूखा-प्यासा रहना सुखदायक था, क्योंकि वे तो हर समय ईश्वरके सान्निध्यमें थे। वे खुराकमें खजूर लेते थे। जहाँ मदिराका चलन होता है वहाँ घरों-घर अंगूरके मण्डप होते हैं। इसी प्रकार अरवमें घरों-घर खजूर लगे होते हैं। वे उन्हींमें से थोड़े खजूर तोड़ लेते थे। पैगम्वरके साथ रहनेवाले सेवकगण भी खजूर खाते थे। इनके लिए जो थोड़ा-वहुत आटा पीसा जाता था, वह भी मोटा होता था। जागते तो इतने अधिक थे कि वीवी साहिवाको चिन्ता हो जाती थी कि वे कव सोयेंगे। इस तरह नफ़सको दवानेके लिए और ईश्वरके दर्शन करनेके लिए जागरणके वाद वे उपवास भी करते थे। ऐसी ही स्थिति ईसामसीहकी भी थी। उन्होंने एकान्तवास किया, चालीस दिन उपवास किया और अतिशय देह-दमन किया। वादमें उन्हें लगा कि अव मैंने ग़ैवी-आवाज सुन ली है, ईश्वरने मुझसे वातचीत की है और मेरे-उसके वीचका परदा खुल गया है। उनके अनुयायियोंने भी ऐसा ही किया। उपवास, इवादत (भक्ति, उपासना)की परम्परा यूरोपमें आजतक चल रही है।

बादमें जर्मनीमें लूथर हुआ। उसने कहा कि इन लोगोंने ['बाइबिल' का] ठीक अर्थ नहीं लिया। इनमें दम्भका बोलबाला है। सूर्यके पीछे अन्धकार तो दौड़ता ही है। जहाँतक सूरज जाता है, वह लगभग वहाँतक पहुँच जाता है। किन्तु जहाँतक सूरज पहुँचता है, ठेठ वहाँतक नहीं। इसी प्रकार पवित्रताके पीछे दम्भ भी। इस दम्भको उन्होंने देखा। मठोंमें अनेक अन्धविश्वास और ढोंग उनके देखनेमें आये। यह एक अजीब बात है कि आदमीको जो-कुछ करनेकी आदत हो जाती है, वह उसे जड़-भावसे करता ही चला जाता है। उस कालमें व्यक्तियोंको जिन्दा जला दिया जाता था। वासनाओंको भस्म करनेवाले ऐसा मानते थे कि हम सबको अपनी इन्द्रियोंका दमन करना चाहिए और जो इन्द्रिय-दमन न करें, उन्हें भस्म कर दिया जाना चाहिए। ये सारी बातें लूथरने देखी और वे एक छोरसे दूसरे छोरपर चले गये। चाहे जितना बाह्योपचार क्यों न किया जाये, आन्तरिक संयमके बिना ईश्वरका साक्षात्कार नहीं हो सकता। किन्तु प्रोटेस्टेंटोंने यह मान लिया कि कैथोलिक जो-कुछ भी करते हैं, वह सभी ढोंग है और उन्होंने ईश्वरके साक्षात्कारके एक जबरदस्त साधनका सत्यानाश कर दिया। यह साधन व्यक्ति-विशेषके लिए खराब भी हो सकता है; किन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि वह करोड़ों व्यक्तियोंके लिए बुरा हो सकता है। तथापि उन्होंने तो यही माना।

हिन्दुस्तानमें भी आज ऐसी ही हवा चल रही है। कहा जाता है कि इन्द्रिय-दमन कठिन है, किन्तु वास्तवमें वह कठिन नहीं है। मैं यह बात अब मानने लगा हूँ कि ऐसा नहीं है। जिन दिनों प्रयोग करता था, उन दिनों भी मानता था। इसके लिए तीन चीजोंकी जरूरत है: (१) श्रद्धा; (२) निष्ठा इतनी कि अकेले रह जायेंगे तो भी हम यही मानेंगे कि विषयोंका दमन किया जाना चाहिए; (३) इस बातकी प्रतीति कि खुराकसे देहको पोषण मिलता है, वह देहको निभानेका साधन है; किन्तु वह इन्द्रियोंको विक्षिप्त बनानेका साधन भी है। इसलिए विषयोका पोषण बन्द होनेके लिए खुराक भी बन्द की जानी चाहिए। जब भाप इंजिनको चलाना बन्द कर देती है, जब उसकी नली फट जाती है तब भापको एकदम बन्द कर दिया जाना चाहिए। सयाना इंजीनियर समझ जायेगा कि इस समय भापको नहीं रोकूँगा तो इंजिन फट जायेगा। ऐसी ही स्थिति यहाँ भी है। इसलिए यदि देहको पोषण देते हुए इन्द्रियाँ विक्षिप्त आचरण करें, तो खुराक बन्द कर दी जानी चाहिए। किन्तु रस तो फिर भी समाप्त नहीं होगा, इसलिए इसके साथ ईश्वरके अनुग्रहकी प्रार्थना चलती रहनी चाहिए। हम प्रार्थनामें[1] ईश्वरसे अपने सहस्र अपराधोंकी क्षमा माँगते हैं। ये ऐसे अपराध हैं जो व्यक्तिको वह जहाँ नहीं जाना चाहता वहाँ खींच ले

१. कदाचित् अभिप्राय आश्रमकी प्रातःकालीन प्रार्थनाके निम्नलिखित श्लोकसे है:

कर-चरण-कृतं वाक्-कायजं कर्मजं वा
श्रवण-नयनजं वा मानसं वाऽपराधम्।
विहितम् अविहितं वा सर्वमेतत् क्षमस्व
जय जय करुणाब्धे! श्रीमहादेव! शम्भो! ॥

जाते हैं, इच्छाके बिना व्यक्ति घिसट जाता है। हम ऐसे हजारों अपराधोंके लिए ईश्वरसे कृपाकी याचना करते हैं। इसलिए जिस व्यक्तिको विश्वास हो गया है कि वासनाओंका दमन किया ही जाना चाहिए और फिर वह व्यक्ति उपवास करता है, तो इसमें बुराईकी कोई बात नहीं है। यदि वह व्यक्ति आस्था रखेगा, तो अवश्य पार लगेगा। न लगे, तो ईश्वरका कौल झूठा हो जायेगा। किन्तु अनुभव तो यह है कि ईश्वरका कौल झूठा नहीं पड़ता। दस, बीस, चालीस उपवास करके हार नहीं माननी चाहिए। गिबनने[1] [अपने इतिहासमें] एक भी बात बिना गहरी खोज किये नहीं लिखी। उसने कैथोलिक सम्प्रदायमें लगातार पचास-पचास दिनोंतक उपवास करनेवाले व्यक्तियोंका उल्लेख किया है। उन्होंने उस हदतक इन्द्रिय-दमन भी अवश्य किया होगा। किन्तु इस कठिन कालमें लोग ऐसा मानने लगते हैं कि पाँच दिन उपवास करते हुए हो गये, कोई फल नहीं मिला! ऐसा नहीं मानना चाहिए कि रस आसानीसे समाप्त हो जाता है। रस समाप्त न हो और बिना खाये रहा भी न जाये तो खुराक ले ली जा सकती है, किन्तु हार नहीं माननी चाहिए। बादमें फिर उपवास शुरू करना चाहिए। इस सत्यमें बरबाद हो जानेमें भी जीत ही है। दस बार निष्फल होंगे, बीस बार निष्फल होंगे, किन्तु अड़े रहें तो अन्तमें जीत ही है। इस बातकी ऐसी जबरदस्त खूबी है। इसीलिए मैंने यह कहा। जो बात रोमनकैथोलिक सम्प्रदायमें देखी जाती है वही इस्लाममें भी है। जो आज पाखण्ड फैला रहे हैं, वे इस्लामको थोड़े ही समझते हैं। किन्तु जो एकान्तमें पड़े-पड़े इबादत करते हैं, उन्हें साक्षात्कार अवश्य होता है। वे तो भोग-मात्रको छोड़ देते हैं। भोग और त्याग साथ-साथ नहीं चल सकते। खानेका प्रयोग तो केवल देहका किराया चुकाने जैसा है। यदि हम यह बात समझ लें तो 'गीता' समझने योग्य बन जायेंगे।

एक दूसरी बात (जिसके विषयमें आज अधिक नहीं कहूँगा) वह यह है कि 'गीता' के गायकने सिद्धान्तोंको बेधड़क कह दिया है। यदि हम इन सिद्धान्तोंकी छानबीन करें तो वे सदोष सिद्ध नहीं होते। किन्तु उन्हें अमलमें लाते हुए कठिनाई होती है। किन्तु इसके बारेमें आगे कहूँगा।

इस प्रकार विषयोंके बारेमें कह चुकनेपर दूसरा श्लोक आता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।। (२,६०)

प्रयत्न करते हुए भी बुद्धिमान पुरुषकी इन्द्रियाँ विक्षिप्त आचरण करती हैं। वे उसे विचलित कर देती हैं। बलात् मनका हरण कर लेती हैं। ज्ञानी पुरुषको भी खींच कर ले जाती हैं। इन्द्रियाँ मुँहजोर घोड़ेकी तरह हैं। सारथी सावधान न हो, बागडोर ठीक न हो, तो वह मनुष्यको कहीं-कहींको ले जायें। "मरकट तिसपर मदिरा पिये हुए" ऐसी स्थिति है।

१. एडवर्ड गिबन (१७३३-९४); रोमन साम्राज्यके पतन-सम्बन्धी इतिहासके प्रसिद्ध लेखक।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (२, ६१)

जो सभी इन्द्रियोंको वशमें करके मत्परायण होकर स्थितधी वनकर बैठ जायेगा, तो इसके बाद उसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें हो जायेंगी। वह व्यक्ति योगी है।

इस तरह बता दिया कि स्थितप्रज्ञ किस तरह बना जा सकता है।

[३४]

शनिवार, ३ अप्रैल, १९२६

कल कहा कि रसको शान्त करनेके लिए निराहारता, भक्ति, प्रार्थना और जागरणकी आवश्यकता होती है। किन्तु जबतक साक्षात्कार नही होता तबतक रसका क्षय नहीं होता। प्रश्न यह है कि क्या इस देहके रहते हुए रसका सचमुच क्षय होता भी है। मुझे प्रतीति हुई है कि इस देहमें रहते हुए कोई भी व्यक्ति मुक्त हुआ नही कहला सकता, मोक्षके योग्य हुआ कहला सकता है। जनक-जैसोंको मुक्तात्मा कहते हैं। वहाँ 'मुक्त' को एक व्यावहारिक प्रयोग समझना चाहिए। उसका यह अर्थ हुआ कि ये महापुरुष मरनेके बाद मुक्त हो जायेंगे और फिर उन्हें जन्म नही लेना पड़ेगा। ऐसा कहना कि यह देहके रहते मुक्त हो गया है, मुक्त शब्दके अर्थको तोड़ने-मरोड़ने जैसा है, क्योंकि देहके साथ जबतक थोड़ा भी सम्बन्ध बना हुआ है; तबतक मुक्त होना शेष ही है। थोड़ा भी विचार करें तो मालूम हो जायेगा कि अहंभाव सर्वथा शून्य हो जाये तो देह चल ही नही सकता। देहको टिकानेकी इच्छा न हो, तो देहका नाश ही चाहिए। हाथको थोड़ा भी हिलाना चाहें तो मन भी थोड़ा हिलेगा। यदि देहमें से मनको भस्मसात कर देना हो तो देहको ऐसा हो जाना चाहिए जैसे 'जला हुआ रेशमी धागा' आकृति-भर रह जाता है। जो व्यक्ति हिलता-डुलता है, उसका [अहंभाव] थोड़ा-बहुत तो शेष बच ही गया है। वैज्ञानिक शीशीमें से हवा निकाल लेते हैं, फिर भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म हवा रह ही जाती है। हवा कमसे कमतर और पतली होती चली जाती है, केवल वैज्ञानिक ही जान पाता है कि अभी हवा बाकी है। इसी तरह जबतक देहके साथ चलने-फिरनेकी क्रियाका किंचित्मात्र सम्बन्ध भी बचा है, तबतक रसका सर्वथा क्षय नही होता। इसके सिवाय जबतक रंचमात्र भी हिंसा बची है, तबतक मोक्ष नहीं है; और देहकी छोटीसे-छोटी क्रियामें भी हिंसा तो होती ही है। देह एकदम निश्चेष्ट हो जाये, तब भी बहुत ही कम क्यों न हो, कुछन-कुछ हिंसा शेष रह जाती है। कल्पनामें भी हिंसा है। इसलिए तबतक सम्पूर्ण आत्मदर्शनकी स्थिति नहीं होती, यह स्थिति मनके लिए भी अगम्य है।

अर्थात् विषयका सर्वथा क्षय देहावसानके बाद ही होता है। ऐसा कहना एक भयंकर बात तो है, किन्तु 'गीताजी' भयंकर सत्यका प्रतिपादन करते हुए संकोच नहीं करतीं। सत्यको यदि कोई कहे नहीं, तो वह इसीसे छुपा नही रह सकता। मोक्ष सर्वोपरि वस्तु है। योगीगण भी इसका दर्शन ध्यानमें ही कर सकते हैं। इसलिए कहना चाहिए कि देहधारी जबतक देहके भीतर पड़ा हुआ है, तबतक उसकी मुक्ति

नहीं हुई है। कैदी कैदमें पड़ा हुआ है और वादशाह उससे कहता है कि तू अव छूटने-वाला है। पर जबतक वह छूटा नहीं है, तबतक तो कैदखानेमें ही पड़ा हुआ है।

कैदसे छूटनेके वादका दृश्य तो उसके मनमें ही है। इसी तरह यदि इस आत्माको कोई चीज मिलनी है या कोई चीज उसे प्राप्त करनी है तो जबतक वह इस पिंजरेमें पड़ी हुई है, तबतक नहीं।

और यह स्थिति बिलकुल ठीक है। निकलनेके वाद और निकलनेके पहलेकी स्थितिमें भेद क्योंकर नहीं होगा?

सत्य एक इतनी प्रौढ़ और महान वस्तु है कि जैसे-जैसे उसपर विचार करते हैं वैसे-वैसे यही प्रतीति होती है कि सत्यका अनुभव करना हो तो देहके विषयमें अनुराग बिलकुल ही मिट जाना चाहिए। मोक्षके लिए मनमें आतुरता होनी चाहिए। मोक्षका मूल्य इस विचारके कारण दिनोंदिन बढ़ता चला जाना चाहिए। यदि यह बड़ीसे-बड़ी वस्तु है, तो फिर देहमें रहते हुए इसे अप्राप्य ही मानना चाहिए। जब-तक देहके फाटक खुल नहीं गये हैं, तबतक इसकी सुगन्ध नहीं आती। बात भयंकर लगे अथवा न लगे, सिद्धान्त यही है।

इस वस्तुके अधिक विचार अथवा ऊहापोहमें हमें नहीं पड़ना है। साध्यके विषयमें सोच लेनेके बाद सोचना केवल साधनके विषयमें ही चाहिए और यदि साधन; शुद्ध रहें, तो साध्यको तो मुट्ठीमें ही समझना चाहिए। यदि पिताके ऊपर विश्वास है तो हमारा प्राप्य हमें मिला हुआ ही है। वसीयत आदिके वारेमें पूछना जरूरी नहीं है। इसी तरह इस बातके विषयमें वादविवाद करना आवश्यक नहीं है। इसे तो यूक्लिडकी सरल रेखा जैसी वस्तु समझना चाहिए। समकोण भी अभीतक जगतमें कोई नहीं बना सका; किन्तु अपूर्ण समकोणसे मकान बँध जाते हैं। उसी तरह वास्त-विक मोक्ष कल्पनामें है। सरल रेखाको मिटा दो, तभी सरल रेखाकी कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार देह छूटनेके वाद ही मुक्तिको अवकाश है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात्प्रणश्यति।। (२, ६२-६३)

विषयोंके बारेमें सोचते-सोचते विषयोंके प्रति मोह उत्पन्न हो जाता है। अब श्रीकृष्ण इन्द्रियोंके विषयोंसे छूटनेका क्रम बताते हैं। किसी वस्तुको प्राप्त करनेकी बात सोचनेका अर्थ है उसे प्राप्त करनेकी प्रबल आसक्ति — संग, आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है और पारा चढ़ जाता है। आसक्ति उत्पन्न होनेके वाद आदमी उसके लिए आतुर हो जाता है और काममें से क्रोध उत्पन्न होने लगता है। जिसे पानेका निश्चय किया था, उसे न पाकर क्रोध उत्पन्न होता है। जैसे-जैसे हमारी कामनाका विषय दूर होता जाता है, वैसे-वैसे सम्बन्धित व्यक्तिपर क्रोध बढ़ता जाता है। क्रोध मोहमें प्रतिफलित होता है और उससे आदमी अपना भान खो बैठता है। उसके बाद स्मृतिभ्रंशकी स्थिति आ जाती है। 'मैं कौन हूँ, कहाँसे आया' आदि बातें विस्मरण

हो जाती है। याद रहें तो व्यक्ति अपनी मर्यादा समझता रहे न? और जिसकी स्मृति चली गई, उस व्यक्तिकी बुद्धिका नाश हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मानो मर ही गया। कुछ लोग कभी-कभी हँसते-हँसते फाँसीपर चढ़ जाते हैं। किन्तु इस तरह तो उनका यह लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। इस तरह विषयका ध्यान करनेमें व्यक्तिका नाश हो जाता है। यह आत्महत्या करनेके बराबर है। इससे केवल शरीरका नाश ही नहीं होता, अनेक जन्मोंतक उसका उद्धार भी नहीं होता। इसलिए विषय जागा नहीं कि उसे तुरन्त ही नष्ट कर देना चाहिए। सबसे पहली बात है, विषयके विचारसे मुक्त होनेकी। विचारसे मुक्त होना हो तो ईश्वरमें मन लगाना चाहिए और समाधिस्थ हो जाना चाहिए।

[३५]

रविवार, ४ अप्रैल, १९२६

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ (२,६४)

किसी भी वस्तुके प्रति प्रीति होती है और द्वेष होता है। जो इन्द्रियाँ इस स्थितिसे छूट गई हैं और जो इन्द्रियाँ हमारे वशमें हैं, यदि हम उन इन्द्रियोंका उपयोग करते हैं तो ईश्वर-कृपाके अधिकारी बनते हैं। जिसके कान, नाक, आँख अपना-अपना स्वाभाविक काम करते रहते हैं और जिसमें विचारपूर्वक कुछ भी नहीं करना पड़ता — पलकें विचारपूर्वक उठाई-गिराई नहीं जाती — यदि ऐसा करना पड़े, तो उसे रोग मानेंगे — उसकी राग-द्वेष रहित इन्द्रियाँ स्वाभाविक काम करती चली जाती हैं।

कानका स्वभाव क्या होना चाहिए? आत्मामें स्थित रहकर ही जब आत्मसन्तोष प्राप्त हो जाये, तो ऐसे व्यक्तिको समाधिस्थ कहेंगे। उसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें होती हैं। जिसका मन एकाग्र हो गया है उस व्यक्तिका कान उसकी आत्माका गुलाम हो जाता है। आज तो हम इन्द्रियोंके गुलाम हैं। उस गुलामीसे निकलकर हमें आत्माका स्वराज्य प्राप्त करना है। तब फिर कान केवल आत्माका दिव्य गान सुनेगा। जोर-जोरसे नगाड़े बजते हों, तो उन्हें भी नहीं सुनेगा। जबतक आत्मा इस शरीरमें है, तबतक वह शरीरका स्वामी अथवा देवता होकर रहेगा, और इन्द्रियोंसे अनायास ही काम लेगा। उसे पण्डितजीका गायन सुननेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। वह तो केवल ईश्वरकी स्तुति सुनेगा।

जिस तरह संजयको दिव्य दृष्टि दी गई थी, उसी तरह हमारे कान और आँखके पीछे दिव्य कान और आँखें हैं। जो व्यक्ति आत्मवशी है, उसे भीतरकी इन्द्रियाँ मिल जाती हैं तो बाहरकी इन्द्रियोंकी जरूरत नहीं रहती। बाहरकी इन्द्रियोंमें तो कुछ-न-कुछ रागद्वेष रह ही जाता है। कोई हमारे हाथ काटे तो भी वे अपने-आप न हिलें, ऐसी स्थिति हो जानी चाहिए। इंग्लैंडमें एक बड़ा पादरी[1] हो गया है।

१. अभिप्राय कदाचित् ह्यु लेटिमरसे है। इस प्रोटेस्टेंट सुधारकको क्वीन मेरीने सन् १५५५ में जलवा डाला था। अभिप्राय केन्टरबरीके आर्क बिशप टॉमस क्रैमरसे भी हो सकता है। इन्हें भी क्वीन मेरीकी आज्ञासे जला दिया गया था।

उसने अपने हाथ जलाये जानेके लिए पहले ही सामने कर दिये थे। हजरत अलीको तीरकी पीड़ाका भान नहीं हुआ, क्योंकि उनका मन तो ईश्वरके ध्यानमें लीन हो गया था। जो व्यक्ति इन्द्रियोंके हाथ बिक नहीं गया है, बल्कि जो ईश्वरका दास बन गया है, उसे ईश्वर इनाम (प्रसाद) माँगनेका अधिकार नहीं है। दुनियाका सरदार बननेके बजाय जो ईश्वरका गुलाम बन गया है, वह ईश्वरके कोड़े खाते हुए भी यही मानेगा कि ये कोड़े हितके लिए मारे जा रहे हैं। हम ऐसी प्रार्थना क्यों करते हैं कि हे प्रभु, हमारे प्राणोंको और भी प्राणवन्त बना। ईश्वरका मनुष्यको रचनेमें स्वार्थ है — दिव्य स्वार्थ है और वह यह कि व्यक्तिको अपनी इन्द्रियोंसे कुछ भी निसबत न रहे, बल्कि वह ईश्वरका ही ध्यान करता हुआ उसकी ही सेवामें रहे।

यह तो सिद्धान्तकी बात हुई। व्यवहारमें व्यक्तिको चाहिए कि जो अच्छा है, उसे स्वीकार करे। दिव्य गान न सुन पाता हो, तो अच्छे गान सुने। ऐसे काम करे जिससे आत्माके साथ अनुकूलता प्राप्त होती हो। जबतक आदमीको विवेकसे काम लेना है, तबतक उसे चाहिए कि वह अच्छेको चुने, बुरेको छोड़े। परिणामस्वरूप इन्द्रियोंको स्वाभाविक क्रिया सध जायेगी। यदि व्यक्ति ऐसा करे, तो

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ (२,६५)

ईश्वरकी कृपासे शान्ति प्राप्त हो जानेपर सभी दुःखोंका नाश हो जाता है। जिसे राम रखे उसे कौन मार सकता है। जिसके ऊपर ईश्वरकी कृपा बरसती ही रहती है, उसके सारे दुःखोंकी हानि (नाश) हो जाती है। जिस व्यक्तिका चित्त शान्ति पा गया है, जिसमें ईश्वर ही रमता रहता है, उसकी बुद्धि स्थिर और सुरक्षित हो जाती है। अब इससे उलटी स्थितिका वर्णन है:

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ (२,६६)

इसलिए जो ईश्वरके साथ युक्त नहीं है, जो समाविस्थ योगी नहीं है, उसके बुद्धि ही नहीं है। अव्यवसायीकी बुद्धिकी तो अनेक शाखाएँ होती हैं, इसलिए वह बुद्धि ही किस काम की। उसमें भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। उसके हृदयमें से राम-नाम नहीं निकलता। जिसमें यह भावना-ध्यान नहीं है, उसे शान्ति कैसी? भावनायुक्त व्यक्ति ध्यानस्थ होकर बैठ सकता है, किन्तु अशान्तको सुख कहाँसे मिले?

[३६]

मंगलवार, ६ अप्रैल, १९२६

'गीता' का पाठ प्रारम्भ करनेके पहले उसके पदार्थ-पाठकी थोड़ी चर्चा कर लें। आज छठवीं तारीख[1] है। यह तारीख हिन्दुस्तानके जागनेकी तारीख है। मैं ऐसा मानता

१. ६-४-१९१९ को रौलट एक्टके विरुद्ध सारे देशमें हड़ताल की गई थी। देखिए खण्ड १५, पृष्ठ १८९-९४।

हूँ कि यह धर्म-जागृतिकी तिथि है। सामान्यतया इसे लोग राजनीतिसे सम्बन्धित तारीख मानते हैं। हमने इस दिन उपवास रखा था; नदीमें स्नान करके देवदर्शन किये थे; मुसलमानोंने मसजिदोंमें प्रार्थना की थी; पारसियोंने अगियारीमें। इनमें सच्चे लोग कितने थे, यह कौन कह सकता है? किन्तु उस समय तो सभी सच्चे लगते थे। वह सत्याग्रहका दिन था। शामको 'हिन्द स्वराज्य' बेचकर कानूनका सविनय भंग प्रारम्भ किया गया था। उस दिन तो लोग — हिन्दू, मुसलमान, पारसी, सभी पागल हो गये थे। आज भी हमने चौबीस घंटोंका उपवास किया है। इसका हेतु समझ लेना चाहिए। इसका हेतु है अपनी आत्माकी जागृति। असत्‌में से सत्‌में जाना। अन्धकारमें से प्रकाशमें जाना। हमारी यह अभिलाषा कोई दूरकी अभिलाषा नहीं है, तात्कालिक अभिलाषा है। शान्ति और सत्यके प्रतीककी तरह हमने चरखेकी कल्पना की है। वह लकड़ीका बना हुआ ही क्यों न हो; किन्तु यदि हमने उसमें चिन्तामणिकी कल्पना कर ली हो, तो वह चिन्तामणि है। जो इसे केवल चरखा मानता है, वह बुद्धिमान हो सकता है, किन्तु जो इसे चिन्तामणि मान रहा है वह अधिक बुद्धिमान है। जड़से-जड़ व्यक्ति भी यदि केवल मिट्टीके ढेलेमें ईश्वरकी कल्पना कर सकता है तो चरखेमें कितनी अधिक कल्पना नहीं की जा सकती। और अगर तब हम चरखेमें स्वराज्यकी कल्पना करते हैं, तो इसमें अजीब बात कौन-सी है। इस तरहकी कल्पना धर्म-विरोधी कल्पना नहीं है। ऐसा मानकर हम उपवास करें और चरखा चलायें। सारा हिन्दुस्तान सो जाये, तब भी सत्याग्रहाश्रम तो जागता रहेगा। और मैंने तो चरखे द्वारा स्वराज्य लेनेकी बात कही है। 'भगवद्‌गीता' में तो कहा है कि स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र सभी इसे पा सकते हैं। इस तरह यह एक ऐसा काम है, जिसे हम सब कर सकते हैं। शरीर हृष्ट-पुष्ट है अथवा नहीं है, जिसका मन अडिग है, वह इसे कर सकता है। इसलिए हम दृढ़ बन जायें और यदि हम अपनी इन्द्रियोंको मन डिगानेकी आज्ञा न दें, तो हम सत्याग्रहके लिए तैयार हो सकते हैं।

अब आजका श्लोक :

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। (२,६७)

विषयी व्यक्ति जहाँ-तहाँ भटकता है। उसे नित्य नई पोशाकोंकी जरूरत होती है। जो सूझता है, वही खाता है, पहनता-ओढ़ता है। यदि इन विषय-लोलुप इन्द्रियोंमें से एक भी इन्द्रिय निरंकुश हो, भटकनेवाली हो और यदि इस एकमें भी मन लग जाये, तो यही एक इन्द्रिय मनुष्यकी बुद्धिका हरण कर लेती है। जिस तरह तूफान जहाजको समुद्रमें उठाता-गिराता है, चट्टानपर पटक देता है या रेतमें ले जाकर डाल देता है, इसी तरह वह एक इन्द्रिय इस मनुष्यका नाश कर देती है। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ भटक गई हैं और जिसका मन उनमें से किसी एकके ही वश हो गया है, उस व्यक्तिको समाप्त मानना चाहिए। मोहसे विनाशकी जो परम्परा बताई गई है, मनके एक विषयमें लीन हो जानेपर भी आदमीका वही हाल हो जाता है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (२,६८)

जिस मनुष्यकी इन्द्रियाँ निग्रहमें हैं, विषयोंसे अलिप्त रखी गई हैं, वह मनुष्य समाधिस्थ है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (२,६९)

अन्तमें स्थितप्रज्ञके लक्षण एक श्लोकमें दे दिये गये हैं। सबके लेखे जो रात्रि है, स्थितप्रज्ञ उस रात्रिमें जागता रहता है और जब ऐसा लगता है कि भूतमात्र — सभी लोग जाग रहे हैं, तब इस पारदर्शी मुनिके लिए रात रहती है। यह स्थिति सत्याग्रहाश्रमके लिए हो सकती है। जब हमारे चारों ओर अन्धकार फैला हुआ है तब हम प्रार्थना करें कि हमें प्रकाश दिखता रहे। यदि हम वीर हैं तो संसार वीर है। हमें समझ लेना चाहिए कि 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'। इस तरह हमें सारे संसारका बोझ अपने कन्धोंपर लेनेके लिए तत्पर हो जाना चाहिए, किन्तु यदि हम सारे संसारकी ओरसे तपश्चर्या करेंगे तभी यह भार उठानेके योग्य बनेंगे। तभी जहाँ जगत्को अन्धकार दिखाई देता है, हमें प्रकाश दिखाई देगा। यदि लोगोंको चरखा निकम्मा लगता है, तो लगे। लोग मानें कि स्वराज्य उपवाससे नहीं मिलेगा, तो भी कोई बात नहीं है। हम यही कहें कि अवश्य मिलेगा। क्योंकि यदि हम 'यावानार्थ उद्पाने' अर्थात् उपवास आदिसे ईश्वरके राज्यमें हम उसके सेवककी वर्दी पा सकते हैं, तो फिर इस स्वराज्यमें वैसा क्यों नहीं हो सकता। जगत् कहेगा कि इन्द्रियाँ निग्रहमें नहीं रह सकतीं। हम कहेंगे, जरूर रह सकती हैं। लोग कहेंगे कि सत्यसे दुनिया नहीं चली। हम कहेंगे, अवश्य चलती है। स्थितधी और संसारके बीच पूर्व-पश्चिमका अन्तर है। जगत्के लिए जो रात्रि है, वह हमारे लिए प्रकाश है। और जो जगत्के लिए प्रकाश है, वह हमारे लिए रात्रि है। इस तरह इन दोनोंके बीचमें असहयोग है। यदि हम 'गीता' का ठीक अर्थ समझते हों, तो ऐसी हमारी स्थिति हो जानी चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम दूसरोंसे बड़े हो गये। हम बड़े नहीं हैं, छोटे हैं। हम तो एक बिन्दु हैं और जगत् समुद्र है। किन्तु हमारी श्रद्धा ऐसी होनी चाहिए कि हमारे पार जानेसे जगत् पार चला जायेगा। ऐसी श्रद्धाके बिना हम यह नहीं कह सकते कि जगत्की रात्रि हमारा दिन है। यदि उपवास और चरखेसे आत्मदर्शन हो सकता है, तो जहाँ आत्मदर्शन है वहाँ स्वराज्य तो है ही।

[३७]

बुधवार, ७ अप्रैल, १९२६

कल हमने स्थितप्रज्ञका एक बड़ा लक्षण समझा, जो दूसरोंको प्रकाश जान पड़ता है, वह योगीकी दृष्टिमें अन्धकार है। उदाहरणके लिए बहुत-से 'ोग कहते हैं कि हमें अल्पाहारी बनना चाहिए, किन्तु जिस व्यक्तिने ईश्वरभक्ति की होगी, वह

समझ ही जाता है कि सदा पेट-भरकर खायेंगे तो भक्तिमें कोई न कोई विघ्न अवश्य आयेगा। इसलिए जब जगत् छप्पन भोग करना चाहेगा, हमारा यह योगी अल्पाहार करेगा। किन्तु वह अपने इस गुणका प्रदर्शन नहीं करेगा। आज नरसिंह मेहताका जो भजन यहाँ गाया गया उसमें वैराग्य, ज्ञान, ध्यान सबकी खिल्ली उड़ाई गई है और गोपियोंके प्रेमको बहुत बड़ा कहा गया है। यह उलटी बात लगती है; किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रायः जगत् जिसे योगी कहता है, वह सचमुच योगी नहीं होता। जिसे वह चतुर्धा मुक्ति[१] कहता है, अथवा ज्ञान कहता है, वह भी वैसे नहीं हैं। यह सब तो जगत्को ठगनेकी बातें हैं। सम्भव है, जो ध्यानी है वह भोगी जैसा दिखता हो। आठों पहर ईश्वरमें लीन होते हुए भी वह व्यक्ति सामान्य मनुष्योंकी तरह व्यवहार करता हो, वह इस बातकी डोंडी पीटते हुए थोड़े ही निकलेगा कि मैं ध्यानमें डूबा हुआ हूँ। गोपियाँ प्रेममें नाचती रहती हैं, क्योंकि वे जगत् की निन्दासे नहीं डरतीं और उसका कारण यह है कि वे जानती हैं कि हमारा प्रेम शुद्ध है। मीराने कहा है कि मुझे जगतके इस कथनकी कोई परवाह नही, क्योंकि मैंने अपना पति नही छोड़ा; बल्कि मै तो यह जानना चाहती हूँ कि पति-भक्तिका रहस्य किस बातमें है। राजा गोपीचन्द स्वर्ण महलमें विहार कर रहा है, अतर-फुलैल वगेरहमें महक रहा है, हँसते-मुसकाते अपने शरीरकी शोभा निहार रहा है और गवाक्षमें बैठी हुई मैनावतीकी आँखसे पानी टपक पड़ता है। आकाशमें एक भी बादल नहीं था, इसलिए जब पानीका यह बूंद गोपीचन्दके शरीरपर गिरता है, तब उसे आश्चर्य होता है और मैनावती समझाती है कि तुम्हारी यह काया नाशवान है, इसमें झुर्रियाँ पड़ जायेंगी, दाँत गिर जायेंगे, आँखोंका प्रकाश चला जायेगा और अगर तू इसी क्षण मर जाये तो क्या होगा? तेरी यह काया किस काममें आयेगी? मैंने तो अपना जन्म गँवा दिया, किन्तु तू संसार छोड़कर भाग जा। क्या माता ऐसी सलाह दे सकती है? किन्तु जगत्को जो वस्तु बहुत बड़ी लगती है, वह उस माताको तुच्छ लगी। क्योंकि उसे ज्ञान हो गया था। पृथ्वी प्रदक्षिणा करती है और चौबीस घंटेमें एकबार हमारा सिर नीचे और पाँव ऊपर हो जाते हैं। किन्तु पृथ्वी हमें सँभाले रहती है। इसलिए सिर नीचेकी ओर रहते हुए भी हम चल-फिर पाते हैं। जिस तरह मिश्रीकी डलीके ऊपर घूमती हुई चींटीको उसके लुढ़कते रहनेपर भी उसका अन्दाज नहीं होता, उसी तरह पृथ्वीके गोलेपर हम हैं। हमें इसका भी पता नही चलता कि पृथ्वी गोल है और घूमती ही रहती है। ज्ञानी और योगी ऐसी बातोंका रहस्य जानते हैं और कहते हैं कि यह झूठ बात है और वह भी झूठ बात है। जगत् जिसे सत्य समझता है, वह उसके लेखे मिथ्या है। जिसे जगत् अन्धेरा कहता है, उसे वह उजाला कहता है। योगीके अन्तरकी स्थिति जगत्की स्थितिसे अलग है। शरीरको आत्माकी कैदमें रहना चाहिए। स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि वह जिस तरह चलाना चाहे, शरीर उस तरह चले।

१. सालोक्य (भगवानका लोक), सामीप्य (भगवानकी निकटता), सारूप्य (भगवानका स्वरूप) और सायुज्य (भगवानसे मिलन)।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।। (२,७०)

समुद्र हमेशा भरा जाता रहनेपर भी अचल रहता है, अनेक नदियोंका पानी उसमें आता रहता है, फिर भी वह पहले जहाँ स्थिर था, वहाँ स्थिर रहता है। इसी तरह जिस व्यक्तिके भीतर अनेक प्रकारके विकार शमित हो जाते है वह योगी है। जो मनुष्य कामी है अर्थात् जिसकी इन्द्रियाँ जहाँ-तहाँ भटकती रहती हैं वह मनुष्य योगी नहीं है। जो व्यक्ति समुद्रकी तरह रह सकता है, नदी-नालोंकी तरह नहीं जो कि भर जाते हैं और सूख जाते हैं, वही मनुष्य योगी है। भक्तराज ['पिलग्रिम्स प्रोग्रेस'का क्रिश्चियन] भी योगी और ध्यानी था। उसके स्वरमें एक ही ध्वनि होती थी। नहाते, खाते, पीते जिसका मन भगवान्में ही है उसके मनमें विकार कहाँसे आयेंगे। वह समुद्रकी तरह भरा हुआ है। नदी, नाले उसमें पहुँचकर शान्त हो जाते हैं और स्वच्छ हो जाते हैं। यदि समुद्रमें नदी-नालोंका मैल व्यापता होता, तो क्या समुद्र स्वच्छ रह सकता था? किन्तु हम तो उसके किनारेपर अच्छी और स्वच्छ हवा लेने जाते हैं। योगीके मन-रूपी सागरमें विकार-मात्र लुप्त हो जाते हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।। (२,७१)

सब कामनाओंको छोड़कर जो मनुष्य निःस्पृह रहकर आचरण करता है, वह ऐसी शान्ति प्राप्त कर सकता है। वह निर्मम और निरहंकार होकर उस शान्तिको प्राप्त करता है। अमुक काम मैं कर रहा हूँ, जिस व्यक्तिमें ऐसा भाव नहीं है, वही सच्चा योगी है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। (२,७२)

जो ब्रह्मकी पहचान करा सकती है, सो ब्राह्मीस्थिति। इसे पा लेनेके बाद मनुष्य मोहमें नहीं पड़ता। ईश्वरका दर्शन हो जानेपर विषयोंका रस चला जाता है यह बात कही जा चुकी है। इसी तरह श्रीकृष्ण यहाँ फिरसे वही कहते हैं कि ब्राह्मी स्थितिको पा जानेके बाद व्यक्ति मोहग्रस्त नहीं होता। अन्तकालमें इस स्थितिके रहनेपर व्यक्ति ब्रह्मनिर्वाण पा जाता है। इसके दो अर्थ हुए — एक यह अर्थ कि अन्तकालमें भी ऐसी वृत्ति हो जाये तो ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है और दूसरा अर्थ यह कि जिसकी अन्तकालतक ऐसी स्थिति बनी रहती है, उसे शान्ति मिलती है। जो आजतक दुष्ट रहा हो और कल अच्छा हो जाये तो फिर बाकी ही क्या बचा और सारी जिन्दगी अच्छा रहा हो किन्तु बादमें दुष्ट हो जाये तो उसका वह अच्छा रहना निरर्थक हुआ। बात ऐसी है कि जो अन्ततक टिका रहता है वही व्यक्ति अच्छा कहलाता है। इसीलिए कहावत है कि किसी भी मनुष्यको उसकी मृत्यु पर्यन्त

अच्छा [या बुरा] नहीं कहा जा सकता। चाहे जितना अच्छा व्यक्ति क्यों न हो, अन्तकालमें वह मूढ़ बनकर लड़के-बच्चो और दुनियादारीके विचारमें पड़ जाता है। मोक्ष उसे ही मिला कहा जा सकता है जो अन्तकालमें ब्राह्मीस्थितिमें रहा हो। बौद्ध-निर्वाणमें शून्यताकी बात है किन्तु इस निर्वाणमें शान्तिकी बात है। इसलिए इसे ब्रह्मनिर्वाण कहा है। वैसे हमें इस पंचायतमें पड़नेकी जरूरत नहीं है। ऐसा माननेका कारण नही है कि बुद्धदेवने जिस निर्वाणकी बात की थी, उसमें और इसमें भेद है। बुद्धके निर्वाणकी व्याख्या और यह निर्वाणकी दूसरी व्याख्या समान ही हैं। बहुत-से विद्वान् यह बता गये हैं कि बुद्धने निरीश्वरवादकी शिक्षा नहीं दी, किन्तु यह सब मिथ्या विवाद है। जिसे देखनेके बाद भी कोई वर्णित नही कर सकता, ऐसे अलौकिक स्वरूपवालेके विषयमें हम क्या कह सकते हैं। यदि यह मान लिया जाता है कि हमारी देह मिथ्या है, तो फिर ये सारे वाद निरर्थक हैं।

इस तरह दूसरा अध्याय पूरा हो जाता है। स्थितप्रज्ञका अर्थ हुआ, जिसके रागद्वेष निर्मूल हो गये हैं, वह।

[३८]

गुरुवार, ८ अप्रैल, १९२६

अध्याय ३

कल जो अध्याय पूरा हुआ उसे साख्ययोग नाम दिया गया है। हमने देखा कि पहले भगवानने देह और आत्माका पृथक्करण किया और फिर कहा कि मैंने सांख्यके विषयमें बताया है अर्थात् तार्किककी तरह देह और आत्माका पृथक्करण किया। इससे अर्जुनको इस बातका अनुभव हो गया हो, सो बात नहीं है। वह उसे बुद्धिसे समझ गया। अर्जुनको युद्ध करनेका कर्त्तव्य समझाया गया, किन्तु यह सब उसी हदतक हुआ, जिस हदतक बुद्धिसे हो सकता था। तब फिर योग अर्थात् समबुद्धिसे काम करनेकी रीति बताई गई। इस तरह स्थितप्रज्ञका प्रसंग उठा।

अन्तिम श्लोकसे ऐसा जान पड़ता है कि अब भगवानको और कुछ कहना नही था। अर्जुनने दूसरा सवाल न किया होता तो सचमुच ही भगवानका अपनी तरफसे और कुछ कहना आवश्यक नहीं था। ब्राह्मीस्थितिमें भक्तिका भी समावेश हो जाता है किन्तु देहीका स्वभाव बुद्धिको वासनाके अनुकूल चलाना है, इसलिए अधिक स्पष्ट करनेके लिए सत्यको बारम्बार बीच-बीचमें कहते रहना आवश्यक हो जाता है। यदि देही स्वयं निर्णय करने बैठ जाये तो सामान्य रीतिसे उसका निर्णय संसारके पक्षमें जायेगा। उसे यह बात रटते रहना पड़ती है कि "मैं आत्मा हूँ, मैं आत्मा हूँ" और यह इसलिए कि यह उसके आठों पहरकी प्रतीति नहीं है। जिस बालकको मनमें संशय है ही नही, उसके लिए यह कहना आवश्यक नही होता कि माँ, मैं तेरा बेटा हूँ। जिसे अनुभूति नही हुई है, राम-नाम और द्वादश-मन्त्र उसीके लिए है। देह छूटनेके बाद सुननेवाला और सुनानेवाला दोनों ही एक हो जायेंगे। जबतक देह है तबतक सारे साधनोंकी झंझट लगी रहती है। इसीलिए व्यासजीको 'गीता' लिखनी

पड़ी। 'गीता' में एक भी ऐसी बात नहीं आती जो हमारे संध्याकालकी प्रार्थना [में सम्मिलित 'गीताजी' के] श्लोकोंमें न आ जाती हो। व्यासजीने 'गीताजी' के बहाने पाठकको एक अलौकिक वस्तु प्रदान की है। सांख्य हो चाहे योग हो, संन्यास हो, चाहे गृहस्थाश्रम हो, सभी एक हैं। वे कहना यह चाहते हैं कि कर्म और अकर्म एक ही हैं। सब इतना मिला-जुला है कि जानना केवल ईश्वरको चाहिए और समझ लेना चाहिए कि अन्य सब-कुछ मिथ्या है। यदि ऐसा किया जाये तो समस्तकी एकता दृष्टिगोचर हो सकती है। ईश्वरको समझनेका मार्ग हाथपर-हाथ रखकर बैठ जाना नहीं है, बल्कि अहंकार-शून्य होकर काम करना है। अमुक व्यक्तिने सहस्र यज्ञ किये अथवा बड़ा दान किया, इससे वह योगी नहीं ठहरता। देखना यह पड़ेगा कि उसमें ममत्व था या नहीं, वह केवल भगवानके कच्चे धागेके इशारेपर नाचता था कि नहीं। अपने सारे काम वह इसी प्रकार करता था या नहीं। व्यासजी कहना चाहते हैं कि योगी वह है जो अपने अच्छे-बुरे सभी कर्मोको ईश्वरके चरणोंमें डाल देता है और ईश्वरको ही कर्त्ता-हर्त्ता मानता है। इसलिए कृष्ण अर्जुनसे कहलवाते हैं:

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।। (३,१)

आप कहते हैं कि कर्मकी अपेक्षा ज्ञान [बुद्धि] बढ़कर है, तो हे जनार्दन, आप मुझे इस घोर कर्ममें नियुक्त क्यों करते हैं?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।। (३,२)

पहले तर्क प्रस्तुत किये, फिर स्थितप्रज्ञकी बात की, उसके बाद योग अर्थात् 'कर्मसु कौशलम्' कहा — ऐसे मिश्र वाक्योंसे आप मुझे भ्रमित कर रहे हैं। इसलिए निश्चयपूर्वक मुझे कोई एक बात बताइए।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। (३,३)

हे निष्पाप, मैंने पहले दो स्थितियोंका उल्लेख किया — एक तो ज्ञानियोंके ज्ञान-योगका और दूसरे योगियोंके कर्मयोगका।

[३९]

शुक्रवार, ९ अप्रैल, १९२६

अर्जुन कहता है: समझमें नहीं आता क्या श्रेयस्कर है। क्षणमें लगता है कि युद्ध करूँ, किन्तु दूसरे ही क्षण लगता है, स्थितप्रज्ञको कुछ नहीं करना चाहिए।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। (३,४)

मनुष्य कर्मको बिलकुल ही छोड़कर नैष्कर्म्य (कर्मके फलानुभवसे मुक्ति) अथवा मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

हमें 'गीताजी' में कर्म शब्द बार-बार मिलेगा। इसका क्या अर्थ है? संकुचित अर्थ तो है ही किन्तु व्यापकसे-व्यापक अर्थ लें तो 'गीताजी' के श्लोक समझनेमें मदद मिलेगी। कर्मका अर्थ है सभी क्रियाएँ, शरीरके किसी भी अवयवकी चेष्टा। किन्तु 'गीताजी' की व्याख्याके अनुसार विचार भी कर्ममें आ जाता है। कोई भी गतिविधि स्वन (शब्द अथवा आवाज) — श्वासोच्छ्वास — ये सभी कर्म हैं। कर्म किये बिना कोई रह भी नहीं सकता। कुछ कर्म इच्छापूर्वक करने पड़ते हैं और कुछ स्वाभाविक रूपसे चलते हैं। हमारा दैवी अंश हमें सन्मार्गकी ओर घसीटता है और आसुरी अंश कुमार्गकी ओर। अच्छे मनुष्यको भी आसुरी अंश बलपूर्वक कुमार्गकी ओर घसीटता है और व्यक्ति बुरा हो तो भी दैवी अंशकी शक्तिसे उसे अच्छे मार्गपर जाना पड़ता है। इस तरह स्वभाव, प्रेरणा और प्रयत्न इन तीनमें से किसी न किसी भावके द्वारा खींचा जाकर व्यक्ति कर्म करता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, तू ऐसा कैसे कह सकता है कि मैं कर्मका आरम्भ ही नहीं करूँगा। तुझे अपने मनके घोड़े तो दौड़ाते ही रहना पड़ेगा। संन्यासियोंको भी विवश होकर कर्म करना पड़ता है। श्वास रोकनेका इरादा करनेमें भी कर्म है। कर्मका अनारम्भ भी कर्म है इसीलिए इसके द्वारा नैष्कर्म्यका अनुभव नहीं होगा। संन्यास और नैष्कर्म्य स्वाभाविक हो जाने चाहिए।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। (३,५)

कोई भी मनुष्य बिना कर्म किये क्षण-भर भी नहीं रह सकता। सुनना और न सुनना ये दोनों कर्म हैं। सत्व, रजस और तमस, प्रकृतिजन्य ये गुण बलपूर्वक कर्म करवाते ही रहते हैं। तामसी अर्थात् जड़तापूर्वक काम करनेवाला। राजसी अर्थात् घोड़ेको तेज दौड़ानेवाला — उत्पाती। और सात्विक अर्थात् शान्त रीतिसे काम करने वाला। इनमें से किसी एकके अथवा उनके मिश्रणके द्वारा काम करना ही पड़ता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। (३,६)

कर्मेन्द्रियोंका संयम करके जो व्यक्ति इन्द्रियोंके विषयोंका स्मरण करता हुआ विविध इच्छाओंके घोड़ेपर चढ़कर घूमता रहता है और फिर भी ऐसा मानता है कि मैं निष्कर्म हो गया हूँ, उसके ऐसे आचरणको उस मूढ़का मिथ्याचार — दम्भ — दिखावा कहेंगे। यदि मैं अपने हाथ बँधे रखकर भी मनसे अपने प्रतिद्वन्द्वीपर प्रहार कर रहा होऊँ, तो यह न मारते हुए भी मारना ही है। इसमें मारनेका रस तो नहीं मिलता किन्तु फल मिलता ही रहता है। मैंने जो कहा, उसका उलटा अर्थ न निकालें। इसका यह अर्थ नहीं है कि तब तो किसी भी प्रकारका अवकाश ही नहीं बचता; और इसका यह अर्थ भी नहीं है कि विचारानुसार कर्म कर ही डालें। विचार तो आते ही रहते हैं; परन्तु हाथको रोकनेमें विचारसे मदद अवश्य मिलती है। जिस शत्रुने हमपर हमला कर दिया है उसके साथ लड़नेमें मिथ्याचार होता ही नहीं है। अभिप्राय यह है कि विचार और आचारमें विरोध नहीं होना चाहिए। मनमें

भज रहे हों और वाहर तज रहे हों, तो मिथ्याचार। पूरा-पूरा प्रयत्न करते हुए भी जाग्रत न रहा जा सके तो यह मिथ्याचार नहीं है। क्योंकि आदत रूढ़ हो चुकी है। किन्तु विचारमें जाग्रत रहनेकी इच्छा तो होनी ही चाहिए। इसलिए जो व्यक्ति मनमें इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करता है और प्रत्यक्षमें उनसे अलग रहता है और वह व्यक्ति संन्यासी अथवा योगी कहलाये तो यह ठीक नहीं है। पूर्वजन्मके संस्कार पल-भरमें नष्ट नहीं होते। लहरें उठती ही रहती हैं। उनसे वार-वार भीगकर भी, किसी दिन हम कोरे हो जायेंगे। यदि कोई मेरा हाथ पकड़कर सामनेका यह दीपक मुझसे उठवा ले, तो भी मैं कह सकता हूँ कि उसे मैंने नहीं उठाया है क्योंकि मेरे विचारमें उसे उठानेकी वात है ही नहीं। वलपूर्वक किसीसे कोई काम करवा लिया जाये, तो हम उसका काम नहीं कह सकते। दृष्टान्तके लिए जिसे जवरदस्ती वन्दूक चलानी पड़ी हो वह खूनी नही है, वल्कि खूनी वह है जिसने वारूद और गोली जुटाई और अन्य दूसरी व्यवस्थाएँ कीं। यदि गोली चलानेवाला इच्छापूर्वक गोली चलाये, तो वह भी खूनी है। इस तरह विचार और आचारके वीच साम्य होना चाहिए। जहाँ साम्य दिखाई न दे, वहाँ यह कहना मुश्किल हो जाता है कि विचार किसका था और आचार किसका है। हमने छठवीं तारीखको उपवास किया था; किन्तु यदि हम उस दिन मनमें स्वाद लेते रहे हैं तो वह उपवास नहीं। किन्तु यदि मनमें खानेका विचार आता रहे और आदमी मनका दमन करता रहे अर्थात् प्रयत्नशील रहे तो वह मिथ्याचारी नहीं है। जो वुरे काम करता है, उसका त्राण नहीं हो सकता। किन्तु जो अपनी वुरी इच्छाके विरुद्ध संघर्ष करता है वह संकल्प तो यही करेगा कि वह मर भले ही जाये किन्तु दुष्कर्म नहीं करेगा। वह अपने दुर्विचारसे लड़ता ही रहेगा। जिसके विचार और आचारमें अखण्ड साम्य है और जो स्वच्छताशील है, वह ब्रह्मचारी हजार-हजार नमस्कारोंके योग्य है। संकल्प-विकल्प करना तो मनकी टेव है। यदि व्यक्ति उसे रोकता रहता है तो उसे जीता हुआ ही कहना चाहिए। ऐसे व्यक्तिमें कामकी इच्छा नहीं होती सो वात नहीं है, किन्तु उसमें विनयका भाव होता है। संन्यासी और योगी तो वही है जिसके विचार और आचारके वीच इतना साम्य स्थापित हो जाता है कि उसे यह भान भी नहीं होता कि वह ब्रह्मचर्यका पालन कर रहा है। उस व्यक्तिको नपुंसक वनकर रहना चाहिए। स्त्री हो तो उसे अपने स्त्रीत्वका भान ही नहीं रहना चाहिए। वीमारीके कारण नपुंसकत्व प्राप्त व्यक्ति नहीं, जिसने अपनी इच्छासे नपुंसकत्व धारण किया है — ऐसा व्यक्ति। अविकारी व्यक्ति तो दोष करनेमें समर्थ ही नहीं रहता। सावधान व्यक्तिके भी पतनकी सम्भावना रहती है किन्तु अन्तमें वह निर्विकारी वन जाता है। अहिंसक व्यक्ति अन्ततोगत्वा मारनेकी वृत्ति ही खो देता है।

मूर्ख और ज्ञानीमें भेद नहीं है। मूर्ख ज्ञान दिखा ही नहीं सकता और ज्ञानी जगतकी आँखोंमें मूर्ख दिखता रहना चाहता है। जगतकी दृष्टिमें दोनोंकी चेष्टा समान ही दिखाई पड़ेगी। जिस व्यक्तिके मनमें अनन्त शक्ति स्फुरित हो रही हो, वह जड़-जैसा हो जाता है। पृथ्वी वहुत घूम रही है इसीलिए वह स्थिर-जैसी

लगती है। यहाँ जो बात कही गई है, वह शून्यताकी बात नही है। बुद्धका निर्वाण भी शून्य नही था। यहाँ अभिप्राय केवल बाह्य जड़तासे है।

[४०]

शनिवार, १० अप्रैल, १९२६

कल हमने देखा कि यदि कोई व्यक्ति दूर बैठा-बैठा हत्याकी सामग्री जुटाकर दूसरेसे खून भले ही कराए, खूनका घोर पाप वह स्वयं करता है। वह हत्या करनेवालेकी अपेक्षा भी अधिक हत्यारा है। युधिष्ठिर द्रोण और भीष्मके पास गये और उनसे कहा, आप यह क्या कर रहे हैं। जवाब मिला, पेट करवा रहा है। इसका यह अर्थ हुआ कि गुलाम अथवा नौकर अपने मालिकके हुक्मपर पाप करनेके कारण उतना बड़ा पापी नही है, जब कि खूनकी सारी सुविधाएँ इकट्ठी कर देनेवाला दूसरेसे खून कराकर भी, खून करनेवालेकी अपेक्षा अधिक बड़ा कुकर्मी है। बात यहाँ भी वही मिथ्याचारकी है।

अब इससे विपरीत बात कहते हैं:

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।। (३,७)

जो व्यक्ति मनसे इन्द्रियोंको वशमें रखकर कर्मेन्द्रियोंके द्वारा, फलकी आतुरताके बिना निःसंग रहकर कर्मयोगका आरम्भ करता है, वह श्रेष्ठ है।

कर्मेन्द्रियोंके द्वारा कर्म करता है, यह एक बात कही; और दूसरी बात कही इन्द्रियोंको संयममें रखनेकी। इस तरह भेद उत्पन्न किया। दस इन्द्रियाँ द्वारपाल हैं। इनमें पाँच जासूस हैं, पाँच अमल करनेवाली है। हाथ, पाँव इत्यादि अमल करनेवाली इन्द्रियाँ हैं। आँख, नाक-रूपी द्वारपाल अनुशासनमें न रहें, तो उन्हें बन्द किया जा सकता है। उन्हें हमेशा अंकुश मारा जा सकता है। इन्हें अनुशासनमें रखकर अन्य द्वारपालोंके द्वारा अमल करवाया जाना चाहिए। इस तरह जो व्यक्ति काम कराता है और निःसंग होकर काम करता है, वह श्रेष्ठ है। क्रोध करनेवाला व्यक्ति अनासक्त (आसक्तिहीन) नही है बल्कि आसक्त (आसक्तिपूर्ण) है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। (३,८)

निश्चित किया गया कर्म, सौंपा गया कर्म कर, क्योंकि कर्म अकर्मकी अपेक्षा श्रेयस्कर है। कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना क्षण-भर भी नही रह सकता। यदि कर्म किये बिना कोई व्यक्ति रह ही नहीं सकता तो सोच-विचारकर कर्म करना अच्छा है। नियत, जो हमारे लिए निर्दिष्ट कर दिया गया है और जिसके विषयमें किसीसे कुछ पूछना ही नहीं है। क्योंकि शरीर-यात्रा, शरीर निर्वाह भी अकर्मसे नही सधता।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥ (३,९)

यज्ञके लिए जो कर्म होता है, उसके अतिरिक्त दूसरे सारे कर्म बन्धन हैं। इसलिए केवल यज्ञके अर्थं मुक्तसंग होकर कर्म कर।

कल कर्म शब्दके अर्थकी बात की थी। इसी तरह यज्ञके अर्थका विचार कर लेना भी उचित होगा। अनेक विद्वान मानते हैं कि 'गीता' के कर्मका मोचीके काम अथवा कातनेके काम अर्थात् लोक-व्यवहारसे सम्बन्ध नहीं है। वे कर्मका अर्थ तो श्राद्धादि लेते हैं। और कातने-बुनने आदिको अपनी व्याख्यामें से निकाल फेंकते हैं। किन्तु 'गीताजी' का व्यवहारके साथ निकटका सम्बन्ध है। जिसका व्यवहारमें उपयोग नहीं हो सकता, वह धर्म नहीं है, अधर्म है। पाखाना भी साफ करना है तो धर्म दृष्टिसे ही करना है। पाखाना साफ करते हुए जिस मनुष्यमें धर्मकी जागृति है, वह मनुष्य विचार करेगा कि पाखानेमें इतनी दुर्गन्ध क्यों है। हम विकारोंसे भरे हुए हैं। हमें इसका भान होना चाहिए। रोगी अथवा विकारी मनुष्यके पाखानेसे दुर्गन्ध निकलने-वाली ही है। दूसरा आदमी जो पाखाना धर्म-दृष्टिसे साफ नही करता और काम-चोर है वह उठाये हुए मलको चाहे जहाँ फेंक आयेगा और बरतन भी ठीक साफ नहीं करेगा, क्योंकि वह इस कामको धर्मभावसे नहीं करता। वह दयाभावको नहीं समझता और उसके पास विवेक भी नहीं है। इसलिए अवश्य ही धर्मका व्यवहारके साथ सम्बन्ध है। कर्मकी व्याख्या हमने जिस कारण व्यापक की, उसी प्रकार यज्ञकी व्याख्या व्यापक की जानी चाहिए। इसपर कल विचार करेंगे।

[४१]

रविवार, ११ अप्रैल, १९२६

जिस तरह हमारी भाषा और हमारे धर्ममें यज्ञ शब्द है उसी प्रकार 'बाइबिल' में भी है और यहूदी धर्म-शास्त्रोंमें भी। 'कुरान' में तीन बातें मिलती हैं: (१) पशु-यज्ञ, बकरीदके दिन कुर्बानी; (२) 'कुरान' में भी वही बात आई है जो यहूदियोंमें है। पिता द्वारा पुत्रका बलिदान। इब्राहीम ऐसा करता है। (३) रमजान इत्यादिमें कुर्बानीका अर्थ है — अपने किसी प्रियको दे डालना, उसका त्याग करना। इसी तरह 'बाइबिल' में ईसाके समय यज्ञका विस्तृत अर्थ किया गया। उन्होंने कहा कि इस तरह पशुकी बलि देनेसे तुम्हारा हित सिद्ध नहीं होता। यज्ञका जो अर्थ है उसके लिए तो तुम्हें इससे बहुत आगे जाना पड़ेगा। उन्होंने कहा कि दूसरेकी जान लेनेसे यज्ञ नहीं होता वरन् तुम्हें स्वयं अपना शरीर दे डालना चाहिए। उन्होंने ऐसा कहा और सारे जगतके कल्याणके लिए अपने शरीरकी बलि दे दी। बलि इसलिए नहीं दी जानी चाहिए कि खानेको मिल जाता है बल्कि जगतके आध्यात्मिक कल्याणके लिए, पाप धोनेके लिए दी जानी चाहिए। हिन्दू धर्ममें भी पहले नरमेध होता था। बादमें उसकी जगह पशु-यज्ञकी व्यवस्था की गई। आज भी काली माताके सामने हजारों बकरे चढ़ाये जाते हैं। अनेक प्रकारकी मनोकामना सिद्ध करनेके लिए भी यज्ञ सिद्ध

किये जाते हैं। अंग्रेजीमें यज्ञ शब्दका धात्वर्थ अच्छा है। यज्ञ अर्थात् पवित्र करना। संस्कृतमें यज्ञ (यज्) अर्थात् पूजना। इंजीलमें यज्ञका अर्थ त्याग करना। तथापि इन तीनोंमें जो बात है और जिसे स्वीकार किया जा सकता है, वह यह है कि परोपकारके लिए किये गये सारे कर्म यज्ञ हैं। पशुका वध परोपकारकी दृष्टिसे भी किया जाता है — जैसे वर्षाके लिए। इसमें दृष्टि भले ही परोपकारकी हो — किन्तु जिसमें हम किसी अन्य जीवकी हत्या करते हैं, वह यज्ञ नहीं हो सकता। हम अपना मन भले ही मना लें कि हमने पैसा खर्च करके बकरा खरीदा और त्याग किया किन्तु करोड़ों हिन्दू इस बातको कैसे मान सकते हैं।

गुजरातमें भी कई जगह यह प्रथा देखनेमें आती है। दशहरेके दिन भैंसेका वध किया जाता है; किन्तु हमारी बुद्धि कहती है कि यह यज्ञ नहीं हो सकता। यह प्रभुकी पूजा नहीं हो सकती। फिर भी इसके पीछे मान्यता यही रही है कि इससे दूसरोंका भला होता है। इसलिए हमें यज्ञके दो अर्थ करने चाहिए। जिससे परोपकार होता हो और जिससे दूसरे जीवको दुःख न होता हो; वह यज्ञ। दूसरे जीवको दुःख न देकर हम जगतका कल्याण साध सकते हैं। यह तभी हो सकता है, जब हम दूसरे जीवोंको अपने ही जैसा समझें। देहको क्षण-भंगुर मानने लगें, तभी यह सधेगा। यदि 'यज्ञ' शब्दका अर्थ 'गीताजी' में हम ठीक लें, तो 'गीताजी' को समझनेमें और लोक-व्यवहारमें कोई बाधा उत्पन्न न हो। यज्ञ मनसे भी हो सकता है और शरीरसे भी। इन दो अर्थोंमें से जहाँ जो अर्थ लागू हो, उसे हम ले लिया करें।

मनुष्य किसी समय पशु-वध किसलिए करता था अथवा आज भी क्यों करता है, इस प्रपंचमें पड़े बिना हम एक ही वाक्यमें इसका जवाब दे सकते हैं। मनुष्य अपने खानेके लिए आसपास मिलनेवाली वस्तुओंमें से चुनता है और वह जिस कामको करनेमें पाप नहीं समझता उसे परोपकारके लिए करनेमें तो बाधा मान ही कैसे सकता है? जहाँ ऐसी मान्यता होगी कि किसीको मारे बिना वर्षा होनेकी संभावना नहीं है, वहाँ मारनेमें कोई देर नहीं होगी। मनुष्यके विचार जैसे-जैसे उन्नत होते जाते हैं, वैसे-वैसे उसके शब्दोंके अर्थ भी विकसित होते चले जाते हैं। यदि व्यासजीने शब्दोंका किसी निश्चित अर्थमें ही व्यवहार किया होता, तो भी हम कहते कि उनके मनका अर्थ आज कैसे चल सकता है? उदाहरणके लिए हमने असहयोगका जो अर्थ मान्य कर लिया है वह कहीं अधिक है। आज हम 'गीताजी' में आये हुए 'यज्ञ' शब्दको अतिरिक्त अर्थ देते हैं। सम्भव है, व्यासजीके मनमें वैसा अर्थ न रहा हो। किन्तु इसमें भी अड़चन माननेकी कोई बात नहीं है। हम अतिरिक्त अर्थ देकर भी व्यासजीके प्रति अन्याय नहीं करेंगे। पितासे प्राप्त जायदादमें पुत्रका वृद्धि करना उचित ही है। आज हमने चरखेके सम्बन्धमें जो भावना उत्पन्न कर ली है, यदि कोई उससे भी अधिक भावना उत्पन्न करे तो क्या इसमें कोई बुरी बात हुई। भविष्यमें लोग कह सकते हैं कि चरखा हानिकारक है। कपाससे बने कपड़े ही नहीं पहनने चाहिए; इसमें तो हानि है।

केलेके छिलकेमेंसे रेशे निकालकर कपड़े बनाये जाने चाहिए इत्यादि। इस सबके अनुभव सिद्ध हो जानेके बाद भी यदि कोई चरखेको छातीसे लगाकर रखे तो वह मूर्ख गिना जायेगा। किन्तु समझ लो कि उस समय चरखेका भावार्थ कोई इस तरह निकाले कि जिस साधनसे सारे समाजको जीविका मिल सके, वह साधन अथवा वह काम — लकड़ीकी बनी हुई चीज नहीं, तो?

इसी तरह यज्ञके अर्थके विषयमें समझना चाहिए। व्यासजीने जो अर्थ नहीं किया वह हम कर सकते हैं और यही ठीक भी है।

> सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
> देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
> परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (३,१०-११)

प्रजापति अर्थात् ब्रह्माने जब सृष्टि पैदा की, तब उसके साथ ही साथ उसने यज्ञ भी पैदा किया और कहा: इसके द्वारा तुम बढ़ो, तुम्हारा भला हो और इसमें से मनोवांछित फल प्राप्त करो:

तुम देवताओंको सन्तुष्ट करो। देव तुम्हें सन्तुष्ट करेंगे। एक-दूसरेको सन्तुष्ट करते हुए तुम परमश्रेय प्राप्त करोगे।

'देव' शब्दका अर्थ भी सोच लेना चाहिए। इन्द्रादि देव कौन हैं? पानी अथवा वनका देवता कौन है? सुबहकी प्रार्थनाके श्लोकोंके सम्बन्धमें विवाद उठा था कि क्या हम सरस्वतीको दो हाथ-पाँववाली कोई देवी समझकर पूज सकते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी देवोंका अर्थ कोई दूर बैठे हुए इन्द्रादि न होकर जगत्में व्याप्त अनेक शक्तियाँ ही हैं। तैंतीस कोटि देवताका अर्थ यदि हम मनुष्य मान लें, तो इसका अर्थ हो जायेगा, हम सब और जगत् मात्र अर्थात् जीव-मात्र। देवका अर्थ हुआ जितनी शक्तियाँ पड़ी हुई हैं वे सबकी-सब जगत्का पोषण करनेवाली सारी शक्तियाँ। भयानक देवताओंकी कल्पना उठाकर फेंक देने जैसी नहीं है। ईश्वरकी तीन शक्तियाँ हैं: सर्जक, संरक्षक और संहारक — ये सब परस्पर पोषक हैं। किन्तु हमारा ज्ञान अधूरा है — इसीलिए हम इन तीनों शक्तियोंका अनर्थ करते हैं। नागपंचमीका त्योहार साँपोंके उपद्रवसे बचने की दृष्टिसे मनाया जाता है। सर्पोंको संतुष्ट करनेकी दृष्टिसे इसका पालन उचित नहीं है। इसी तरह भूत-प्रेतादिका क्या अर्थ है? यह सब हमारे मनकी कल्पना है। हमें तो जगतका पोषण करनेवाली शक्तिकी आराधना करनी है। ईश्वरकी समस्त शक्तिकी आराधना करनी है।

[४२]

मंगलवार, १३ अप्रैल, १९२६

हम यज्ञका मनमाना अर्थ नहीं कर सकते। जो 'गीता' के अनुकूल हो सकता हो, वही अर्थ कर सकते हैं। रेखागणितके सिद्धान्तोंका जो अर्थ निकल सकता है,

वही तो निकाला जा सकता है और वह ऐसा होना चाहिए कि यूक्लिड जिसपर शंका न करे, जो उसके विचारोंके विरोधमें न जाये। कविने जो-कुछ कहा है यदि उसका उससे अधिक अर्थ निकालें तो इससे किसीके प्रति कोई अन्याय नही होता। कुएँ इत्यादिसे जो काम निकल सकता है, सरोवरसे तो वह निकल ही सकता है। पानीका उपयोग अच्छे कामके लिए भी किया जाता है और खराब कामके लिए भी। बाँधको तोड़कर अनेक खेतोंका नाश भी किया जा सकता है। इसलिए हमने यज्ञका जो यह अर्थ किया कि परोपकारके लिए किया गया कर्म या कार्य, सो ऐसा नही है कि 'गीता' के विरोधमें जाये। सत्पुरुषका सारा जीवन, उसकी सारी शक्तिका उपयोग परोपकारार्थ ही होता है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

यहाँ यज्ञका अर्थ विष्णु भी बैठ सकता है, शैव सम्प्रदायवाला इसका अर्थ शिव भी लगा सकता है और तब इसका अर्थ निकलेगा कि ईश्वरार्थ किया हुआ प्रत्येक कार्य मोक्ष देनेवाला है।

'सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा'— अभिप्राय यहाँ यज्ञके किस प्रकारसे है? क्या यहाँ इस शब्दका कोई विशेष अर्थ है। मुझे लगता है कि विशेष अर्थ है। यहाँ इसका अर्थ मानसिक कार्य है ही नही। ब्रह्माने केवल विचारके द्वारा वृद्धि पानेके लिए नही कहा। उन्होंने तो यह कहा है कि तुम शरीर-यज्ञ अथवा स्वयं अपने शरीरसे श्रम करके उन्नति प्राप्त करो। अन्य शास्त्रोंमें भी यही बात है। 'बाइबिल' में कहा गया है, "विद द स्वेट आफ दाइ ब्रो दाउ शैल अर्न दाइ ब्रेड"। तू अपनी जीविका शरीर-श्रमसे प्राप्त-कर — अपने पसीनेका खा। शरीर-श्रम तो हमारे भाग्यमें ही लिखा हुआ है। तब फिर अच्छा है कि हम उसे सेवा-भावसे कृष्णार्पण करके अपनायें। जिस व्यक्तिने इस तरह काम करके दिखाया, वह दोषमुक्त, बन्धनमुक्त हुआ। व्यक्तिकी उपमा बादशाहके सिपाहीसे दी जा सकती है। वह अपना भाग पूरा करके सन्तोष मान लेता है। वह सिपहसालार जैसा ही है। ईश्वरके आगे उन दोनोंका एक ही मूल्य है, क्योंकि वह तो केवल हमारा हेतु ही देखता है। अर्जुनके बाण, वही बाण कृष्णके विना निकम्मे हो गये और उसे भीलोंने लूट लिया। इसलिए 'सहयज्ञाः' वाले श्लोकमें बात शरीर-यज्ञकी है। शरीर-यज्ञ भी कैसा? जिसमें देव और मनुष्य एक-दूसरेका पोषण करें ऐसा। देवका अर्थ जीव-मात्र अथवा ईश्वरकी समूची पोषक शक्ति। देवता अदृश्य शक्तिके प्रतीक हैं। आदमी जबतक जो सामने है, उसीकी सेवा कर रहा है, तबतक वह परमार्थ नहीं कर रहा है। वह जिसे नही जानता जब उसकी भी सेवा करता है, तब परमार्थ होता है। तीस करोड़ देव कल्पित किये गये हैं। बालक तो इस संख्याकी कल्पना भी नही कर सकते। हम एक बारमें एक करोड़को भी नही देख सकते। गिन भी नही सकते। हमारे सामने जिस तरह बालक बैठे हुए है, वे हमारे सामने उस तरह उपस्थित नही है, फिर भी हम उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। इससे भी आगे जायें, तो सारा जगत हमारा सेवा-क्षेत्र हो जाता है। इसीलिए हमने 'देव' शब्द छोड़कर 'दूरवर्ती' ऐसा अर्थ निकाला अर्थात् अदृश्य व्यक्ति भी। हम उन्हे अपना

नौकर मानकर नहीं वरन् देवता मानकर विनय और आदरके साथ उनकी सेवा करें। अर्थात् सारे संसारकी सेवा करें।

इस श्लोकमें कहा गया है कि मजदूरी करके सेवा कर। व्यक्ति एक क्षण-भर भी विना शरीर-श्रमके काम नहीं चला सकता। यदि मनुष्यने इस ईश्वरीय नियमका लोप न किया होता, तो हम आज इतने दुःखी न होते। राजाके पास राशि-राशि धन न होता तो करोड़ों लोग भूखों न मरते। ईश्वर तो जबरदस्त अर्थशास्त्री है। वह सर्व-शक्तिमान है। हम पूरी तरह अपरिग्रह नहीं कर सकते। परन्तु ईश्वर सदा अपरिग्रही है, क्योंकि वह कल्पना करते ही जगतका नाश कर सकता है और फिर जगत बना दे सकता है। इसलिए उसने हमें सिर्फ चौबीस घंटेके लिए चीजें दी। दूसरे दिन भी चाहिए, तो दूसरे दिन मजदूरी करो। उसने कहा कि अगर हम शरीर-श्रम नहीं करेंगे, कठिन परिश्रम नहीं करेंगे तो हमारा नाश हो जायेगा। उसने कहा कि हम सारे दुःख खुशी-खुशी भोगें। यदि हम दुनियामें इस कायदेको उसका स्थान दें तो भुखमरी, पाप और व्यभिचार न बचें। जो आदमी चौबीसों घंटे नीचा सिर करके शरीर-श्रम कर रहा है, (चौबीसों घंटे कहता हूँ, क्योंकि सोते हुए भी वह मजदूरी कर रहा है) वह जगतका कल्याण करनेके लिए भी ऐसा कर रहा है। उस परिस्थितिमें उसमें से विषय-विकार निष्पन्न होना अशक्य बात है। यदि जगतके मजदूर हमारे जैसे विकारी होते, तो संसार न चलता। धनिक वर्गको तरह-तरहके सुख-भोग चाहिए। यदि मजदूर भी वैसे ही मजे उड़ाते तो दुनिया कहाँ होती। पश्चिममें आज यह हवा फैली है कि आदमीका जन्म स्त्री-पुरुष विकारको सन्तुष्ट करनेके लिए ही हुआ है। अधर्मका प्रचार किया जा रहा है। यदि कुदाली चलाते रहें तो विकार कहाँसे पैदा हो। हमें इस मर्यादाको मानकर आचरण करना चाहिए। शरीर-यज्ञ व्यवस्थित रूपसे करें तो हम सबका कल्याण हो, आत्मा और जगतका कल्याण हो। यदि मन और शरीर आत्माके वशमें रहें और आत्मा स्वस्थ बनी रहे तो ऐसा आदमी कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता, ऐसा कहा जा सकता है।

लकड़ियाँ जलानेसे यज्ञ हो जाता है, यह मेरी समझमें ही नहीं आता। यह कहना कि इस तरह वायु स्वच्छ होती है, निरर्थक है। वायु शुद्ध करनेके अनेक साधन हैं। हम हवा खराब करते ही क्यों हैं? हवा तो साफ ही है। हवाको हम खराब करते हैं। परन्तु यज्ञ करनेका कारण यह है ही नहीं। जब आर्य हिन्दुस्तानमें आये, तब उन्होंने अनार्योंको सुधारनेका प्रयत्न किया। सम्भव है, पहले यज्ञकी कल्पना उन्हींकी दृष्टिसे की गई हो। उस समय बड़े घने-घने जंगल थे और इसलिए जंगल काटना हरएक आदमीका धर्म बन गया हो; क्योंकि समाजके लिए उसकी जरूरत थी। और चूँकि यह धर्म हो गया इसलिए कल्पना की गई कि वह मोक्षदाता है। अनेक ऐसी क्रियाओंकी व्यवस्था हुई जिनमें बिना अग्निके काम नहीं चलता। ये ऋषिगण यदि किसी सूखे प्रदेशमें होते तो उन्होंने यज्ञको जो स्वरूप दिया होता, उसमें कदाचित् एक भी टहनी काटनेकी गुंजाइश न दी जाती। अथवा वृक्षारोपण और अमुक घड़े पानीसे उसे सींचनेका विधान होता। आज हम लकड़ियाँ जलाते हैं, यह तो

पूर्वजोंकी पूँजीका दुरुपयोग है; अथवा कह सकते हैं कि हम लकीरके फकीर होकर अक्षरार्थ करने बैठ गये है। आज विचार करे तो इसे शरीर-यज्ञ नही कह सकते। आजके ज़मानेके अनुरूप और इस देशकी परिस्थितिके अनुरूप शरीर-यज्ञ करना हो तो वह चरखा ही हो सकता है। उसी तरह जैसे मैंने जंगलके विषयमें समझाया। उस समय घने जंगलोंमें जाकर लकड़ी काट लानेके विचार-मात्रसे आदमी काँप जाता होगा। किन्तु जब उसे धर्म कह दिया गया, तब श्रद्धालुने उसे काट डाला। क्योंकि कहनेवालेके प्रति उसके मनमें पूरा विश्वास था। ऐसा श्रद्धालु व्यक्ति तो जंगल काटनेमें लगा ही रहेगा। (स्टीवेंसनने मैनचेस्टरकी खाईके बारेमें जो कहा उसपर विचार कीजिए। उसने कहा, रात-दिन मिट्टी डालते रहो।) यदि जंगल काटनेका हुक्म न मिला होता, तो सर्प बढते और हवा विषैली हो जाती। किसीने कहा है कि सद्-विचार एक ही मनुष्यके मनमें आया और उसने उसपर अमल किया, इसीलिए वह फैल गया। साधन व्यवहारमें आया कि साध्य प्राप्त हुआ समझिये। आरम्भ होना ही पर्याप्त है। मुसीबतें आयें तो भी अपना काम तो करते ही जाना चाहिए। श्रद्धालुके लिए निष्फलता-जैसी कोई चीज नही है। वह कहेगा, हो सकता है यह जगतके लिए निष्फल हो, किन्तु मेरे लिए वैसा नहीं है। इसीका अर्थ है अनासक्त कार्य। ऐसा व्यक्ति आशा नहीं रखता, और धैर्य रखता है। वह ऊहापोह नहीं करता और उतावला नही होता।

[४३]

बुधवार, १४ अप्रैल, १९२६

कल यज्ञका अर्थ समझा — शरीर-श्रम, मजदूरी, पारमार्थिक मजदूरी। उक्त श्लोकमें इन्ही बातोंका समावेश है। 'यज्ञके साथ-साथ उत्पन्न किया' इसका क्या अर्थ हुआ? मजदूरी हमारे साथ जन्मसे ही जुड़ी हुई है। जैसे जरा और मृत्यु जन्मसे जुड़े हुए हैं। किन्तु व्यक्ति आपापोषी होकर स्वेच्छाचारी हो जाता है अथवा सुख भोगनेके विचारसे श्रम करता है। इस तरह सृष्टि नही चल सकती और सृष्टि नही चल सकती अर्थात् स्वयं व्यक्ति भी नहीं चल सकता। मनुष्य जन्मसे ही असहाय होता है। उसे किसी न किसी मातृदेव अथवा पितृदेवकी शरणकी आवश्यकता होती है। मनुष्य पराधीनतामें जन्म लेता है और पराधीनतामें ही मरता है। स्वाधीनता तो एक मानसिक स्थिति है। स्वाधीन तो मनुष्य जितना अपनेको माने उतना ही कहला सकता है। वह कहेगा कि मैं स्वेच्छासे नियमके आधीन चल रहा हूँ। किन्तु कुछ ऐसी बातें है जिन्हें यदि व्यक्ति न माने तो राजाका राज्य ही न चले। अपने गुनाहको आदमी स्वयं ही नही पचा सकता। उसके संगी-साथियोंतक को उसका फल भोगना पड़ता है। पाप करना भी कच्चा पारा लेने जैसा है अर्थात् व्यक्ति हरएक बातमें पराधीन ही है। कुछ-एक बातोंमें वह स्वाधीन है और इसलिए यह अच्छा है कि वह जो-कुछ करे, यज्ञ-रूपमें करे। यज्ञ हमारे साथ-ही-साथ इसलिए पैदा हुआ है कि हम

देवोंकी सेवा करें, और देव हमारी सेवा करें। यदि हम उनके अधीन चलेंगे तो वे हमारे अधीन हैं ही। चरखा-यज्ञ इस युगका यज्ञ है। किन्तु यज्ञका जो मुख्य अर्थ यहाँ है, हमें वही अर्थ ध्यानमें रखना है। अन्य सारे यज्ञ उसीके अन्तर्गत आ जाते हैं। सबसे स्थूल प्रवृत्ति है खाने-पीनेकी। देह तो दासके रूपमें ही पैदा हुआ है। यदि हम केवल आत्माके हुक्मपर देहका निर्वाह करते रहें तो मोक्ष मिल जायेगा। देहका उपयोग आत्माके लिए और जगतके लिए करना चाहिए। सभी आदमी अलग-अलग काम करते हैं, इसलिए कायदेमें 'लीगल फिक्शन' (झूठी कल्पना) के नामसे जो यह कहा गया है कि राजा दोष करता ही नहीं है, उसे मान लें तो राजा भी अच्छा कहा जायेगा। आज राजा पाखण्डी है तो प्रजा भी पाखण्डी है। हम भी कुछ झूठी कल्पनाओंको रूढ़ कर लेते हैं। चरखेमें हमने यह कल्पना की है कि हम उसके मारफत अपनेको सारे जगतसे जोड़ लेते हैं। लकड़ी जलाने और घीकी आहुति देनेसे सम्बन्धित यज्ञकी कल्पनाको हमने छोड़ दिया है।

यज्ञका यह अर्थ मैंने आज ही किया हो, सो बात नहीं है; जबसे मैं 'गीताजी' पढ़ रहा हूँ तभीसे मैंने इसका यही अर्थ किया है। रूसी लेखक बोन्डोरेफकी 'ब्रेड लेबर' (मजदूरी करके रोटी कमाओ) नामक पुस्तक जब मैंने पढ़ी तो मेरा यह विचार पक्का हुआ। किन्तु कल्पना तो यह मेरे मनमें पहलेसे ही थी। और फिर वह बढ़ती ही चली गई। इस रूसी लेखकने इसका एक ही पहलू बताया है। हम दूसरा पहलू भी समझ गये हैं। हम आज 'ब्रेड लेबर' अर्थात् जीविकाके लिए मजदूरीवाली बातको अधिक व्यापक रूपमें देखते हैं; क्योंकि हम यज्ञको केवल आजीविकाके लिए की गई मजदूरी नहीं मानते। हम उसे केवल आसपासके वातावरणके लिए भी नही मानते। यहाँ उद्देश्य शारीरिक मजदूरीसे है। बारह घंटे शरीर-श्रम करनेवाला ही भोजन पायेगा। जिसे सच्चे ब्रह्मचर्यका पालन करना है, स्वच्छ रहना है, विकार-मुक्त रहना है, उसके लिए शरीर-श्रम अनिवार्य है। मजदूर हमारे बराबर विकारवश नहीं रहते। सम्भव है, उनकी बुद्धि जड़ होती हो, किन्तु विकारवश होनेसे जड़ होना बहुत अच्छा है। संसारमें बुद्धिमान लोग न हों तो भी संसार चलता रह सकता है। किन्तु यदि शरीर-श्रमका लोप हो जाये तो दुनिया कैसे टिकेगी? शरीर-श्रमके नियमका सम्मान करके हमने बुद्धिमानी की है। व्यापकसे-व्यापक शरीर-श्रम खेती है। और उसे यज्ञ-रूप समझना चाहिए।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥ (३,१२)

देवतागण यदि यज्ञसे सन्तुष्ट हो जायें अर्थात् यदि वे तुम्हारी परोपकारी प्रवृत्ति, देहसे किये गये तुम्हारे श्रमसे सन्तुष्ट हो जायें तो वे तुम्हें इष्ट भोग देंगे अर्थात् समाज-रूपी देवता तुम्हें भोग देगा। इनके द्वारा प्राप्त करनेपर भी जो दूसरोंको नहीं देता, वह व्यक्ति चोर है। जो व्यक्ति समाजके लिए अपने शरीरसे श्रम नहीं करता, वह चोर है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (३,१३)

जो व्यक्ति यज्ञ कर चुकनेके बाद जो-कुछ अवशिष्ट रह जाता है, उसे खाते हैं, वे सत्पुरुष सभी पापोसे मुक्त हो जाते हैं। सब-कुछ समाजको अर्पित करके, कृष्णार्पण करके खानेवाला पापमुक्त है। किन्तु जो अपने ही लिए भोजन बनाता है और केवल स्वार्थके लिए श्रम करता है, वह व्यक्ति तो पाप ही खाता है। इसीलिए यज्ञ, त्याग, कुर्बानी आदि बातें, जिनका आधार शरीर-यज्ञपर ही है, नित्य नियमित रूपसे की जानी चाहिए। ईश्वरके जिस पहले नियमको साथ लेकर आदमी जन्म लेता है, उसका पालन करना महान यज्ञ है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ (३,१४)

अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, पर्जन्य (वर्षा) से अन्न पैदा होता है, यज्ञके बिना पर्जन्य नहीं हो सकता और यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है। यदि हम आलस्यमें पड़े रहें तो वर्षा न हो। इस तरह यज्ञके बिना वर्षा न होनेकी स्थिति उत्पन्न होती है। करने योग्य श्रम किया ही जाना चाहिए। किन्तु लोगोंमें वृक्षादि लगानेकी वृत्ति ही पैदा नही होती। जंगलमें बहुत वर्षा होती है, किन्तु उसकी वहाँ उतनी आवश्यकता नही होती। उससे तो हानि होती है। किन्तु जब आदमी वहाँ काम करनेके लिए तत्पर हो जाता है तो उसीसे लाभ होने लगता है। चेरापूंजीमें संसारमें सबसे अधिक वर्षा होती है, किन्तु वह वहाँ किस कामकी? (अलबत्ता उसका इतना उपयोग अवश्य है कि उसको दूसरी जगहोंकी वर्षाकी तुलनाका मानदण्ड बना लिया गया है; किन्तु यह एक अलग बात है।)

वृक्ष इत्यादि न हों तो वर्षा हो ही नही सकती, विज्ञानशास्त्रियोंका यह नियम यहाँ 'भगवद्गीता' में आ गया।

[४४]

गुरुवार, १५ अप्रैल, १९२६

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ (३,१५)

यह श्लोक तनिक जटिल है। यह समझ लें कि कर्मका उद्भव ब्रह्ममें से और ब्रह्मका उद्भव यज्ञमें से है। बिहारमें प्राप्त 'गीता' की एक व्याख्यामें कर्मका अर्थ ब्रह्म किया गया है और नीचे ब्रह्मका अर्थ दिया है: जो वस्तु सारे जगत्को उत्पन्न करने-वाली, पोषण करनेवाली, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरको भी पैदा करनेवाली हो। इसका यह भी अर्थ किया गया है कि हम जिसे ईश्वर और अन्तर्यामीके नामसे पुकारते हैं और जो सभी सम्प्रदायो और धर्मोंका सामान्य तत्त्व है।

यह ठीक बात है कि ब्रह्मका उद्भव यज्ञमें से हुआ है। जहाँ त्याग है, जहाँ आत्माके द्वारा आत्माको सन्तोष प्राप्त है, जहाँ सबके दुःखमें दुःखी होनेकी बात है और जहाँ सबके प्रति समभावरूपी महायज्ञका आचरण हो रहा है, वहाँ ब्रह्म है ही। किन्तु इस यज्ञ अथवा अन्य सभी यज्ञोंके पीछे यह बात तो है ही कि धर्मका आचरण शरीरको अक्षुण्ण रखकर नहीं हो सकता। शरीरकी रक्षा धर्म नहीं है। शरीरको क्षीण करते-करते ही धर्मका आचरण किया जा रहा हो, तो वही धर्म है। जो मनुष्य अपनी देहको कष्ट नहीं देता वह किसी भी प्रकारका यज्ञ नहीं करता। इसलिए जो मनुष्य संसारके लिए शरीर-श्रम करता है — हिन्दुस्तानके तैंतीस करोड़ लोगों और फिर संसारके अरबों मनुष्यों और उसमें भी समस्त जीव-जन्तुओंकी बात सोचें, तो हम जगतकी तुलनामें अपने शरीरके एक रोमके बराबर भी नहीं हैं. — उसे यह माननेका क्या अधिकार है कि वह सारे जगतके लिए श्रम कर रहा है? मेरा एक-एक बाल उखाड़ लिया जाये तो प्राण ही निकल जायेगा। किन्तु एक बालकी कोई हस्ती नहीं है। अगर हम जगतके विषयमें ध्यानसे सोचें तो जगत हमें अपनेमें व्याप्त दीखेगा। रोम क्या है और जगत क्या है, यह भाव ही लुप्त हो जाता है और इस तरह व्यक्ति ही सारा संसार बन जाता है। और ऐसा व्यक्ति चौबीसों घंटे अपने शरीरका उपयोग जगतके लिए ही करता है।

ज्ञानादि शब्दोंका उच्चारण हम करते हैं; सो इस देहके होनेके कारण ही। जो अदेह है, उसके लिए ज्ञानका क्या उपयोग? जगतमें सबसे बड़ा ज्ञान है आत्मदर्शन। किन्तु यह तो कल्पना ही है कि बिना देहका भी मनुष्य हो सकता है। इसीलिए जगत-मात्रके लिए देहके कष्टों द्वारा आत्मदर्शन और यज्ञकी बात कही गई है। हम सब मजदूर हैं। यदि धनिक भी अपनेको मजदूरोंकी तरह ही मजदूर मानें तो मजदूरोंका बड़ा उपकार हो। उन्हें सन्तोष मिल जाये और वे धनिकोंके साथ ओतप्रोत हो जायें। किन्तु अगर मजदूर ऐसा कहे कि मालिक मैं हूँ तो इससे उसकी हानि है। जिस तरह अंग्रेज जाति हमपर राज्य चला रही है, यदि हम उसी प्रकार स्वराज्य चलानेकी बात सोचें तब तो हम मालिक बन गये। किन्तु हमें तो मालिकी छोड़कर मजदूरकी स्थितिमें पहुँचना है। मजदूरी करते हुए हम उस वस्तुकी ओरसे अलिप्त होकर शून्यवत् बन जायें तो हमारा अन्धेरा समाप्त हो जाये। 'नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' में यही भाव छिपा हुआ है।

फिर भी श्लोकके प्रारम्भमें जो ब्रह्म शब्द आया है, उसका क्या अर्थ है? ब्रह्मा कौन है, विष्णु कौन है, महेश्वर कौन है? मैं ऐसा नहीं मानता कि ये सब कोई व्यक्ति हैं। हम ऐसा मानें कि ये सब ईश्वरीय अंश अथवा शक्तियाँ हैं। ये सब पुराणोंके देवता हैं और इन्हें अलग-अलग माना गया है। यह सब सच भी है और झूठ भी। उद्देश्य हमको किसी प्रकार धर्मकी शिक्षा देना था और इसीलिए ये सारी कल्पनाएँ की गई हैं। अन्यथा न तो ब्रह्मा है, न महेश्वर। है केवल ब्रह्म जो न स्त्री है, न पुरुष। किन्तु ईश्वरके विषयमें तो ऐसी कल्पना की गई है कि वह कुछ करता ही नहीं है, इसीलिए कल्पना की गई कि संसारकी उत्पत्ति ब्रह्मामें से हुई। यदि कोई चार

मुखवाले ब्रह्माकी कल्पनामें विश्वास करता है और मैं उसकी इस कल्पनाका नाश करूँ, तो उसे कौन-सा ज्ञान दूँगा? उसकी उक्त मान्यताका खण्डन करके मुझे क्या मिलेगा? यदि वह मुझसे पूछे कि क्या तुम ऐसा मानते हो, तो मैं कहूँगा 'ना'। किन्तु जो साकार-स्वरूपको मानना चाहे, मैं उसे उससे विरक्त नहीं करूँगा। इसलिए मेरी समझमें ब्रह्माका अर्थ हुआ ईश्वरकी क्रिया करनेवाली शक्ति। तिलक महाराजकी 'गीता' में ब्रह्मका अर्थ प्रकृति ही किया गया है। इसलिए मैं कहूँगा कि प्रकृति ही ब्रह्मा है। अन्ततोगत्वा हमें मान्य यही करना है कि हरएक यज्ञसे ईश्वरका साक्षात्कार हो जाता है और जहाँ शरीर-यज्ञ नहीं है, वहाँ ईश्वर भी नहीं है; यद्यपि हमने तो यह माना है कि ईश्वर सब जगह है। हमारा शारीरिक कर्म चलता रहता है और उसीके आधारपर संसार चलता रहता है। अक्षरका अर्थ ईश्वर है, इस विषयमें तो मुझे कोई शंका ही नहीं है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ (३,१६)

इस तरह प्रवर्तित चक्रका अनुसरण जो व्यक्ति नहीं करता वह व्यक्ति पापयुक्त जीवन जीनेवाला, इन्द्रियाराम व्यक्ति है। वह नाहक ही जी रहा है। वह संसारपर भाररूप होकर जी रहा है। पृथ्वी चौबीसों घंटे सतत घूमती ही रहती है। जो मनुष्य इसपर आलसी बनकर बैठा रह जाता है, वह नाहक जी रहा है। जो यज्ञ करते रहते हैं, कर्म उनके लिए बन्धन नहीं है। जो आलस्यमें डूबा हुआ अपनेको 'अहम् ब्रह्मास्मि' कहता है, 'गीता' उसे अघायु कहती है। इसीलिए नरसी मेहताने कहा है कि मुक्ति त्यागीको नहीं मिलेगी, भोगीको मिलेगी। यहाँ भोगीका अर्थ है जगत-की मजदूरी करनेवाला और त्यागीका अर्थ है आलसियोंका सरदार।

मैंने इस चक्रको चरखा कहा है। मैंने इस युगके लिए इसी महायज्ञकी कल्पना की है। जो इसे चलायेगा वह जियेगा अथवा जीतेगा।

[४५]

शुक्रवार, १६ अप्रैल, १९२६

यज्ञका अर्थ हुआ कोई भी पारमार्थिक प्रवृत्ति।[१] जब कोई अपने शरीरका उपयोग जगतके लिए करता है तब वह व्यक्ति पारमार्थिक कार्य करता है। यदि हम ऐसा मानकर अपने शरीरका उपयोग करें कि शरीर जगतका है तो शरीरपर आधिपत्य रखते हुए हम उसे स्वच्छ रखेंगे और उसपर दीमक नहीं चढ़ने देंगे। किन्तु हमें अपने सारे काम ईश्वरार्पण बुद्धिसे करने चाहिए। यदि हम शरीरका उपयोग केवल अभिभावक, रक्षक, अपनेको उसका पालक मानकर करें तो हमें आत्मतृप्ति मिलेगी। जो चौकीदार स्वयंको अपने शरीरका अभिभावक मानकर सेवा करता है, वह यदि ऐसा कहे कि

१. यहाँ पण्डित नारायण मोरेश्वर खरेने प्रश्न किया था कि यज्ञसे वर्षा किस प्रकार होती है। इसपर गांधीजीने 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' वाला श्लोक फिरसे समझाया और फिरसे 'यज्ञ' शब्दकी व्याख्या की।

जबतक मैं यहाँ घूम रहा हूँ तबतक कोई चोर आ ही नहीं सकता, और हमें उसकी इस बातपर भरोसा हो जाये तो हम उस चौकीदारको — इस रामाको[1] मुक्त छोड़ देंगे। इसी तरह [हमें श्रद्धा रखनी चाहिये कि] सेवाके विचारसे किये हुए श्रमके फलस्वरूप वर्षा होगी।

यह कविका जवाब है।[2] और ठीक है। 'यज्ञ' शब्द 'यज्' अर्थात् पूजनेसे बना है; जो सेवाके द्वारा पूजा करता है, वह ईश्वरको प्रसन्न कर सकता है।

मरुस्थलमें वर्षा करानी हो तो क्या करें। वहाँ वृक्ष लगाये जाने चाहिये। जहाँ वर्षा कराना आवश्यक हो, जहाँ वृक्ष लगाये जायें — और जहाँ बहुत वर्षा होती हो, वहाँ वृक्ष काटे जायें।

सेवा यज्ञके मूलमें रही होगी। उसके बजाय हम लोग शाखाओं और पत्तोंमें उलझ गये और मानने लगे कि लकड़ी जलायें या घीकी आहुति दें तो यज्ञ सम्पन्न होगा। पूर्वजोंके कालमें पृथ्वीको साफ करनेके लिए लकड़ियाँ काटना और जलाना आवश्यक था। शिष्योंके समित्पाणि होकर जानेका क्या अर्थ है? लकड़ियाँ काटना और जलाना। यही तब यज्ञका स्वरूप हो गया। आज चरखा यज्ञ हो गया। यदि हमें पानी न मिले और दो कोस जाकर पानी लाना पड़े, तो पानी लाना ही यज्ञ हो जायेगा। 'लेबोरारे ऐस्ट ओरारे[3]' — 'उद्यम ही पूजा है'। यह वचन भी इस श्लोककी भावनाके साथ मेल खाता है।

[४६]

शनिवार, १७ अप्रैल, १९२६

क्या परोपकार-वृत्तिसे किये गये, बुद्धिके उपयोगको यज्ञ नहीं कहा जा सकता। इस श्लोकमें यह नहीं कहा गया है कि सभी यज्ञ वर्षाकारक होते हैं। कहा यह है कि यज्ञके बिना वर्षा नहीं होती। किन्तु सभी यज्ञोंसे वर्षा होती हो, सो बात नहीं है। यह उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार सभी प्रकारके खाद्य-पदार्थ प्राणशक्ति उत्पन्न नहीं करते।

कहा जा सकता है कि भौतिकवादके साथ आध्यात्मिक बातका क्या सम्बन्ध है। जो नियम आध्यात्मिक क्षेत्रमें लागू होता है, वही नियम भौतिक दृश्य-क्षेत्रमें भी लागू पड़ता है। देहके सभी नियम आत्माकी उन्नतिके लिए हैं। प्रत्येक भौतिक गतिविधिमें यही दृष्टिकोण प्रधान होना चाहिए। जिस बातसे आत्मदर्शन नहीं होता, उसका त्याग ही कर देना चाहिए। एक बात अवश्य है; जिस तरह सेवाभावसे शरीर-श्रम किया जाये तो वर्षा होती है, उसी प्रकार सेवा-वृत्तिसे बुद्धिका उपयोग किया जाये तो उससे जगतका कल्याण होता है।

१. गुजरातीमें 'रामा' नौकरोंका सामान्य नाम है। उसी शब्द से इस वाक्यमें श्लेष सधता है। हिन्दीमें नहीं।

२. यहाँ एक बच्चेने प्रश्न पूछनेपर कहा कि परोपकारके लिए की गई हमारी सेवासे ईश्वर प्रसन्न होता है। आगेकी पंक्तियाँ बापूने इसीपर कही थीं।

३. यह लैटिनका एक मुहावरा है।

कभी-कभी यज्ञके बावजूद वर्षा नही होती, इसे किस तरह समझाया जा सकता है। कार्य अनेक कारणोंकी परम्परासे उत्पन्न होता है। कार्य-कारणकी पूरी परम्पराको हम नही देख सकते। यज्ञके सिवाय अन्य सहायक परिस्थितियाँ भी होनी चाहिए। इस विश्वासका कोई कारण नही है कि अमुक काम करेंगे तो अमुक फल होगा ही। क्योंकि ऐसे हजारों अन्य कारण हो सकते हैं जिन्होंने पिछली बार परिणाम उत्पन्न करनेमें हाथ बँटाया था।

हर कामका कोई न कोई परिणाम तो होता ही है। पिछले युद्धके अन्तमें जापानमें भूकम्प हुआ। क्या इसे ईश्वरीय प्रकोप कह सकते हैं? अभी . . . ने[1] जवाबमें यह कहा कि मनुष्यके क्रूर होनेपर प्रकृति भी क्रूर बन जाती है। किन्तु इसमें प्रकृतिके क्रूर होनेकी कोई बात नही है। जहाँ केवल न्याय है, उसे क्रूरता कैसे मान सकते हैं? मनुष्य जो-कुछ करता है, अहंकारसे करता है; ईश्वर थोड़े ही अहंकारवश होकर कोई काम करता है। उसपर क्रूरताका आरोप करना अपने गजसे ईश्वरको नापना है। ऐसे ही दृष्टिकोणके कारण ज्ञानमें से निरीश्वरवाद निकला। ईश्वरको यदि हम अपने जैसा बना डालें तो काम कैसे चलेगा। दूसरी तरह देखें तो वह कर्त्ता है, क्योंकि वह चेतना देनेवाला है। सतत वही सब-कुछ कर रहा है। बिना कानके सुनता है, आँखके बिना देखता है। भूकम्प किसी पापकी सजा है, यह मानना ठीक नही है। भूकम्पका होना सजा है, इसका क्या कारण मानें। कोई राष्ट्र पापमें डूबा हुआ हो, और ईश्वर उसे बचा लेना चाहता हो तो पापमें से बचानेकी दृष्टिसे वह भूकम्प भेज सकता है। मैं व्यभिचार करना चाहता हूँ, भयंकर व्यभिचार करना चाहता हूँ और यदि उस क्षण ईश्वर मुझे काटनेके लिए एक साँप इसीलिए भेज देता है कि मैं उस पापसे बच जाऊँ। क्या इसे उसका कोप कहें? उससे तो मेरी रक्षा होगी। नल और करकोटककी बात लो। करकोटकने उससे कहा कि यदि मैं तुम्हें कुरूप न बनाऊँ तो कलयुगमें तुम्हारा नाश हो जायेगा। इसी तरह राजपाटकी प्राप्तिको भी पुण्यका फल नही मानना चाहिए। ईश्वरकी लीला अगम्य है। हमें इसके विषयमें सवाल-जवाब करते हुए डरना चाहिए। हम इतना कहकर ही रह जायें कि इस विषयमें मैं कुछ नहीं जानता। अवश्य ही ईश्वरीय नियमको जाना जा सकता है। जाननेका अधिकार है। किन्तु समझदार आदमी अपने लोभको परिमित कर लेता है और आत्म-दर्शनके लिए जितना जानना जरूरी होता है, उतना ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसकी कोई न कोई सीमा तो माननी ही पड़ेगी। वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्त्ता भी चेतनाका मूल नहीं खोज सके हैं। मैं यह कल्पना कर सकता हूँ कि आदमी जिस तरह नदियोंको वशमें कर पाया है, उसी प्रकार किसी दिन भूकम्पको भी वशमें कर लेगा। किन्तु यह साधारण बात है। आत्माके नियमोंके विषयमें विचार करने बैठें तो भौतिक नियम वहाँ बिलकुल काम नहीं देते, क्योंकि ये तो नाम-रूपसे सम्बद्ध हैं। आत्माके नियमोंके विषयमें बहुत जाननेका लोभ न करना ही अच्छा है। ईश्वरकी स्तुति करनेके

१. साधन-सूत्रमें नाम छोड़ दिया गया है।

लिए जितना जानना आवश्यक हो, और जितना परिग्रह आवश्यक हो, उतना करके निश्चिन्त हो जाना चाहिए।

[४७]

रविवार, १८ अप्रैल, १९२६

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः। (३,१७-१८)

जो मनुष्य आत्मामें ही सुख मानता है, आत्माराम है, आत्मतृप्त है और आत्मामें ही सन्तुष्ट है, ऐसे मनुष्यके लिए कुछ भी करना शेष नही रहता।

ऐसे व्यक्तिके लिए कुछ करना शेष नहीं है। न ऐसा ही है कि वह कुछ करता नही है। उसके लिए तो करने और न करनेमें कोई अन्तर ही नहीं है। वह दोनों ही बातोंके प्रति समान रूपसे उदासीन है। प्राणियोंके द्वारा उसे कोई उद्देश्य सिद्ध नही करना है।

दोनों ही श्लोकोंमें ऐसा लगता है, जैसे एक ही बात कही गई हो। यदि हम पूरी तरह न सोचें तो ऊपर जो श्लोक हो चुके हैं, ये श्लोक उनके विरोधमें लगते हैं। पहले यह कहा गया है कि जो प्रवर्तित चक्रको नहीं चलाता, वह पापी और इन्द्रियाराम है। किन्तु यहाँ आत्मतृप्त मनुष्यकी बात कही गई है और कहा है कि उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं बचता। यह बात कि सेवा-वृत्तिसे काम करनेवाला आदमी आत्मतृप्त हो जाता है और उसे कुछ करना शेष नहीं रहता, परस्पर उलटी बातें लगती हैं। किन्तु बात ऐसी ही है। किसी चींटीको गोलेपर बिठला दिया जाये, और गोलेको लगातार घुमाते रहें तो चींटीके लिए कुछ करना शेष नहीं रहता। वह तो अपने-आपमें सन्तुष्ट होकर बैठी रहेगी। वह कहेगी कि गोला घूम रहा है और मुझे तदनुसार आचरण करना है। किन्तु यदि उस गोलेमें कोई बमीठा बना हो और उसे वहाँ पहुँचना भी हो, तो वह कहेगी कि वहाँ जाना घूमते हुए चक्रके अन्दर जाना है, इसमें मेरे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यकी क्या बात है। कैदीका क्या कर्त्तव्य है? हुक्मका पालन करना। आत्माराम व्यक्ति आत्माका दास बनकर सन्तुष्ट हो जाता है और आत्माके आदेशका पालन करता है। इसीलिए वह आत्मरत है, आत्मसन्तुष्ट है। (यदि कैदी सत्याग्रही हुआ तो वह कहेगा कि मैं इस व्यक्तिकी आज्ञा मानकर ही इसपर विजय पा लूंगा।) यदि वह व्यक्ति आत्माकी आवाजको ही सुनता रहे और प्रवर्तित चक्रके अनुसार ही चलता रहे, तो फिर उसे करना ही क्या है। टॉल्स्टॉयने ऐसी ही कुछ बात लिखी है। वह कहता है कि आदमी मूर्ख है; वह दम्भ करता है, 'मैं यह करूँगा, वह करूँगा। लोगोंके दुःखका निवारण करूँगा' इत्यादि। किन्तु उसका कहना है कि तू लोगोंके कन्धेपर चढ़कर बैठा है, वहाँसे उतर जा। इतना ही पर्याप्त है। फिर जिसके कन्धेपर वह चढ़कर बैठा था, उसे भी कुछ करना शेष नहीं

रहता। हम गरीबोंके कन्धेपर बैठे हुए हैं। हमारा इतना ही कर्त्तव्य है कि हम उनके कन्धोसे उतर जायें। यदि हम अपनी आत्माकी आवाजके अनुसार चलते हैं तो कुछ करना शेष नही बचता; और यह इसलिए कि हम जो सहज स्वभावसे करते हैं, उसका हमें भान ही नही रहता।

इस तरह ऊपर यज्ञ न करनेवालेको इन्द्रियाराम, आलसियोंका सरदार कहा गया; और दूसरेको जो प्रतिक्षण काम करता रहता है, आत्मतृप्त कहा। वह इतना कार्य करता है और सो भी सहज भावसे कि उसके लिए कर्त्तव्य शेष ही नही रहता।

पण्डितजीने जो प्रश्न किया मैं उसका आशय अधिक अच्छी तरह समझता हूँ। उन्होंने पूछा, 'गीता' वर्षाकी बात किसलिए करती है। वह कहना यह चाहते थे कि आत्मासम्बन्धी ग्रन्थमें तो आत्माकी बात ही होनी चाहिए। 'गीता' हमें जीव-जन्तु, पशु-पक्षी और अन्तमें वर्षातक ले जाती है और कहती है कि जितना शरीर-श्रम करना चाहिए, यदि मनुष्य उतना शरीर-श्रम करे तो मुँह-माँगी वर्षाका लाभ होगा। हम ऐसा कोई छोटा-मोटा नियम इससे निकाल सकते हैं।

क्या वर्षाका हमारे पाप-पुण्यसे कोई सम्बन्ध हो सकता है? हो सकता है; किन्तु हमें उसकी खबर नही है। यदि हम मुख्य वस्तुके बारेमें कुछ बातें जान लें तो उसके विषयमें सभी कुछ जान लेंगे। दृश्य पदार्थोंसे हम अदृश्योंका अनुमान लगा लेते हैं। उदाहरणके लिए यदि हम चलते ही चले जायें, तो हमारी आत्माको भी इस चक्रका अनुसरण करना पड़ेगा। जैसा एक कामके विषयमें, वैसा दूसरे कामोंके विषयमें भी समझिए। इस दृष्टिसे नियम यह है कि हमें अपवादरहित नियमकी खोज करनी चाहिए। दृष्टान्तस्वरूप, पानीमें एक भाग आक्सीजन और दो भाग हाइड्रोजन हो, तभी वह पानी कहलाता है। इस बातका कोई अपवाद नहीं है। इसी तरह समकोण भी ९० अंशका ही होता है, न कम, न ज्यादा। इसलिए यदि हम यह जान लें कि 'एवं प्रवर्तितम् चक्रम्' एक निरपवाद नियम है, तो फिर हमें कोई परेशानी नहीं होगी। यहाँ पहले भौतिक नियम बताकर आध्यात्मिक नियम सूचित किया गया है।

[४८]

मंगलवार, २० अप्रैल, १९२६

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ (३,१९)

असक्त रहकर काम किया कर। क्योंकि असक्त रहकर कार्यरत पुरुष श्रेय प्राप्त करता है, मोक्ष प्राप्त करता है। इन श्लोकोंके अलग-अलग अर्थ होते हैं। किन्तु ऐसा नही है कि उनमें कोई अर्थ ज्ञानीपर लागू होता हो, और अन्य सामान्य साधकपर। एक ही श्लोक दोनोंपर लागू किया जा सकता है। 'गीता' भी तो बाहर और भीतरके युद्धपर लागू हो सकती है। इसलिए यहाँ अर्थ यह हुआ कि जो व्यक्ति

निर्मम और निरहंकार हो गया है, उसके विषयमें कहा जा सकता है कि कर्म उसके लिए शेष नहीं बचे। वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियोंके समान कार्य करते हुए भी कुछ नहीं करता।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ (३,२०)

कर्मसे ही जनक इत्यादिने सिद्धि पाई। इसलिए लोकसंग्रहका विचार करके भी मनुष्यको कर्म करना चाहिए। जनकको समाचार दिया गया कि नगर जल रहा है। जनकने सिर्फ इतना ही कहा कि यदि जल रहा है तो क्या हुआ। जो आग बुझानेका काम संचालित करता हो, वह अगर यन्त्रोंके पास खड़ा-खड़ा अथवा पड़ा-पड़ा भी हुक्म दे, तो वैसा हो सकता है। अलबत्ता उसे रहना वहीं चाहिए। यदि कोई उसे उस समय आकर कहे कि तेरे घरमें आग लग गई है, तो क्या वह अपनी जगह छोड़कर घर बचाने दौड़ पड़ेगा। उसने अपना माननेका भाव तो छोड़ दिया ही है। जो इसे प्रामाणिकताके साथ 'उत्तम नीति' मानकर चलता है वह हीरेको कौड़ियोंके दाम वेचता है। जो सत्यका अनुसरण इसलिए करता है कि उससे उसे व्यापारमें लाभ होगा, तो सत्यका ऐसा आचरण उसके लिए बन्धनकारक होगा। किन्तु यदि वह मोक्ष-वुद्धिसे सत्यका पालन करे तो वही आचरण तारक बनेगा। इस तरह काम करनेवाला योगी है, क्योंकि कार्यमें कुशलता योग है। जो व्यक्ति स्वार्थकी दृष्टिसे यह सब करता है, वह पत्थर है, किन्तु जो परमार्थकी दृष्टिसे करता है, वह जड़भरतकी तरह है। यद्यपि आखिरकार तो उसे ज्ञानकी प्राप्ति होनी ही है। 'जैसे चाहो, वैसे रहो,' वाली पंक्ति उसपर लागू होती है। किन्तु सतत कर्म तो उसे करते ही रहना चाहिए। वह अन्य कारणोंसे कोई अन्य कल्पना नहीं करता[1]। यह बात उसीके विषयमें कही जा सकती है जिसने अपने-आप अहंकारको धोकर स्वच्छ कर लिया है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (३,२१)

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो काम करता है, अन्य व्यक्ति भी वैसा ही करते हैं। वह जिस तरह चलता है, दूसरे भी उसी तरह चलते हैं। वह जिस गजसे नापता है, समाज भी उसीसे नापेगा। लोग तो यही देखते रहते हैं कि वड़े आदमी किस तरहका आचरण कर रहे हैं। सत्यका आचरण गांधी किस तरह करता है। कोई श्रेष्ठ पुरुप विचारमें भी जैसा आचरण करता है, उसका परिणाम भी हुए विना नहीं रहता। जो व्यक्ति नीति समझकर सत्य बोलता है, उसका सत्य लंगड़ा है। किन्तु सत्य जिसके विचारमें है, वह मूक रहते हुए भी कार्य करता ही रहेगा। इस व्यक्तिका विचार सफल होता हैं। बिना सफल हुए रहता ही नहीं। जो विचार, आचार और वाणीमें एक रहता है, वह आदर्श व्यक्ति है। सव उसका अनुसरण करेंगे। इसीलिए मैंने

१. 'अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहिं' — रायचंद भाई।

चरखेकी जो बात कही है, यदि हम उसे विचार, वाणी और कर्ममें उतारेंगे तो सब उसका अनुसरण करेंगे। मिट्टीकी पूजा करनेवालेको जब ईश्वर मिल जाता है, तो इसे क्यों नहीं मिलेगा।

[४९]

बुधवार, २१ अप्रैल, १९२६

आज रामनवमी है। हम लोग आज दो घंटे 'रामायण' पढ़ते हैं और सुबह राम-जन्मकी चर्चा होती है। लोग उपवास रखते हैं अथवा एक बार भोजन करते हैं, अथवा केवल फलाहार करते हैं। आज रामनवमीको इस प्रकार मनाकर 'गीता' में जो-कुछ पढ़ा है, हम उसका पालन करेंगे। इस समय मैं एक धर्म-संकटमें हूँ। यद्यपि मैं आश्रममें हूँ, फिर भी सम्भव है कि मैं इसमें शामिल न हो सकूँ। एक दूसरा धर्म मुझे पूरा करना है। पण्डित मोतीलालजीने मुझे लिखा कि अमुक सज्जनको बुलाओ और उसके साथ बातचीत करो। इसलिए मुझे आश्रममें रहते हुए भी उक्त सज्जनके साथ चर्चा करनी पड़ेगी और जिस समय आश्रममें 'रामायण' का पाठ होता रहेगा, उस समय मुझे उक्त सज्जनके भोजनकी तैयारी कराते रहना होगा। यह आचरण उलटा है। यदि मैं इस सबमें ओतप्रोत हो गया होता, तो जैसे किसी भी परिस्थितिमें मैं चार बजेकी प्रार्थनामें शामिल हो जाता हूँ उसी तरह इस उत्सवमें भी शामिल हो जाता और तब मोतीलालजीसे कहता कि रामनवमीके कारण मैं आधा दिन ही दे सकूँगा। किन्तु अभीतक यह मेरा दृढ़ स्वभाव नहीं बना है, इसलिए वैसा नहीं कह सकता। कहूँ तो वह कृत्रिम होगा। किन्तु मुझे चाहिए कि आश्रमको तो इसी दिशामें बढ़ने दूँ। जबतक हम संस्कारपूर्ण नहीं बने हैं, तबतक हम आधे पशु हैं, और आधे मनुष्य। पूरे मनुष्य बन जायें तो हमारा जीवन केवल कल्याणमय हो जाये। मेरा मन तो होता है कि मैं मोटे तरीकेपर हरएक बातमें आदर्श उपस्थित कर सकूँ, किन्तु जबतक विचार, वाणी और आचार इन तीनोंमें व्यक्ति एक नहीं हो जाता, तबतक ऐसा नहीं होता। इसलिए तुम तो कार्यक्रमको जैसा चल रहा है, वैसा ही चलाना। उपवास करना और 'रामायण' का पाठ करना। मेरी अपूर्णताको निभा लेना और मेरी मृत्युके उपरान्त मेरे इस आचरणका अनुसरण न करना। मेरा आज दृढ़ न रहना मेरे स्वभावके विरुद्ध है। किन्तु मैं जैसा हूँ, वैसा ही अपनेको प्रकट करना मेरा धर्म है, मेरी विनय है।

राम-जन्मके विषयमें अभी समय लेनेकी इच्छा नहीं है। छुट्टियाँ समाप्त होते ही तुरन्त 'रामायण' शुरू होगी, उस समय इस विषयमें कहूँगा।

अभी तो इतना ही कहता हूँ कि राम-नामकी महिमाका प्रसार हमारा अभीष्ट होना चाहिए। भजनके बाद राम-धुन होती है। यह कौन-सा राम है? तुलसीदासका राम, वाल्मीकिका राम अथवा आज जिसकी जन्म-तिथि है, वह राम। ये सारे राम एक हैं, अथवा अलग-अलग। यदि विचार करें, तो ये सब बातें समझमें आ सकती हैं। कुछ बातें मुझे छोड़नी पड़ेंगी। अपनी भावनाके अनुसार ही मुझे चलना होगा।

आज तो सब इस भावनासे चिन्तन करें कि राम-नाम हमें तार सकेगा। मैं आज भी परेशान हो जाता हूँ। जब मैं दूसरे व्यक्तियोंकी तरह अपने कामको लेकर लौकिक विचारोंमें फँस जाता हूँ, तब राम-नाम ही लेता हूँ। जब सोना चाहता हूँ और 'गीता' के विचार तथा उसके श्लोकोंका अर्थ मनमें आता है तो उस समय भी अनेक बार राम-नाम लेकर नींद प्राप्त करता हूँ। क्योंकि मैं मानता हूँ कि उस समय सो जाना मेरा कर्त्तव्य है। सारे जगतमें राम-नामको व्याप्त कर देना हो, तो यह 'रा' अथवा 'म' के उच्चारणसे सम्भव नहीं होगा; ईश्वरके स्मरणसे होगा। मनमें तरह-तरहके विकार उत्पन्न होते हों, क्रोध आता हो, तो राम-नाम जपना चाहिए। राम-नाम लेकर सारे देशको धोखा देनेकी इच्छा हो तो वह तो एक अधम बात हुई। हमारे लिए राम-नाम एक नौका है और वह हमें पार लगानेवाली है। इसलिए इसे योग्य स्थान देना चाहिए। उसे सुगन्धसे भर रखना चाहिए। मुझे 'कुरान' की एक प्रति मिली। हाजी हबीबने कहा: इसे तो मेरे घर ही रखा जा सकता है, दूसरे किसी घरमें नहीं। क्योंकि हम इसे सारी पुस्तकोंके ऊपर रखते हैं, पवित्र होकर ही इसे छूते हैं। आपसे यह नहीं होगा। व्यक्ति इस प्रकार अपनी वस्तुको सुवासित बना देता है। किन्तु 'कुरान शरीफ' को पाकसे-पाक स्थानमें रखकर भी अपने मनको नापाक स्थानमें रखनेवालेसे तो ईश्वर नाराज ही होगा।

इस तरह राम-नामका व्यापक अर्थ लेना है। जिस वस्तुपर हमारा मन स्थिर हो गया है, उसमेंसे अधिकसे-अधिक जितना लिया जा सकता है, उतना ले लेना चाहिए।

[५०]

गुरुवार, २२ अप्रैल, १९२६

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

इस श्लोक परसे यह समझ लेना चाहिए कि यदि छोटे आदमी बड़ोंको देखकर अनुचित आचरण करें तो इसमें अपराध बड़ोंका ही है।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। (३,२२)

हे पार्थ, मुझे तो तीनों लोकोंमें कुछ करना शेष नहीं है। ऐसा कुछ नहीं है, जो मुझे मिल न गया हो। मेरे लिए प्राप्त करने योग्य भी कुछ नहीं है; किन्तु मैं कर्म फिर भी करता रहता हूँ। जिसका पेट भरा हो, अथवा जिसने उपवास किया हो, वह भोजन किसके लिए बनायेगा? दूसरोंके लिए। श्रीकृष्णके लिए सारा जगत अतिथि रूप है, सारे प्राणियोंके ऊपर उनकी प्रीति है, (होनी भी चाहिए क्योंकि यह सब उन्हींकी कृतियाँ हैं) कृष्ण कहते हैं: मैं ठहरा पुरुषोत्तम। मुझे तो ठीक आदर्श उपस्थित किये बिना छुटकारा नहीं है। यदि मैं ऐसा न करूँ तो प्रलय हो जाये।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। (३,२३)

यदि मैं आलस्यको समाप्त किये विना सम्पूर्ण रूपसे कार्यरत न रहूँ तो लोग भी हर तरह मेरा अनुकरण करने लगेंगे। मुझे तो चौबीसों घंटे यह तन्त्र चलाना है, क्योंकि मैं जगतका तन्त्री हूँ, सूत्रधार हूँ। मैं जगतको नचाता हूँ, इसलिए मेरा नाम नटवर भी है। रात-दिन सोकर अथवा आलस्यमें पड़े रहकर संसारका तन्त्री इसका संचालन कैसे कर सकता है?

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।। (३,२४)

यदि मैं काम न करूँ तो इन सब लोकोंका नाश हो जाये। मुझे तो दिन-रात कर्माग्नि प्रज्वलित रखनी चाहिए। न रखूं, तो समाजमें वर्ण-संकरता फैल जाये और मैं लोगोंका नाशकर्त्ता बन जाऊँ।

हम ईश्वरको प्रसन्न रखनेके लिए काम करते हैं। यदि हम इसे बन्द कर दें तो लोग अनुशासन-हीन हो जायें, आलसी हो जायें और बिलकुल ही परेशान हो जायें।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।। (३,२५)

जिस तरह अज्ञानी लोग काम करते हैं, मुझे भी उसी तरह काम करना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि वे आसक्ति-सहित करते हैं। मुझे भी उन्हींकी तरह कुदाली हाथमें लेकर काम करना चाहिए। बुद्धिमान मनुष्यको दूसरोंके बराबर ही उद्योग और परिश्रम करना चाहिए, किन्तु आसक्ति छोड़कर, राग-द्वेष छोड़कर, लोगोके कल्याणके लिए। (तुम जितना अनासक्तिसे कातोगे, गरीबके लिए कातोगे, तो उससे तुम्हारा और उनका कल्याण होगा) इस तरह काम करते हुए तू ज्ञानी कहलायेगा और कर्मी रहते हुए भी अकर्मी रहेगा। जिसने एकादशीका व्रत रखा है, यदि वह भोजन बनाये तो इसमें पाप थोड़े ही लगेगा। वह तो अनासक्त होकर बालकों और अतिथियोंके लिए भोजन बना रहा है।

[५१]

शुक्रवार, २३ अप्रैल, १९२६[1]

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।। (३,२६)

विद्वानको अज्ञानी और कर्ममें लिप्त लोगोंमें बुद्धि-भेद उत्पन्न नहीं करना चाहिए। उदाहरणके लिए उनसे यह नही कहना चाहिए कि जिस तरह किसी वस्तुके बिना

१. नया श्लोक लेनेके पहले गांधीजीने 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो' आदिको विनोबाका उदाहरण देकर समझाया और कहा कि वे साधारण किसानकी तरह खेतमें काम करते हैं और गीता भी बाँचते हैं।

हम अपना काम चला रहे हैं, वह भी उसके बिना अपना काम चला ले। ऊपर बताया गया कि यदि मैं समाजके लिए काम न करूँ तो प्रजामें वर्ण-संकर हो जायेगा। यही बात यहाँ भी दूसरे शब्दोंमें कही गई। यदि अर्जुन कोई जबरदस्त परिवर्तन कर डाले तो लोग उसे नहीं समझेंगे और कोई उलटा ही काम कर बैठेंगे। इसने तो लाखों मनुष्योंसे युद्धकी तैयारी करके आनेके लिए कहा था। अब यदि वह उनमें बुद्धि-भेद उत्पन्न करे, तो यह कैसे हो सकता है? इसलिए उसे तो अनासक्त रहकर युद्ध अर्थात् अपने धर्मका पालन करते रहकर दूसरोंको वैसा करनेकी प्रेरणा देनी चाहिए।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (३,२७)

प्रकृति अर्थात् स्वभाव — सत्व, रजस और तमसके द्वारा किये जानेवाले कार्योंके विषयमें मूर्ख मनुष्य अहंकारपूर्वक ऐसा मानता है कि ये काम तो मैं कर रहा हूँ। (आँखकी पलकें गिरती-उठती रहती हैं; यदि कोई व्यक्ति ऐसा माने कि मैं उन्हें उठा और गिरा रहा हूँ, तो वह मूर्ख अथवा रोगी है। यदि वह आँखोंको जान-बूझकर गति दे तो वह उन्हें बिगाड़ लेगा।) किन्तु जो व्यक्ति साक्षी रहकर कर्म करता है, उसका कार्य शोभा पायेगा। बिना कुशलताके भी जो मनुष्य अहंकार छोड़कर कर्म करेगा, वह [कुशल किन्तु] अहंकारी व्यक्तिकी अपेक्षा अधिक शोभनीय कर्म करेगा। राजा और प्रधानमन्त्रीका उदाहरण लें। प्रधानमन्त्री एक तन्त्रके अनुसार सारा काम करता है। इसी प्रकार हम इस जगतमें यात्री हैं और जगतके नियमोंका पालन करते हुए चलते हैं। यदि हम ऐसा अहंकार करें कि प्रकृतिके अनुसार किये गये अपने आचरणके कर्त्ता हम हैं, तो इससे अज्ञानियोंके मनमें बुद्धि-भेद होगा। हम सब हुक्मके बन्दे हैं, ऐसा समझकर ही हमें चलना चाहिए। हमें स्वेच्छासे गुलाम बन जाना चाहिए। मीराने कच्चे धागेकी बात की। क्योंकि वह प्रकृतिके वशमें होकर आचरण करती थी, उसके द्वारा कच्चे धागे इत्यादि शब्दोंके प्रयोगका कारण यही था कि वह स्वयं बीचमें नहीं आना चाहती थी और सब-कुछ भगवानके वशमें होकर करती थी। जो व्यक्ति देहका किराया चुकानेकी दृष्टिसे खायेगा, वह स्वादकी दृष्टिसे नहीं खायेगा। इस नियमके अनुसार चलनेवाला व्यक्ति जो-कुछ करेगा, अपनेको शून्य बनाकर, सब-कुछ कृष्णार्पण करके करेगा।

[५२]

शनिवार, २४ अप्रैल, १९२६

आजका श्लोक थोड़ा अटपटा है और इसका कारण यह है कि इसका बड़ा अनर्थ किया गया है। सन्दर्भको सोचे बिना इसका अर्थ किया जाता है। राजकोटमें एक बहुत ही स्वेच्छाचारी आदमी था। वह अपने स्वच्छन्द आचरणका समर्थन इस श्लोकके आधारपर किया करता था। उसे शास्त्रोंका अभ्यास था और वह प्रसंगानुकूल श्लोकादि पढ़नेमें समर्थ था। इसलिए समाजमें उसे प्रतिष्ठाका स्थान दिया जाता था।

वह कहता था कि प्रकृति काम करती है, इसमें मेरा क्या दोष। मुझे तो पाप-पुण्य कुछ भी नहीं लगता।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ (३,२८)

गुणों और उनके विभागोंके द्वारा, कर्मों और उनके विभागोंके द्वारा तात्विक मनुष्य इस निर्णयपर पहुँचता है कि गुण गुणोंसे परिचालित हो रहे हैं। वह गुणों और कर्मोंका विभाग करके, पूरी तरह उनका विश्लेषण करके इस तात्विक निष्कर्ष पर पहुँच जाता है, और फिर अपनेको कर्त्ता नहीं मानता। इस प्रकार वह गुणोंकी क्रियाओंमें आसक्त होकर उलझता नहीं है। मैंने जिस पाखण्डी शास्त्रीकी बात कही वह कहा करता था कि प्रकृति तो ईश्वरकी माया है। वह क्या कर रही है, इसके लिए मैं उत्तरदायी नहीं हूँ। किन्तु अगले श्लोकमें प्रकृतिका जो अर्थ है, यदि उसे समझ लिया जाये, तो फिर व्यक्तिको और कुछ भी न करना पड़े। जिस व्यक्तिने हरएक वस्तुके विषयमें मोह समाप्त कर दिया है, वही कह सकता है कि मुझे किसी भी कामसे क्या लेना-देना है। जिस तरह जनक राजाने कहा था। नहीं तो, जो व्यक्ति मोह और प्रमादसे भरपूर है, वह इसका सहारा नहीं ले सकता। इस श्लोकका अर्थ तो यह है कि संसारके इस जबरदस्त काममें — इस जबरदस्त कारखानेमें जिसका विचार करते ही सिर घूम जाता है — मेरी बिसात ही क्या है। मैं किस खेतकी मूली हूँ। मैं तो इसके एक पुर्जेको भी नहीं छू सकता। यदि मनुष्य, जगतका चरखा किस तरह चल रहा है, इसका तात्विक निर्णय करे तो देखेगा कि गुण अपने स्वभाव-के अनुसार काम करते रहते हैं। चरखेके छोटे-से दृष्टान्तको लें। मान लीजिए कि उसमें तकुएको अहंकार हो गया। चरखेमें उसका एक छोटा-सा स्थान है। उसकी अपनी कोई गति नहीं है। किन्तु यदि वह उसे अपनी ही गति मान ले और यहाँतक समझे कि मालको भी मैं ही गति दे रहा हूँ। तब तो सब खत्म ही हो गया। यदि वह टेढा होकर चलना चाहे तो वह एक अनोखा राग पैदा करने लगेगा। अपनी एक-जैसी गतिको बदलकर उसे लगेगा कि मैं कुछ नया काम कर रहा हूँ। किन्तु थोड़ी ही देरमें वह बेकाम होकर रह जायेगा। मरते-मरते शायद उसे होश आ जाये और वह यह समझ पाये कि यह सब मैंने क्या किया। मेरे अहंकारसे मेरी चेतना भी नष्ट हो गई। अब मानिए कि इस तकुएको अहंकार नहीं है और वह इस तरह सोचता है कि यह गति मेरी नहीं है। जो सूत निकल रहा है उसे निकालनेमें भी मेरा हाथ नहीं है। माल अपना काम कर रही है। चक्र अपना काम कर रहा है। और तब फिर वह कहे कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' और इसके बाद कहे कि मुझे इससे क्या लेना-देना है, मुझे तो केवल एक दासकी तरह काम करना चाहिए, नहीं तो मेरा और मेरे साथियोंका नाश हो जायेगा, तो वह इस प्रकार सोचनेके कारण निरहंकारी हो जायेगा और फिर वह मोहग्रस्त नहीं होगा। यदि ऐसा हो जाये तो उस तकुएके विषयमें कहा जा सकेगा कि वह ज्ञानी हो गया। यही बात व्यक्तिके विषयमें भी है। वह स्वेच्छाचार करता हुआ यह नहीं कह सकता

कि गुण अपना काम कर रहे हैं। यदि हम मिथ्या तुलनाओंमें पड़ेंगे तो हानि होगी। पशु ऐसा करते हैं इसलिए यदि हम कहें कि हम भी पशुओंकी तरह बरताव करेंगे, तो हम पशु बन जायेंगे। मनुष्यको तो यह समझना चाहिए कि मैं मनुष्य हूँ। मुझमें और पशुमें एक निश्चित सीमातक साम्य है — सोना, खाना, बैठना, विषयभोग करना इत्यादि। किन्तु जो व्यक्ति यह सोच ले कि मुझे पशुकी तरह खाने-पीनेकी जरूरत नहीं है, कूकरकी तरह रोटीके एक टुकड़ेके लिए लड़ना जरूरी नहीं है, वह तात्विक निर्णयके द्वारा जो आचरण करेगा सो साक्षीके रूपमें ही करेगा। उसकी पाशविक वासनाओंका क्षय भले ही न हुआ हो; फिर भी यदि वह मनुष्यताके नियमोंको समझ जाये तो वह यह भी समझ जायेगा कि मुझे सोये बिना, खाये बिना और विषयोंका भोग किये बिना काम करते रहना चाहिए। वह समझ जायेगा कि पशुओंके नियम मुझपर लागू नहीं होते। वह प्रकृतिके नियमोंको देखकर ही यह कहेगा कि मनुष्यके नियम तो अमुक हैं। शरीरके पिंजरेमें रहते हुए मेरा इतना ही अधिकार है कि मैं इससे अलिप्त रहूँ। फलस्वरूप उसके हाथ अपवित्रताका स्पर्श नहीं करेंगे, आँख अपवित्र दृश्य नहीं देखेगी और वह मनुष्य शरीरके बन्धनसे मुक्त रहेगा। ऐसा व्यक्ति ही कह सकता है कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'; आँख देखती है, कान सुनता है इत्यादि। वह तो, हमने तकुएका जो उदाहरण दिया है, उसकी तरह जड़वत् व्यवहार करेगा। उसका शरीर तो जड़वत् हो जायेगा। यदि लक्कड़ व्यभिचार कर सकता है तो शरीर करेगा। स्वभावसे शरीर मरी हुई लाशके जैसा है और लक्कड़की तरह निर्दोष है। जबतक इन्द्रियोंका संचालन करनेवाला मन मलिन नहीं होता इन्द्रियाँ तबतक अपवित्र कार्यके लिए प्रस्तुत नहीं होतीं। जिसने मानव-जीवनके नियमोंको समझ लिया है, वह गुणोंका विश्लेषण करेगा और ऐसा बरताव करेगा जैसा अक्षरोंको व्यवस्थापूर्वक जमाकर मुद्रक करता है। यदि अक्षर घिस गये होंगे तो वह उन्हें फिरसे गलाकर नये अक्षर ढालेगा और बादमें उन्हें क्रमसे रखेगा। 'गुणा गुणेषु' में विश्वास करनेवाला व्यक्ति इसी प्रकार जड़वत् होकर अपने मनसे कुछ न करता हुआ स्वस्थ हो जाता है।

[५३]

रविवार, २५ अप्रैल, १९२६

इन्द्रियाँ १६ हजार नहीं, असंख्य हैं। उनके नचाये नाचनेके बदले यदि हम उन्हें नचायें तो उनके सूत्रधार बन जायेंगे। पहले अध्यायमें आसुरी वृत्तिवाला दुर्योधन भी कहता है कि आप सब अपने-अपने स्थानमें रहकर भीष्मकी रक्षा करें। इसी प्रकार हमारे भीतर जो सूत्रधार बैठा हुआ है, यदि हम उसको अक्षुण्ण रखें और उसके चलाये चलें तो उसे नहीं हिलना होगा।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ (३,२९)

यह जगत माया है, चक्र है। इसके कारण जो मोहमें पड़े हैं, वे गुण और कर्मोंमें लीन रहते हैं। जो प्रकृतिके गुणसे मोहित रहते हैं, वे अनेक इच्छाएँ करते रहते हैं

और उन्हें शोक और मोह होता रहता है। न जाननेवाले व्यक्तिको जाननेवाला व्यक्ति चलायमान न करे, उसे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर उठाकर न फेंके। उदाहरणके लिए तू युद्धके मैदानमें उपस्थित है। तमाम लोग इसमें गुँथे हुए हैं। अब तुझे अचानक कोई ज्ञान हो गया, इसलिए तू दूसरोंको स्थानभ्रष्ट मत कर। मुझे कोई जबरदस्त ज्ञान हो जाये तो भी मैं अन्य सब लोगोंमें तदनुसार तत्काल फेर-फार नहीं कर सकता। जो लोग अपने-अपने कामोमें लगे हुए हैं, उन्हे उससे एकदम विरक्त कर देना मूर्ख आदमीका काम है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अव्यवस्थित कामको भी व्यवस्थित न किया जाये। यदि कोई ऐसा अर्थ करेगा तो वह इसका उलटा अर्थ निकालना कहलायेगा।

[५४]

मंगलवार, २७ अप्रैल, १९२६

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। (३,३०)

यह सब कहनेके बाद कि कर्म क्या है, वह किसके लिए किया जाना चाहिए, श्रीकृष्ण कहते हैं कि तू इन सारे कामोंको मेरे ऊपर डालकर अपने मनको स्वच्छ करके उसे अपनी आत्मामें अधिष्ठित करके, इच्छाओंको छोड़कर और उसके विषयमें लाभकी आशा न रखते हुए (मैं यह नहीं कहता कि तू बादमें राजपाट प्राप्त करके उसमें सुख मान) उसके परिणामको सोचे बिना अपना कर्त्तव्य समझकर इसे कर। (चार बजे उठनेसे उत्तम फल होगा, इसका विचार किये बिना कर्त्तव्य समझकर ही उठना चाहिए।) निर्मम होकर, कर्म अथवा कर्मका फल मेरा नहीं है, ऐसा समझकर जड़ सदृश हो जा; चरखेके तकुएकी तरह, दीपककी बाती जैसे जड़-भावसे जलती है, वैसा जड़ होकर काम कर। यदि दीपकका सारा सरंजाम मैं न जुटाऊँ, तो बत्ती कैसे जल सकती है। बत्ती तो कपासके डोंडेमें थी। उसे क्या मालूम था कि मुझे बत्ती बनना है। उसे हमने बट दिया और बाती बनाया। यदि अर्जुन बातीकी तरह हो जाये, शरीरका नहीं, आत्माका विचार करे तो उसे निर्मम और निराश होना ही पड़ेगा। अच्छे और बुरेमें से अच्छेको पसन्द करके और बादमें फिर दोनोंको छोड़नेसे द्वन्द्वातीत बना जा सकता है। शरीर जबतक हमारे पास है, तबतक वह है। और इसीको दृष्टिमें रखकर कर्म करना चाहिए। यदि इस तरह नहीं चलेंगे तो अधोगति होगी। अर्थात् आशा तो अच्छीसे-अच्छी ही रखनी है। यही मोक्षकी इच्छाके बारेमें भी। मनुष्य जलरूप ही हो जाये तो फिर उसके पानीमें कूदनेकी कोई बात ही नहीं उठती। यदि हम पानीमें घुल जानेवाले पदार्थ होते तो भी जलाशयमें न जाना चाहते। प्रस्तुत प्रसंगमें अर्जुनका ध्येय मोक्ष नहीं है और न वह उसकी इच्छा या आशा ही कर रहा था। यों हमारी वर्तमान स्थिति तो एक आशान्वित आदमीकी ही है, किन्तु कल्पना तो आशय अथवा इच्छासे अलिप्त परिस्थितिकी ही करनी चाहिए। यदि ऐसी दृढता रखें कि हमें मोक्ष तो प्राप्त करना ही है, तो वही हमारी इच्छाहीन मान-

सिक स्थिति भी होगी। इच्छाहीन स्थिति अथवा निराश स्थितिका आध्यात्मिक और भौतिक अर्थ समझना चाहिए। व्यावहारिक और पारमार्थिक अर्थ समझना चाहिए। आध्यात्मिक और पारमार्थिक अर्थमें आशा होती ही नहीं है। जिसे कोई खराब काम करना ही नहीं, उसके लिए क्या अच्छा और क्या खराब? दोषका सर्वथा नाश हो जानेपर ही अच्छा करनेकी शक्ति आती है, ऐसा नहीं कह सकते। यह शक्ति तो एक काल्पनिक शक्ति है। हमें यदि तलवारका उपयोग ही नहीं करना है, तो फिर हिंसा-अहिंसाका क्या सवाल है। यह एक वैज्ञानिक बात हुई, यह कविता नहीं है, बल्कि आत्मापर लागू होनेवाला एक सिद्धान्त ही प्रस्तुत कर दिया गया है। इस प्रकारकी मन:स्थिति प्राप्त कर लेनेके बाद अर्थात् विगतज्वर होकर लड़। 'महाभारत' में इस तरहकी जड़ता सिखानेवाली उक्तियाँ जगह-जगह मिलती हैं। लोहेका भीम धृतराष्ट्रके सामने रखो, ऐसा किसलिए कहा? सबको निमित्त बनानेके बाद कृष्णने लोहेका भीम सामने उपस्थित करवा दिया, इसका क्या अर्थ है? विगत-ज्वर अर्थात् किसी भी प्रकारका क्रोध अथवा मोह रखे बिना युद्ध कर। साँप, पिस्सू अथवा खटमलको मैं खिन्न होकर ही मारता हूँ।

'युद्धस्व' पर कल अधिक विचार करेंगे।

[५५]

बुधवार, २८ अप्रैल, १९२६

विगतज्वर होकर युद्ध कर, ऐसा अर्जुनसे कहा। युद्ध कर, अर्थात् तू जिसे कर्त्तव्य मानता है, वह कर। सभी अवसरोंपर यह बात समझमें नहीं आती कि इस समय कर्त्तव्य क्या है। यदि सभी यह समझ जायें कि अमुक काम करना कर्त्तव्य है तो स्पष्ट हो जाता है कि सबका एक ही कर्त्तव्य है। किन्तु ऐसा नहीं हो पाता, हमें सदा अपने कर्त्तव्यकी छानबीन करनी पड़ती है। हमें कई तरहके साधनोंका उपयोग करके अपना कर्त्तव्य निश्चित करना पड़ता है। इसीलिए कृष्ण कहते हैं कि विगत-ज्वर होकर कर्त्तव्य कर। मनुष्य जब अपनी जल्दबाजी और चिन्ता आदिको निःशेष कर देता है, कर्त्तव्य वह तभी सम्पन्न कर सकता है। जिस मनुष्यकी वाक्यशक्ति कमजोर हो गई हो, वह कुशलतापूर्वक नहीं बोल सकेगा। वैसे सच तो यह है कि हम सभी अकुशल हैं, एक इटैलियनने कहा है कि हम सभी पागल हैं। यदि हम पागल न होते तो तरह-तरहकी बकवास न करते रहते। इस बकवासमें भी हमें चुनाव करना पड़ता है कि हम क्या कहें और क्या न कहें। इसलिए जब हमें पसन्द करना ही पड़ता है तो उस चुने हुए कर्त्तव्यको विगतज्वर होकर अर्थात् राग-द्वेष छोड़कर करें। जो माँ अपने और दूसरेके बच्चेके बीचमें भेद नहीं करती, उसके निर्णयके विषयमें कोई भयकी बात नहीं होती। राग-द्वेषका अभाव कर्त्तव्यकी पहचानका पहला सोपान है। इस विचार-सरणीके छोरतक जायें तो हम देखेंगे कि राग-द्वेष-हीन व्यक्ति अहिंसक व्यक्ति है। उदाहरणके लिए हरिश्चन्द्रने तारामतीको मंगल-सूत्रके कारण पहचान लिया। अपने प्रियसे-प्रिय व्यक्तिका जिसे वह पूजतातक था, सिर

धड़से अलग करनेका कर्त्तव्य उसके सामने उपस्थित हो गया। आप कहेंगे कि इसमें अहिंसा कहाँ है? हिंसा सिरको धड़से अलग करनेमें नहीं होती। वह तो मनमें होती है। यदि हरिश्चन्द्रमें तारामतीके बदले अपने मरणको ठीक माननेकी गुंजाइश होती, तो हरिश्चन्द्र अपने गलेके ऊपर छुरी फेर लेता। मान लीजिए कि राजाका यह हुक्म होता कि यदि चाण्डाल अपने सामने उपस्थित व्यक्तिको न मार सके तो वह स्वयं अपनेको मार डाले। उस परिस्थितिमें हरिश्चन्द्र अवश्य ही तारामतीके बजाय अपने ही प्राण लेता। किन्तु कर्त्तव्यके चुनावकी कोई गुंजाइश उसके सामने थी ही नहीं; और इसलिए उसने तो तारामतीपर तलवार चला ही दी थी। यह अलग बात है कि देवताओंने उसका हाथ पकड़ लिया।

दूसरा उदाहरण उस डाक्टरका लीजिए जिसे कोई ऑपरेशन करना है। जिस डाक्टरने मेरी शल्य-चिकित्सा की थी, उसका मन तो दयासे भरा हुआ था। यों भी उसके मनमें हिंसाकी तो कोई बात हो ही नही सकती थी। यदि किसी डाक्टरको रोगीका पाँव काटकर अलग करना पड़े, तो यह उसके लिए कोई आनन्दकी बात नही होती। उद्देश्य उसमें बीमारका कल्याण ही है। डाक्टर ही नहीं, जिसका पाँव काटा जा रहा है, वह भी इसमें कल्याण मानता है। इस तरह यद्यपि शल्य-चिकित्सामें छुरी इत्यादिका उपयोग किया जाता है, फिर भी उसमें हिंसा नहीं है।

तीसरा उदाहरण एक आदमीका गला आधा कट गया है और सिर लटक गया है। वह आने-जानेवालोंको संकेत करता है कि भाई मुझे मार डालो तो मैं इस दु:खसे छुटकारा पा जाऊँ। किन्तु लोग बिना परवाह किये चले जाते हैं। कोई एक खड़ा हो जाता है और उसके दु:खको देख-समझकर विचार करता है कि यह मरकर ही बचेगा। अवश्य ही वह उसे दु:खसे त्राण देनेके लिए उसके गलेको काट फेंकेगा। यह भी अहिंसा है। और यह अहिंसा इसलिए है कि यह काम उसने ज्वररहित होकर किया। हम हिन्दुस्तानमें अनेक लोगोंको मार-काटके समर्थनमें तर्क करते हुए देखते हैं। किन्तु यह मिथ्यावाद है। साँपको मारनेवाला भयके कारण उसे मारता है। वह स्वयं मरना नहीं चाहता। सर्पको मारनेके पीछे उद्देश्य सर्पसे बचनेका है। सम्भव है कि इस प्रकारकी हिंसा क्षन्तव्य हो, किन्तु है तो वह हिंसा ही। जगत जिसे दुष्टातिदुष्ट आदमी मानता हो उसको मारनेमें भी हिंसा अवश्य है। (भले ही वह क्षंतव्य हो।) आखिरकार, संसार इससे कोई अधिक निरापद स्थान नही हो जाता; और फिर इसके पीछे मारनेवालेके मनमें उस व्यक्तिके प्रति कोई कल्याणकी भावना नहीं है। यदि कोई एक व्यक्ति संसारका नाश करनेपर उतारू हो जाये और संसारके लोग उसका नाश करनेके बजाय स्वयं नष्ट हो जाना श्रेयस्कर मानें, तो उस परिस्थितिमें उसे जो हिंसा करनी पड़ेगी, सम्भव है उसकी कल्पना करके वह घबरा उठे और फिर संसारमें हिंसाका[1] नाम ही न बच सके।

इस तरह विगतज्वरका अर्थ राग-द्वेषसे विगत अर्थात् रहित हुआ। विगतज्वर होकर हिंसा भी की जा सकती है। किन्तु यदि कोई आत्मवंचना करके अहिंसाका नाम

१. साधन-सूत्रमें 'अहिंसा' छप गया है। स्पष्ट ही यह भूलसे छपा है।

लेकर हिंसा करे, तो उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। जो अहिंसा समझकर हिंसा करता है, उसके लिए मोक्षकी गुंजाइश थोड़ी-बहुत है, किन्तु अहिंसाकी आड़ लेकर हिंसा करनेवालेके लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

इस तरह कहा कि 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य'। इसी तरह अनेक मर्यादाओंमें बँधकर युद्ध करनेके लिए कहा गया।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।। (३,३१)

जो व्यक्ति सदा मेरे इस अभिप्रायका अनुसरण करता है, श्रद्धाभाव रखकर और राग-द्वेषसे रहित होकर काम करता हुआ भी वह कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। कर्त्तव्य-कर्मोको करना ही युद्ध करना है। कर्म-मात्रमें चुनाव तो करना ही पड़ता है। अर्थात् कर्म-मात्र संघर्ष है। यदि तू सब-कुछ कृष्णार्पण कर देगा, राग-द्वेषरहित होकर कर्म करेगा और उन कामोंको श्रद्धाके साथ भगवानको सौंप देगा, तो इस द्वन्द्वमें पड़नेपर भी तू द्वंद्वातीत कहलायेगा। सब-कुछ भगवानके ऊपर डाल देगा तो तुझे पाप-पुण्य नहीं छुएँगे। भगवान माँकी तरह निर्विकार भावसे वामनके रूपमें हमारे पास आता है और भीख माँगता है कि मुझे सब-कुछ सौंप दो। जो व्यक्ति सारे राग-द्वेष छोड़कर किसीका पक्षपात किये बिना मेरे मतके अनुसार चलता है, वह कर्म-मात्रसे छुटकारा पा जाता है।

[५६]

गुरुवार, २९ अप्रैल, १९२६

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।। (३,३२)

जो कर्त्तव्य-कर्म नहीं करते, दोषयुक्त और पापयुक्त आचरण करते हैं, चक्रका अनुसरण नहीं करते, वे बिलकुल मूढ़ हैं, नाशको प्राप्त हो चुके हैं और उन्होंने अपनी चेतना खो दी है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।। (३,३३)

जो मनुष्य ज्ञानवान है, वह भी अपनी प्रकृति और अपने स्वभावके अनुकूल होकर आचरण करता है। भूत-मात्र स्वभावका अनुकरण करनेवाले होते हैं। ऐसी परिस्थितिमें व्यक्तिका निग्रह किस कामका?

इस श्लोकका ऐसा अर्थ भी किया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति दुष्ट ही है तो वह कदापि नहीं सुधर सकता है।...[1] भी इसीका उदाहरण हमारे सामने रख रही है। यह लड़की हमसे दूर वहाँ पड़ी हुई है। हम उसे किस तरह सुधारें। स्वभाव तो

१. साधन-सूत्रमें नाम छोड़ दिया गया है।

मनुष्य-मात्रका ईश्वरको पहचानना है। पशुका स्वभाव खाना-पीना, सोना इत्यादि है। वह प्रातःकालमें रामका ध्यान नही कर पाता। किन्तु मनुष्य-जातिका स्वभाव तो इससे भिन्न ही होना चाहिए। रामदास स्वामीने[1] कहा है कि सदाचार, श्रेष्ठ सदाचारका पंथ कदापि न छोड़ा जाये। यहाँ जो बात कही गई है वह एक अलग बात है; 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि'। जो व्यक्ति पशु जैसा है, दूसरा आदमी कवतक उसको सुधारनेका प्रयत्न करता रह सकता है। कबतक उसपर दबाव डाला जा सकता है? मनुष्य केवल पशुवत् आचरण करे, तो हम क्या कर सकेंगे। मैं इस लड़कीको दो चप्पलें जमा सकता था किन्तु इससे तो वह और भी हठीली हो जाती। लेकिन किसी दिन यदि इसके मनमें राम आ जाये तो यह इस प्रसंगको याद करके सुधर सकती है। इस श्लोकमें यह नही कहा गया है कि मनुष्य प्रयत्न न करे। सुधारनेका प्रयत्न तो करना ही चाहिए। किन्तु यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि हम पशु ही बने रहेंगे और हममें कोई सुधार नहीं होगा, तो संघर्ष चलता रहेगा। उदाहरणके लिए शिक्षक और बालकको लें। यदि विद्यार्थी स्वयं शिक्षकसे कहे कि जब मुझसे कोई गलती हो तो आप मेरे कान पकड़ें और पीटें, तो शिक्षक इस वचनके अनुसार उसका कान पकड़ सकता है।

कल अहिंसाके तीन उदाहरण लिये गये थे। यह एक और प्रकारका उदाहरण हुआ। ऐसे विद्यार्थी स्वयं और दूसरोंके द्वारा अपने ऊपर अंकुश रखते हैं। हमारे मनमें अनेक विकार उत्पन्न होते रह सकते हैं; किन्तु हम यह इच्छा नही करते कि वे उत्पन्न होते रहें। जिस तरह हमारे भीतर रोग उत्पन्न हो जाता है तो हम उसे बनाये रखनेकी इच्छा नही करते। हमारा स्वभाव तो चंगे हो जानेका है। ऐसी अवस्थामें वैद्य कल्याणके विचारसे उसपर चाहे जितने बन्धन क्यों न लगाये, रोगी उसका उपकार ही मानता है। किन्तु यदि मनुष्य स्वयं सुधरनेकी इच्छा ही न करे तो राजा उसे दण्ड देकर भी क्या कर सकता है? जो व्यक्ति अपनी मनुष्यताका नाश करके पशु बन गया है, उसके भीतर राम बसते हों तो भी कोई दूसरा व्यक्ति उसे नही सुधार सकता। हमें आशा तो नही छोड़नी चाहिए, फिर भी जिस मनुष्यने अपने स्वभावको दुष्टतामें ही दृढ़ कर लिया है, निग्रहका उसके लिए क्या उपयोग है। उसकी निष्कृति तो मरकर ही होती है। रावण मन्दोदरीसे कहता है कि मेरी रामके साथ शत्रुता है; मुझे मरना ही है। अर्थात् वह जो मरा सो अपने पापसे ही।

निग्रहका अर्थ है प्रयत्न अथवा दबाव। मित्र, स्त्री, बहन, शिष्य सुधरनेकी इच्छा करे, तभीतक निग्रह किया जाना चाहिए। जब वह विद्रोही हो जाये तो क्या निग्रह किया जा सकता है। नंगेका बादशाह भी क्या बिगाड़ सकता है? उसके लिए दूसरेके प्रयत्न निरर्थक है।

जिनके मनमें प्रेम शेष है उन्हींके प्रति सत्याग्रह किया जा सकता है। जहाँ प्रेम बाकी है, वहीं दबावका उपयोग हो सकता है। किन्तु जहाँ यह नही होता,

१. सत्रहवीं शताब्दीके महाराष्ट्रके सन्त।

वहाँ असहयोग ही करना पड़ता है। तुलसीदासने दुष्टके साथ असहकारकी बात की है।[1]

[५७]

शुक्रवार, ३० अप्रैल, १९२६

मनुष्यने अपने अभिमानमें ऐसा माना कि मैं किसीको कैद कर सकता हूँ, और उसपर अपना अंकुश रख सकता हूँ। किन्तु हम देखते ही हैं कि चोरी और खून आदि नही मिटे। ऐसी अवस्थामें व्यक्ति क्या करे? उसे स्वयं अपनी ओर देखना चाहिए। इस श्लोकका यह अर्थ तो निकल ही नहीं सकता कि व्यक्ति अपना भी निग्रह न करे। क्योंकि यह तो हम देख ही चुके हैं कि 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्पर:'। इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि वे हमें मथ डालती हैं। उनको संयमित करने — उनपर क्रोधित होकर डंडेसे उन्हें पीटनेमें, घोड़ेकी तरह लगाम लगाकर रखनेमें और चाबुक जमानेमें — हिंसाकी कोई बात नहीं है। [श्रीकृष्ण कहते हैं,] जो व्यक्ति मेरा ध्यान रखकर स्थिरभावसे इन्द्रियोंको वशमें रखता है वह समाधिस्थ है। इसके आगे वे फिर कहते हैं 'तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।'

निग्रहका अर्थ होता है किसी अन्य व्यक्तिका हमें बलपूर्वक अनुशासित रखना। यदि यह बात अर्जुनको उद्देश्य करके कही गई हो तो इसका यह अर्थ होगा कि यदि तू ऐसा मानता हो कि तू अपनी सेनापर निग्रह रख सकेगा तो सेना तेरे निग्रहको माननेवाली नहीं है। क्योंकि उसका मन तेरे साथ नहीं है, लड़ाईके साथ है। तू युद्धसे पराङ्मुख होकर सेनाको वर्णसंकर और चरित्रभ्रष्ट बना देगा।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। (३,३४)

और राग-द्वेषका यह जोड़ा सदा एक-दूसरेका साथ देता है। इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंके विषयमें राग-द्वेषमें पड़ी हुई ही होती हैं। इस राग और द्वेषके वशमें नहीं आना चाहिए, क्योंकि ये हमारे रास्तेमें बैठे हुए चोर हैं। हम कहीं भी जायें, ये हमारी सारी कमाई लूट ले जानेकी ताकमें हमारे पीछे-पीछे फिरते हैं। इस तरह व्यक्ति-के लिए प्रयत्नका तो पूरा-पूरा अवकाश है। इतना ही नहीं, प्रयत्न उसका धर्म है। भरपूर प्रयत्न कर चुकनेके बाद भी सफलता न मिले तो उक्त श्लोकका ध्यान आ सकता है और अथक प्रयत्न करनेके बाद मनमें यह भी आ सकता है कि अब आगे चल ही नहीं सकते; किन्तु है यह वृत्ति निरर्थक। प्रयत्न तो सतत चलते ही रहना चाहिए। टूटकर गिर पड़नेतक प्रयत्न करना ही है और उस समय भी यह आशा रखनी है कि प्रयत्न सफल होगा। जो स्त्री, पुरुष अथवा बालक ऊपरके श्लोककी आड़ लेकर हाथपर हाथ धरकर बैठ जायेंगे वे ईश्वरके निकट चोर ठहरेंगे। "वे

१. अभिप्राय कदाचित् 'दुष्ट संग जनि देहि विधाता' से है। इसमें दुष्टसे सम्बन्ध न रखनेकी बात सूचित होती है।

मोतीके लिए जीवनकी आशा छोड़कर सागरमें कूद पड़ते हैं।[1]" इस पंक्तिमें प्रयत्न-की सीमा सूचित की गई है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। (३,३५)

यदि हमारा धर्म विगुण हो और दूसरेका धर्म उत्तम हो, तो भी स्वधर्म ही अच्छा है। स्वधर्ममें मृत्यु श्रेयस्कर है। दूसरेका धर्म भयानक है। अपने धर्मके विषयमें सम्पूर्ण पुरुषार्थ किया जाये। दूसरेके धर्ममें पुरुषार्थ बिलकुल ही न किया जाये। बम्बई-के महलमें जाकर सुख प्राप्त करनेका प्रयत्न भयानक है, जब कि यहाँ रहकर सन्तोष मानना सुखकी निशानी है।

[५८]

शनिवार, १ मई, १९२६

सच बोलना एक सामान्य धर्म है। कुछ विशेष धर्म भी होते हैं। उन्हें हम अपना-अपना धर्म कह सकते हैं। मान लो किसीका धर्म पाखाना साफ करना है। जो हिसाब-किताब रखता है, उसके कामके प्रति इसे दोष-भावना नहीं रखनी चाहिए। पाखानेको अपने बरतनोंकी तरह स्वच्छ करनेवाला व्यक्ति अपने धर्मको उत्तम रीतिसे निबाहता है। अर्जुन जंगलमें बैठकर माला जपनेका विचार करे तो वह उसके लिए योग्य नहीं है। उसका धर्म तो शत्रुओंको मारना ही था। यह किसी ऋषिके लिए धर्म है किन्तु उसके लिए तो अधर्म ही है। हमारा धर्म हलका माना जाये तो भी वही उत्तम है। [कृष्ण कहते हैं;] तू इस तरह अहंकारयुक्त बात क्यों कहता है। "शकट नो भार जेम श्वानताणे"। यदि तेरे धर्म-पालनमें से किसी पापकी निष्पत्ति हो, तो उसे मैं अपने ऊपर ले लूँगा। भरतने रामचन्द्रके बनवासकी अवधिमें राज्य नहीं किया, किन्तु निमित्त तो वे बने। राज्य रामचन्द्रजीकी पादुकाने किया। सारा राजकाज राम-चन्द्रजीकी ओरसे भरतजीने चलाया। वे एक क्षणके लिए भी रामकी याद नहीं भूलते थे। इसी तरह कृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि तुझे राजपाट मिले, तो भी ऐसा किस लिए मानता है कि वह तुझे मिलेगा। यदि तू अपने कर्मका कोई भी फल प्राप्त न करना चाहे, तब तो युद्ध तेरा धर्म ही है। तुझे तो केवल निमित्त बनकर रहना है।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। (३,३६)

अनिच्छा रहते हुए भी हे कृष्ण! किसकी प्रेरणासे मनुष्य पाप करता है? लगता है, मानो उसे पाप करनेपर विवश किया जाता है। पापके लिए प्रेरित कौन करता है, इसका जो जवाब कृष्ण देते हैं, उसका विचार कल करेंगे।

१. गुजराती कवि प्रीतम (१७२०-१७९८)की पंक्ति। "सिन्धु मध्ये मोती लेवा मांही पड्या मरजीवा जोने"।

[५९]

रविवार, २ मई, १९२६

भला मनुष्यको जबरदस्ती उलटे मार्गपर क्यों खींचा जाता है?

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। (३,३७)

श्रीकृष्णने कहा कि इसका उत्तर सीधा है। बालक स्कूल जानेसे इनकार करता है। क्या कारण है कि उसकी वहाँ जानेकी इच्छा नहीं होती? वह वहाँ नहीं जाना चाहता, क्योंकि वह किसी भगोड़े बच्चेके साथ खेलता रहना चाहता है अथवा कोई उपद्रव करनेका विचार कर रहा है। इसमें पहला काम प्रेरक है और उलटा काम करनेकी जो बात है, वह कुविचार है। एक अन्य तत्त्व है क्रोध। काम्य वस्तु न मिलने-पर क्रोध होता है। क्रोधकी उत्पत्ति रजोगुणसे है। इस तरह मनुष्यसे ये दो बड़े शत्रु पाप करवाते हैं। काम और रामका शासन एक-दूसरेसे बिलकुल अलग-अलग है। जो व्यक्ति 'रामअमलमें [नशेमें] राता माता' होगा, वही ईश्वरकी लीला समझेगा और जो काम और क्रोधमें डूबा रहेगा वह रामकी लीला नहीं देख सकेगा। उसे शैतानकी लीला दिखाई पड़ेगी। काम तो कुम्भकरणकी तरह मुँह-खोले शिकार निगलनेके लिए बैठा ही है। जब उसकी तृप्ति नहीं होती तो वह क्रोधसे भर जाता है। अर्जुनसे श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपने इस वैरीको समझ। ये दोनों एक ही हैं। इसलिए दोनोंके लिए एक-वचन 'एनम्' शब्दका उपयोग किया।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।। (३,३८)

जैसे धुएँसे अग्नि ढँक जाती है, अथवा मैलसे दर्पण ढँक जाता है, अथवा जैसे गर्भके ऊपर झिल्ली चढ़ जाती है वैसे ही इनसे ज्ञानपर परदा पड़ जाता है। धुआँ तो थोड़ी ही देरका होता है। वह उड़ा कि अग्नि पूरी तरह प्रज्वलित हुई। दर्पणके ऊपर लगे हुए मैलको साफ करना पड़ता है, तभी वह काम देता है। अलबत्ता इतना मालूम हो कि वह दर्पण है। और झिल्लीमें छुपा हुआ गर्भ स्वयं तो कुछ कर ही नहीं सकता। वह तो रो भी नहीं सकता। काम और क्रोधसे व्याप्त मनुष्यकी ये तीन स्थितियाँ होती हैं।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।। (३,३९)

इस तरह मनुष्यके-ज्ञानीके-ज्ञानके इस नित्य शत्रुसे ज्ञान ढँका हुआ है। यह नित्य शत्रु कैसा है? यह कामरूप अग्नि दुष्पूर है। कभी तृप्त नहीं होती। यह काम ज्ञानीका भी शत्रु है।

[६०]

मंगलवार, ४ मई, १९२६

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ (३,४०)

हमारे भीतर जो कामरूपी शत्रु निवास करता है उसका अधिष्ठान दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि है और इन्हींके द्वारा यह काम देहीके ज्ञानको ढाँककर उसे मोहग्रस्त कर देता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ (३,४१)

इसलिए हे अर्जुन, पहले इन्द्रियोंका नियमन करके इस पापीको भस्म कर। क्योंकि यह शत्रु ज्ञान और विज्ञान अर्थात् शास्त्र इत्यादि बाँचनेके बाद उत्पन्नहुए अनुभवों आदिको भी नष्ट कर देता है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ (३,४२)

अब पृथक्करण करते हैं। यह बात तो सच है कि इन्द्रियाँ बलवान हैं — वे शरीरको पछाड़ देती हैं। मन उनसे बलवान है और मनसे बलवान है बुद्धि। बुद्धिसे भी बढ़कर है शरीरमें स्थित आत्मा। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये तीनों काम और क्रोधके अधिष्ठान हैं। किन्तु इन सबसे बढ़कर तो तू स्वयं है। जहाँ शत्रु छुपा हुआ बैठा है, यदि हम उस स्थानपर कब्जा कर लें तो हम शत्रुका वध करनेमें समर्थ हो जायेंगे, अथवा फिर वह शत्रु उस जगहको छोड़कर भाग जायेगा। सम्भव है कभी-कभी हम सबके स्वामी परमात्माको बिलकुल भूल जायें। किन्तु इसकी कोई चिन्ता नहीं क्योंकि जिस क्षण हमें उसका स्मरण होगा हम इन सबको जीत ले सकते हैं।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ (३,४३)

हे महाबाहो, आत्माके द्वारा आत्माको जीतकर इस कामरूपी शत्रुका नियमन करके और यह समझकर कि यह बुद्धिसे भी सूक्ष्म वस्तु है, इसे पराजित कर।

"आत्माके द्वारा आत्माको जीतकर" का अर्थ यह हुआ कि मनमें जो नीची वृत्तियाँ — आसुरी वृत्तियाँ पड़ी हुई हैं, उन्हें आत्माके द्वारा अर्थात् दैवी वृत्तिके द्वारा वशमें कर। दूसरे शब्दोंमें स्वार्थको परमार्थके द्वारा वशमें करके अपनी बुद्धिसे यह समझकर कि तू स्वयं ही सब-कुछ है, इस किलेपर फतह पा। इन्द्रियाँ द्वारपाल हैं, मन प्रधान है। उसके पास इन्द्रियाँ जो समाचार लाती हैं, वह समाचार मन बुद्धिके पास ले जाता है और बुद्धि हुकम देती है। किन्तु यदि हमें अपना स्वामित्व अपने

हाथमें रखना हो, तो पहले मन, वुद्धि और इन्द्रियोंको जिन्हें हमने अपना स्वामी बना रखा है, जीतना होगा। जिस तरह हिन्दुस्तानमें विदेशियोंको हम स्वामी समझकर बैठे हुए हैं और ऐसा मानते हैं कि हम उन्हींका दिया खाते हैं।

आत्माको चौवीसों घंटे जाग्रत रहना है। जिसकी आत्मा हर घड़ी जाग्रत रहती है, उसे स्वप्न भी नहीं आते। किन्तु यदि हम नींदके दास वन जायें, तो स्वप्न आयेंगे ही। इस तरह कृष्ण अर्जुनको अभय-दान देते हैं कि यदि तू निरन्तर सतर्क रहेगा तो फिर उस परिस्थितिमें भीतर अथवा वाहरका कोई भी चोर उपद्रव नहीं कर सकेगा। जवतक हम अपने शरीरपर सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं कर लेते, तवतक जो हम नहीं चाहते, ऐसी वस्तु भी शरीर माँगता है और हम अपना स्वत्व खो देते हैं।

[६१]

बुधवार, ५ मई, १९२६

यदि हम दुष्टसे-दुष्ट व्यक्तिके साथ भी योग्य व्यवहार करना चाहें, तो हमें यह मानकर चलना चाहिए कि उसका इरादा वुरा नहीं है; हृदयके भीतर कहीं उसकी भावना अच्छी होनी ही चाहिए। आत्माका गुण क्रोध करना इत्यादि नहीं है। उसका गुण तो अलिप्त रहना है। थोड़े अथवा अधिक अंशमें क्रोध और कामको न जीत पानेकी अवस्थामें हमें चाहिए कि यदि वे हमपर आक्रमण करें तो हम उन्हें वरदाश्त कर लें।

चोरके प्रति हमारा धर्म क्या हो, इस वातका अभीतक कोई नियम नहीं वनाया जा सका है। किन्तु हमें इतना तो याद रखना ही चाहिए कि चोरके प्रति हमारा धर्म प्रेम रखनेका है। उसे प्रेमसे किस तरह जीता जा सकता है यह जानना हमारा कर्त्तव्य है। हमें मान लेना चाहिए कि चोरी करना मनुष्यका स्वभाव नहीं है। वुद्धिके आधारपर भी हमें इतना भरोसा रखना चाहिए कि संसारमें ऐसा कोई है ही नहीं कि जो कभी-न-कभी सुधर न सकता हो। प्रेममें एक आकर्षण होता है। विज्ञान कहता है कि धूलमें भी आकर्षण-शक्ति है। धूलके प्रत्येक कणमें एक तरहकी आकर्षण-शक्ति पड़ी हुई है। इसीलिए मीरावाईने प्रेमके वन्धनकी वात की। कच्चे धागेकी अपेक्षा प्रेमका यह वन्धन अधिक वड़ा है। हम अपनी कोई चीज खो देनेपर आवेश अथवा क्रोधमें क्यों आ जायें?

तीसरे अध्यायमें यह योग वताया गया। कार्य तो निरन्तर होते रहते हैं। पृथ्वीका यह गोला गोल-गोल घूमता ही रहता है। इसी तरह शरीरको भी निरन्तर चलाते रहनेके सिवाय कोई गति नहीं है। प्रश्न उठता है कि तव हम कर्म-वन्धनसे किस तरह छूटें। 'गीता' का उत्तर है कि राग-द्वेष न रखें तो कर्म-वन्धन वाधक नहीं होता।

अध्याय ४

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। (४,१)

यह सुन्दर अव्यय योग मैंने पहले विवस्वानको बताया था। उसने मनुको बताया और मनुने इक्ष्वाकुको।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।। (४,२)

राजर्षिगण परम्परासे चलते आनेवाला यह योग जानते थे। कालके प्रभावसे यह नष्ट हो गया है।

कृष्ण कहते हैं, कर्म तो हम करते ही रहते हैं। ईश्वरने हमें इस कर्म-चक्रपर बिठाल दिया है और वह कुम्हारकी तरह हमें घुमा रहा है और नये-नये घड़े तैयार करता जा रहा है। यह प्राचीन कालसे चला आ रहा है, किन्तु वर्तमान कालमें नष्ट हो गया है। आदमी राग-द्वेष रहित होकर कार्य करना भूल गया है। नहीं तो हमें इस युद्धका साक्षी ही न होना पड़ता।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।। (४,३)

मैंने आज वही पुरातन योग तुझे बताया, क्योंकि तू मेरा भक्त है, मेरा मित्र है; और यह रहस्य उत्तम है।

उत्तम वस्तु भक्तको दी जाती है, क्योंकि वह उसका उपयोग जगत्‌के कल्याणकी दृष्टिसे करेगा।

[६२]

गुरुवार, ६ मई, १९२६

कृष्णने अर्जुनसे कहा कि यह प्राचीन योग है। मैंने इसे पहले विवस्वानको, विवस्वानने मनुको और उसने इक्ष्वाकुको बताया था। इसलिए अर्जुन पूछता है कि हम तो आजके युगके हैं और फिर भी आपने ही इसे सबसे पहले कहा, यह विसंगत जान पड़ता है।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।। (४,४)

हम लोगोंका जन्म आजका है। तब फिर यह बात कि फलेच्छारहित कर्म करना चाहिए, आपने ही सर्वप्रथम कही, सो कैसे सम्भव है।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ (४,५)

मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं और तेरे भी अनेक जन्म हो चुके हैं। मैं इन सबको जानता हूँ, तू नहीं जानता।

जब हम चौरासी लाख योनियोंकी बात करते हैं; तब फिर पहले अनेक जन्मोंके ग्रहण करनेकी बात उसमें आ ही जाती है। हम बुद्धिके सहारे यह भी कहते हैं कि मरण पुराने घरसे एक नये घरमें जाने जैसा है। किन्तु यह बात निश्चयपूर्वक तो वही व्यक्ति कह सकता है जिसे पूर्वजन्मका स्मरण हो। श्रीकृष्णने यहाँ स्पष्ट ही यह कहा है कि स्वयं योगी होनेके कारण उन्हें अपने पूर्वजन्मकी याद है। अर्जुनको नहीं है। कृष्णको ऐसा कहना शोभा देता है, हमें नहीं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ (४,६)

मेरे लिए जन्म नहीं है। मुझमें जो आत्मतत्त्व है वह अनादि और अजन्मा है। ऐसा होते हुए भी और प्राणि-मात्रका ईश्वर होते हुए भी मैं अपनी प्रकृतिका अवलम्बन लेकर आत्माकी मायाके सहारे उत्पन्न होता हूँ अर्थात् अवतार लेता हूँ।

हिन्दू धर्ममें अवतारोंका क्या स्थान है, इसे लेकर हमें कठिनाईका अनुभव हो सकता है। अवतारका अर्थ नीचे आना है। हम नीचे आये तो ईश्वर भी नीचे आया। ईश्वर वस्तु-मात्रमें है, यह सब ईश्वरकी माया है। हम जिन वस्तुओंको छू सकते हैं — देह और अन्य पार्थिव वस्तुएँ, वे सब एक ही स्थानपर और एक ही कालमें हैं। किन्तु आत्मा तो अज है, वह प्रत्येक स्थान और प्रत्येक कालमें है। हमें इसका अनुभव नहीं होता। हमें यदि केवल बुद्धि अथवा श्रद्धाके बलपर ईश्वर-तत्त्वको जानना हो तो हमें आत्माका ज्ञान होना चाहिए। यह आत्मा क्या वस्तु है। जबतक हम अज्ञानमें हैं तबतक वह आकाशसे भी अधिक दूरीपर है; और ज्ञान प्राप्त हो जाने-पर, कहा जा सकता है कि वह हमसे एक इंचकी दूरीपर भी नहीं है। इसीसे हम जन्मे हैं और इसीके लिए हम जीवित हैं। अन्य सभी कुछ 'तू' है, यदि ऐसा मानें तो 'मैं ही तू है, और तू ही मैं हूँ।' किन्तु यह तो अहंकारशून्य होनेपर ही जा सकता है। अन्ततोगत्वा अँगूठी और गलेका हार दोनों ही स्वर्ण हैं; नाम और रूप तो क्षण-भरके लिए हैं। नाम और रूप मृगजल हैं। किन्तु इनका नाश हो जानेपर जो तत्त्व बच रहता है, वह एक ही है।

इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं अजन्मा होते हुए भी, जीवोंका स्वामी होते हुए भी अवतार लेता हूँ। आत्माका तो यही स्वभाव है। यदि हमें इस सत्यकी अनुभूति हो जाये, तो हमारा आचरण आत्माके स्वभावके अनुसार ही हुआ करे। जन्म लेनेपर भी, जन्म नहीं लिया है, हम इस प्रकारका आचरण करें। यदि आत्मा-मात्र एक है तो एक आत्माके जन्म लेनेका अर्थ सभी आत्माओंका जन्म लेना हो गया। और यदि अन्य सब आत्माओंने जन्म ले लिया तो एक आत्माने ही जन्म लिया — यह समझमें

न आने-जैसी कठिन बात है। यही माया है। इसी मायाके कारण मैं समय-समयपर जन्म लेता हूँ।

हम जहाँतक बुद्धि जा सकती है, वहींतक तो सोच सकते हैं। तब फिर अवतारका क्या मतलब समझें। यह नहीं कि ईश्वर ऊपरसे नीचे उतरता है। अवतार तो हम सभी लेते हैं। यदि बिना अभिमानके कहा जा सके तो यह ठीक है। देहमें निवास करनेवाला आत्मा-मात्र एक ही शक्तिसे ओतप्रोत है। यद्यपि बाह्य रूपके कारण हमें भेदकी प्रतीति होती है किन्तु यदि हमें ज्ञान हो जाये तो फिर सब एक हैं। अज्ञानावस्थामें अलग-अलग हैं। वास्तवमें अनेक नहीं, एक ही है।

इस आत्मतत्त्वका विचार करते हुए मारना-मरना, क्रोधित होना आदि सब समाप्त हो जाता है। यह बात समझमें आ सकती है कि हमें मारनेवाला अपनेको भी चोट पहुँचाता है।

'अवतार लेता हूँ' ऐसा कहना लौकिक भाषाका उपयोग है। ईश्वर आत्मारूप है, इसलिए उसके अवतार लेने या जन्मनेकी बात नहीं हो सकती। वह तो जैसा है, वैसा है। लौकिक दृष्टिसे हम किसीमें कोई विशेष विभूति देखते हैं और उसे अवतार कहते हैं। ईश्वरकी भाषामें अवतार-जैसी कोई वस्तु नहीं है। हमारी भाषामें अवतार-जैसी वस्तु है।

[६३]

शुक्रवार, ७ मई, १९२६

अर्जुनने पूछा कि आपने मुझसे पहले अनेक लोगोंको यह योग बताया है, यह कैसे सम्भव हुआ? कृष्णने जवाब दिया कि तेरे और मेरे अनेक जन्म हो गये हैं। उनके बारेमें मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता। मैं अजन्मा, अव्यय, प्राणि-मात्रका ईश्वर और अन्तर्यामी हूँ, फिर भी अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर मायाकी शक्तिसे इस पृथ्वीपर आता हूँ।

इसके बाद वे बताते हैं कि ईश्वरका अवतार कब होता है:

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। (४,७)

जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब मैं अपनेको जन्म देता हूँ, मैं स्वयं पृथ्वीपर उतरता हूँ।

ऐसा कहकर ईश्वरने सारे संसारको आश्वासन दिया है। यदि धर्मकी ग्लानि हो और ईश्वर सोता रहे, तब तो आदमी कुछ भी नहीं कर सकता। इस कलिकालमें जितना करते हैं, सब उलटा हो जाता है। हिन्दू-मुसलमान लड़ते ही रहते हैं। तब फिर कोई क्या करे? मुझे बड़ा मोह था कि हिन्दू मुसलमान न लड़ें; मैं इसके लिए जुटा रहा किन्तु मुझसे कुछ भी नहीं बना। तब क्या इनके बीचमें झगड़ा हुआ ही करेगा? नहीं; ऐसा नहीं है। यदि आदमी मर्यादा छोड़कर विषयोंमें पड़ा रहेगा, तो क्या ईश्वर उस परिस्थितिको चलने देगा। ईश्वर कहता है कि यत्किंचित् विषयोंमें

पड़े रहोगे तो मैं बर्दाश्त कर लूँगा; क्योंकि उसमें से तो तुम स्वयं निकल आओगे। इसी तरह थोड़े-बहुत झगड़ते रहोगे तो बर्दाश्त कर लूँगा और उसको मिटानेके लिए अवतार नहीं लूँगा। परन्तु यदि हम सारी मर्यादा छोड़कर लड़ें, मन्दिरोंको तोड़ें, अमर्यादित प्राण-हानि करें, तो कहा जायेगा कि धर्मकी ग्लानि हो गई। यह तो धर्मके नामपर अन्याय होगा। उपद्रव और अधर्मका बढ़ना कहलायेगा। ईश्वर ऐसे समय मनुष्यसे कहता है कि तुम निराश न बनो। यह भी ठीक है कि तुम कुछ भी नहीं कर सकते। लाचारीकी इस भावनाकी प्रतीतिके द्वारा मैं तुम्हारे गर्वका पूरा हरण कर लूँगा। सूरदासने कहा कि मैं नाच-नाचकर थक गया हूँ, अब मुझे बचाओ।[1] इसी तरह जब मनुष्य गर्वमें भरकर यह कहता है कि 'मैं इसे करूँगा, मैं इसे करूँगा' तब भगवान उसके अभिमानका हरण करते हैं। तिसपर भी भगवानने मानवको इतना अभिवचन दे रखा है। ऐसा नहीं है कि यदि तुम नहीं करोगे, तो अमुक काम पड़ा ही रह जायेगा। मानना यह चाहिए कि मुझसे नहीं बना तो इसे ईश्वर करेगा। इसीलिए ईश्वरने कहा कि जब जरूरत पड़ती है, तब मैं पृथ्वीपर आता हूँ। ईश्वर आकर सब ठीक कर लेता है। काम न हो तो ईश्वरकी लाज जाती है। जो व्यक्ति उसका गुलाम होकर बैठ गया है, काम न हो तो उसकी लाज कैसे जायेगी। गुलाम जो-कुछ पहनता-ओढ़ता है, उसपर से परीक्षा तो उसके मालिककी ही होती है। इसलिए ईश्वर धर्मकी ग्लानि कैसे होने देगा? अधर्मका उपद्रव चलता ही चला जाये तो उससे ईश्वरकी लाज जाती है, इसलिए उसको तो आना ही पड़ेगा।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (४,८)

सज्जनोंका रक्षण करनेके लिए, दुष्टोंका विनाश करनेके लिए और धर्मकी संस्थापनाके निमित्त मैं समय-समयपर जन्म लेता हूँ — अवतार लेता हूँ। ईश्वरने हमें बताया है कि तू तो कुछ करता ही नहीं है; मैं भी कुछ नहीं करता। तब फिर दुष्टोंका विनाश कौन करता है और किस प्रकार उनका नाश होता है।

ईश्वरका अनिवार्य नियम है कि कर्म निष्फल नहीं जाता। आदमीका निष्काम भावनासे कर्म करना एक बात है और कर्मका निष्फल न जाना दूसरी बात है। कर्मका फल न भोगना पड़ता हो, ऐसा नहीं है। किन्तु यदि व्यक्ति तटस्थ रहे तो कर्म भोगते हुए भी वह उसे नहीं भोगता। तथापि फल तो भोगना ही पड़ता है। कर्म माफ किये ही नहीं जाते। इस तरह दुष्टकी दुष्टता ही उसके विनाशका कारण है। जगत्में एक मारता है, दूसरा मरता है, यह तो निमित्त-मात्र है। अर्जुन धनुर्धर और शूरवीर था। उसने लोगोंका संहार किया, किन्तु ऐसा नहीं है कि अर्जुनके बलने दुर्योधनको मारा हो। दुर्योधन तो अपने पापसे ही मरा। इसीलिए कहावत प्रचलित है कि पापका घड़ा फूटे बिना नहीं रहता। ईश्वर ऊपरसे नीचे आकर मारकाट कर देता है तो वह हमारे जैसा ही मूर्ख हुआ। किन्तु बात ऐसी नहीं है।

१. इंगित 'अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल' वाले पदकी ओर है। सूर सागर

यदि हम आशावादी बनें और ईश्वरके नियमको समझें, तो समझ जायेंगे कि दुष्टोंका नाश उनके अपने पापसे ही होगा।

दुष्टोंके नाशका अर्थ दुष्टोंके शरीरका नाश भी नही है। शरीर तो जैसे दुष्टोंके वैसे अच्छोंके भी नष्ट होंगे। कोई भक्त होते हुए भी जवानीमें मर जाता है और दुष्ट छिहत्तर वर्षका होकर मरता है। इसलिए क्या हम ऐसा कहेंगे कि इसमें ईश्वरका अन्याय है। केसर भक्तको काले साँपने काट लिया और वह मर गया। इसलिए क्या हम यह मानेंगे कि वह दुष्ट था। केसर भक्त तो साधु था। वह एक निरक्षर मजदूर होते हुए भी भक्त था; प्रामाणिक था। किसीकी अकाल मृत्यु हो जाये और इसीसे हम उसे दुष्ट मानें तो इससे हम नीचे गिरेंगे।

अलबत्ता सज्जन पुरुष एक दृष्टिसे मरता ही नहीं है। क्योंकि हम उसके गुण-गान तो निरन्तर करते ही रहते हैं। रामकी गाथा सभी गाते हैं। रावणकी कथा कोई नही गाता। हम रावणको याद करते ही हैं, तो इस दृष्टिसे कि उसके दोप छोड़ें, उन दोषोंसे दूर भागें। किन्तु गुणोंके तो हम गीत गाते हैं, उन्हें आत्मसात् करते हैं, अपने भीतर उतारते चले जाते हैं। इस तरह गुणोंकी तो वृद्धि ही होती रहती है। गुण तो अमर हैं। परिस्थिति जगतमें इससे उलटी दिखाई देती है; किन्तु यह ईश्वरकी माया है। गुण प्रयत्न करनेसे बढ़ते हैं और अवगुण बिना प्रयत्नके बढ़ते हैं, यह सच है। किन्तु अन्ततोगत्वा अवगुणोंका नाश और गुणोंकी वृद्धि ही सिद्ध है। इससे जो उलटा दृष्टिगोचर होता है, वह माया है। यदि परिस्थिति ऐसी न हो तो 'विनाशाय च दुष्कृताम्' वचन मिथ्या हो जायेंगे।

ऊपर नाशसे आशय शरीर-नाश नही है। अन्त समयतक मनमें रहनेवाली वासनाके कारण व्यक्ति फिर जन्म लेता है। साधु पुरुषके लिए जन्म नहीं है, ऐसा कहा अवश्य; किन्तु यह तभी जब साधु गुणातीत हो जाये। अच्छे और बुरे गुणोंसे परे, गुणरहित एक स्थिति है। यह खराब स्थिति नहीं है, अच्छी स्थिति है, मोक्षकी स्थिति है, सदा बनी रहनेवाली स्थिति है। किन्तु ईश्वरने यहाँ जो कहा है सो यह कहा है कि साधुताका नाश होता ही नहीं है। नाश दुष्टताका होता है और अवश्य होता है। जब ऐसा जान पड़ता है कि दुष्टता जगत-भरमें व्याप्त हो गई है, तब मैं अन्तर्यामी प्रकट होकर यह दिखाता हूँ कि नही; बात ऐसी नही है। 'दिखाता हूँ' का अर्थ है स्वयं क्रियाके द्वारा पदार्थ-पाठ प्रस्तुत करता हूँ। जगतमें जब दुष्टता व्याप्त हो जाती है, तब ईश्वर मनुष्यको प्रेरणा देता है कि थोड़ा-बहुत अच्छा होनेसे काम नही चलेगा, तपश्चर्याके द्वारा तुम्हें बहुत अच्छा होना पड़ेगा। इतना अच्छा होना पड़ेगा कि तुम ईश्वरके पूर्ण अंश कहला सको। श्रीकृष्ण इसी तरह पूर्णावतार कहलाये। यहाँ ईश्वरने मनुष्यको आश्वस्त किया है कि जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ जाता है, तब मैं जन्म लेकर साधुओंकी रक्षा करता हूँ, दुष्टोंका नाश करता हूँ और धर्मकी संस्थापना करता हूँ। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्मका नाश ही नहीं होता। किन्तु यह नही कहा है कि दुष्टोंका नाश हो जाता है और अन्योंका अर्थात् साधुओंका नाश नहीं होता। श्रीकृष्ण भगवान स्वयं चले गये; यहाँ तक कि उनकी अकाल-मृत्यु हुई।

जगतको सर्वांशमें देखें तो ज्ञात होगा कि साम्राज्य दुष्टताका नहीं है, केवल साधुताका है। दुष्टता तो करोड़ों दुष्ट हों, तब चल सकती है; किन्तु यदि साधुता एक भी व्यक्तिमें मूर्तिमन्त हो, तो वह साम्राज्यका उपभोग कर सकता है। अहिंसाका इतना प्रभाव कहा गया है कि हिंसा उसके सामने आते ही शान्त पड़ जाती है। अहिंसाके आगे पशु भी अपनी पशुता छोड़ देता है। जगत-भरके लिए एक ही साधु पुरुष पर्याप्त होता है। ऐसा साधु पुरुष लोगोंके मनपर राज्य करता है, हम नहीं करते। क्योंकि हम तो जैसे-तैसे अपनी गाड़ी खींच रहे हैं। मैंने जिस तरहके साधु पुरुषका उल्लेख किया, वह लिख-भर दे तो सब-कुछ वैसा ही हो जाये। ऐसा होता है साधुताका साम्राज्य। जहाँ दुष्टता होती है, वहाँ सब अस्त-व्यस्त हो जाता है। किन्तु साधुता हो तो तन्त्र सुव्यवस्थित चलता है और प्रजा सुखी रहती है। यह सुख खाने-पीनेका सुख नहीं, बल्कि लोगोंके सदाचारी और सन्तोषी बननेका सुख है। नहीं तो व्यक्ति करोड़ोंका मालिक होते हुए भी विकल घूमता रहता है। इसे सुखकी निशानी नहीं कह सकते।

इसलिए इस श्लोकका अर्थ यह हुआ कि जब अधर्म व्यापक हो जाता है, तब कुछ लोग तपश्चर्या करते हैं और तपश्चर्याके अन्तमें साधुताका प्रादुर्भाव होता है। दुष्टोंका सिर भी साधुताके सामने झुक जाता है। पशुताके ऊपर भी उसका हुक्म चलता है। यह एक ऐसी बात है, जो आज भी हो सकती है। जो व्यक्ति निर्वैर हो गया, सत्यकी मूर्ति बन गया, सब उसके सामने हाथ बाँधकर आ खड़े होते हैं। उसे स्वयं कुछ नहीं कहना पड़ता। उसके इच्छा करते ही सब-कुछ हो जाता है।

ईश्वरका न जन्म है, न मरण। अवतार भी नहीं है। जो माया दिखलाई पड़ती है, वह माया ही है। यहाँ इसी मायाका वर्णन किया गया है, और मनुष्यको आश्वासन दिया गया है कि दुष्टता क्षणिक है। साधुता शाश्वत है। इसलिए हमें चाहिए कि हम साधुताका विकास करें और दुष्टताका विकास करनेकी थोड़ी भी कोशिश न करें।

[६४]

शनिवार, ८ मई, १९२६

भगवान मनुष्यके हृदयमें प्रेरणा उत्पन्न करके उसके द्वारा दुष्टताका संहार और साधुताकी स्थापना करता है। हिसाब लगायें तो दुनियामें साधुता ही हासिल बचे। यदि ऐसा न हो, तो जगतका नाश ही हो जाये। जिस कुलमें दुष्टता बढ़ जाती है, उसका नाश हो जाता है, यह हम देखते हैं। जिस तरह यादव-कुलका नाश हो गया। उस कुलमें दुष्टता बढ़ गई थी। उसमें कृष्णका जन्म हुआ था; फिर भी यादवगण व्यभिचारी और मद्यपायी बन गये। अन्तमें वे आपसमें लड़ मरे। जिसे कोई नहीं मार सकता, ऐसे बली और अकड़नेवाले व्यक्तिको भी कोई-न-कोई नीचा दिखानेवाला मिल जाता है। यादव-कुलमें एक भी व्यक्ति नहीं बचा। जब दुनियामें दुष्टता इतनी बढ़ जाये कि साधुता और दुष्टताके जोड़ने घटानेसे दुष्टताका अंक अधिक निकले और दुष्टता ही शेष रह जाये, तब विनाश ही है। शरीरमें जबतक पोषक शक्ति बच रहती

है, तबतक शरीर टिकता है। इसी तरह यदि जगतमें साधुता कम पड़ जाये और दुष्टता उसके मानसे अधिक हो जाये तो जगतका विनाश ही हो जायेगा। इसलिए भगवानने कहा कि मैं समय-समयपर प्रकट होता हूँ।

> जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
> त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (४,९)

वह ज्ञानी इस ईश्वरीय जन्म और कर्मको तात्विक दृष्टिसे समझ लेता है। देह छोड़नेके बाद उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता; वह मुझे पा जाता है।

क्यों नहीं पायेगा? वह जान चुका है कि यह शरीर नाशवन्त है; फिर इसकी चिन्ता क्या करें। प्रयत्न अमर आत्माके लिए क्यों न करें? आत्मा इस शरीर-रूपी पिंजरेमें पड़ा हुआ है, अथवा शरीर-रूपी कैदखानेमें अपराधीकी तरह कैद है। हमने गुनाह किये हैं, इसलिए शरीर-रूपी कैदमें पड़े हैं। तुलसीदास और सूरदासने गाया है कि हमारे जैसा पतित कोई नहीं है। हम जन्मसे ही पतित हैं; इसीलिए जन्म लेते हैं। इस शरीर-रूपी पिंजरेमें बन्द हैं, इसलिए उड़ जानेका विचार करके भी उड़ नहीं पाते। किन्तु यदि ईश्वरके इस दिव्य जन्म और कर्मका तात्विक विचार करें, तो उड़ सकते हैं। यदि हम अपने सिंह-जैसे आत्माको पहचान लें तो सिंह-जैसे ही हो जायें। यह कैसे सम्भव हो सकता है? यह बताते हुए कहते हैं कि

> वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
> बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ (४,१०)

ईश्वरके दिव्य जन्म-कर्मको जाननेवालेका राग, भय और क्रोध चला जाता है, वह मुझमें ही लीन रहता है। (उसका हृदय चीरकर देखो, तो भीतर राम ही निकलेंगे।) वह मुझपर ही निर्भर रहता है। वह ज्ञान और तपश्चर्यासे पवित्र हो चुका है और मेरे जैसा ही हो गया है। ऐसा व्यक्ति मुझे प्राप्त करता है। किसीको दिव्य जन्म-कर्म-का ज्ञान हो गया है या नहीं, सो जाननेका यह लक्षण बताया।

[६५]

रविवार, ९ मई, १९२६

> ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
> मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ (४,११)

लोग जिस तरह मुझे भजते हैं, उसी तरह मैं उन्हें भजता हूँ। बुद्धिमान् मनुष्य सभी प्रकार मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं।

इसका यह अर्थ हुआ कि जो जैसा करता है, उसे वैसा मिलता है। जैसी भक्ति वैसा फल। सकाम भक्ति हो, अर्थात् अमुक वस्तु मिले ऐसी इच्छासे भक्ति की गई हो, तो वैसी भक्तिसे जो मिल सकता है वह मिल जायेगा। ऐसा नहीं कि जो इच्छा की हो, वह मिल जायेगा; बल्कि अर्थ यह है कि जो मिलने योग्य होगा, वह मिलेगा। हम इच्छा करें कि हम ईश्वर हो जायें, तो हमें ईश्वरत्व नहीं मिल

सकता। फिर भी जो-कुछ करेंगे, उसके अनुसार मिलेगा। योग्य वस्तु ही मिलेगी। चार मील चलें, तो वहाँ जो-कुछ होगा, वह मिलेगा। यदि चिरायता खाकर कब्ज दूर करना चाहें, तो वह नहीं होगा। उससे तो छोटा-मोटा बुखार हट सकता है। अरण्डीका तेल पियें और चाहें कि दस्त न लगें, तो इस इच्छाका पूरा होना सम्भव नहीं है।

'ये यथामाम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' का यह अर्थ हुआ और इसके बाद कहा 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥'

सभी व्यक्ति मेरे पथका अनुसरण करते हैं। इस श्लोकसे सम्बन्धित एक बात याद आती है। जब तिलक महाराज जीवित थे, तब उन्होंने हिंसा-अहिंसाकी चर्चा करते हुए इसका हवाला दिया। मैंने कहा था कि यदि कोई व्यक्ति हमें थप्पड़ मारे, तो चाहिए कि हम उसे सहन कर लें। उत्तरमें उन्होंने इस श्लोकको उद्धृत करते हुए कहा कि 'गीता' भी इस प्रकार 'जैसेके प्रति तैसा' करनेको कहती है। वह कहती है कोई व्यक्ति जिस तरह हमारे साथ बर्ताव करे, हम भी उसके साथ वैसा ही बर्ताव करें। उस समय मैंने उन्हें जो उत्तर दिया, मैं उसपर दृढ़ हूँ। मैंने कहा कि इस श्लोकको इस तरह लागू नहीं किया जा सकता। व्यक्ति जिस तरहका आचरण हमारे प्रति करता है, हम उसके प्रति वैसा आचरण नहीं कर सकते। यदि कोई व्यक्ति हमारे प्रति अयोग्य व्यवहार करता है तो हम भी उसके प्रति अयोग्य नहीं बन सकते। यह श्लोक केवल ईश्वरका नियम प्रस्तुत करता है। कृष्ण भगवानने कहा है कि जिस तरह मेरा भजन किया जायेगा, उसी तरह मैं भी भजूँगा। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसी करनी, वैसी भरनी। यदि व्यक्ति खराब काम करके अच्छे-की आशा रखे, तो वह सम्भव नहीं है। एकके बदले दो थप्पड़ मारनेका अधिकार मनुष्यको नहीं है। किन्तु संसारमें तो उलटी ही बात प्रचलित है। जैसे-जैसे सभ्यता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे बात अधिक उलटी होती जा रही है। जंगली लोग एकके बदले दो मार सकते हैं और जो उन्हें मारता है उससे बदला ले सकते हैं। असभ्य समाजोंमें बाप-बेटेके बीच भी बहुत मधुर सम्बन्ध नहीं होते। किन्तु जहाँ पिता सभ्य होता है, वह सहन कर लेता है और इस प्रकार पुत्र भी नम्र बन जाता है। यदि लड़का अच्छा हो तो माँ-बापको सहन कर लेता है। यह अच्छी बात है। हम इसे पसन्द करते हैं। फिर इसीके पूर्ववर्ती श्लोकमें हमने देखा है कि प्रभुको कौन लोग प्राप्त करते हैं। कहा गया है 'वीतरागभयक्रोधाः'। जिन्हें राग, भय और क्रोध नहीं है, ऐसे शान्त व्यक्ति प्रभुको पाते हैं। यह श्लोक उस श्लोकके विरुद्ध नहीं है, बल्कि उसकी पूर्तिमें है। इसमें कहा गया है कि यदि तुम रागयुक्त और क्रोधयुक्त बनोगे तो मुझे प्राप्त नहीं करोगे। क्रोधी बनोगे तो तुम्हें उसका बदला अवश्य मिलेगा। अर्थात् हमें क्रोध इत्यादि नहीं करना है; बल्कि हमें तो राग, भय और क्रोध रहित बनना है।

इस श्लोककी दूसरी पंक्तिमें कहा कि आदमियोंको मेरे नियमके अनुसार चलना पड़ता है। जिस नियम-कर्मके जिस नियमका अवलम्बन करके जगत चलता है उसके अनुसार चलना नियमानुसार चलना है। हम कह सकते हैं कि नियम ही ईश्वर है।

ईश्वरने अपना नियम बना दिया और संसारका शासन नियमके हाथमें छोड़ दिया। इसमें परिवर्तन या कुछ घटाने-बढ़ानेका अधिकार अपने हाथमें ही नहीं रखा और बादमें लोगोंसे कहा कि अब तुम्हें जन्म लेना हो तो लो, न लेना हो तो मत लो। मानो उसने आदमीके साथ पहले ही इस तरह साफ बातचीत कर ली थी। यदि हम ईश्वरकी आराधना करते हैं तो वह प्रसन्न होता है। किन्तु यदि आराधना न करें, तो वह क्रोधमें आकर नियम बदल दे, ऐसा नहीं है। नियम तो अटल है। ईश्वर कोई शासनकर्त्ता नहीं है। यद्यपि ईश्वर शब्दका अर्थ शासनकर्त्ता होता है। किन्तु ईश्वर कर्त्ता नहीं है, इसलिए भर्त्ता भी नहीं है। यह कर्म नहीं करता और कर्मके फल भी नहीं भोगता। वह अलिप्त बना रहता है। हमने कल्पनाएँ दौड़ाकर ईश्वरको अनेक विशेषण दे डाले हैं और हम हक-नाहकके झगड़े करते रहते हैं, जैसे जैन और वेदान्तदर्शन। एक कहता है कि सब-कुछ ईश्वरमय है, दूसरा कहता है कि ईश्वर जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। प्राकृत मनुष्यके लिए शोभनीय तीसरा ही रास्ता हमें स्वीकार करना चाहिए और कहना चाहिए कि ईश्वर है और नहीं है। नियम तो चेतन है। इस नियमको ही हम ईश्वर कहें, इसे ही ईश्वरके रूपमें पहचानें तो फिर कोई झगड़ा नहीं बचता। यही इस श्लोकका निष्कर्ष है।

'जैसा करोगे, वैसा भरोगे'; आदमीके कायदेमें भी यह बात है। जो चोरी करता है, उसे दण्ड दिया जाता है। चोरी करनेवालेका भी यह कायदा है, इतना तो मानना ही पड़ता है। वह कायदेकी गिरफ्तमें आ जानेपर उसका विद्रोह नहीं करता। विद्रोही नियमोंको मानता ही नहीं है। हत्यारा हत्या करके सजा भोगे तो वह विद्रोही नहीं है। जब हम नियमका सविनय भंग करते हैं, तो विद्रोह करते हैं, क्योंकि नियमका यह भंग हम विश्वासपूर्वक करते हैं। नियमका सविनय भंग यदि विश्वासपूर्वक किया गया हो तो वह विद्रोह है। किन्तु जो मनुष्य लाचार होकर चोरी करता है, वह कायदेको तो मानता है। इसी प्रकार आदमी भी ईश्वरके नियमसे अनुशासित है, फिर वह इच्छापूर्वक उसके सामने झुके अथवा न झुके। यहाँ यही शाश्वत बात कही गई है।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।। (४,१२)

कामनाका फल मिलता ही है। जबतक कामना है, तबतक जन्म-मरणका चक्र चलता ही रहेगा। सिद्धिका प्रयत्न किया जाये तो उसका भी फल मिलेगा। किन्तु ऐसा नहीं है कि यह फल जैसा शास्त्रोंमें वर्णित है, वैसा ही मिले। जरूरी नहीं है कि शास्त्रमें किसी मन्त्रके जापका जो फल कहा गया है, वही फल उस मन्त्रके जापसे मिले। मनुष्य प्रयत्न करके ईश्वरके नियमको जानना चाहता है और इस तरह 'अमुक काम करो तो अमुक फल मिलेगा', ऐसे किसी निर्णयपर पहुँच जाता है। यदि ठीक निर्णयपर पहुँचा हो तो सम्भव है कि अमुक मन्त्रके जापके फलकी बात सच निकल जाये। यों पाखण्डी भी मन्त्रोंका उपयोग करते है। अथवा यह भी सम्भव है कि मन्त्रको सिद्ध करनेकी क्रिया ठीक-ठीक न की गई हो और योग्य फल न मिले। मैं सर्पके मन्त्रोंके बारेमें कुछ नहीं जानता; किन्तु हो सकता है इस बातमें कोई सार

हो। कुछ लोग कहते हैं कि इन बातोंके पीछे जो नियम है उनके बारेमें हमारा ज्ञान बिलकुल ही अधूरा है। कुछ लोग कहते हैं कि कदाचित् अभी इन बातोंकी शोध नहीं की गई है। अभी दृश्य जगत्के नियम खोजे जा रहे हैं। किन्तु अदृश्य जगतके नियम अकल्पनीय हैं। जो अकल्पनीय हैं, उसे कौन खोज सकता है! अदृश्य जगतके भी नियम तो हैं। अदृश्य जगतके इन नियमोंकी, मनकी शक्तियोंकी खोज हो ही रही है। मन्त्रोंकी उत्पत्ति इसी शक्तिसे हुई है। किन्तु जिस तरह दृश्य जगतके विषयमें स्थिर किये हुए नियम सच भी निकलते हैं और झूठे भी, इसी प्रकार इनका फल भी कभी मिलता है, कभी नहीं मिलता।

यह सब देखकर 'गीता' के गायकने हमारे सामने यह बात रखी कि तुम इस जंजालमें पड़ते ही किसलिए हो। सम्भव है कि इससे कोई तात्कालिक फल मिल जाये। इसलिए कहा कि जो जगतकी ही सिद्धियोंकी अभिलाषा करता है, वह अनेक देवताओंका पूजन करता है। किन्तु इससे अन्ततोगत्वा लाभ बहुत थोड़ा ही है। इससे जगतके सुखका परिमाण नहीं बढ़ता। किन्तु यदि तुम निष्काम होकर कर्म करोगे तो मन्त्रोंके जंजालसे छूट जाओगे, और तुम्हें अनेक शास्त्रोंके अध्ययनकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी। एक छोटा-सा शास्त्र ही पर्याप्त होगा और वह है ईश्वरकी भक्ति — रामनाम। 'गीता' भी बहुत नहीं पढ़नी पड़ेगी, इसका दोहन ही पर्याप्त हो जायेगा। ईश्वरके तन्त्रमें, जगतमें हमें जो जगह दी गई है, हमें वही खोज निकालनी चाहिए। जो व्यक्ति कामना-रहित, इच्छारहित हो जाता है, उसका काम कैसा सुन्दर होता है। हम अनेक प्रकारकी इच्छाओंको लेकर ही दुःखी होते रहते हैं। जगतमें व्यक्ति अपने-अपने स्थानपर नहीं रहते, इसीलिए संसारमें उथल-पुथल मचती रहती है। जो व्यक्ति अपने काममें तत्पर रहनेके बदले असन्तुष्ट रहता है, उसने जगतके तन्त्रमें अपनेको ठीक नहीं बैठाया है। कुटुम्बमें भी यदि सब असन्तुष्ट रहने लगें तो कुटुम्ब अव्यवस्थित हो जाता है। राज्य भी अव्यवस्थित हो जाता है। यदि संसारकी व्यवस्थामें सभी कर्मके फलकी इच्छा करने लगें और कर्म बदलते रहें तो जगत अव्यवस्थित हो जाये। यह वैसी ही बात है, जैसे कोई भोगी आदमी वाजीकरण औषधियों और गोलियोंके लिए भटकता फिरता है। मानसिक भोगोंकी इच्छा करके हम जगत-भरमें भटकते रहते हैं। जबतक अहंकार है, तबतक आत्म-ज्ञान रूपी अमृत नहीं मिल सकता। इसलिए 'गीता' कहती है कि 'मैं-मैं' कहना छोड़कर प्राप्त कार्यको कुशलताके साथ करनेवाले चक्रवर्ती और पाखाना साफ करनेवालेकी कीमत ईश्वरके दरबारमें बराबर ही है। जनक राजा और उसके भंगी दोनोंका स्थान उस दरबारमें एक ही है। यदि जनक राजाका भंगी और आजका कोई राजा ईश्वरके दरबारमें एक साथ पहुँचे, तो सम्भव है, उस भंगीको सुन्दर पद मिले और यह राजा रह जाये। ईश्वरके दरबारमें शीषके मुकुटयुक्त और नंगे होनेसे ऊँच-नीचका हिसाब नहीं होता। जिसका सिर अनावरित है वह मुकुटके योग्य गिना जायेगा और जिसके सिरपर मणिजटित मुकुट रखा हुआ है उसकी कोई गिनती ही नहीं होगी। इसलिए 'गीता'ने कहा है कि अहंकार रखे बिना जिसने कर्म किया, उसने सब-कुछ किया और वह मोक्षके योग्य हो गया।

[६६]

मंगलवार, ११ मई, १९२६

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। (४,१३)

गुण और कर्मोंके विभाग करके मैंने चार वर्ण उत्पन्न किये है। चार वर्ण हुए — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण कैसा होना चाहिए? ब्राह्मणके गुण क्या हैं? ब्राह्मणकी विशेषता क्या होनी चाहिए? जो ब्रह्मको जानता है, जिसे ईश्वरकी अधिक-से अधिक पहचान है, वह ब्राह्मण है। और ब्राह्मणका कर्म यह है कि लोगोंको बोध दे, ईश्वरके दर्शन कराये। अपने इन विशेष गुणोंके अतिरिक्त अन्य वर्णोंमें जो गुण होते हैं, वे तो उसमें होते ही हैं। क्षत्रियका विशेष धर्म है प्रजा-पालन। क्षत्रियको शूरवीर तो होना ही चाहिए। वैश्य व्यापार करता है, यह उसका विशेष धर्म हुआ। यदि वह व्यापार न करे तो कदाचित् दुनियाका काम न चले। सेवा शूद्रका विशेष धर्म है। अपनी सेवामें यदि वह थोड़ा यज्ञभाव अर्थात् परोपकार भी दाखिल कर ले तो उसका काम पूरा हो जाता है। उच्चता और नीचता जैसी कोई चीज है ही नही। यदि हम ऐसा भेद करें कि पाखाना साफ करनेवाला नीचा और 'गीता' पढ़नेवाला ऊँचा, तो हमारा नाश हो जायेगा। जगतमें बड़ी संख्या तो सेवा करनेवालोंकी ही होगी। यदि सेवामें मनुष्य यज्ञकी भावना उत्पन्न कर ले तो वह मुमुक्षु हो गया। कहा है कि शूद्रमें नम्रता होनी चाहिए। नम्रताका अर्थ नीचता अथवा दीनता नही है। उसे जगतमें सिवाय ईश्वरके किसी औरकी चाकरी नहीं करनी है।

जिस मनुष्यके लिए कर्त्तव्य शेष बचे है, उसमें धन-ऋण तो होता ही रहता है। ईश्वर निरंजन, निराकार है। उसे न सोना है, न खाना है, न पीना है। वह हलचल भी नहीं करता, किन्तु फिर भी सब-कुछ करनेवाला वही है। विज्ञानशास्त्री कहते हैं कि तापमानमें परिवर्तन होनेके कारण तूफान उठता है। किन्तु यदि वह कारणोंका भी कारण खोजता हुआ चला जाये, तो उसे कही जाकर रुक जाना पड़ेगा। ईश्वर विधि-शास्त्री भी है, क्योंकि सारे कायदे वही बनाता है। किन्तु वह सम्पूर्ण है, इसलिए उसे कुछ करना नही पड़ता। उसे अपना कायदा भी नही तोड़ना पड़ता। वह सभी वस्तुओमें ओतप्रोत है, इसलिए ईश्वरका कायदा ही ईश्वर बन जाता है। ईश्वर चेतन-मय है, इसलिए कायदा ही चेतन है, वही परमेश्वर है। वह कर्त्ता है और कर्त्ता नही है। जगत कुछ नियमोंके अनुसार चलता है, इसलिए ऐसा मान लो कि ईश्वर व्यवस्थापक है। उसने कह दिया है कि कर्त्ता होते हुए भी मैं अकर्त्ता हूँ। यही उसकी अलौकिकता है।

'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' — कर्मका फल मुझे नही व्यापता, क्योंकि मुझे कर्मके फलकी इच्छा नहीं है। एक बार यन्त्रको गति दे दी गई कि उसके सब पुर्जे अपने-आप चलते रहते हैं। जब हम यन्त्रवत् काम करना सीख जाते है, तब मनुष्यके पुरुषार्थका वास्तविक अन्त हो जाता है। उस समय हमें ईश्वरके साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

[६७]

बुधवार, १२ मई, १९२६

ईश्वर यन्त्रकी तरह काम करता है। अपना नियम भी स्वयं वही है। कायदा बनानेवाला और उसे चलानेवाला भी वही है। यह एक कितनी बड़ी सुव्यवस्था हुई। ईश्वरको नियम तोड़ने अथवा चलानेकी इच्छा भी नहीं होती। यह तन्त्र अनादि कालसे चलता आ रहा है और यदि ईश्वरके विषयमें 'हुआ' शब्दका उपयोग किया जा सके, तो जबसे ईश्वर हुआ है, तबसे कायदा हुआ है और चल रहा है। ईश्वरके विषयमें इस स्थितिकी कल्पना भी हमारी कल्पना है। उसे कभी कर्म स्पर्श नहीं कर सकता, क्योंकि उसे किसी भी कर्मकी इच्छा नहीं है। यन्त्रके जितने पुर्जे होते हैं, वे सब निरन्तर काम करते ही रहते हैं। यन्त्रके पीछे खड़ा हुआ व्यक्ति यन्त्रका संचालन करता है। यहाँ इतनी कल्पना और की गई है कि यन्त्र और यन्त्रको चलानेवाला दोनों ही स्वयं ईश्वर हैं। क्या यन्त्रके विषयमें कोई यह कह सकता है कि यंत्रको कर्मका स्पर्श अथवा फल प्राप्त होता है? यन्त्रकी सार्थकता तो चलते रहनेमें ही है। इसी तरह हम अपने कामके विषयमें तन्मय हो जायें, कार्य ही कर्त्ता है, ऐसे बन जायें और तदाकार हो लें। किन्तु कर्त्तव्य क्या है, यह समझ लिया जाना चाहिए। विषयी व्यक्ति विषयमें तदाकार हो जाता है। इतना तदाकार कि वह विषय-मूर्ति बन जाता है। उसको भान कराना भी मुश्किल हो जाता है। ऐसे तदाकार हमें नहीं बनना है। हमारा लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार करना है। उस दिशामें तदाकार होना चाहिए। ऐसे व्यक्तिमें विकारोंका उत्पन्न होना असम्भव हो जाता है और अन्तमें वह ईश्वर हो जाता है। ईश्वरके विषयमें तदाकार बनें, यन्त्ररूप बनें, ईश्वरके हाथमें माटीके पिण्ड-रूप बनें, तो ईश्वर बन जायेंगे; इसमें आश्चर्य क्या है। ईश्वरके साथ इतने तदाकार हो जाना चाहिये कि कोई भेद ही न रहे। यह कैसे हो सकता है, यह यहाँ बताया गया। इसीलिए कहा है कि कर्म मुझे स्पर्श नहीं कर सकते, क्योंकि मुझे कर्मकी इच्छा नहीं है।

'इति माम् योऽभिजानाति' जो मुझे इस तरह जानता है, वह कर्ममें नहीं बँधता। किसलिए बँधेगा? जो ईश्वरीय नियमको समझता है, वह कर्म करता हुआ भी कोई इच्छा नहीं रखता। हम थक जाते हैं, किसलिए? क्योंकि जब हम काम करते हैं तब हमारा 'मैं' बचा रह जाता है। यदि ऐसा न हो तो उतावली अथवा चिन्ता न हो। हमें इस तरह काम करना चाहिए कि काम बन्द कब करना है, इसका होश न रहे। इस तरह यन्त्रवत् काम करना चाहिए। मैंने किसी शक्तिशाली व्यक्तिका बनाया हुआ एक सुन्दर चित्र किसी रोमन कैथोलिक चर्चमें देखा था। प्रार्थनाका समय है। स्त्रियाँ खेतमें काम कर रही हैं, हाथमें कुदाली इत्यादि औजार हैं; कि काम करते-करते प्रार्थना-का घंटा सुनाई पड़ता है और एक स्त्रीके हाथसे कुदाली छूट जाती है। शरीर प्रार्थनाके भावमें झुक जाता है और वह प्रार्थनामें लीन हो जाती है। कविने, चित्र-कार भी कवि ही है, कल्पना की है कि वह स्त्री यन्त्रवत् काम कर रही थी; काम करना उसके लिए प्रार्थनास्वरूप ही था। जिसने यह भावना दृढ़ कर ली, उसका

शरीर प्रार्थनाकी घड़ीमें अपने-आप झुक जायेगा। चार बजे उठनेका संकल्प किया हो तो व्यक्ति चार बजते ही अपना बिछौना छोड़कर उठ खड़ा होगा। भक्तको प्रार्थनाके समय प्रार्थना न करनेपर क्लान्तिका अनुभव होगा, पीड़ा होगी, दूसरा कोई काम नहीं सूझेगा। जो इस हृदतक कर्त्तव्य-परायण होकर काम करता है, क्या उसे कर्म स्पर्श कर सकता है? अभिप्राय यह है कि ऐसा व्यक्ति कभी थकता नहीं और सदा ताजाका-ताजा बना रहता है। ऐसे कितने ही लोग होते हैं जिन्हें काम किये बिना चैन ही नहीं पड़ती। उन्हें आलस्यमें पड़ा रहना अच्छा ही नहीं लगता। कोई आ जाये और काममें बाधा पड़ जाये तो वे परेशान हो जाते हैं। ऐसे लोगोंको कर्मका स्पर्श नहीं हो सकता।

विषयी व्यक्ति विषयोंमें तदाकार हो जाता है किन्तु उसे थकावट आती है, क्योंकि वह आनन्द लेनेके लिए उत्सुक है। जो आनन्द लेनेकी इच्छा करेगा वह थकेगा ही। जो स्वादके लिए खाता है, वह बीमार पड़ता ही है। रोगोंके उपद्रव उसे घेरते ही हैं। जिसे स्वाद न लेना हो, जो रसके लिए न खाता हो, रोगका उपद्रव उसके लिए कैसे हो सकता है? रस लिये बिना कर्त्तव्य कर्म किया जाये; कामको कर्त्तव्य मानकर ही किया जाये। जो इस तरह काम करेगा, जिसमें कामना नाम-मात्रको भी नहीं होगी, उसे कर्मका स्पर्श नहीं होगा। ईश्वर इतना बड़ा तन्त्र चलाता है, फिर भी उसे कर्म-स्पर्श नहीं है। स्पर्शकी निशानी है खाना-पीना और शरीरका क्षीण होना। ईश्वर निरन्तर जाग्रत् रहता है। हमारे लिए जागृति भी है, नींद भी है, भूख भी है, खाना भी है। किन्तु ईश्वर निरन्तर जागता हुआ भी जागता नहीं है, सोता नहीं है, खाता नहीं है। ईश्वर कर्त्ता होते हुए भी अकर्त्ता है। हमारे कर्तृत्वमें कुछ-न-कुछ अभिमान, अहंकार, संकल्प शेष रह जाता है। हम काम शुरू करते हुए संकल्प करते हैं, करना पड़ता है। ईश्वर चौबीसों घंटे लगातार जागता रह सकता है। हमारी स्थिति ऐसी नहीं है। फिर भी यदि इस स्थितिको आदर्शकी तरह सामने रखें तो काम उत्तमसे-उत्तम हो सकता है। इसलिए कहा: 'योगः कर्मसु कौशलम्'— अर्थात् योगारूढ़ व्यक्तिका काम मारधाड़ करनेवालेकी अपेक्षा अच्छा ही होता है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ (४,१५)

पहलेके मुमुक्षुओंने इस तरह ज्ञानपूर्वक काम किया है। ईश्वरका साक्षात्कार करना अर्थात् ईश्वरकी भाँति काम करना; एक निष्ठासे निरन्तर जाग्रत् रहकर काम करना। मनुष्य शरीरमें रहते हुए जितना बने, उतना ईश्वरका अनुकरण करना। पूर्वजोंने इसी तरह किया। तू भी उसी तरह कर। मनुष्य संकल्पोंसे बना है। ईश्वरको संकल्प नहीं करना पड़ता। यहाँ न सोनेका संकल्प कर लेना चाहिए।[1] यहाँ सोकर मुझे दुःख नहीं पहुँचाया जाना चाहिए। अर्जुनको स्वजनोंका वध करते समय धर्मकी बात सूझी, यह किसलिए? अर्जुनसे कहा गया कि ऐसा सूझना ही नहीं चाहिए, क्योंकि पूर्वजोंने कर्मके फलकी इच्छा रखे बिना कर्म किया है। ऐसा करनेसे कर्मका बन्धन नहीं होता।

१. यहाँ श्रोताओंमें से किसीको ऊँघते देख कर कहा गया था।

मेरी ओर देख, मैंने चातुर्वर्ण रचे, फिर भी मुझे बन्धन नहीं है, क्योंकि मैं तटस्थ हूँ। उसी तरह तुझे भी करना है।

तुम विद्यार्थियोंको भी पहलेके ब्रह्मचारियोंकी तरह निष्ठावान् बनना चाहिए। ये ब्रह्मचारी तो ऐसे थे कि बालक होते हुए भी प्रौढ़ों-जैसे जान पड़ते थे। चालीस वर्षसे कुछ अधिक पहलेकी बात है। फिर भी मुझे बराबर याद है कि जब हमारे यहाँका पुरोहित कहीं चला जाता था तो उसका छोटा-सा लड़का 'भागवत'की कथा करा देता था और सो भी बहुत अच्छी तरह। उसे घरमें ऐसा शिक्षण प्राप्त हो चुका था। वह लगभग चौदह-पन्द्रह सालका रहा होगा। पहलेके ब्रह्मचारी ऐसे ही होते थे। आजके नामधारी ब्रह्मचारियोंको भी वैसा बनना चाहिए। लाठीकी तरह सीधा बैठना चाहिए; पूरे महीने-भर बराबर प्रार्थना करनी चाहिए, तब प्रगति समझमें आयेगी। यहाँ बैठकर भी मनमें उतावली बनी रहे; यह किसलिए? यहाँसे जानेके बाद फिरसे बिस्तरमें जा सोयें तो क्या बनेगा। श्रीकृष्ण कहते हैं: कर्म कर और शेष मुझे सौंप दे। तू करता ही क्या है? करनेवाला तो मैं हूँ। तू तो सोता ही रहेगा। तेरे हाथसे तो दुराचार ही होगा। दुराचार अथवा नींदकी प्रेरणा मैंने थोड़े ही दी है? मैं तो अच्छी ही प्रेरणा देता हूँ। जो सोनेकी, गाली बकनेकी, निष्ठा न रखनेकी अथवा कातनेकी आड़में छल-कपट करनेकी प्रेरणा करता है, वह खल ही है।

[६८]

गुरुवार, १३ मई, १९२६

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ (४,१६)

कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषयमें कवि भी भ्रममें पड़ गये हैं। मैं यह कर्म तुझे बताऊँगा। उसे जानकर तू अशुभमें से, जन्म-मरणके जालसे छुटकारा पा जायेगा।

घानीका बैल आँखोंपर पट्टी बाँधे रहता है। इसी प्रकार हमारी आँखोंपर भी पट्टी बँधी है। हमारी आँखोंपर यह पट्टी हमेशा नहीं थी। किन्तु हमने अभ्यास करके इसे आँखोंपर जड़ लिया है। जैसे डरते रहो तो डर पक्का हो जाता है। कोई एक सिंह-शावक बकरियोंमें रहा, इसलिए वह बकरियोंकी तरह डरपोक बन गया। बादमें एक सिंह मिला। उसने उसे दर्पण दिखाया। शावकने अपना स्वरूप पहचाना और सिंहकी तरह गर्जन किया और बकरियोंके समुदायसे उसे छुटकारा मिल गया। उसने अपनी आँखोंपर पट्टी स्वयं नहीं बाँधी थी। यह पट्टी धीरे-धीरे चढ़ गई थी। इसी तरह हमारी आँखोंपर भी अज्ञान-रूपी पट्टी पड़ जाती है, इसलिए समझमें नहीं आता कि अशुभमें रहना, चक्रमें घूमते रहना, यह हमारा धर्म नहीं है। हमारा धर्म तो निरन्तर उन्नति करते रहकर, परम-शान्तिका लाभ करना है। जहाँतक हमें पहुँचना है, वहाँतक पहुँचे बिना हमें शान्ति नहीं मिल सकती। वहाँ पहुँचनेपर ही शान्ति मिल जाती

है। यह मोक्षकी शान्ति है। हिमालयके शिखरपर पहुँच जायें तो भी वहाँसे आगे-पीछे नीचे उतरना ही पड़ेगा। स्वयं हिमालयके शिखरको भी किसी-न-किसी दिन नीचे आना है। इसमें परिवर्तन तो होता ही रहता है, और इसलिए यह भी किसी दिन टूटकर नीचे आये विना नही रहेगा। किन्तु मोक्षमें फेरफार अथवा पतनकी कोई वात नहीं है। जन्म-मरणके वन्धनका नाश, जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाना, अशुभमें से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। सद्‌गुरु मिल जाये, और वह आँखोसे अज्ञानरूपी पट्टी खोलकर ज्ञान-रूपी दर्पण दिखाये तो हमारा स्वरूप कैसा है, हम चक्रमें पड़े-रहनेके पात्र हैं या किसी और वस्तुके योग्य हैं, यह समझमें आ जायेगा। हम जान जायेंगे कि हम इस संसार-चक्रमें भ्रमित होने योग्य नही हैं। हमारा पद इससे ऊँचा है। किन्तु जव अन्धकारका नाश होगा, तभी हम इसे समझने योग्य वनेंगे। भगवानने कहा कि मैं ऐसा उपाय वताऊँगा जिससे तू अशुभमें से छूट जाये। श्रीकृष्णकी अर्जुनको इस वन्धनसे छुड़वाने की इच्छा है। किन्तु यदि अर्जुनने जिज्ञासा न प्रकट की होती, ऐसी आतुरता न दिखाई होती कि मैं मूढ़ हूँ, मुझे कर्त्तव्यका भान नहीं है, मुझमे श्रद्धा है, मुझे धर्म बताओ तो इसके अभावमें श्रीकृष्ण उसे क्या वताते।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ (४,१७)

जानना यह चाहिए कि कर्म क्या है। विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म क्या है और अकर्म अर्थात् अशान्ति क्या है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (४,१८)

जो कर्ममें अकर्म देखता है और अकर्ममें कर्म देखता है वह बुद्धिमान, योगी, अखिल कर्मोका कर्त्ता है।

यहाँ सिद्ध यह करना है कि व्यक्ति कर्म करता हुआ भी अकर्त्ता वना रह सकता है। मैं पहले दृष्टान्त देकर समझा चुका हूँ कि यदि मैं ममत्व रखता हुआ कर्म करूँ तो पागल ही हो जाऊँ। किन्तु मैं जो-कुछ करता हूँ, कर्त्तव्य समझकर करता हूँ, इसलिए निर्वाह हो जाता है। आश्रमका एक-एक बालक मुझे छोड़ दे, तो भी मेरी आँखसे एक बूँद आँसू न गिरे, बल्कि नरसिंह मेहताकी तरह नाचूँ कि 'भला हुआ, छूटा जंजाल'। इतने उदासीन रहकर काम करें तो जैसा भगवानने कहा, वैसा कहा जा सकता है कि मैं चातुर्वर्णको उत्पन्न करके भी अकर्त्ता हूँ। कर्म करते हुए भी अकर्मवान् रहनेकी वात ऐसी अवस्थामें लागू होती है।

हम इस चक्रमें पड़े हैं। इस तन्त्रमें रहकर हमें निरन्तर काम करना है। जितनी देर जाग्रत अवस्थामें हैं, उतनी देरतक तो सारे प्राप्त कर्त्तव्योंको करना ही है। यह सव इस तरह करना चाहिए कि देखनेमें जो आदमी जल्दी-जल्दी कर रहा है, वह वास्तवमें उतावला होनेके बजाय शान्त हो। रहटका वैल चलता ही रहता है, किन्तु रहटका एक भी घट टूटता-फूटता नहीं है। अगर हमारा हृदय इन घटोंकी जगह

हो तो उसमें उथल-पुथल मचे बिना न रहे। किन्तु ये घट शान्त बने रहते हैं। हमारे मनोंमें ऐसी ही शान्ति होनी चाहिए। यदि हृदयमें हलचल मच जानेके कारण हम काम छोड़कर बैठ जायें तो वह अकर्म नहीं होगा, कर्म ही होगा। ऐसे अकर्मका बन्धन तो बहुत सख्त होता है और ऐसे व्यक्तिके भाग्यमें खराबी ही बदी रहती है। यदि ऐसा व्यक्ति यह मानता हो कि जो कर्मके प्रपंचमें पड़ा हुआ है, वह कर्मके बन्धनमें बँधा है और मैं मुक्त हूँ, तो यह उसका भ्रम है; क्योंकि विचार-मात्र कर्म है। इसीलिए कहा गया कि कर्मकी गति गहन है। जो विचारोंमें कर्म करता है, वह उनकी इतनी बड़ी गठरी बाँध लेता है कि जिसका कोई हिसाब नहीं। इसके विपरीत जो कर्मोंमें डूबकर उन्हें कर्त्तव्य मानकर करता है और शेष सब-कुछ मुझपर छोड़कर शान्त होकर बैठ जाता है, कर्म-बन्धन उसे नहीं बाँधता।

कल रात . . .[1] आदि लड़कोंको मैंने उलाहना दिया तो . . .[2] मुझसे कहा कि आपके स्वरमें तीव्रता आ जाती है; यह तो क्रोध ही हुआ न? मैंने बताया कि मै कोई ईश्वर थोड़े ही हूँ। मैं तो प्रयत्न कर रहा हूँ। गुरु होनेकी मेरी योग्यता नहीं है। मुझमें इच्छाएँ शेष हैं, इसलिए मैं क्रोधित हो जाता हूँ और मेरा स्वर तीव्र हो जाता है। यदि मैंने राग-मात्रका त्याग कर दिया होता, तो मेरा स्वर सदा एक-सा ही रहता और काममें भी कोई कमी न होती। मैं ऐसी स्थिति पाना चाहता हूँ। यह सच है कि कभी-कभी मेरे स्वरमें थोड़ी तीव्रता आ जाती है और भौंहोंमें भी थोड़ा बल पड़ जाता है। यह तो वही बात हुई जो अर्जुनने भगवानसे पूछी है, अर्थात् यह कि मनुष्य अपनी इच्छाके विरुद्ध भी विकारके वशीभूत क्यों हो जाता है। मेरे भीतर काम और क्रोध शेष हैं। मैं यह सब कहकर यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि हम जिस हदतक कर्मोंके फलकी आशा रखे बिना कर्म करेंगे, उस हदतक कर्म सधेगा। मैं कायर होकर बैठ रहूँ अथवा . . .[3] कहना न माने तो दुःखी हो जाऊँ, अथवा क्रोध प्रदर्शित करूँ तो वह कर्मके बन्धनमें बँधना है। मैंने एक कर्तव्य स्वीकार किया, आश्रममें बच्चे रखे, उनके विकासकी जिम्मेदारी ली, तो फिर इससे भागना कैसे हो सकता है? यदि मैं हिमालयके शिखरपर बैठकर शान्ति-लाभ करूँ, तो वह इन्द्रियाराम होकर कर्म-बन्धनमें बँधना होगा। इसलिए मेरा यह करते रहना ही उचित है। मुझे इसीको मोक्षका साधन बनाना है। क्रोधरहित, मोहरहित, एकदम जाग्रत, अतंद्रित हो जाऊँ तो कर्म करता हुआ भी मैं अकर्मी हूँ। इनमें से दोनों ही व्याख्याएँ प्राप्त हो रही हैं। कर्म करते हुए भी अकर्मी और अकर्मको योग्य मानते हुए भी कर्मके बन्धनको स्वीकार करनेवाला।

सबको अपने ऊपर ऐसी कसौटी लागू करनी चाहिए। मुझे बिलकुल भूल जाना चाहिए। मैं अपनी बात इसलिए कर रहा हूँ कि हम सब अधूरे हैं। मैं अपनी बात विवेक अथवा लोकाचारकी दृष्टिसे नहीं करता, तटस्थ भावसे करता हूँ और कहता हूँ कि मैं अपूर्ण हूँ। यह कोई विवेकपूर्ण कथन नहीं है, बिलकुल सच बात है।

१, २, ३. साधन-सूत्रमें यहाँ नाम नहीं दिये हैं।

जब मुझमें राग-द्वेष नहीं बचेंगे, तब तुम मुझे शान्त देखोगे, अधिक शान्त पाओगे। मैं इसके लिए प्रयत्न कर रहा हूँ। मैं इस शान्तिका लाभ कर सकूँगा, ऐसा लगता है।

इस युगमें अपना माप करनेका हमारे पास कोई साधन नहीं है। किन्तु 'गीता' हमारे सामने है। 'गीता' कहती है कि यन्त्रकी तरह काम करो और उस काममें चेतनको व्याप्त कर दो।

[६९]

रविवार, २३ मई, १९२६

'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' वाले श्लोकके पहले चरणका अधिक विचार करना चाहिए। पिछले श्लोकमें हमने देखा कि कोई भी व्यक्ति क्षण-भर कर्म किये बिना नहीं रह सकता। अर्थात् जीनेकी क्रिया भी कर्म है। खाना, बोलना, सोचना, सोना, ये सब कर्म ही हैं। (. . . शान्ति प्राप्त करने गये, तब उन्होंने विचारतकको रोकनेका प्रयत्न किया, ऐसा वे कहते थे। क्योंकि विचार करना भी कर्म ही है।) कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता, फिर भी कर्म और अकर्ममें भेद बतलाया गया है। योगी और सामान्य मनुष्यका भेद दिखाया गया। रात और दिनके भेदको स्पष्ट किया और कहा कि शरीरकी जो क्रियाएँ अपने-आप होती हैं, वे सब अकर्म हैं। अर्थात् यह सब कर्म तो हैं किन्तु उनके बन्धनमें नहीं बँधता। मैं यहाँ 'भगवद्गीता' का विवेचन किया करता हूँ। इसमें उद्देश्य है कि बालक इसे समझें और तदनुसार आचरण करें। इसलिए यह विवेचन कर्म अवश्य ही है। यदि मैंने शिक्षकके कामको कर्त्तव्यकी तरह अपनाया हो, और 'गीता' का यह शिक्षण देना मेरे लिए एकदम स्वाभाविक हो जाये, तो इसीको सामान्य रूपसे कदाचित् अकर्म कह सकते हैं। फिर भी युक्लिडकी सरल रेखा सम्बन्धी व्याख्याकी तरह यह एक आदर्श ही होगा — अर्थात् यह कामचलाऊ अकर्म कहलायेगा। जो कर्म परोपकारकी दृष्टिसे, पारमार्थिक दृष्टिसे किया जाता है, वह कामचलाऊ अकर्म कहा जा सकता है। खाने और श्वास लेनेकी क्रिया पारमार्थिक दृष्टिसे हो रही है, यह तभी कहा जा सकता है जब हमने अपनी सम्पूर्ण देहको ज्ञानपूर्वक कृष्णार्पण कर दिया हो। यदि हम ऐसा मानकर आचरण करें कि यह देह हमारा नहीं है, इसे ईश्वर अपनी इच्छाके अनुसार नचा रहा है, तब तो ईश्वरका साक्षात्कार ही हो गया। ऐसी दृष्टिसे किये हुए सभी कर्म अकर्म हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे अकर्म होते हुए भी कर्म हैं। योगीने विचारोंके घोड़े दौड़ाने बंद कर दिये हों तभी उसकी समाधि कर्मरूप हो सकती है। सम्भव है उसने समाधि अपने स्वास्थ्यकी दृष्टिसे लगाई हो। क्षय-रोगी भी प्राणायाम आदिका प्रयत्न कर सकता है। स्पष्ट ही उसमें उसका हेतु रोगसे मुक्त होना होगा। उसका यह कर्म पारमार्थिक नहीं कहलायेगा। पारमार्थिक कर्म तो वही है जिसका हेतु केवल ईश्वर-दर्शन हो और यह हेतु भी स्वाभाविक फलके रूपमें ही उत्पन्न होना चाहिए। कर्त्ताको इसका तनिक-सा भी विचार न रहे। उसके कर्ममें ईश्वर-दर्शनकी ही आतुरता हो। कोई दूसरा विचार ही न हो। ऐसा व्यक्ति देहका भान भूल जाता है, जैसे गोपियाँ भूल गई थीं।

विषयासक्त व्यक्ति भी देहका भान भूल जाता है किन्तु वह सीधा नरकमें जाता है। क्योंकि उसे ईश्वरका नहीं, विषयका दर्शन करना है। यदि कोई विषयी व्यक्ति विषयानुभवके बाद ईश्वरका अनुभव प्राप्त करता है, तो उसे पता चलता है कि वह विषयमें भी तदाकार तो होता था किन्तु इस तादात्म्यमें अधिक सुख है। पहली तल्लीनतामें अपना भान भूलनेके फलस्वरूप शिथिलता आती थी। इसमें उसे लगेगा कि तेजस्विता प्राप्त होती है। इस तल्लीनताके फलस्वरूप उसकी कर्मठता कम नहीं होती बल्कि वह अधिक कुशल बनता है। पारमार्थिक और ईश्वरार्पण बुद्धिसे अपने समस्त कामोंको करनेवाला अकर्मवान् है। जैसे न्यायाधीश बादशाहकी ओरसे न्याय देता है और फाँसी देनेवाला बादशाहकी ओरसे फाँसी देता है, इसी प्रकार इस विश्व-राज्यमें भी ईश्वरके गुलाम बनकर उसके इशारेपर नाचना चाहिए। यदि वृत्ति ऐसी बना लें, तो कर्म-मात्र पारमार्थिक हो जाता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ (४,१९)

जिस मनुष्यके सभी समारम्भ काम तथा संकल्पसे वर्जित हो गये हैं, उसका किसी भी कर्मको आरम्भ करना स्वाभाविक ही है। जिस मनुष्यके कर्म ज्ञान-रूपी अग्निसे भस्म हो गये हैं (जिस वस्तुकी उत्पत्ति और नाश है, उसमें चेतन-तत्त्व है; यहाँतक कि पत्थरमें भी चेतन है। वह अकर्मी है, फिर भी उसमें ज्ञान नहीं है।), वह व्यक्ति पत्थरकी तरह जड़ रहते हुए भी अनन्त कर्म कर रहा है और अनन्त काम करता हुआ भी अकर्मी है; क्योंकि उसके सभी काम ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जाते हैं। ईश्वरकी पृथ्वी निरन्तर चलती हुई भी स्थिर जान पड़ती है। जिसे देखनेसे चक्कर आ जाये, ऐसी जबरदस्त गति होनेपर भी वह हमें स्थिर-जैसी लगती है। टाइपराइटरपर टाइप करना स्वाभाविक हो जानेके बाद आँखसे देखे बिना अँगुली टाइपके ऊपर पड़ती रहती है — जिसके लिए कार्य इतने स्वाभाविक हो जाते हैं, इतना चेतनमय होकर जो काम करता है, उसे बुद्ध कहा जा सकता है।

[७०]

बुधवार, २ जून, १९२६[1]

अब अकर्मके कुछ दृष्टान्त दे रहा हूँ।

इस मनुष्यको[2] अपनी स्थितिका भान नहीं हुआ है और यह बोल रहा है किन्तु इसे बोलने न बोलनेका होश नहीं है। इसी तरह सम्भव है, हम काम तो बहुत करें किन्तु हमें उसका भान न हो। हम इस शरीरमें स्थित आत्माको जानना चाहते हैं — सुदामाकी तरह उसे अपने अस्तित्वके एक स्वाभाविक अंगके रूपमें जानना चाहते हैं।

१. मंगलवार २५-५-२६ से मंगलवार १-६-२६ तक विनोबा आये हुये थे, इससे "गीता-शिक्षण" बन्द रहा।

२. इसी समय एक पागल 'प्रभु-प्रभु' कहता हुआ वहाँ आ गया था। आगेकी बात उसे ध्यानमें रखकर कही।

अनुभवी बढ़ई सहज ही पटिया चिकनी बना डालता है; जिसे उसका केवल किताबी ज्ञान हो, वह उसपर अनायास रन्दा नही कर सकता। इस तरह जिसे स्वाभाविक काम करनेकी आदत हो गई है वह काम तो करता ही चला जाता है किन्तु फिर भी रहता है निर्लेप। 'यस्य सर्वे समारम्भाः' में ऐसे ही व्यक्तिका उल्लेख है। आँखकी पलक उठाने-गिरानेमें किसीको परिश्रम नहीं करना पड़ता; कर्म उसी तरह स्वाभाविक हो जाने चाहिए। जिसका विचारोंपर इतना वश हो गया हो कि एक भी मलिन विचार उत्पन्न ही न होता हो, वह शववत् विचरण करता है। हमें लगेगा कि शववत् विचरण कर रहा है, क्योंकि उसमें न काम है, न संकल्प है। जिसमें रागद्वेष नही है, वह अकर्मी है।

'गीता' सिखानेका मेरा यह काम तो संकल्पयुक्त है; और इसका हेतु यह है कि बच्चे सीखें।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥ (४,२०)

कर्मके फलकी आसक्ति जिसने तज दी है, वह नित्यतृप्त है, जिसे न कभी कम महसूस होती है और न वृद्धि, जो सदा सन्तुष्ट है, ऐसा व्यक्ति कर्ममें तल्लीन होते हुए भी कुछ नहीं करता। जैसा कि नरसी मेहताने कहा है कि 'जती और सतीको प्रेमके रसकी खबर ही नही पड़ती।' यदि कोई आये और देखे कि हम चौबीस घंटे चरखा ही चलाते रहते हैं तो उसे लगेगा कि ये लोग पागल हो गये हैं। इन्हें पूजा-पाठ सूझता ही नही है। फिर भी 'गीताजी' के आधारपर हम कह सकते हैं कि हम कुछ भी नही कर रहे है क्योंकि इसमें हमारा कोई स्वार्थ नही है, हम इसे धर्म समझकर कर रहे है, केवल श्रद्धासे कर रहे हैं। जब चारों तरफ अश्रद्धा फैली हुई है, तब भी हम इसे श्रद्धापूर्वक करे, क्योंकि इसमें स्वराज्य है—हमारी यह दृष्टि हमारी नित्यतृप्तताकी स्थिति सूचित करती है। जो चरखेके विषयमें इतना सब मानकर उसमें डूबे रहते है, यह बात उन्हीपर लागू होती है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ (४,२१)

जो व्यक्ति किसी भी प्रकारकी आशा नही रखता, जिसका चित्त स्थिर हो गया है और जिसने परिग्रह-मात्रका त्याग कर दिया है, शरीरका भार केवल ऐसे ही व्यक्तिको नही लगता। यह कैसे होता होगा? शरीर ही परिग्रह है। इसका उपयोग इस तरह किया जाना चाहिए कि अगर कल उसका पात होनेवाला है तो आज हो जाये। यदि मनःस्थिति ऐसी रहे, तो शरीर भार-स्वरूप न लगे। लाधा महाराजने शरीरके परिग्रहकी चिन्ता भी छोड़ दी थी और वे चौबीसों घंटे शिवजीका जप करते रहते थे। जो व्यक्ति शरीर टिकानेके लिए शरीरको योग्य किराया-भर देकर कर्ममें लगा रहता है, जो भोगकी दृष्टिसे कर्म नहीं करता, वह कर्ममें लगा हुआ भी पापोंका संग्रह नहीं करता।

[७१]

गुरुवार, ३ जून, १९२६

उपर्युक्त रूपसे केवल शरीर-कर्म करनेवालेको कर्मका फल नहीं बाँधता। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके कर्मोंका फल ही नहीं होगा। फल तो होता है किन्तु स्वयं वह फलके पीछे नहीं घूमता। दूसरे शब्दोंमें वह कर्मका आरोपण आत्मापर नहीं करता। उदाहरणके लिए मैं 'गीता' सुनता हूँ। उसे सुनते हुए मुझे नम्रभाव रखना चाहिए, क्योंकि उसे सुनना तो कर्त्तव्य ही है। फल तो अनायास उत्पन्न होते रहेंगे। जैसे बीज बो देनेके बाद वे ऊगते ही हैं। किन्तु बीजको अहंकार नहीं होता। जिन बातोंमें हम लोग पशुओंके समान हैं, उन बातोंकी हदतक हम पशु हैं। किन्तु ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिनमें हम पशुओंसे भिन्न हैं। हमारे मनका अहंकार, कर्त्ता होनेका अभिमान, समाप्त हो जाना चाहिए। जो आदमी नित्य दैनन्दिनी लिखता है, वह यह नहीं सोचता कि मेरा हाथ आज इतनी बार चला। इसी प्रकार कार्य-मात्र हमारे लिए स्वाभाविक हो जाने चाहिए।

बड़ेसे-बड़ा पुण्य-कर्म भी पाप-रूप हो जाता है। किसी पुण्यके फलस्वरूप राजाका जन्म मिले, तो भी क्या होता है। क्योंकि राजाका जन्म लेनेमें कोई सार नहीं है। राजा और रंककी तरह जन्म लेना एक ही स्थितिके दो छोर हैं। हम कहते हैं कि हमें प्रयत्नपूर्वक जागते रहनेका प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा जान पड़ता है मानो जो श्लोक हम आज कर रहे हैं, यह बात उसके विरुद्ध हो। किन्तु यह हमारा स्वभाव बन सकता है, इसलिए हम इसका प्रयत्न करते हैं। यह वैसी ही बात हुई जैसे सात्विक प्रवृत्तियोंके द्वारा रज और तमसे पार होनेकी इच्छा।

'शारीर कर्म' अर्थात् शरीर-निर्वाहक कार्य। शरीरका लाड़-दुलार करनेसे ब्रह्मचर्य आदिका पालन मुश्किल हो जाता है। जिस कामको स्वाभाविक हो जाना चाहिए, हमने उसे कठिन बना लिया है। ब्रह्मचर्यका उल्लंघन करना मनुष्यका स्वभाव नहीं है। हम शरीर और आत्माको एक मानकर बैठे हैं, इसीलिए विषयभोग की बात उठती है। किन्तु यदि हम शरीरको जड़ मानकर उसे केवल निभानेका ही विचार रखें तो ऐसी परिस्थिति सामने न आये। शरीरको आत्माका मन्दिर मान लेनेके बाद हमारे भीतर विषय-विकार आयेंगे ही कैसे? आधे घंटे लिखनेका काम करके शरीरका निर्वाह करना एक चोरी है। मन आत्माका काम करता है और शरीर भी उसीकी चाकरी बजाता है। किन्तु इस शरीरका निर्वाह तो शरीर-श्रमसे ही हो सकता है। लिखाने-पढ़ानेका काम भी शरीर-निर्वाहका साधन नहीं माना जा सकता। खेती अथवा ऐसे ही किसी कामको शारीर-श्रम कहा जा सकता है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।। (४,२२)

सहज ही जो-कुछ मिल जाये, उसमें जो व्यक्ति सन्तोष मानता है, जो द्वन्द्वातीत अर्थात् सुख-दुःख आदिको उलाँघ गया है, जिसे मत्सरादि नहीं हैं और जो सिद्धि तथा

असिद्धिके प्रति समभाव रखता है, तटस्थ रहता है, निर्विकार रहता है — अनुकूल वस्तुके मिलनेपर नाचता नही फिरता और प्रतिकूल परिणाम आनेपर रोने नही बैठ जाता — वह मनुष्य कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता अर्थात् उसे कर्म-बन्धन नही होता।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (४,२३)

जो व्यक्ति आसक्ति-रहित काम करता है, वह मुक्त है अर्थात् कर्म-बन्धनसे छूट गया है। ज्ञानके द्वारा जिसका चित्त स्थिर बन गया है, जो केवल यज्ञ-दृष्टिसे काम करता है, उसके सभी कर्म विलीन हो जाते हैं।

यदि हम भोजन भी अपने ही लिये करते हों, तब तो हमारा मर जाना ही अच्छा है। हम जो-कुछ खाते-पीते हैं वह यदि ईश्वरार्थ हो, आत्माके लिए हो, यज्ञके लिए हो तो वह अकर्म हो जायेगा।

[७२]

शुक्रवार, ४ जून, १९२६

हजारों बार श्रद्धापूर्वक मन्त्रोंका पाठ करनेसे पाठ करनेवालेके लिए वे अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं। मुसलमान कलमा पढते हुए नही थकता और हिन्दू गायत्री पढ़ते हुए, राम-राम करते हुए अथवा द्वादश मन्त्र जपते हुए नही थकता।

आज जो श्लोक किये जाने हैं, उनके विषयमें मैंने विनोबाके साथ विस्तारसे चर्चा की, किन्तु मैं उनके अर्थके विषयमें निश्चिन्त नही हुआ हूँ। 'गीताजी' की रचना 'वेद'के बाद हुई और विभिन्न सम्प्रदायोंने उनकी व्याख्या अपने-अपने पंथके पक्षको मजबूत करनेकी दृष्टिसे की। वेदादिकी क्रियाको 'गीताजी'ने गलत कह दिया है, यह भी मुझे अतिशयोक्ति-सी लगती है। इसलिए मैंने बार-बार ऐसा अर्थ खोजनेकी कोशिश की है, जिसका वेदोंसे मेल बैठ जाये। अपनी दृष्टिसे मुझे मेल बैठाना जरूरी नहीं लगता, किन्तु मुझे श्लोकोंका अर्थ आप सबके सन्तोषके योग्य करना है। 'गीताजी'के रचनाकारने यह लकीर नहीं खींच दी थी कि जो अर्थ उसने किया है, वही उसके वारिस भी करे। 'गीता'में कहा गया है कि यज्ञकी दृष्टिसे किया गया कोई भी कर्म अपना कोई फल नही छोड़ता। जिस कार्यमें स्वार्थका विचार नही है, वही यज्ञ है। आगे जो श्लोक आता है, वह इसी विचारका परिणाम है और उसका साधन भी है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ (४,२४)

अर्पण भी ब्रह्म है और हवि भी ब्रह्म है। (अर्पणका अर्थ यज्ञकी सामग्री समझा जाता है।)ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप कर्त्ताके द्वारा हवन किया जाये तो यह आचरण

ब्रह्म-आचरण-जैसा होगा। जो ब्रह्म और कर्मका घनिष्ठ मेल बैठा सकता है, वह ब्रह्ममें लीन हो जाता है। जब सम्पूर्ण यज्ञको ईश्वरमय कर दिया, तब कर्मका फल बचा ही कहाँ। वह तो मानो यज्ञका श्रुवा और आहुति बन जाता है। वह तो ईश्वरको कुम्हार मानकर अपनेको माटीकी भाँति बना लेता है और इस तरह ईश्वर उसे जैसा गढ़े, वैसा गढ़नेके लिए उसके हाथमें अर्पित हो जाता है। यहाँ यह बताया गया है कि कर्ममें अकर्म किस तरह सधता है।

[७३]

शनिवार, ५ जून, १९२६

अब यज्ञके अलग-अलग भेद आते हैं:

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। (४,२५)

दूसरे अनेक लोग देवताओंकी भलीभाँति पूजा द्वारा यज्ञ करते हैं; और अन्य अनेक ब्रह्मरूपी अग्निमें ब्रह्मके द्वारा यज्ञ करते हैं।

विनोबा कहते थे कि 'वेद' में इस बातका आधार मिलता है कि ब्रह्मज्ञानीको यज्ञ करना भी कर्त्तव्य-रूप नहीं है। जिसने सारे जीवनको ही यज्ञ बना दिया है उसके लिए कौन-सा नया यज्ञ करना शेष बच रहता है। हमारे यहाँ एक लगभग अन्धी बहन आई हुई है। उसका कण्ठ मधुर है। वह 'रघुपति राजा राम' की धुन लगाती है। यह बहन तमिल है। अपने पतिकी आज्ञासे ही वह यहाँ आई है। वह बुद्धिमती भी जान पड़ती है। हम कह सकते हैं कि जो व्यक्ति इस बहनकी सेवा करेगा वह यज्ञ करेगा। यह परमार्थका काम है। किन्तु जो व्यक्ति यज्ञके द्वारा ही यज्ञ करता है अर्थात् जिसने अपने सम्पूर्ण जीवनको यज्ञ बना डाला है, उसके लिए यज्ञ-मात्र स्वाभाविक हो जाता है। ऐसा व्यक्ति तो तन्द्रारहित होकर निरन्तर यज्ञ करता ही रहता है। जीव-मात्रके दुःखसे तद्रूप हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह यज्ञ करना छोड़ देता है। यज्ञ करना उसका स्वभाव बन जाता है। कनिष्ठसे-कनिष्ठ व्यक्तिके भीतर भी ईश्वरका भाव रहता है।

कुछ लोग कानादि इन्द्रियोंको संयम-रूपी अग्निमें होम देते हैं अर्थात् वे कानसे सुनना, जीभसे बोलना और स्वाद लेना, आँखसे देखना आदि तज देते हैं।

कुछ लोग शब्दादि विषयोंको इन्द्रिय-रूपी अग्निमें होम देते हैं।[1] अर्थात् यहाँ क्रिया उलटी होती है। हम कान बन्द नहीं कर सकते, इसलिए अच्छा ही सुनें। आँख बन्द नहीं कर सकते, इसलिए ईश्वरीय शक्तिका दर्शन किया करें। इसीका अर्थ है: विषयोंको इन्द्रियोंके भीतर होम देना।

१. 'श्रोत्रादीन्द्रियाण्यन्ये' आदि (४, २६) श्लोक अध्याहारमें है।

[७४]

रविवार, ६ जून, १९२६

किशोरलालभाई जब दूसरोंसे अलग एक झोंपड़ीमें रहते थे, तब वे इन्द्रियोंके संयमका अभ्यास करते थे। वे जब 'ज्ञानेश्वरी'का[1] पाठ करते तब रेलगाड़ीकी आवाज आती। मैंने सुझाव दिया कि कानमें रबड़के ठेंठे लगा लो। किन्तु उन्होंने अपने मनको ही अनुरूप बना लिया और कहा कि मुझे ठेंठोंकी जरूरत नहीं रही।

किन्तु बच्चोंके विषयमें क्या करें! उन्हें तो इन्द्रियोंपर बन्धन लगाने ही पड़ेंगे। क्योंकि ऐसी ध्यानावस्था उनके लिए सहज नहीं है। इसी तरह शब्दादिके विषयमें भी समझना चाहिए।

अब कहते हैं:

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। (४,२७)

सभी इन्द्रियोंका व्यापार बन्द करके प्राणके व्यापारको अर्थात् श्वासोच्छ्वासको भी रोककर, स्थिर होकर, समाधिस्थ होकर, आत्मसंयम करके इस योगको ज्ञानके द्वारा सुलगाकर सारी इन्द्रियोंको उसमें होम देता है।

जो व्यक्ति किसी भी रीतिसे अपने मन इत्यादिको रोक न सकता हो तो वह इस तरह करे, अथवा वह व्यक्ति अपने ऊपर क्रोधित होकर सभी कुछ बन्द कर दे। कुछ लोग ब्रह्मचर्य पालनमें सफल न होनेपर खीज उठते हैं। उत्तरी ध्रुवकी यात्रा करनेवाले व्यक्ति बार-बार बिना ऊबे हुए करोड़ों रुपया खर्च करके वहाँ पहुँचनेका प्रयत्न करते है। ब्रह्मचर्य व्रतके पालनकी इच्छा करनेवाला खीजकर अन्तमें अनशन व्रत ले लेता है और कहता है कि मैं एक भी क्रिया नही करूँगा, क्योंकि एक भी क्रिया करता हूँ तो मेरा मन व्यस्त हो जाता है। इसलिए मैं सब-कुछ बन्द कर दूँगा। यही आत्मसंयम — योगाग्नि है। यह जड़ समाधि नही है, यह तो ज्ञान-समाधि है। ब्रह्मचर्यके पालनमें सफलता प्राप्त करनेकी इच्छा प्रसूतिकी वेदना जैसी वस्तु है। संयम पालन करते हुए जो विक्षेप होते हैं उन्हें सहन न करनेपर व्यक्ति चिढ़ जाता है, हम ऐसा देखते हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि यह दुधारू गाय है, इसकी लात सहन करनी चाहिए।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।[2] (४,२८)

कुछ लोग द्रव्ययज्ञ करनेवाले होते हैं। अपने द्रव्यका दूसरोंके साथ बँटवारा करते हैं। कुछ अन्य लोग तपके द्वारा मनरूपी बन्दरको बाँध रखते हैं। कोई योग करता है, कोई स्वाध्याय, कोई वेदाभ्यास, कोई ज्ञान-यज्ञ करता है, कोई लिखना-पढ़ना

१. ज्ञानेश्वर महाराज (१३ वीं शताब्दी) कृत गीताकी टीका।

२. अनेक टीकाकारोंने दूसरी अर्द्धालीका अर्थ यह किया है कि 'संशितव्रत' [कठिन व्रतोंका पालन करनेवाले] यतिगण [प्रयत्न शील पुरुष] शास्त्रके अध्ययनके रूपमें यज्ञ करते हैं।

छोड़कर विचार-ही-विचार करता है। तीक्ष्ण व्रतोंका पालन करनेवाले यति कड़े व्रतोंके पालनके द्वारा यज्ञ करते हैं।

[७५]

मंगलवार, ८ जून, १९२६

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ (४,२९)

कोई अपान वायु (बाहरसे भीतर ली जानेवाली वायु) के भीतर प्राणवायुका हवन करता है, कोई प्राणमें अपान वायुको रुद्ध कर रखता है, कोई दोनोंको रोक लेता है। ये सब प्राणायामपरायण हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ (४,३०)

अन्य नियताहार व्यक्ति — आहारको नियमित बना डालनेवाले व्यक्ति — प्राणको प्राणके अन्दर हवन करते हैं। ये सब यज्ञको जाननेवाले हैं और उन्होंने यज्ञके द्वारा अपना मैल धो डाला है।

[७६]

बुधवार, ९ जून, १९२६

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ (४,३१)

कामको जीतना भी यज्ञ है। 'गीताजी 'ने तो कहा है कि किसी भी परमार्थ कार्यको यज्ञकी तरह किया जा सकता है। परोपकार अर्थात् दूसरोंके लिए कर्म करना। किन्तु दूसरोंके लिए कर्म करना एक आभास-मात्र है। वास्तवमें तो उसे करके हम अपना ही काम करते हैं। यदि हम कोई भी काम केवल अपने लिए करें तो हमारा नाश ही हो जाये। इसलिए प्रत्येक परमार्थ कर्म अपने ही लिए है।

जो यह यज्ञ-कार्य करनेके बादके शेष अमृतका अर्थात् यज्ञकार्यसे बचे हुए समयका अपने लिए उपभोग करता है वह सनातन ब्रह्मको प्राप्त करता है। जिसने दिन-भर कोई काम नहीं किया है और भैंसके पाड़ेकी तरह कीचड़में लोटता रहा है, उसका रातको सोना भी चोरी करना है। यज्ञ न करनेवालेके लिए यह लोक भी नहीं है, तब फिर उसका परलोक क्या होगा। ऐसा व्यक्ति तो यहाँ भी भ्रष्ट है और वहाँ भी भ्रष्ट है।

[७७]

गुरुवार, १० जून, १९२६

कल जो श्लोक किया था, उसका अर्थ व्यापक है। भाव यह है कि संसारके सभी प्राणी खा चुकें, तब हमें खाना चाहिए। देहधारी जबतक जगत्में है, तबतक उसे दूसरों-के साथ हिस्सा तो बँटाना ही पड़ेगा। देहके प्रति वैराग्य उत्पन्न होनेका अर्थ यह है

कि ऐसा व्यक्ति केवल परोपकारमें ही लीन हो जाता है और परिणामतः सनातन ब्रह्ममें पहुँच जाता है। जिस तरह झुंडसे अलग हो जानेवाली भेड़का बच्चा टोलीमें जा मिलनेके लिए व्याकुल हो जाता है, वैसी ही व्याकुलता हमारे भीतर ब्रह्ममें लीन होनेकी होनी चाहिए। इससे विपरीत जो अपने ही लिये जीता है, उसका न यह लोक बनता है, न परलोक। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुझे स्वजन और परजनका सवाल भूल जाना चाहिए। यदि तू किसी एकको भी मार सकता है, तो इन्हें भी मार सकता है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। (४,३२)

इस श्लोकका एक यह अर्थ भी है कि ब्रह्मके प्रति ऐसे अनेक तरहके यज्ञ हैं। यहाँ वेदकी बात ही उड़ा दी गई है, क्योंकि 'गीता' में 'वेद' की निन्दा पाई जाती है और फिर इन श्लोकोंमें कही गई बात[1] 'वेदमें' कही नही मिलती। इसका सामान्य अर्थ तो यही होता है कि 'वेद'में इतने प्रकारके यज्ञ कहे गये हैं। तुझे यह समझ लेना चाहिए कि ये सब यज्ञ कर्मसे उत्पन्न हुए है। मोक्ष तुझे उसी अवस्थामें मिलेगा। कर्म और अकर्मकी बात करनेके बाद इस श्लोकमें भगवानने यह कह दिया कि कर्म किये बिना कोई गति ही नही है। यहाँ अकर्मकी बात ही नही कही। आत्मार्थ किया हुआ हरएक कर्म, कर्म होते हुए भी अकर्म है। कर्मके फलका त्याग करना अर्थात् दूसरोके लिए कर्म करना हो, तो हम उसमें घोड़ोंके-जैसे जुत जायें और अगर अपने लिए करना हो तो निःस्पृह भावसे जड़ होकर उसे करें। यह एक हार्दिक स्थिति है, मनकी भावना है। हृदय और मनकी इस भावनासे जो व्यक्ति सोने, खाने, पीने, पाखाना साफ करने इत्यादिका काम करेगा, वह मनुष्य मोक्ष प्राप्त करेगा। 'एवं बहुविधा यज्ञाः' वाले श्लोकमें 'एवं बहुविधा' कहनेका अर्थ यह है कि यहाँ कुछ नमूने-भर दे दिये गये हैं। 'गीताजी'की व्याख्याके अनुसार जिन्हें यज्ञ-कर्म कहा जा सके, वे सब यज्ञ हैं।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। (४,३३)

द्रव्य-यज्ञकी अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ करनेवालेका समर्पण अधिक बताया गया है। क्योंकि ज्ञान-यज्ञमें द्रव्य और उसके साथ-साथ अन्य सब-कुछ आ जाता है। संसारमें सभी कुछ ज्ञानके अन्तर्गत आ जाता है। जड़-चेतनका भेद भी समाप्त हो जाता है। द्रव्ययज्ञका विस्तृत अर्थ करें तो प्रत्येक द्रव्यका यज्ञ उसके अन्तर्गत आ जायेगा। जो व्यक्ति हमें ज्ञानसे आप्लावित करता है, जो मनुष्य हमारे हृदयमें यह तत्त्व बैठा देता है कि देह आत्मासे भिन्न वस्तु है, कहा जा सकता है कि उस व्यक्तिने महान् यज्ञ किया है।

१. इस चौथे अध्यायमें २४वें श्लोकसे ३०वें श्लोकतक कही गई यज्ञ-सम्बन्धी बात।

[७८]

शुक्रवार, ११ जून, १९२६

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (४,३४)

यह ज्ञान तू प्रणिपातेन, साष्टांग नमस्कार करके, समित्पाणि होकर, गुरुकी सेवा करके बार-बार प्रश्न करके — गुरुको परेशानतक करके ही प्राप्त कर सकता है। [तब] तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुझे यह ज्ञान देंगे।

[७९]

शनिवार, १२ जून, १९२६[1]

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ (४,३५)

उसे जाननेके बाद तुझे फिर मोह नहीं होगा, तू स्वजन और परजनका भेद नहीं करेगा, सबके प्रति समानचित्त हो जायेगा और उसके माध्यमसे तू सब जीवोंको, भूतमात्रको अपनेमें और मुझमें देखने लगेगा। अर्थात् तू समझ जायेगा कि सारे जगत्में मैं ही व्यापक हूँ। जब तेरे हृदयका अहंभाव नष्ट हो जायेगा, तब तुझे 'जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके'-सारे जगत्में ईश्वर ही ईश्वर है, यह ज्ञान हो जायेगा। इसे जाननेके बाद हिंसा-अहिंसाकी बात भी कहाँ उठ सकती है। तब यह अनुभव हो जायेगा कि चोर, व्याघ्र इत्यादि भी आत्ममय हैं। समझना चाहिए कि जबतक यह ज्ञान नहीं हुआ है, तबतब कोई ज्ञान ही नहीं हुआ है।

[८०]

रविवार, १३ जून, १९२६

ऊपरके श्लोकमें जो ज्ञान कहा गया है, सो हमें हो गया है, अथवा नहीं? मान लें कि यह श्लोक हमें कण्ठस्थ हो जाये और हम उसको बिना पुस्तकमें देखे बोल सकें तो क्या इससे हम तत्त्वदर्शी कहला सकते हैं। यही वस्तु हम दूसरोंपर लागू करके देखें कि क्या वे श्लोकका पाठ कर सकनेके कारण ज्ञानी कहला सकते हैं। नहीं; इस तरह श्लोक पाठ कर देनेका अर्थ ज्ञानी होना नहीं है। हम यह तो जान गये कि सारा जगत् हममें है, किन्तु इसका भान हमें प्रतिक्षण नहीं बना रहता। इस ज्ञानका घूँट गलेसे नीचे नहीं उतरता और उसका अनुभव नहीं होता। यहाँसे उठते ही हम भेदभाव बरतने लगेंगे। जब यह ज्ञान बुद्धिसे गहरा उतरकर हृदयमें पहुँच जायेगा — अक्लसे छूंछे किसी व्यक्तिका हृदय कृपाका सागर हो सकता है — तभी व्यक्ति इस अनुभव-ज्ञानको प्राप्त कर सकता है। अर्जुनसे कहा गया कि ज्ञानी तुझे यह

१. "तद्विद्धि प्रणिपातेन" वाला श्लोक बालकोंको विस्तारसे समझाया गया था।

ज्ञान देंगे; इसका यह अर्थ नहीं है कि वे बुद्धिसे तुझे यह समझा देंगे; बल्कि अर्थ यह है कि वे तेरी श्रद्धा जागृत कर देंगे। तू इस श्रद्धाके सहारे देख सकेगा कि मैंने अपनेको दूसरोंसे अलग तो अपनी बुद्धिके कारण कर लिया है। वास्तवमें तो सब-कुछ एक ही है। ईश्वर, मैं और अन्य वस्तुएँ — तीनों ही एकमें समाहित हैं। इस तरह ईश्वर भी मिट गया और बच गया केवल 'नेति-नेति'। जो ऐसा समझता है, कह सकते हैं कि उसका सारा मोह नष्ट हो गया।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।। (४,३६)

तू सारे पापियोंका शिरोमणि हो, तो भी ज्ञानरूपी इस नौकासे तू जल्दी ही सारे मोहोंके पार हो जायेगा। रायचन्दभाईने कहा है 'मोह स्वयंभू-रमण समुद्र तरी-करि' अर्थात् मोहके स्वयंभू-रमण[1] समुद्रको पार कर जायेगा।

हंडीमें भात है, इस बातकी जानकारीसे भूख नहीं मिटती। जब अन्न पेटमें जायेगा तभी भूख मिटेगी। किन्तु कहा जा सकता है कि वास्तवमें पेटमें पहुँचकर उसके पचने और खून बन जानेके बाद ही भूख शान्त होती है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।। (४,३७)

जैसे अग्नि सुलग जानेपर ईंधनको भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान-रूपी अग्नि सभी कर्मोंको जला डालती है।

पहले ज्ञानको नौकाकी उपमा दी और बादमें अग्निकी। वह कर्मके बन्धनको जला डालती है।

[८१]

मंगलवार, १५ जून, १९२६

मेरे लिए तो 'गीता' नौका ही है। इसलिए नहीं कि उसमें विद्वत्ताकी बातें भरी हुई हैं, बल्कि इसलिए कि वह मुझे अच्छी लगी; मेरे बुढ़ापेमें वह मुझे रुची; या कहो कि उसके कुछ श्लोकोंने मुझे बड़ा सहारा दिया। आप इनमें से कुछ भी कह सकते हैं।

मनुष्य खाकर ही नहीं जीता; पशुको जीनेके लिए इतना पर्याप्त है। अन्ना किंग्सफोर्ड कहा करती थी कि [कई बार] लोग साँपों और शेरों-जैसे लगते हैं! पशु भी हमारे सगे-सहोदरे हैं। वे और हम एक ही जगहसे आये हैं। किन्तु वे खाकर जीते हैं और मनुष्य यज्ञ करके जीता है। कुछन-कुछ यज्ञ तो मनुष्य कर ही लेता है। चरखा भी यज्ञ है। प्रार्थना भी हमारा यज्ञ है; यह हमारा आध्यात्मिक शौच है। हम जबतक प्रार्थना न कर लें तबतक हमें व्याकुलताका अनुभव होना चाहिए। जो इस दृष्टिसे 'गीताजी' सुनने आते हैं, वास्तवमें वे ही आते हैं। दूसरोंका आना, आना नहीं है। यदि 'गीता' के शिक्षणमें हमारी यह दृष्टि न हो, तब तो हम विनोबासे भी कोई

१. जैन-साहित्यमें सर्वाधिक दूर समुद्रका नाम; ऐसी मान्यता है कि अधिक विस्तृत होनेके कारण उसे कोई पार नहीं कर सकता।

बड़ा पण्डित बुलाकर उससे संस्कृत सीख सकते हैं अथवा समाजमें 'गीता' के पण्डित गिने जानेकी दृष्टिसे उसका अध्ययन कर सकते हैं। किन्तु हम यहाँ तो वास्तविक जीवनमें परिवर्तनके लिए इसे प्रार्थनास्वरूप मानकर सीखते हैं। मनुष्यके लिए रोटी जितनी जरूरी है, प्रार्थना भी उतनी ही जरूरी है। खल व्यक्ति अपने कानसे निन्दा सुनता है और आँखसे पापोंके दर्शन करता है, किन्तु भला आदमी कहता है कि यदि मेरे आँख-कान दस हजार भी होते तो मैं उनसे ईश्वरका दर्शन करता, भजन सुनता; और पाँच हजार जीभें भी होतीं तो उनसे उसका नाम लेता। प्राथना कर चुकनेके बाद ही ज्ञानामृत पीनेकी मेरी प्यास बुझती है। जो मनुष्य बनना चाहता है, उसकी खुराक दाल-रोटी नहीं है। यह तो बहुत छोटी बात है। मुख्य वस्तु तो है प्रार्थना। रविवारके दिन जब मैं देरतक सोता रहता था, तब बा 'उठो-उठो' कहती थी, किन्तु मैं पड़ा रहता था। बा मेरा सवेरा खराब कर देती थी। यह मुझे अच्छा नहीं लगता था। बहुत-सी स्त्रियाँ ऐसा करती हैं। ऐसा नहीं करना चाहिये। किन्तु मेरे पास तब एक बहाना हो सकता था। उन दिनों मैं इस तरह प्रार्थना नहीं करता था। किन्तु मैं तो अपनी एक भूल स्पष्ट कर रहा हूँ। रविवारको इस तरह सोते रहनेसे भी सोमवारको मेरी थकावट कम नहीं हो जाती थी। तुम लोग तो ब्रह्मचारी हो। तुम्हें तो रोज उठकर प्रार्थनामें शामिल होना ही चाहिए। दूसरी सभी बातोंके बारेमें छुट्टी मिल सकती है, किन्तु प्रार्थनासे छुट्टी नहीं मिल सकती। इस आध घंटेमें एक ही वस्तु मनमें आती रहे, दूसरी कोई बातका ध्यान न आये, ऐसी स्थिति हो जानी चाहिए। थोड़ी देर इस तरह विचार करनेका अवसर तो सामुदायिक रूपसे भी रखा जाना चाहिए। यह तो प्राणि-मात्रके साथ तन्मयता साधनेका प्रसंग है। बस। आज तो 'गीताजी' की इतनी ही व्याख्या हुई।

[८२]

बुधवार, १६ जून, १९२६

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ (४,३८)

ज्ञानके समान पवित्र अन्य कोई वस्तु जगत्में नहीं है। (इसीलिए ज्ञान यज्ञ ही शुद्धातिशुद्ध यज्ञ कहा गया है।) योगके द्वारा जो व्यक्ति मोक्षके योग्य बन गया है, वह व्यक्ति अपने ही प्रयत्नोंसे कालान्तरमें ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ज्ञानका अर्थ हुआ आत्म-दर्शन। इतना हुआ कि शरीर और कर्मका सारा बोझ पिघलकर पानी हो जाता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ (४,३९)

जिसके हृदयमें अखण्ड श्रद्धाका निवास है, वह तो केवल रामका नाम लेकर भी पार हो जायेगा। अनेक माता-पिता इसी दृष्टिसे अपने बाल-बच्चोंका नाम भगवानके नामपर रखते हैं। उनका उद्धार इतने-भरसे हो जाना सम्भव है। जो उसके भक्त हैं,

आत्मसंयमी हैं, जो इच्छानुसार सो जा सकते हैं अर्थात् जिनका इन्द्रिय-मात्रपर सम्पूर्ण अंकुश है, वे इस तरहका ज्ञान प्राप्त करते हैं और सत्वर ही शान्ति तथा मोक्ष भी पा जाते हैं।

[८३]

गुरुवार, १७ जून, १९२६

गणितका प्रश्न बुद्धिसे हल हो जाता है। इसके लिए उस प्रश्नके प्रति श्रद्धाका होना आवश्यक नहीं होता, किन्तु आत्मज्ञानके क्षेत्रमें श्रद्धाके बिना काम नही चलता। क्या माता अथवा पिताके प्रति प्रेमभावके लिए बालककी बुद्धिको किसी प्रकारका शिक्षण देना पड़ता है? निरक्षर माताके मनमें भी अपने बालकके प्रति प्रेम रहता ही है। ईश्वरके प्रति किसी भी नाते जैसा प्रेम सम्बन्ध रखा जा सकता है। कविने हमारे सामने ईश्वरीय प्रेमका एक अंश ही रखा है। जो अगाध समुद्रकी कल्पना नही कर सकता, नदी-नालोंके आधारपर उसे उसके विषयमें कुछ-न-कुछ बताया जा सकता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।। (४,४०)

जो ज्ञानसे विमुख है, जिसमें श्रद्धा नही है अर्थात् जिसके मनमें संशय है, ऐसे व्यक्तिका विनाश हो जाता है। उसके लिए न इस लोकमें सुख है न परलोकमें।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।। (४,४१)

जिस व्यक्तिने योगके द्वारा समस्त कर्मोंका त्याग कर दिया है और ज्ञानके द्वारा जिसकी शंका नष्ट हो गई है ऐसे आत्मज्ञानी व्यक्तिको कर्म नही बाँधते।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।। (४,४२)

इसलिए अज्ञानसे उत्पन्न और हृदयमें स्थित संशयको ज्ञान-रूपी तलवारसे नष्ट करके तू योग — कर्म-योगको धारण कर और उठ।

अध्याय ५

[८४]

शुक्रवार, १८ जून, १९२६

अर्जुन पूछता है: ज्ञान-यज्ञ करूँ अथवा कर्म-यज्ञ?

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मेब्रूहि सुनिश्चितम्।। (५,१)

आपने एक बार कहा कि कर्म-मात्रका त्याग कर देना चाहिए। फिर आपने बताया कि योगका अर्थ है कर्मयोगकी साधना। तब इन दोनोंमें से श्रेयस्कर कौनसा है। मुझे निश्चित रूपसे इनमें से एक बताइए।

अर्जुनको निमित्त बनाकर व्यासजी यह प्रकट कर रहे हैं कि 'महाभारत' लिखा तो गया है, किन्तु यह कर्म यज्ञार्थ किया गया है, और जो इसे पढ़ेंगे वे भी इसे श्रेयकी दृष्टिसे पढ़ेंगे अर्थात् वह भी यज्ञार्थ होगा।

[८५]

शनिवार, १९ जून, १९२६

आदमी खाता हुआ भी नहीं खाता, ऐसा कब कह सकते हैं? क्या हम कह सकते हैं कि यदि कोई बेखबरीसे खाते-खाते नाकमें कौर लगा दे तो वह खाता हुआ भी नहीं खा रहा है? जो खाते हुए खेल अथवा किसी अन्य बातका विचार कर रहा है, उसके विषयमें इतना ही कहा जा सकता है कि वह असावधान है। यह नहीं कहा जा सकता कि खानेके प्रति वह उदासीन है। सुव्यवस्थित रीतिसे खानेकी क्रिया कर रहे किसी व्यक्तिके विषयमें भी कहा जा सकता है कि वह नहीं खा रहा है। किन्तु यह कब? जब उसका खाना यज्ञार्थ हो, जब उसका खाना कृष्णार्पण हो, जब वह इसी निश्चयके साथ खा रहा हो कि जो-कुछ खा रहा हूँ, तेरी आज्ञासे खा रहा हूँ अथवा इतना समझकर खा रहा है कि खानेवाला मैं नहीं हूँ, शरीर है। आत्मा न खाती है, न पीती है, न सोती है — अर्थात् खानेकी यह क्रिया जब परोपकारके लिए हो रही हो, लूले-लंगड़े और दुखियोंकी सेवाके लिए हो रही हो। ऐसी सेवा भगवानकी सेवा है क्योंकि लूलों-लंगड़ों और दुखियोंके भीतर निवास करनेवाला भगवान स्वयं लूला-लंगड़ा और दुखी है। उस व्यक्तिका खाना-पीना अकर्म है। यह कर्म उसे बन्धनकारी नहीं होता। वैराग्य लेनेकी इच्छा करें तो भी सेवा तो करते ही रहना है। अलबत्ता केवल निस्पृह भावसे। यह सोचकर किसी व्यक्तिकी सेवा नहीं की जानी चाहिए कि हम उसकी सेवा करेंगे तो किसी दिन हमारी भी सेवा की जायेगी। बल्कि इसलिए की जानी चाहिए कि उसमें भगवानका निवास है और इस तरह हमारे द्वारा भगवानकी सेवा होगी। यदि कोई आतुर होकर चिल्ला रहा हो तो हमें तत्काल उसकी सहायताके लिए दौड़ जाना चाहिए। चीखते हुए भगवानकी सेवाके लिए दौड़ना चाहिए और सेवा करनेके बाद ऐसा सोचना चाहिए कि यह तो स्वप्न है। भगवान भी कहीं चीखता है! इस तरह सारी सेवा स्वप्नवत् बन जाती है। जो व्यक्ति भगवानको भोग लगाते हैं, क्या वे उन व्यंजनोंको कृष्णार्पण कर देते हैं? नहीं; वे तो स्वयं उसे खा जाते हैं और उसमें यज्ञार्थ खानेका भाव भी नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति ऐसे व्यंजनोंका उत्तम भाग दूसरोंको दे और स्वयं बचा-खुचा सामान्य अंश खाले, तो कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति 'यज्ञ-शिष्टामृतभुज' है।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।। (५,२)

संन्यास और कर्मयोग दोनों ही श्रेयस्कर हैं, किन्तु दोनोंमें कर्म-संन्याससे कर्मयोग विशिष्ट है।

[८६]

गुरुवार, २० जून, १९२६

'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' कहकर श्रीकृष्णने यह कह दिया है कि धर्मके यत्किंचित् पालनके प्रारम्भका भी नाश नही होता। व्यक्ति कर्मसे विलग रह ही नही सकता, इसलिए उसके लिए कर्मयोगकी साधना आसान है। किन्तु कर्म-संन्यास करना एक कठिन काम है, क्योकि इसमें ज्ञानकी आवश्यकता होती है; जब कि पहली बात तो सामान्य व्यक्ति भी कर सकता है। हिमालयकी गुफाको ढूँढकर उसमें एकदम निष्चेष्ट होकर बैठ रहना भी एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। मन विचलित न होने पाये ऐसी स्थिरता प्राप्त करना एक बड़ा ही विकट काम है। इसलिए भगवान कहते हैं कि सबसे अच्छी बात कर्मयोग है; क्योंकि पहली बात बहुत मुश्किल है और उसमें दम्भके बढ़ जानेका भी भय है। कर्मयोगीके विषयमें ऐसा कोई भय नही है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। (५,३)

कर्मयोगीको संन्यासीकी अपेक्षा विशेष क्यों मानें? कर्मयोगीको नित्य संन्यासी समझना चाहिए। वह कैसा होता है? जो द्वेष नही करता, इच्छा नही करता वह कर्त्तव्यमें ही परायण रहता है और निर्द्वन्द्व रहता है तथा सरलताके साथ कर्मोसे मुक्त हो जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।। (५,४)

सांख्य अर्थात् संन्यास और योग अर्थात् कर्मयोग। नासमझ व्यक्ति इन दोनोको अलग-अलग मानते हैं। किन्तु पण्डितगण ऐसा नही मानते। सचमुचमें ये दोनों एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। यदि एकको भी पूरी तरहसे प्राप्त कर लिया जाये तो दोनोंका फल प्राप्त हो जाता है। स्थिर वस्तु और अनन्त गतिशील वस्तु ये दोनो, ऐसा जान पड़ता है, मानो एक ही स्थितिमें हों। दृष्टान्त रूपमें पृथ्वीको ले लो। स्थिरता और गति, यह एक द्वन्द्व है। किन्तु जो निर्द्वन्द्व है, उसे इन दोनोंका फल प्राप्त हो जाता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।। (५,५)

जो वस्तु, जो गति सांख्य अर्थात् कर्म-संन्यासके द्वारा प्राप्त की जा सकती है, कर्मयोगीको भी वही मिलती है। जो व्यक्ति इन दोनों वस्तुओंको एक मान सकता है, वही व्यक्ति सच्चा ज्ञानी है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हम इन दोनोंके रहस्यको समझ जायें तो इनमें कोई भी भेद नही है। इसलिए यज्ञार्थ किया गया, परमार्थके लिए किया गया और निरहंकार भावसे किया गया कर्म इन दोनों वर्गोमें आ जाता है।

[८७]

मंगलवार, २२ जून, १९२६

कर्मका अर्थ है, जो प्राप्त हो जाये वह कर्म। हम जिसकी इच्छा करें वह कर्म नहीं। ध्यान रखना चाहिए कि संकल्प-पूर्वक 'प्राणिनाम् आर्तिनाशनं' के[1] प्रयत्नमें लीन होना भी उचित नहीं है। जब व्यक्तिका अहंकार नष्ट हो गया और वह पिघलकर ईश्वरमें मिल गया, तब उसे इच्छा करनेकी भी आवश्यकता नहीं रही। वह तो उतना ही कर्म करेगा, जो उसके सामने प्रस्तुत हो जायेगा। यदि उसने कोई इच्छा न की हो, तो शुद्धसे-शुद्ध कर्म ही उसके सामने प्रस्तुत होंगे और उसकी वृत्ति ऐसी रहेगी कि वह जो-कुछ कर रहा है, सो ईश्वरके द्वारा किया जा रहा है। हरिश्चन्द्र अपनी पत्नीके गलेपर तलवार चलानेके लिए तैयार हो जाता है। जिसने तलवार उठाई है, क्या वह हरिश्चन्द्र है? वह तो ईश्वर है और हरिश्चन्द्र केवल आज्ञाका पालन कर रहा है। वह बेचारा तो दास बन चुका था। ईश्वरका दास बन जानेके बाद हमारे लिए यह सोच-विचार करनेकी कोई बात नहीं बचती कि अमुक काम करें अथवा न करें। जो काम हमारे ऊपर आ पड़े, उसे करें और उसका बोझ स्वयं ईश्वरपर छोड़ दें।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति।। (५,६)

जिसने सब-कुछ कृष्णार्पण नहीं कर दिया है, उसके लिए संन्यास साधना एक बहुत कठिन बात है। संन्यास कर्मयोगके बिना सिद्ध ही नहीं हो सकता। इसलिए वास्तवमें कर्मयोग ही संन्यास है। जो व्यक्ति राग-द्वेष इत्यादिसे रहित हो गया, जिसका अहंभाव निःशेष हो गया, वह संन्यासी बन गया।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। (५,७)

योगयुक्त व्यक्तिको ब्रह्म-प्राप्तिमें देर नहीं लगती। जिसने कर्मयोग साध लिया है वह योगयुक्त है। जो मनुष्य पवित्र हो गया है, जिसके मलमात्र जल गये हैं, जली हुई रस्सीकी तरह [शक्तिहीन] हो गये हैं, वह सभी कर्म यन्त्रवत् करने लगता है। यन्त्रवत्का यह अर्थ नहीं है कि उसका उस विषयमें अवधान नहीं रहा बल्कि अर्थ यह है कि उस कार्यके प्रति उसके मनमें अहंभाव नहीं बचा। जिस तरह यन्त्रसे सीधा धागा निकलता है, उसी तरह कामका धागा भी उसके हाथसे सीधा निकलेगा। मूढ़ मानस भी यन्त्रवत् काम करता है। ईश्वरका दास भी उसी तरह काम करता है। किन्तु यह उसे स्वार्थ अथवा आजीविकाके विचारसे नहीं करता, इसलिए वह शोभायुक्त होता है। साधारण मजदूरीमें शोभा नहीं है। उसका कारण यह है कि वह अपनी रोटी कमानेके लिए ही की जा रही है। ईश्वरके दासके कामकी देखरेखके लिए

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है:—नत्वहं कामये राज्यम् न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःख-तप्तानाम् प्राणिनाम् आर्तिनाशनम्॥

किसी चौकीदारकी जरूरत नहीं पड़ती। वह [काममें डूबा हुआ] बाहरसे तो जड़-जैसा दिखाई देगा, किन्तु भीतरसे ब्रह्ममय है। यन्त्रके सारे गुण होते हुए भी यन्त्रका एक भी दोष उसमें नहीं होगा। इसके अतिरिक्त जिस व्यक्तिने आत्माको जीत लिया है — अपने हृदयस्थ असुरोंको जिसने जीत लिया है — इन्द्रियोंको जीत लिया है और जो भूत-मात्रको अपनेमें और अपनेको भूत-मात्रमे देखता है, उस मनुष्यके लेखे अपने और दूसरेमें भेद नहीं बचता। वह तो सबका दास होकर रहेगा। सबको मिल जानेके बाद जो बचेगा, उसे ही ग्रहण करेगा। ऐसा व्यक्ति 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' कर्म करता हुआ भी उनमें बँधता नहीं है।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ (५,८-९)

ये दोनों श्लोक ऊपरके श्लोकका विस्तार हैं। तत्त्ववित् यह मानकर कि मैं कुछ भी नहीं करता, अपना काम करता रहता है। देखते हुए, सुनते हुए, सूँघते हुए, छूते हुए, खाते हुए, जाते हुए, सोते हुए, श्वास लेते हुए, बोलते हुए, छोड़ते हुए, ग्रहण करते हुए, पलकोंको उठाते और गिराते हुए भी यही कहेगा कि इन्द्रियाँ इन्द्रियोमें वर्तन कर रही हैं, अमुक काम करते हुए भी मैं उसे नहीं कर रहा हूँ। योगी ऐसी बात कह सकता है; धूर्त भी ऐसा पाखण्ड कर सकता है; भगवद्भक्त भी ऐसा कह सकता है। जिसने अपने अन्तरमें भगवानको ही स्थापित कर रखा हो, उसके लिए कोई भी काम स्वार्थ-दृष्टिसे करना शेष नहीं बचता। यह व्यक्ति सोता हुआ कहेगा कि मेरा शरीर सो रहा है। शरीरका कोई भी काम अपने-आपमें खराब नहीं है। हम उसे खराब कर लेते हैं। यदि शरीर अपना काम करता रहे, तो उससे सुगन्ध ही आयेगी। इसलिए हम गणितके ढंगसे कह सकते हैं कि जिस हदतक ममता है, उस हदतक काम खराब है, जिस हदतक ममताका त्याग हो चुका है, उस हदतक काम अच्छा है।

[८८]

बुधवार, २३ जून, १९२६

ऊपरके श्लोकोंका पाठ-भर करते रहनेसे हम योगी नहीं बन जाते। 'मैं' बचे ही नहीं, ऐसी परिस्थिति हो जानी चाहिए। इस श्लोकका उपयोग वही व्यक्ति कर सकता है, जिसका मन विभिन्न कामोंमें ओतप्रोत रहता है, जिसने अपनी सारी प्रवृत्तियोंको कृष्णार्पण कर दिया है, और जो उनसे स्वयं कोई भी लाभ नहीं उठाना चाहता। वह जो सुनता है सो हरि-कीर्त्तन है; जो देखता है सो हरिदर्शन है। उसे किसी चीजसे पीड़ा भी नहीं होती। जब-जब कोई कष्ट आकर पड़ता है तब-तब वह कहता है कि ना, यह कष्ट मुझे नहीं है। यदि मैं इस दुःखमें से 'मैं' को निकाल डालूँ और उसे राममें लीन कर दूँ तो फिर यह पता ही नहीं चलेगा कि मुझे बिच्छूने काटा है

अथवा नहीं। यह जो 'दंशित हुआ है सो शरीर ही है और जो लाल दाग है वह भी शरीरपर ही है।' वह अपने सारे काम यन्त्रवत् करेगा, फिर भी उसका प्रत्येक काम दीप्त होगा। वह सुन्दरसे सुन्दरतर होता चला जायेगा। वह कभी किसी कामसे न थकेगा, न परेशान होगा, न घबरायेगा।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। (५,१०)

ऊपरके श्लोकोंका कोई गलत अर्थ न निकाल डाले, इसलिए कहा: ब्रह्ममें अपने सारे कर्मोको अर्पित करके — आसक्ति छोड़कर — जो व्यक्ति अपने सारे काम करता है, वह कभी पापमें लिप्त नहीं होता। पाप उसपर उसी प्रकार कोई भी प्रभाव नहीं छोड़ता जिस प्रकार कमलका पत्ता पानीसे अलिप्त रहता है। 'पाप' का अर्थ व्यापक है और इसके अन्तर्गत पाप और पुण्य दोनों ही आ जाते हैं। ऐसे व्यक्तिको पाप-पुण्यका फल नहीं भोगना पड़ता। यद्यपि ऐसा व्यक्ति काम करता रहता है, फिर भी कर्म उसे स्पर्श नहीं करता। अन्य पत्ते पानीसे भीग जाते हैं और सड़ जाते हैं, किन्तु कमलपत्रपर पानी ठहर ही नहीं पाता।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।। (५,११)

योगी-जन कर्म करते हैं, किन्तु वे करते हैं उसे केवल कायासे, मनसे, बुद्धिसे — केवल इन्द्रियोंसे ही। और ऐसा करता हुआ वह मानता है कि मैं यह कर्म नहीं कर रहा हूँ क्योंकि वह सारे काम निःसंग होकर आत्मशुद्धिके लिए ही करता है। आत्मशुद्धिके लिए कर्म करनेका अर्थ है 'कर्मको ब्रह्मार्पण कर देना।'

१९२१ में हमने प्रारम्भमें जो-कुछ किया, आत्मशुद्धिके लिए किया, किन्तु बादमें हम इसे भूल गये और इसलिए विघ्न उपस्थित हो गया।

जो व्यक्ति आत्मशुद्धिके लिए काम करता है, वह अपने यन्त्रको तटस्थ भावसे चलाता रहता है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।। (५,१२)

योगी कर्मफलका त्याग करके 'नैष्ठिक मोक्ष' देनेवाली शान्ति प्राप्त करता है, ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तिको प्राप्त होनेवाली शान्ति। पत्थर अथवा जड़ व्यक्ति अथवा कामी पुरुष अपने विषयमें लीन होकर जो क्षण-भरकी शान्ति भोगता है, वह शान्ति नही है बल्कि शान्ति तो ब्रह्मनिष्ठकी है — वही आत्मानन्द है। अयुक्त व्यक्ति कामपाशमें जकड़ा हुआ होता है। जो व्यक्ति मुग्ध होकर काम करता रहता है, वह भी आसक्त है। इसीलिए वह फलसे बँधा हुआ है — आशापाश और विषयपाशसे बँधा हुआ है। यदि हम किसी सर्पको चिढ़ा दें, तो वह हमें अपनी कुण्डलीमें कसकर पीस डाल सकता है, हमारे शरीरको चूर-चूर कर दे सकता है। किन्तु मीराबाईको तो वह ऐसा

लगा मानो शालिग्राम सामने नाच रहे हों। उक्त सर्प बहुत तो उसके शरीरपर ही असर कर सकता था किन्तु विषय-सर्प तो कामीकी आत्माका नाश कर डालता है।

[८९]

गुरुवार, २४ जून, १९२६

'गीताजी'के शब्द केवल इसीलिए नहीं हैं कि हम उनका भाव और अर्थ समझ लें। वे तो तदनुसार आचरण किये जानेके लिए हैं। मेरी समझमें तो 'गीता'के निरन्तर पाठने मेरे समस्त जीवनको प्रार्थनामय बना दिया है। हम जिस विचारका पालन नही कर सकते, हमें उसकी बात छोड़ देनी चाहिए। यह बुद्धि और शक्तिका अपव्यय है कि हम जिस बातका पालन नहीं कर सकते उसको झूठ-मूठ पढते चले जायें। मुझे विनोबाकी एक शिकायतको ध्यानमें रखकर यह कहना पड़ रहा है। विद्यार्थी-गण जल्दी सोते नहीं हैं और इसलिए जल्दी उठ नहीं पाते तथा उनके स्वास्थ्यकी हानि होती है। विद्यार्थियोंको भी शिकायत है कि शिक्षकगण जल्दी सोनेके बजाय बारह बजेतक बातचीत करते रहते हैं। 'गीता'के पाठका आचरण करें तो ऐसा नहीं होना चाहिए। हमें 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' अथवा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' होना चाहिए। हमें अपने पड़ोसीकी दृष्टिसे बातचीत बन्द कर देनी चाहिए और करें भी तो इतने धीरे-धीरे मानो चोर बोल रहा हो। मुझे भी जल्दी ही सो जाना चाहिए। 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' का क्या अर्थ है? जो मनुष्य जागना नहीं चाहता, ईश्वर उसे नही जगाता। इसका यह अर्थ हुआ कि समाजके निर्बलसे-निर्बल अंगके साथ अनुकूलता साधनी चाहिए अथवा निर्बल अंगोंको काटकर फेंक देना चाहिए — उनका नाश कर देना चाहिए — उन्हें जला देना चाहिए या उन्हें गड़ा देना चाहिए। यदि हम ऐसा न करें तो आगे बढ़नेका प्रयत्न ही नही करना चाहिए।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ (५,१३)

वशी अर्थात् जिसने अपने मनादिको वशमें कर लिया है, वह सारे कर्मोंका मनःपूर्वक संन्यास करके निश्चिन्त हो जाता है। मनःपूर्वक सब कर्मोंका संन्यास करनेका अर्थ हुआ मनको तटस्थ बना लेना, मनको विलग कर लेना। ऐसी वृत्तिसे काम करना कि अमुक काम मैं नहीं करता, ईश्वर मुझसे करा रहा है। जब हम सांस लेते हैं तो ऐसा थोड़े ही सोचते हैं कि मैं श्वास ले रहा हूँ। हमने यह बात मनसे निकाल दी है। मनोयोगके साथ तो इसे तब करना पड़ेगा, जब श्वास चलनेमें बाधा हो रही हो। नहीं तो श्वास यन्त्रवत् चलता रहेगा। नवद्वारवाले इस शरीरमें आत्मा बिना कुछ करता-कराता हुआ शान्तभावसे बैठा रहता है। वह काम करते-कराते भी कुछ नहीं करता। किन्तु यह तभी सम्भव है जब मनसे कर्मका संन्यास किया जा चुका हो।

[९०]

शुक्रवार, २५ जून, १९२६

हमारी आँखोंके सामने नाटक तो होता ही रहता है। उसमें रस लिये बिना, मन लगाये बिना यदि हम अपने काममें प्रवृत्त रहें, तो कर्म-संन्यासी कहलायेंगे। एक कैदीको दूसरे कैदीपर चाबुक लगाये जाते समय यह दृश्य देखनेके लिए बैठा दिया गया है। बैठा हुआ कैदी उसमें मन लगाये बिना केवल बैठा है। उसकी आँख इस दृश्यको देख रही है किन्तु उसका मन उसमें लिप्त नही है। जो सहज रूपसे सामने आ गया, उसे आँखसे देख लिया किन्तु उसे देखते रहनेके लिए एक क्षण-भर भी रुके बिना मैं आगे बढ़ जाता हूँ।

पुत्र, भाई इत्यादि सम्बन्धोंकी रचना करके हम ऐसा मानते हैं कि इन सम्बन्धोंको निभाना आवश्यक है और उसी प्रकार हम आचरण करते हैं। ये सारे आचरण मनःपूर्वक होते हैं; मनका संन्यास इनमें नहीं होता।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।। (५,१४)

प्रभु अर्थात् आत्मा कर्म, कर्तृत्व और कर्मफलमें से किसीका सृजनहार नहीं है। सब-कुछ केवल स्वभावसे ही होता रहता है।

प्रभु कहते हैं कि आखिर सब-कुछ रचा तो मैंने है। इसका यह अर्थ हुआ कि जब तुम देखते हो तो मैं देखता हूँ और जब तुम नहीं देखते तब मैं भी नही देखता। यही स्वभाव है। इस बातके आगे भाषा रंक हो जाती है।

इस तरह विभिन्न दृष्टियोंसे यह कहा जा सकता है कि ईश्वर कर्त्ता है भी और नहीं भी है।

यदि तुम अपनी इन्द्रियोंमें रस लेना बन्द कर दो तो तुम्हारी इन्द्रियाँ कभी क्लान्त न हों, तुम्हें कभी क्लान्ति न व्यापे। थोड़ी बहुत क्लान्तिका अनुभव तो अवश्य होगा, क्योंकि अहंभाव एकदम निःशेष नहीं हो जाता। जबतक शरीर है, तबतक ममत्वका सर्वथा नाश सम्भव नहीं है। आत्मदर्शन शब्द छोड़ दें। आत्मशुद्धि शब्दको पकड़ रखें। हमने कल इस बातकी चर्चा की थी। आत्मशुद्धि देहके माध्यमसे करनी है। जिस हदतक देहसे आत्मशुद्धि करवानी है उसी हदतक आत्माके माध्यमसे करवानी है। यों तो वास्तवमें आत्मा न कुछ करता है, न करवाता है।

[९१]

शनिवार, २६ जून, १९२६

जब ईश्वर-रूपी चित्रकारने इस आँखको बनाया तब उद्देश्य यह था कि उसमें से आत्मा झलकती रहे। उसने यह थोड़े सोचा था कि आँख विषयोंका दर्शन करेगी। आँखका काम तो शरीरकी रक्षाका ध्यान रखकर ईश्वरका दर्शन करना है। हनुमानजीकी मूर्तिको देखकर किस बातका ध्यान आता है? ब्रह्मचर्य, भक्ति और

सेवाका। और इसके बाद बलकी याद आती है; क्योंकि वे तो रामचन्द्रजीके सेवक थे और सेवकको तो सदा रामचन्द्र जैसा चाहिए वैसा बल देते रहते हैं। इसी तरह हमें आँखको देखते ही आत्माका ध्यान आना चाहिये, आत्माका दर्शन होना चाहिए।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ (५,१५)

परमेश्वर किसी भी व्यक्तिके पाप अथवा पुण्यकी जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं लेता। अज्ञानने ज्ञानको ढँक रखा है, इसीलिए प्राणी मोहमें पड़ जाते हैं।

मनुष्यका स्वभाव केवल सेवा करना, आत्मशुद्धि करना है। इसीलिए अहंभावको छोड़ते जाना चाहिए। इसीलिए कहा गया है कि ईश्वर किसीके पापोंकी जिम्मेदारी नहीं लेता।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ (५,१६)

ज्ञानको ढँककर रखनेवाला अज्ञान जब ज्ञानके माध्यमसे नष्ट हो जाता है तब व्यक्तिको परमात्माका प्रकाश दिखाई पड़ जाता है। ईश्वर इस सबका साक्षी रहता है। हम ईश्वरके अधीन रहकर आचरण करते हैं, उसीके चलाये चलते हैं — इसे जान लेना ज्ञान है। इस ज्ञानका अनुभव तो तभी हो सकता है जब हृदयकी सारी गाँठें खुल जायें और भीतर आत्माका ही प्रकाश होता रहे।

[९२]

रविवार, २७ जून, १९२६

मनके अँधेरेमें सूर्यके उदय होनेपर ही व्यक्ति परमेश्वरकी शरणमें जाता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ (५,१७)

जिसकी बुद्धि उसमें स्थिर हो गई है, जो तद्रूप हो गया है — जिसकी निष्ठा उसीपर आधारित है और जो तल्लीन हो गया है — जिसका सब-कुछ ईश्वरार्पित हो गया है और जो सब-कुछ उसीपर छोड़कर निश्चिन्त हो जाता है, ऐसा व्यक्ति मुक्ति प्राप्त करता है। ऐसे व्यक्तियोंका पाप ज्ञानसे धुल गया है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (५,१८)

पण्डित, ज्ञानवान व्यक्ति समदर्शी होते हैं। विद्या और विनयसे भरपूर ऐसे व्यक्तिकी दृष्टि ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता अथवा चाण्डाल — सभीके विषयमें समान होती है। इन सभीके विषयमें वह जानता है कि इन सबके भीतर स्थित आत्मा मुझमें स्थित आत्मा ही तो है। अन्तर केवल इतना ही है कि किसीकी आत्मापर अज्ञानके थर पड़े हुए हैं और किसीकी आत्माके ऊपरसे वे उतर गये हैं। इसके पहले

भी कहा गया है कि जो व्यक्ति दूसरोंमें अपनेको देखता है, वह योगी है। इसका भी यही अर्थ है। गंगाका पानी अलग-अलग घटोंमें होकर भी गंगाजल ही होगा।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।। (५,१९)

जो व्यक्ति समभाव रखता है, जो निर्दोष है, जो परमात्मामें स्थित है और जो एकाग्रचित्त होकर रहता है उस व्यक्तिने यहीं, इसी जन्ममें संसारको जीत लिया है।

व्यक्तिको समदर्शी हम कब कह सकते हैं? जो चींटी और हाथीको समान देखता है, उसे, या उसे जो सबको उनकी आवश्यकताके अनुसार देता है? मां बीमार बालकको कुछ भी नहीं देती और स्वस्थ बच्चेको भरपेट खिलाती है। जिस व्यक्तिके मनमें अहिंसा है, दया है, वह जगत्‌में ऐसा आचरण करेगा कि जगत् उसके विषयमें यही कहे कि यह व्यक्ति सबके प्रति ऐसा बरताव करता है मानो वे व्यक्ति उससे भिन्न नहीं हैं। वह सबके प्रति न्याय करता है। जिसे पानी चाहिए उसे पानी देता है और जिसे दूध चाहिए, उसे दूध।

परमात्मा जैसा निर्दोष और समभावी अन्य कोई नहीं है, इसलिए हम उसमें लीन होकर ही समदर्शी हो सकते हैं।

[९३]

मंगलवार, २९ जून, १९२६

समदर्शीका उदाहरण देते हुए हमने हाथी और चींटीकी बात की। शत्रु और मित्रकी बात भी कर सकते हैं। यदि दोनों भूखे हमारे पास आयें, तो हमें पहले शत्रुको भोजन देना चाहिए। इसीको वह न्याय मानेगा। नहीं तो वह सोच सकता है कि मनमें कहीं कोई द्वेष बच गया है। इसलिए समदर्शी पहले तो शत्रुको ही सन्तोष देगा। मित्र भी उसके इस आचरणको योग्य आचरण मानेगा।

पण्डितका अर्थ केवल पढ़ा हुआ ही नहीं है, गुना हुआ भी है। यदि कोई उससे कहे कि शत्रुको खिलाना तो दूध पिलाकर साँप पालने जैसा है तो वह अपने इस कामका समर्थन 'गीताजी'के इस श्लोकके द्वारा करता हुआ कहेगा कि मैं ठहरा श्रद्धालु, मेरे पिता 'गीता'के भक्त थे, मैं भी 'गीता'का भक्त हूँ। 'गीता'की आज्ञा-पालन करते हुए हमें कभी हानि नहीं हुई, तब फिर मैं ऐसा आचरण क्यों न करूँ?

स्वदेशीका एक नियम यह है कि हम पहले उसकी सेवा करें जो हमारे समीप है। इससे विपरीत भी एक नियम है, जिसमें समीपके व्यक्तिकी अपेक्षा पहले दूरवर्ती मनुष्यकी सेवा की जाती है। यहाँ समीपका अर्थ है देहके समीप और दूरका अर्थ है मनसे दूर। ये दोनों बातें एक रीतिसे समान ही हैं। शत्रु देहसे समीप होकर भी मनसे तो दूर ही रहता है। फिर भी पहले उसीकी सेवा की जानी चाहिए।

स्वदेशीमें समीपस्थकी सेवाका नियम इसीलिए है कि हम संसारके सभी मनुष्योंके पास नहीं पहुँच सकते। यदि समीपस्थ व्यक्तिकी सेवा करनेके बदले हम दूरस्थ व्यक्तियोंकी सेवा करने जायें तो वह हमारा अभिमान ही होगा।

जो मनसे दूर है, पहले उसकी सेवा करनेमें विनयशीलता है, सभ्यता है, समझदारी है।

'इहैव तैर्जितः सर्गो' वाले श्लोकमें निहित नियमके अनुसार आचरण करनेवाला व्यक्ति वह व्यक्ति है जिसने संसारको जीत लिया है। वह शत्रु और मित्रको समान गिनता है। शत्रुको वह हाथीकी तरह अधिक और मित्रको चींटीकी तरह कम देनेमें आगा-पीछा नही करेगा। हमें जिसमें ओतप्रोत होना है, पहले हमें उस जैसा बनना चाहिए। ब्रह्ममें लीन होनेकी इच्छा है, इसीलिए हमें ब्रह्मकी तरह समदर्शी होना ही चाहिए।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।। (५,२०)

प्रियको प्राप्त करके प्रसन्न न हों और अप्रियके मिल जानेपर उत्तेजित न हो। जो बुद्धि और मोहके वशमें नही होता वह ब्रह्ममें स्थित होता है।

[९४]

बुधवार, ३० जून, १९२६

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। (५,२१)

जो व्यक्ति ब्रह्मयोगको प्राप्त करके मुक्त हो गया है—जो अपनी बाह्येन्द्रियोंके विषयोंके प्रति आसक्तिरहित है, ऐसा व्यक्ति अपनी आत्मामें सच्चे सुखको प्राप्त करता है। संगरहित होनेपर ही शान्त रहा जा सकता है। इन्द्रियोंके विषयोंके स्पर्शको समाप्त करना अशक्य है; इसलिए कहा गया कि संगरहित रहना है। यदि हमारा ध्यान रामके चरणोंमें लगा हुआ है तो होनेवाले बाह्य स्पर्शका हमपर कोई असर नही होता। ब्रह्मयोगमें युक्त व्यक्तिका अर्थ है वह आत्मा जिसने ब्रह्मसमाधि प्राप्त कर ली है, जो ब्रह्ममें स्थित हो चुका है; वह तो अक्षय सुखको प्राप्त हो जाता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। (५,२२)

बाह्य स्पर्शोंसे उत्पन्न होनेवाले भोग दुःख उत्पन्न करनेवाले होते हैं। वे आदि और अन्तयुक्त हैं अर्थात् आते-जाते रहते हैं। बुद्धिमान मनुष्य उनमें सुख नही मानता।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। (५,२३)

शरीरका नाश होनेके पहले ही इस संसारमें रहते हुए जो व्यक्ति काम और क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन कर पाता है, वह योगी है और सुखी है।

दूसरे अध्यायमें जो-कुछ कहा जा चुका है, यहाँ उसीकी पुनरावृत्ति है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। (५,२४)

जो योगी अपने अन्तरमें ही सुख और शान्तिकी प्राप्ति करता है, जिसे बाह्य सुखकी आवश्यकता ही नहीं बचती, जो अपने अन्तरमें ही रममाण है, जिसे अन्तरसे प्रकाश मिल रहा है वह योगी ब्रह्ममय हो चुका है और उसे ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त हो जाता है।

हम 'भगवद्गीता'का पाठ इसलिए करते हैं कि हमारे हृदयमें जो गीत सुप्त है वह प्रकट हो जाये। निर्वाण दो प्रकारके हैं, एक शरीरपात जिसके बाद बार-बार जन्म लेना शेष रहता है। दूसरा वह निर्वाण जो ब्रह्मनिर्वाण है। इसमें शून्यता है। किन्तु यह शून्यता जगतके प्रति है, अन्तरके प्रति ज्ञानमय आनन्द है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। (५,२५)

निर्दोष और निर्मल ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करते हैं। कैसे ऋषि? जिनकी शंकाएँ निःशेष हो गई हैं — जिनकी आत्मा कैदीकी तरह उनके हाथमें है और जो प्राणि-मात्रके हितमें डूबे हुए हैं, ऐसे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं।

इनके द्वारा किसी भी व्यक्तिके प्रति द्वेष तो आचरित हो ही नहीं सकता। ये दुष्टसे-दुष्टके हितके लिए भी तत्पर रहते हैं। ये सारे जगत्की सेवा करते हैं। उसी व्यक्तिमें सेवाभाव साकार होता है, जिसके हृदयमें राम हों। जो व्यक्ति दूसरोंके हितके कामोंमें लगा हुआ है, वह दूसरोंका वास्तविक दुःख सहन ही नहीं कर सकता। हमने ऐसे पिता देखे हैं कि बेटेको हैजा हो गया तो पिताको भी हो गया। किन्तु वे अपने पुत्रमें आसक्त हैं। वे लड़केके आचरणको पसन्द न करते हों तो भी यदि उसे दुःख होता है तो वे उसे सहन नहीं कर सकते। सेवाभावी दूसरोंके दुःखको देखकर आँखोंसे सावन-भादों बरसाता है और [शान्तचित्त रहकर] उसके दुःखको दूर करनेका प्रतिक्षण प्रयत्न करता है।

[९५]

गुरुवार, १ जुलाई, १९२६

'सर्वभूतहिते रताः' के दृष्टान्तमें युधिष्ठिर और उनके कुत्तेका स्मरण किया जा सकता है। किसी एक स्वजनका कष्ट दूर करनेका ही नहीं, बल्कि जिस कारणसे सारा जगत् कष्टमें पड़ा हुआ है उस कारणको खोजकर उसे दूर करनेका प्रयत्न किया जाना चाहिए। संसारका-संसार मूर्च्छामें पड़ा हुआ है।

क्या हमें आत्माकी भी कुछ खबर है। थोड़ी-थोड़ी, कच्ची-पक्की। किन्तु कच्ची रोटी ही तो बादमें पक्की होती है।

हमारे रोगका कारण हमारा पेट नहीं है बल्कि हमारी जीभ है और उसका भी कारण है हमारा मन।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।। (५,२६)

जो व्यक्ति काम और क्रोधसे छुटकारा पा गये हैं, जिनके चित्त स्थिर हो गये हैं, जो योगी साधनामें तत्पर है, जिन्होंने आत्माको पहचान लिया है, ब्रह्मनिर्वाण ऐसे व्यक्तियोंको घेरकर खड़ा रहता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।। (५,२७-२८)

इन्द्रियके बाह्य विषयोंका वहिष्कार करके आँखको भौंहोके बीचमें स्थिर करके, नासिकाके भीतर रहनेवाले प्राण और अपान वायुको सम बनाकर प्राणायामके द्वारा श्वासका नियमन करके जिस व्यक्तिने मन और बुद्धिको वंशमें कर लिया है, जो मुनि मोक्षपरायण हो गया है, जिसने इच्छा, भय और क्रोधको छोड़ दिया है, वह सदा मुक्त है। बाहरकी क्रिया, अन्तरकी क्रियाका प्रतीक है। श्वास सम हो जाये, आँख भृकुटिके बीचमें स्थिर हो जाये फिर भी यह पर्याप्त नहीं है। इसे अन्तरकी अवस्था-का चिह्न होना चाहिए। यहाँ एक श्लोक दूसरे श्लोकसे जोड़ा गया है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। (५,२९)

जो मुझे यज्ञ और तपश्चर्याका भोक्ता — समस्त संसारका महा ईश्वर — प्राणि-मात्रका निःस्वार्थ मित्र जानता है, वह परमशान्ति प्राप्त करता है।

यदि ईश्वर प्राणि-मात्रका मित्र है तो फिर उससे डरनेका क्या कारण।

यदि ईश्वर हमारी समस्त सेवाओं और कर्मोंका भोक्ता है तो फिर सेवा और कर्म कभी निष्फल जायेंगे ही नहीं। यदि हमने वह सब उसके चरणोंमें डालकर किया और इसमें हमारी निःस्वार्थ बुद्धि हुई, तभी सूक्ष्म रूपसे यह विश्वास भी दृढ़ हुआ कि इसमें से निष्फल तो कुछ भी नहीं जाना है।

अध्याय ६

[९६]

शुक्रवार, २ जुलाई, १९२६

पिछले अध्यायमें यह प्रश्न उठाया गया है कि संन्यास और कर्मयोगमें से अधिक श्रेयस्कर क्या है। श्रीकृष्णने इसका उत्तर दिया है। किन्तु यह कोई ऐसी पहेली नहीं है जो सहज ही हल हो जाये। ईश्वरके सगुण और निर्गुण दोनों रूप सत्य हैं। इसी प्रकार जो शान्तिमें स्थित है और जो केवल काम ही काम करता रहता है, वे दोनों भी सत्य हैं। संन्यासी सेवाकर्म करके ही निर्लिप्त बनता है और कर्ता परम-शान्तिका अनुभव कर्ममें लीन होकर ही कर सकता है। यदि किसी व्यक्तिको ऐसा

लगे कि मुझे कुछ भी नहीं करना है — मैं तो ईश्वरके पास पहुँच गया हूँ तो ऐसा आदमी कर्म-संन्यास कर सकता है। जिसके पास राज-दरबारमें जानेका परवाना है, उसे क्या चिन्ता? जहाँ प्रजा ही यह बात समझ जाये कि राजाकी अमुक इच्छा है और उस प्रकार काम करती चलती जाये तो राजाको क्या करना शेष बच रहता है। ऐसी अवस्थामें यदि वह शासन करने निकले तो यह अवश्य ही प्रजाके लिए आश्चर्यकी बात होगी। आज तो मुझे बीच-बीचमें कहना पड़ता है कि ऊँघो मत, ध्यान-से सुनो इत्यादि। किन्तु एक दिन ऐसा आयेगा जब मुझे कहना ही नहीं पड़ेगा, क्योंकि तुम सब व्यवस्थित रूपसे काम करनेवाले बन जाओगे। इसलिए फिलहाल मेरा 'ध्यान दो' आदि कहना ठीक है और भविष्यमें कुछ न कहना और चुपचाप होकर बैठ जाना भी ठीक होगा।

किन्तु अर्जुनके मुँहसे अभीतक ऐसे शब्द नहीं निकले हैं कि मैं सब समझ गया हूँ; इसलिए वही वस्तु भगवानको उससे छठवें अध्यायमें भी कहनी पड़ रही है:

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।। (६,१)

क्योंकि हम जानते हैं कि ईश्वर यज्ञ और तपका भोक्ता है इसलिए जो व्यक्ति कर्मके फलकी आशा किये बिना अपने सारे कर्मोंको ईश्वरके संरक्षणमें सौंप देता है और फिर भी कर्म करता रहता है, वह संन्यासी भी है और योगी भी। किन्तु जो व्यक्ति कभी भूलकर भी अग्नि प्रज्वलित नहीं करता (असलमें यज्ञ करनेकी दृष्टिसे अग्निको सतत प्रज्वलित रखना परोपकारकी ही क्रिया थी) या जो व्यक्ति अक्रिय हो गया है, वह न संन्यासी है और न योगी ही है। ऐसा व्यक्ति तो आलसियोंका सरदार है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।। (६,२)

जिसे महान् पुरुषोंने संन्यास कहा है, तू उसे ऐसा जान कि वही योग है। रणसे भाग जाना तेरे लिए संन्यास नही है बल्कि तेरे लिए तो रणमें जूझना ही संन्यास है। यज्ञका भोक्ता तो मैं हूँ। क्योंकि जिस व्यक्तिने संकल्पका त्याग नहीं किया है, वह मनुष्य कदापि योगी नहीं हो सकता। संन्यास कोई बाहरकी वस्तु नहीं है। वह एक आभ्यन्तर वस्तु है। संकल्प-विकल्प समाप्त होने चाहिए, तभी संन्यासी हुआ जा सकता है।

[९७]

शनिवार, ३ जुलाई, १९२६

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।। (६,३)

जो मुनि योग प्राप्त करनेकी इच्छा करता है उसके लिए कर्म ही साधन है। क्योंकि योगकी व्याख्या 'योगः कर्मसु कौशलम्' की गई है। कर्मके ऐरनपर व्यक्ति

गढ़ा जाता है और किसी दिन वह योगीके रूपमें आ जाता है। जिस मनुष्यने योग-पर सवारी कर ली है — जिसने साम्य पा लिया है — जिसका मन स्थिर हो गया है, उस मनुष्यका साधन शम अर्थात् शान्ति है।

कल जो-कुछ कहा था वही वात यहाँ भी लागू होती है। आज मुझे अपनी वात विभिन्न प्रकारोंसे समझानी पड़ती है। मैं कर्म करते-करते समझ सका हूँ कि तुम अमुक-अमुक प्रकारसे समझ सकते हो, इसलिए मुझे अपनी वात तुम्हें उन प्रकारोंसे समझानी पड़ती है। यह भी एक प्रकारका योग है। अन्तमें हमें सफलता मिलेगी। यदि तुम इशारेमें ही समझ जानेवाले बन जाओ, तो हमें शान्तिका साधन प्राप्त हो जाये। कारखानेमें दिन-भर तेजीसे काम होता रहता है किन्तु अन्तमें कारखाना वन्द करनेका समय आनेपर वहाँ शान्ति विराजमान हो जाती है। कारखानेमें अभीतक योगी बनानेका साधन कर्म था, अब उसका साधन शान्ति है। यह तो एक सुव्यवस्थित तन्त्रकी बात हुई। ऐसी शान्ति कब्र अथवा जड़ताकी शान्ति नहीं; प्रमाद अथवा आलस्यकी शान्ति भी नहीं; बल्कि चेतनकी शान्ति है — समुद्रकी शान्ति है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।। (६,४)

जब कोई व्यक्ति इन्द्रियों और कर्मोंके प्रति आसक्त नहीं रहता वल्कि अनासक्त रहकर इन्द्रियों और कर्मोंका उपयोग करता है, तब समस्त संकल्पोंका त्याग करनेवाला वह व्यक्ति योगारूढ़ कहलाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। (६,५)

आत्माके द्वारा आत्माका उद्धार करना चाहिए। आत्माका नाश नहीं करना चाहिए। आत्मा ही आत्माका बन्धु है, मित्र है; और आत्मा ही आत्माका शत्रु है।

तुम अपना मोक्ष स्वयं ही साध सकते हो। आज तो हम आत्माके शत्रु ही हैं। आत्मा स्वयंप्रकाश है इसलिए उसे अपना उद्धार स्वयं करना चाहिए। सूर्यनारायणको प्रकाश कौन देगा? प्रभातके प्रथम प्रहरमें सूर्यनारायण अपना उद्धार करते हैं, योगारूढ़ होकर आते हैं और सन्ध्याके समय शान्त हो जाते हैं। (किन्तु क्या वह सचमुच शान्त होते हैं? मैं, मर जानेके बाद भी शान्त थोड़े ही होनेवाला हूँ?)

[९८]

रविवार, ४ जुलाई, १९२६

लौकिक भाषाका उपयोग करते हुए हम कहते हैं कि आत्माका उद्धार परमात्मा करता है; यह इसलिए कि दूसरा उपाय नहीं है। किन्तु आत्मा अपनी शक्तिके विना परमात्मामें लीन थोड़े ही हो सकती है? आत्मामें परमात्मा जैसे-ही सब गुण हैं इसीलिए वह परमात्मामें लीन हो सकती है। जिस तरह आत्मा स्वयंप्रकाश है, इसी तरह परमात्मा भी स्वयंप्रकाश है। अपने विरोधी गुणवाली वस्तुमें कोई वस्तु

मिलकर एकरूप नहीं हो सकती। सलाह दी गई है कि आत्माको अपना नाश नहीं करना चाहिए; क्योंकि आत्मा इसमें समर्थ है। अविनाशी होनेके कारण वह पूरी तरह तो अपना नाश अवश्य ही नहीं कर सकती। जो यह कहता है कि मैं नास्तिक हूँ वह विरोधी वचनोंका उच्चारण करता है। जिस प्रकार हम संसारके जीवनको एक क्षण भी बढ़ानेमें असमर्थ हैं उसी प्रकार हमारा आत्माको नष्ट करनेका प्रयत्न भी व्यर्थ है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। (६,६)

जिसने आत्माको आत्माके द्वारा जीत लिया है, उसकी आत्मा आत्माका बन्धु है। हम जबतक संसारमें हैं, तबतक हमारे भीतर दो पक्ष पड़े हुए हैं — आसुरी और दैवी। जबतक यह द्वन्द्व चल रहा है, तबतक शैतानको पीछे हटानेका प्रयत्न करते ही रहना पड़ेगा। देवासुर संग्राममें आखिरकार जीत तो देवोंकी होगी। जब संसार समाप्त हो जायेगा तो भगवान हँसेगा और पूछेगा कि अब शैतान कहाँ गया? नास्तिककी आत्मा शत्रुवत् है। सच बात तो यह है कि हम सबकी आत्मा हमारा शत्रु ही है। उसमें कलयुगकी मलिनता भरी हुई है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।। (६,७)

जो सर्दी और गर्मी, सुख और दुख, मान और अपमानके प्रति प्रशान्त है, जितात्मा है, — जिसके लेखे अपनी स्तुति और निन्दाका पानी ईश्वर-रूपी सतहके नीचे-नीचे बहता हुआ चला जाता है — ऐसे प्रशान्त व्यक्तिके लिए परमात्मा समाहित है। जो अशान्तिकी मूर्ति है, जो अहिंसक न होकर हिंसक है; जो सत्यवादी नहीं, असत्यवादी है; उसके भीतर भी परमात्मा सम्यक् रूपमें ही स्थित है।

[९९]

मंगलवार, ६ जुलाई, १९२६

आत्मा तब सम्यक् रहती है जब हमारा बाह्य भी अन्तर जैसा होता है। शरीर सीधा रहे, और मन सीधा न हो, तो काम नहीं चलेगा। आज तो हमारा मन सीधा नहीं है। कुत्तेके चार पाँव हैं; हमारे दो हैं, फिर भी हमारा मन चार पाँवके जानवरोंकी तरह ही चलता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः।। (६,८)

यहाँ ज्ञानका अर्थ है शास्त्रोंका श्रवण, मनन और निदिध्यासन तथा विज्ञानका अर्थ है आत्माका अनुभव। ज्ञान होता है बुद्धिके द्वारा समझनेसे और विज्ञान वह है जो बुद्धिके द्वारा अनुभवमें ओतप्रोत हो जाता है। ज्ञान अर्थात् शास्त्र-ज्ञान और विज्ञान

अर्थात् अनुभव-ज्ञान। जब जीवन दयामय हो जाये और हमारे हृदयमें अहिंसाका सच्चा स्वरूप प्रकट हो जाये, तब कहा जा सकता है कि हमको अहिंसाका अनुभव-ज्ञान हो गया। जिस विद्यार्थीने दयाका अनुभव-ज्ञान प्राप्त कर लिया, उसने उस हदतक आत्म-शुद्धि कर ली अथवा आत्मविज्ञान प्राप्त कर लिया। जिसका आत्मा इस ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त हो गया है, जो कूटकी तरह स्थिर है अर्थात् जो अहरनकी तरह आघात सहन करता ही रहता है और टूटता नहीं है, अत्यन्त दुःख झेलते हुए भी जो अहरन की तरह अचल रहता है—जिसने इन्द्रियोंके ऊपर विजय प्राप्त कर ली है, ऐसा योगी 'युक्त' कहलाता है। वह ईश्वरके साथ जुड़ गया है, वह आत्मशुद्ध है; ऐसे योगीके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना तीनों एक-से ही हैं। आखिर ये तीनों वस्तुएँ मिट्टीमें से ही तो उत्पन्न हुई हैं। परिवर्तित रूपमें मिट्टी ही पत्थर, सोना, चांदी, हीरा, माणिक आदि है। वैसे ये सब मिट्टीके पर्याय हैं—ये सारे नाम मिथ्या हैं। क्योंकि अन्ततोगत्वा ये धूलकी धूल हैं। यदि हम लोभ छोड़ दें तो इन सबको हम एक जैसा ही मान सकते हैं।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ (६,९)

मिट्टी और सोनेके विषयमें जैसा कहा गया, इसी तरह जो सुहृद, मित्र और शत्रु, द्वेषके योग्य और प्रेमके योग्य, साधु तथा पापी, सभीके विषयमें समबुद्धि है, कहा जायेगा कि वही जगतमें विजयी हुआ। जो नियम जड़-जगतपर लागू है, वही चेतन-पर लागू होता है। जिस तरह सोनेमें और मिट्टीमें अन्तर नहीं है, इसी तरह साधु और पापी भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

साधु और पापी भी पर्याय है। दोनोंके आत्मा है। साधुके ऊपरका मैल उतर गया है, पापीके ऊपर मैल चढ़ता ही जा रहा है। यदि इन दोनोंके प्रति समबुद्धि रहें तो उसी हालतमें हम विशिष्ट कर्तृत्व करते हुए कहलाये जायेंगे। दोनोंके विषयमें समबुद्धि किस तरह रहा जा सकता है, तुलसीदासका जीवन इसका पदार्थपाठ प्रस्तुत करता है।

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ (६,१०)

योगीको चाहिए कि वह निरन्तर एकान्तवास करता हुआ आत्माके साथ युक्त हो जाये। एकान्तवासका अर्थ है मनको एकान्तमें रखना। एकाकी और मनको वशमें रखकर निराशी अर्थात् वासनारहित होकर तथा अपरिग्रही बनकर आत्माको परमात्माके ध्यानमें युक्त करे। परिग्रहमें मानसिक परिग्रहका भी समावेश है। जो व्यक्ति एकान्तमें जप इत्यादि करके उसके द्वारा ऐहिक ऐश्वर्यकी इच्छा करता है, वह योगी नहीं है। और जो नित्य दान करता है, हमेशा धन-त्याग करता रहता है, उसकी अपेक्षा दो-चार लाख रुपया जोड़कर रखनेवाला कोई व्यक्ति अधिक अपरिग्रही हो सकता है; क्योंकि सम्भव है, नित्य दान करते हुए भी पहले सज्जनको पैसेका निरन्तर ध्यान रहता हो।

[१००]

बुधवार, ७ जुलाई, १९२६

'रहसि' का अर्थ है ऐसा शान्त स्थान, जहाँ शोरशार न हो; और एकाकी-का अर्थ है अकेला। एकान्त और अकेलापन अहमदाबादके बाजारमें भी प्राप्य है।

किन्तु फिर भी शारीरिक एकान्त भी प्राप्त करना चाहिए। श्मशानमें जाकर नाशवन्त शरीरके विषयमें विचार करते हुए एकान्तकी प्राप्ति की जा सकती है। 'यतचित्तात्मा' का अर्थ है उस स्थितिवाला व्यक्ति जिसके शरीर अथवा मनमें किसी प्रकारकी चंचलता नही है। आदमी एक लँगोटीसे भी काम चला सकता है और लँगोटी तो कोई उड़ता हुआ चमगादड़ भी लाकर दे सकता है। किन्तु शरीरका परिग्रह किये बिना काम कैसे चलेगा? इसलिए शरीरको केवल सहन कर लेना चाहिए। उसकी वृद्धिकी इच्छा नही करनी चाहिए। यदि हम शरीरकी वृद्धिकी इच्छा करेंगे तो जन्म-मरण होता ही रहेगा। जबतक एक पगड़ी है तबतक उसे ही बाँधते रहें; और फिर नई पगड़ी न खरीदें। ऐसा ही शरीरके बारेमें समझना चाहिए: हम इस पगड़ीको बाँधें किन्तु लाचारी मानकर। इसके बाद जन्म-मरण शेष नही रहता। 'आत्मानं युंजीत' का अर्थ है आत्माको परमात्माके साथ जोड़कर, स्थिर करके।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ (६,११)

पवित्र स्थलपर, — इसका अर्थ देश भी हो सकता है क्योंकि कल्पना ऐसी है कि भारत कर्मभूमि है, अन्य भोग-भूमियाँ हैं; किन्तु आज तो भारत भी कर्म-भूमि नहीं रही — जहाँ निरन्तर अतन्द्रित रहकर कर्म किया ही जाता हो, वह कर्म-भूमि कहलाती है। पवित्र स्थलपर स्थिर आसन रखा जाये जो बहुत ऊँचा नही हो बहुत नीचा भी नहीं हो, कुश और अजिनके ऊपर वस्त्र डाला जाये — अजिन अर्थात् मृगचर्म यह इसलिए कहा कि उस समय हिरनका शिकार किया जाता था। योगी तो प्रयत्न-शील व्यक्ति होता है। ठंड लगकर वह अकड़ न जाये, इसलिए सुरक्षित रहनेके लिए कहा गया है। शरीरको ऐसे आसनके ऊपर रखकर स्थिर हो जाना चाहिए।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ (६,१२)

इस तरह बैठकर एकाग्र मन करके, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंपर काबू रखकर आत्मशुद्धिके लिए योग-साधन किया जाना चाहिए।

[१०१]

गुरुवार, ८ जुलाई, १९२६

कल 'यतचित्तेन्द्रियक्रियः' का अर्थ थोड़ा उलटा हो गया है। चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखकर अर्थात् चित्त और इन्द्रियोंका निरोध करके। 'योगः चित्तवृत्ति-निरोधः' — जिस वृत्तिमें लहरें उठती रहती हैं उसे तो समुद्रकी

तूफानी स्थिति कहेंगे। समुद्र और लहरोंमें अन्तर तो है ही नही। जीव-मात्र जलकी लहरें है अर्थात् जलके विकार है। हम यह न पूछें कि अपने भीतर हम लहरोंको उठने ही क्यों देते हैं। जीवधारी तो ईश्वरको अपने गुड्डे-गुड्डियोंकी तरह रूप देता है। लोग सम्पन्न हुए तो स्वर्णमूर्ति बना लेते हैं। इसी तरहकी परिस्थिति है। लहरें जन्म है और उनका सिमट जाना मृत्यु है। इस तरह मानकर मनुष्य स्थिर हो जाता है और यदि संकल्प पैदा होते ही हैं तो उन्हें मनके भीतर शान्त कर देता है। पतंजलि कहता है कि इन लहरोंको शान्त करनेके बाद ही तुम समझ सकोगे कि चित्तका मालिक विकार है अथवा ईश्वर। चित्तवृत्तिको लक्ष्यमें रखकर ही श्रीकृष्णने चित्त और इन्द्रिय कहा है।

> **समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।**
> **संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।**
> **प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।**
> **मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।** (६,१३-१४)

शरीरको, शिर और ग्रीवाको सम करके तथा इन सबको अचल और स्थिर बनाकर आँखसे अपनी नाककी नोकको देखते हुए अन्य किसी भी दिशाको बिना देखे प्रशान्तात्मा होकर, भयको हटाकर, ब्रह्मचर्य-व्रतमें स्थित होकर, मनको संयमित करके, अन्तःकरणको मुझमें लीन करके योगीको चाहिए कि वह मेरे ध्यानमें तत्पर होकर बैठ जाये।

[१०२]

शुक्रवार, ९ जुलाई, १९२६

इन चार श्लोकोंमें योगकी क्रियाओंकी बात की गई है। मैंने जेलमें पढ़ा था कि इन क्रियाओंको साधनेमें कमसे-कम छः महीने लगते हैं। ये बाह्य क्रियाएँ हैं। सभी इनसे लाभ उठा सकते हों, ऐसा नहीं है। किन्तु शरीर और मन इतनी हठीली वस्तुएँ है कि लोकमें इन्हीं वस्तुओंको प्रधान पद मिल गया। इस तरहके विचारोंको जब सिद्धान्तोंका महत्त्व दिया जाता है तो तरह-तरहके प्रयोग होने लगते हैं। उदाहरणके लिए धौलागिरीपर चढ़नेकी साधना। दो इतालवी तरुणोंने समस्त पृथ्वीकी पैदल प्रदक्षिणा करनेकी प्रतिज्ञा की थी। ये तरुण भी नही वास्तवमें किशोर ही थे। उन्हें अपने कार्यके अच्छे होनेका इतमीनान था। मैंने जब उनसे पूछा कि आप लोग इस प्रयोगके द्वारा सीखना क्या चाहते हैं, तो उनमें से एक बहुत चिढ़ गया। इससे उन बच्चोंमें जोखिम उठानेकी शक्ति आ जायेगी और उस शक्तिसे उन्हें व्यक्तिगत लाभ भी होगा, किन्तु सच कहें तो उनका वह समय व्यर्थ ही गया कहलायेगा। यहाँ प्राणायाम इत्यादिकी बात की गई है। यदि इस क्रियामें कोई पाखण्ड न हो, किसीको छलनेकी इच्छा न हो तो यह क्रिया ईश्वरमें ध्यान लगानेका साधन है। मैं यदि बाजारमें भी मौनव्रत लेकर बैठ जाऊँ तो वहाँके शोर-गुलकी तरफसे अपना ध्यान

खींच ले सकता हूँ। इसी तरह सामुदायिक प्रार्थनाके अवसरपर भी हम समाजके बीच बैठे हुए एकान्त-सेवन कर पाते हैं।

युंजेन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।। (६, १५)

इस तरह जिसका मन नियमोंमें स्थिर हो गया है, ऐसा योगी आत्माका अनु-सन्धान करते हुए परमात्मातक पहुँच जाता है और निर्वाण देनेवाली शान्तिको प्राप्त करता है।

किन्तु ब्रह्मनिर्वाणकी शान्ति तभी मिलती है जब हम भगवानके सुपुत्र हों।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।। (६, १६)

खूब खानेवालेके लिए योग नहीं है। वह अपनी साधनामें फलीभूत नहीं हो सकता। एकदम न खानेवाले, अनशनव्रतीका योग भी फलीभूत नहीं हो सकता। इसी तरह अतिस्वप्नशील, निद्राके वशवर्ती व्यक्तिका तथा जागते ही रहनेवालेका योग भी फलीभूत नहीं हो सकता।

यह बात ऊपरके चार श्लोकोंके सन्दर्भमें कही गई है, इसे याद रखना चाहिए। बहुत खानेवाला और बहुत सोनेवाला कुछ भी नहीं कर सकता, यह सच बात है। अनेक व्यक्ति अघोरियोंकी तरह रहते हैं। वे कुछ भी नहीं साध सकते। किन्तु इससे उलटे पक्षके बारेमें भी विचार करना चाहिये। यदि कोई साधक भूखको बरदाश्त न कर पाता हो तो उसकी स्थिति वैसी ही होगी, जैसी हिन्दुस्तानके करोड़ों भूखे मनुष्योंकी है। चित्तको जो पोषण दिया जा सकना चाहिए सो वह नही दे पायेगा और इसलिए उसका मन ईश्वरमें नही लगेगा। ऐसा ही जागरणके विषयमें भी समझना चाहिए।

यहाँ बात अनशन अथवा जागरण करनेके लिए तत्पर किसी सामान्य व्यक्तिके बारेमें नहीं है। यह श्लोक उस व्यक्तिके विषयमें है जो ऐसी साधनाके द्वारा योग करना चाहता है। किन्तु जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियोंपर किसी भी प्रकार काबू रख ही न पाता हो, जिसकी आँख मलिन दृश्य देखनेके लिए ही खुलती हो, जिसकी अन्य इन्द्रियाँ भी विषयके लिए ही लालायित रहती हों, उस व्यक्तिको चाहिए कि वह अधिकसे-अधिक उपवास करे, भले ही उपवास करते-करते उसकी देह छूट जाये। उसे कोई भी काम जगत्को दिखानेके लिए नही करना चाहिए। सत्य एक प्रकार-की शृंखला है, जिसने हम लोगोंको परस्पर बाँधकर रखा है। साधक स्वयंको धोखा नहीं दे सकता। जो ऐसा मानता हो कि मैं अपनी विषय-वासनाको किसी भी प्रकार रोक नही पाता उसे अनशनादि करना चाहिए। आजकल यह बात कही जा रही है कि सभी प्रकारके विषयोंको तृप्त किया ही जाना चाहिए। मेरा यह कहना है कि आत्मशुद्धिके लिए अपने प्रति जितनी सख्ती करना आवश्यक हो, सो पूरी-पूरी की जानी चाहिए। यदि किसीको अपनी आँख, कान, जीभ आदि इन्द्रियोंको चुपचाप सन्तुष्ट करते रहनेका लोभ होता रहता है तो उसे चाहिए कि वह अधिकसे-अधिक

शारीरिक व्रत ले और उनके प्रति जाग्रत रहे। यही उसके लिए श्रेयस्कर होगा। यदि हम अपनी इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना चाहें तो अवश्य ही यह सम्भव है, किन्तु सच तो यह है कि हम उन्हें वशमें नही रखना चाहते और बहाने खोजते रहते हैं। इसीलिए 'गीता' कहती है, खूब मत खाओ, खूब मत सोओ।

ऊपरके ये चार श्लोक बच्चेको चलना सिखानेवाली तीन पहियेकी गाड़ीकी तरह हैं। इनमें कहा गया है कि मध्यम मार्गका अनुसरण करना चाहिए। अन्ततोगत्वा हर व्यक्तिको 'अर्थं साध्यामि वा देहं पातयामि वा' करूँगा या मरूँगाका आचरण ही करना है। यदि लोग इतने आग्रहपूर्वक उत्तर ध्रुवकी यात्रा करते है तो फिर इस आत्माके उत्तर ध्रुवकी प्राप्तिके लिए देहपात कर देना कौनसी बड़ी बात है।

[१०३]

शनिवार, १० जुलाई, १९२६

पहले कहा गया कि आरम्भकालमें मिताहारी रहें और अन्य सब बातोंमें अतिशयताका त्याग किया जाये। यह सब सध जानेके बाद ही यह समझा जा सकता है कि अतिशयता कहाँ-कहाँ की जा सकती है। इसलिए प्रारंभमें तो धीरे-धीरे ही आगे बढना चाहिए।

आगे चलकर एक समय ऐसा आ सकता है कि जो आचरण सामान्य व्यक्तिको अतिशयतापूर्ण जान पड़ता है वह साधकको वैसा न लगे। लाखों विकार पैदा होते रहते हैं और व्यक्तिको लगता है कि अब कोई उपाय नहीं बचा। ऐसे समय व्यक्ति शरीरके विरोधमें भगवानके समक्ष सत्याग्रह करने बैठ जाता है। अहिंसा-धर्मका दूसरोंके प्रति तो मनमाना पालन किया जाना चाहिए; किन्तु यदि हम अपने शरीरके प्रति भी उसका पालन करें तो नाश ही हो जायेगा। शरीरके साथ असहयोग साधा जाना चाहिए। इसलिए पहले हृदयमें स्थित पाप-वृत्तियोंके साथ असहयोग किया जाना है। शरीरसे हम कह दें कि तेरी सेवाके बदले तुझे रोज इतना ही दिया जायेगा। किन्तु तू ठीक चाकरी नहीं करेगा तो तुझे जो-कुछ आजीविकाके रूपमें दिया जाता है, वह बन्द कर दिया जायेगा। हम किराया उसी मकानका चुकाते हैं जिसमें हमारी रक्षा हो सके, जिसकी छतसे पानी न टपकता हो और जिसकी दीवारें गिर न रही हों। किन्तु अगर कोई घर भीतरसे बिलकुल पोला हो गया है तो फिर उसका क्या उपयोग? थोड़ा-बहुत कमजोर घर तो सुधारा जा सकता है, किन्तु जिस घरकी हवा ही जहरीली हो गई हो तो उसका क्या करें! इसलिए यदि शरीर किराया-नामाके अनुसार चलनेको तैयार न हो तो व्यक्तिको अनशन करनेका अधिकार है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (६,१७)

जो अतिशयताका नाश कर देता है उसका क्या होता है। आराम, आहार, इत्यादिमें जो नियमित है, जो कर्मोंके प्रति युक्तचेष्टावान है, जो निद्रामें भी मध्यममार्गी है, ऐसे पुरुषका योग दुःखका हरण करनेवाला हो जाता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।। (६,१८)

जब चित्त अच्छी तरह काबूमें आ गया हो, जब वह भली-भाँति नियमानुसारी हो गया हो, जब चित्त आत्मामें ही स्थिर हो गया हो और जब वह आत्माके इशारे-पर ही चलता हुआ सभी कामनाओंके प्रति निःस्पृह हो गया हो अर्थात् जब व्यक्ति निष्काम हो गया हो, तब वह युक्त कहलाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ।। (६,१९)

जैसे दीपक निर्वात-स्थानमें निष्काम रहता है, योगकी साधना करनेवाले यतचित्त योगीकी दशा भी वैसी ही होती है। यदि हम चल-विचल हों तो जिस तरह दीपकको पवन बुझा देता है, उसी तरह विषयोंकी आँधी हमारा नाश कर देगी। वायुमें से दीपककी लौको पोषण मिलता है। इसी प्रकार आत्माको इन्द्रियों और चित्तमें से पोषण मिलता है। जिस तरह वायु स्थिर हो तो लौ उसके बलपर जागती रहती है, उसी प्रकार वायुरूपी चित्तवृत्तियोंको स्थिर रखनेसे आत्माको बल मिलता है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।। (६,२०)

चित्तके शान्त हो जानेपर योगके सेवनके द्वारा चित्तपर काबू पा लेनेके बाद और शान्ति प्राप्त करनेके बाद जो आत्मामें आत्माका दर्शन करता है, अर्थात् जिसका मन आत्मामें लीन हो जाता है और जो आत्मसन्तुष्ट हो जाता है, वह योगी है।

[१०४]

रविवार, ११ जुलाई, १९२६

वॉटने खोज की कि यदि हम भापको किसी एक जगहमें संचित करके उसे किसी छोटेसे रन्ध्रमें से निकालें तो चाहे जितना वजन खींचा जा सकता है। इसी तरह जो बच्चे अपनी सभी वृत्तियोंको रोक रखें तो वे चाहे जितना कष्ट सहन कर सकते हैं। यदि तमाम वृत्तियोंका निरोध करके हम उन्हें परमात्मामें लीन कर सकें, तो कितना लाभ हो।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।। (६,२१)

आत्यन्तिक सुख — शाश्वत सुखके आगे, इन्द्रियोंका सुख क्षणिक है। यह सुख अतीन्द्रिय है, इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है; बुद्धि-ग्राह्य है। यदि किसी व्यक्तिने बुद्धिसे ईश्वर-को जान लिया हो और उसके साथ ही अपने कर्त्तव्यको भी समझ लिया हो तथा

उसके बाद परमात्माके रथको खीचनेवाला घोड़ा बन गया हो, उसके दरबारमें तन्द्रारहित होकर काम करनेवालोंमें अपना नाम लिखा दिया हो तो वह व्यक्ति कभी चलायमान नही होगा।

जो व्यक्ति इस तरह स्थिर हो गया है, वह परमात्म-तत्त्वसे क्षण-भरके लिए भी च्युत नही होता। वह व्यक्ति योगी है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।। (६,२२)

इस स्थितिको प्राप्त करनेके बाद व्यक्ति स्वप्नमें भी यह नहीं मानता कि अब इससे अधिक कोई बड़ा लाभ प्राप्त किया जा सकता है। स्वप्नमें भी रामनामके सिवाय उसके सामने कोई दूसरी बात नही आती। यह तब होता है जब व्यक्ति प्रतिक्षण निष्काम वृत्तिसे कर्मरत रहा हो। यदि हमारी रात्रि निर्दोष न बीती हो, खराब सपना आया हो, सामान्य स्वप्न भी आया हो तो समझना चाहिए कि लोभ इत्यादि बातें अभीतक शेष बच गई हैं। जिसका मन चौबीसों घंटे जागता ही रहता हो, जिसके मनको निद्रा छूती ही न हो, वह योगारूढ़ है, एकाकी है।

मैंने प्रिटोरिया जेलमें एक ऐसा राक्षसी मनवाला हब्शी देखा था जिसे चाहे जितने चाबुक क्यों न मारे जायें, उसपर कोई असर ही नहीं होता था। किन्तु योगीका मन तो दैवी हो जाता है। उसकी त्वचा प्रकाशमान हो जाती है और मन अचंचल। यदि एकान्तसेवन करनेवाले व्यक्तिका मन शारीरिक दृष्टिसे अकेले रहते हुए भी चारों ओर भटकता हो तो कहना चाहिए कि वह भीड़में ही बैठा हुआ है।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।। (६,२३)

जिसे योग कहा गया है, वह दुःखका आत्यन्तिक वियोग है। सुख और दुःखसे परे यह परिस्थिति अवर्णनीय है। हम इसे शान्ति कहते हैं। जहाँ ऐसी स्थिति होती है, उसे योग कहा गया है। इस योगकी निश्चयपूर्वक साधना की जानी चाहिए। किसी प्रकारकी उद्विग्नतासे हीन मनोवृत्तिसे इसकी साधना की जानी चाहिए।

[१०५]

मंगलवार, १३ जुलाई, १९२६

जो बाह्य संयोगोंके ऊपर अपने सुखका आधार रखते हैं, ऐसा लगता है कि वे सचमुचमें सुखी होना ही नहीं चाहते। अन्तमें ऐसे व्यक्ति दुःखी बन जाते हैं। न सुखका अनुभव होना चाहिए, न दुःखका। हमें चाहिए कि हम सुख और दुःख दोनोंको साबरमतीमें फेंक दें। यदि हम अनुकूल वस्तुके मिलनेपर सुखी हो जायें और प्रतिकूल वस्तुके मिलनेपर दुःखी, तो ये दोनों ही स्थितियाँ खराब हैं। हमें इन दोनों परि-स्थितियोंमें से निकलना चाहिए। जो सुख-दुःख दोनोंका अनुभव नहीं करता वह योगी

है। योगका अर्थ है दुःखका वियोग। जो दुःख नहीं मानता, वह योगी है। यदि हमें कोई गाली दे तो हम उसे भी प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर दें। इसी तरह यदि कोई हमारी स्तुति करे तो वह भी हम प्रभु-चरणोंमें ही रखें। यही अपरिग्रह है। जो व्यक्ति इसकी साधना करके मनको फूलकी तरह हलका बना लेता है, वह योगी है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत॥ (६,२४–२५)

संकल्पोंमें से उत्पन्न कामनाको पूरी तरह छोड़कर, इन्द्रियोंके समुदायको मनःपूर्वक चारों ओरसे नियममें रखकर, बुद्धिको निश्चयात्मक बनाकर और मनको आत्मामें युक्त करके जो व्यक्ति धीरे-धीरे उपराम प्राप्त करता है तथा किसी भी विचारमें नहीं पड़ता, वह व्यक्ति योगी है; अर्थात् वह सुख और दुःखके द्वन्द्वसे बच जाता है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ (६,२६)

ऊपरके श्लोकमें जो-कुछ कहा गया है, श्रीकृष्णने उसे ही यहाँ अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने अर्जुनसे मनको आत्मामें स्थिर करनेके लिए कहा। अब इसके बाद कहनेको शेष ही क्या है। किन्तु फिर भी और समझानेका प्रयत्न किया है।

मन जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँसे उसे खींचकर वशमें करके उसे आत्माके वशमें लाना चाहिए।

वायु-शास्त्रवेत्ता वायुके वेगको नाप सकते हैं। बिजलीकी गतिको भी नापा जा सकता है; किन्तु मनकी गतिको नापनेका कोई यन्त्र नहीं बनाया जा सका है। यह मन चंचल है और अस्थिर है, उसे जगह-जगहसे खींचकर अपने ही स्थानपर अर्थात् आत्मामें स्थापित करना चाहिए।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ (६,२७)

ऐसे शान्त मनवाला वह योगी जिसका सारा रजस्, अहंकार, अभिमान शान्त हो गया है और जो ब्रह्ममय हो गया है, उत्तम सुखको प्राप्त कर सकता है।

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (६,२८)

जो योगी अपनी आत्माको इस तरह परमात्मासे जोड़ लेता है, जिसके पाप नष्ट हो जाते हैं और जो ब्रह्मका संस्पर्श करनेवाला बन जाता है, वह योगी अनन्त सुख भोगता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। (६,२९)

जिसे योग सिद्ध हो गया है, और जो सर्वत्र समदर्शी है वह अपनेको सब प्राणियोंमें देखता है और सब प्राणियोंको अपनेमें देखता है। ऐसा समदर्शी योगी ब्रह्मानन्द प्राप्त कर पाता है।

[१०६]

बुधवार, १४ जुलाई, १९२६

कलका श्लोक महत्त्वपूर्ण है। योगी वह नहीं है जो श्वासोच्छ्वासको बन्द करके बैठ जाता है; बल्कि वह है जो समदर्शी है। जो दूसरे प्राणियोको अपनेमें देखता है, वह योगी है। ऐसा योगी मोक्ष पाता है। समदर्शीका अर्थ हुआ वह व्यक्ति जो अपनेको जिस दृष्टिसे तौलता है, उसी दृष्टिसे दूसरेको भी तौले। यही बात नीचेके श्लोकमें भी समझाई गई है:

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। (६,३०)

जो सबमें मुझको और मुझमें सबको देखता है, मै उस व्यक्तिकी दृष्टिसे कभी ओझल नही होता। वह व्यक्ति मुझे सदा प्रिय है; वह मेरी दृष्टिसे कभी ओझल नहीं होता। जैसे रामचन्द्रजीकी दृष्टिसे हनुमान ओझल नही थे।

[१०७]

गुरुवार, १५ जुलाई, १९२६

सबको अपने भीतर देखना सरल नहीं है। आगेके श्लोकमें इसकी कुंजी यह बताई गई है कि दूसरोंको और अपनेको ईश्वरके माध्यमसे देखो। जिस तरह हिम पानीमें से बनता है, इसी प्रकार हम सब पानीसे उत्पन्न हुए है और पानीमें मिल जायेंगे। ओलेका जो टुकड़ा यह समझ गया कि मैं पानी हूँ, वह पानीमय ही है। ईश्वर और ईश्वरकी माया परस्पर ओतप्रोत है; फिर क्या ब्राह्मण, क्या चाण्डाल और क्या शूद्र। इसीलिए भारद्वाज ऋषिने रामसे पूछा कि आपने रावणका वध किया अथवा अपनी मायाका। राम हमारे भीतरसे कभी अदृश्य नहीं होते और हम रामके निकट कभी अदृश्य नही होते।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।। (६,३१)

जो योगी सर्वभूतोंमें निवास करनेवाले मुझको भजता है; एकत्वको प्राप्त करनेके बाद जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं ब्रह्म हूँ और सारा संसार ब्रह्ममें स्थित है तथा इस भावनाके साथ जो मुझे भजता है वह व्यक्ति सारी बाह्य क्रियाएँ करते हुए भी मुझमें ही लीन रहता है।

'चलन वलन अवनिपर वाकी, मनकी सुरत आकास ठिरानी'— यद्यपि वह धरती-पर चलता-फिरता है, किन्तु उसकी दृष्टि आकाशपर स्थिर रहती है। जिस व्यक्तिने अपनी दृष्टि इस तरह हृदयाकाशपर स्थित कर ली है, वह मनुष्य चलते-फिरते, खाते-पीते, सारी स्थितियोंमें मुझमें ही लीन है। ऐसे पाखण्डी पड़े हुए हैं जो कहते हैं कि हम व्यभिचार करते हैं, किन्तु हमारा क्या; हम तो योगी हैं। तुम मायामें लिप्त हो और इसलिए कह सकते हो कि अमुक वस्तु ग्राह्य है, अमुक त्याज्य। किन्तु हमारे लिए किसी बातका विधिनिषेध नहीं है। यदि हम उनसे कहें कि तुम्हारे पास जो सोना है वह हमें दे दो और पत्थर ले लो तो वे हमारी इस बातको नही सुनेंगे और कहेंगे कि हम ज्ञानी हैं, सोना हमारे पास शोभा देता है। जिस व्यक्तिने अपने हृदयके सभी मैल धो डाले हैं, उस व्यक्तिके कर्मोंके विषयमें वह स्वयं नही कहता, जगत कहता है। जगत उसके विषयमें कहेगा कि वह ईश्वरमें लीन है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। (६,३२)

जो व्यक्ति दूसरोंको अपनेसे संयुक्त करके आचरण करता है वह दूसरोंकी आवश्यकताको अपनी आवश्यकता मानकर पूरी करेगा; दूसरोंको अपने जैसा मानकर बर्ताव करेगा और आत्माको जगतके साथ ओत-प्रोत कर देगा। सच्चा योगी वही व्यक्ति कहलायेगा जो जगतके सुखसे सुखी और जगतके दुःखसे दुखी होता हो।

जो 'मैं' को समाप्त करके शून्य हो गया है, जिसने अपनेपनको बिलकुल मिटा दिया है, वही व्यक्ति इस तरहकी बात कह सकता है। जिसने अपना सब-कुछ ईश्वरार्पण कर दिया हो वही व्यक्ति ऐसा माना जा सकता है। किन्तु यह तो एक बड़ी कठिन बात है। इसलिए अर्जुन इसका स्पष्टीकरण चाहता है:

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।। (६,३३)

हे मधुसूदन, आपने समताका जो योग बताया, मैं इसकी गति नहीं समझ सकता। इसकी स्थिर स्थिति में अपनी चंचलताके कारण देख नही पाता। रेलगाड़ीमें बैठे हों तो हम वाहरके दृश्यको स्पष्ट नहीं देख पाते। यह बात वैसी ही है।

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। (६,३४)

हे कृष्ण, मन चंचल है। वह हृदयको मथ डालता है। वह बलवान है और अपनी चंचलतामें दृढ़ है। यह वात तभी समझी जा सकती है जब हम उसका निग्रह करें। उसका निग्रह तो वायुके निग्रहकी भाँति अतिशय कठिन है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। (६,३५)

हे महाबाहो, निश्चय ही मनका निग्रह करना कठिन है। किन्तु यह दुष्कर बात भी अभ्यास और वैराग्यसे सम्भव हो सकती है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ (६,३६)

जो मनुष्य संयमी नहीं है उसके लिए योग-साधन दुष्प्राप्य है, किन्तु जिसने अपनेको अपने वशमें कर लिया है वह व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक इस उद्देश्यको साध सकता है।

[१०८]

शुक्रवार, १६ जुलाई, १९२६

'गीता'का अर्थ चाहे जितना भी जान लिया गया हो किन्तु यदि हृदयमें शौर्य न हो तो हम किसी भी बातमें सफल नहीं हो सकते। हमारे जितने मोह हैं उन सबको दूर करके हमें आत्मशुद्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिए। जगत् और कृष्णके बीचमें अर्जुनकी स्थिति एक सेतुके जैसी हो गई है। इतने ज्ञानार्जन श्रीकृष्णके सहवासमें रहनेके कारण ऐसे प्रश्नोंकी आवश्यकता उसे नहीं पड़नी चाहिए। किन्तु जगत्की दृष्टिसे वह पूछता है:

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ (६,३७)

वह श्रद्धावान् व्यक्ति जिसका चित्त योगसे चलायमान हो गया है, जो अयति अर्थात् अल्पप्रयत्नशील है और निर्जन स्थानमें जाकर बैठनेके बाद भी जिसका चित्त बाह्य सृष्टिकी ओर चला जाता है, ऐसा व्यक्ति योगसंसिद्धिको न पाकर किस गतिको प्राप्त होता है? उसकी ऊर्ध्वगति होती है अथवा अधोगति?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ (६,३८)

सम्भव है कि कोई व्यक्ति अनेक शास्त्रोंके अध्ययनके द्वारा अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न कर रहा हो और फिर भी उसके मनमें यह विचार आ जाये कि नहीं, मुझे तो अमुक एकान्त स्थानमें जाकर ईश्वरके चरणोंमें सिर रखना और सत्याग्रह करना है। किन्तु जो व्यक्ति जगह-जगह चित्तको भटकाते हुए संशयग्रस्त हो गया है वह घटासे विच्छिन्न किसी बादलके टुकड़ेकी तरह नष्ट हो जाता है मानो वह बिना पेंदीका लोटा है। ऐसा व्यक्ति जिसने ब्रह्मके मार्गको ग्रहण तो किया है किन्तु जो इस तरह चलायमान हो गया है वह नाशको प्राप्त होता है अथवा नहीं?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ (६,३९)

हे कृष्ण, आप ही मेरे इस संशयको निःशेष कर सकते हैं। मेरे इस संशयको निवारण करने योग्य कोई दूसरा नहीं है।

[१०९]

शनिवार, १७ जुलाई, १९२६

इसके उत्तरमें भगवान कृष्णने प्रतिज्ञा की है कि :

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।। (६,४०)

हे अर्जुन, ऐसे व्यक्तिका इस लोक या परलोकमें विनाश नही होता, क्योंकि अल्प प्रयत्न करनेवाले — अयतिका नाश कदापि सम्भव नहीं है। कल्याणकारी प्रवृत्ति करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती। यह बात कहकर श्रीकृष्णने सारी दुनियाको यह आश्वासन दे दिया है कि जो मुझे पानेकी इच्छा करता है और उसके लिए जो प्रयत्न करता है, उसे मैं सुप्रयत्न करनेवाला कहता हूँ। कार्य-मात्रका फल तो है ही। उस अवस्थामें विशिष्ट रूपसे भगवानको पानेका काम निष्फल नहीं जा सकता। ऐसे व्यक्तिकी दुर्गति नहीं, ऊर्ध्वगति होती है। व्यक्तिमें श्रद्धा है तो फिर प्रयत्न बलवान न होनेसे भी क्या होता है। किसी भी अवस्थामें उसकी गिनती ईश्वरके सैनिकोंकी टुकड़ीमें ही होती है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।। (६,४१)

ऐसा व्यक्ति पुण्यलोक प्राप्त करके तथा वहाँ दीर्घकालतक रहकर पवित्र और श्रीमान् व्यक्तिके यहाँ जन्म लेता है। यहाँ श्रीमान्का अर्थ धनवान न होकर ऐसा व्यक्ति है, जिसपर ईश्वरका अनुग्रह हो। क्योंकि धनवानके यहाँ जन्म लेकर तो योगा-भ्यास करना अथवा रामनाम लेना एक कठिन बात है। जिसके यहाँ लक्ष्मी है — विष्णुकी लक्ष्मीपतिकी भाँति कल्पना की गई है सो क्या इसलिए की गई है कि उनके यहाँ पैसेकी कोई टक्साल है। नही। लक्ष्मीका अर्थ है भक्ति। अगस्त्य ऋषि श्रीमान् कहे गये, क्योंकि उन्होंने शिवजीसे भक्तिका वरदान प्राप्त किया था। श्रीकृष्ण तो विदुरका शाक खानेवाले थे। योगभ्रष्टका जन्म इस तरहके श्रीमान्के घर होता है। श्रद्धावान् अयतिका जन्म भक्तोंके कुलमें होता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।। (६,४२)

अथवा फिर उसका जन्म किसी बुद्धिशाली योगीके कुलमें होता है। ऐसे योगी-के यहाँ जन्म लेनेके कारण ही उसे समबुद्धिका शिक्षण प्राप्त हो जाता है। वहाँ नित्य भक्ति होती रहती है। सुधन्वा और नारदजीका जन्म इसका उदाहरण है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।। (६,४३)

मैंने तुमसे साम्यबुद्धिकी बात की। उसका उसे वहाँ संयोग प्राप्त होता है। उसे पिछले जन्ममें जो बुद्धि प्राप्त नही हुई थी, वह इस जन्ममें प्राप्त हो जाती है; उसे पिछले जन्मका स्मरण हो अथवा नहीं।

इटलीमें एक आठ वर्षका बच्चा है। वह ऐसा सितार बजाता है मानो गर्भमें ही सीख चुका हो।

इसी तरह यदि कोई व्यक्ति आठ वर्षकी अवस्थासे ही समदर्शी हो तो कहा जा सकता है कि यह उसके पूर्वजन्मका संस्कार है। ऐसा व्यक्ति यत्न करते हुए सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।। (६,४४)

वह पूर्वाभ्यासके कारण सहज ही भगवानकी ओर आकर्षित हो जाता है। जो व्यक्ति योगी है और जिज्ञासु है, वह शब्दब्रह्मको उत्तीर्ण कर जाता है अर्थात् 'वेद'के कर्मजाल अथवा कर्मकाण्डको उलाँघ जाता है। हम सेवावृत्तिसे अथवा निष्काम वृत्तिसे जो कर्म करते है यहाँ अभिप्राय उनके उल्लघनसे नही है; बल्कि अभिप्राय अनेक प्रकारके लाभ प्राप्त करनेकी इच्छासे किये जानेवाले व्यवसायोंसे, सहेतु कर्मोसे है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।। (६,४५)

प्रयत्न करते-करते वह योगी पापका नाश करके अनेक जन्मोंकी संसिद्धि पाकर मोक्ष लाभ करता है।

[११०]

रविवार, १८ जुलाई, १९२६

इस जन्ममें आत्मशुद्धिरूपी जो कमाई की गई होगी वह निष्फल नही जायेगी।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।। (६,४६)

मैंने तुझसे योगी होनेके लिए कहा; इस कारण कि जो मनुष्य तपश्चर्या करता है योगी उसकी अपेक्षा बड़ा है; और ज्ञानीसे भी योगी बड़ा है। यहाँ ज्ञानीका अर्थ केवल शास्त्र-ज्ञानवाला है, अनुभव ज्ञानवाला नही। जो व्यक्ति कर्मकाण्डमें रचा-पचा होता है, योगी उसकी अपेक्षा भी बड़ा होता है। इसलिए तू योगी बन।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।। (६,४७)

सब योगियोंमें उत्तमोत्तम योगी तो श्रद्धावान् ही है। जगतके इन समस्त त्रिविध तापोंको मिटानेके लिए परमात्माका स्मरण वैसा ही है जैसा चकोरके लिए चन्द्रकिरण — इससे बढ़कर कुछ नही है।

पुष्करजीसे एक स्वामी आये थे। उन्होंने मुझसे कहा कि "इतनी उम्र हो जानेपर भी तुम चरखा चलाते हुए क्यो बैठे हो।" जो व्यक्ति निर्जल प्रदेशमें निरन्तर कुदाली लेकर जमीन खोदता है, परमार्थके लिए कुआँ खनता है वह रामनाम

न लेते हुए भी रामनाम लेता है और उसे रामनामका फल प्राप्त होता है। जगत्में ऐसे बहुत लोग हैं जिनके लिए अन्न ही ब्रह्म है। ऐसे भूखोंके लिए अन्न न मिलनेतक स्वयं परिश्रम करना, उनसे परिश्रम कराना और उन्हें अन्नकी प्राप्ति करा देना धर्म है। उक्त संन्यासीने मुझसे यह प्रश्न किया, सो वैसे तो ठीक है; किन्तु उसे यह नहीं मालूम था कि मैं कर्ममें अकर्म कर रहा हूँ।

इस छठवें अध्यायमें यह बताया गया है कि कर्म करते-करते यज्ञवृत्ति कैसे सध जाती है और साथ ही उसमें आत्मसंयमका साधन भी सूचित किया गया है। ऐसा नहीं है कि हरएकके लिए एक ही साधन जरूरी हो। किन्तु यह साधन कठिन है इसलिए प्रश्न किया गया कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि प्रयत्न निष्फल हो जाये और व्यक्ति उभयभ्रष्ट हो जाये। इसके जवाबमें कहा गया है कि 'नहीं, कल्याण-बुद्धिसे किया गया कर्म निष्फल नहीं जाता।'

[१११]

अध्याय ७

मंगलवार, २० जुलाई, १९२६

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।। (७,१)

हे पार्थ, अब मैं तुझे वह बताऊँगा जिसे जानकर मेरे प्रति आसक्त है, मेरे परायण है वह व्यक्ति जो केवल मुझे ही आश्रय मानता है और जो तदनुसार योगकी साधना कर रहा है, योगका साधन करते-करते समग्र रीतिसे मुझे जान सकता है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।। (७,२)

मैं तुझे इस योगका ज्ञान अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान सहित विशेष ज्ञान, अशेष रीतिसे बताऊँगा। उसे जाननेके बाद जगत्में कुछ भी जाननेको शेष नहीं बच रहेगा।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।। (७,३)

हजारों मनुष्योंमें कोई विरला मनुष्य ही सिद्धिके लिए प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवाले उन सिद्धोंमें से कोई विरला ही मुझे यथार्थ रूपमें जानता है। इसलिए कहते हैं कि यह अमूल्य वस्तु है, पर ऐसी वस्तु नहीं है कि चाहे जो इसे प्राप्त कर ले।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।। (७,४)

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ वस्तुएँ मेरी आठ प्रकारकी विभिन्न प्रकृतिको बनाती हैं।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (७,५)

इनसे भी भिन्न मेरी एक दूसरी प्रकृति है। उसे तू परा प्रकृति समझ। यह जीवभूतोंमें इस भाँति पड़ी हुई है कि अपरा (जड़) से बढकर है और इसके ऊपर जगत् निर्भर है।

[११२]

बुधवार, २१ जुलाई, १९२६[1]

शत्रुको हमें अपने समान मानना है। हम शत्रुसे अपने प्रति किस प्रकारका व्यवहार चाहते हैं, इसे सोचकर देखना चाहिए। हम चाहते हैं कि अगर इच्छा करनेपर वह हमारे टुकड़े-टुकड़े कर देनेकी शक्ति रखता हो, तो भी वह हमारे प्रति न्याय-बुद्धिसे ही काम ले। इसलिए यदि हमने किसीको बन्दी बना रखा हो तो उसपर आवश्यकतासे अधिक बन्धन नहीं लगाये जाने चाहिए — भले ही वह बन्दी हमारा शत्रु ही क्यों न हो। उसे जानसे मारनेका तो प्रश्न ही नहीं हो सकता। यह तो एक लौकिक नियम ही है। किन्तु हम तो अन्ततोगत्वा यह चाहते हैं कि हम 'गीताजी'में वर्णित ज्ञानको प्राप्त करें, दो चार व्यक्तियोंकी सेवा करें, चरखेका काम पूरा करें और गोरक्षा करें, इसलिए भले ही हम साँपोंसे डरते हैं और उक्त बातोंके लिए अपने जीवनकी रक्षा करना चाहते हैं, हमें साँपोंको भी सताना तो नहीं ही चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि तुमने पकड़े हुए साँपको कोई ज्यादा तकलीफ दी। किन्तु तुमने यह भी नहीं किया कि उसे सिर्फ उठा लिया हो और कहीं दूसरी जगह ले जाकर छोड़ दिया हो। यह एक विचारणीय बात है। हम उसे पकड़ें किन्तु इस तरह नहीं कि उसे चोट पहुँचे; हम उसे सहूलियतसे पकड़ें। उसे परेशान न करें। इसपर विचार करना इसलिए आवश्यक नहीं है कि विद्यार्थियोंने जैसा किया उससे किशोरलाल भाईकी भावनाको दुःख पहुँचा, बल्कि 'गीताजी'के शिक्षणके अनुसार आचरण करनेकी दृष्टिसे हमें इस विषयमें विचार कर लेना चाहिए। मन-बहलावके विचारसे तो साँपको कदापि नहीं मारा जाना चाहिए। बिल्लीके बच्चेको जमीनपर पटकनेमें आनन्द आनेकी सम्भावना तो होनी ही नहीं चाहिए। यह अज्ञान है और क्रूरता भी है। बालकको भी ऐसा सोचना चाहिए कि यदि कोई मेरे साथ ऐसा बरताव करे, तो क्या हो।

'गीता'ने चाण्डाल और भंगीके प्रति भी समान रीतिसे बरताव करनेके लिए कहा, सो किसलिए कहा होगा? जीवनमें इस बातका अनुभव करके देखना चाहिए। जो ऐसा विचार किये बिना जीवन-यापन करता है, उसका 'गीता' पढ़ना व्यर्थ है। सर्पादिको दुःख देनेमें आनन्द नहीं मिलना चाहिए। हम उसे दबायें अथवा पकड़ें तो यह मानकर कि इसके बिना गति नहीं है और लाचारीमें ऐसा करना पड़ता है। हमें

१. आज विद्यार्थियोंने एक साँपको पकड़ लिया था और उसे थोड़ा तंग भी किया था। इसलिए गांधीजीने प्रारम्भमें एक विद्यार्थीसे "आत्मौम्येन सर्वत्र . . ." (७,६) वाला श्लोक पढ़वाया और उससे उसका अर्थ बतानेके लिए भी कहा। बादमें जो-कुछ समझाया वह आगे दिया गया है।

सोचना चाहिए कि जिस देहके रक्षणके विचारसे यह कर रहे हैं यदि उसके ध्यानसे यह सब न करें तो कितना अच्छा हो। हमें अपना यह विचार पक्का कर लेना चाहिए कि जितना विवश होकर करना पड़ेगा उतना ही करेंगे; उससे अधिक शरीरके लिए नहीं करेंगे। यह सब बालोंके सफेद हो जानेके बाद सोचने या करने की बातें नहीं हैं। हमें तो यौवन-धनका तत्काल अच्छेसे-अच्छा उपयोग करना है। भगवानने तो कहा है कि हजारों मनुष्योंमें से कोई विरला आत्मसिद्धि और आत्मशुद्धिके लिए यत्न करता है और इन हजारोंमें से कोई विरला ही मुझे यथार्थ रीतिसे जान पाता है। इसलिए हमें बहुत अधिक प्रयत्न करना है। हमें अपने-आपको उन हजारोंमें से एक मानना है। हम तत्त्ववेत्ता बनें। उन हजारोंमें से उक्त एक और सफल व्यक्ति हम बनें, ऐसी हमें इच्छा रखनी है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। (७,६)

अपरा प्रकृति — दृश्य जगत्के भीतर रहनेवाला जीव और परा प्रकृति अर्थात् अदृश्य प्रकृति, ये दोनों समस्त जीवोंके कारण हैं। क्योंकि मैं समस्त जगत्का प्रभव हूँ और प्रलय हूँ, अर्थात् उत्पत्ति और विनाशका कारण हूँ, इसलिए तू ऐसा मानना छोड़ दे कि तू किसीका नाश करने जा रहा है।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। (७,७)

मेरे सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं और यह सब मुझमें उस तरह पिरोया हुआ है जिस तरह धागेमें मणिगण।

जिस तरह हम मनके सूत्रपर आधारित रहते हैं इसी प्रकार सारा जगत् मुझपर आधारित है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।। (७,८)

मैं पानीमें रस हूँ। चन्द्र और सूर्यमें व्याप्त तेज हूँ, 'वेदों' में प्रणव अर्थात् ओंकार हूँ। आकाशमें शब्द हूँ। मनुष्योंमें पौरुष भी मैं ही हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।। (७,९)

मैं पृथ्वीमें पवित्र गंध हूँ, अग्निका तेज हूँ, समस्त प्राणियोंका जीवन हूँ, तपस्वियोंका तप हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।। (७,१०)

मुझे तू सभी भूतोंका सनातन बीज जान। बुद्धिशाली व्यक्तियोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज भी मैं ही हूँ।

[११३]

गुरुवार, २२ जुलाई, १९२६

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।। (७,११)

मैं बलवानोंका बल हूँ — वह बल जो काम और रागसे हीन है। जनकराजकी शक्ति काम और रागसे अछूती शक्ति थी। मैं प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध, धर्मानुकूल काम हूँ। धर्मानुकूल अथवा धर्मसे अप्रतिकूल कामका अर्थ हुआ मोक्षकी कामना अथवा प्राणियों-के दु:खनाशकी कामना। यदि हम दूसरोंके दु:खोंके नाशकी इच्छा करें तो हमारे दु:खका नाश भी हो जाये। प्राकृत भाषामें ऐसा कहना ठीक है; किन्तु संस्कृत भाषामें तो इसे 'महास्वार्थ' कहा गया है। यहाँ 'महास्वार्थ' का अर्थ है समस्त प्राणियोंके मोक्षसे सम्बन्धित स्वार्थ। ऐसी स्वार्थ-दृष्टिसे किया गया जबर्दस्त प्रयत्न जगत्को मोक्षकी दिशामें ले जाता है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।। (७,१२)

सात्विकी, राजसी अथवा तामसी, जो-जो भाव जगत्में हैं, वे मेरे है अथवा मुझमें से उत्पन्न हुए हैं। यद्यपि मैं अलिप्त हूँ, मैं उन भावोंमें नहीं हूँ, [तथापि] वे मुझमें हैं। हम कहते हैं कि जो-कुछ है, वह सब ईश्वरको अर्पण करें अर्थात् जो खराब है वह भी उसके चरणोंमें रखें। यह द्वन्द्व ही अविभाज्य है। इसलिए इस द्वन्द्वका ही अर्पण कर देना है। पापको धक्का देना है तो पुण्यको भी धक्का दे देना हैं। पुण्यका संचय कर रखनेमें भी परिग्रह है।

शरीरधारी रामके विषयमें हम कह सकते हैं कि उनके शरीर है भी और नहीं भी है। उनमें विरोधी गुण — साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण — भरे हुए हैं। ईश्वर बुरेके लिए बुरा है। सचमुच तो वह करुणाकी मूर्ति ही है किन्तु वह अपने नियमका उल्लंघन कर ही नहीं सकता। इसलिए दुखोंका संहार करनेवाला भी कहा जाता है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।। (७,१३)

इन तीन प्रकारके गुणयुक्त भावोंसे मोहित होनेके कारण जगत् मुझे इन भावोंसे अलग और अव्ययके रूपमें नहीं जानता।

वास्तवमें देखें तो जो सात्विक भावसे ग्रस्त हैं, यही कहा जायेगा कि वे भी मोहमें पड़े हुए हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। (७,१४)

मेरी यह माया दैवी है और इसको तरना कठिन है। किन्तु जो व्यक्ति मेरी शरणमें आ जाता है वह इसे तर जाता है।

'भागवत' में कहा गया है कि इस कलिकालमें जो 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का जप करेगा वह इस संसारसे पार हो जायेगा। रामनाम भी ऐसा ही है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।। (७,१५)

दुष्कर्म करनेवाले मूढ़ मनुष्य मेरा आश्रय नहीं लेते। उनके ज्ञानका मायाके कारण हरण हो गया है। ऐसे लोग आसुरी भाववाले होते हैं।

[११४]

शुक्रवार, २३ जुलाई, १९२६

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। (७,१६)

चार प्रकारके उत्तम कर्म करनेवाले व्यक्ति मेरा भजन करते हैं; (१) आर्त्त अर्थात् दुःखी, (२) जिज्ञासु अर्थात् ज्ञानेच्छुक अर्थात् मोक्षार्थी, (३) अर्थार्थी अर्थात् संसारिक पदार्थोंके लिए भजन करनेवाला और (४) ज्ञानी अर्थात् वे जो खुदाके बंदे बनकर उसकी भक्ति करते हैं; जिन्हें ईश्वरके पाससे कुछ लेना ही नहीं है। वे तो ईश्वरसे कहते हैं कि तेरी प्रजाके रूपमें तुझे भजना ही हमारा धर्म है। हमें इसकी कोई चिन्ता नहीं है कि तू कुछ देता है अथवा नहीं।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।। (७,१७)

इनमें जो ज्ञानी है वह हमेशा मुझसे युक्त रहता है। मेरे साथ सन्धि किये रहता है। 'तू ही-तू ही' कहता हुआ भक्त बनकर रहता है। मुझे इस तरह रटता है मानो इस्लामका कलमा पढ़ रहा हो। यह ज्ञानी उक्त चार प्रकारके भजनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ है।

मीराबाई महान भक्त थीं। किन्तु वे ज्ञानियोंकी पंक्तिकी भक्त ही थीं। श्रीकृष्ण कहते हैं, ऐसे ज्ञानीका मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मेरा अत्यन्त प्रिय है। इस तरह मानो हम आशिक माशूककी जोड़ी हैं।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।। (७,१८)

उक्त चारों प्रकारके भक्त उदार हैं, भले ही उनमें से कोई मन्त्र-तन्त्र करनेवाला हो। क्या यह अच्छा नहीं है कि अपना समय पाप करते हुए गुजारनेकी बजाय वे ईश्वराराधनमें बिताते हैं।

राजाके महलमें डाका डालनेके बदले क्या राजाके द्वारपर भीख माँगना अधिक अच्छा नहीं है। दुखी व्यक्तिकी प्रतिष्ठा राजाके सामने उपस्थित होनेमें ही है। कितने ही दुखी व्यक्ति ईश्वरकी शरण लेनेके बदले लौकिक व्यक्तियोंकी शरण लेते

हैं। ऐसी अवस्थामें यदि वे ईश्वरके पास जायें, तो ईश्वर अवश्य ही इसे पसन्द करेगा। उक्त चारों प्रकारके भक्त उदार हैं किन्तु ज्ञानी तो मानो मेरा आत्मा है। वह तो स्वयं मैं ही हूँ। जिसने मेरे साथ सन्धि साध ली है, वह उत्तम गतिको प्राप्त हो चुका है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।। (७,१९)

अनेक जन्मोंके अन्तमें ज्ञानी मेरी शरणमें आता है। "अनेक जन्मोके अन्तमें" का अर्थ है बहुत प्रयत्न करनेके बाद। ऐसा व्यक्ति केवल जिह्वासे ही नही बल्कि हृदयसे सदा [वासुदेवको] पुकारता रहता है कि यह जगत् वासुदेव रूप ही है। ऐसा महात्मा दुर्लभ है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।। (७,२०)

अनेक प्रकारकी कामनाओंने जिनके ज्ञानका हरण कर लिया है, ऐसे स्वार्थी लोग भूत-प्रेत सिद्ध करनेवाले ओझाओंके फेरमें पड़कर निम्न श्रेणीके देवताओंके पीछे घूमते हैं। उदाहरणके लिए कोई-कोई खोड़ियार माताको चावल अथवा नारियल चढ़ानेकी मनौती करते हैं और इस प्रकार अपनी प्रकृतिके वशीभूत होकर उसका पूजन करते हैं।

लाधा महाराजको हम आर्त्त कह सकते हैं। हो सकता है वे ज्ञानी रहे हों। हम उनके मनकी बात नही जानते।

[११५]

शनिवार, २४, जुलाई, १९२६

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। (७,२१)

जो विभिन्न व्यक्ति विभिन्न देवताओंकी पूजा करनेकी इच्छा रखते हैं उन भक्तोंके मनमें पूजाके प्रति श्रद्धा तो मैं ही उत्पन्न करता हूँ।

यदि वे ऐसा समझते हों कि वे स्वयं इसमें समर्थ हो सकते हैं तो यह उनका अज्ञान है। उन्हें यह श्रद्धा उन देवताओंकी शक्तिसे प्राप्त नहीं होती। जिस मनुष्यको सीधे राजाके दरबारमें जानेका अधिकार हो, दरबारी उसे क्या दे सकता है। उदाहरणके लिए सुदामा श्रीकृष्णके पास सीधा ही चला गया और उसके बाद समस्त दरबारी उसे दूसरी दृष्टिसे ही देखने लगे। ऐसे व्यक्तिको किसी अन्य देवतापर चावल चढ़ानेकी जरूरत नही होती।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।। (७,२२)

ऐसा व्यक्ति श्रद्धालु होकर श्रद्धाके कारण उस [विशिष्ट देवता]की आराधना करता है। उसने जो-जो माँगा हो, वह सब भी उसे मिल जाता है। किन्तु यदि स्वतन्त्र और सम्पूर्ण अधिकार रखनेवाले बहुत-से हों तो ईश्वरका अस्तित्व ही न बचे।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।। (७,२३)

अल्पबुद्धिवाले ये लोग जिन देवताओंको भजते हैं उन्हें उनसे नाशवान् फल मिलता है। मुक्ति तो एक ही प्रकारके व्यक्तिको मिलती है। देवताओंकी पूजा करनेवाले देवताओंके दरबारतक पहुँच पाते हैं। मेरे भक्त सीधे मेरे पास चले आते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। (७,२४)

ये बुद्धिहीन लोग मेरे अव्यक्त स्वरूपको नहीं जानते। इस दृश्य जगत्के पीछे जो अदृश्य वस्तु पड़ी हुई है वे उसे भी दृश्य ही मान लेते हैं। किन्तु मेरा जो श्रेष्ठ भाग है (पर भाग है), वे उसे बिलकुल ही नहीं जानते। वे मुझे अव्यय और पुरुषोत्तम रूपमें नहीं जानते। उदाहरणके लिए सूर्य-पूजनको लो। सूर्य तेज और प्रकाशका दाता है। यदि हम उसे भजें तो हम ईश्वरकी विभूतिके टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें भजने लगेंगे। किन्तु हमें यह चाहिए कि हम ईश्वरकी उत्तम, अदृश्य शक्तिको पहचानें। यह दृश्य जगत् चित्र-विचित्र है। देवतागण तो रंग बदलते रहते हैं, पर ईश्वर रंग नही बदलता।

[११६]

रविवार, २५ जुलाई, १९२६

हमारी बुद्धि ऐसी तेजस्वी नही है कि वह आत्मापर पड़े हुए आवरणको छिन्न-भिन्न कर दे और आत्मा मुक्त हो जाये। जिसे आवरणको हटा देनेकी इच्छा होती है वह अबुद्धि नहीं होता। जबतक गहराईमें नहीं जाते तबतक हमारी कल्पना दश-दश शिरों-की बात सोचती है। हो सकता है कि फिर कोई होशमें आ जाये और सोचे कि क्या आत्माके सिर हो सकते हैं! और तब सम्भव है उसे 'गीता'में पढ़ी हुई बातका ध्यान आ जाये, दूसरे अध्यायके श्लोक याद पड़ जायें और वह कहे कि आत्मा तो अव्यक्त है, अच्छेद्य है, अक्लेद्य है। श्रीकृष्ण कहते हैं, बुद्धिहीन व्यक्ति मुझे अपने नन्हे पैमानेसे नापना चाहता है। वह मेरी मूर्ति बनाता है और ऐसा मानकर चलता है मानो वह मूर्ति ही मैं हूँ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।। (७,२५)

मैं सबके लिए प्रकाश नहीं हूँ। सब मुझे नहीं पहचान सकते क्योंकि मैं अपनी योगमायासे ढँका हुआ हूँ। यदि ईश्वरने यह माया न रची होती तो इस दृश्य-जगत्में हम बचे नहीं रह सकते थे। तब फिर उसने इस दृश्य जगत्की रचना किसलिए की। यह तो ऐसी ही बात हुई जैसे कोई घड़ी यह पूछे कि घड़ी बनानेवालेने मुझे क्यों बनाया है। कृतिको कर्त्ताके प्रति दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए। मायासे आवृत्त मूढ़ पुरुष मुझे अज और अव्यय होनेके कारण नहीं जानते।

[११७]

मंगलवार, २७ जुलाई, १९२६

मैं सबके लिए प्रकाशित नहीं हूँ इसका अर्थ यह हुआ कि सब मुझे नही देख सकते। मेरे तेजसे आँखें झप जाती हैं। मेरी माया ऐसी है कि यह कहा जा सकता है कि इसी क्षण कुछ जीव उत्पन्न हो रहे हैं और कुछ मर रहे हैं; किन्तु वास्तवमें हमें समझना यह चाहिए कि जन्म-मरणका यह परिवर्तन झूठा है। नाम और रूपसे ढँके हुए इस स्वरूपको कौन समझ सकता है? यदि ठंडे देशका कोई निवासी हमसे कहे कि हमारे देशकी नदियाँ जम जाती हैं और उनके ऊपरसे आदमी, घोड़ा-गाड़ी इत्यादि दौड़ते चले जाते हैं तो यह एक ऐसी बात है जो एकाएक हमारी समझमें नहीं आ सकती। नाम-रूपवाले पदार्थोंके पीछेकी सत्ताके बारेमें भी ऐसा ही है। फिर भी यह सच बात है। भगवान कहते हैं कि तुम जिसे सच मानते हो, वह मेरी योगमाया है। मेरा सच्चा स्वरूप तो अव्यक्त ही है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।। (७,२६)

हे अर्जुन, जो पहले हो गये, जो इस समय हैं और जो भविष्यमें होनेवाले हैं उन सारे जीवोंको मैं जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप।। (७,२७)

इस संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्वरूपी मोहसे सभी प्राणी संमोहको प्राप्त हो रहे हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।। (७,२८)

जिन पुण्यशाली लोगोंके पापोंका अन्त हो चुका है, वे महान् व्रतधारी व्यक्ति द्वन्द्वके मोहसे मुक्त होकर मुझे भजते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।। (७,२९)

जो जरा और मरणसे मोक्ष पानेके लिए मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं वे ब्रह्मको जानते हैं। वे सम्पूर्ण अध्यात्म और समग्र कर्मको जानते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।। (७,३०)

जो व्यक्ति मुझे अधिभूत सहित, अधिदैव सहित तथा अधियज्ञ सहित जानते हैं, मरणकाल पर्यन्त इसी तरह जानते हैं वे स्थिर हैं। भूतोंका स्वामी, देवोंका स्वामी

और यज्ञका स्वामी भी मैं हूँ अर्थात् जो यह जानते हैं कि मैं विश्वमात्रका कर्त्ता-हर्त्ता हूँ और जिनके ऊपर इस चक्रका असर नहीं पड़ता, वे व्यक्ति योगयुक्त हैं।

अध्याय ८

[११८]

बुधवार, २८ जुलाई, १९२६

सातवें अध्यायमें श्रीकृष्णने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की अर्थात् ज्ञान और विज्ञान दोनोंको समझाया और कहा कि इन दोनोंको जाननेके बाद तेरा अकल्याण नहीं हो सकता। अपरा प्रकृति, दृश्य स्वरूपको इन्द्रियों तथा बुद्धिसे जाना जा सकता है; किन्तु परा प्रकृति तो इन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार आदिको छोड़कर ही जानी जा सकती है। यदि हमें ईश्वरके पर स्वरूपको जानना हो तो थोड़े-बहुत अंशोंमें हमें वैसा बनना चाहिए। हमारे भीतर भी अपर और पर दोनों स्वरूप हैं। उनमें से हमें अपरका दमन करके परके सम्बन्धका ज्ञान बढ़ाना चाहिए।

पहले अध्यायका मुख्य प्रश्न यह था कि सगे-सम्बन्धियोंको मार कैसे सकते हैं। इस प्रश्नका उत्तर देनेमें सात अध्याय लगे। अब आठवाँ शुरू होता है। अर्जुनमें भेद-बुद्धि और मोह व्याप्त हो गया था। यह सारा प्रयत्न उसे ही हटानेका है। इस तरह भगवान कृष्ण अर्जुनको परा और अपरा प्रकृतितक समझा चुके हैं।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।।
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।। (८,१–२)

अर्जुन पूछता है कि आपने ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत इत्यादिकी बात की। यह सब क्या है और यह अधियज्ञ क्या है। ये सारी बातें युक्तचित्त व्यक्तिके द्वारा प्रयाणकालमें जानी जा सकती हैं, इसका क्या अर्थ है?

[११९]

गुरुवार, २९ जुलाई, १९२६

श्रीकृष्ण इसका जवाब देते हैं:

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।। (८,३)

जो अक्षर है और जो उत्तम है, वह ब्रह्म है। स्वभाव अध्यात्म है।

जो हम सबका ईश्वर है वही इस अध्यात्मको उत्पन्न करनेवाली शक्ति है। भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि त्यागसे होती है और उसे कर्मकी संज्ञा दी गई है।

[१२०]

[शुक्रवार, ३० जुलाई, १९२६]

हम सारे जगत्‌के साथ शारीरिक रूपसे नहीं जुड़ सकते, किन्तु उससे आध्यात्मिक सम्बन्ध रख सकते हैं।

परोपकार वृत्ति न रखनेवाला व्यक्ति केवल अपना ही नहीं दूसरोंका भी नुकसान करता है। यदि माँ गर्भ-स्थित बालकका रक्षण न करे तो स्वयं भी मरे और बच्चा भी मर जाये। उसका रक्षण करना उसका कर्म है और यह त्यागका एक स्वरूप है। माता नियताहार न करे, मलिन विचार और मलिन आहार करे तो माता और शिशु दोनोंकी हानि होती है। इसी तरह हमारी भी हानि होती रहती है। हम कह सकते हैं कि हमारे बिगड़नेसे जगत्‌का क्या बिगड़ता है। किन्तु उससे जगत्‌का और हमारा — दोनोंका बिगड़ता है।

कर्मका अर्थ उत्पत्ति करनेवाला कर्म तो कदापि नहीं है। व्यासजीका 'गीता' और 'महाभारत' लिखना उनके लिए एक महान् विसर्ग (त्याग) था। यह सम्भव नही हो सकता कि 'गीता' जैसा रत्न, कर्म शब्दसे उत्पत्तिकी स्थूलसे-स्थूल क्रियाका सूचक हो।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ (८,४)

हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन, इस जगत्‌में जो-कुछ नाशवन्त है, वह अधिभूत है। देवताओंका स्वामी वह पुरुष अधिदैव है। इस शरीरमें निवास करनेवाला मैं वासुदेव ही अधियज्ञ हूँ अर्थात् मैं सर्वयज्ञोंका अधिष्ठाता और सर्वयज्ञोंका फलदाता हूँ। जो भावनाएँ जीवका आश्रय लेकर बनी रहती है, वे भावनाएँ नाशवन्त हैं।

[१२१]

शनिवार, ३१ जुलाई, १९२६

लैटिन भाषाकी एक कहावत है कि नरकका रास्ता अच्छे इरादोंसे पटा हुआ है। केवल शुभ संकल्पोंसे काम नहीं हो पाता; किन्तु नारकीय व्यक्ति समझता है कि प्रयत्न किये बिना केवल शुभ विचारसे ही सफलता मिल जाती है। हम जितना देना चाहते हैं वह सब दे तो नहीं सकते; किन्तु जितना लेना चाहते हैं उतना ले अवश्य सकते हैं। मैं देनेकी चाहे जितनी कोशिश करूँ, यदि तुम उसे ग्रहण ही न करो तो मैं क्या कर सकता हूँ। यदि तुम सब पूरा-पूरा प्रयत्न करो तो दूसरोंके समयकी हानि न हो। चार बजे उठनेका प्रयत्न करें तो क्यों नहीं उठ सकेंगे? यदि कभी प्रयत्न करते हुए हम खप भी जायें तो क्या होता है। मर मिटनेकी हदतक प्रयत्न करनेवालेको भी मोक्ष मिलता है।

कृष्ण अधियज्ञ हैं फिर भी उन्होंने मनुष्य होनेपर जीवन-भर कर्म किया; इसलिए हम उनकी अर्चना करते हैं। पाण्डव सो जाते थे किन्तु वे तो सदा जागते ही रहते थे।

हर बातके लिए पाण्डवगण सदा उनका मुँह ताकते थे। वैसे उन्हें न कौरवोंका नाश करना था, न पाण्डवोंका विकास। विकास तो उन्हें जिस बातका करना था, उसी बातका करना था। उन्होंने कर्म करते-करते शरीरको क्षीण कर दिया किन्तु फिर भी उनका शरीर तेजस्वी बना रहा। प्रयत्न शब्द तो साधारण है किन्तु प्रयत्न वस्तु ऐसी है कि उसका निश्चय करते ही फल मिलने लगता है। कृष्ण निश्चय कर चुके थे कि पाण्डवोंकी जय होनी चाहिए, इसलिए पाण्डवोंकी जय तो निश्चित हो ही चुकी थी। कृष्ण तो साक्षात् परोपकारकी मूर्ति थे। उन्हें किसीकी कुछ हानि नही करनी थी। हम जानते हैं, जब परशुराम कर्णकी गोदमें सिर रखकर सोये हुए थे, उस समय किसी भयंकर कीड़ेने कर्णको काटा, यहाँतक कि लहूकी धार बह निकली। किन्तु कर्ण टससे-मस नहीं हुआ। क्या कर्ण आदमी नहीं था। हम भी उसीकी तरह शुभ संकल्प करके प्रयत्न करें और प्रयत्न करते हुए भी उसका फल कृष्णार्पण करते जायें।

अर्जुनको देहभृतोंमें अर्थात् शरीरधारियोंमें श्रेष्ठ कहकर कृष्णने सूचित यह किया है कि तुझे तनिक भी घबरानेकी आवश्यकता नहीं है।

[१२२]

रविवार, १ अगस्त, १९२६

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।। (८,५)

मरते समय जो व्यक्ति मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मुझे ही प्राप्त करता है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। (८,६)

व्यक्ति जिस विशिष्ट भावको भजते हुए अपना देह छोड़ता है, उस भावसे आविष्ट होनेके कारण व्यक्ति उसी भावको प्राप्त होता है। इसीलिए कहा गया है कि जैसा करोगे वैसा भरोगे।

हमें अपने विचार तनिक भी मलिन नहीं होने देने चाहिए। माता-पिता हमें मनुष्य-आकृति देते हैं। इतना ही नहीं, अपने शरीरसे मिलती-जुलती आकृति देते हैं। फिर जो सूक्ष्म फेरफार होते हैं, उन्हें हम समझ सकते हैं। हमें जो बीमारियाँ होती हैं उनका कारण भी हम स्वयं ही हैं, ऐसा मानना चाहिए। जिस मनुष्यका मन इतना बलवान हो जाये कि आसपासके संयोगोंका असर उसपर पड़नेके बदले स्वयं उसका असर उनपर पड़ने लगे तो उसे रोग नहीं होता। इसलिए हमारे रोगका कारण हमारा पाप है, ऐसा माननेमें ही हमारा भला है। जिसने मनःपूर्वक रामनाम लिया होगा, भला नामकी उस दीवारको लाँघकर दुःस्वप्न कैसे आ सकते हैं? यदि आ जायें तो समझना चाहिए कि हम रामनाम केवल मुँहसे ले रहे थे। मनमें थोड़ा-बहुत भय भी बच रहा हो, तो वह एक बहुत बड़ा विकार है और उसके

भी परिणामस्वरूप हम अनेक प्रकारकी व्याधियोंके शिकार हो जाते हैं। इस तरह हम जैसे-जैसे अपने विकार छोड़ते चले जायेंगे, उसी अनुपातमें हमपर रोगोंका हमला भी कम होता चला जायेगा। जिनके नाक-कान और अन्य सभी अंग सड़ चुके थे, ऐसे व्यक्ति भी चंगे हो गये हैं। स्वयं शरीरके भीतर स्वास्थ्य प्राप्त करनेकी शक्ति पड़ी हुई है। औषधियोंके बलपर व्याधिमुक्त हो जाना एक अस्थायी अवस्था है, किन्तु जो व्यक्ति विकारोंको जीतकर ईश्वरपरायण हो गया है, वह तो यही कहेगा कि मुझे वनस्पति आदिसे बनी हुई दवाओंका उपयोग करके नीरोग नहीं होना है। मेरे भीतर जो विकार पड़े हुए हैं, उनका नाश ही मेरा आरोग्य है। यदि उन अनिष्ट विकारोंसे लड़ते-लड़ते उसका देहपात हो जाये तो वह उसका भी स्वागत करता है।

जिसपर राक्षसी विचार हावी हो जाता है, उसका रूप एक दिनमें ही विकराल हो जाता है। एक बार एक व्यक्ति मेरे पास आया। उसपर खूनका अभियोग था। उसे देखते ही मैंने कहा कि तुम मुझे धोखा दे रहे हो। वह व्यक्ति तुरन्त ही वहाँसे भाग गया।

[१२३]

मंगलवार, ३ अगस्त, १९२६

विचार तो कर्म है। वह इतना प्रबल होता है कि कभी-कभी उसका परिणाम कृत कर्मसे भी भयंकर होता है। अगर कोई व्यक्ति किसीके हाथमें पिस्तौल पकड़ा दे और उससे जबरदस्ती हत्या करवाये तो यह नहीं कहा जा सकता कि हिंसा गोली चलानेवालेने की है। क्योंकि यह तो उससे जबरदस्ती करवाया गया है। जिस व्यक्तिके विचारमें हिंसा है और जो दूर बैठकर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसे सम्पन्न कराता है, उसकी 'अहिंसा' बड़ी भयंकर है। फिर स्वयं हमारे अन्तरमें शत्रु बैठे हुए हैं और वे हिंसा कराते हैं। जबरदस्त प्रयत्न और विचारके बावजूद व्यक्ति पाप-कर्ममें रत हो जाते हैं। हमारे काम और क्रोध ही ऐसे कर्म करानेवाले हैं। किन्तु प्रयत्न और विचारका उपयोग तो होता ही है। यमराज ही यदि किसी व्यक्तिके हाथमें शस्त्र देकर उससे हिंसा करायें तो उसके लिए यह हिंसा बन्धनकारी नहीं होती। क्योंकि ऐसे व्यक्तिके मनमें तो सदा नारायणका ही ध्यान रहेगा, और अन्तकालमें उसका उद्धार ही है। सामान्य रीतिसे यह बात व्यवहारमें नहीं सधती। क्योंकि हमारे सद्विचार भी बेहोश व्यक्तिके विचार होते हैं। विचारकी धारा तो ज्ञानपूर्वक सतत चलनी चाहिए। ऐसा व्यक्ति चलते-फिरते नारायणको ही रटता रहता है। वह अपना कोई काम नहीं करता। उसके सारे काम तो अन्तर्यामी करता है।

इन दो श्लोकोंमें श्रीकृष्णने समस्त तत्त्वज्ञान भर दिया है। व्यक्ति जैसा सोचेगा वैसा ही उसे मिलेगा।

> तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्य संशयम्।। (८,७)

इसलिए तू सब समय मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। यदि अपना तन, मन और धन कृष्णार्पण करके तू युद्ध करेगा तो तू मुझे ही प्राप्त करेगा।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।। (८,८)

निरन्तर अभ्यास करनेवाला और अपने मनको कहीं भी भ्रमित न होने देनेवाला तथा मेरा चिन्तन करते रहनेवाला पुरुष, परमदिव्य पुरुषको अर्थात् मुझको प्राप्त करता है।

कोई इसका यह अर्थ न समझे कि यदि मरते समय प्रभु स्मरण कर लिया, तो काम चल जायेगा। जिसने बचपनसे ही इस तरहका प्रयत्न किया होगा वही जीतेगा, दूसरे सब हार जायेंगे। हम लोगोंने डेलागोआबेसे स्टीमर पकड़ी और श्री गोखलेको विदाई दी। गोखले केबिनमें बिलियर्डका खेल खेल रहे थे। मैं नहीं खेल रहा था। उन्होंने सोचा कि मुझे शायद यह पसन्द न हो। इसलिए उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या तुम ऐसा समझते हो कि मुझे इस तरह खेलना अच्छा लगता है? मैंने उत्तर दिया, नहीं; आप तो यह बताना चाहते हैं कि हमारा देश इसमें भी कुशल है। इस तरह उनका वह खेल कृष्णार्पण था। मैं इस बातको जानता था। मैंने नाचना सीखा; किन्तु वह भी किसी शौकके कारण नहीं। मेरा मन आज भी यही कहता है। मेरा मन्शा तो अपनेको सब तरह 'जेंटलमैन' सिद्ध करके दिखाना था। इसी तरह हरएक काम कृष्णार्पण किया जाना चाहिए। प्राप्त कर्त्तव्य ही इस भावसे किया जा सकता है; जिस कामको हम भाग-दौड़ करके हथियाते हैं, वह इस भावसे नहीं किया जा सकता। यदि आश्रमके लोग विभिन्न काम करते हुए भी अपने कर्मोंको कृष्णार्पण बुद्धिसे करते हों, तो कहना चाहिए कि वे सब एक ही काम कर रहे हैं। किन्तु इसके लिए सबके विचारोंमें सम्पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए। यदि केवल एक ही व्यक्तिका मन कताईमें लीन हो, और दूसरोंके मन भटक रहे हों तो कहना पड़ेगा कि वे कताई नहीं कर रहे हैं।

[१२४]

बुधवार, ४ अगस्त, १९२६

कविं पुराणमनुशासितार –
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप –
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् ।
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।। (८,९-१०)

ऐसा व्यक्ति उस परमदिव्य पुरुषको प्राप्त होता है और सब-कुछ जानता है। जो पुरुष अनादि है, जो जगत्का नियामक है, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है उस पुरुषको प्रयाण-कालमें, अर्थात् मरणके समय स्मरण करना चाहिए।

ईसाके पूर्व छठवी शताब्दीमें लीडियामें क्रीसस नामका एक राजा हुआ है। उसके पास अपार धन था। एक बार ग्रीसका सन्त पुरुष और स्मृतिकार सोलन[1] उससे मिलने गया। तब राजाने उससे पूछा कि क्या मुझसे भी बढ़कर कही कोई सुखी है। सोलनने जवाब दिया : कोई व्यक्ति सुखी था या नहीं यह तो तभी कहा जा सकता है जब वह मरण प्राप्त कर ले। इसी क्रीसस राजापर ईरानके राजा साइरसने चढ़ाई की और उसे पराजित कर दिया। उसने क्रीससको मृत्युदण्ड दिया। जब क्रीसस फाँसीके लिए ले जाया जा रहा था, तब उसने तीन बार सोलनका नाम लिया। साइरसने इसका कारण पूछा और क्रीससने उसे सोलनका जवाब कह सुनाया। साइरसने उसे मुक्त करके अपना मन्त्री बना लिया। मरते समय साइरस अपने बेटे-को उसके हाथमें सौंप कर गया। इस तरह व्यक्तिकी सद्‌गति हुई है अथवा नही, यह हम उसके मरनेके बाद ही कह सकते हैं।

आगे परमपुरुषका वर्णन किया गया है। वह सबको उत्पन्न करनेवाला है; उसका रूप अचिन्त्य है; उसे केवल योगी ही ध्यानमें देख पाते हैं; वह आदित्यवर्ण अर्थात् सूर्यकी तरह नित्य चेतन और प्रकाशरूप है तथा वह अन्धकार रूपी अज्ञानसे परे है। यह कितना सूक्ष्म और विराट् होगा इसका विचार करते हुए हमारी बुद्धि काम नहीं देती। ऐसे परमपुरुषको जो प्रयाणकालमें अचल मनसे भक्ति तथा योगबल-के द्वारा स्मरण करता है वह कोई भी उपाय अथवा उपचार अथवा औषधिको स्वीकार नहीं करता। वह मुँह बन्द कर लेता है, आँखें बन्द कर लेता है और समझता है कि मैं जहाँ जा रहा हूँ वहाँ अन्धकार नही है, सुख-दुःख नही है। मुझे उसी प्रदेशमें पहुँचना है। अचल मन उसीका हो सकता है, जो भक्तिसे युक्त है और जिसे अपने अनेक जन्मोंकी साधनाओंका बल प्राप्त है तथा जो भौंहोंके बीचमें प्राणको पूरी तरह स्थापित करके चिन्तन कर रहा है। ऐसा व्यक्ति परमदिव्य पुरुषको प्राप्त करता है।

[१२५]

गुरुवार, ५ अगस्त, १९२६

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।। (८,११)

वेदको जाननेवाले व्यक्ति जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग यतिगण जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी इच्छा करनेवाले व्यक्ति ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, मैं उस परमपदको तेरे समक्ष संक्षेपमें प्रस्तुत करूँगा।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।। (८,१२)

१. (६३८-५५८ ई० पू०) एथेन्सका राजनयिक और कवि। हेरोडोटसने इस वार्तालापका विवरण दिया है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ (८,१३)

शरीरके सभी द्वारोंको बन्द करके, मनका हृदयमें निरोध करके, अपने प्राणोंको मस्तकमें प्रस्थापित करके जो स्थिर हो जाता है और जो व्यक्ति 'ओम्' शब्दके उच्चारणके द्वारा ब्रह्मका स्मरण करके मुझे भजता हुआ देहत्याग करता है वह परमगतिको प्राप्त होता है।

पिछले श्लोकमें अन्य भावोंकी बात की गई है। यहाँ केवल भगवानके ध्यान-की ही बात है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (८,१४)

जिस व्यक्तिका चित्त कहीं दूसरी जगह नहीं जाता और जो सतत् मेरा स्मरण करता है, मैं ऐसे ही नित्ययुक्त योगीके लिए सुलभ हूँ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ (८,१५)

जिन महात्माओंने परम संसिद्धि प्राप्त कर ली है, वे मेरे पास पहुँचनेके बाद दुःखके धाम, अशाश्वत पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं करते।

पुनर्जन्ममें दुःखकी क्या बात है?

एक विद्यार्थी: हर बार मनुष्य होना सम्भव नहीं है।

बापू: हम बन्दर भी हो जायें तो क्या हरज है? सदा नाचते-कूदते रहेंगे।

दूसरा विद्यार्थी: क्या हम मरनेके बाद ब्राह्मण होकर पैदा हो सकते हैं?

क्या वह स्थिति उत्तम नहीं है, जिसे प्राप्त करनेके बाद फिर मरना ही नहीं पड़ता। मरना कोई पसन्द नहीं करता। जो पसन्द करता है वह बार-बार मरता है। जिसे कभी मरना ही नहीं है वह तो देहका मोह छोड़ देता है। उसके सभी द्वारों-को झटपट बन्द कर देता है। वह देहका विचार छोड़ देता है। उसका दमन करता रहता है। जो ऐसा करे, उसके लिए मरण शेष नहीं बचता। जन्म दुःखका घर इसीलिए है कि वह सदा मरणसे जुड़ा हुआ है। पक्षीगण कलरव करते रहते हैं, किन्तु वे सज्ञान नहीं हैं। कह सकते हैं वे अज्ञानके अधीन हैं। यदि कोई सभी लड़कों-को पक्षी बना दे तो? परमपद, मोक्ष तो वह है जिसमें जन्म, मरण, रोग, राग-द्वेष, कुछ नहीं होता।

[१२६]

शुक्रवार, ६ अगस्त, १९२६

बड़े-बड़े पर्वत और सूर्य, चन्द्र, तारागण भी अशाश्वत हैं। जिनके नाम-रूप हैं ऐसी सभी वस्तुएँ-वस्तुमात्र अशाश्वत है। यदि हमारी आयु करोड़ों वर्षकी होती तो शायद हमें अशाश्वतका भान न होता। हमें सूरजके विषयमें अशाश्वतताका अनुभव नहीं

होता। किन्तु विज्ञान कहता है कि वह अशाश्वत है। गहराईसे सोचें और ऊपरी ढंग-से सोचें तो भी — दोनों — दृष्टियोंसे वह अशाश्वत है। शाश्वत तो राम-नाम ही है। जन्म-मृत्यु अशाश्वत हैं, इतना ही नहीं, वे दुःखके भण्डार भी हैं।

यह किसलिए? इसलिए नहीं कि 'भगवद्गीता'में कहा गया है; बल्कि इसलिए कि हमें आज भी इस बातका अनुभव हो सकता है कि ये वस्तुएँ दुःखके घर हैं। अन्तकालमें सद्गति प्राप्त करनेकी कुंजी यह है कि हम प्रतिक्षण इस बातका अनुभव करें कि यह संसार दुःखमय है और इसलिए हमें इसके प्रति मोह और राग-द्वेषका त्याग कर देना चाहिए।

केवल बुद्धिसे भी यह समझमें आ सकता है कि यह संसार दुःखमय है। यदि हम इस बातका विचार करें कि प्राणिमात्रका जन्म किस तरह होता है तो जन्मकी प्रक्रिया ही एक ऐसी बात है कि हमें जन्मसे नफरत हो जाये। 'पापोऽहम्', 'पाप-संभवोऽहम्' कहनेका यही अर्थ है। सब-कुछ मायासे आच्छादित है इसलिए प्रतिक्षण जहाँ घृणाका अनुभव होना चाहिए, वहाँ हम सुखका अनुभव करते हैं। ऐसी एक भी इन्द्रिय नहीं है जिसके द्वारा हम इस दुःखका ठीक-ठीक अनुभव कर सकें। उत्पत्ति-के बादकी स्थिति भी प्रारम्भसे अन्ततक एक लम्बे कारावासकी ही स्थिति है। हम बालकका लाड़-प्यार करते हैं और यह हमें अच्छा लगता है; क्योंकि बालक खिल-खिल हँसता है। जेलमें पड़ा हुआ कैदी भी इस तरह हँसता है। अभ्यासके कारण हम इस पराधीनतामें आनन्द मानने लगते हैं। किन्तु वास्तवमें हम इस स्थितिमें एक क्षण भी शान्तिका अनुभव करते हों ऐसा नहीं है। शरीरकी बनावटपर ही ध्यान दीजिए। इसके असंख्य छिद्रोंमें से मैल ही निकलता है। जो कुछ निकलता है सब कुछ घिनौना है। यदि आदमी विचार करने बैठ जाये तो इनमें से एक भी वस्तु उसे छूने-जैसी नहीं लगेगी। किन्तु आखिर यह कैदखाना ऐसा स्थान तो है ही जिससे हम छूट सकते हैं, और जो ऐसा मानने लगेगा वह उसका कमसे-कम उपयोग करेगा। किन्तु इससे मुक्ति पानेका उपाय आत्महत्या करना नहीं है। आत्महत्या करनेवालेको फिर जन्म लेना पड़ता है, बल्कि उसे तो फिरसे जन्म लेनेकी अधिक आकांक्षा भी बनी रहेगी। देहकी उत्पत्ति इत्यादिका विचार ही संयम-मार्गकी उत्पत्तिका कारण है। देह प्यार-दुलार करने योग्य नहीं है, बल्कि दमन करने योग्य है। यदि देह इस बातको समझ ले कि मैंने जो-जो माँगा वह मुझे कभी नहीं मिला तो वह हमसे त्रस्त हो जाये और अपने आप हमसे छूटकर चली जाये। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि लोग अस्तित्वके इस दुःखको समझ लें तो वे उन्हें ऐसी स्थितिमें पहुँचा देंगे जो इससे कई दरजे अच्छी होगी। परमगतिमें ऐसी कोई बात नहीं है कि उसमें पहुँचनेके बाद हम इस जीवनमें रहते हुए जिस शाश्वत सुखका अनुभव करते हैं उसका भी नाश हो जायेगा। वैसे सुखका नाश नहीं होगा, बल्कि वह तो हजारों गुना होकर मिलेगा। इस भावका अनुभव करनेवाला व्यक्ति संसारमें लीन नहीं होता, [ईश्वरके साथ] तन्मय हो जाता है। वह संसारमें अपनेको और अपनेमें संसारको

देखता है तथा आत्मौपम्यकी भावनाको ही सर्वत्र व्यवहार करता है। अहिंसाकी उत्पत्ति भी इसी विचारसे हुई है कि जब संसार ही दुःखमय है तो हम किसीको क्या दुःख दें।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (८,१६)

ब्रह्मके भुवन समेत सारे भुवन पुनः जहाँके तहाँ जाकर लीन हो जायेंगे। सूर्य, चन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि सब नाशवन्त हैं; तथापि जो मेरे पास आ जाता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

ऊपर जो मैंने विवेचन किया था, उसमें भी यही बात कही है।

[१२७]

शनिवार, ७ अगस्त, १९२६

कलके अन्तिम श्लोकमें महान् काव्य निहित है। समुद्रके समान ज्ञान एक बिन्दुमें समाहित कर दिया गया है और हम इस ज्ञानको जितना अधिक अनुभव करेंगे, यह काव्य उतना अधिक खुलेगा। यह ऐसा काव्य है जिसमें कवि कल्पनाके पंख लगाकर उड़ रहा है। शरीर और इन्द्रियका बन्धन उसके निकट शेष नहीं बचा है। कानसे जो सुना है, आँखसे जो देखा है, उसे आधार बनाकर वह कल्पना करता है और तर्कके भी परे जाकर वह कहता है कि इन्द्रियोंके द्वारा जो-कुछ ज्ञान प्राप्त होता है वह सब मन की ही उपज है। इसलिए वह कल्पना करता है कि जब हम नाशवन्त हैं तो अखिल ब्रह्मांड भी नाशवन्त ही है। जो-कुछ भी हमारी कल्पनामें आ सकता है, वह सब नाशवन्त है, परिवर्तनशील है। जो व्यक्ति सत्यके प्रति समर्पित है, वह सत्यको केवल इसीलिए नहीं छोड़ दे सकता कि जगत्का मत उसके मतसे मेल नहीं खाता। सारा जगत उसकी बात न माने तो भी वह सत्य नहीं छोड़ेगा, क्योंकि उसका सत्य संसारपर आधारित नहीं है, और न वह कोई नाटक कर रहा है। इसलिए श्रीकृष्ण यहाँ योगेश्वरकी हैसियतसे यह कह रहे हैं कि हम ब्रह्मलोकमें सुख मानते हैं किन्तु वहाँ भी सुख नहीं है।

इसलिए वे अर्जुनसे कहते हैं कि तू इन सब भुवनोंको छोड़कर उस भुवनमें आ जहाँ मेरा निवास है। यह एक ऐसी बात है जो हमारी कल्पनामें नहीं आ सकती। किन्तु जो कल्पनामें नहीं आती, उसका अस्तित्व तो है। यदि व्यक्ति इसका प्रयत्न करते हुए प्राण छोड़े तो फिर उसका जन्म नहीं होता।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।। (८,१७)

जो पुरुष यह जानते हैं कि ब्रह्माका एक दिन हजार युगोंकी अवधिवाला है और हजार युगोंसे ब्रह्माकी एक रात्रि बनती है, वे, रात और दिन अर्थात् कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं।

[१२८]

रविवार, ८ अगस्त, १९२६

हम मनुष्यगण चौबीस घंटेका एक रातदिन गिनते हैं। नाककी नोकके ऊपर ध्यान रखकर जो ईश्वरका चिन्तन करेगा वह सुखी होगा, ऐसा कहा जाता है। किन्तु हमें नाककी अनीसे आगे चलना चाहिए। दीर्घदर्शी बनना चाहिए। ज्ञानी बनना चाहिए। जो ऐसा करेगा, वह देखेगा कि वस्तुओंका स्वरूप जैसा हम देखते हैं वैसा नहीं है। यह जाननेके लिए कि ब्रह्माका दिन एक हजार युगकी अवधिवाला है, हमें 'गीता' पढ़नेकी जरूरत नहीं है। यदि हम विचार करे तो स्वयं इतना समझ ले सकते हैं। हमें ऐसा लगता है कि सूर्यके सदा बने रहनेमें कोई संदेह नहीं है। जो ज्ञानी है वह विराट् कालके चक्रमें किसी भी एक बिन्दुपर से अखिल कालके स्वरूपका विचार कर सकता है। वह तो समस्त संयोगोंको एक-साथ सामने रखकर विचार कर लेता है। किन्तु सामान्य व्यक्ति ऐसा नहीं करता। वह तो यही कहेगा कि मैंने किसीको इन्द्रिय-निग्रह करते नहीं देखा; और इसीलिए वह इसपर से यही अनुमान लगायेगा कि यह एक ऐसी बात है जो सध नही सकती और इसे साधना भी नहीं चाहिए। यदि हम इस तरहके अनुमान निकालें तो हमारा नाश हो जायेगा। यह तो सरासर गलत अनुमान है।

यदि हमें दिन और रातको समझना हो तो उसका कोई प्रमाण निश्चित करना पड़ेगा। अनन्त कालका क्या प्रमाण निश्चित किया जाये। हजार युगका दिन और हजार युगकी रात। ब्रह्माण्डमें रात और दिनका यह प्रमाण बतलानेका आशय यह है कि आदमीको धीरज रखना चाहिए। यदि परिणाम प्राप्त होनेमें समय लग रहा हो तो निराश नहीं होना चाहिए। चरखेपर श्रद्धा रखें; चार-पाँच सालकी तपश्चर्यासे क्या हो सकता है। हमें अपने जीवनमें सफलता मिलते न दिखे, किन्तु फिर भी हमें विश्वास रखकर स्थिर रहना चाहिए और प्रयत्न करते ही जाना चाहिए। जब चरखेके बारेमें यह बात कही जा सकती हो, तो सत्य और अहिंसाके विषयकी तो चर्चा ही क्या! इसलिए प्रयत्न तो सतत् ही किया जाना चाहिए। सतत् प्रयत्न करनेवालेको न निराश होना है, न अभिमान करना है। हमें याद रखना चाहिए कि हजारों युग मिलकर एक दिन बनाते हैं और हजारों पार्वतियोंमें से एक पार्वती सफल हुई। जाने कितनी पार्वतियाँ खप गईं, शम्भु खप गये, तब कहीं जाकर एक पार्वती और एक शम्भुका निर्माण हुआ। तपबलके फलित होनेके बारेमें इतनी बात समझ लेना चाहिए।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ (८,१८)

जब ब्रह्माका दिन उदित होता है, तब अव्यक्तमें से व्यक्त प्रकट होता है। जो प्राणी अदृश्य थे, दृश्य हो जाते हैं और जब रात शुरू होती है तब संसारका प्रलय हो जाता है अर्थात् संसार अव्यक्त हो जाता है। संसार पुनरावर्ती है। यह माननेका भी कोई कारण नही है कि ब्रह्माण्ड स्थिर है। वह तो चक्करपर चक्कर

लगाया ही करता है। तकुएकी गतिसे हजार गुना गतिशील है यह चक्र! पृथ्वीका प्रलय होना निश्चित ही है। पृथ्वी नाशवन्त है, फिर भी प्रलयान्तमें कोई न कोई तो बच ही जायेगा।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।। (८,१९)

हम चाहें अथवा न चाहें जब रात आती है तब प्रलय हो जाता है और जब दिन होता है तब संसार उत्पन्न हो जाता है और यह बार-बार होता रहता है।

कबतक हमें इस चक्रमें पड़े रहना है। हमारे समाधानके लिए श्रीकृष्ण आगेका श्लोक कहते हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।। (८,२०)

इस अव्यक्तसे परे एक दूसरा भाव है, वह परम भाव है और सनातन है। नाशवन्त प्राणियोंमें भी यह परमभाव शाश्वत है। नाश सभीका होता है किन्तु उसके पीछे जो मुख्य भाव है वह शाश्वत है। हमें नाककी अनीसे आगे देखना चाहिए।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। (८,२१)

इसे अव्यक्त और अक्षर कहा गया है। कहा है कि यह परमगति ही है। इसे प्राप्त करनेके बाद कोई वापस नहीं आता। यही मेरा परमधाम है।

धैर्य धारण करके साक्षीभावसे कर्म करते हुए तू मुझे पा जाता है। श्रद्धालु बन और कर्त्तव्यमें दृढ़ रहकर कल्याण कर। परब्रह्मका नाश नहीं होता। अन्य वस्तुएँ नाशवान् हैं। सारी बातका सार यही है।

[१२९]

मंगलवार, १० अगस्त, १९२६

ईश्वरका अक्षर तथापि व्यक्त स्वरूप उसके अवतारोंमें है। संसारके प्राणिमात्रमें यह अक्षर स्वरूप देखा जा सकता है। हम पशुओं-जैसे बन जायें, इसका नाम अभेदवाद नहीं है। अभेदवाद तो इस बातकी प्रतीति है कि दुष्टसे-दुष्ट व्यक्तिमें भी ईश्वरांश है और प्रसंगानुकूल वह जागृत हो सकता है। रामचन्द्रजीका बालस्वरूप कविकी कल्पना है, किन्तु हम उसे सत्य मान सकते हैं क्योंकि बालस्वरूपमें भी चेतन तो होता ही है। ज्ञानी होनेपर भी कोई छोटा बच्चा अपने शिशु स्वरूपमें बच्चोंकी तरह ही कौतुक करता रह सकता है और तब हम कह सकते हैं कि यह तो "ब्रह्म लटका करे ब्रह्म पासे।" ब्रह्म ब्रह्मके सामने खेल रहा है। ऐसा बच्चा ब्रह्मका स्वरूप उसी अर्थमें होगा जिस तरह पार्वती तपस्याकी मूर्ति और कृष्ण योगकी मूर्ति—ब्रह्मकी मूर्ति थे।

[१३०]

बुधवार, ११ अगस्त, १९२६

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ (८,२२)

हे पार्थ, यह जो पुरुष है, यह परः है, उत्तम है। इसे अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है। समस्त भूत इसके अन्तरमें निवास करते हैं। सब-कुछ इसीसे व्याप्त है।

रायचन्दभाईने गाया है, "एह परम पद प्राप्य योगना ध्यानमां, गजा वगरनुं।"[1]

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ (८,२३)

अब मैं तुझे वह स्थिति (इसका अर्थ काल भी हो सकता है) बताता हूँ जिसे प्राप्त कर लेनेके बाद अथवा जिस रास्तेका अनुसरण करनेके बाद पुनरागमन नही होता।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ (८,२४)

यह और उसके बादका श्लोक,कहा जाता है कि 'गीताजी' से ठीक मेल नही खाते। किन्तु हमें तो यह मानकर चलना चाहिए कि 'गीता' में इनका स्थान है।

'गीताजी' कोई आकाशसे आई हुई पुस्तक नहीं है और न यही है कि कृष्णका अर्जुनको दिया गया उपदेश शब्दशः ग्रहण करना है। व्यासने 'गीता' में वह सब कहा है जो भगवानने मोक्षार्थीसे कहा। उसे कहते हुए उन्होंने ऐसी बातें भी कही जिनका उन्होंने अनुभव नही किया था। सम्भव है उन दिनों यह एक रूढ़ मान्यता रही हो कि अमुक किसी प्रहरमें मनुष्यको काम करनेमें प्रवृत्त होना चाहिए और अमुक किसी प्रहरमें उसे देह छोड़ना चाहिए। राजाने जो समय निश्चित कर दिया हो, मिलनेवाला उसी समयमें उसके पास जा सकता है, चाहे जब नही। इसी प्रकार सम्भव है, यह मान्यता रही हो कि ईश्वरके पास भी उसके निश्चित किये हुए समयमें ही पहुँचना चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि जो अमुक घड़ियोंमें नहीं मरा है, उसने ईश्वरके पास पहुँचनेका प्रयत्न ही नही किया है।

अग्नि, ज्योति, दिवस, शुक्ल पक्ष और उत्तरायणके छः महीनोंमें जिसे मरण प्राप्त होता है, वह ब्रह्मको पाता है। इसका स्थूल अर्थ होता है और सूक्ष्म भी। सूक्ष्म अर्थ यह हुआ कि जिसने शुक्ल स्थिति अर्थात् जिस स्थितिमें ज्योतिकी तरह स्पष्ट ज्ञान हो गया है उस स्थितिमें संसारको छोड़ा, उसे फिर संसारमें नहीं आना पड़ता। इससें विपरीत,

१. यह परमपद योग द्वारा ध्यानमें ही प्राप्त किया जा सकता है, जो मेरी शक्तिके बाहर है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ (८,२५)

जहाँ धुआँ हो, रात्रि हो, कृष्णपक्ष हो और दक्षिणायन हो, वहाँ व्यक्तिको चान्द्रमासज्योति प्राप्त होती है और उसके बाद लौटना ही पड़ता है। स्वर्गलोकमें रहकर उसका पुण्य क्षीण हो जाता है और वह वापस पृथ्वीपर आता है।

हम दो अर्थोंमें से जो अर्थ हमें पसन्द हो, वही ले सकते हैं। जिसने पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं किया है उसे फिर जन्म लेना पड़ता है अथवा जो व्यक्ति निष्काम वृत्तिसे सदा भगवानका भजन करता रहेगा उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। क्योंकि इस तरह उसके कर्मका छेदन हो जायेगा। जो व्यक्ति निष्काम भक्ति करता हुआ जायेगा, उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ेगा।

[१३१]

गुरुवार, १२ अगस्त, १९२६

कुछ लोग ऊपरके श्लोकोंको क्षेपक मानते हैं किन्तु हम ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि हमारे पास तो 'गीताजी' की जो प्रतियाँ हैं उनमें ये श्लोक हैं। यदि अर्थ विपरीत ही हो तो हम उसका त्याग कर सकते हैं। यदि वैसा न हो तो उसके अर्थका 'गीता' के साथ सामंजस्य बैठाना चाहिए। ऐसा ही हमने कल किया। 'काल' शब्दका अर्थ है स्थिति। जिस कालमें 'गीता' लिखी गई, उस कालमें उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुवकी खोज हुई हो चाहे न हुई हो किन्तु यह ठीक है कि उत्तर ध्रुवमें रहनेवालोंका दिन छः महीनों और रात छः महीनेकी होती है। उत्तरायण प्रकाश और जागृतिका काल है जबकि दक्षिणायन अज्ञानकाल अथवा अज्ञानकी स्थितिका द्योतक है। हम इन दोनों स्थितियोंको निष्काम और सकाम वृत्तियाँ कह सकते हैं।

आगे कृष्ण भगवान कहते हैं:

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ (८,२६)

शुक्ल और कृष्ण — शाश्वत और नाशवन्त — ये दोनों गतियाँ इस संसारमें अनादि कालसे चली आती हैं। शुक्ल अर्थात् ज्ञानकी और कृष्ण अर्थात् अप्रकाशकी स्थिति। एक स्थितिमें व्यक्ति आवृत्तिहीनताको प्राप्त करता है और दूसरीमें आवृत्ति शेष बच जाती है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ (८,२७)

इन दो मार्गोंको जाननेवाला योगी मोहको प्राप्त नहीं होता। वह समझ जाता है कि निष्काम भक्ति श्रेष्ठ भक्ति है। जिसपर हमारी श्रद्धा और भक्ति है उससे माँगते रहनेकी क्या जरूरत है। जो इस भक्तिका दाता है, उससे माँगनेको बचता ही क्या है। ऐसे भक्तको तो यही जान पड़ेगा कि मुझे कुछ लेना ही नहीं है। उसने

तो सब-कुछ भगवानको सौंप दिया है, अपनी बागडोर भगवानके हाथमें दे दी है। वह कहता है कि मेरा जो सर्वस्व है, मैंने उसे तेरे चरणोंमें डाल दिया है। यही हुई अनन्य भक्ति, उत्तरायण ज्योति इत्यादि। सर्वकालमें योगयुक्त रहनेकी बात कही है सो किसलिए? यह इसलिए कि तुझे ज्ञानसे संयुक्त रहना है, अनन्य भक्तिसे संयुक्त रहना है। देवतागण अमर हैं, सो मानव-जातिके ही अनुपातमें। नाश तो इनका भी है। इसलिए नाशवन्त तत्त्वोंके पास जानेके बदले मेरे पास आनेसे ही तुझे ज्ञान मिलेगा; अन्य मार्गसे नहीं। हृदयकी गाँठको ज्ञानकी रेतीसे इस तरह घिसते हुए साफ रखोगे तो मृत्युके क्षणमें सब-कुछ तुम्हारे लिए सहज हो जायेगा।

> वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
> दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
> अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
> योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ (८,२८)

वेदमें, यज्ञमें, तपमें, दानमें जो पुण्यफल बताये गये हैं, उक्त तत्त्वको जानलेने-वाला व्यक्ति उनसे भी परे हो जाता है। ऐसा योगी पुरुष परम स्थानको प्राप्त करता है। हमने 'यावानर्थ उदपाने' वाले श्लोकमें यह देखा था कि जिस वस्तुको प्राप्त करनेसे सब-कुछ प्राप्त हो जाता है और फिर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं बचता, इस प्रकाश और ज्ञानको प्राप्त कर लेनेवाला उसी स्थितिमें पहुँच जाता है।

अध्याय ९

[१३२]

शुक्रवार, १३ अगस्त, १९२६

> इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
> ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ (९,१)

इस विज्ञानके साथ मैं तुझे वह ज्ञान बतानेवाला हूँ जो गुह्यतम, असूयारहित और निर्मल है तथा जिसे जानकर तू अकल्याणसे बच जायेगा।

> राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
> प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ (९,२)

एक व्यक्ति अधिक क्रोधमें आनेपर बीजगणितके प्रश्न हल करनेके लिए बैठ जाता था। जिस स्थितिमें रामनामका सहारा लेना चाहिए उसमें यदि कोई व्यक्ति बीजगणित लेकर बैठ जाये तो वह उसके लिए एक बोझ ही सिद्ध हो। कोई व्यक्ति मर रहा हो और हमसे मदद माँगे और हम उससे यह कहें कि मैं तो गणितका प्रश्न हल कर रहा हूँ तो वह एक प्रकारकी असभ्यता ही होगी। क्योंकि वह तो एक ऐसा क्षण है जिसमें शास्त्रोंको एक तरफ उठाकर रख दिया जाना चाहिए। गणितके प्रश्न हल करना अपने-आपमें कोई कर्त्तव्य-कर्म नहीं है। कर्त्तव्य उसके पीछे

उद्देश्यरूपमें हो सकता है। गणितका प्रश्न हल करते हुए सम्भव है मैं यह जान सकूँ कि मैं कौन हूँ और कहाँ हूँ। किन्तु गणित-शास्त्रका अभ्यास वह अपने-आपमें कोई स्वतन्त्र कर्त्तव्य नहीं है। सेवा परम कर्त्तव्य है। उदाहरणके लिए खाना किसी भी कालमें कर्त्तव्य नहीं है। जो व्यक्ति खाते-खाते सेवा करनेके लिए दौड़ पड़ता है, वही सच्चा मनुष्य है।

कर्त्तव्य जाननेकी यह विद्या ही राजविद्या है। यह सभी गुह्योंका राजा है, पवित्र है, उत्तम है, धर्म्य है, आचरणके योग्य है, बहुत सुगम है और प्राप्त होनेके बाद इसका नाश नही होता। मै तुझे वही राजविद्या बताऊँगा।

[१३३]

शनिवार, १४ अगस्त, १९२६

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ (९,३)

जो पुरुष इस धर्मके प्रति श्रद्धाहीन हैं, वे मुझे प्राप्त न करके मृत्युरूपी ससार-मार्गपर लौट आते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ (९,४)

यह सारा जगत् मेरे द्वारा व्याप्त है — मेरी उस मूर्तिके द्वारा व्याप्त है, जो दिखाई नहीं पड़ती। जबतक हमारे ज्ञानचक्षु नहीं खुले हैं तबतक हमें श्रद्धाके द्वारा देखना पड़ता है। ये सारे भूत मुझमें है, मैं उनमें नही हूँ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ (९,५)

यह भी सच है कि ये मुझमें नहीं हैं। यह मेरे योगका बल है। मेरा आत्मा भूतोंको धारण करनेवाला है फिर भी वह भूतोंमें निवास नही करता।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ (९,६)

जिस प्रकार आकाशमें स्थित वायु सब जगह विचरण करता रहता है इस प्रकार सारे भूत मुझमें हैं, ऐसा तू जान।

वायु सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी आकाश वायुसे अलिप्त है। हम कह सकते हैं कि आकाशमें वायु व्याप्त है। आकाशका अर्थ होता है शून्य, खाली। फिर भी हम कह सकते हैं कि आकाशमें वायु है। फिर भी आकाश अलिप्त है। आकाशमें व्याप्त वायु आकाशमें नहीं है। इसी तरह सब भूतोंमें स्थित ईश्वर उनमें स्थित नहीं है। एक तरहसे वह शून्य है। क्योंकि हम अपनी इन्द्रियोंके द्वारा वहाँ दूसरी वस्तुओंको देख सकते हैं, इसे नहीं देख सकते।

श्रद्धालु और अश्रद्धालु — प्रामाणिक तो दोनों ही हैं। जिसके हृदयमें श्रद्धा है, उसके लिए ईश्वर है और जिसके हृदयमें श्रद्धा नही है, उसके लिए ईश्वर नही है।

कोई विद्वान् व्यक्ति इन दोनों श्लोकोंमें कही गई बातको प्रतिपादित कर सकता है।

गंगामें मैल है और नहीं भी है। इसी तरह दुष्टसे-दुष्ट व्यक्ति भी ईश्वरमें है। क्रूरसे-क्रूर और चाण्डाल भी ईश्वरमें है और नहीं भी है। ईश्वर तो अच्छे और बुरेसे परे है। व्यासजीने इन विरोधी वचनोंको एक-साथ रख दिया है क्योंकि हमारी बुद्धि ईश्वरका वर्णन करते हुए पुलकित हो जाती है। यदि हम इतना भी समझ जायें कि भगवान सर्वत्र ओतप्रोत है तो वह पर्याप्त है।

[१३४][1]

रविवार, १५ अगस्त, १९२६

आदमीको गिरानेवाली चीजें तो बहुत हैं। गिरनेके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। किन्तु ऊपर चढ़नेके लिए तो प्रयत्न करना ही पड़ता है। हम जिस धर्मपुस्तकको अपने लिए कल्याणकारी मानते है, उसका आदर करते है और उसे अच्छी जगहपर रखते है। किन्तु यदि इस तरह बाह्य आदर देकर ही हम अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री मान लें तो वही साधन हमारे लिए बन्धनरूप हो जायेगा। इस-लिए आदर देनेमें भी विवेक तो होना ही चाहिए। विवेकपूर्ण आदर ही हमें आगे बढ़ा सकता है। बाह्य पूजनमें ही सब-कुछ नही आ जाता। हमें इससे आगे जाना चाहिए। ग्रन्थमें जो-कुछ लिखा है, उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। ईश्वर सर्वशक्ति-मान है। हम उसकी कृति हैं। किन्तु जब हम, जो उसके सामने चीटियोंके समान तुच्छ हैं, उसे खा जानेका प्रयत्न करते है तब वह अपनी अनन्त शक्तिका उपयोग करता है। ईश्वर हमारे इतने समीप है मानो वह बिलकुल आँखोके सामने खड़ा है, किन्तु वह इतना दूर भी है कि हमारे हाथ नहीं आता। जैसे आकाश और वायु एक-दूसरेमें ओतप्रोत हैं, ऐसा ही सम्बन्ध ईश्वर और जगतका है। जो श्रद्धालु है वह ईश्वरमें समाया हुआ है। जो अश्रद्धालु है वह उससे अलग है। ईश्वर किसीके ऊपर जबरदस्ती जाकर नही लद जाता। किन्तु जो उससे भेंट करना चाहता है, उसके लिए वह अपने द्वार बन्द भी नहीं करता। ऐसा है ईश्वरका स्वभाव।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ (८,७)

हे कौन्तेय, एक कल्पका क्षय हो जानेके बाद समस्त जीव प्रकृतिमें लय हो जाते हैं। दूसरे कल्पका प्रारम्भ होनेपर मैं फिर सबको उत्पन्न करता हूँ। धर्म-पुस्तकोंमें उत्पत्ति और लयका ऐसा विवरण मिलता है। अलग-अलग जीव तो जन्म और मरण प्राप्त करते ही हैं, किन्तु समस्त जगत्की भी उत्पत्ति और उसका

१. इन दो दिनोंका विवरण महादेवभाई नहीं लिख सके, इसलिए इसे पूँजाभाईके विवरणसे लिया है।

लय होता है। इसलिए यदि जीव अपना लक्षण समझना चाहता हो तो उसे जगत्‌से अतीत हो जाना चाहिए। इस दीपकको एक-न-एक दिन बुझना ही है। हम निश्चित रूपसे यह जानते हैं; फिर भी उसका उपयोग तो करना ही होता है। इसलिए इसे साफ रखनेकी चिन्ता आवश्यक है। आश्रममें घर बने हुए हैं। ये घर मानो आश्रमकी देह हैं। इनका नाश अवश्यंभावी है। किन्तु आश्रमकी आत्माका अर्थात् जो आश्रमके आदर्श हैं, उनका कभी नाश नहीं होता। अविनाशी तत्त्वको पानेके लिए हमें ईंट और माटीके मकान बाँधने पड़ते हैं। इस तरह विवेकपूर्वक प्रयत्न करना ही होता है। जबतक जगत्‌में रहना है तबतक नाशवान् वस्तुओंके प्रति भी प्रयत्नशील रहना ही पड़ता है। किन्तु यह इसी दृष्टिसे कि हमें अविनाशी तत्त्वको प्राप्त करना है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ (९,८)

अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर मैं समय-समयपर जीवोंके समस्त समुदायको बार-बार उत्पन्न करता हूँ और उन्हें भी अपनी प्रकृतिके वशमें होकर जबरदस्ती उत्पन्न होना पड़ता है।

[१३५]

मंगलवार, १७ अगस्त, १९२६

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ (९,९)

हे अर्जुन, उदासीनकी तरह स्थिर और अनासक्त मुझको वे कर्म नहीं बाँधते। ईश्वर अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करता हुआ भी कोई कर्म नहीं करता, क्योंकि वह इस प्रकृतिसे भी परे है।

राजा पाप करता है तो उसके छींटे प्रजाके ऊपर भी जा पड़ते हैं, किन्तु ईश्वर-से बिना विचारे कोई काम होता ही नहीं है। क्योंकि वह सर्वज्ञ है। पापका अर्थ ही है बिना विचारे हुए किया हुआ काम। जिसमें विचार है उसमें पाप कैसा। इसी तरह जो सहज भावसे पाप करता है, उसके लिए पुण्य क्या है। हमारी आँख जिस तरह स्वभावसे ही उठती-गिरती है, इसी तरह जो परोपकारको किसी फलकी दृष्टिसे नहीं, स्वभावसे ही करता रहता है, उसे अपने पुण्य-कर्मोका फल भी नहीं भोगना पड़ता। मनुष्यका तो स्वभाव ही परोपकार करनेका है। क्योंकि उसमें और दूसरे जीवोंमें कोई अन्तर नही है। सबके एक ही होनेके कारण 'स्व' तथा 'पर' का उच्छेद हो जाता है। इस तरह मनुष्यमें अहंकार नहीं बचता। मनुष्यकी आत्माका गुण तो व्यापक है। आत्माको जाननेवाला मनुष्य अपनेको दूसरोंसे अलग नहीं देखता, बल्कि सबमें अपनेको देखता है और इस तरह परोपकार उसका स्वभाव बन जाता है। जब ऐसा दिखाई पड़ रहा हो कि वह दूसरोंपर उपकार कर रहा है, तब भी वास्तवमें वह किसीपर मेहरबानी नहीं कर रहा है; अपने स्वभावका अनुसरण ही

कर रहा है। हम जो मायामें जकड़े हुए हैं, बाह्य दृष्टिसे देखकर ऐसा मानते हैं कि वह व्यक्ति पुण्य-कर्म कर रहा है, परन्तु सचमुच ऐसी कोई बात नहीं है। वह तो जीव-मात्रके प्रति अपने स्वभावके ही अनुसार आचरण कर रहा है।

[१३६]

बुधवार, १८ अगस्त, १९२६

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ (९,१०)

मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति (अर्थात् मेरा स्वभाव) चर और अचरको उत्पन्न करती है और इस कारण जगत्का चक्र अर्थात् प्रलय और उत्पत्तिका क्रम चलता ही रहता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ (९,११)

मूढ़गण अर्थात् मनुष्य-शरीरधारी मुझको नहीं पहचानते। मेरी अवगणना करते हैं। (जो ऐसा मानते हैं कि राम और ईश्वरमें भेद है वे अज्ञ हैं, अकोविद हैं। ऐसा क्या तुलसीदासने नहीं कहा है।[1] हम अपने मोहको ईश्वरपर भी आरोपित कर देते है।) वे मेरे परमभाव अर्थात् भूतोंके महेश्वरत्वको नहीं जानते। वे मुझे भ्रमवश मनुष्य मानकर मेरे स्वरूपको नहीं जान पाते।

[१३७]

गुरुवार, १९ अगस्त, १९२६

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ (९,१२)

व्यर्थकी आशा रखनेवाले, व्यर्थके कर्म करनेवाले, वृथा-ज्ञानशील और मूढ़ व्यक्ति मोहमें डालनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृतिमें पड़े हुए हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ (९,१३)

जो महात्मा हैं, विभीषण आदिकी तरह दैवी प्रकृतिका आश्रय लिये हुए हैं, वे अनन्य चित्तसे अर्थात् एकाग्र ध्यानसे भूतोंके कर्त्ता और अविनाशीके रूपमें मुझे जानकर ज्ञानपूर्वक भजते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ (९,१४)

मेरा सतत स्तवन करनेवाले, प्रयत्न करनेवाले, दृढ़व्रती, मुझे प्रणाम करते हुए और सर्वदा मेरे ध्यानमें युक्त रहकर भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं।

१. "अज्ञ अकोविद अंध अभागी . . ।"
रामचरितमानस, बालकाण्ड।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।। (९,१५)

अन्य लोग मुझे ज्ञानयज्ञके द्वारा भजते हुए मेरी उपासना करते हैं। इनमें से कितने ही मुझे एकत्व भावसे अर्थात् यह मानकर कि सब-कुछ वासुदेव ही है और कितने ही अनेकत्व भावसे अर्थात् मेरे अलग-अलग स्वरूप हैं ऐसा समझकर तथा कुछ लोग मुझे सर्वरूप समझकर भजते हैं।

'विश्वतोमुखम्' को 'माम्' के साथ लेना चाहिए। उसके बाद अर्थ यह बनेगा कि मुझे सब स्थानोंपर निवास करनेवाला मानकर अर्थात् एकत्व भावसे अथवा बहुतोंमें रहनेवाला मानकर मेरी उपासना करते हैं; दूसरा अर्थ होगा 'एकत्व' अर्थात् अनन्यभावसे और 'पृथक्त्व' अर्थात् मुझे स्वामी और अपनेको सेवक मानकर भजते हैं। एकत्व और पृथक्त्वका अर्थ निर्गुण उपासना और सगुण उपासना भी हो सकता है। यदि हम एकत्व और पृथक्त्वसे विच्छिन्न मानकर 'विश्वतोमुखम्' का कोई तीसरा भाव मानें तो अर्थ नही बैठता।

[१३८]

शुक्रवार, २० अगस्त, १९२६

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।। (९,१६)

'वेदों' में वर्णित क्रियाएँ मैं हूँ, स्मृतिमें वर्णित यज्ञ मैं हूँ, पुरखोंको अर्पित किया गया अन्न मैं हूँ। औषध मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, यज्ञमें होम किया जानेवाला घी, अग्नि और होम मैं ही हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।। (९,१७)

मैं इस जगत्का पिता, माता और उनको धारण करनेवाले पिताका भी पिता हूँ। जानने योग्य, परम, पवित्र, ब्रह्म, ओंकार, 'ऋगवेद', 'सामवेद', 'यजुर्वेद' भी मैं ही हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। (९,१८)

मैं गति हूँ, अर्थात् मोक्ष हूँ। मनुष्य जिस वस्तुको पाना चाहता है वह वस्तु मैं ही हूँ। मैं भरण-पोषण करनेवाला प्रभु हूँ और साक्षी भी हूँ। निवास और आश्रय भी मैं हूँ। सुहृद अर्थात् बदलेकी आशा किये बिना मदद करनेवाला परोपकारी मित्र मैं हूँ। उत्पत्ति, नाश और स्थिति मैं हूँ। समस्त वस्तुओंका निधान और अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ (९,१९)

मैं तपता हूँ। किन्तु सब जीवोंको सुख और ज्ञान देनेवाले सूर्यकी तरह तपता हूँ। वर्षाको आकर्षित करके वृष्टि करनेवाला भी मै हूँ। मृत्यु और अमृत, सत् और असत् भी मैं ही हूँ।

इसका अर्थ यह हुआ कि हम जगत्में जितनी वस्तुओं और स्थितियोंका विचार कर सकते है वह सभी कुछ ईश्वर है। इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर केवल अच्छा ही अच्छा नही है, खराब भी ईश्वर है। ईश्वरकी आज्ञाके बिना कुछ भी नही हो सकता। प्रकाशका स्वामी ईश्वर है और अन्धकारका स्वामी शैतान है, यह भी ठीक नही है। हम शरीरधारी लोग द्वन्द्व मानते है। इसलिए जबतक शरीर है, तबतक भले ही ऐसा मानें। हमें तुलसीदासजीके वचनोंको आत्मसात् कर लेना चाहिए। उन्होंने कहा है कि जबतक हम मायामें ग्रस्त हैं तबतक यह सारी माया हमें सत्य लगेगी। हमें शुक्ति चाँदी जैसी लगेगी और सूर्यकी किरण मृगतृष्णा जैसी लगेगी। जबतक कोई ज्ञानी हमें यह ज्ञान न दे जाये कि रस्सीमें सर्प, सीपमें रजत् और सूर्य-किरणोंमें मृगतृष्णाका भान हमारी कल्पनामें ही था, तबतक हमें ऐसा ही भान होता रहेगा। ईश्वर शुभ भी है और अशुभ भी है, यदि हम ऐसा मानकर यह कहें कि उस अवस्थामें अशुभ बननेमें क्या बुराई है। पर यदि हम ऐसा मान लें तो यह गलत होगा। उक्त कथनका यह भाव नही है कि हमें कनखजूरा या बिच्छू जैसा हो जाना चाहिए, बल्कि भाव यह है कि हमें इन सबकी ओर भी सद्भाव रखना चाहिए, स्वयं उनकी तरह विषैले नही बनना है। यहाँ एक ऐसी जबरदस्त बात कही गई है जो हमारी बुद्धिमें नहीं आ सकती। जगत्में यह अशक्य है। यह हमारी कल्पनामें ही बनी रहेगी। सत्य-असत्य, पुण्य-पाप, अमृत और मृत्यु — ये सब परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। विरोधी गुण मनुष्यमें नही रह सकते, वे तो ईश्वरमें ही रह सकते हैं। जो तीसरी अवस्था है वह इन दोके मेलका नाम नही है। हाइड्रोजन और आक्सीजनके मेलको हम पानी कहते है। किन्तु यह पानी इन दोनों वस्तुओके गुणोंसे अलग है। उसमें इन दो वस्तुएँके गुण नही बच रहते। वह एक तीसरा ही गुण है। इसी तरह यह नही कहा जा सकता कि ईश्वरमें पाप और पुण्य दोनों ही गुण है। वह एक तीसरा ही भाव है। यदि हम इन विरोधी वस्तुओंको अपनेमें समाहित करें तो विस्फोट हो जाये, किन्तु शंकर तो शुभ-अशुभ दोनोंको निगल जाते है। इनका संयोग ईश्वरमें जो रूप धारण करता है वह एक अद्भुत वस्तु है। इस संयोगकी खूबी ईश्वर ही जानते है। हमें खराबसे दूर ही रहना है। यदि हम शुभ-अशुभ दोनों बननेकी बात करेंगे तो हम इस अनुकरणमें नाशको प्राप्त हो जायेंगे।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ (९,२०)

तीनों 'वेदों' में जिन्हें कर्म कहा गया है उन कर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, (उत्तर ध्रुवमें सोमरस भोजन ही था और वहाँ सोमरसके माँगे जानेपर न दिया जाता तो वह गुनाह ही होता; सोमरस तो मरेको प्राणदान करनेवाली वस्तु थी।)[1] अपने पापको धो डालनेवाले मुझे यज्ञोंके द्वारा भजते हैं तथा स्वर्गकी दिशामें जानेकी प्रार्थना करते हैं। वे इन्द्रके दिव्यलोकमें जाकर दिव्य देवभोगोंको भोगते हैं।

[१३९]

रविवार, २२ अगस्त, १९२६

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ (९,२१)

वे विशाल स्वर्गलोकको भोगकर, पुण्य क्षीण हो जानेपर मृत्युलोकमें प्रवेश करते हैं। इस तरह 'वेद' में निर्दिष्ट कर्मकाण्डको भोगेच्छाकी दृष्टिसे सकाम और इच्छापूर्वक करनेवाला व्यक्ति जन्म-मरणके चक्रमें पड़ता है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानाम् योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (९,२२)

किन्तु जो अनन्य भक्तिसे मेरा चिन्तन करते हैं, मेरी पर्याप्त आराधना करते हैं और जो हमेशा मुझे ही भजते हैं उनका योगक्षेम मैं चलाता हूँ।

योग अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति और क्षेम अर्थात् उसकी प्राप्तिके लिए आवश्यक साधनोंकी रक्षा।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ (९,२३)

किन्तु जो अन्य देवताओंके भक्त हैं और उनके प्रति श्रद्धासे युक्त हैं, हे कौन्तेय, वे भी मुझे ही पूजते हैं — यद्यपि वे मेरा यह पूजन सच्ची विधि जाने बिना करते हैं।

सच्ची विधि यह है कि ईश्वर और अपने बीच किसी दूसरेको न आने देना। किन्तु जो बीचमें स्थित द्वारपालोंके मार्फत मुझे पानेका प्रयत्न करते हैं वे भी पूजते तो मुझको ही हैं; क्योंकि इसके द्वारा उनका उद्देश्य मेरे ही पास आनेका होता है।

१. साधन-सूत्रमें ऐसा ही है। अर्थ स्पष्ट नहीं है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।। (९,२४)

मैं ही सर्वयज्ञोंका भोक्ता और स्वामी हूँ अर्थात् जो अहंकारवृत्तिसे हीन होकर सर्वकर्म करता है वह कह सकता है कि मैं कुछ नही करता, भगवान करता है। किन्तु जो व्यक्ति मुझे तत्त्वरूपसे नहीं जानते, वे मुझे न जाननेके कारण उक्त पदसे नीचे गिर जाते हैं।

जबतक अहंकार बचा हुआ है, तबतक दोष करनेवाला अपनेको पतितसे-पतित कहकर अपना परिचय देता है। तुलसीदास एक तरफ ऐसा कहते हैं कि मेरे जैसा कामी, लम्पट, नीच, व्यभिचारी दूसरा कोई नही है, और दूसरी ओर अपने सारे पापोंकी जिम्मेदारी ईश्वरपर डालते हैं; क्योंकि जब 'मैं' ही नही हूँ तो पाप करनेवाला कहाँ रहा। गंगा नदी अनेक पापोंको धोनेवाली है किन्तु वह स्वयं कलंकित नहीं होती, इसी प्रकार राममें जो शाश्वत् तत्त्व है वह निष्पाप है। स्थूल राम अर्थात् उनका विनाशवन्त अंश तो पापमय है। यदि हम इस कथनका अनर्थ करके पाप करनेपर तुल जायें और कहें कि यह पाप हमें लग ही नहीं सकता, तो यह उस कहानीके मेंढक-सरीखी बात हुई जिसने बैलके बराबर होनेके प्रयत्नमें अपना पेट फाड़ डाला था। भक्त कहता है कि मैं पापी हूँ किन्तु मैं तुझे समर्पित हूँ; इसलिए [यदि मैं पाप करता हूँ तो] तू पापी बनता है। हमारी बुद्धि इसके आगे नही जाती। 'आदम-को खुदा मत कहो, आदम खुदा नही; लेकिन खुदाके नूरसे आदम जुदा नही।'

[१४०]

मंगलवार, २४ अगस्त, १९२६

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।। (९,२५)

देवोंको भजनेवाले देवताओंको, पितरोंकी पूजा करनेवाले पितरोंको, भूतोंकी पूजा करनेवाले भूतोंको और मेरी पूजा करनेवाले मुझको प्राप्त करते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।। (९,२६)

मनुष्य मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल जो-कुछ भक्तिपूर्वक देता है, दृढ़चित्त व्यक्तिके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए उस सबको मैं ग्रहण करता हूँ।

भगवानको दुर्योधनका मेवा नही भाया; क्योंकि उसने भक्तिपूर्वक नहीं दिया था, बल्कि उसकी इच्छा उसके द्वारा अपना स्वार्थ साधनेकी थी। वह तो अपनी शर्तोंपर भगवानसे मदद लेना चाहता है। वह प्रयतात्मा नही था। किन्तु विदुर विशुद्ध थे। उनकी साधारण शाक भी भगवान्‌ने भावपूर्वक ग्रहण की। क्योंकि उनकी भक्ति अनन्य थी और उनका मन सरल और स्वच्छ था। पाखण्डियोंके बड़ेसे-बड़े ख़जानेकी भी उन्हें परवाह नही थी।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (९,२७)

इसलिए तू जो-कुछ करता है, खाता है, अर्पण करता है, दान करता है, तप करता है, वह सब तू मुझे समर्पित कर।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ (९,२८)

ऐसा आचरण करनेसे तू शुभाशुभ फलवाले कर्मबन्धनोंसे मुक्त रहेगा; क्योंकि सारे भोग तो मुझे समर्पित किये जा रहे हैं। जो व्यक्ति संन्यास-योगके द्वारा स्वच्छ हो गया है, जिसने अपने समस्त कर्म भगवानको अर्पित कर दिये हैं, जो जबतक जीता रहा तबतक सीता रहा अर्थात् कर्मरत रहा है, किन्तु भगवानको समर्पित करके, — वह मनुष्य मुक्त होकर मुझे प्राप्त करता है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ (९,२९)

मैं सभी भूतोंके प्रति समदर्शी हूँ, न मेरे लिए कोई द्वेष्य है, न प्रिय। जो व्यक्ति मुझे भक्तिपूर्वक भजता है, मैं उसमें हूँ और वह मुझमें है।

जब हम भगवानके पास पहुँचते हैं तो हमें जितना चाहिए उतना मिल जाता है। जब हम गंगाजीमें जाते हैं तो हमें गंगा मिल जाती है और हम अंजुली-भर ही लेते हैं तब हमें अंजुली-भर मिलता है। भगवान तो चीटीको कण और हाथीको मन देता है।

[१४१]

बुधवार, २५ अगस्त, १९२६

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (९,३०)

जो व्यक्ति मुझे अनन्यभावसे भजता है, यदि वह कोई बड़ा दुराचारी भी हो, तो भी उसे साधु पुरुष मानना चाहिए। वह एक भली-भाँति व्यवस्थित व्यक्ति होता है। जिसने अजामिलकी तरह अपनी दुष्टता निकाल फेंकनेका निश्चय कर लिया हो, जो दृढ़ासनसे बैठ गया हो, भले ही उसके विचार उसे न छोड़ें किन्तु वह 'ॐ' का उच्चारण करता हुआ दृढ़निश्चयी और स्थिर आसनका साधु है। इसके विपरीत जिस मनुष्यने निश्चय नहीं किया है, जो अनियमित है और अव्यवस्थित ढंगसे काम करता है वह अच्छा होते हुए भी साधु नहीं कहा जा सकता।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ (९,३१)

अनन्य भावसे मुझे भजनेवाला व्यक्ति, सत्वर धर्मात्मा हो जाता है और अखण्ड शान्तिको प्राप्त करता है। इसलिए दुष्टसे-दुष्ट व्यक्तिको भी दुष्ट नहीं मानना चाहिए।

उसके इसी देहमें निर्मल हो जानेकी सम्भावना है। हे कौन्तेय, यह निश्चित मान कि मेरा भक्त नाशको प्राप्त नही होता।

इसके देहका तो नाश हो जाता है किन्तु ऐसा व्यक्ति दुष्टात्मा न बनते हुए साधु बनकर देह छोड़ता है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ (९,३२)

जो व्यक्ति मेरा आश्रय लेता है, वह पापयोनि हो तो भी, नीचेसे-नीचे चाण्डाल कुटुम्बमें जन्मा हो तो भी, वह स्त्री, वैश्य, शूद्र हो तो भी, उत्तम गतिको प्राप्त करता है।

इस श्लोकके द्वारा भगवानने जगत्को एक बड़ा आश्वासन दे दिया है। यह वेदवादियोको भगवानका जवाब है। वेदवादियोंका अर्थ है यह कहनेवाले लोग कि जिन्होंने 'वेद' नही पढ़े उन्हें ईश्वर नही मिलेगा। उस कालमें स्त्री, वैश्य, शूद्रोंके विषयमें ऐसी मान्यता थी कि उन्हें मोक्ष नही मिलता। कृष्ण तो स्वयं नन्दके यहाँ गायें चराकर शूद्र बन गये थे। गोपालन और खेती वैश्योंका धन्धा ही था। खेती करनेवाले अन्तमें शूद्र कहलाये। श्रीकृष्णने कहा कि भले ही स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र 'वेद' नहीं पढ़ पाते, फिर भी उन्हें सद्गति अवश्य मिल सकती है। जो 'वेद'को नही जानता, किन्तु ब्रह्मको जानता है और जिसका अन्तर शुद्ध हो गया है उसे निश्चय ही सद्गति प्राप्त होती है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ (९,३३)

यदि यह सत्य है तो फिर पवित्र ब्राह्मणों, भक्तों और राजर्षियोंकी तो मेरी शरणमें आनेपर सद्गति होती ही है। इसलिए अनित्य और सुखहीन इस लोकमें मनुष्य-शरीरको ग्रहण करनेके बाद तू मुझे भज।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ (९,३४)

अपने मनको मुझमें लीन कर दे, मेरा भक्त बन, मेरा यज्ञ कर और मुझे प्रणाम कर। मुझमें लीन होकर मेरा ही ध्यान रखकर अपनी आत्माको मेरे साथ नियुक्त करके तू एकतार हो जायेगा तो मैं तुझे अपनेमें खीच लूँगा।

अलबत्ता तुझे हठ किये बिना खिंच जाना चाहिए। तू मुझे नही खीच सकता, मैं तुझे खींच सकता हूँ। तू इस धागेको तोड़ सकता है किन्तु तेरे सिवा कोई और इसे नहीं तोड़ सकता।

इस प्रकरणका नाम राजविद्या और राजगुह्ययोग रखा गया है। कहा गया है कि मैंने तुझे उत्तमसे-उत्तम ज्ञान और उत्तमसे-उत्तम रहस्य अर्थात् योग क्या है और क्षेम क्या है, यह बता दिया। योग तो भगवानके साथ साधा जाना है। हमारा उद्देश्य

इस जगतमें न तो पैसा कमाना है, न बड़ा पद प्राप्त करना है, अथवा न चक्रवर्ती राज्य भोगना ही है। केवल हृदयमें यह बात अंकित कर लेनी है कि भगवानको ही प्राप्त करना है। जिसे आँख, कान, नाक अनुभव कर सकते हैं उसे प्राप्त करनेमें क्या पुरुषार्थ है। हमें इसमें नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि ये सारी वस्तुएँ क्षणिक हैं। चक्रवर्ती भी चले गये। यदि हम देखें तो ईश्वर हमारे हृदयमें बैठा हुआ है और जिस मंगल मन्दिर-में वह बैठा है उसे खोलनेकी प्रार्थना उसीसे है। इसका साधन बता दिया गया है 'मन्मना भव, मद्याजी'। मैं कर्त्ता, भर्त्ता, सुहृद्, स्थान, प्रभव, प्रलय — सब-कुछ हूँ। दूसरा कुछ है ही नहीं। मैं एक ही हूँ। तू तो कुछ भी नहीं है। बीचमें जो देवता इत्यादि हैं वे भी तेरी तरह नाशवन्त हैं। अविनाशी केवल एक मैं हूँ। यदि तुझे अविनाशी बनना है तो मुझे ही प्राप्त कर। और यह हो सकता है, अपना मन समर्पित करनेके बाद ही। तू नहाना, धोना इत्यादि क्रियाएँ भले ही करता हो; किन्तु यदि उन्हें करता हुआ भी तू भगवानका भजन करता रहे और अपना खाना-पीना भगवानको अर्पित कर रखे, देहका भाड़ा चुकाकर उसके द्वारा भी भगवानका भजन ही करे, तो तू भगवानको पहुँचा हुआ ही है।

अध्याय १०

[१४२]

गुरुवार, २६ अगस्त, १९२६

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।। (१०,१)

मैं जो वचन तेरी हितकामनासे कहना चाहता हूँ, तू उन्हें भी सुन।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।। (१०,२)

देवतागण और महर्षिगण मेरा प्रभाव नहीं जानते क्योंकि मैं सब तरहसे इन दोनोंका आदि हूँ, उनका कारणभूत सृष्टिकर्त्ता हूँ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।। (१०,३)

जो मुझे अज, अनादि और लोकोंके महेश्वरके रूपमें जानता है, वह मोहमें नहीं पड़ता। मोहमें पड़े हुए व्यक्तिको रात्रि दिनके समान और दिन रात्रिके समान है। इन सब नाशवन्त प्राणियोंमें जो ज्ञानी है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है, क्योंकि ऐसे मनुष्यके हृदयमें फिर राग-द्वेष नहीं रहता, अभिमान नहीं रहता। वह द्वन्द्वसे निर्लेप हो जाता है, नम्र हो जाता है और मानता है कि हम ईश्वरका दिया खाते हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (१०,४–५)

इन दो श्लोकोंमें बताये गये सारे भाव अर्थात् बुद्धि, ज्ञान, मोहरहित स्थिति, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, शम (शान्ति), सुख-दुःख, भाव-अभाव, भय-अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश-अपयश — ये सारे भाव सभी भूतोंमें पड़े हुए हैं और ये सभी पृथक्-पृथक् भाव मुझसे ही निष्पन्न हैं।

यदि भूतोंका कर्त्ता वही है तो भूतोंमें जो गुण और दोष दिखाई पड़ते हैं, उनका कर्त्ता भी वही है।

[१४३][1]

शुक्रवार, २७ अगस्त, १९२६

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ (१०,६)

सात ऋषिगण[2], उनसे पूर्व हुए चार मनु[3] मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं। यह सब मेरी मानसिक सृष्टि है और उसीमें से ये सारे लोक उत्पन्न हुए हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ (१०,७)

जो यथार्थ रीतिसे मेरी विभूति और शक्तिको जानता है वह मेरे साथ युक्त हो जाता है, इसमें कोई भी संशय नहीं है।

सभी कुछ ईश्वर उत्पन्न करता है। जो व्यक्ति केवल बुद्धिसे ही नहीं किन्तु हृदयसे भी यह मानता है कि इसकी इच्छा, आज्ञा अथवा नियमके अधीन हुए बिना प्राणि-मात्र एक क्षणके लिए भी नहीं टिक सकते, वह ईश्वरके साथ एकनिष्ठ होकर युक्त हो जाता है। किन्तु जो व्यक्ति ईश्वरको भूलकर अहंकारवश हो ऐसा मानता है कि मैं स्वयं ऊँचा चढ़ रहा हूँ, वह बुरी तरह असफल हो जाता है। किन्तु जो ईश्वरपर हृदयसे आस्था रखकर अपने हृदयमें स्थित अन्तर्यामीके अधीन हो जाता जाता है वह अविचल समताको प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ (१०,८)

जो ज्ञानीलोग मुझे भावपूर्वक भजते हैं वे जानते हैं कि मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और सब-कुछ मुझसे ही प्रवर्तित होता है।

१. इस दिनका विवरण महादेवभाईका लिखा हुआ नहीं है।
२. भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ — ये सात महर्षि हैं।
३. मनु १४ हैं, पर चार मनु सावर्ण नामसे प्रसिद्ध हैं — सावर्णि, धर्मसावर्णि, दक्षसावर्णि और सावर्ण।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।। (१०,९)

अपने चित्तको मुझमें लीन करनेवाले और अपने प्राणोंको मुझे समर्पित करने-वाले एक-दूसरेकी सेवा करते हुए सदा मेरा कीर्तन करते हुए सन्तोष और आनन्दमें रहते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। (१०,१०)

जो मुझमें निरन्तर लीन रहते हैं और मुझे प्रीतिपूर्वक भजते हैं मैं उन्हें ज्ञान देता हूँ और वे उसके द्वारा मुझे पा जाते हैं। इस तरह भक्तका ज्ञान हस्तामलक-वत् होता है। उसे ग्रन्थ नहीं पढ़ने पड़ते। किन्तु जो व्यक्ति ऐसा मानता है कि पहले ज्ञान प्राप्त करके फिर भक्ति करूँगा, वह असफल हो जाता है। ज्ञान इस तरह नहीं मिलता। ऐसे ज्ञानसे अहंकार उत्पन्न होता है। किन्तु जो प्रथम प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करता है और जो मुझमें ही परायण रहता है उसे सहज ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।। (१०,११)

उनके प्रति मुझे करुणा उत्पन्न होती है। इसलिए अज्ञानजनित अन्धकारको उसके हृदयका स्वामी होनेके कारण मैं नष्ट कर देता हूँ। प्रकाशित ज्ञान-दीपसे उसका नाश कर देता हूँ।

[१४४]

शनिवार, २८ अगस्त, १९२६

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।। (१०,१२–१३)

तुम परम ब्रह्म हो, परमधाम हो, परम पवित्र हो, देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास इन सभी ऋषियोंने तुम्हें शाश्वत् पुरुष, दिव्यादिदेव, अज और विभु कहा है। आप स्वयं भी ऐसा ही कहते हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।। (१०,१४)

आप जो-कुछ कहते हैं उस सभीको मैं ऋत् अर्थात् सत्य मानता हूँ। तुम्हारे वास्तविक स्वरूपको न देवता जानते हैं, न दानव।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।। (१०,१५)

हे भूतभावन, भूतेश, देवदेव, हे जगत्पति, हे पुरुषोत्तम, अपने स्वरूपको आप ही जानते हैं।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।। (१०,१६)

अपनी इन दैवी विभूतियोंको जिनके माध्यमसे आप इन लोकोंमें व्याप्त होकर अवस्थित हैं, सम्पूर्ण रूपसे बता सकनेमें आप ही समर्थ हैं।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।। (१०,१७)

हे योगी, मैं किस प्रकार सदा आपका ध्यान धरते हुए आपको जान सकता हूँ? मुझे किन-किन रीतियोंसे आपका चिन्तन करना चाहिए।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।। (१०,१८)

आप अपने योग और विभूतियोंको मुझसे विस्तारपूर्वक कहें। बार-बार कहें, क्योंकि इन अमृत वचनोंको सुनते हुए तृप्ति नहीं होती।

नित्य नक्काशीका काम करनेवाला थकता नहीं है। वह घूम-फिरकर फिर उसीमें जुट जाता है। इसी तरह कृष्णका नाम रटनेवाला अर्जुन, कृष्णके द्वारा विस्तारपूर्वक अपनी विभूतियोंको समझाये जानेसे कैसे थक सकता है। कृष्ण भले ही थक जायें।

[१४५]

रविवार, २९ अगस्त, १९२६

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। (१०,१९)

हे कुरुश्रेष्ठ, अब मैं तुझे अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियाँ बताऊँगा, क्योंकि मेरे विस्तारका तो अन्त ही नहीं है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। (१०,२०)

हे अर्जुन, मैं सर्वभूतोंके हृदयमें स्थित आत्मा हूँ। मैं भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी हूँ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।। (१०,२१)

मैं आदित्योंमें विष्णु हूँ, ज्योतियोंमें जगमगाता हुआ सूर्य हूँ, मरुतोंमें मरीचि हूँ, और नक्षत्रोंमें चन्द्र हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।। (१०,२२)

मैं 'वेदों'में 'सामवेद' हूँ, देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और प्राणियोंमें चेतन हूँ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।। (१०,२३)

मैं रुद्रोंमें शंकर, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर, वसुओंमें अग्नि और पर्वतोंमें मेरु हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।। (१०,२४)

हे पार्थ, पुरोहितोंमें मुख्य मुझे बृहस्पति जान। मैं सेनापतियोंमें कार्तिकेय और जलाशयोंमें सागर हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।। (१०, २५)

मैं महर्षियोंमें भृगु और वचनोंमें एकाक्षरी ॐ हूँ। यज्ञोंमें जपयज्ञ हूँ और स्थावरोंमें हिमालय हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।। (१०, २६)

समस्त वृक्षोंमें मैं अश्वत्थ अर्थात् पीपलका वृक्ष हूँ। देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्ध पुरुषोंमें मैं कपिल मुनि हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।। (१०, २७)

मुझे अश्वोंमें अमृतके निमित्तसे उत्पन्न उच्चैःश्रवा जान। हाथियोंमें मैं ऐरावत और मनुष्योंमें मैं राजा हूँ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।। (१०, २८)

शस्त्रास्त्रोंमें मैं वज्र हूँ, गायोंमें कामधेनु हूँ, प्रजोत्पत्तिका कारण कामदेव मैं हूँ और सर्पोंमें मैं वासुकि हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।। (१०, २९)

नागोंमें शेषनाग, जलचरोंमें गरुड़, पितरोंमें अर्यमा और दण्ड देनेवालोंमें मैं यम हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।। (१०, ३०)

दैत्योंमें प्रह्लाद हूँ, गिनती करनेवालोंमें मैं काल (समय) हूँ, पशुओंमें मैं सिंह हूँ और पक्षियोंमें गरुड़ हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।। (१०, ३१)

पावन करनेवालोंमें मैं पवन हूँ। शस्त्रधारियोंमें परशुराम हूँ। जलचरोंमें मगरमच्छ हूँ और नदियोंमें मैं गंगा हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।। (१०, ३२)

हे अर्जुन, सृष्टिका आरम्भ, अन्त और मध्य मैं हूँ। विद्याओंमें मैं अध्यात्मविद्या हूँ और [तत्त्वनिर्णयके हेतु] विवादमें मैं वाद[1] हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।। (१०, ३३)

अक्षरोंमें मैं अकार और समासोंमें द्वन्द्व मैं हूँ। अक्षय काल मैं हूँ और सर्वव्यापी तथा सबको धारणकरनेवाला भी मैं हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा। (१०, ३४)

सबका हरणकर्त्ता मृत्यु मैं हूँ। भविष्यमें उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिका कारण मैं हूँ। नारी जातिके नामोंमें कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति (धीरज) और क्षमा मैं हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।। (१०, ३५)

सामोंमें बृहत्साम, छन्दोंमें गायत्री छन्द और महीनोंमें मार्गशीर्ष मैं हूँ। (आर्यगण पहले उत्तर ध्रुवमें निवास करते थे और तब यही उनके वर्षका पहला महीना था। इसीलिए यहाँ इसका उल्लेख किया गया है।) ऋतुओंमें मैं वसन्त हूँ।

[१४६]

मंगलवार, ३१ अगस्त, १९२६

छल करनेवालोंमें जुआ मैं हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।। (१०, ३६)

यह केवल इतना ही सूचित करता है कि जगत्में अच्छी ही वस्तुओंमें नहीं, बल्कि बुरी वस्तुओंमें भी मैं हूँ। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि पाखण्डियोंमें पाप मैं हूँ। राक्षसोंमें रावण मैं हूँ यह भी जरूर ही कहा जा सकता था, क्योंकि रावणको जितना खेल वे खेलने देना चाहते थे, उतना ही उसे खेलने दिया। आशय केवल यही बताना है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, ईश्वरकी कृतिमें अच्छा-बुरा सब-कुछ है।

१. तर्कके तीन प्रकार हैं: वाद, जल्प और वितण्डा। इनमें वाद श्रेष्ठ कहा गया है।

इतना कह देनेके बाद हमको किंचित-सा अधिकार यह दे दिया है कि हम अच्छे-बुरेका विवेक करें और उसमें से अच्छेको चुनें। देह-रूपी पिंजरेमें बन्द हम देहियोंको इतनी ही गुंजाइश दी गई है। बन्धन काटने-भरकी गुंजाइश हमारे हाथमें है। यदि किसी कैदीको आजन्म कैदकी सजा दे दी गई हो किन्तु यदि उसके साथ कोई बहुत छोटी ऐसी शर्त भी रखी गई हो जिसके कारण वह छूट सकता है तो यह छोटी शर्त ही महत्त्वपूर्ण कही जायेगी, क्योंकि उसके माध्यमसे वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है। हमारी स्थिति भी ऐसी ही है। क्योंकि ईश्वरने ऐसा भी कह दिया है कि हम जो चाहते हैं सो हो सकते हैं।

प्रतापवान्का प्रभाव मैं हूँ, जय मैं हूँ, निश्चय मैं हूँ, सात्विक भाववाले लोगोंका सत्व मैं हूँ।

> वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
> मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ (१०,३७)

वृष्णि कुलमें मैं वासुदेव हूँ, पाण्डवोंमें धनंजय हूँ, मुनियोंमें व्यास हूँ और कवियोंमें उशना[1] कवि हूँ।

> दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
> मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ (१०,३८)

राज्यकर्त्ताओंका दण्ड मैं हूँ, जयकी इच्छा करनेवालोंकी नीति मैं हूँ, गुह्य बातों में मैं मौन हूँ और ज्ञानियोंमें मैं ज्ञान हूँ।

> यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
> न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ (१०,३९)

हे अर्जुन, मैं समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका कारण हूँ। स्थावर अथवा जंगम जो कुछ भी है, उसमें मुझसे हीन कुछ भी नहीं है।

> नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
> एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ (१०,४०)

हे परंतप, मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त भी नहीं है। मैंने विभूतियोंका यह विस्तार केवल दृष्टान्त रूपमें ही कहा है।

> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
> विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (१०,४१-४२)

जो-कुछ भी विभूतिवान्, लक्ष्मीवान् अथवा प्रभावशाली है वह सब मेरे तेजके अंशसे ही है, ऐसा समझ।

१. कविका अर्थ यहाँ त्रिकालदर्शी है। उशना, शुक्राचार्यका एक नाम।

अथवा बहुत जाननेसे क्या? तू तो इतना ही समझ ले कि मैं अपनी विभूतिके एक अंशसे ही सारे जगत्को धारण करके बैठा हुआ हूँ।

यदि हम ईश्वरकी असंख्य विभूतियोंकी कल्पना कर सकें तो हम नम्र बन सकते हैं। नारदने जिस तरह अपनी एक विभूतिका ही अहंकार किया था, हम वैसा न करें। अहंकार भी केवल मैं ही कर सकता हूँ, ऐसा भगवानने कह दिया है। तात्पर्य यह है कि हमें तुच्छसे-तुच्छ बनकर ही रहना है। ईश्वरकी शक्तिका कोई पार नहीं है, ऐसा समझ लेनेके बाद, यदि कोई हमें मारनेके लिए भी आये तो हमें उसे बरदाश्त कर लेना चाहिए। यदि हम उसे मारने जायें तो ईश्वर हमारा मद उतार देगा। क्योंकि रावणसे लगाकर ऐसा कोई राक्षस नहीं हुआ, ईश्वरने जिसका संहार न किया हो।

अध्याय ११

[१४७]

बुधवार, १ सितम्बर, १९२६

यह महत्त्वपूर्ण अध्याय कहा जाता है। 'गीताजी' गम्भीर अर्थयुक्त काव्य है और उसमें भी ग्यारहवाँ अध्याय सर्वाधिक काव्ययुक्त है। भक्ति सीखनी हो तो इस अध्यायको सम्यक् रीतिसे गानेमें कुशलता प्राप्त करनी चाहिए। यदि यह हो जाये तो फिर हम भक्तिरसमें अवगाहन ही करते रहेंगे।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम (११, १)

मेरे अनुग्रहके ध्यानसे आपने यह परम रहस्ययुक्त और अध्यात्मपूर्ण उपदेश मुझे दिया। इससे मेरा मोह दूर हो गया है।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ (११, २)

जीवोंकी उत्पत्ति और नाश दोनोंके विषयमें मैंने विस्तारसे सुना। इसके अतिरिक्त आपके मुखसे हे कमलनयन, मैंने आपकी अजेय महिमा भी सुनी।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ (११, ३)

हे परमेश्वर, आपने इस रीतिसे अपना जैसा वर्णन सुनाया है, मैं आपका वैसा ऐश्वर्यशाली रूप देखना चाहता हूँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ (११, ४)

हे प्रभु, यदि आप ऐसा मानते हों कि मैं उसे देखनेमें समर्थ हो सकता हूँ, तो मुझे अपना वह अव्यय स्वरूप बताइए।

[१४८]

गुरुवार, २ सितम्बर, १९२६

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।। (११, ५)

हे पार्थ, तू मेरे सैकड़ों और हजारों अनन्त रूपोंको देख। ये रूप नानाविध, दिव्य, अनेक वर्ण और अनेक आकृतियोंवाले हैं।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।। (११, ६-७)

आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार, मरुत — मेरे इन सभी रूपोंको तू एक ही समयमें देख। यहाँ एक ही स्थानपर एकत्र समस्त जगत् — चर और अचर — सब कुछ देख।

इस विराट् स्वरूपमें अच्छे-बुरे, हिन्दू-मुसलमान, आस्तिक-नास्तिक — सब आ जाते हैं।

इस सबके अतिरिक्त तू अन्य जो-कुछ भी देखना चाहता हो, वह भी देख।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।। (११, ८)

तू अपने इन चर्म-चक्षुओंसे मुझे नहीं देख सकेगा इसलिए मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ। इनके द्वारा तू मेरी ऐश्वर्यमयी शक्ति देख।

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।। (११, ९)

संजय कहते हैं, हे राजा धृतराष्ट्र, ऐसा कहकर योगेश्वर कृष्णने अर्जुनको अपना ऐश्वर्यशाली, परम रूप दिखाया।

[१४९]

शुक्रवार, ३ सितम्बर, १९२६

हमें 'गीता' का ज्ञान किसी किताबमें संग्रह करके नहीं रखना है, बल्कि अपने आचरणमें उतारना है। महादेव और पूँजाभाई, जो-कुछ मैं बोलता हूँ, उसे लिख लेते हैं। यदि रिकार्ड करनेकी मशीनका प्रबन्ध किया होता तो वह अक्षरशः इस सबको लिख लेती। किन्तु क्या इससे ऐसा कहा जा सकता है कि ग्रामोफोनके उस रिकार्डने 'गीता' सीख ली। ग्रामोफोन तो जड़ है। इसी तरह यदि हम भी पुस्तकमें लिख रखें

और आचरणमें न उतारें तो वह ज्ञान हमारे किस कामका। इसलिए हमें तो यह चाहिए कि हम आसपासके लोगोंकी सेवा करें और घरेलू कामकाजोंमें अपनेसे बड़ोंकी मदद करें। बा को ऐसी जरूरत क्यों पड़नी चाहिए कि वह कुसुमको बुलवाये। रामचन्द्र तो यहाँ कुछ दिनोंके लिए मेहमानकी तरह आया है; रसोईघर आदि धोनेमें मददके विचारसे बा को उसे क्यों बुलवाना पड़े? बा ने इन दिनों एकाशनका व्रत रखा है। उसे थोड़ी देर आराम करनेका अवकाश क्यों नहीं मिलता? यदि तुम उसके किसी काममें हाथ नही बँटाते, तो ग्रामोफोनके जैसे हो।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ (११, १०-११)

जिसके अनेक मुख हैं, अनेक आँखें हैं, जो अनेक अद्भुत दर्शनवाला है और जिसने अनेक दिव्य आभरण धारण किये हैं, जो अनेक दिव्य शस्त्र उठाये हुए है, दिव्य मालाओं और परिधानोंको पहने हुए है, दिव्य गन्धोंसे अनुलिप्त है, जो अत्यन्त आश्चर्यमय और अनन्त रूप है, विश्वकी सभी दिशाओंमें जो अभिमुख है, ईश्वरके ऐसे रूपको अर्जुनने देखा।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ (११, १२)

यदि हजार सूर्योंका तेज एकसाथ ही आकाशमें व्याप्त हो जाये तो सम्भव है कि वह इस आत्मा, विश्वरूप परमात्माके प्रकाशकी कुछ झाँकीका आभास दे सके।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ (११, १३)

[अर्जुनने देखा,] सारा संसार उस एक ही स्थानपर स्थित है और फिर भी वह अनेक रीतियोंसे विभक्त है। (वृक्ष और उसके पत्तोंकी तरह। वृक्षको विराट् स्वरूप समझो। मूल और पत्ते यों तो एक ही हैं, किन्तु मूल समस्त वृक्षको — जगत्को — अपनेमें समाये हुए है और जो पत्ते हैं, वे मानो जगत्के भिन्न-भिन्न फैले हुए रूप हैं।)

अर्जुनने देवाधिदेवका स्वरूप इस तरह देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत॥ (११, १४)

उसे देखकर अर्जुन आश्चर्यसे स्तब्ध हो गया। उसके शरीरमें रोमांच हो आया और वह भगवानके आगे सिर झुकाकर, हाथ जोड़कर इस तरह कहने लगा।

[१५०]

शनिवार, ४ सितम्बर, १९२६

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम्-
अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ (११, १५-२१)

हे देव, मैं आपके शरीरमें समस्त देवोंको, जीव-मात्रको, कमलके आसनपर बैठे हुए ब्रह्माको, महादेवको, समस्त ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ।

आपके अनेक हाथ, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक आँखें हैं।

हे विश्वरूप, हे विश्वेश्वर, आप अन्तहीन, मध्यहीन और आदिहीन हैं।

अर्जुन एक तरफ यह कह रहा है कि आप साकार हैं और दूसरी ओर कहता है कि आप निराकार हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसका आकार इतना विराट् हो वह निराकार ही है।

आप मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी हैं। आप तेजके पुंज हैं और चतुर्दिक प्रकाशवन्त हैं।

सूर्यनारायणको देखकर ईश्वरके तेजकी झांकी मिलती है, तथापि सूर्य तो उस रूपके आगे किरण-मात्र है।

आप अग्नि और सूर्यकी प्रभावाले हैं। आपका तेज अपरम्पार है और उस तेजके कारण मैं आपकी ओर देख ही नहीं सकता। आप परम अक्षर, परम ज्ञातव्य, इस जगत्में परम आश्रयरूप, शाश्वत् धर्मके रक्षक, अविनाशी सनातन पुरुष हैं।

कल जो प्रचण्ड वर्षा हुई, क्या उसका स्वरूप इस विराट् स्वरूप जैसा ही नही था। सूर्य हमसे इतनी दूर रखा गया है। यदि वह पास होता तो हमारा क्या होता? ऐसी अवस्थामें सहस्रों सूर्योंके तेजोंसे युक्त श्रीकृष्ण अर्जुनके पास खड़े हैं तब उसकी स्थितिका क्या पूछना!

आपके आदि, मध्य और अन्त नही है। आपकी शक्ति अनन्त है। आप अनेक हाथोंवाले हैं। चन्द्र और सूर्य आपके नेत्र हैं। आपका मुख ज्वलित अग्निके समान है। आपके तेजसे यह समस्त जगत् तप्त हो रहा है। मैं आपके ऐसे स्वरूपको देख रहा हूँ।

आकाश और पृथ्वीके बीचका अन्तर भी आपसे ही व्याप्त है। सर्व दिशाओंमें एक आप ही हैं। हे महात्मा, आपका ऐसा अद्‌भुत और दिव्य रूप देखकर ये तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं।

यह साबरमती भी ईश्वरकी विभूति है। कलके समाचारके अनुसार यदि वर्षा हुई तो क्या हम काँप नही उठेंगे?

इन समस्त देवताओंका संघ आपमें प्रविष्ट हो रहा है। कितने ही तो भयभीत होकर हाथ जोड़कर आपका नाम जप रहे हैं और महर्षियों तथा सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो, कल्याण हो' कहकर अनेक स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

[१५१]

रविवार, ५ सितम्बर, १९२६

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ (११, २२-२३)

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि।
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म।
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति।
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ (११, २४-३१)

कौन जाने, ऐसा लगता है, जैसे यह श्लोक हमारे ही लिए लिखे गये हों।

कलेक्टरने कल समाचार दिया था कि साबरमतीमें जबरदस्त बाढ़ आनेवाली है। स्वाभाविक है कि मेरे हृदयमें उथल-पुथल मच गई। मैं सोचने लगा, हमें क्या

करना चाहिए। उसी समय भीतर आवाज उठी कि बहनोंके साथ तू रोज क्या बाँचता रहता है।[१] 'गोविन्द, द्वारिकावासिन्' इत्यादि। कदाचित् भगवान कृष्ण गरुड़पर सवारी करके आ रहे हों। यदि हमारा सब-कुछ बाढ़में बह जाता है तो हमारी लाज बच जायेगी और हममें से जो साक्षी-रूप बचकर यहाँ रह जायेगा वह हमारे व्रतोंका पालन किया करेगा।

मैंने बुनाईशालाको बिलकुल रास्तेसे लगाकर बनानेकी सलाह दी थी। 'अशक्तिमान भवेत् साधुः' इस न्यायके अनुसार हमें शान्तिपूर्वक बैठे रहना चाहिए। यदि जेलके अधिकारी हमें आश्रय देनेके लिए बुलायें तो उनसे मैं पूछूँगा कि आप वाडज ग्रामके निवासियोंको भी अपने यहाँ आश्रय देंगे? मै तो उनसे यही कहूँगा कि पहले आप दूसरोंको आश्रय दें, बादमें हमें।

हमें स्वादके लिए नहीं, देहको निभानेके लिए खाना हो तो हम अवश्य खायें। हम इसीलिए खायें कि हम शरीरकी शक्तिको बनाये रखना चाहते हैं। मै निश्चिन्त भावसे बैठा हूँ और इतनेमें ही मिलके पोंगेकी आवाज सुनता हूँ। उसे सुनकर विचार आया कि कर्म किसीको नहीं छोड़ता। 'भवाम्भोधि पोतं शरण्यं व्रजामः' मुख्य बात तो यही है। यह खतरा ऐसा कौनसा बड़ा खतरा है। बड़ेसे-बड़े खतरेके सामने भी ईश्वरका नाम जपते हुए, द्वादश मन्त्र जपते हुए अथवा जिस वस्तुसे आश्वासन मिलता हो उसका नाम जपते हुए निश्चिन्त रहना चाहिये। भीतरका तूफान बड़ा है या बाहरका यह तूफान? जिस तरफ नजर नहीं जानी चाहिए, वहाँ बार-बार नजर जाती है। कान भी ऐसा ही करता है तब फिर उसकी अपेक्षा क्या यह तूफान अधिक है? आश्रममें बहुत-से पक्षी हैं, मैं चाहता हूँ कि स्त्रियोंको भी पंख लग जायें। जिसे जाना हो वह तो जा भी सकता है। रेलगाड़ीमें कहीं दूर अथवा उस पार। गाँवके मालगुजारकी तरह मुझे तो इतना ही सूझ रहा है। तुममें से किसीकी बुद्धि इससे आगे जाती हो तो अच्छी बात है।

अब श्लोक लें :

रुद्रगण, आदित्यगण, वसुगण, साध्यगण, विश्वदेवता, दोनों अश्विनीकुमार, मरुतगण, पितर-समुदाय तथा यक्ष, असुर और सिद्धगण — सभी आपको विस्मित होकर देख रहे हैं।

हे महाबाहो, आपके अनेक मुखवाले, अनेक नेत्रवाले, अनेक बाहु और पदोवाले महान् स्वरूपको, जिसके अनेक उदर और अनेक कराल दंत हैं, देखकर सभी लोक व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ।

आप आकाश छू रहे हैं, देदीप्यमान हैं, आप अनेक रूपोंसे युक्त हैं, आपके मुख फैले हुए हैं, नेत्र विशाल और दीप्त हैं — ऐसे आपके रूपको देखकर मेरा अन्त.करण भयभीत हुआ जा रहा है, हे विष्णु, मुझे धीरज और शान्ति नहीं मिल पा रही है।

१. आश्रममें स्त्रियों द्वारा की जानेवाली प्रार्थनाके श्लोकों की ओर इंगित है।

आपकी दाढ़ें भयंकर हैं, प्रलयकालकी अग्नि जैसे तुम्हारे मुखोंको देखकर मुझे दिशाएँ नहीं सूझती और न शान्ति ही मिल पा रही है। इसलिए हे देवेश, हे जगत्‌के आश्रयस्थान, आप प्रसन्न हों।

देखता हूँ कि धृतराष्ट्रके पुत्र, पृथ्वीका पालन करनेवाले राजाओंके समुदाय, भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्षके मुख्य योद्धाओं सहित सभी, शीघ्रतासे आपके मुखमें प्रवेश कर रहे हैं।

आपके मुखमें प्रवेश करते हुए इन सबके सिर आपके दाँतोमें चूर्ण होते हुए दिखाई दे रहे हैं।

जैसे नदियोंके विपुल जलके ओघ समुद्रमें प्रवेश करते हैं इसी तरह इन शूरवीर मनुष्योंके समूह आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं।

जैसे पतंगे सुलगती हुई ज्वालामें नष्ट होनेके लिए अति वेगसे प्रवेश करते हैं, उसी तरह ये सब लोग भी अपने नाशके लिए आपके मुखमें अति वेगसे प्रवेश कर रहे हैं।

आप इन सभी लोगोंको प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रसित करते हुए सभी दिशाओंसे चाट रहे हैं। हे विष्णु, आपका उग्र प्रकाश इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपने तेजके द्वारा तप्त कर रहा है।

हे भगवन्, मुझे बताइए कि इस भयंकर रूपवाले आप कौन हैं। आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप मुझपर प्रसन्न हों। मैं आपका आरम्भ जानना चाहता हूँ। मैं आपकी प्रवृत्तिको समझ नहीं पा रहा हूँ।

[१५२]

मंगलवार, ७ सितम्बर, १९२६

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ (११, ३२)

मैं लोकोंके नाशके लिए वृद्धिप्राप्त महाकाल हूँ। मैं लोकोंका संहार करनेके लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिए दोनों सेनाओंमें खड़े हुए योद्धाओंमें से तेरे युद्ध न करने-पर भी कोई भी नहीं बचेगा।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ (११, ३३)

इसलिए तू खड़ा हो जा और कीर्तिलाभ कर। शत्रुपर विजय प्राप्त करके, समृद्धियुक्त राज्यका उपभोग कर। इनको तो मैं पहलेसे ही मार चुका हूँ। हे सव्य-साचिन्, तुझे तो केवल निमित्त-मात्र होना है।

सव्यसाचीका अर्थ है जो बायें हाथसे बाण चला सके अर्थात् जो दोनों हाथोंसे बाण चला सकता हो।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ (११, ३४)

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ तथा अन्य योद्धागण मेरे द्वारा मारे जा चुके है। इसलिए तू व्यथा मत मान। इन सबोंपर अर्थात् दुश्मनोंपर तुझे विजय प्राप्त करनी है इसलिए युद्ध कर।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ (११, ३५)

संजयने कहा कि केशवके इन वचनोंको सुनकर, हाथ जोड़कर, काँपते हुए, नमस्कार करके गद्गद कण्ठसे भयभीत होकर अर्जुनने कृष्णसे ऐसे वचन कहे:

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ (११, ३६)

अर्जुन बोला: हे हृषीकेश, आप जो कहते हैं वह योग्य ही है। आपकी प्रकीर्ति अर्थात् आपके नामस्मरण और कीर्तनसे जगत् हर्षित होता है और सुखी होता है। भयभीत होकर राक्षस भागते हे और सिद्धसंघ आपको नमस्कार करते हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ (११, ३७)

और ऐसा क्यों न हो? वे आपको नमन क्यों न करें? आप राक्षसोंके हन्ता हैं, राक्षस अर्थात् बाहर और भीतर स्थित रिपुगण। यदि नदी हमें निगल जाये तो भी क्या होता है? हमारे भीतर जो तूफान उठ रहा है वह इससे अधिक भयानक है। हृदयके भीतर स्थित राक्षसोंको कौन मार सकता है। इसलिए कहा:

आपको कौन नमस्कार नही करेगा? आप तो गुरुओंके गुरु, ब्रह्माके भी आदिकर्त्ता, अनन्त देवेश, जगन्निवास तथा सत्-असत्से परे अक्षर पुरुष हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण–
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ (११, ३८)

आप आदिदेव हैं, पुराण पुरुष हैं, आप इस विश्वके परम आश्रयस्थान हैं। आप ज्ञाता हैं, ज्ञेय हैं, परमधाम आप ही हैं। हे अनन्त रूप, आप इस जगत्‌में व्याप्त हैं।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ (११, ३९)

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही हैं। मैं आपको हजारों बार नमस्कार करता हूँ, पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ।

[१५३]

बुधवार, ८ सितम्बर, १९२६

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तुते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ (११, ४०)

मद्रासमें एक भक्त महिला थी। वह भगवानकी तरफ पीठ करके पूजा किया करती थी। एक ज्ञानी उसे ताना मारने लगा। किन्तु उक्त महिलाने उत्तरमें यह श्लोक पढ़कर सुनाया और वह ज्ञानी हतप्रभ होकर रह गया। जब हरएक स्थलमें भगवान है, सभी दिशाओंमें उसकी आँख, कान, नाक इत्यादि हैं, तब अमुक दिशामें ही बैठना जरूरी क्यों हो?

आपको सामनेसे, पीछेसे और चारों ओरसे मेरे नमस्कार हैं। हे अनन्त वीर्यवान्, हे असीम पराक्रमी, सभी कुछ आप ही धारण किये हुए हैं। इसलिए आप ही सब-कुछ हैं। अर्थात् जो-कुछ भी है वह सब-कुछ आप ही हैं और जहाँ आप नहीं हैं, वहाँ कुछ भी नहीं है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ (११, ४२)

आपको अपना मित्र मानकर अविवेकपूर्वक यदि मैंने कुछ कह दिया हो—आपकी महिमाको न समझकर मेरे मुँहसे कुछ निकल गया हो, प्रमाद अथवा अति प्रेमवश कुछ कह गया होऊँ अथवा हँसी-हँसीमें कभी मैंने आपका अपमान कर दिया हो, खेलते, सोते, बैठते अथवा खाते हुए, अकेले अथवा दूसरोंके सामने यदि मुझसे कोई अविनय हुई हो तो मुझे क्षमा करें।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ (११, ४३)

आप इस चराचर जगत्के पिता हैं, पूज्य हैं और श्रेष्ठ गुरु हैं। आपके समान इस विश्वमें कोई नहीं है, तब फिर इस त्रिलोकमें तो हो ही कैसे सकता है? आपका प्रभाव अप्रतिम है।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ (११, ४४)

आप प्रणम्य हैं, इसलिए अपने शरीरको आपके चरणोंमें झुककर स्तुति करने योग्य आपसे मैं यह विनय करता हूँ कि जिस तरह पिता पुत्रका, मित्र मित्रका, पति प्रिय स्त्रीका अपराध सहन करता है, उसी प्रकार आप भी मेरा अपराध सहन करें।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ (११, ४५)

जैसा पहले कभी नहीं देखा, आपका वैसा रूप देखकर मुझे रोमांच हो आया है और मेरा मन भयसे व्याकुल हो उठा है। इसलिए हे देव, मुझे अपना पहलेका रूप दिखाओ। हे देवेश, हे जगन्निवास, आप प्रसन्न हों।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ (११, ४६)

मैं आपके उस रूपका दर्शन करना चाहता हूँ जो मुकुटधारी, गदाधारी और चक्रधारी है। हे सहस्रबाहु, हे विश्वमूर्ति, आप अपना चतुर्भुज रूप धारण करें।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ (११, ४७)

हे अर्जुन, तुझपर प्रसन्न होकर ही मैंने आत्मशक्तिके द्वारा यह तेजस्वी तथा परम आदि, अनन्त विश्व-रूप दिखाया है। तेरे सिवाय आजतक किसी दूसरेने यह रूप नहीं देखा।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ (११, ४८)

'वेद'के अध्ययन, यज्ञ, दान और अनेक प्रकारकी क्रियाओं, उग्र तपस्यासे भी मेरा यह रूप देख सकनेमें, हे अर्जुन, तेरे सिवाय कोई समर्थ नहीं है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ (११, ४९)

मेरे इस भयंकर रूपको देखकर तू व्यथित मत हो। यह तुझे मूढ़ भी न बनाये। भय छोड़कर तू प्रसन्न हो और मेरे परिचित रूपको देख।

[१५४][1]

गुरुवार, ९ सितम्बर, १९२६

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ (११, ५१)

तब अर्जुनने कहा कि हे जनार्दन, आपके सौम्य मनुष्य स्वरूपको देखकर मेरी चेतना लौट आई है।

१. साधन-सूत्रमें इसके बादका संजय द्वारा कहा गया श्लोक छोड़ दिया गया है।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।। (११, ५२)

भगवानने कहा कि तूने मेरा जो रूप देखा, उसका दर्शन दुर्लभ है। देवतागण भी इसे देखनेकी नित्य आकांक्षा करते रहते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।। (११,५३)

तूने मेरा जो स्वरूप देखा, उसका दर्शन 'वेद', तप, दान अथवा यज्ञसे नहीं हो सकता।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।। (११, ५४)

हे परंतप, मैंने तुझे अपना जो स्वरूप दिखाया है, उसका दर्शन तथा वास्तविक रूपसे उसे समझ सकना अनन्य भक्तिसे ही सम्भव है।

भगवानको जानना चाहिए। फिर उसके दर्शन करने चाहिए और अन्तमें उसमें लीन हो जाना चाहिए। ईश्वरसे हमें यह कह सकना चाहिए कि तू मुझे चबा डाल। मुझे इसमें कोई भी आपत्ति नहीं है। मैं तेरा हूँ और तुझमें मिल जाना चाहता हूँ। यदि तू मुझे चबा भी डाले तो उससे मेरी क्या हानि हो सकती है। भगवानका यह कहना कि मै तुम्हें अपनी दाढ़के नीचे चबा डालूँगा और फेंक दूँगा, यह प्रकट करता है कि तू मुझे भक्तिके माध्यमसे जान सकता है। हम तो अपनी श्रद्धाके बलपर ही उसकी परीक्षामें खरे उतर सकते हैं। उसीकी शक्तिसे सब-कुछ होता है। जीना-मरना भी उसीके माध्यमसे है — यदि ऐसा समझमें आ जाये तब फिर क्या बच रहता है?

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। (११, ५५)

हे पाण्डव, जो सारे कर्म मुझे समर्पित करता है, मेरे प्रति परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, जो आसक्तिरहित है और प्राणि-मात्रके प्रति जिसके मनमें वैर-भाव नहीं है, वह मुझे पा लेता है।

ग्यारहवें अध्यायका समस्त सार भगवानने अन्तिम श्लोकमें सूचित कर दिया है। मेरे लिए काम करनेवाला, मुझमें परायण रहनेवाला, आसक्तिहीन, किसीके प्रति वैरभाव न रखनेवाला, घोर अपराध करनेवालेके प्रति भी वैरभाव रखे बिना जिसके मुँहसे ऐसा ही उद्गार निकले कि उसका भला हो, वह मुझे पाता है।

अध्याय १२

[१५५][1]

शुक्रवार, १० सितम्बर, १९२६

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।। (१२,१)

ईश्वरके प्रति प्रेम रखनेका अर्थ है अन्य किसी काममें आसक्ति न रखना। काम तो करना है परन्तु ममत्वभावके बिना, ईश्वरके लिए ही। कामी मनुष्य अपनी वासनाओंको पूरा करनेके लिए अपने माता-पिता और बच्चोंकी आसक्ति छोड़कर, वासनामें ही डूब जाता है। यह भी अनासक्ति है। किन्तु यह तल्लीनता एक खराब कामके प्रति है, जबकि ईश्वरके प्रति प्रेम सद्‌गुण है।

अब श्लोकका अर्थ लें:

उपर्युक्त रीतिसे जो भक्त हमेशा आपके साथ युक्त होकर एकाग्र चित्तसे समाधिस्थ रहता है और जो आपको अक्षर और अव्यक्त मानता हुआ आपकी उपासना करता है, इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है?

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।। (१२,२)

भगवान उत्तर देते हैं:

जो मनुष्य सदा मुझमें अपनेको लीन करके, परम श्रद्धा, अचल श्रद्धाके साथ मेरी उपासना करता है, मैं उसे श्रेष्ठ योगी कहता हूँ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।। (१२, ३-४)

किन्तु जो पुरुष समस्त इन्द्रियोंके समुदायको अच्छी तरह वशमें करके सबके प्रति समत्व दृष्टि रखकर, मेरे दृढ़, अचल, ध्रुव, अचिन्त्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अवर्णनीय और अविनाशी स्वरूपकी उपासना करता है, वह सब प्राणियोंके हितमें रत रहकर मुझे ही प्राप्त करता है।

[१५६]

शनिवार, ११ सितम्बर, १९२६

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते। (१२,५)

जिनका चित्त अव्यक्तमें लगा हुआ है अर्थात् जो निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उन्हें अधिक क्लेश होता है। क्योंकि हम शरीरधारी जीवोंका अव्यक्तकी गतिको जानना अति कठिन है।

१. शुक्रवार और शनिवारका विवरण महादेवभाईने नहीं लिखा था।

शून्यका ध्यान करना बहुत कठिन वस्तु है। ईश्वरके प्रति एक भी गुणका आरोप करते ही अव्यक्तकी उपासना नहीं बचती। फिर भी निराकार, अचिन्त्य स्वरूप साकार-के उस पार है। यह तो हम सबको समझना ही पड़ेगा। भक्तिकी पराकाष्ठा इस बातमें है कि भक्त भगवानमें लीन हो जाये और अन्तमें बच जाये केवल एक अद्वितीय, निराकार भगवान ही। किन्तु इस स्थितिकी प्राप्ति साकारके माध्यमसे सरलतापूर्वक हो जाती है, इसलिए सीधे निराकारको प्राप्त करनेका मार्ग कष्टसाध्य कहा गया है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (१२, ६-७)

किन्तु जो मनुष्य अपने सभी कामोंको मुझे समर्पित कर देता है, मेरे ही प्रति परायण रहता है और अनन्य योग-भक्तिपूर्वक मेरा ही ध्यान धरता हुआ मेरी उपा-सना करता है तथा जिसने अपना मन मुझमें ही लीन कर रखा है, मैं ऐसे व्यक्तिका इस मृत्युरूपी संसारसागरसे जल्दी ही उद्धार करता हूँ।

[१५७]

रविवार, १२ सितम्बर, १९२६

'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्' वाला श्लोक मेरे लिए बहुत अधिक प्रकाश देनेवाला साबित हुआ है क्योंकि उसमें अव्यक्तकी पूजाको कष्टसाध्य और अधिक क्लेशयुक्त कहा गया है। यह कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई व्यक्ति वन-गमन करे और ध्यान धरकर बैठ जाये तो वह मनुष्य ईश्वरके दर्शन पा सकता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी दुकानका मुनीम, कर्मचारी अथवा प्रबन्धक हो तो वह भी ईश्वरके दर्शन कर सकता है। उन दोनोंकी स्थिति एक-सी ही हो सकती है और इसलिए इन दोनोंको ही एक-सा परिणाम प्राप्त हो सकता है।

हम लोग चरखेकी प्रवृत्तिको हाथमें लिये हुए हैं। यदि इसके प्रति हमारी साधना सच्ची हो तो वह व्यापक हुए बिना नहीं रह सकती। देहधारीको जो मार्ग अपनाना चाहिए, चरखेके प्रति हमारी यह श्रद्धा इसका एक उदाहरण है। यही भक्तिका मार्ग है, सगुणकी उपासना है। कारण, हम चरखेको देख पाते हैं और उसमें शक्तिके दर्शन करते हैं। हम चरखेमें कुछ गुणोंको आरोपित करते हैं और दूसरोंसे भी वैसा ही करनेको कहते हैं। पर यदि हम केवल चरखेकी ही उपासना करें तो वह अव्यक्त ब्रह्मकी उपासना करने-जैसी बात हो सकती है। यदि हम चरखेका प्रयोग किये बिना उसकी उपासना करें तो वह भी अव्यक्तकी उपासना हुई। किन्तु मेरी कल्पना तो यह है कि यदि कभी मौन-सेवनका समय आ जाये तब भी यह बात नहीं हुई कि हमने चरखेको त्याग दिया अथवा ब्रह्मजिज्ञासाको छोड़ दिया। वास्तवमें तो हम हिमालयके शिखर पर जाकर बैठ जायें तो वह भी चरखेके प्रति वैराग्य अथवा लोगोंका तिरस्कार करना

नहीं कहलाया जा सकता। इसमें अव्यक्तकी भक्ति नहीं है। उससे कुछ लाभ भले ही हो जाये। क्रोधके वश होकर यदि कोई ब्रह्मचर्य-व्रत पाले अथवा व्यभिचार छोड़ दे तो उसका कल्याण तो होगा ही तथापि यह नहीं कह सकते कि वह उसने ज्ञानपूर्वक किया है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति चरखेसे ऊबकर अथवा समाजसे ऊबकर चरखा अथवा समाजको छोड़कर भागे तो यह बात उसके लिए नही कही गई है।

किन्तु यदि किसी व्यक्तिको ऐसा लगे कि इस नाम और रूपके उस पार कोई अन्य वस्तु भी है और उसे उसके दर्शन करने चाहिए तथा वह उसके दर्शनोंके लिए निकल पड़े तो यह एक मार्ग हुआ। अव्यक्तकी यह भक्ति हृदयसे करनी हो तो भी इसमें कष्ट बहुत है। ब्रह्म सत्य है और सृष्टि मिथ्या है यह एक ऐसी बात है जो बुद्धिमें भी नहीं आती। तब फिर इसके अनुसार अमल करना तो कितनी कठिन बात है? कोई शरीरमें छुरा मारे और हमपर उसका प्रभाव न हो, यह तो तभी हो सकता है जब हमारा शरीर ही कवच हो जाये। शास्त्रोंमें ध्रुव और सुधन्वाकी बात है। इस तरहका शरीर धारण करना भी शरीरका त्याग करने जैसा हो सकता है। इस हदतक आदमी पहुँच जाये और अपनी आत्मामें रम जाये ऐसी स्थिति कष्टसाध्य है। एक करोड़ मनुष्योंमें से ९९,९९,९९९ तो चूक ही जायेंगे। उनका यह मोह कदापि भंग नहीं हो सकेगा। उन्हें फिरसे जन्म लेना पड़ेगा।

कर्म-मार्ग सबसे सीधा मार्ग है। बुद्धिका मार्ग जबर्दस्त भ्रममें डालनेवाला मार्ग है। कमसे-कम भ्रमित करनेवाला मार्ग तो 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'वाला है। ईसाई अथवा मुसलमान भी, हिन्दू तो कदापि नहीं, सगुण उपासनासे मुक्त नहीं हुए। मौलाना शिबलीने एक पुस्तक[1] लिखी है, जिसमें इस बातपर विचार किया गया है कि ईश्वर शरीरी है अथवा नहीं। सर्वथा अव्यक्तकी पूजा करनेवाले हरएक व्यक्तिके भाग्यमें किसी-न-किसी व्यक्तिकी पूजा लिखी ही है। हम इस बातकी कल्पना बुद्धिसे कर सकते हैं कि देहके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है। इसी देहमें मोक्ष प्राप्त हो सकता है, ऐसा कहनेका अर्थ यह हुआ कि इस देहके छूटनेके बाद फिर जन्म नहीं लेना पड़ेगा। देह-पातके बादकी अपनी स्थिति कौन कह सका है? स्पिरिच्युअलिस्ट (Spiritualist) और थियोसफीमें विश्वास करनेवाले भूत-प्रेतादिकी जो बात करते हैं, मैं कहता हूँ कि वह ठीक नहीं है और मेरा अर्थ यह है कि कोई पूरी बात अभीतक नहीं कर सका है।

इस दृष्टिसे अर्जुनसे कहा गया कि यदि तू इस प्रपंचमें न पड़े तो अच्छा है। यह 'बँधी मुट्ठी लाखकी' जैसी बात हुई। कृष्ण कहते हैं कि अरे भोले आदमी, क्या तू यह नहीं देख पाता कि मैंने भी देह धारण किया है। इसके बाद भी तू मुझसे पूछता है कि अव्यक्तकी उपासना ठीक है कि व्यक्त की? इससे तो यह अच्छा है कि मैं जैसा कहूँ, तू यथाशक्ति वैसा करता जा। निर्वैर हो जा और प्राणि-मात्रके प्रति समभावसे आचरण कर। यदि तू यह बात समझ जायेगा तो कितने ही प्रपंचोंसे छूट जायेगा। हम सगुणकी उपासना करते हैं, इस कारण यदि कोई हमें मूर्तिपूजक कहे और निन्दा करे तो उसे वैसा करने दो। इसीलिए कहा है:

१. सम्भवतः लाइफ ऑफ द प्रॉफेटसे तात्पर्य है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। (१२, ८)

तू अपना मन मुझमें ही लीन कर दे, अपनी बुद्धिको मुझमें ही केन्द्रित कर। उसी अवस्थामें तू मुझे प्राप्त कर सकेगा। मेरे इस कथनमें शंका मत कर।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।। (१२, ९)

यदि तू अपना चित्त मुझमें स्थापित न कर सके तो हे अर्जुन, अभ्यासयोगके द्वारा मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा कर।

अभ्यासयोग और ईश्वरपर ध्यान रखनेमें क्या अन्तर हो सकता है? ऐसा जान पड़ता है कि अभ्यासयोगका अर्थ हुआ श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना, ऐसे समाजमें जाकर बैठ जाना, भजन-कीर्तन सुनना; क्योंकि 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' सब-कुछ ईश्वरतक पहुँच जाता है।

[१५८][1]

मंगलवार, १४ सितम्बर, १९२६

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।। (१२, १०)

यदि तू इस प्रकार अभ्यासयोग करनेमें असमर्थ हो तो तुझे चाहिए कि तू मेरे प्रति परायण होकर मेरे ही लिए सारे कर्म कर। ऐसा करनेसे भी तुझे सिद्धि प्राप्त हो जायेगी, तू मुझे प्राप्त करेगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।। (१२, ११)

यदि तू इतना भी न कर सकता हो तो संयमी बनकर और मेरे योगका आश्रय करके, समस्त कर्मोंके फलका त्याग कर। फल-प्राप्तिके लिए आतुर मत बन।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।। (१२, १२)

अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान और ध्यानसे कर्मफल-त्याग बढ़कर है। इस तरह त्यागसे शान्ति मिलती है।

यहाँ ज्ञानका अर्थ केवल विद्वत्ता नहीं, बल्कि हृदयका वास्तविक अनुभव है। वह फिर थोड़ा ही क्यों न हो। ऐसे ज्ञानसे ध्यान अर्थात् चित्तकी एकाग्रता श्रेष्ठ है। और ध्यानसे भी कर्मफल-त्यागको श्रेष्ठ बतलाया गया है। यह इस दृष्टिसे कहा

१. इस दिनका विवरण पूँजाभाईने लिखा था।

गया कि ध्यान करनेवाला व्यक्ति कदाचित् अपनेको ही छल रहा हो। इसके सिवाय ज्ञानका अर्थ अन्तमें होनेवाला साक्षात्कार नहीं है। यहाँ ज्ञान और ध्यानके अधूरे अर्थको लक्ष्यमें रखकर श्रेष्ठताकी बात कही गई है। कर्मफल-त्यागका उल्लेख सबसे बादमें किया है। वास्तवमें तो यह सबसे पहली चीज है। कर्मफलका त्याग करनेवाला व्यक्ति अहंकारहीन हो जाता है।

अब ऐसे व्यक्तिके लक्षण बताते हैं:

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।। (१२, १३)

यह व्यक्ति सभी प्राणियोंके प्रति इतना ही नहीं कि द्वेष नहीं रखता, बल्कि सबके प्रति मित्रभाव और करुणा रखता है तथा ममत्व और अहंकाररहित होकर सुख और दुःखमें समान भाव रखता है और क्षमाशील होता है।

मित्रभाव तो बराबरीवालोंके प्रति ही रखा जाता है, किन्तु सबके प्रति करुणा-भाव रखना चाहिए। हमें चाहिए कि हम किसी कुत्तेको डंडा फेंककर न मारें। माता-पिता अथवा शिक्षक हमारे साथ ऐसा बरताव करें तो हमें कैसा लगे। हम अपने माता-पिताके आज्ञाकारी बालक हों, तो भी ऐसा व्यवहार करनेवाले पिताके प्रति हमारा भाव क्या होगा? हम यहाँ इस बातकी बहसमें नहीं पड़ेंगे कि कुत्तेके प्रति हमारा क्या धर्म है। फिर भी इतना तो निश्चय ही है कि हमारा धर्म कुत्तेको मारना तो कदापि नहीं है। कुत्ता हमें काट खाये तो भी यदि हम उसके प्रति क्रोध न करें तो इसे ही क्षमा कहा जा सकेगा। "जैसेके साथ तैसा" होना अच्छा नियम नहीं है। इसमें क्षमाभाव तो है ही नहीं। नीचके साथ नीच बननेसे क्या लाभ हो सकता है? इससे उलटे यदि नीचके प्रति भी प्रेमभाव, करुणाभाव और क्षमाभाव रखें तो उससे दोनोंका ही फायदा होगा।

ममत्वहीन और निरहंकारका भेद समझना चाहिए। निर्मम अथवा ममत्वहीन-का मतलब हुआ मेरा-तेराका भेद न करनेवाला, 'वसुधैव कुटुम्बकम्'में विश्वास करनेवाला; और निरहंकारका अर्थ हुआ कि अमुक काम मैंने किया है ऐसा न कहकर ईश्वरने किया है, ऐसा माननेवाला व्यक्ति।

[१५९]

बुधवार, १५ सितम्बर, १९२६

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। (१२, १४)

जो निरन्तर सन्तुष्ट है, सदा ध्यानमें लीन है, जो इन्द्रियोंको वशमें रखता है, दृढ़ निश्चयवाला है और जिसने अपने मन तथा बुद्धिको मुझे अर्पित कर रखा है, मेरा एसा भक्त तो मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ (१२, १५)

लोग जिससे उद्विग्न नहीं होते और जो लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, ईर्ष्या, भय आदि उद्वेगोंसे मुक्त है [वही मुझे प्रिय है]।

'अद्वेष्टा' शब्दमें श्लोकका भाव आ ही जाता है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ (१२, १६)

जो आकांक्षारहित है, शुद्ध और कुशल है; पक्षपात रहित है, दुःखोंसे मुक्त है तथा समस्त आरम्भोंका त्याग करनेवाला है, मेरा वह भक्त मुझे प्रिय है।

पूरे बारहवें अध्यायमें भक्तके लक्षण दिये गये हैं। 'स्थितप्रज्ञ' सम्बन्धी श्लोकोंके साथ इनका मिलान करें तो वे सब इन्ही श्लोकों-जैसे लगेंगे।

ईश्वरका भक्त सिवाय ईश्वरके किससे आशा रखे? शुचिका अर्थ है जिसका मन और शरीर दोनों पवित्र हों, ऐसा व्यक्ति। दक्ष अर्थात् जो काम लिया है उसे भगवानका नाम लेकर ही करनेवाला व्यक्ति। 'उदासीन' अर्थात् अनेक योजनाओंकी रचना करनेपर सफलता न मिल रही हो फिर भी जो बिलकुल चिन्ता न करे। 'सर्वारम्भपरित्यागी' अर्थात् वह व्यक्ति जो कामको खोजने नहीं निकलता बल्कि काम जिसको खोजते हुए आता है। उससे जो काम लिया जाता है उसे स्वयं भगवान निश्चित करके उसे सौंप देते हैं। वह यह मानकर कि ईश्वर हमारा सारा भार स्वयं उठा लेगा, सब-कुछ ईश्वरपर छोड़ देता है। दासको कामकी खोजमें जानेका अधिकार ही नहीं है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ (१२, १७)

जो हर्ष अथवा द्वेषको प्राप्त नहीं होता, जो न शोक करता है, न कामना करता है, बल्कि जो शुभ और अशुभ सभी कर्मोंका फल त्याग देता है, मेरा ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ (१२, १८-१९)

निन्दा और स्तुति जिसके लिए समान है, जो मननशील है, जो जैसे-तैसे शरीरका निर्वाह करके सन्तोष मान लेता है, अपना घर कहने योग्य जिसके पास कुछ नहीं होता, ऐसा स्थिरबुद्धि युक्त मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

रायचन्दभाईने कहा है: "वन्दे चक्री तथापि न माने मान जो"—जो चक्रवर्तीके द्वारा प्रणाम किये जानेपर भी अभिमान नहीं मानता।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।। (१२, २०)

इस धर्ममय अमृतका जो निष्कामभावसे सेवन करता है, मुझमें परायण और मुझमें श्रद्धा रखनेवाला मेरा ऐसा भक्त मुझे अतिशय प्रिय है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके नाते हमारे काम तो हमारे सामने हैं ही। जो व्यक्ति अपने इन कामोंको आशारहित और निस्पृह भावसे करता है, वह ईश्वरका भक्त है। दूसरे अध्यायमें 'स्थितप्रज्ञ' सम्बन्धी श्लोक हैं। उनमें किसी अवधूत योगीकी दशाका वर्णन है। इस बारहवें अध्यायमें भक्तकी दशाका हमारी सामान्य भाषामें वर्णन किया गया है।

अध्याय १३

[१६०]

गुरुवार, १६ सितम्बर, १९२६

इस तेरहवें अध्यायसे एक नई ही बात शुरू होती है। इसमें शरीर और शरीरके स्वरूपके विषयमें विचार किया गया है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। (१३, १)

हे अर्जुन, इस शरीरको क्षेत्र कहा गया है और जो इसे जानता है उस विद्वानको क्षेत्रज्ञ कहा गया है।

इस शरीरमें पाण्डव और कौरव अर्थात् दैवी और आसुरी विचारोंका युद्ध हो रहा है। ईश्वर दूर खड़ा होकर इस युद्धको देख रहा है। आप लोग ऐसा न मानें कि यह बात हस्तिनापुरके एक छोटे-से क्षेत्रमें चलनेवाले युद्धके विषयसे सम्बन्धित है। यह युद्ध तो आज भी चल रहा है। 'धर्मक्षेत्र'का अर्थ समझनेके लिए इसी श्लोकका उपयोग किया जाना चाहिए।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।। (१३, २)

सभी क्षेत्रोंके अन्तर्गत रहनेवाला, सभी क्षेत्रोंका साक्षी क्षेत्रज्ञ मैं हूँ। जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ इन दोनोंको अलग करके जानता है, वह सब-कुछ जानता है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ इन दोनोंमें से किसकी सेवा करनी है, किसकी शरणमें जाना है, यदि इसका विचार करते हुए हमारा पूरा जीवन व्यतीत हो जाये तो कहा जा सकता है कि शरीर थोड़ा-बहुत सार्थक हुआ।

[१६१]

शुक्रवार, १७ सितम्बर, १९२६

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ।। (१३, ३)

यह क्षेत्र क्या है, कैसा है, इसमें कौन-कौनसे विकार उत्पन्न होते हैं तथा क्षेत्रज्ञ क्या है और उसकी शक्तियाँ क्या हैं, सो संक्षेपमें सुन।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैःपृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।। (१३, ४)

इस वस्तुका ऋषियोंने अनेक प्रकारसे वर्णन किया है, अनेक प्रकारके छन्दोंमें इसका पृथक्करण किया है और 'ब्रह्मसूत्र'के हेतुपूर्ण उन पदोंमें, जिनमें कार्य-कारणकी श्रेणी भरी पड़ी है और जिसमें एक-एक शब्द तोलकर रखा गया है, यहाँतक कि जिनमें एक मात्राका भी फेरफार नहीं हो सकता, इस तरह इसका वर्णन किया गया है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।। (१३, ५-६)

पाँच महाभूत, अहंकार जिसके बलपर ये भूत टिक सकते हैं, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति), दस इन्द्रियाँ, मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतन शक्ति, धृति — अपने विकारों सहित संक्षेपमें यह क्षेत्र है।

संघातका अर्थ है शरीरके तत्त्वोंकी परस्पर सहयोग करनेकी शक्ति। धृतिका अर्थ धैर्यरूपी सूक्ष्म गुण न होकर यहाँ शरीरके परमाणुओंका परस्पर एकत्र रहनेका गुण है। यह गुण अहंभावके आधारपर ही सम्भव है और यह अहंभाव अव्यक्त प्रकृतिमें व्याप्त है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।। (१३, ७-१०)

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।। (१३, ११)

अमानित्व, अदंभित्व, क्षमा, सरलता, गुरुकी सेवा, शौच, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति वैराग्य, अहंकाररहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख इत्यादि दोषोंका निरन्तर भान; पुत्र, स्त्री, घर इत्यादिके प्रति मोह तथा ममताका अभाव, प्रिय और अप्रियके प्रति नित्य समभाव, मेरे प्रति अनन्य, ज्ञानपूर्वक और एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त-स्थलका सेवन, जनसमूहमें अरति, आध्यात्मिक ज्ञानकी नित्यताका भान, आत्म-दर्शन — यह सब ज्ञान कहलाता है और जो इससे विपरीत है वह अज्ञान कहलाता है।

शौच अर्थात् बाह्य और अन्तर शुद्धि। राम-नाम लेनेसे यह शुद्धि प्राप्त होती है। चौबीसों घंटे हृदयको राम-नामके उच्चारणसे स्वच्छ किया जाता रहे, तभी इस शुचिताकी रक्षा होती है। प्रभातकालमें हमारी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चलनी चाहिए कि हम आज रामका नाम क्योंकर भूल गये। हमें आज दुःस्वप्न क्यों आया।

इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति वैराग्यका अर्थ है यह भावना कि अमुक चीजोंकी मुझे आवश्यकता नहीं है, मैं उन्हें स्वीकार नहीं कर सकता।

जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख आदि दोषोंका दर्शन भी इसमें आ जाता है। प्रारम्भ ही 'पापोऽहम्' से होता है। अनेक प्रकारकी व्याधियाँ हमें क्यों होती हैं? इष्ट और अनिष्ट जो-कुछ आ पड़े, उसके विषयमें समभाव विकसित करना ही चाहिए। एकान्त-सेवनका क्या अर्थ है? अकेले गुफामें जाकर बैठ जाना? जब हजारों व्यक्तियोंके बीचमें भी एकान्तका अनुभव किया जा सके, तभी वह सच्चा एकान्त-सेवन है। एक ही विचारका चिन्तन करते हुए उसमें तल्लीन रहना एकान्त-सेवन कहलायेगा।

[१६२]

शनिवार, १८ सितम्बर, १९२६

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।। (१३, १२)

अब ज्ञेय क्या है, सो तुझे बतलाऊँगा। जिसे जानकर मनुष्य अमृतत्त्व, अमरपदको प्राप्त कर लेता है, वह ज्ञेय है। वह अनादि और परब्रह्म है, उसे सत् अथवा असत् नहीं कहा जा सकता।

यह किसलिए कहा गया है, जब कि ब्रह्म ही सच्चिदानन्द है और केवल ब्रह्म ही सत्य है। श्रीकृष्ण कहना यह चाहते हैं कि इससे उलटा अर्थात् असत्से उलटा जो सत् है उसका अर्थ ब्रह्म नहीं है। जब ब्रह्मके सन्दर्भमें हम सत् शब्दका प्रयोग करते हैं तब उसका अर्थ होता है द्वन्द्वातीत अर्थात् सत् और असत्के द्वन्द्वमें से वह कुछ भी नहीं है। वह तो इन दोनोंसे भिन्न वस्तु है। ईश्वरको न बुरा कह सकते हैं, न अच्छा। वह तो इन दोनोंसे परे है। वह त्रिकालाबाध्य तत्त्व है।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।। (१३, १३)

सभी दिशाओंमें उसके हाथ और पाँव हैं और सभी ओर उसके आँख, शिर और मुख हैं। सभी ओर उसके कान हैं। वह इस संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।। (१३, १४)

वह सभी इन्द्रियोंके गुणोंके आभाससे युक्त है, फिर भी उसका स्वरूप इन्द्रियहीन है। वह आसक्तिरहित है और निर्गुण होते हुए भी सबका पोषण करनेवाला तथा गुणोंका भोक्ता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।। (१३, १५)

वह सर्व भूतोंके बाहर है और उनके भीतर भी है। वह चर और अचर है। सूक्ष्म होनेके कारण वह अविज्ञेय अर्थात् ऐसा है कि जाना नहीं जा सकता। वह दूर भी है और समीप भी है।

अविभक्तम् च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।। (१३, १६)

यद्यपि यह ऐसा नहीं है कि इसके विभाग किये जा सकें फिर भी यह जीवोंमें विभक्त-जैसा ही रहता है। वह जानने योग्य है। भूतोंका भर्त्ता है। वह संहार-कर्त्ता और सबको उत्पन्न करनेवाला भी है।

[१६३]

मंगलवार, २१ सितम्बर, १९२६

ईश्वरके विषयमें सारे विरोधी गुणोंकी कल्पना की गई है क्योंकि हम अपनेको द्वन्द्वसे मुक्त नहीं कर पाते।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।। (१३, १७)

वह ज्योतियोंकी भी ज्योति है। वह अन्धकारके परे है अर्थात् स्वयंप्रकाश है। ज्ञान भी वही है और ज्ञानसे जानने-योग्य भी वही है। वह सबके हृदयोंमें स्थित है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।। (१३, १८)

इस तरह मैंने संक्षेपमें क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके विषयमें बताया। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे ही भावको प्राप्त हो जाता है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।। (१३, १९)

प्रकृति और पुरुष इन दो वस्तुओंकी जोड़ी अनादि है। विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।। (१३, २०)

कार्य अर्थात् विकारोंके वश होकर मनुष्य जो-कुछ करता है और कारण अर्थात् विकार — इनके कर्तृत्वमें भी प्रकृति ही हेतु है। पुरुष सुख-दुःखके भोक्तृत्वका हेतु है।

ईश्वरके दो भाग किये — एक स्वरूपको प्रकृतिकी तरह जान और दूसरेको पुरुषकी तरह। जगत्में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है इसलिए वह माया है। पुरुष क्षणजीवी नहीं है क्योंकि वह साक्षी है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।। (१३, २१)

प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका भोक्ता है। इन गुणोंकी संगति जीवात्माके शुभाशुभ योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बनती है।

[१६४]

बुधवार, २२ सितम्बर, १९२६

यदि हम ईश्वरको राजा मान लें और हम सब उसके गुलाम बन जायें अर्थात् देहपर से अपना अधिकार छोड़ दें तो पर्याप्त है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।। (१३, २२)

इस देहमें स्थित पुरुष पर है। पर अर्थात् मायासे अतीत। किन्तु वह साक्षी है और अनुमति देनेवाला है। सबको धारण करनेवाला भर्त्ता और भोक्ता वही है। फिर वह महेश्वर है और उसे परमात्मा भी कहा गया है।

अग्निमें जलानेकी शक्ति होती है, किन्तु यदि ईश्वरकी अनुमति न हो तो अग्नि जला नहीं सकती।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।। (१३, २३)

इस तरह जो व्यक्ति पुरुष और प्रकृतिको उसके गुणों समेत जानता है वह व्यक्ति सब तरहका आचरण करते हुए भी फिर जन्म नहीं लेता।

जो व्यक्ति ऐसा दावा करे कि मैं तो ईश्वरका भक्त हूँ, इसलिए जो-कुछ मैं करता हूँ सो वास्तवमें ईश्वर करता है, तो उस व्यक्तिका ऐसा दावा करना मिथ्या

है। यदि संसार कहे कि हाँ, यह ईश्वरका भक्त है और उसके सारे काम ईश्वर ही करता है तो इसे ठीक माना जा सकता है। उससे यदि कोई पूछे कि क्या तुम्हें ज्ञान हो गया है तो वह कहेगा कि मैं नही जानता, ईश्वर जानता है। बुद्धिमें बड़ी जल्दी उफान आ जाता है और बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। किन्तु जो व्यक्ति ज्ञानमय हो गया है, उसे तो सयाना बनना ही नही है। राम, कृष्ण, भगवान् हो गये यह सारी हमारी कल्पना है। राजा रामने पाखण्ड फैलाया या नही; सो हमें क्या मालूम। हम यह भी नहीं जानते कि कृष्ण कोई दुष्टातिदुष्ट मनुष्य तो नही था। किन्तु हमें ऐसी तमाम शंकाएँ करनेका अधिकार नही है। हम जिसे भजें उसे पूर्ण पुरुषोत्तम मानकर भजें, उत्तम बात तो यही है। हम तो ऐसा ही मानें कि हिन्दुस्तानकी जनता जिसे ईश्वर मानती है हम भी उसे ईश्वरका रूप मानकर भजते हैं।

यह श्लोक स्वेच्छाचारका समर्थन नही करता, बल्कि भक्तिकी महिमा सूचित करता है। कर्म-मात्र जीवके लिए बन्धनकारी है किन्तु यदि वह अपने समस्त कर्मोको परमात्माके चरणोंमें डाल दे तो वह बन्धनमुक्त हो जाता है। इस तरह जिसमें से कर्त्ता होनेके अहंभावका नाश हो गया है और जो चौबीसों घंटे अन्तर्यामीको पहचान रहा है, वह पाप-कर्म करता ही नही। पापका मूल ही अभिमान है। जहाँ 'मैं' नहीं है, वहाँ पाप नही है। यह श्लोक पाप-कर्म न करनेकी युक्ति प्रस्तुत करता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।। (१३, २४)

कुछ लोग ध्यानसे, कुछ लोग आत्माको आत्मासे, कुछ लोग सांख्य योगसे, कर्मयोगसे अथवा ज्ञानयोगसे ईश्वरको जानते-पहचानते हैं।

[१६५]

गुरुवार, २३ सितम्बर, १९२६

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।। (१३, २५)

कुछ लोग इस तत्त्वको न जानते हुए भी दूसरोंसे सुनकर उसकी उपासना करते हैं। वे श्रुतिपरायण होकर मृत्युको उत्तीर्ण कर जाते हैं।

यदि हम ईश्वरार्पण करके काम करेंगे तो तर जायेंगे यह सुनकर तदनुसार आचरण करें तो अपने विषयमें भी कह सकेंगे कि 'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते' सब तरहका आचरण करते हुए भी वह फिर जन्म प्राप्त नहीं करता।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।। (१३, २६)

जो-कुछ स्थावर अथवा जंगम वस्तु उत्पन्न होती है वह क्षेत्र अर्थात् प्रकृति और क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुषके संयोगसे होती है, तू इसे जान ले।

वस्तु-मात्रका पृथक्करण करके देखें — आदमी, मिट्टी, पानी — तो इन सभीका उत्तर अलग-अलग मिलेगा। किन्तु यदि हम वस्तुशः शोध न करके इनके मूलकी खोज करें तो नाम और रूपका खयाल ही न रहे। जो रावण हमारे समक्ष ऐसा प्रलोभन प्रस्तुत कर देता है कि हम अपनी इच्छापूर्वक उसके माया-जालमें फँस जाते हैं, वह उस रावणकी अपेक्षा अधिक भयंकर है जो साक्षात् हत्यारा था।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।। (१३, २७)

जो सर्वभूतोंके प्रति समदर्शी है और जो सभी नाशवानोंमें अविनाशी है, उस परमेश्वरको देखनेवाला ही वास्तवमें देखनेवाला है।

नाश तो प्रतिक्षण होता रहता है, फिर भी उसमें एक ऐसा अविनाशी तत्त्व पड़ा हुआ है, जिसपर इस चक्रका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो उस अविनाशी तत्त्वको देख पाता है वही वास्तविक द्रष्टा है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।। (१३, २८)

इस तरह जो व्यक्ति सभी स्थानोंपर इसी स्थितिमें उपस्थित ईश्वरको देखता है वह अपने हाथों अपना नाश नहीं करता, अपनी देहके नाशके साथ वह स्वयं नाशको प्राप्त नहीं होता, ऐसा वह मानता है। और इसीलिए वह परमगतिको प्राप्त करता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।। (१३, २९)

जो यह जानता है कि सभी प्रकार प्रकृतिसे ही सारे कर्म उत्पन्न होते हैं और जो आत्माको अकर्त्ताके रूपमें जानता है अर्थात् जो यह जानता है कि सब-कुछ ईश्वरकी मायासे होता है फिर भी उसमें पड़ा हुआ पुरुष अकर्त्ता ही है, वह सम्यक् दृष्टिवाला व्यक्ति है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ।। (१३, ३०)

नाना प्रकारके भूतोंके अलग-अलग होनेपर भी जब वह उन्हें एकमें ही रहते हुए देखता है और उसीमें से समस्त विस्तार हुआ है ऐसा समझता है तब वह ब्रह्मको पा जाता है।

[१६६]

शुक्रवार, २४ सितम्बर, १९२६

'गीता' मार्ग-दर्शक ग्रन्थ है और हम सभीको इसमें अपने समस्त व्यवहारका आधार खोजनेमें समर्थ हो सकना चाहिए। डा० त्रिभुवनदासकी पुस्तकको[1] सभी नहीं

1. माने शिखामण, देखिए आत्मकथा, भाग ३, अध्याय ६।

समझ सकते, किन्तु कोई वैद्य या डाक्टर उसे भली-भाँति समझ सकता है। हमारी भी स्थिति ऐसी ही है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।। (१३, ३१)

अनादि और निर्गुण होनेके कारण परमात्मा अव्यय है। शरीरस्थ होते हुए भी वह कुछ नहीं करता और किसीसे, किसी बातसे लिप्त नहीं होता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।। (१३, ३२)

जिस तरह सूक्ष्म होनेके कारण आकाश सभी वस्तुओं और सभी स्थानोंमें होते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता, इसी तरह इस देहमें और सबमें रहनेवाला आत्मा भी लिप्त नहीं होता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।। (१३, ३३)

जिस तरह अकेला सूर्य इस सारे जगत्‌को प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्री सारे क्षेत्रको प्रकाश देता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।। (१३, ३४)

जो व्यक्ति ज्ञान-चक्षुसे क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञके भेदको जानता है और यह जानता है कि प्रकृति और मायाके बन्धनसे प्राणियोंकी मुक्ति किस प्रकार होती है, वह व्यक्ति मोक्षको जानता है।

[१६७]

शनिवार, २५ सितम्बर, १९२६

तेरहवें अध्यायमें यह बताया गया है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वरूप क्या है, उस स्वरूपको जाननेके साधन क्या हैं और ज्ञानके विभिन्न अंग क्या हैं। ज्ञानका पहला लक्षण तो अमानित्व बताया है। इसका अर्थ यह हुआ कि चाहे जितना ज्ञान होते हुए भी यदि अभिमान हो तो 'गीताजी'को जानना व्यर्थ हो गया। जहाँ अभिमान है, वहाँ ज्ञान नहीं है। ज्ञानी व्यक्ति सदा अमानी होता है, अदम्भी होता है, सरल होता है, गुरुकी उपासना करनेवाला होता है, पवित्र होता है, स्थिरतायुक्त होता है, आत्मनिग्रहयुक्त होता है, अहंकारहीन होता है। वह जरा और व्याधिसे दुःखी नहीं होता। वह पुत्र, दारा और गृहके प्रति अनासक्त होता है। वह मेरे प्रति अव्यभिचारी भक्तिवाला होता है, एकान्तसेवी होता है, अध्यात्मज्ञानमें रस लेनेवाला होता है और उसकी तत्त्वज्ञानके प्रति लगन होती है।

अध्याय १४

[१६८]

रविवार, २६ सितम्बर, १९२६

हम यहाँ 'गीताजीके' अभ्यास अर्थात् तदनुसार नित्य आचरण करनेके लिए एकत्रित होते हैं। यदि हमारे पेटमें दर्द हो तब हम किसी ऐसी पुस्तकको उठाते हैं जिसमें घरेलू दवाइयाँ दी गई हों और फिर उनमें से कोई दवा चुन लेते हैं। 'गीताजी' भी घरेलू दवाइयोंकी एक पुस्तक है। आध्यात्मिक रोगकी औषधि उसमें से ली जाती है। यदि हम 'गीताजी'को अपनी कामधेनु बनाना चाहते हों तो उससे अधिकसे-अधिक जितना ले सकते हैं, उतना लें। 'गीता'से हमें जो-कुछ प्राप्त हो जाये उसके समर्थनकी दृष्टिसे हम चाहे जितनी पुस्तकोंका अध्ययन क्यों न करें किन्तु सन्तोष तो हमें 'गीता'के वचनोंसे ही करना चाहिए। इसलिए इसके प्रति हमारी अनन्य भक्ति होनी चाहिए। ऐसी अनन्य भक्ति स्वाभाविक रूपसे ही हममें उत्पन्न हो सकनी चाहिए।

लोग किसी गाँवके एक तालाबमें से लुक-छिपकर मछलियाँ मार ले जाते थे। गाँवकी समितिने निश्चय किया कि मछलियाँ तो इस तरह मरती ही हैं, लोग भी लुक-छिपकर उन्हें मारनेके कारण डरपोक बनते हैं इसलिए हम ऐसा करें कि मछली मारनेकी अनुमति कुछ निश्चित रकम देनेके बाद दी जाये और फिर लोग मछलियाँ मारें। अन्य दूसरे लोगोंने सोचा कि मछलियाँ मारनेकी अनुमति देना और उससे पैसा पैदा करना अधर्म है। इस तरह दोनों पक्षोंमें मतभेद उत्पन्न हो गया। इस मतभेद-को मिटानेका काम मुझे सौंपा गया। निर्णय देते हुए मैं अपने मनमें घबराया क्योंकि धर्मज्ञान अथवा श्रद्धाके मामलेमें हम किसी दूसरेको अपना आधार नहीं बना सकते। यदि हम इन विषयोंमें दूसरोंकी बुद्धिके अनुसार चलें तो हम स्वयं तो भटक ही जायेंगे, दूसरा भी हमारे साथ मारा जायेगा। यदि उन लोगोंने मुझसे पूछनेके बदले 'गीता' अथवा 'वेद' अथवा 'कुरान'से पूछनेका विचार किया होता तो अधिक अच्छा होता। हमें इन पुस्तकोंको अपने आध्यात्मिक रोगशमनका साधन मानना चाहिए। किन्तु बादमें मुझे सूझा कि व्यक्तिको चाहे जिस बातका समर्थन पुस्तकसे प्राप्त हो सकता है। किन्तु 'कामधुक्'का सच्चा अर्थ तो यही है कि उसमें से केवल शुभेच्छा ही फलित हो। यदि 'गीताजी' हमारी चाहे जिस इच्छाको पूर्ण करनेवाली बन जाये तो फिर वह कामधुक् नहीं, पूतना मौसी ठहरेगी। शास्त्रकारोंने कहा है कि शूद्र वेदादिका पठन नहीं कर सकते। शायद इसका यह कारण रहा होगा कि कहीं वे उसका मनमाना अर्थ न निकालें। जो व्यक्ति शास्त्रोंके पास पूरी तरह सत्य और अहिंसामें श्रद्धा रखकर नहीं जाता, उसका उनके पास जाना व्यर्थ ही है। 'बाइबिल', 'वेद', 'पुराण', सभीमें से चाहे जितने पाखण्डका समर्थन किया जा सकता है। इन पुस्तकोंको आधार बनाकर हत्यातक का समर्थन करनेवाले देखे गये हैं। किन्तु जो व्यक्ति 'गीता'को सत्य और अहिंसाका साधन मानकर पढ़ेगा उसके लिए वह मार्गदर्शक

सिद्ध होगी। अतः प्रत्येक व्यक्तिको इसमें से स्वयं ही अपना निर्णय कर लेना चाहिए। मेरे अथवा किशोरलालके पास जाकर, हमसे पूछकर, हमारे अर्थको स्वीकार करनेसे 'गीता' 'कामधुक्' नहीं बनती। दूसरेकी श्रद्धा स्वीकार करनेके बदले स्वयं श्रद्धायुक्त होकर अपना निर्णय आप करना चाहिए। जहाँ मन्शा स्वच्छ है और दम्भका लेश नहीं है वहाँ यदि निर्णय लेनेमें चूक हो जाये तो भी वह क्षम्य ही होगी। ऐसा व्यक्ति गलती करके सावधान हो जाता है और सीधे रास्ते लग जाता है।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ (१४, १)

जिस उत्तम ज्ञानको जानकर सारे मुनियोंने परम सिद्धि प्राप्त की, मैं तुझे वह ज्ञान फिरसे बता रहा हूँ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ (१४, २)

इस ज्ञानका आश्रय लेकर जो लोग मेरे प्रति तन्मय हो गये हैं, उन्हें सृष्टि-कालमें जन्म नहीं लेना पड़ता और प्रलयकालमें उनका नाश भी नहीं होता।

[१६९]

मंगलवार, २८ सितम्बर, १९२६

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ (१४, ३)

हे अर्जुन, महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनी है और मैं उसमें गर्भ स्थापित करता हूँ। सभी जीवोंकी उत्पत्ति उसीसे होती है।

'बाइबिल'का लगभग पहला ही वाक्य है कि ईश्वरने कहा कि प्रकाश हो और प्रकाश हो गया; जगत् बने और जगत् बन गया। कुम्हारको चाकके ऊपर मिट्टी चढ़ानी पड़ती है और फिर उसे आवेमें पकाना पड़ता है। ईश्वरको ऐसा नहीं करना पड़ता। ईश्वर तो बाजीगर है; वह अपनी कल्पनामात्र—प्रकृति, लक्ष्मी, जगदम्बाके उदरमें गर्भ स्थापित करता है और जगत् पैदा हो जाता है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (१४, ४)

समस्त योनियोंसे जो-जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उनकी महत् योनि मैं हूँ और बीज प्रस्थापित करनेवाला पिता भी मैं हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ (१४, ५)

प्रकृतिमें से सत्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण उत्पन्न होते हैं। वे देहमें स्थित अव्यक्त देहीको बाँधकर रखते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ।। (१४, ६)

इनमें निर्मल होनेके कारण सत्त्वगुण प्रकाशमय और अनामय है। वह बाँधता तो अवश्य है किन्तु वह हमें ज्ञान और सुखके बन्धनोंमें बाँधता है।

जो व्यक्ति सात्त्विक आहार, विहार और विचारयुक्त है वह निरोगी है। केवल आहार सात्त्विक रखे और आचरण तथा विचार सात्त्विक न हों तो वह रोगी कहलायेगा।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ।। (१४, ७)

रजस् रागात्मक है। तू उसे ऐसा जान कि उसकी उत्पत्ति रागमें से है अथवा वह रागको उत्पन्न करनेवाला है। यह तृष्णासे उत्पन्न होता है। यह देही अर्थात् जीवात्माको कर्मोंके बन्धनमें बाँधता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।। (१४, ८)

तमस् अज्ञानसे उत्पन्न होता है। वह सभी देहधारियोंको मोहमें डाल देता है और प्रमाद, आलस्य तथा निद्राके द्वारा देहीको बाँधता है।

न करने योग्य अनेक प्रकारकी इच्छाएँ ही प्रमाद हैं। आलस्य प्रमादका और भी खराब स्वरूप है। निद्रा उससे भी आगेकी चीज है और एक अघोरावस्था है। जो व्यक्ति समाधिस्थ है वह सदा ही जाग्रत है और उसे लेटने या आलस्य करनेकी आवश्यकता नहीं होती। अहदी तो आग लग जाये तो भी हाथपर-हाथ धरे बैठा रहे। तमस्में जिस बातकी ओर इशारा किया गया है, वह ऐसी ही स्थितिकी ओर है।

[१७०]

बुधवार, २९ सितम्बर, १९२६

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।। (१४, ९)

सत्त्वका परिणाम सुखके रूपमें और रजस्का परिणाम कर्मके रूपमें प्रतिफलित होता है। ('गीताजी'में जिस कर्मकी व्याख्या की गई है, यहाँ कर्म शब्दका वह अर्थ नहीं लेना चाहिए। यहाँ इसका अर्थ है प्रवृत्ति; प्रवृत्ति और प्रवृत्तिमें ही लगे रहनेवालेका कर्म)। तमस्का परिणाम ज्ञानको आच्छादित करके प्रमादके रूपमें प्रतिफलित होता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।। (१४, १०)

रजस् और तमस्को अपसारित करके व्यक्ति सत्त्व उत्पन्न कर सकता है। (ये तीनों वस्तुएँ हमारे भीतर हैं। जिसका विकास करना हो, उसका विशिष्ट सेवन

किया जाये।) रजस्‌को बढ़ाना हो तो सत्त्व और तमस्‌को दवाना, तथा तमोगुणको बढ़ाना हो, तो सत्त्व और रजस् दोनोंको समाप्त करना चाहिए।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।। (१४, ११)

इस देहमें जब सभी द्वार प्रकाशयुक्त और ज्ञानयुक्त हो जायें तब समझना चाहिए कि सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।। (१४, १२)

जब रजोगुण बढ़ते है तब लोभ, प्रवृत्ति कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा उत्पन्न होते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।। (१४, १३)

जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।। (१४, १४)

सत्त्वकी विकसित अवस्थामें जब देहधारी मरण प्राप्त करता है तो वह उत्तम ज्ञानियोंके निर्मल लोकोंमें जाता है।

अर्थात् ऐसे व्यक्तिकी सद्‌गति होती है। मरणकालमें तरह-तरहकी दवाइयोंका आग्रह किये जानेपर भी वह 'ना' ही कहता है और कहता है कि मेरे लिए तो केवल गंगाजल ही पर्याप्त है। जो ऐसा कहकर शान्ति धारण कर चुका हो वह सात्त्विक है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।। (१४, १५)

यदि मरणकालमें रजस्‌की प्रधानता हो तो व्यक्ति कर्मियोंके लोकमें जाता है और तमस् प्रधान अवस्थामें मरण प्राप्त करनेवाला मूढ़ योनिमें जन्म लेता है।

कर्मियोंका लोक अर्थात् मनुष्य-लोक और मूढ़ योनि अर्थात् पशु इत्यादि लोक।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।। (१४, १६)

सुकृत कर्मोंका फल सात्त्विक और निर्मल है। मनुष्यकी राजस् प्रवृत्तिका फल दु:ख है और तामसिक प्रवृत्तिका फल अज्ञान है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।। (१४, १७)

सत्त्व गुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।। (१४, १८)

सात्त्विक मनुष्यकी ऊर्ध्व गति होती है, राजसी वृत्तिवालेकी स्थिति मध्य होती है और जो जघन्य, अधम गुणमें प्रवृत्त है उसकी अधोगति होती है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।। (१४, १९)

जब इस देहमें साक्षी रूपमें स्थित आत्मा अन्य किसीको नहीं देखता और उसे जान जाता है जो गुणोंसे परे है तब वह मेरे भावको प्राप्त होता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।। (१४, २०)

देहमें उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे अतीत हो जानेपर जन्म, मृत्यु और जरासे विमुक्त व्यक्ति परमानन्दको प्राप्त हो जाता है।

[१७१]

गुरुवार, ३० सितम्बर, १९२६

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।। (१४, २१)

अर्जुन पूछता है:

हे प्रभु, इन गुणोंसे अतीत व्यक्ति किन चिन्होंके द्वारा पहचाना जाता है? वह किन आचारोंवाला होता है और वह किस प्रकार इन गुणोंसे परे हो जाता है?

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।। (१४, २२)

भगवान् कहते हैं:

ऐसा व्यक्ति त्रिगुणातीत होता है। वह प्रकाश और अन्धकार और मोहके होते हुए भी, उनकी वृद्धि होते हुए भी, दुःख नहीं पाता और ऐसी इच्छा नहीं करता कि इनमें से कोई चीज बढ़े अथवा कम हो जाये।

यह श्लोक 'भगवद्गीता' के कुछ कठिन श्लोकोंमें से है। क्या व्यक्ति ज्ञानकी इच्छा न करे? हम तो गायत्री मन्त्रके द्वारा भी, जो 'वेद' की सर्वोत्कृष्ट प्रार्थना है,

तेजस्वी पुरुषसे अपनी बुद्धिको स्वच्छ करने, सात्विक करने आदिकी प्रार्थना करते हैं। इसके अतिरिक्त हम यह भी कहते हैं कि 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अर्थात् हम ऐसी आकांक्षा करते हैं कि तू हमें मोहसे प्रकाशमें, तमस्से ज्योतिमें ले जा। तब फिर इस श्लोकमें जो-कुछ कहा गया है, वह क्यों कहा गया? यदि हम आश्रममें रहते हुए ऐसे विकासकी इच्छा न करें तो पुरुषार्थ-भ्रष्ट हो जायेंगे। विद्यार्थीको तो प्रातःकाल जल्दी उठकर ऐसी प्रार्थना करनेकी बात सीखनी ही है। हमें आँसू बहाते हुए यह विनती करनी ही चाहिए कि हे प्रभु, हमें कौरव-रूपी घोर निद्राकी सेनासे बचा।

तब फिर 'गीताजी' में यह क्या कहा गया है? निद्रा बढ़े तो भी हम कोई इच्छा न करें? क्या हम उससे मुक्त होनेकी इच्छा भी न करें? क्या हम यही कहें कि हमारी कोई इच्छा नहीं है। हमारे लिए तो तीनों अवस्थाएँ एक ही जैसी हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसा सोचने लगे तब तो समझिए कि सब-कुछ समाप्त ही हो गया। या तो हमें ऐसा मानना चाहिए कि यह श्लोक क्षेपक है अथवा फिर ऐसा मानना चाहिए कि यह श्लोक 'भगवद्गीता' की कुंजी है। जिस तरह आरम्भमें अर्जुनके 'मारूँ अथवा न मारूँ' ऐसा न पूछकर बल्कि 'स्वजनों' को मारूँ अथवा न मारूँ ऐसा पूछनेपर भगवान यह कहते हैं कि तू 'स्व' और 'पर' का भेद किसलिए करता है। तेरा तो यह कर्त्तव्य है कि तू निष्पक्ष बुद्धिसे मारनेका काम कर। उसी प्रकार अर्जुनने भगवानसे यह नहीं पूछा कि इन तीनों गुणोंमें सर्वश्रेष्ठ गुण कौन-सा है। अर्जुन तो जान गया है कि आखिरकार तीनों गुणोंसे उत्तीर्ण होना है। गुणयुक्त व्यक्तिको पहचाना जा सकता है। इस जगत्में उक्त तीनों वर्गोंको पहचाननेमें कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। पर प्रश्न यह है कि क्या जगत्में कोई त्रिगुणातीत भी हो सकता है? क्या कोई ऐसा भी है जो इस त्रिगुणात्मक मायासे अतीत हो चुका है? ऐसे समय भगवान उक्त प्रश्नका उत्तर देते हैं। यहाँ दूसरा और क्या उत्तर दिया जा सकता है? त्रिगुणातीत तो उत्तम, मध्यम और अधम इन तीनों स्थितियोंसे मोहित नहीं होता। इन तीनों गुणोंके परिणाम उसमें दिखाई नहीं देते। ऐसा व्यक्ति अलौकिक स्थितिका भोक्ता होता है। किन्तु यह एक बड़ा विषय है, इसलिए अधिक विचार कल करेंगे।

[१७२]

शुक्रवार, १ अक्तूबर, १९२६

कल एक विचार किया जा रहा था। प्रकाश, प्रवृत्ति अथवा मोह—ये तीनों वस्तुएँ आयें अथवा जायें, जो व्यक्ति उनमें से एक भी वस्तुसे दुःख नहीं पाता, उसके विषयमें हमने यह देखा कि ऐसा व्यक्ति हम संसारमें नहीं देख पाते। जिसे हम बुरी वस्तु मानते हैं—आलस्य, जड़ता अथवा अतिप्रवृत्ति, हमें ऐसा कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता जो इनसे बचना न चाहता हो और जो शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति न करना चाहता हो; बल्कि हम तो इस स्थितिको प्राप्त करनेकी प्रार्थना करते हैं।

'जिज्ञासु' शब्द भी 'ज्ञानकी इच्छा' से निकला हुआ शब्द है और जबतक यह ज्ञानेच्छा बढ़ती रहती है तबतक हमें यही प्रार्थना करनी चाहिए कि वह बढ़ती चली जाये। अर्थात् हमें इस श्लोकके फलस्वरूप अपने कर्त्तव्यके विषयमें और अधिक उत्सुक हो जाना चाहिए। हमें तो समस्त जगत्के दुःख नाशके लिए प्रयत्न करना है।

सामान्य नियम यही है कि किसी लेखकके लेखके किसी एक ही भागको न देखें, बल्कि हम उसके सर्वांशको देखें और फिर उसका अर्थ समझें।

अब देखें कि यह श्लोक किसके लिए है? गुणातीतके लिए है। इसमें गुणातीतके लक्षण दिये गये हैं। गुणातीत हमें ऐसा ही लगेगा। हम नहीं जानते कि वह क्या करता है। सूर्यके विषयमें हम कहते हैं कि वह जलती हुई आग है, किन्तु वैज्ञानिक कहते हैं कि सूर्य एक काली स्याह चीज है। एक अंग्रेजी कविने कहा है कि दुनियामें जो वस्तु जैसी है वह हमें वैसी ही नहीं दिखती। शंकरका मायावाद भी यही कहता है। अर्थात् वह कहता है कि वस्तुएँ जैसी हैं उनका रूप हमें वैसा ही दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसी वे दिखती हैं, वैसी वे नही हैं। क्योंकि हमें सारी वस्तुएँ अपनी तरंगोंके माध्यमसे दिखाई देती हैं।

यह तो निश्चित ही है कि हम इन्द्र-धनुषका जो रूप देखते हैं वह वैसा रूपवान नहीं है। वह तो हमें वैसा दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए कहा है कि यह जगत् जलकी लहरें या इन्द्रका धनुष है।

हम तिरंगे जगत्में रहते हुए त्रिगुणातीतकी पहचान किस तरह करें? यदि जगत् उसे बुरा कहे अथवा ज्ञानवान कहे अथवा प्रमादी माने तो वह उससे दुखित नहीं होगा। यदि जगत् हमें कोरा आन्दोलनकारी माने तो इससे क्या होता है?

इसका अर्थ यह हुआ कि जो व्यक्ति त्रिगुणातीत हो गया है, जगत् देखेगा कि वह प्रवृत्तियोंसे खुश नहीं होता और प्रमाद आदिसे दुःखी नहीं होता। वह सुख और दुःखके द्वन्द्वसे छूट गया है। द्वन्द्वातीत हो गया है। ऐसा व्यक्ति हमें अछूता और अलिप्त दिखाई देना चाहिए। ऐसा व्यक्ति [वास्तवमें] केवल निरभिमानी है।

इस तरह मध्यकी स्थितिसे भी परे एक अलग स्थिति होती है। 'भगवद्गीता' ने इस बातपर अधिकसे-अधिक जोर दिया है। उसने तो इतना ही कहा है कि तुम्हारे भीतर जो 'मैं' स्थित है उसे तुम निकाल फेंको। हम कहते हैं, 'नेति, नेति।' तू मुझे अमुक रूपमें देखता है। पर सच कहें तो मैं 'हाँ' हूँ और तू 'ना' है। गुणातीत व्यक्ति जगत्को शून्य-जैसा दिखाई देना चाहिए। पत्थरकी तरह जड़ रूपमें दिखाई देना चाहिए। अर्थात् उसके भीतरका अहंकार निकल गया है। संसारने रामको साक्षात् ईश्वरके रूपमें प्रतिष्ठित कर दिया, क्योंकि जगत् उसे उसी रूपमें देख सकता है। शंकरने पार्वतीसे कहा कि तुम ऐसा क्यों मानती हो कि रामको विरहका दुःख हुआ। शंकरको इस बातसे कष्ट हुआ कि पार्वतीने रामके प्रति ऐसे मोहकी कल्पना की, जबकि राम सारा अहंकार छोड़कर शून्यवत् काम कर रहे हैं।

[१७३]

शनिवार, २ अक्तूबर, १९२६[1]

हम लोग नित्य नया जन्म लेते रहते हैं। आरोग्यशास्त्रकी दृष्टिसे सात वर्षमें व्यक्तिका समूचा शरीर बदलकर नया हो जाता है। हमारा शरीर सातवें वर्षमें ही एकदम जादूसे नहीं बदल जाता, बल्कि पुराना शरीर धीरे-धीरे क्षीण होकर उसकी जगह नया होता रहता है। इस तरह उत्पत्ति और नाश एक-दूसरेसे लगे-लगाये चलते रहते हैं। ऐसी कोई भी जगह नहीं है जिसमें से कुछ-न-कुछ निकाले बिना, जिसका थोड़ा-बहुत नाश किये बिना नया रखा जा सके, अथवा नई वस्तु उत्पन्न की जा सके। हमारा मन भी प्रतिदिन अशक्त और सशक्त होता जाता है। जगतमें सभी कुछ गतिमान है। स्थिर कुछ भी नहीं है। केवल परमात्मा ही ऐसा है जो स्थिर भी है और अस्थिर भी।

गुणातीतका अर्थ है शून्यवत्। किन्तु ऐसी स्थिति कब प्राप्त हो सकती है? श्रीमद् राजचन्द्रने अपने 'अपूर्व अवसर' नामक काव्यमें कहा है, "बलीं सीन्दरीवत् मात्र रहे देह जो।"[2] ऐसी स्थिति हो जानी चाहिए। जली हुई रस्सीकी तरह आकृति ही बच रहनी चाहिए। उस आकृतिमें रस्सीके कुछ भी गुण-दोष नहीं बचते। हम ऐसी जली हुई रस्सीको गुणातीत कह सकते हैं। क्योंकि न अब वह बाँध सकती है और न कुएँसे पानी खींचकर सींचनेमें सहायक हो सकती है। इसी तरह गुणातीत व्यक्ति भी जली रस्सी-जैसा है। रस्सीमें जैसे साँपका आभास होता है, उसी तरह यदि हम ऐसे व्यक्तिको पत्थरकी तरह जड़ अथवा कर्मशून्य समझें तो इससे उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हमारा धर्म है कि हम ऐसी जली रस्सीकी तरह बन जायें।

इस गुणातीत स्थितिको पानेके लिए सात्विक गुणोंका विकास ही एक उपाय है। क्योंकि उस स्थितिको पानेके लिए अभय, अमान, अदम्भ जैसे गुणोंका विकास करना आवश्यक होता है। जबतक देह है तबतक कुछ-न-कुछ दोष, हिंसा तो शेष है ही। इसलिए हमें अधिकसे-अधिक सात्विक बनना चाहिए और हम इतना ही कर सकते हैं।

गुणातीत एक काल्पनिक स्थिति है। जान पड़ता है, यह वास्तविक आचरणकी स्थिति नहीं है। आचरणकी स्थिति तो अत्यन्त सात्विकता प्राप्त करनेकी स्थिति है। जो व्यक्ति सम्पूर्ण जान पड़ता है उसके विषयमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह गुणातीत है। इतना ही कहा जा सकता है कि वह गुणातीत-जैसा है। अंग्रेजीमें कहा गया है कि "बाहरसे तो पापी और पुण्यात्मामें कोई भेद दिखाई नहीं देता, किन्तु जो जितना बड़ा पापी है, वह उतना बड़ा पुण्यवान बन सकता है।"

ऐसा [अत्यन्त सात्विक] व्यक्ति अपने नीच कर्मोंपर विचार करता हुआ पापको हटाता चला जाता है। रम्भा-जैसी सुन्दर स्त्री भी सामने आ जाये, तो उसके लेखे

१. इस दिनका विवरण महादेवभाईका लिखा हुआ नहीं है।
२. यह देह जली रस्सी जैसी रह जाये।

वह लकड़ी या पत्थरकी मूर्ति जैसी ही है। इस तरह वह व्यक्ति जल्दी ही शुद्ध हो जाता है।

यदि हम भविष्यमें कभी मोक्ष प्राप्त करने, गुणातीत होनेकी इच्छा रखते हों तो हमें सात्विक गुणोंका विकास करना चाहिए। इसीलिए 'असतो मा सद्‌गमय'की प्रार्थना की जाती है। जबतक व्यक्तिको ऐसा अनुभव होता रहे कि मैं परोपकार कर रहा हूँ तबतक वह स्वार्थी है। यदि वह ऐसा माने कि मैं गुणातीत हूँ तो वह जबरदस्त पाखण्डी है। यदि हम सचमुच परोपकारी हों, तो यह बात लोग जान ही जायेंगे। हमें उसकी अनुभूति कैसे हो सकती है। 'बाइबिल'में कहा गया है कि 'तेरा दाहिना हाथ जो-कुछ करता है, बायेंको उसकी खबर न पड़े'। यह सात्विकताका चिह्न है। सात्विकताके लक्षण लगभग गुणातीत अवस्थाके जैसे ही होते हैं। निःसन्देह सात्विककी अपेक्षा गुणातीतकी ऊँची स्थिति है, क्योंकि वह तो दायाँ या बायाँ कोई भी हाथ क्या कर रहा है, इसे नहीं जानता।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते॥ (१४, २३)

जो उदासीनकी भाँति स्थिर है, गुण जिसे विचलित नहीं कर सकते, जो ऐसा मानकर स्थिर है कि गुण ही अपने भावका अनुकरण कर रहे हैं, वह स्वयं विचलित नहीं होता।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ (१४, २४)

सुख और दुःख जिसके लिए समान हैं, जो स्वस्थ रहता है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेको जो समान गिनता है, जिसके लिए प्रिय और अप्रिय वस्तुएँ एक-सी हैं, जिसके लिए अपनी निन्दा और स्तुति समान हैं; और ऐसा धीर पुरुष,

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ (१४, २५)

जिसके लिए मान और अपमान एक-से हैं, जो मित्र-पक्ष और शत्रु-पक्षको समदृष्टिसे देखता है, जिसने सभी आरम्भोंका त्याग कर दिया है, वह गुणातीत कहलाता है।

गुणातीत अपनी स्थितिका अनुभव तो करता है, किन्तु वह उसका वर्णन नहीं कर सकता। जो अपनेको गुणातीत कहकर वर्णित करता है, वह गुणातीत नहीं है। क्योंकि इसका तो यह अर्थ हुआ कि उसमें अहंभाव शेष है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ (१४, २६)

जो व्यक्ति अविचलित भक्तिके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मभावको प्राप्त करता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।। (१४, २७)

ब्रह्मका, अमृतका, अव्ययका — मोक्षका स्थान मैं हूँ। सनातन धर्मका स्थान मैं हूँ, एकान्तिक सुखका स्थान भी मैं हूँ।

जो व्यक्ति अपनी त्रुटियोंको सुधारनेका प्रबल प्रयत्न करता है, सम्भव है वह इस जन्ममें उन सबको दूर न कर सके, किन्तु अन्ततोगत्वा उसे श्रेय मिलता ही है। संसार आज उसके दोषोंको ध्यानमें रखकर उसकी निन्दा भले ही करे, किन्तु वह तो इस सबको शान्तिपूर्वक सहता हुआ अपने प्रयत्नोंको प्रबलतर करता चला जायेगा और यदि वह ऐसा करेगा तो उसे शान्ति अवश्य मिलेगी। इस तरह प्रयत्नमें ही शान्ति प्रतिष्ठित है। यह एक बहुत बड़ा आश्वासन है। इसलिए हमें सात्विक गुणोंका विकास करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

अध्याय १५

[१७४][1]

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद सवेदवित् ।। (१५, १)

रविवार, ३ अक्तूबर, १९२६

अविनाशी, अश्वत्थ वृक्षका मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचे हैं तथा 'वेद' उसके पत्ते हैं — ऐसा कहा गया है। जो अविनाशी अश्वत्थको जानते हैं वे 'वेद'के जाननेवाले ज्ञानी हैं। श्वः का अर्थ है आनेवाला कल। इसलिए अश्वत्थका मतलब होता है आने-वाले कलतक न टिकनेवाला क्षणिक संसार। संसारका प्रतिपल रूपान्तर हुआ करता है इसलिए वह अश्वत्थ है। जो इस संसारके यथार्थ रूपको जानता है और जो धर्मको जानता है वह ज्ञानी है।

[१७५]

मंगलवार, ५ अक्तूबर, १९२६

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।। (१५, २)

नीचे और ऊपर गुणोंसे हरी-भरी शाखाएँ फैली हैं। विषय उसके कोमल किस-लय हैं। विषय तो इसमें प्रस्फुटित होते ही रहते हैं। कर्मोंका बन्धनकारी इसका मूल नीचे फैला हुआ है। इस संसारमें यह मनुष्यके लिए बन्धनकारी है।

१. यह विवरण महादेवभाईका लिखा हुआ नहीं है।

पहले श्लोकमें संसारसे तरनेका साधन बताया गया है। इस श्लोकमें दूसरी दृष्टिसे संसारका वर्णन किया गया है। यह वर्णन अज्ञानीकी दृष्टिमें संसार जैसा है, उस रूपका है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल–
मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ (१५, ३–४)

इसका रूप समझमें नहीं आता, न अन्त समझमें आता है, न आदि। इसकी जड़ें बहुत गहरी चली गई हैं। इस बद्धमूल अश्वत्थको असंग-रूपी मजबूत शस्त्रसे काटकर मनुष्य यह प्रार्थना करे। "जिसने सनातन प्रवृत्ति, मायाका प्रसार किया है, म उस आदि पुरुषकी शरणमें जाता हूँ।" ऐसी प्रार्थना करनेवाला व्यक्ति उस पदकी शोध कर रहा है, जिसे प्राप्त कर लेनेके बाद जन्म-मरणके चक्करमें नहीं पड़ना पड़ता।

इस जगत्में कर्म करते हुए भी अलिप्त तभी रहा जा सकता है जब हम इस जगत्को ईश्वरकी लीला न मानते हुए इसे भोगभूमि मानें और असहयोग-रूपी शस्त्रसे इसकी जड़ काटें। दूसरे किसी उपायसे इसकी जड़ काटी नहीं जा सकती। क्योंकि यह अनादि और अनन्त है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णने इसके साथ असहयोगकी बात सुझाई है।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै–
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ (१५, ५)

इस पदकी खोज करनेवाला व्यक्ति मान और अपमानकी भावनासे रहित होता है। उसमें मोहका नाम भी नहीं होता। संसर्ग दोषसे जो विकार उत्पन्न हो गये हों उन्हें वह जीत लेता है। उसे सदा ध्यान रहता है कि मैं आत्मार्थी हूँ अर्थात् जिसे प्रतिक्षण इस बातका ज्ञान रहता है कि मैं देह नहीं हूँ बल्कि आत्मा हूँ। उसके विषय शमित हो चुकते हैं। मरण-कालमें उसके मुखपर ग्लानि नहीं बल्कि प्रसन्नता होती है। वह सुख-दुःख रूपी द्वन्द्वसे मुक्त होता है। ऐसा 'अमूढ' व्यक्ति ही इस अव्यय पदको प्राप्त करता है।

अश्वत्थके एक-एक पत्तेपर वेद-वाक्य लिखे हुए हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि उसके पत्ते-पत्तेपर रामका नाम लिखा हुआ है। जगत् ईश्वरकी प्रसादी है और जगत्-

रूपी वृक्ष ब्रह्माकी नाभिसे उत्पन्न हुआ है। दूसरा जगत् ऐसा है कि जिसका मूल नीचे है और जिसके पत्ते इत्यादि विषयादि हैं। यह जगत् कामनामय है।

"अध्यात्मनित्या" अर्थात् रामरत, रामका नाम लेनेवाले और रामका काम करनेवाले।

[१७६]

बुधवार, ६ अक्तूबर, १९२६

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। (१५, ६)

जिसे न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि, क्योंकि यह स्वयं-प्रकाश है, और जहाँ पहुँचनेके बाद व्यक्ति वापस नही आता, वह श्रेष्ठ धाम मेरा है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। (१५, ७)

मेरा ही अंश मृत्युलोकके जीवोंको, मन समेत छहों इन्द्रियोंको, जो प्रकृतिमें विद्यमान हैं, खींचता है।

'रोम रोम प्रति वेद कहे' ऐसा तुलसीदासजीने कहा है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।। (१५, ८)

आत्मा जब शरीरको ग्रहण करता है अथवा जब वह शरीरका त्याग करता है तब वह उक्त इन्द्रियोंको ग्रहण करके गतिमान होता है जिस तरह वायु आसपास-की गन्धको लेकर गतिमान होता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।। (१५, ९)

[तब वह जीवात्मा] कान, आँख, त्वचा, जीभ और नाक तथा मनका आश्रय लेकर विषयोंका उपसेवन करता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।। (१५, १०)

जब वह देहको छोड़ता है अथवा जब वह देहमें स्थित रहता है तब गुणोंका आश्रय लेकर। भोगोंका सेवन करनेवाले मूढ़गण उसको देख नहीं सकते; किन्तु ज्ञान-चक्षुवाले ही उसे देख सकते हैं।

हम जगत्को ही देखते हैं किन्तु उसमें जो ईश्वर ओतप्रोत है, उसे हम नहीं देख पाते।

[१७७]

गुरुवार, ७ अक्तूबर, १९२६

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।। (१५, ११)

प्रयत्न करनेवाले योगिगण इस देहधारीको अपने भीतर अवस्थित देख पाते हैं, किन्तु जिन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ है ऐसे मूढ़ व्यक्ति प्रयत्न करते हुए भी उसे देख नहीं पाते।

इसका यह अर्थ हुआ कि पहले तो यम-नियम आदिका पालन किया जाना चाहिए। जिसने यम-नियम आदिका पालन नहीं किया है, ऐसा व्यक्ति 'गीता'का उलटा ही अर्थ लगायेगा। ऐसा व्यक्ति सोचेगा कि विषय इत्यादि भी ईश्वरने ही उत्पन्न किये हैं, इसलिए हम इन्हें ग्रहण करें। किन्तु जो व्यक्ति संस्कृत हो गया है, जिसने तपकी भट्टीमें अपनेको तपाया है, वही इसका सच्चा अर्थ कर सकेगा।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।। (१५, १२)

जो सूर्यगत तेज सारे जगत्को प्रकाश देता है, जो चन्द्रमामें है, और जो अग्निमें है वह मेरा ही तेज है, इसे समझ।

'उपनिषद्'में कथा आती है कि देवगण यज्ञका रूपधर कर अग्नि, वायु, इत्यादिकी परीक्षा लेने गये थे किन्तु वे सभी पराजित हुए थे।[1]

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।। (१५, १३)

मैं पृथ्वीके भीतर प्रवेश करके अपने तेजके द्वारा जीवोंको धारण करता हूँ। समस्त औषधि, अन्न, वनस्पति-मात्रमें रसोंको उत्पन्न करनेवाला सोम बनकर मैं ही उनका पोषण करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।। (१५, १४)

प्राणियोंकी देहमें स्थित वैश्वानरके रूपमें मैं प्राण और अपानसे युक्त होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ।

वैश्वानर अर्थात् अन्नको पचानेवाली अग्नि। अन्न अथवा भोजनके चार प्रकार हैं: चोष्य, लेह्य, पेय और खाद्य।

१. गांधीजीका तात्पर्य कदाचित् केनोपनिषद्की कथासे है किन्तु उपर्युक्त विवरणमें भूल है।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। (१५, १५)

मैं सबके हृदयमें संनिविष्ट हूँ। मेरे ही द्वारा मनुष्यको स्मृति, ज्ञान और बुद्धि प्राप्त होते हैं। सभी 'वेदों'में जानने योग्य मैं हूँ। वेदान्तको प्रकट करनेवाला और 'वेद'को जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

[१७८]

शुक्रवार, ८ अक्तूबर, १९२६

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।। (१५, १६)

इस लोकमें क्षर और अक्षर ऐसे दो पुरुष हैं। क्षर अर्थात् नाशवन्त, समस्त नाम-रूपधारी प्राणिगण। और इसमें जो अचल तत्त्व निहित है, जिसके ओजसके माध्यमसे सब-कुछ धारण किया जा रहा है, वह अक्षर है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।। (१५, १७)

इनसे परे जो उत्तम पुरुष है, वह तो दूसरा ही है। वह परमात्मा कहलाता है। यह अव्यय ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उनका रक्षण करता है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।। (१५, १८)

क्योंकि मैं क्षर अर्थात् नाम, रूपका उल्लंघन कर गया हूँ और अक्षरसे भी बढ़कर हूँ इसलिए लोक और 'वेद'में मैं पुरुषोत्तम कहलाया।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।। (१५, १९)

जो व्यक्ति मूढ़ताका त्याग करके मुझे पुरुषोत्तमके रूपमें जानता है वह सब-कुछ जानता है और अनन्य भावसे मुझे भजता है।

द्वन्द्वातीत यही है। माया-रूप जगत्को तर जानेके बाद ईश्वरको कर्त्ता-रूपमें भी जानना आवश्यक कहाँ रहा?

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।। (१५, २०)

यह गुह्यतम, (श्रेष्ठतम) शास्त्र मैंने तुझे बताया। इसे जानकर व्यक्ति बुद्धिमान और कृतार्थ हो जाता है, तथा ऋणमुक्त भी हो जाता है।

अध्याय १६

[१७९]

शनिवार, ९ अक्तूबर, १९२६

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।। (१६, १-३)

अभय, अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञान और योगके प्रति निष्ठा, दान, दम, इन्द्रिय-निग्रह, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन (किसीकी चुगली न खाना), भूतदया, अलोलुपता (लालसाका त्याग), मृदुता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरभिमानता — ये सारे गुण उसमें होते हैं जो दैवी सम्पत्ति लेकर जन्मा हो।

सत्त्वसंशुद्धि अर्थात् आत्मशुद्धि अथवा अन्तःकरणकी शुद्धि। 'ज्ञानयोग व्यवस्थिति' अर्थात् स्थिर ज्ञानकी व्यवस्थिति। 'ज्ञानव्यवस्थिति' का अर्थ है वह अनुभव-ज्ञान जो सदाके लिए स्थिर हो गया है। योगव्यवस्थितिका अर्थ हुआ सदा ईश्वरकी प्रतीति, ईश्वर-ज्ञान, ईश्वर-तादात्म्य। अहिंसामें ज्ञानपूर्वक दयाभावसे की हुई हिंसा भी शामिल है। (डा० नानजी जिस दिन ऑपरेशन करते थे उसके एक दिन पहले उपवास रखते थे और हेतु यह होता था कि उनके भीतरके क्रोध इत्यादि विकारोंका रोगीको फल न भोगना पड़े।) क्रोधहीन दण्ड देनेवाला शिक्षक तो रोते-रोते दण्ड देगा। क्षमा तो युधिष्ठिरकी — विराट राजाके यहाँ जब विराटने उन्हें मारा तब उन्होंने नाकसे गिरते हुए खूनको धरतीपर नहीं टपकने दिया। क्षमाका अर्थ अपकारके बदले उपकार। ऐसी तीव्र वस्तु है क्षमा।

[१८०]

रविवार, १० अक्तूबर, १९२६

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।। (१६, ४)

आसुरी सम्पत्तियुक्त जन्म लेनेवालेमें दम्भ, दर्प, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान होते हैं।

दम्भ अर्थात् जो अपने पास नहीं है उसके होनेका पाखण्ड करना। दर्प अर्थात् जिसकी हममें कमी है, उसका आधिक्य बताना। अभिमान अर्थात् हमारे पास जो गुण है उसकी डींग मारना। नारदजीने कामदेवको पराजित किया तो उनके मनमें

अभिमान उत्पन्न हुआ और इस अभिमानके कारण उन्हें नीचा देखना पड़ा। 'पारुष्य' अर्थात् कठोरता।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ (१६, ५)

दैवी सम्पत्तियुक्त आदमी मोक्षकी तरफ बढ़ता है और आसुरी सम्पत्ति व्यक्तिको बन्धनमें डालती है। तुझे सोच नही करना चाहिए; तू तो दैवी सम्पत्ति लेकर जन्मा है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ (१६, ६)

इस संसारमें स्वभाव दो प्रकारके हैं—दैवी और आसुरी। दैवी स्वभावका मैंने विस्तारसे वर्णन किया, अब आसुरी स्वभावके बारेमें सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ (१६, ७)

आसुरी सम्पत्तिवाले लोग प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं समझते। वे न शौच जानते हैं, न आचार, न सत्य।

जिनमें शौच न हो, सत्य न हो, आचार न हो, वे बीमार हैं। मानसिक और शारीरिक दोषके बिना व्यक्ति रोगी नही होता। जिसका आत्मा चौबीसों घंटे जाग्रत रहता है, वह तो निरन्तर अपने भीतर तेजके संचारकी प्रार्थना करता है। लाधा महाराजने कुष्ठ रोगसे मुक्ति कैसे पाई? वे अपने कोढ़के ऊपर बिल्वपत्र रगड़ते थे और अपनेमें तेजके संचारकी प्रार्थना करते थे। हम अपने शरीरको विकारवश होनेसे तभी रोक सकते हैं जब हम निरन्तर तेजके संचारकी प्रार्थना करें। मैं तो हरएक बीमारसे यही पूछूंगा कि तुम्हारे भीतर राग-द्वेष हैं कि नही। यदि बाहर-बाहर हमारे पास शौच और आचार हों, किन्तु सत्य न हो तो इसे 'बाहर ढोल और भीतर पोल' कहेंगे। हम इसी बातको सीखनेके लिए यहाँ इकट्ठा होते हैं।

[१८१]

मंगलवार, १२ अक्तूबर, १९२६

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ (१६, ८)

आसुरी प्रकृतिवाले ये लोग जगत्को असत्य, आधारहीन और ईश्वरहीन कहते हैं। वे कहते हैं कि इसकी उत्पत्ति स्त्री-पुरुषके मैथुनसे ही हुई है; इसमें विषय-भोगके सिवाय अन्य उद्देश्य हो भी क्या सकता है?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।। (१६, ९)

इस दृष्टिका आश्रय लेकर ये नष्टात्मा, मन्दमति और उग्र कर्म करनेवाले जगत्‌का अहित और नाश करनेवाले हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्‌गृहीत्वासद्‌ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।। (१६, १०)

कभी भी तृप्त न हो सकनेवाले कामका आश्रय लेकर दम्भ, मान तथा मदसे युक्त, अशुचिव्रत अर्थात् पाप बुद्धिवाले और मोहके कारण अयुक्त निश्चयवाले ये लोग दुनियामें पड़े हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थं अन्यायेनार्थ संचयान् ।। (१६, ११–१२)

अपार और प्रलय कालतक बनी रहनेवाली चिन्ताको आश्रय बनाकर चलनेवाले, कामोपभोगसे चिपके रहनेवाले, भोग ही सर्वस्व है, निश्चयपूर्वक ऐसा माननेवाले, सैकड़ों आशाओंके बन्धनोंसे बँधे हुए, काम और क्रोधसे युक्त, ये लोग कामोपभोगके लिए अन्यायसे अर्थसंचय करनेकी इच्छा करते हैं।

जो व्यक्ति शास्त्राज्ञाका कवच पहने हुए है, काम और क्रोध उसका क्या बिगाड़ सकते हैं।

क्रोधसे जितनी शक्तिका अपव्यय होता है, वह आनन्दसे व्यय होनेवाली शक्तिकी अपेक्षा अनेक गुना अधिक होता है। सामर्थ्यसे अधिक शक्तिका व्यय होते रहनेके कारण ही जगत्‌में अन्याय और अत्याचारका बोलबाला है।

[१८२]

बुधवार, १३ अक्तूबर, १९२६

क्रोधमें तेरह स्नायुओंकी शक्ति लगती है, हँसनेमें नौ की। भोगमें मृत्यु निहित है, ब्रह्मचर्यमें अमृत। एक बार रायचन्दभाईका सिर दुख रहा था। मैंने उनसे पूछा कि क्या आप कहीं नाटक देखने गये थे? रायचन्दभाईने कहा, मैं रातको घरमें पड़े-पड़े ही नाटक देखता रहा। मैं अपने सिर-दर्दको दूर करनेमें अपनी ताकत खर्च नहीं करना चाहता। यह अच्छा है कि मैं जैसा हूँ वैसा ही तुम मुझे देख रहे हो। ईश्वरके नियमके मुकाबले मैं छोटा हूँ।

विषयभोगका परिणाम तो मृत्यु ही है। यदि लोग विषयोपभोग ही करते रहें तो संसारमें ईश्वरका राज्य शेष न रहे, शैतानका ही राज्य हो जाये।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ (१६, १३-१५)

आज मैंने इतना प्राप्त किया, कल उतना प्राप्त करूँगा; इतना तो मेरे पास है ही, और भी धन मेरा ही हो जानेवाला है; इस शत्रुको मैंने आज मारा, उसको मैं कल मारूँगा; मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सुखी हूँ; देखो, मैं कितना धनवान् हूँ, कितने ऊँचे कुलका हूँ, दूसरा कौन है मेरे सरीखा; मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, आनन्द मनाऊँगा — अज्ञानमें अन्धा व्यक्ति इस तरहकी बातें किया करता है।

इस तरह मनुष्य देहरूपी रत्न-चिन्तामणिको जुएमें हारता रहता है। युधिष्ठिरने भी ऐसा ही दाँव लगाया था। वे तो द्रौपदीको भी हार बैठे थे। फिर भी हम कह सकते हैं कि युधिष्ठिरमें दुर्योधन आदिकी अपेक्षा काम-क्रोधादि बहुत कम थे और कौरवोंमें ये दोष अपेक्षाकृत अधिक थे। हम तो इनके मिश्रणसे भरे हुए हैं। फिर भी किसी-न-किसी प्रकार हमें ऊपर चढ़ना है।

अनेक चित्त विभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ (१६, १६)

मनमें अनेक प्रकारकी वृत्तियाँ तरंगित होती रहती हैं। इसलिए उनसे विभ्रान्त, मोहके जालमें फँसे हुए, काम-भोगमें आसक्त, अत्यन्त अपवित्र लोग नरकमें पड़ते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ (१६, १७)

अपनी बड़ाई मारनेवाले, घमण्डी, धन, मान और मदसे युक्त ये लोग दम्भमें भरकर विधिसे हीन केवल नाम-मात्रका यज्ञ करते रहते हैं।

नाम तो यज्ञ करनेका और इच्छा अपने स्वार्थको साधनेकी।

[१८३]

गुरुवार, १४ अक्तूबर, १९२६

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ (१६, १८)

ऐसे लोग अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधका आश्रय लेनेवाले, निन्दा करनेवाले और अपने तथा दूसरोंके देहमें स्थित मेरा विद्वेष करनेवाले हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।। (१६, १९)

इस तरह द्वेष करनेवाले इन क्रूर नराधमों तथा अशुभोंको मैं निरन्तर आसुरी योनियोंमें डालता रहता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।। (१६, २०)

ये मूढ़ मनुष्य जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होकर मुझे प्राप्त किये बिना अधम गतिको प्राप्त होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।। (१६, २१)

आत्माका नाश करनेवाला नरकका द्वार त्रिविध अर्थात् काम, क्रोध और लोभसे युक्त है, इसलिए इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिए।

इनको त्याग कर देनेवाला व्यक्ति प्रेयका आचरण नहीं करता, बल्कि श्रेयका आचरण करता है। काम, क्रोध और लोभ प्रेयकी तरफ खींचते हैं।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।। (१६, २२)

तमके इन तीनों द्वारोंसे विमुक्त व्यक्ति ही अपने श्रेयका आचरण करता हुआ परा गतिको प्राप्त होता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। (१६, २३)

जो व्यक्ति शास्त्र-विधिका त्याग करके कामेच्छाका अनुसरण करता है, उसे न तो सिद्धि मिलती है, न मोक्ष मिलता है और न सुख मिलता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।। (१६, २४)

इसलिए कार्य और अकार्यका निश्चय करनेमें शास्त्र ही प्रमाण हैं, ऐसा मानकर शास्त्र द्वारा निश्चित विधिको जानकर कर्म करना योग्य है।

इस सन्दर्भमें हमें ऐसा कहना चाहिए कि हमारे भीतरसे जो आवाज उठती है, हम उसका अनुसरण करेंगे। किन्तु ऐसा तो रावण भी कहेगा कि मैंने अपनी अन्तर्ध्वनिका अनुसरण किया। ऐसा कहनेका अधिकार उसी व्यक्तिको है जिसका चित्त शास्त्रज्ञानसे संस्कारी बन गया है। प्रश्न है कि शास्त्र किसे कहें। 'वेद', 'उपनिषद्' इतिहास, पुराण इत्यादि सभी शास्त्र हैं, किन्तु इनमें अनेक बातें एक-दूसरेकी विरोधी मिलती हैं। शास्त्र शब्द 'शास्' धातुसे निष्पन्न हुआ है। एक सज्जन कहते हैं: 'गीता' का उपदेश है 'जैसेके प्रति तैसा' और वे अपने इस कथनके समर्थनमें शेख सादीका

उल्लेख करते है कि जो बुरेके प्रति अच्छा बनेगा, वह अच्छेके प्रति बुरा बन जायेगा। शास्त्र सत्य और अहिंसाके अनुसारी हैं। शास्त्र राज्य चलाता है। उसका उद्देश्य अराजकता फैलाना नहीं है। शास्त्रके विषयमें हम कल और अधिक विचार करेंगे।

[१८४]

शुक्रवार, १५ अक्तूबर, १९२६

किसी भी सामाजिक प्रश्नपर विचार करना हो तो हम उससे सम्बन्धित किसी प्रमाण ग्रन्थके विषयमें सोचते है और उसे लेकर बैठ जाते हैं। जैसे कि आज कुत्तोंका प्रश्न सामने है और वह मुझे नाहक परेशान किये हुए है। यदि हमारा आधार दृढ़ न हो तो शास्त्रोंका अध्ययन निरर्थक है। आधार दृढ़ होनेका मतलब यह है कि हम सत्यको तो किसी हालतमें नहीं छोड़ेंगे; हमारा सिद्धान्त तो यही होना चाहिए। युधिष्ठिर असत्य बोले होंगे किन्तु हमारे लेखे तो सत्य ही सब-कुछ है, यदि हम इस निश्चयपर दृढ़ हों तो शास्त्रका अध्ययन हमारे लिए प्रमाण हो सकता है।

यदि शास्त्रका अर्थ हो पुस्तक तो फिर 'बाइबिल', 'कुरान' और अन्य पुस्तकें हजारों वर्षोंसे हैं, किन्तु फिर भी कुछ पता नहीं चलता। कहनेका आशय यह है कि तू अपनेको प्रमाण मत मान, अर्थात् अपनी इच्छाओं और विकारोंको प्रमाण मत मान। जबतक व्यक्तिकी बुद्धि प्रवृत्त नहीं हुई है, जबतक बुद्धिमें से रामके नादके सिवाय कोई दूसरा नाद निकलता ही नहीं है, तबतक शास्त्रको प्रमाण मानना चाहिए। यहाँ दैवी और आसुरी प्रवृत्तियोंके संग्रामका उल्लेख है। जबतक यह संघर्ष चल रहा है, तबतक हम शास्त्रको प्रमाण मानकर चलें। शास्त्रका अर्थ है शिष्टाचार अर्थात् हम अपने उन पूर्वजोंके आचारका अनुसरण करें जो पवित्र और निर्मय थे। भेड़ चरानेवालोंका शिष्टाचार अथवा सदाचार दूसरेके झुण्डकी भेड़को अपने झुण्डमें घेर लेना हो सकता है और मांसाहारीका शिष्टाचार मांसाहार करना हो सकता है। एक लड़का मांसाहार करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए, इस विषयपर मुझसे चर्चा करना चाहता था, किन्तु उसकी माँने मुझे उस लड़केसे बात नहीं करने दी। वह महिला सच्ची थी। उसने सोचा कि क्या जबरदस्ती कुछ भी हो सकता है। यदि यह लड़का निरामिषाहारी हो जाता है तो घरमें कलह पैदा हो जायेगा। शिष्टाचारका भय तो करना ही है। यदि वह सत्य इत्यादिको भंग करनेके लिए कहे, तो त्याज्य है। जहाँ गुरुकी परम्परा लुप्त हो जाती है वहाँ व्यक्ति स्वेच्छाचारी बन जाता है। 'गीताजी'ने कहा: 'तद्विद्धि प्रणिपातेन'। किन्तु गुरु एकदम तो नहीं मिल जाता। गुरुकी खोजमें रहनेसे हृदय हमेशा विनयशील रहेगा। गुरुका ही विचार करते रहनेसे मनमें पवित्रता बनी रहेगी। 'गीता'ने कहा है: यदि तुम्हारे हृदयमें दैवी विचारोंका संचार हुआ हो तो तुम्हें नम्र बन जाना चाहिए। पर मैं तो कुछ भी नहीं जानता। मैं तो ईश्वरसे अथवा गुरुसे पूछूँ; किन्तु ये मिलें कहाँ? इसलिए हम प्रार्थना करते हैं। जो ईश्वरको आधार मानकर ही प्रार्थना करता है वह किसी-न-किसी दिन तर जायेगा। जो व्यक्ति ब्रह्मको अपने भीतर समा चुकनेकी बात करता

है, वह नहीं तरता। अक्षरार्थ तो यही है कि हम शास्त्रको प्रमाण मानें किन्तु इसका भावार्थ है कि हम शिष्टाचारका अनुसरण करें। शिष्ट अर्थात् गुरु प्राप्त न हो तो हम नम्र बनें और नम्र बननेका अर्थ है सगुणकी उपासना करें। इसका अर्थ यह हुआ कि हम अपनेको कीड़े-मकोड़ोंकी तरह तुच्छ मानकर ईश्वरकी उपासना करें। यदि तू नम्र बन जायेगा तो तेरी रक्षा हो जायेगी। यदि तू नम्र बनेगा और सच्चा रहेगा तो तेरा परदा धीरे-धीरे खुलता चला जायेगा।

सत्रहवाँ अध्याय ऊपरके इसी विचारसे प्रारम्भ होत..

अध्याय १७

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।। (१७, १)

जो शास्त्रविधिका त्याग कर देते हैं, परन्तु श्रद्धायुक्त होकर भजन करते हैं उनकी निष्ठा कैसी है? तामसी, राजसी अथवा सात्विकी?

शास्त्र-विधिका त्याग करनेका अर्थ हुआ शिष्टाचार छोड़कर अथवा गुरुके मार्ग-दर्शनके बिना, किन्तु फिर भी श्रद्धावान् रहकर अर्थात् थोड़ी-बहुत नम्रता रखकर। श्रीकृष्ण इसका अप्रत्यक्ष उत्तर देते हैं कि शास्त्रको प्रमाण न मानना और श्रद्धा रखना परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। शास्त्रको प्रमाण माननेमें ही श्रद्धा आ जाती है।

श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं:

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।। (१७, २)

श्रद्धा तीन प्रकारकी है और वह मनुष्योंमें स्वाभाविक है। सात्विकी, राजसी और तामसी। तू इसके विषयमें सुन।

अर्जुन और कृष्ण घनिष्ठ मित्र हैं, किन्तु कृष्ण अर्जुनको जो-कुछ बता रहे हैं उसे अर्जुन पूरी तरह समझ नहीं पाता। अर्जुनका उद्देश्य कृष्णको प्रश्नोत्तरोंमें हराना नहीं है किन्तु कृष्ण सोचते हैं कि अर्जुन के साथ थोड़ा-बहुत खेल किया जा सकता है। भगवानको इस बातकी जरूरत नहीं है कि वे अर्जुनके प्रश्नके उद्देश्यको समझें। वे इतना मान लेते हैं कि कोई व्यक्ति शास्त्र-विधिको छोड़कर भी श्रद्धाके विषयमें प्रश्न कर सकता है। यह बात सात्विक है, राजसी है अथवा तामसी?

[१८५]

शनिवार, १६ अक्तूबर, १९२६

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।। (१७, ३)

सबकी श्रद्धा अपने-अपने सत्त्वके अनुरूप होती है। श्रद्धावान् पुरुषकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसा उसका फल मिलता है।

श्रद्धा संस्कारयुक्त हो सकती है। मनुष्यके लिए श्रद्धा उपयोगी है किन्तु उसके जरिये मनुष्यको मार्गभ्रष्ट नही होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति तिनकेका सहारा ले तो वह जरूर गिर पड़ेगा, किन्तु यदि वह किसी शाखाका आश्रय ले तो नीचे नही गिरेगा। शास्त्रकी दृढ़ शाखाको पकड़ रखनेवाला नीचे नही गिरता। श्रीमती बेसेंटने कहा है कि जो व्यक्ति शिखरपर नही पहुँचा है उसे पगडंडीका सहारा लेना ही पड़ता है। शास्त्र हमारी पगडंडी है। शिखरपर पहुँच जानेके बाद न पगडंडीकी जरूरत है और न सीढ़ियोंकी। शिखरपर का भाग उसे इतना सपाट लगने लगता है कि नीचेके भागकी उसे फिक्र ही नही करनी पड़ती।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ (१७, ४)

सात्विक मनुष्य देवताओंको पूजता है। देवताओंका अर्थ है सात्विक शक्तियाँ अथवा वृत्तियाँ। राजसी वृत्तिवाले व्यक्ति यक्षों और राक्षसोंको और तामसी वृत्तिवाले व्यक्ति भूत-प्रेतादिको भजते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ (१७, ५-६)

जो लोग अशास्त्रविहित घोर तप करते हैं, दम्भी तथा अहंकारी होते हैं और जो काम तथा रागसे प्रेरित हैं वे शरीरमें स्थित पंचमहाभूतोंको तथा अन्तःकरणमें स्थित मुझको कष्ट देते हैं। ऐसे लोगोंको आसुरी संकल्पोंवाला जान।

जो शास्त्राचारका आधार लेते ही नही हैं और अपने नशेमें झूमते चले जाते हैं, उस प्रकारके लोगोंकी स्थिति ऐसी ही हो जाती है।

यदि तराजूके एक पल्लेमें सत्य रखें और दूसरेमें तप, शास्त्र इत्यादि तो सत्य-वाला पल्ला नीचेकी ओर झुक जायेगा। जो शास्त्र सत्यको दबाना चाहेगा वह शास्त्र व्यर्थ है। जो ऐसे शास्त्रका अनुसरण करेगा वह आसुरी संकल्पवाला है। जिस तरह सत्य सनातन है, उसी तरह असत्य भी सनातन है। प्रकाश सनातन है, उसी तरह अंधकार भी सनातन है। संग्रहणीय सनातन तो वही है जिसका सत्यके साथ सामं-जस्य हो।

[१८६]

रविवार, १७ अक्तूबर, १९२६

यदि शास्त्रकी पृष्ठभूमिमें अहिंसा और सत्य न हो तो उसके माध्यमसे हमारा अधःपतन ही हो जाये। पिताने कुएँमें तैरनेके लिए कहा है, डूब मरनेके लिए नही, पिता अर्थात् शिष्टाचार। कहा जाता है 'गुरु बिन होय न ज्ञान'। गुरुकी खोज करते

हुए ही शिष्टाचारका ज्ञान हो जाता है। इस युगमें किसीको आसानीसे गुरु नहीं मिल सकता। किन्तु यदि हम परमात्माका काम कर रहे हों तो उसमें शिष्टाचार तो होगा ही। इसीलिए कहा गया है कि सभी काम करते हुए भगवानका नाम लेना चाहिए। किन्तु यहाँ यह बताया गया है कि भगवानका नाम लेते हुए वृत्ति कैसी होनी चाहिए। भूत-प्रेतमें श्रद्धा अथवा राक्षसमें श्रद्धा नहीं होनी चाहिए। हमें परोपकारी देवताका ही स्तवन करना चाहिए।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।। (१७, ७)

तीन प्रकारके आहार लोगोंको प्रिय लगते हैं। इसी तरह यज्ञ, तप तथा दान भी तीन प्रकारके हैं। तू इनके भेद सुन।

आयुःसत्त्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।। (१७, ८)

आयुष्य, सात्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचिको बढ़ानेवाला, रसयुक्त, चिकना, लम्बे समयतक टिकनेवाला और मनको अच्छा लगनेवाला आहार सात्विक मनुष्यको प्रिय होता है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।। (१७, ९)

कटु, खट्टा, खारा, गरमागरम, चरपरा, रूखा तथा कलेजेको जलानेवाला आहार राजसी लोगोंको प्रिय होता है। वह दुःख, शोक और रोग पैदा करनेवाला होता है।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।। (१७, १०)

अधपका, उतरा हुआ, दुर्गन्धित, बासी, जूठा और अपवित्र भोजन तामसी लोगोंको प्रिय होता है।

यदि हम इन तीनोंसे चिपककर बैठ जायें तो हमारा काम न चले। सात्विक भोजनके गुण बतानेके बाद रस इत्यादिका वर्णन किया गया है। मोदकप्रिय व्यक्ति लड्डूको सात्विकमें गिनेंगे, किन्तु लड्डू खानेवाला, ब्रह्मचर्यकी रक्षा नहीं कर सकता। रस्य इत्यादिमें विवेकदृष्टि रखनी चाहिए। उस जमानेमें इस प्रकारका भेद बताना आवश्यक रहा होगा। उस जमानेमें भी एक बारमें मुट्ठी-भर मिर्च खा लेनेवाले लोग रहे होंगे। आज तो चिकने पदार्थोंकी जरूरत ही नहीं है। यदि हम इस जमानेमें अधिक घी खायें तो वह सात्विक अथवा राजसी न होकर राक्षसी खुराक हो जायेगी। खट्टा, खारा, चरपरा इत्यादि जो कहा है सो ठीक ही है। बासे भोजनके बारेमें भी कहा है। चिल्टन चीज़ (पनीर जिसमें असंख्य जीवाणु होते हैं) पर्युषित अर्थात् बासी खुराक कहलायेगी। दलिया अथवा मुरमुरेको बासी नहीं कह सकते।

[१८७]

मंगलवार, १९ अक्तूबर, १९२६

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।। (१७, ११)

फलकी आकांक्षा किये बिना, विधिपूर्वक और कर्त्तव्य मानकर तथा मनःपूर्वक किया गया यज्ञ सात्त्विक कहलाता है।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।। (१७, १२)

फलकी आकांक्षा रखकर अथवा दम्भके लिए जो यज्ञ होता है, उसे तू राजसी जान।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।। (१७, १३)

जो विधिसे हीन है, जिससे अन्नकी उत्पत्ति नहीं होती, जो मन्त्रहीन है, जिसमें दक्षिणा नही दी जाती और जो श्रद्धाहीन है, ऐसा यज्ञ तामसी कहलाता है। दक्षिणाका अर्थ है जिसमें पाँच गरीबोंको दान भी न दिया जाये।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।। (१७, १४)

जिसमें देव, ब्राह्मण, गुरु और प्राज्ञकी पूजा, पवित्रता तथा सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा भी हो, वह शारीर-तप कहलाता है।

तप वह है जिसमें शारीरिक असुविधा होती हो।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।। (१७, १५)

उद्वेग उत्पन्न न करनेवाला तथा प्रिय लगनेवाला, हितकारी वचन तथा स्वाध्याय और अभ्यास — ये वाणीके तप कहलाते हैं।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।। (१७, १६)

जिसमें मनकी प्रसन्नता है, शान्ति है, मौन और आत्मनिग्रह है, अन्तःशुद्धि है, वह मानसिक तप है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।। (१७, १७)

परम श्रद्धायुक्त होकर, फलकी आकांक्षा रखे बिना किये गये उक्त तीन प्रकारके तप ही सात्त्विक तप हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।। (१७, १८)

कोई हमारा सत्कार करे, हमें मान दे और हमारी पूजा करे, ऐसी इच्छासे तथा दम्भपूर्वक किया गया तप अस्थिर और अनिश्चित होता है तथा राजस कहलाता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।। (१७, १९)

मूढ़तापूर्ण दुराग्रहके साथ, स्वयं अपनेको और दूसरोंको पीड़ा पहुँचाते हुए जो तप किया जाता है वह तामसी तप कहलाता है। जो व्यक्ति सौ दिनोंतक उपवास करता है अथवा एक पाँवपर खड़ा रहता है वह व्यक्ति सात्विक तप नही करता, बल्कि तामसी तप करता है।

[१८८]

बुधवार, २० अक्तूबर, १९२६

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ।। (१७, २०)

जो इस भावसे दिया गया हो कि दिया ही जाना चाहिए; तथा जो ऐसे व्यक्तिको दिया गया हो जिसमें बदला चुकानेकी शक्ति न हो; तथा जो देश, काल और पात्र देखकर दिया जाता है, वह दान सात्विक कहलाता है।

जो दान किसी एक समय दातव्य है, वह सदा ही दातव्य हो, ऐसा नहीं है। ऐसा ही पात्रके विषयमें भी है। किसी बिलकुल ही अपंग व्यक्तिको भोजन देना ठीक है। किन्तु मान लीजिए कि कोई अंधा आदमी ज्वरसे पीड़ित है और भीख माँग रहा है, उस समय यदि हम उसे भोजन दे दें तो यह अपात्रको देने सरीखा होगा। इसी तरह यदि हम उसे कम्बल दे दें और वह उसे बेच दे तब भी वह अपात्रको दिया गया दान कहलायेगा। कहीं अन्नदान तो कहीं दूसरा कोई दान, और तीसरी जगह तीसरा ही कोई दान उपयुक्त हो सकता है। सिद्धान्त तो एक ही है; किन्तु देश, काल और पात्रके अनुसार उसका अमल परिवर्तित होते रहना चाहिए। ऐसा ही यज्ञके विषयमें भी।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।। (१७, २१)

जो दान बदलेकी इच्छासे दिया जाता है अथवा फलकी इच्छासे दिया जाता है अथवा मनमें कुड़कुड़ाते हुए दिया जाता है, वह राजस दान है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।। (१७, २२)

देश, काल अथवा पात्रका विवेक किये बिना, अपमान अथवा अवज्ञा करते हुए दिया गया दान तामसी कहलाता है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।। (१७, २३)

ब्रह्म 'ॐ तत्सत्' इन तीन शब्दोंके द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है और इसलिए इसी निर्देशसे पूर्वकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ विहित हुए।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।। (१७, २४)

इसलिए ब्रह्मवादी ॐ शब्दका उच्चारण करते हुए यज्ञ, दान और तपकी क्रियाओंको सदा विधिवत् करते हैं।

ब्रह्मके जिज्ञासुगण समस्त यज्ञ, दान और तप कृष्णार्पण करते हैं। इन्हें वे 'हरि'के नामसे करते हैं, ॐ के नामसे करते हैं।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ।। (१७, २५)

मोक्षार्थी 'तत्' शब्दका उच्चारण करके फलकी आशा रखे बिना यज्ञ, दान तथा तपकी क्रियाएँ करते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।। (१७, २६)

सद्भाव और साधुभावमें सत् शब्दका प्रयोग होता है। प्रशस्त अर्थात् अच्छे कर्मोंमें भी सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।। (१७, २७)

ॐ उक्त सभी कार्योंके आरम्भमें है और सत्में उसकी स्थिति है। यज्ञ, दान आदिमें यदि हम दृढ़ताकी इच्छा करते हों तो ओंकार उनका आरम्भ है और सत् स्थितिका सूचक है। सत् स्थितिका वाचक है और हरिका भी वाचक है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह वचन भी इसी अर्थमें कहा गया है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।। (१७, २८)

जो यज्ञ, दान अथवा तप अश्रद्धासे किया गया हो, वह असत् है। वह न इस लोकमें कामका है, न परलोकमें।

'ॐ तत्सत्'का अर्थ यह हुआ कि जो-कुछ है, वह ॐ है। मै तो मिथ्या हूँ। केवल खुदा है। दूसरा कोई भी नहीं है। हम सब मिथ्याके पीछे दौड़ रहे हैं।

आहार भी सात्विक वृत्तिसे किया जाना चाहिए। अनेक व्यक्ति जो खाते हैं, ईश्वर-प्रीत्यर्थ खाते हैं। इस जगत्में मुझे शून्य होकर रहना है, संसार भले ही हमें एक जगहसे दूसरी जगह गेंदकी तरह ठुकराता रहे; किन्तु स्वयं हम इस तरह ठुक-

राये जानेकी इच्छा न करें। विद्या, शरीरबल और धन सभीका उपयोग हमें दूसरेके लिए करना है; [और यह भी] मैं अच्छा कहलाऊँ, इस दृष्टिसे नहीं। इसलिए 'ॐ तत्सत्' नम्रताकी प्रतिज्ञा है। इसमें अभिप्राय अपनी तुच्छताके अनुभव करनेका है। इसमें अहंकारहीनता भी है। यदि इमाम साहब[1] इसका उच्चारण करें तो यह उनका कलमा ही है।

[१८९]

गुरुवार, २१ अक्तूबर, १९२६

सतरहवें अध्यायमें दान, श्रद्धा, तप आदिके तीन विभाग बतलाये गये हैं। इसे केवल दृष्टान्तके रूपमें ही समझा जाना चाहिए। हम इनके चाहे जितने विभाग कर सकते हैं। इसमें केवल इतना ही सूचित किया गया है कि सारे जगत्के ऊपर तीन गुणोंकी शक्ति चल रही है। बरतन एक जड़ पदार्थ है किन्तु जिस तरह उसमें वायु भरी हुई है, उसी प्रकार वस्तु-मात्र चेतनसे परिपूर्ण है। तीन गुणोंसे परे जो वस्तु है, वह ईश्वर है। उसमें हमें लीन हो जाना है। सात्विकसे-सात्विक बन जानेपर भी कुछ-न-कुछ राजसी अथवा तामसी तत्त्व हममें बच ही रहेगा। किन्तु इसकी चिन्ता न करते हुए हमें अपने भीतर सात्विक तत्त्वका ही विकास करते जाना चाहिए। क्योंकि कमसे-कम उत्तेजना देनेवाली और शक्तिका अपव्यय न करनेवाली वृत्ति सात्विक है। जनकके भी जबतक देह था, तबतक वे विदेह कहलाते अवश्य थे किन्तु उनके और हमारे बीचका अन्तर प्रमाणका ही है। हाँ, देहपात होनेके बाद उन जैसोंको पुनर्जन्म शेष नहीं बचता।

अध्याय १८

अब अठारहवें अध्यायमें अर्जुन श्रीकृष्णसे संन्यास और त्यागका अंतर स्पष्ट करनेकी प्रार्थना करता है। वह कहता है:

> संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
> त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।। (१८, १)

हे महाबाहो, मैं संन्यासका तत्त्व जानना चाहता हूँ, मुझे त्यागका तत्त्व भी पृथक् रूपसे बताइए। भगवान उत्तर देते हैं:

> काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
> सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। (१८, २)

काम्य कर्म अर्थात् जिनके विषयमें अनेक इच्छाएँ होती रहती हैं ऐसे कर्मोंके त्यागको ज्ञानी संन्यास कहते हैं और स्याने लोग सभी कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं।

१. अब्दुल कादिर बावजीर।

इन दोनोंमें कोई भेद हो, ऐसा नहीं है। काम्य कर्मोका अर्थ सभी कर्म जान पड़ता है। किन्तु मुझे इस अर्थका निश्चय नही है। कर्मोका सर्वथा त्याग सम्भव नही हो सकता। इसलिए कर्म-मात्रका त्याग संन्यास और त्यागका अर्थ फलत्याग हुआ।

[१९०]

शुक्रवार, २२ अक्तूबर, १९२६

कल मैंने काम्य कर्मका अर्थ सभी कर्म किया। सुरेन्द्रने मुझे विनोबा द्वारा किये गये अर्थकी याद दिलाई। अर्थात् वह कर्म जो किसी निश्चित हेतुसे किया गया हो। किन्तु हेतु तो हरएक कर्मका होता ही है। यह अलग बात है कि हम उस उद्देश्यके प्रति तटस्थ रहें। किन्तु हेतुकी दिशामें प्रयत्न तो करना पड़ता ही है। स्वयं देह होना भी कर्म है। देहके रहते हुए भी हम देहके प्रति निश्चिन्त अवश्य रह सकते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ (१८, ३)

कुछ लोग कहते है कि कर्म-मात्र दोषयुक्त है, इसलिए कर्म त्याज्य है। कुछ लोग कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्म त्याज्य नही हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (१८, ४-५)

इस विषयमें मेरा निश्चय सुन। हे भरतसत्तम, हे पुरुषव्याघ्र, त्याग तीन प्रकारका कहा गया है। यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्याज्य नहीं है क्योंकि यज्ञ, दान और तप मनुष्योंको पवित्र बनानेवाले कर्म हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ (१८, ६)

इन कर्मोंको भी संग और फल छोड़कर करना चाहिए। इसलिए मेरा निश्चित और उत्तम मत है कि इस तरह समझकर कर्म किये जाने चाहिए।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ (१८, ७)

नियत कर्म अर्थात् शास्त्रोंमें कहे गये नित्य कर्मोका संन्यास नहीं किया जा सकता। मोहसे उनका त्याग करना तामस् त्याग कहलाता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।। (१८, ८)

कर्म दुःखकारक है ऐसा मानकर यदि उसका त्याग कायाके कष्ट-भयसे किया गया हो, तो वह राजस त्याग है। ऐसे व्यक्तिके त्यागके फलका लाभ नहीं मिलता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।। (१८, ९)

जो व्यक्ति ऐसा मानकर कि कर्म किया ही जाना चाहिए उसके संग और फलका त्याग करता है, सात्विक त्यागी है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।। (१८, १०)

अमुक कर्म अशुभ है ऐसा सोचकर जो द्वेष नही करता, और शुभ है ऐसा विचार कर जो उसके प्रति मोहित नहीं होता, और कर्म करता रहता है; ऐसा मनुष्य संशय-रहित हो गया है, शुद्ध भावनायुक्त है तथा त्यागी और बुद्धिमान है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।। (१८, ११)

देहधारीके द्वारा कर्मका सर्वथा त्याग किया जाना असम्भव है। इसलिए जो व्यक्ति कर्मके फलका त्याग करता है वही त्यागी कहा जाता है।

जब हम समस्त कर्मोंके फलका त्याग करनेका निश्चय कर चुकेंगे, तब हम वे कर्म किया करेंगे जो हमारे कर्त्तव्य-कर्म हैं। इससे पहलेके श्लोकमें संन्यासकी जो बात कही गई है वह तो कविने इसी अर्थमें कही है कि कर्म-मात्रका त्याग किया जाना चाहिए। मेरा और तेरा छोड़कर काम करना चाहिए; सत्रहवें अध्यायका यही तात्पर्य है। मेरे और तेरेका भेद जिस स्थितिमें अधिकसे-अधिक मिट जाता है वह सात्विक स्थिति है। देहधारीके लिए कर्मका सर्वथा त्याग अशक्य है। देहाध्यास तो मरण-पर्यन्त टिकनेवाला है। समाधिस्थ पुरुष इतना कर सकता है कि स्टेथसकोपमें भी उसके हृदयकी धड़कन सुनाई न पड़े। योगाभ्यासी कहते हैं कि जीव थोड़ी देरके लिए इस पिंजरेको छोड़कर भी जा सकता है। किन्तु किसलिए? इसमें सन्देह नहीं कि यदि हम इच्छा करें तो अपनी नाड़ीकी गति कम कर सकते हैं। सच तो यह है कि यदि किसी योगीने वास्तवमें ऐसी इच्छा की हो कि जीव मन, वचन और देह छोड़कर चला जाये तो संभव है। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि हम देहको टिकाये न रखना चाहें तो वह नष्ट हो ही जाये। किन्तु देह-त्यागकी हमारी इच्छा इतनी तीव्र नहीं होती। क्योंकि सुईकी नोक चुभ जाये तो हमें उसका भी अनुभव होता है। रामदास स्वामी-जैसे व्यक्ति किसी दूसरेके शरीरमें प्रवेश करके उसके दुःखका अनुभव कर सकते हैं, किन्तु सारे ही शरीरोंके दुःखका अनुभव उन्हें नहीं हो सकता। अलबत्ता, वे उसकी कल्पना कर सकते हैं। इसलिए

हम तो इतना ही कर सकते हैं कि अहंकारकी जिनमें गंध आये, हम उन कामोंको छोड़ते जायें।

[१९१]

शनिवार, २३ अक्तूबर, १९२६

हरिश्चन्द्रका उदाहरण त्यागका उदाहरण है। कुशल हो अथवा अकुशल, चाहे जैसा काम आ पड़नेपर वे उसे समान रूपसे करनेके लिए तैयार रहते थे।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ (१८, १२)

कर्मका फल तीन प्रकारका वर्णित है, अनिष्ट, इष्ट और मिश्र। जिसने त्याग नही किया, उसे मरनेके बाद यह फल मिलता है, किन्तु संन्यासीको कभी नही मिलता।

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ (१८, १३)

हे महाबाहो, सभी कर्मोंकी सिद्धिके लिए सांख्यवादमें जो पाँच कारण कहे गये हैं, उन्हें तू जान।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ (१८, १४)

ये पाँच कारण हैं : क्षेत्र, कर्त्ता, तरह-तरहके साधन, अलग-अलग तरहकी क्रियाएँ और पाँचवाँ दैव।

जब भाग्य पक्षमें नही रहा, तब वही धनुष और वही बाण होते हुए भी अर्जुन भीलोंसे लुट गया।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ (१८, १५)

व्यक्ति शरीर, वाणी और मनके द्वारा कुछ भी काम क्यों न करना चाहे, उसके कार्य-हेतु उक्त पाँच होते हैं, फिर वह कार्य न्याययुक्त हो अथवा उसके विपरीत।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ (१८, १६)

ऐसा होते हुए भी जो व्यक्ति कार्याकार्यका विवेक करनेमें असमर्थ बुद्धि होनेके कारण अपनेको ही कर्त्ता मानता है, वह दुर्मति है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ (१८, १७)

जिस मनुष्यमें अहंकार भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि भ्रष्ट नहीं हुई है, वह व्यक्ति मारता हुआ भी लोगोंको नही मारता इसलिए बन्धनमें नही पड़ता।

यदि मैं. . .के[1] हाथमें पत्थर देकर उसे. . .को[2] मारनेके लिए प्रेरित करूँ तो यह पाप उसका होगा अथवा मेरा। अर्जुन द्वारकासे कृष्णको खींचकर ले आया और अब कहता है कि मै नहीं लड़ूँगा। यह कैसे हो सकता है? कृष्ण कहता है: मैं तुझसे कहता हूँ कि लड़। फिर भला अर्जुनको उसमें अपने लिप्त होनेका डर किसलिए? हरिश्चन्द्रकी तलवार हरिश्चन्द्रकी नहीं थी, काशिराजकी थी। हरिश्चन्द्र चाहता तो सत्याग्रह कर सकता था, किन्तु वहाँ तारामती थी, इसलिए क्या यह योग्य होता! जहाँ स्वार्थकी बात हो, वहाँ प्राप्त कार्य करने योग्य हो अथवा न हो वह किया ही जाना चाहिए। यदि स्वार्थकी बात न होती, प्रश्न उसकी रानीका न होता, और उसे इस कामके प्रति घृणा उपजती तथा उसका हाथ ही ऊपर न उठता, तो वह सत्याग्रह कर सकता था।

सतही ढंगसे पढ़ें तो यह श्लोक आदमीको भ्रममें डाल देनेवाला है। इसका सटीक नमूना जगत्में नहीं मिलेगा। जिस तरह रेखागणितमें काल्पनिक आदर्श आकृतियोंकी जरूरत है, उसी प्रकार व्यावहारिक मामलोंमें धर्मकी बात करते हुए काल्पनिक आदर्शोंकी जरूरत पड़ती है। इसलिए इस श्लोकका ऐसा अर्थ किया जा सकता है कि जिसकी अहंता नष्ट हो गई है और जिसकी बुद्धिमें मलिनता लेशमात्र भी नहीं बची है, कहा जा सकता है कि वह सारे जगत्को मार डाल सकता है — क्योंकि जिसमें अहंता नहीं है, उसके शरीर ही नहीं है। जिसकी बुद्धि विशुद्ध है, वह त्रिकालदर्शी है। यह पुरुष तो भगवान ही हुआ। वह करता हुआ भी कुछ नहीं करता और मारता हुआ भी नहीं मारता; वह अहिंसक है। इस तरह आदमीका तो एक ही धर्म है — अहिंसा तथा शिष्टाचार अर्थात् शास्त्रके मार्गका अनुसरण।[3]

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ (१८, १८)

कर्मकी प्रेरणा तीन प्रकारकी है — ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। करण, कर्म और कर्त्ता इन तीन वस्तुओंसे कर्मका समुदाय बनता है।

उदाहरणके लिए स्वराज्य लेनेकी आवश्यकताकी प्रतीतिको ज्ञान और जो उसे लेना चाहता है, उस व्यक्तिको परिज्ञाता कहेंगे। किन्तु स्वराज्य इतनेसे ही नहीं मिल जाता। स्वराज्यकी प्रवृत्तिका साधन भी तदनुसार होना चाहिए। किसी भी हलचलके विषयमें यही बात घटाई जा सकती है।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ (१८, १९)

ज्ञान, कर्म और कर्त्ता भी गुण-भेदके प्रमाणसे तीन प्रकारके हैं। गुणोंके विवेचनमें इनका वर्णन जिस प्रकार किया जाता है, वह तू मुझसे सुन।

१, २. साधन-सूत्रमें व्यक्तियोंके नाम छोड़ दिये गये हैं।

३. अभिप्राय यह है कि एकमात्र धर्म अहिंसा है। प्राप्त कर्मको निर्लिप्त भावसे करें तो वह हिंसा-कार्य होकर भी अहिंसा ही बना रहेगा।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।। (१८, २०)

जिस ज्ञानके द्वारा व्यक्ति सर्वभूतोंमें एक ही अविनाशी भावको देखता है और विविधतामें एकताके दर्शन करता है, वह सात्विक ज्ञान है।

इस जगतमें जो विभिन्न वस्तुएँ दिखाई देती हैं, वे वास्तवमें विभिन्न नहीं हैं। यदि हमारी आँखका पीलिया रोग दूर हो जाये तो हमें सारी वस्तुएँ अविभक्त दिखने लगेंगी।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।। (१८, २१)

जो ज्ञान अलग-अलग भावसे अलग-अलग वस्तुओंको अलग-अलग रीतिसे देखता है, समस्त प्राणियोंका वह ज्ञान राजस है।

मैं, मेरा और इन दोनोंसे बाहर; राजस् भावसे ऐसे तीन विभाग हो जाते हैं। राग-द्वेष इसी कारण उत्पन्न होता है। सात्विक स्थितिमें राग-द्वेषको स्थान नहीं होता।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।। (१८, २२)

तामस ज्ञान सभी कामोंमें आसक्तियुक्त, अहेतुक,[1] तत्त्वार्थको न जाननेवाला[2] और अल्प[3] होता है।

तामस ज्ञान विचारोंकी खिचड़ी बना लेता है और मानता है कि ईश्वर-जैसी कोई चीज है ही नहीं।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।। (१८, २३)

आसक्ति तथा राग-द्वेषसे हीन और फलकी इच्छा रखे बिना किया गया नियत कर्म सात्विक कहलाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।। (१८, २४)

कामना अथवा अहंकारसे किया गया कर्म और जिसमें बहुत प्रयत्न किया जाता है, राजस् कर्म है।

सात्विक व्यक्ति कामोंकी खोजमें नहीं घूमता। राजसी व्यक्ति आज विमानका आविष्कार करता है, कल विलायतसे यहाँ पाँच घंटेमें आ पहुँचनेकी कोशिश करता

१. युक्तिरहित।
२. यथार्थ अर्थ अथवा ज्ञेय रहस्यको न जाननेवाला।
३. अल्पविषयत्वाद् अफलत्वाद्वा। —शांकरभाष्य

है। ऐसा व्यक्ति चौबीस घंटोंमें से आधा घंटा आत्माको बहलाने और साढ़े तेईस घंटे शरीरको तुष्ट करनेके लिए रखता है।

चरखा इत्यादिकी प्रवृत्ति राजसी है; सात्विकी भी हो सकती है? भावनाके आधारपर ही इसका निर्णय किया जा सकता है। यदि केवल पैसेके ध्यानसे चरखा चलाया जाये तो राजसी और जगत्‌के भलेके विचारसे यज्ञार्थ चलाया जाये तो सात्विकी।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।। (१८, २५)

परिणाम, हानि, हिंसा और अपनी शक्तिका विचार किये बिना जो कर्म मोह-वश किया जाता है, वह तामस कर्म कहलाता है। तामस कर्ममें परिणाम जाने बिना व्यक्ति कूद पड़ता है। फलकी इच्छा रखे बिना काम करनेवाला व्यक्ति फल जानता तो है किन्तु वह उसकी इच्छा नहीं करता।

[१९२]

मंगलवार, २६ अक्तूबर, १९२६

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।। (१८, २६)

जिसमें आसक्ति नहीं है, जो अहंभावसे मुक्त हो गया है, जो दृढ़ता और उत्साह-युक्त है, जो सफलता और निष्फलतामें हर्ष-शोक नहीं करता, वह सात्विक कर्त्ता है। अहंकारकी भावनासे मुक्तका अर्थ हुआ निमित्तमात्र बनकर काम करनेवाला। वह आसक्तिहीन होता है, किन्तु इस कारण वह ढीला नहीं पड़ जाता। वह तो अधिकसे-अधिक क्रियाशील होता है। भक्त और भगवानका सम्बन्ध एक दृष्टिसे प्रेमी और प्रेमिकाका सम्बन्ध है। यद्यपि है इसमें उत्तर और दक्षिणका अन्तर। भक्त तो अलिप्त रहता है जब कि आसक्त प्रेमी प्रतिदिन क्षीण होता चला जाता है। यहाँ अंग्रेज हाकिम आते हैं। उनकी धृति और उत्साहका क्या कोई पार है? वे योगियों जैसे लगते हैं; किन्तु वे मुक्तसंग नहीं हैं, परिणामवादी हैं। परिणामके लिए काला-सफेद करते रहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति मुक्तसंग है, उसके लिए तो कर्म, कर्म और कर्म; निश्चय, निश्चय और निश्चय, तथा उत्साह, और उत्साह ही होता है। चरखा चलाते हुए भी ऐसा आदमी धृति और उत्साहपूर्ण होगा। ऐसा कर्त्ता सात्विक कर्त्ता कहलाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।। (१८, २७)

रागी, कर्मफलकी प्रगाढ़ इच्छा रखनेवाला, लोभी, हिंसा करते हुए मुड़कर न देखनेवाला, अपवित्र तथा सिद्धि और असिद्धिको लेकर हर्ष और शोकसे भरा हुआ व्यक्ति राजसी कर्त्ता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।। (१८, २८)

अव्यवस्थित, असंस्कारी, अभिमानी, शठ, अनिश्चयी और आलसी, विषादी तथा दीर्घसूत्री व्यक्ति तामस कर्त्ता कहलाता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।। (१८, २९)

अब मैं तुझे बुद्धि और धृतिका पूरा-पूरा और अलग-अलग तीन प्रकारका भेद बताता हूँ। तू उन्हें सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।। (१८, ३०)

प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय,[1] बन्धन और मोक्ष, जो बुद्धि इनका निर्णय करना जानती है, वह सात्विक है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।। (१८, ३१)

जो व्यक्ति धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्यको सम्यक् रूपसे नहीं जानता, उसकी बुद्धि राजसी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।। (१८, ३२)

अंधेरेसे घिरी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है और सारे अर्थ उलटे लगाती है — जिसे सब-कुछ टेढ़ा दिखता है, वह तामसी बुद्धि है।

[१९३]

बुधवार, २७ अक्तूबर, १९२६

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।। (१८, ३३)

जो अव्यभिचारी धृति मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको योगसे धारण करती है, वह धृति सात्विक है।

जब व्यक्ति दृढ़तापूर्वक कोई निश्चय करके उसके परिणामसे चिपके बिना अपने संकल्पसे चिपका रहता है, उसे नित्य नहीं बदलता, तो वह धृति अव्यभिचारी धृति होगी; योगके द्वारा अर्थात् ईश्वरार्पण बुद्धिके द्वारा।

१. साधन-सूत्रमें 'भय और अभय' के बाद कोष्ठकमें 'अमुक वस्तुसे बचना चाहिए और अमुक वस्तुसे निर्भय रहना चाहिए' भी लिखा हुआ है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।। (१८, ३४)

जो धृति फलकी आशा रखती है और जो धर्म, काम तथा अर्थका मनन करती है, वह धृति राजसी है।

पहले प्रकारकी धृतिमें ईश्वरपरायणता है और दूसरीमें आसक्ति; वह आसक्ति-पूर्वक धर्म, अर्थ और कामको प्राप्त करनेकी इच्छा करती है। इस प्रकारसे किया हुआ निर्णय, अयोग्य निर्णय हो सकता है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।। (१८, ३५)

जिस धृतिके द्वारा दुर्बुद्धि मनुष्य स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मदका त्याग करता ही नहीं है, वह तामसी धृति है।

हम जो-कुछ करते हैं, उस सबमें मोह और शोक होता है; निराशा तथा भय तो निश्चयपूर्वक होता है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।। (१८, ३६–३७)

सुख भी तीन प्रकारका है । जिसका अभ्यास करते-करते व्यक्ति आनन्द पाने लगता है, जिसके द्वारा दुःखका अन्त हो जाता है।

जो आरम्भमें विष जैसा लगता है, परन्तु जो परिणाममें अमृत जैसा होता है, वह सुख सात्विक है। वह आत्मज्ञानके प्रसादसे उत्पन्न होता है।

यह सुख प्राप्त करनेके लिए तपश्चर्या करनी चाहिए । इसमें त्याग निहित है, इसलिए आरम्भमें कष्ट होता है । इसके अभ्यासमें, पठन-पाठनमें भी निद्रा और आलस्यको छोड़ना पड़ता है, परिश्रम करना होता है, यह सब तपश्चर्या है । किन्तु इसका अन्त आत्मज्ञान है । जैसा आत्मा वैसा आत्मानन्द । देहानन्द केवल विकार-मय है । उसका आधार विकारपर है, इसलिए वह क्षणिक है । वह पतंग अथवा बिजलीकी तरह क्षणिक है जब कि आत्मानन्द शाश्वत है। आत्मज्ञानके प्रसादसे उत्पन्न सुख अमृतमय है।

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।। (१८, ३८)

विषयेन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख आरम्भमें अमृत-जैसा लगता है, किन्तु जो परिणाममें विषके समान होता है, वह सुख राजस् कहा गया है।

नाटक इत्यादि देखने गये तो उसे देखते हुए सुख होता है। किन्तु बादमें निद्रा बेचकर मिलता है जागरणका दुःख; और उसका मनपर होनेवाला जो असर है, सो अतिरिक्त ही।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।। (१८, ३९)

जो आरम्भ और परिणाम दोनोंमें हमें मोहमें डालनेवाला है और जो निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।। (१८, ४०)

पृथ्वीपर अथवा स्वर्गमें देवताओंतक में ऐसा कोई नही है जो प्रकृतिजन्य इन तीनों गुणोसे मुक्त हो।

इसलिए हमें इनसे मुक्त होनेका प्रयत्न करना चाहिए।

[१९४]

गुरुवार, २८ अक्तूबर, १९२६[1]

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।। (१८, ४१)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्मोंको भी उनके स्वभावके अनुसार विभाजित किया गया है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।। (१८, ४२)

शान्ति, इन्द्रियोंका दमन, तप अर्थात् शरीर, वाणी और मनको कष्ट देकर उन सबको सीधा रखना, पवित्रता, क्षमा अर्थात् पत्थर मारनेवालेके प्रति भी अन्तःकरणपूर्वक कल्याणकी कामना रखना, सरलता अर्थात् आँखमें मैल न रखना, सीधे रास्ते चलना, ज्ञान और अनुभव-ज्ञान, कोरा शास्त्र ज्ञान या शुष्क ज्ञान नही, और आस्तिकता, ये ब्राह्मणके स्वभावजन्य कर्म हैं।

किसी व्यक्तिमें उपरोक्त गुणोंके साथ-साथ यदि आस्तिकता, श्रद्धा, भक्ति न हों तो उक्त गुण हानिकारक भी हो सकते हैं। जैसे आज पाश्चात्य देशोंमें इनाम पानेके लिए, कुश्ती लड़नेके लिए शरीरका विकास किया जाता है। इन्द्रियदमन तो इन व्यक्तियोंको भी करना पड़ता है, किन्तु इस प्रकारके इन्द्रिय-दमनमें ईश्वर-भक्तिका कोई स्थान नहीं है, इसलिए वह किसी कामका नहीं है । आस्तिकता, ईश्वर-भक्ति, ब्राह्मणके लक्षणमें मुख्य होनी चाहिए।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। (१८, ४३)

शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान अर्थात् गरीबकी मददके लिए सदा तत्परता और ऐश्वर्य — ये क्षत्रियके स्वभावजन्य कर्म हैं।

१. इस दिनका विवरण महादेवभाईने नहीं लिखा था।

ये सारे गुण ब्राह्मणमें तो होते ही हैं; जैसे वशिष्ठ आदिमें ये गुण थे। इसी प्रकार क्षत्रियमें ब्राह्मणके गुण भी होने चाहिए, जैसे युधिष्ठिर, रामचन्द्र आदि क्षत्रिय थे, फिर भी उनमें ब्राह्मणके गुण थे। भरत तो साक्षात् ब्राह्मणत्वकी मूर्त्ति ही थे। इस तरह प्रत्येक वर्णके व्यक्तिमें चारों वर्णोंके सभी गुण कम-ज्यादा परिमाणमें होने ही चाहिए। अन्तर इतना ही है कि जिसमें जिस वर्गके मुख्य लक्षण होंगे, वह उस वर्णका माना जायेगा। उनके स्वाभाविक कर्मोको भी उसी तरह समझना चाहिए।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।। (१८, ४४)

खेती, गोरक्षा और वाणिज्य — ये वैश्योंके स्वभावजन्य कर्म हैं। शूद्रका स्वभावजन्य कर्म सेवा है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।। (१८, ४५)

अपने-अपने कामोंमें लीन व्यक्ति सिद्धिको प्राप्त करते हैं। अपने कामोंमें लगा हुआ मनुष्य सिद्धि किस प्रकार प्राप्त करता है, इसको सुन।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। (१८, ४६)

जिसके बलपर प्राणियोंकी प्रवृत्ति चल रही है और सारा जगत् जिससे व्याप्त है, उसे जो व्यक्ति अपने कर्मके माध्यमसे भजता है, वह परमसिद्धि पाता है।

जो सर्वस्थानोंमें ओतप्रोत है, ताने-बानेकी तरह फैला हुआ है, जो व्यक्ति उस आत्मा, ब्रह्म, ईश्वरकी पूजा करता है, वह सिद्धिको प्राप्त करता है। जो अपने कर्त्तव्य कर्मको ही सच्ची प्रार्थना अथवा पूजा मानता है और जिसने सेवा तथा अपने प्रत्येक कर्मको प्रार्थनामय बना डाला है, वास्तविक सिद्धि उसीको मिलती है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।। (१८, ४७)

भली-भाँति आचरित परधर्म (अर्थात् दूसरेके कर्त्तव्य-कर्म) की अपेक्षा गुणरहित तथापि अपना धर्म (अर्थात् अपना कर्त्तव्य कर्म) श्रेष्ठ है। क्योंकि स्वभावसे नियत किये गये स्वधर्मरूपी कर्मको करनेमें मनुष्य पापसे लिप्त नहीं होता।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। (१८, ४८)

सहज ही प्राप्त कर्म (अर्थात् जिसे स्वयं हमने खोजकर प्राप्त नहीं किया है, जो हमपर आ पड़ा है,) दूषित हो तो भी त्याग करने योग्य नहीं है। अग्निके साथ जिस तरह धुआँ रहता ही है इसी प्रकार किसी भी कर्मके आरम्भमें दोष तो रहता ही है।

यहाँ चोरी आदि कर्मोंकी बात नही कही गई है, बल्कि ऊपर चार वर्णोंके जो स्वाभाविक कर्म बताये गये हैं, उनकी बात की गई है। इनमें कुछ-न-कुछ दोष दृष्टिगोचर होता है। जैसे सज्जनोंकी ममताका दोष अर्जुनको युद्ध करनेसे रोक रहा था। फिर भी उस कर्मको करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि कर्म-मात्र, सभी प्रकारके आरम्भ, किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ (१८, ४९)

जिसने सभी कर्मोंमें से आसक्ति खीच ली है अर्थात् जो संगरहित हो गया है, जिसने मनको जीत लिया है, जिसने समस्त इच्छाओंको छोड़ दिया है, वह संन्यासके द्वारा नैष्कर्म्य रूपी परमसिद्धिको प्राप्त करता है।

यहाँ संन्यासका अर्थ कर्म-मात्रका त्याग नहीं; बल्कि यहाँ कर्मके फल-मात्रका त्याग सूचित किया गया है। यही सिद्धिदायक है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ (१८, ५०)

सिद्धि प्राप्त कर लेनेके पश्चात् मनुष्य ब्रह्मको किस तरह प्राप्त करता है सो तू संक्षेपमें सुन। ज्ञानकी ऐसी निष्ठा ऊँचेसे-ऊँची है।

[१९५]

शुक्रवार, २९ अक्तूबर, १९२६

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (१८, ५१-५३)

जो शुद्ध बुद्धिके युक्त हो गया है, जिसने अपने ऊपर दृढ़तापूर्वक वश प्राप्त कर लिया है, जिसने ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोके शब्दादि विषयोंका त्याग कर दिया है, जिसने राग-द्वेष जला डाले हैं, जो एकान्तसेवन करनेवाला है, जो अल्पाहारी है, जिसने वाणी, काया और मनपर वश कर लिया है; जो ध्यानयोगपरायण है, जो भली प्रकार वैराग्यको अपना आधार बना चुका है और जो अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध तथा परिग्रहको छोड़कर निर्मल और शान्त हो गया है, वह ब्रह्मको पानेके योग्य हो जाता है।

अहंकार, बल, दर्प ये सभी एक-दूसरेमें व्याप्त हो सकनेवाले तत्त्व हैं। किन्तु 'गीता' एकका उपयोग करके नहीं मानती। वह तो एक-एक-वस्तुको अनेक भाँतिसे

कहकर स्पष्ट कर देना चाहती है। लब्वाशी; मैंने अपने भोजनमें केवल पाँच वस्तुएँ लेनेका निर्णय किया है, किन्तु यदि मैं उसके अक्षरका पालन करूँ तो उससे व्रतका सम्यक् पालन नहीं होता। हरिदासने खजूरकी बात की और अच्छे खजूर लाकर दिये। उसने मुझे अच्छी मुद्रामें देखा और एक खजूर मुझे खानेके लिए दिया। मुझे वह अच्छा भी लगा, किन्तु मैं एकदम सावधान हो गया। मैंने अपने मनमें सोचा कि दूसरोंको जितना मिलता है, यह तो उससे अधिक हो गया। मैंने वह खजूर खा तो लिया, लेकिन मानो वह मेरे गलेमें अटककर रह गया। यदि हमको शरीरसे काम लेना हो तो वह इसी तरह सम्भव है।

इस श्लोकमें बुद्धि इत्यादिको विशुद्ध करनेकी बात कही गई है और लब्वाशी शब्दका प्रयोग किया है, मिताहारीका नहीं। दो चीजोंसे काम चले तो एकसे चला लिया जाये। खजूरवाली वह घटना शायद इसीलिए हुई कि आज हमें इस श्लोकपर विचार करना था। सम्भव है, कोई व्यक्ति केवल दूध लेनेका व्रत लेकर रोज पन्द्रह सेर दूध पी जाये अथवा उसका खोया बनाकर खाने लगे। भला इसके बजाय वह व्यक्ति दूधमें पानी मिलाकर क्यों न पिये। इंग्लैंडमें एक बैरिस्टर मित्र सोलह घंटे अध्ययन करते थे, और वे अपने सूपमें पानी मिला लेते थे। सच्ची भूख लगी हो तो उस भूखके ही कारण स्वयं जीभमें से अमृत झरने लगेगा।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।। (१८, ५४)

ब्रह्मकी प्राप्तिसे जिसका आत्मा प्रसन्न हो गया है, वह न शोक करता है, न किसी प्रकारकी इच्छा रखता है। वह सभी भूतोंके प्रति समभावसे वर्तन करता है और मेरी पराभक्ति प्राप्त करता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। (१८, ५५)

भक्तिसे वह मुझे, मैं यथार्थ रूपमें जैसा हूँ, उसी रूपमें जानता है और इस प्रकार मुझे तात्त्विक रीतिसे जानकर मुझमें प्रवेश कर जाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।। (१८, ५६)

जो सदा समस्त कर्म करते हुए भी मेरा आश्रय लिये हुए है, वह मेरी कृपासे — अपने बलसे नहीं, हमेशा स्थिर और अव्यय पदकी प्राप्ति करता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।। (१८, ५७)

समस्त कर्मोंको मनःपूर्वक मुझे अर्पण करके, मेरे प्रति परायण होकर, बुद्धि-योगका अर्थात् ज्ञान और ध्यानका आश्रय लेकर निरंतर मुझे चित्तमें धारण कर।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ (१८, ५८)

अपने चित्तको मुझमें लीन करके तू मेरी कृपासे सारे पहाड़ पार कर जायेगा। किन्तु यदि तू अहंकारके वश होकर मेरी बात नहीं सुनेगा, तो तेरा नाश हो जायेगा।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ (१८, ५९)

यदि तू अहंकारके वश होकर न लड़नेका निर्णय लेगा तो तेरा वह व्यवहार मिथ्या होगा, ऐसा मान। प्रकृति ही तुझे वहाँ ले जायेगी।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ (१८, ६०)

यदि तू मोहके कारण (युद्ध) करनेकी इच्छा नहीं करेगा, तो स्वभावसे उत्पन्न कर्मसे बँधा होनेके कारण तुझे बलात् वह कर्म करना ही पड़ेगा।

इसलिए सब-कुछ मुझे अर्पित करके, राग-द्वेषसे रहित होकर, मेरे प्रति परायण रहते हुए जो काम तुझे प्राप्त हो जाये, तू उसे कर। यदि ऐसा करेगा, तो तू अलिप्त रहेगा।

[१९६]

शनिवार, ३० अक्तूबर, १९२६[१]

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ (१८, ६१)

हे अर्जुन, समस्त प्राणियोंके हृदयमें ईश्वर वास करता है और वह अपनी मायासे सर्वभूतोंको चाकपर चढ़े हुए घड़ेकी तरह घुमाता रहता है।

हम पृथ्वीके गोलेपर बैठे हुए हैं। यह गोला एक क्षण भी नही रुकता। चौबीसों घंटे घूमता ही रहता है। तारामण्डल और सूर्य भी घूमते ही रहते हैं। इस तरह जगत्में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। किन्तु इनका यह घूमते रहना स्वयं अपनी-अपनी शक्तिसे नही होता, ईश्वरकी शक्ति ही सबको घुमाती रहती है। हम जिस तरह चाहें उस तरह यन्त्रको चलाते हैं, उसमें अपने मनसे चलनेकी शक्ति नहीं होती, उसी तरह ईश्वर हमें चलाता है। इसलिए हमें यह अहंकार नहीं करना चाहिए कि अमुक काम मैंने किया। हमें तो यही चाहिए कि हम अहंभाव भूल जायें; ईश्वरके हाथमें यन्त्रवत् रहें, उसकी इच्छाके अनुसार चलें और उसीको सर्वस्व समझकर उसकी योजनामें बँधकर ही बरताव करें।

१. इस दिनका विवरण महादेवभाईका लिखा हुआ नहीं है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। (१८, ६२)

तू सम्पूर्ण भावसे उसकी शरणमें जा। तू उसीकी कृपासे परम शान्तिमय स्थान प्राप्त करेगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। (१८, ६३)

इस तरह मैंने तुझे गुह्यसे-गुह्य ज्ञान बता दिया। तू इसपर पूरा विचार करके जैसा ठीक लगे, वैसा कर।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।। (१८, ६४)

तू मेरा और भी गुह्यतम परम वचन सुन; तू मुझे प्रिय है, इसलिए मैं तेरा हित तुझे बतला रहा हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। (१८, ६५)

तू अपना चित्त मुझमें लीन कर। मेरा भक्त बन। मेरे ही लिए यज्ञ कर। मुझे नमस्कार कर। तू मुझे ही प्राप्त करेगा। यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (१८, ६६)

सब धर्मोका त्याग करके एक मेरी ही शरणमें आ। मैं तुझे सारे पापोंसे मुक्त करूँगा। तू चिन्ता मत कर।

समस्त शास्त्रों और 'गीता'का सार इस श्लोकमें है। तू सारी बहसें छोड़कर मेरी ही शरणमें आ। इससे तुझे श्रेय ही प्राप्त होगा। केवल आत्माकी उपासना ही कल्याणकारी है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।। (१८, ६७)

जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, तू उसे यह (ज्ञान) मत बताना।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।। (१८, ६८)

परन्तु यदि तू यह परमगुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको देगा, तो वे मेरी भक्ति करके निःसंशय मुझे ही पायेंगे।

समस्त ज्ञानका संग्रह अपात्रको देनेसे नहीं, पात्रको देनेसे ही होता है।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।। (१८, ६९)

जो ऐसा करता है, उससे बड़ा मेरा प्रिय काम करनेवाला मनुष्योंमें और कोई नही है और मेरे लिए तो इस पृथ्वीमें उसकी अपेक्षा अधिक प्रिय कोई नही है।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।। (१८, ७०)

हमारे बीच हुए इस धर्म्य-संवादका जो अभ्यास करेगा, मेरे मतानुसार वह ज्ञानयज्ञके द्वारा मुझे भजेगा।

अर्थात् जो व्यक्ति इसका ज्ञानपूर्वक अभ्यास करेगा, वह मुक्त हो जायेगा। समझे बिना श्लोकोंका उच्चारण करनेसे मुक्ति मिलनेवाली नही है।

[१९७]

रविवार, ३१ अक्तूबर, १९२६

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।। (१८, ७१)

जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक और द्वेषरहित होकर — अन्धश्रद्धालुमें द्वेषभावना होती है — इसे सुनेगा वह मुक्त होकर पुण्य कर्म करनेवालोंके शुभ लोकोंको प्राप्त करेगा।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय ।। (१८, ७२)

क्या तूने एकाग्र चित्तसे इसे सुना है? क्या अज्ञानसे तुझे जो मोह उत्पन्न हुआ था, वह नष्ट हो गया है?

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। (१८, ७३)

अर्जुन कहता है: हे अच्युत, तुम्हारी कृपासे मेरा मोह कष्ट हो गया है, मुझे अपनी स्मृति पुनः मिल गई है, मेरी शंका जाती रही है और मैं समझ गया हूँ कि मेरा कर्त्तव्य क्या है; अब मैं आपके कहे अनुसार करूँगा।

अर्जुनकी स्मृतिका भ्रंश हो गया था। वह परिस्थिति दूर हो गई। वह समझ गया कि मेरा स्वभाव क्या है और मेरा कर्त्तव्य क्या है, और इस तरह वह सन्देह-रहित बन गया।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।। (१८, ७४)

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।। (१८, ७५)

संजयने कहा :

महात्मा वासुदेव और महात्मा पार्थ, इन दोनोंके बीचका रोमहर्षक और अद्भुत संवाद मैंने व्यासकी कृपासे सुना। स्वयं योगेश्वर कृष्णसे मैंने यह गुह्य परमयोग सुना।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।। (१८, ७६)

केशव और अर्जुनके बीचके इस पवित्र और अद्भुत संवादको याद करते हुए मुझे बार-बार रोमांच हो जाता है।

यदि हमें इसमें नित्य नवीन रस न मिले तो यह हमारी ही कमी होगी, गीताकारकी नहीं।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महाराजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।। (१८, ७७)

हरिके अद्भुत रूपका बारंबार स्मरण करके मुझे महान् विस्मय होता है और मैं बार-बार पुलकित हो उठता हूँ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।। (१८, ७८)

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर पार्थ है, वहाँ श्री — लक्ष्मी — दैवी सम्पत्ति है, विजय है वैभव है, और अविचल नीति है। यह मेरा मत है।

कृष्णके साथ योगेश्वर विशेषण और अर्जुनके साथ धनुर्धर विशेषणका प्रयोग किया गया है। इसका यह अर्थ हुआ कि जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान है और साथ ही तेज है वहाँ श्री, विजय और ध्रुव नीति है। जिसमें ज्ञान है उसमें तदनुसार व्यवहार करनेका पूरा बल भी होना चाहिए। पूरा ज्ञान हो और फिर हो पूरी तरह उसका व्यवहार।

हमने माना है कि यह कल्पित संवाद है। महाभारतकारने जो कृति प्रस्तुत की है, वह अद्भुत है। उसमें उसने अपने ज्ञानकी पराकाष्ठा दिखा दी है। वह कृष्णके हृदयमें प्रवेश कर गया था। धनुर्धरका अर्थ है कर्त्तव्य-तत्पर व्यक्ति। ऐसा कौन है जो आत्यंतिक ज्ञानको प्राप्त कर चुका हो। किन्तु जो ज्ञान परमज्ञान जैसा लगता हो और फिर व्यक्तिमें तदनुसार व्यवहार करनेका पूरा-पूरा साहस हो, तो उसके लिए हार-जैसी कोई वस्तु नहीं है; बल्कि उसे भूति भी प्राप्त हो सकती है। और उससे अधिक तो वह चाहता ही नहीं है। यदि वह इसी प्रकार आचरण करता रहे, तो उसकी भूलें सुधरती चली जायेंगी। हम मानते तो यह हैं कि सदा सत्य बोलना चाहिए, किन्तु हम जो-कुछ बोलते हैं वह कुछ सच, कुछ झूठ होता है। किन्तु जहाँ शुद्ध ज्ञान है, और उस दिशामें पूरा-पूरा प्रयत्न है अर्थात् जहाँ साधक धनुर्धारी होकर बैठा हुआ है, वहाँ तो नीतिसे स्खलन कदापि नहीं होता।

हम गीतापाठको बन्द नहीं करेंगे। इसका पारायण चलता ही रहेगा। [प्रार्थनामें] नित्य थोड़े-बहुत श्लोक पढ़े जाते रहेंगे और यदि आवश्यकता हुई तो थोड़ा-बहुत विवेचन भी होता रहेगा।

यह एक ऐसी पुस्तक है जिसे सभी धर्मावलम्बी पढ़ सकते हैं। इसमें कोई भी साम्प्रदायिक आग्रह नहीं है। इसमें शुद्ध नीतिके अतिरिक्त किसी अन्य बातका निरूपण नहीं है।

उपसंहार

[१]

गुरुवार, ४ नवम्बर, १९२६

'गीताजी'के अभ्यासका तात्पर्य यह है कि हम प्रार्थना करे, अध्ययन करें और कर्त्तव्यको समझकर उसका पालन करें। कोई भी पुस्तक अधिकसे-अधिक इतनी ही सहायता पहुँचा सकती है। वैसे किसी पुस्तक और उसकी व्याख्यासे और हो भी क्या सकता है? अन्तमें तो जितना होना होता है उतना ही होता है। हमारे हाथमें तो केवल पुरुषार्थ ही है। हमें तो सिर्फ प्रयत्न करना है। मनुष्य-मात्र और दूसरे प्राणी भी प्रयत्न करते हैं। अन्तर इतना ही है कि हमारे प्रयत्न हमारी समझमें ज्ञानपूर्वक होते हैं। किन्तु आखिरकार प्रयत्नका उद्देश्य क्या है? इस देहको टिकाना अथवा देहको धारण करनेवालेको जानना? यदि देहकी उन्नति भी करनी योग्य हो तो उसमें उद्देश्य, उसीकी उन्नति अथवा विकास है या नहीं? पहली बात तो यह है कि कर्म तो हमें विवश होकर करने ही पड़ते हैं। हमारी शरीर-रचना ही ऐसी है कि विवश रूपसे कर्म होता ही रहता है। उदाहरणके लिए जब बालक माताके गर्भमें होता है तब भी वह कुछ-न-कुछ चेष्टा करता ही रहता है। उस मूर्च्छित अवस्थामें भी उसकी साँस चलती रहती है। यह भी प्रयत्न तो है ही। किन्तु यह प्रयत्न पुरुषार्थ नहीं कहलाता। पुरुषार्थ तो केवल आत्माके विषयमें किया गया कर्म ही कहा जा सकता है। इसे तो परम पुरुषार्थ कहा गया है; शेष सब निरर्थक है। इस तरहके पुरुषार्थके लिए शास्त्रका वाचन, मनन और निदिध्यासन एक साधन है। हमारा अभ्यास सुन्दर हो इस दृष्टिसे उच्चार, और ध्वनिका ध्यान रखकर पुनरावर्तन करते रहना आवश्यक है। गीतापाठके आसपासका सारा वातावरण पवित्र बनाये रखना आवश्यक है। जब हम 'गीता' घोलकर पी जायेंगे तब फिर व्याकरण और उच्चारण इत्यादिकी चिन्ता करना आवश्यक नहीं बच रहेगा।

हमें प्रयत्न तो परम पुरुषार्थके लिए ही करना चाहिए। उसके लिए साधनोंकी खोज आवश्यक है। हम 'गीता'की स्तुति करते हैं, इसका सम्मान करते हैं। यह निस्सन्देह हमारी रक्षा करेगी। यह मानसिक देवता है। इसका नित्य वाचन और पारायण तो होना ही चाहिए।

हम 'गीता'से क्या सार निकालें। मैं आज आपके सामने केवल एक ही विचार रखूँगा। 'गीता' कर्म-प्रधान हो, ऐसा नहीं है। ज्ञान-प्रधान हो, यह भी नहीं है और भक्ति-प्रधान हो सो भी नहीं है। यह सभी-कुछ इसमें है। जैसे वायुमें सबसे उपयोगी तत्त्व है ऑक्सीजन; किन्तु केवल उसीसे काम नहीं चलता, अन्य तत्त्व भी उतने ही जरूरी हैं। इसी प्रकार 'गीताजी' में भी जो-जो वस्तुएँ आई हैं वे सब आवश्यक हैं। कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों जरूरी हैं और अपने-अपने स्थानोंपर ये सभी चीजें प्रधान भी हो जाती हैं। भक्तिके बिना कर्म नहीं फलता और इसी तरह ज्ञानके बिना भक्ति[२] निष्फल जाती है। इसलिए कहीं-कहीं भक्ति अथवा ज्ञानको कर्मका साधन बताया गया है। तथापि इसमें ऐसा भी इंगित किया गया है कि इन तीनों वस्तुओं-के बिना भी काम [नहीं][१] चल सकता है। ज्ञान सरलताके साथ समझमें नही आता, भक्ति[२] करना भी आसान नहीं है, किन्तु हम इन दोनोंकी अपेक्षा कर्मको अधिक सरलतासे समझ सकते हैं। मूर्तिका शृंगार करना, राम-नाम जपना ये सब कर्म हैं; प्रवृत्ति-मात्र कर्म है, कर्मका अर्थ है देह। कोई भी विचार जब देह-धारण करता है, कोई आकार लेता है, तो वह कर्म हो जाता है। देह दृश्य पदार्थ है। जिस हदतक देहको देखा जा सकता है, उसी अंशतक कर्मको देखा जा सकता है। अर्थात् कर्मके बिना हम चल ही नहीं सकते। इसलिए कहा जा सकता है कि 'गीताजी' में कर्मपर जोर दिया गया है। किन्तु यह भक्ति और ज्ञानके बिना पंगु है। मान लीजिए कि हम नौकामें बैठ गये। किन्तु इसे गति कौन देगा? इसे चलायेगा कौन? हम नौकाको देखकर प्रसन्न हो जाते हैं और श्रद्धाके साथ उसमें बैठ जाते हैं। इसी तरह कर्म भी आवश्यक है किन्तु हम अपनी मंजिलतक तभी पहुँचेंगे जब कोई समझदार चलानेवाला उसे चलायेगा। कर्म-संन्यासकी बात निरर्थक है। कर्म तो संन्यासीका भी नहीं छूटता। किन्तु यह बात बादमें आती है।

'गीता' का कर्म जोर-जबरदस्तीसे किया गया कर्म नहीं है। उसकी पृष्ठभूमिमें कुछ-न-कुछ ज्ञान तो होना ही चाहिए।

[२]

शुक्रवार, (दिवाली) ५ नवम्बर, १९२६

अहिंसाके मार्गपर चलते-चलते हमें चरखा मिला, ब्रह्मचर्य मिला। नदी [साबर-मती]के उस पारकी भूमि भोगभूमि है और [इस पारकी] यह भूमि कर्म-भूमि है। हमें यहाँ त्यागके धर्मका पालन करना है। जिस त्यागमें आनन्दका अनुभव न हो, वह त्याग त्याग ही नहीं है। हम आनन्दके बिना जीवित नहीं रह सकते। दिवाली साबरमतीके उस पार जिस ढंगसे मनाई जाती है, हमारा उससे कुछ अलग ढंगसे उसे मनाना शोभा देता है। आजके दिन हमें अपने कामका सिंहावलोकन करना चाहिए। हमारा हिसाब-किताब हमारे हृदयमें लिखा हुआ है। हमपर जो ऋण है उसे

१. साधन-सूत्रमें 'नहीं' छूट गया जान पड़ता है।

२. साधन-सूत्रमें 'ज्ञान' है, स्पष्ट ही 'भक्ति' होना चाहिए।

हमें पूरी तरह चुका देना चाहिए। हरएक व्यापारी अपने खातेमें सवा रुपया तो जमा करता ही है। यह सवा रुपया कोई-न-कोई शुभ निश्चय करके जमा कर सकना चाहिए। 'गीताजी' को यदि नियमानुकूल पढ़ा हो तो कर्त्तव्य समझमें आ जाता है।

'गीताजी' में कहा गया कर्म इच्छापूर्वक किया गया कर्म है। कर्म एक ऐसी वस्तु है जिसके बिना व्यक्ति क्षण-भर भी जी नहीं सकता। इसलिए कर्मकी एक अन्य व्याख्या भी है। कर्म देह है। जबतक देह है और जीव उससे सम्बन्धित है, तबतक वह प्रवृत्तिमय है। कर्मका अर्थ हिंसा भी है। इसलिए कर्म-मात्रमें से अर्थात् देह-मात्रमें से निकल जाना ही मोक्ष हुआ। इस हिंसामय जगत्में से देहातीत अवस्था प्राप्त करनी है। कर्ममय इस जगत्में से अकर्ममय होना है। 'गीताजी' ने यह बताया है। इसपर फिर विचार करेंगे।

[२]

शनिवार, ६ नवम्बर, १९२६

(कार्तिक सुदी १)

आँख बन्द करके मुँहसे बोलते चले जायें, तो उसमें चित्तको जो शान्ति और आनन्द मिलता है वह अधिक है; उसीको पुस्तकसे पढ़कर सुना जानेमें अपेक्षाकृत कम आनन्द है।

आज परिवा (वर्षका पहला दिन) है। आप लोग जो-कुछ भी शुभ निश्चय करके आये हों, वह फले। जिसने कोई भी निश्चय न किया हो वह इतना निश्चय करे कि उसे सच्चा तो रहना ही है। सच्चे न रहें तो जितनी चमक-दमक बनाई होगी, वह ऊपरी ही रहेगी; ऊपर-ऊपर मुलम्मा और भीतर कुधातु। कोई भी वस्तु सत्यके बिना शोभित नहीं हो सकती। इसलिए सबको यह निश्चय कर लेना है कि हम जैसे होंगे वैसा ही अपनेको प्रकट करेंगे, अपनेको जैसाका तैसा प्रकट करनेमें जो आनन्द है, वह शृंगार करनेमें, रूप दिखानेमें नहीं है। तिरछी टोपी अथवा अमुक रीतिसे साड़ी पहनने अथवा केश सँवारनेमें असत्य है। जो मनुष्य तरह-तरहके वेश करता है, और जैसा नहीं है वैसा दिखनेकी इच्छा करता है, वह व्यक्ति मिथ्याका पाठ पढ़ना शुरू कर देता है। हम महल तो सचकी नींवपर ही उठा सकेंगे।

तीसरा अध्याय विशेष विचार करने योग्य है। हमने कल देखा कि कर्म अर्थात् देह, और कर्म अर्थात् हिंसा। मैंने कहा था कि इस बातको कल और गहराईसे सोचेंगे। इस अध्यायमें कहा गया है कि यज्ञ करना चाहिए। परमार्थके लिए किया गया काम यज्ञ है, किन्तु आगे यह बताया गया कि कर्म-मात्र सदोष है। क्योंकि कर्म-मात्रमें थोड़ी-बहुत हिंसा रहती ही है। किन्तु यज्ञके अर्थ की गई हिंसा हिंसा नहीं है। यज्ञका अर्थ वह यज्ञ नहीं जिसमें पशुओंकी बलि दी जाती है। किसी समय इसे यज्ञ मानते थे, किन्तु आज ज्यादातर लोग यही मानते हैं कि वह यज्ञ नहीं है। किन्तु कर्म-मात्रमें हिंसा है इसलिए मैंने हिंसाके दो विभाग किये। जहाँ दुःख देनेका इरादा है, वह हिंसा है और यदि दुःख देनेका इरादा नहीं है तो वह केवल वध करनेकी क्रिया है। जीवहत्या

तो श्वासोच्छ्वासमें भी होती रहती है। यह अनिवार्य हिंसा है, इसलिए क्षंतव्य है। इस अनिवार्य हिंसाके बिना शरीर-यात्रा नहीं चलती। होमियोपैथीका सिद्धान्त है कि रोग जिस कारणसे हुआ हो उस कारणके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपको औषधिकी तरह लें। इस तरह यदि इस हिंसामय जगत्को अहिंसामय होना है तो हम जैसे-जैसे अधिक अहिंसामय होते जायेंगे, वैसे-वैसे प्रगति होगी। किन्तु यदि हम हिंसाको हिंसासे मिटाना चाहें, तो परिणाम विपरीत आयेगा। अकर्मका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति कर्म और हिंसाकी मात्राको कम करता चला जाये। प्रवृत्तियोंकी तलाश करता न फिरे तो वह विचार-मात्रसे कर्म कर सकने योग्य स्थितिमें आ जायेगा। कर्मके अंशके बिना न [शुद्ध] भक्ति सम्भव है, न [शुद्ध] ज्ञान। हम इसपर कल विचार करेंगे।

[४]

रविवार, ७ नवम्बर, १९२६

कर्म-मात्र हिंसा है, इसलिए हमारा आदर्श तो यह है कि हम कर्म-मात्रमें से अर्थात् संसारमें से छूट जायें। संसारमें से छूट जायें इसका यह अर्थ नहीं है कि हम संसारके लोपकी इच्छा करें या चाहें कि प्रलय हो जाये। यदि व्यक्ति स्वयं स्वेच्छासे केवल अपनी ही हलचलको समेटकर घर बैठ जाये तो वह घर ही उसके लिए वैकुंठ हो जायेगा। वह ऐसा समझ ले कि नाम-रूपवाला संसार क्षणिक है और क्षणिकमें लीन रहनेसे क्या? किन्तु ऐसा हो नहीं पाता। जोर-जबरदस्तीसे संसारका लोप नहीं हो सकता और न सारे संसारको इस तरह मोक्ष दिया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्तिको अपना-अपना मोक्ष प्राप्त करना है। यह किस प्रकार सम्भव हो? आत्म-हत्याके द्वारा? तब तो देह उससे चिपका ही रहेगा। इस तरह मोक्ष पाना प्रकृतिके विरुद्ध है। संसार अथवा देहका त्याग तो मानसिक ही करना है। यदि कर्म-मात्र हिंसामय और दोषमय है, तो हमारे द्वारा कर्मका मानसिक त्याग किया जा सकना चाहिए? तब क्या मानसिक त्याग करके हम चाहें जो काम कर सकते हैं? नहीं। हम अपने मनके द्वारा अनेक वस्तुओंकी इच्छा करते रहते हैं। सर्वथा मानसिक त्याग कर देनेपर असंख्य कर्म अपने-आप समाप्त हो जायेंगे। तब हम इस संसारका वैसा उपयोग कर सकेंगे जैसा किसी निःसत्व वस्तुका किया जा सकता है। 'जली डोरी-जैसी आकृति-मात्र'[1] मानकर; किन्तु जली डोरी भी थोड़ी-बहुत जगह तो लेगी ही। धूलके कण होकर उड़ जानेपर भी वह हवामें कहीं-न-कहीं तो रहेगी ही। आकृति समाप्त हो जाये और कण भी विलीन हो जायें तो हम कहेंगे कि सब-कुछ चला गया। समुद्र न घटता है, न बढ़ता है, इसी तरह ईश्वर भी। रजकण अपने स्वभावके अनुसार ईश्वरमें मिल गये। मानसिक त्याग कर दिया, तो सारे काम शून्य हो जाते हैं। फिर कर्त्तव्य क्या है, उसका विचार ही कर्त्ताके मनमें नहीं रहता। वह तो जो-कुछ करता है, किसीके इशारेपर करता है। मानसिक त्यागके बाद भी जो

१. बली सिन्दरीवत् मात्र रहे देह जो।

कर्म वच जायेगा वह स्वयं उसे नहीं करेगा, ईश्वर करेगा। यदि मैं श्वासोच्छ्वासके लिए भी उत्तरदायी नही हूँ, तो फिर जो कर्म मैं दूसरेकी इच्छासे कर रहा हूँ, उसे स्वयं नही कर रहा हूँ। ऐसा कर्त्ता अहिंसक है। इससे अधिक अहिंसक देहरूपमें रहते हुए हम इस संसारमें ही नही हो सकते। इसलिए तीसरे अध्यायमें हमने देखा कि जो कर्म यज्ञार्थ किया जाता है, वह वन्धनकारक नहीं होता। यज्ञार्थ किया गया कर्म अर्थात् परमार्थ किया गया कर्म। हम परमार्थ कर्म करें अर्थात् अपनेको ईश्वरकी सेनामें भरती करा दें। अपना तन, मन, धन, सव-कुछ उसको अर्पित कर दें। मैंने वैलेस नामके एक प्रोटेस्टेंटकी पुस्तक पढ़ी। वैलेसने यह अनुभव किया था कि लोगोंको ईसाई बनानेसे कोई लाभ नही होगा। इसलिए उसने भारतीयोंके साथ घुल-मिलकर रहना तय किया। उसे हिन्दुस्तानके धर्मोंके प्रति प्रेम हो गया, किन्तु वह ईसाको नही भूल पाया। वादमें उसने रोमन-कैथोलिक धर्मकी वात सोची और उसके मनमें यह विचार आया कि मै स्वयं कुछ नहीं हूँ, सव-कुछ चर्च ही है। अर्थात् उसने पार्थिवेश्वर चिन्तामणिका निर्माण किया, अपने मनकी एक मूर्ति बना ली और निश्चित किया कि इसीके वशमें रहना चाहिए। गुरु-परम्परामें उसने सारे समाजको मान लिया। मुझे यह कल्पना ठीक लगी है। यदि पोप विषयी हो तो समाजमें विकृति पैदा हो ही जाती है। किन्तु यदि अनुयायी व्यक्ति ऐसा निश्चय कर ले कि मुझे स्वयं तो कुछ भी नही करना है, जो-कुछ पोप कहेगा वही करना है तो अनुयायीका तो भला ही होगा। प्रोटेस्टेंट कहता है कि जो अन्तरात्मा कहे वैसा करना चाहिए। इसने अन्तरात्माको बाहर स्थापित करके अपनेको पोपके हाथमें सौंप दिया। अन्तरात्माको भी छोड़ देना एक बड़ा खयाल है। एक कथा कही गई है[1] कि किसी साधकको किसी हिन्दू [गुरु] ने बताया कि रामका नाम लेना अच्छा और मुसलमानने बताया कि खुदाका नाम लिया कर। वह एक बार रामका नाम लेता था और दूसरी बार खुदाका। उसने एक बार रामका नाम लेनेवालेको तरते हुए भी देखा। इसलिए वह [दुगुने लाभकी आशासे] खुदाराम कहने लगा। किन्तु अवसर आनेपर वह पानीमें डूबने लगा। तब ईश्वरने कहा: 'हे भाई, मैं तो खुदा भी हूँ और राम भी हूँ।' इस साधकको अनन्यभक्त बनना था। जो तन, मनसे किसीको पूजता है, वह अन्तरात्माको ही पूजता है। भगवानके वश होकर चलनेमें ही, शून्यवत् होकर रहनेमें ही सब-कुछ सरल हो जाता है। ऐसा व्यक्ति सव कर्मोका त्याग कर चुका है। एक भक्त स्त्री [अनन्य भावसे] देवालयमें जाती है, दूसरी महिलाएँ जो वहाँ जाती हैं भटकी हुई हैं। किन्तु जो अनन्यभावसे जाती है, वह तर जाती है। रामनामका मन्त्र देनेवाला नहीं तरा, किन्तु जिसने श्रद्धापूर्वक रामका नाम लिया, वह शिष्य तर गया। उक्त स्त्री दूसरोंके भटके हुए पनका दर्शन नही करती, वह तो प्रभुका ही दर्शन करती है। वह अकेली तर गई, दूसरी डूब गई। इसी तरह जो आदमी सारे कर्मोका मानसिक त्याग कर देता है, उसके लिए कर्म शेष नहीं रहता। जो काम शेष रह जाये, उसको वह दूसरेके इशारेपर करता है, इसलिए उसके लिए

१. यहाँ साधन-सूत्रमें वाक्य स्पष्ट नहीं है।

उत्तरदायी नहीं। वह खाता है, सो विवश होकर। श्वास लेनेकी क्रिया भी विवश होकर करता है। कर्म-मात्रका मानसिक त्याग करते ही कितनी बड़ी व्यवस्था अपने-आप हो जाती है। हिंसा और अहिंसा अथवा बन्धन और मोक्ष क्या है, इसका कल विचार करेंगे।

[५]

मंगलवार, ९ नवम्बर, १९२६

व्यक्ति अकर्मी तो तभी हो सकता है, जब वह देहको बिलकुल छोड़ दे। देहकी वासना भी छोड़नी पड़ती है। यह वासना न जाये, तो देहपातके बाद भी अनेक योनियोंमें से गुजरना पड़ेगा। देहकी वासनाका अर्थ है देहाध्यास। संसार सागर है। हम इसमें गोता खाते ही रहेंगे। इसमें से हमें यह सूक्ष्म ज्ञान हो जाना चाहिए कि सुख सुख नहीं है बल्कि सुखका आभास है और दुःख भी दुःख नहीं है बल्कि दुःखका आभास है। यदि व्यक्तिने मानसिक त्याग कर दिया हो, तो इसमें अहंता, ममता, नहीं बचती। इसलिए यज्ञार्थ और परोपकारार्थ कर्म करनेकी बात कही गई है; यज्ञार्थ किया गया कर्म अहिंसा है, किन्तु पारमार्थिक कर्म करनेके लिए दो बातें होनी चाहिए। एक तो यह मानसिक वृत्ति कि इसमें मेरा कोई स्वार्थ नहीं है और दूसरे वास्तविक रूपसे उसके द्वारा कोई स्वार्थ साधन न करना, बल्कि जगत्का भला और परोपकार करना। यदि इन दोनों शर्तोंका पालन हो जाये तो भयंकरसे भयंकर काम भी अहिंसा है, ऐसा हम कह सकते हैं। हम तो हिंसापर अहिंसाका आरोपण ही कर सकते हैं, किन्तु यह तभी होगा जब हमारा काम परोपकारार्थ किया गया हो। यदि कोई व्यक्ति खाने-पीने इत्यादिकी बातमें भी तटस्थताके साथ उन्हें करनेका दावा करता हो तो वह रागमुक्त हो जाता है। जबतक हम देहके प्रति आसक्त हैं, तबतक वासना है। हम किसी धागेको तटस्थतापूर्वक पकड़कर नहीं रख सकते। स्वेच्छा तो उसमें होती है। साधकने अपना मन [फलकी ओरसे] अधिकसे-अधिक विलग कर लिया हो, तो वह देहातीत अथवा विदेहकी स्थितिको प्राप्त हो जाता है। किन्तु मैं तो हिंसा और अहिंसा, देह और देहातीतकी चर्चा कर रहा हूँ। यदि देह मिथ्या है, तो उसका उपयोग परोपकारके लिए करो, उसे खुदाकी इबादतके लिए काममें लाओ। जिन लोगोंने ऐसा कहा है वे अन्धे नहीं थे, वे अनुभव कर चुके थे; किन्तु हम इसे समझ नहीं सके। देहाध्यासको छोड़ना एक बड़ी कठिन बात है। कोई कह सकता है कि इतनी कठिन बात तुम बच्चोंको किसलिए समझाते हो? मैं कहता हूँ कि यह बात बचपनमें ही समझी जा सकती है, दाँत गिर जानेके बाद नहीं। जवानी और बुढ़ापेमें कोई अन्तर नहीं है, ऐसा एक इतिहासकारने कहा है। जवानीमें भोग करनेकी इच्छा और शक्ति होती है। बुढ़ापेमें शक्ति नहीं होती इसलिए भोगनेकी इच्छा और बढ़ जाती है। जैसा मैनावतीने गोपीचन्दको समझाया यदि बच्चोंको वैसा न समझाया जाये तो परिणाम दुःखदायक होगा। मैं तो यहाँतक कहता हूँ कि बूढ़े जवानोंके मुकाबलेमें बिलकुल बेकाम हैं। मैं एक राजाके बारेमें जानता हूँ जो घिरा

तो रहता है हकीमों और याकूती आदि दवाइयोंसे, किन्तु बातें करता है वेदान्तकी। इस तरह देखें तो बालक और बूढ़े सभी समान हैं। इन श्लोकोंसे अर्थात् ओंकारसे लगाकर पुस्तकके अन्ततक में से कोई एकाध बात भी आचरणमें उतार ले तो उसे शान्ति प्राप्त हो जाये। जो काम परोपकारके लिए किया जाना है वह तो हमारे सामने पड़ा हुआ ही है। इस तरहके प्राप्त कर्मके बाद अन्य असंख्य कर्म बच ही नही रहते। जबतक देह है तबतक हलमें जुते हुए बैलकी तरह यदि हम प्राप्त कर्मके जुएको अपने ऊपर रखे रहेंगे तो हमारा भटकना कमसे-कम हो जायेगा और इस भटकनेकी तीव्रता बहुत कम भी हो जायेगी। इस तरह अकर्मी होते हुए जो काम किया जायेगा वह परिणाममें कितना अधिक होगा उसकी तो कुछ बात ही मत पूछो। जगत्में अनेक प्रवृत्तियाँ और कर्मोंके होते हुए भी हमें सोच-विचारकर अपना कोई काम खोज लेना चाहिए; अथवा वह काम स्वयं ही हमें खोज निकालेगा। जिसे सेवा करनी है, सेवाका क्षेत्र तो उसे प्राप्त है ही। सारी बातें कहनेके बाद अन्तमें अठारहवें अध्यायमें यह कहा गया कि तू मेरी शरणमें आ और तू यही काम कर। किन्तु मेरी आज्ञाको मानकर कर। तेरे पास जो-कुछ है, वह सबका-सब मुझे अर्पण कर और यह काम कर। किन्तु यह कैसे हो सकता है, सो हम बादमें देखेंगे।

[६]

बुधवार, १० नवम्बर, १९२६

आज हम सिंहावलोकन करेंगे किन्तु सिंहावलोकन करते हुए मैं क्या कहूँ, यह कुछ समझमें नही आया। बिलकुल आखिरी अठारहवें अध्यायमें पहुँचकर व्यासने सोचा कि मैंने अर्जुनको क्या बताया। ज्ञान अथवा अज्ञान। शुद्ध भक्ति अथवा कोई और वस्तु। इसलिए उस सबकी जगह वह कृष्णसे 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणम् व्रज' कहलाते हैं। अर्जुनसे भी बादमें व्यासने यह कहलवाया है कि मैं सब-कुछ भूल गया हूँ, इसीलिए मुझे फिरसे बताओ। भगवान कहते है कि यह मुझे हमेशा याद रहता हो, सो भी नहीं है। फिर भी मैं तुझे कुछ और बतलाता हूँ, ऐसा कहकर मानो दूसरी गीता[1] ही सुना दी; किन्तु उस 'गीता'की किसीको याद नही आती।

स्वामी[2]. . .२७ वर्षसे भटक रहे हैं, किन्तु अभीतक उन्हें कुछ मिल नहीं पाया है। अब अन्ततोगत्वा वे. . .[3]पंथके व्यक्तियोंके बीचमें पड़े हुए हैं। मैं जो-कुछ कह रहा हूँ, इसे सुनकर निराशा हो सकती है, किन्तु है यह सच। व्यक्ति भगवानकी शरणमें किस तरह जा पाता होगा और हम किस तरह जायें?. . .[4]ने कहा, मुझे कुछ तो दो, मैं क्या लेकर जाऊँ। मैं देखते रह गया और फिर मैंने कहा रामनाम लो। किन्तु मैंने उसे क्या दिया और उसने क्या लिया? इस तरह कुछ नही होता। कितने ही वर्षोंसे यह बात कही जा रही है, किन्तु कितने थोड़े लोग हैं जो इस तरह भगवानकी शरणमें जाते हैं। ईश्वरकी ही शरणमें जाओ यह बात कुछ 'गीताजी'

१. महाभारत, अश्वमेध पर्व।
२, ३, ४. साधन-सूत्रमें नाम नहीं दिये गये हैं।

में ही नही कही गई है। तब फिर हमारी चंचलता समाप्त कैसे हो? इसकी खोज बाहर नहीं, भीतर ही की जानी चाहिए। बाहर खोजें तो कैसे खोजें? जो ईश्वर बाहर नहीं है बल्कि अन्तरमें है तो हम अन्तरमें प्रवेश कैसे करें? द्वारपर जो मोटा पत्थर रखा हुआ है, उसे किस तरह तोड़ें? परमात्माकी खोज करनेका अर्थ है, अपने अन्तरमें प्रवेश करना। यह प्रवेश प्रवृत्ति-मात्रके त्यागसे हो सकता है। किन्तु सारी प्रवृत्तियाँ तो छोड़ी नही जा सकतीं इसलिए हम कमसे-कम प्रवृत्तियोंमें पड़ें; तुच्छसे-तुच्छ बनें। ईश्वरको प्राप्त करनेका काम संसार जितना कठिन समझता है उतना कठिन नहीं है। बस, हमें इतना ही करना है कि तुच्छ बनकर चौबीसों घंटे आत्माके काममें लग जायें। इसमें स्वयं हम आड़े आते हैं। इस बाधाको दूर करनेके लिए क्या करें? योगदर्शनमें सबसे पहले यही बात बताई गई है। मैं सोच रहा हूँ कि हम बच्चोंको क्या तालीम दें। बच्चोंको यही तालीम दी जानी चाहिए। हमें इतना ही करना है कि हम उनके पाससे यह तालीम छीन न लें। हम अपनेको गरीबोंके साथ एक कर देना चाहते हैं। हमारी आजकी शिक्षासे तो गरीबोंके बाल-बच्चोंको कुछ भी नही मिलता। वे जन्मसे खेतोंमें काम करते हैं। जहाँ-जहाँ किसान लोग व्यवस्थित ढंगसे काम करते हैं, वहाँ-वहाँ उनके बाल-बच्चे शुरूसे ही इस कामको करते हुए दिखाई देते हैं। हम लोग जिस तरहका विचार कर रहे हैं, वैसा विचार करनेवाले लोग बहुत थोड़े हैं। ईश्वर-प्राप्तिका रास्ता अर्थात् स्वराज्य-प्राप्तिका रास्ता भी छोटेसे-छोटा काम हाथमें लेना है अर्थात् हमें विद्यार्थियोंके सामने अपने-आपको हम जैसे हैं, उसी रूपमें रखना चाहिए। यदि हम इसमें अपने सहज भावसे ढल जायें तो विद्यार्थी भी इसे देखेंगे और समझेंगे। मैंने वैलेसका उल्लेख किया था। अन्तमें वह कहता है कि अभी मैंने अपनी तर्क-बुद्धिका समर्पण कहाँ किया है। तर्कको कायम रखना तो प्रोटेस्टेंट बने रहना है। किन्तु [वास्तवमें] वह बुद्धिको बेचकर, विचारको बेचकर और अपना सब-कुछ समर्पित करके नमकके ढेले की तरह सागरमें मिल गया। यही बुद्धिका निर्वाण है। नमकके ढेलेको स्मरण ही नही रहता कि मैं एक दिन अल्प था और आज सागर हो गया हूँ। इसलिए हमें अपनी तुच्छताका अनुभव करना चाहिए। छोटेसे-छोटा काम हाथमें लेना चाहिए और उसे करते हुए सब-कुछ छोड़ देना चाहिए। परिपूर्ण वैराग्यका सेवन करना चाहिए।

जबरदस्त भाग-दौड़से कुछ नहीं हो पाता। 'गीताजी' ने सर्वधर्मोंके परित्यागकी बात कही। उसका अर्थ है कि कोई अत्यल्प, छोटीसे-छोटी प्रवृत्ति हाथमें लें और तुच्छताका अनुभव करें। तुझे तो जगत्का दास बनकर रहना है, इससे आगे जाना तेरी शक्तिके बाहर है।

[७]

शुक्रवार, १२ नवम्बर, १९२६

क्या यज्ञार्थ की गई सन्तानोत्पत्ति ब्रह्मचर्यमें आ सकती है? आ सकती है। किन्तु इसमें सन्तानोत्पत्ति मुख्य और यज्ञ गौण होता है। जिस तरह यज्ञार्थ की हुई

हिंसाके[1] बिना जगत् नहीं चल सकता, सन्तानोत्पत्तिके विषयमें वैसा नही कहा जा सकता। फिर भी स्मृतिमें जो यह कहा गया है कि गृहस्थाश्रममें भी ब्रह्मचर्यका पालन हो सकता है, उसका अर्थ संकुचित ही है। और हमने यहाँ उसका व्यापक अर्थ लिया है, संकुचित अर्थ नही।

फिर भी एक दूसरी बात भी कही जा सकती है। यदि नाश करना हिंसा है, तो उत्पत्ति हिंसा है ही। इसलिए सन्तानोत्पत्तिमें हिंसा अवश्य है। जिसका नाश अवश्यम्भावी है, उसकी उत्पत्ति करनेमें हिंसा अवश्य है।

[८]

शनिवार, १३ नवम्बर, १९२६

'महाभारत' अपूर्व ग्रन्थ है और उसमें भी 'गीता' विशेष रूपसे। इसमें स्थूल युद्धके वर्णनके निमित्तसे सूक्ष्म युद्धका दर्शन कराया गया है और बताया गया है कि जो लोग युद्धमें हारे, वे तो हारे ही, जो जीते उन्हें भी हारा ही समझो। पाँच-सात जीवित बचे; वे भी मरे-मरे ही बचे। धृतराष्ट्र बेहाल रहे और कुन्ती भी। पाँच भाइयों और छठवी द्रौपदीका क्या हुआ, सो हम स्वर्गारोहण पर्वमें देखते हैं। वे तिल-तिल करके मरते हैं। युधिष्ठिर भी मंजिलके अन्ततक नही पहुँचते, इसीलिए व्यास कहते है कि अन्तमें धूल-धूल ही रहती है।

इसका यह अर्थ नही है कि प्रयत्न नही करना चाहिए। एक जगह दैव बलवान है, तो दूसरी जगह पुरुषार्थ। पुरुषार्थका अर्थ है प्रयत्न; और परम-पुरुषार्थ है इस द्वन्द्वसे छुटकारा पाना। द्वन्द्वमें तो मुट्ठी-भर धूल ही है। किन्तु इसी धूलका एक-एक कण अमुक स्थितिमें रत्न बन सकता है; यही बताना 'गीताजी' का आशय है। तीन गुण करोड़ों दिशाओंसे तुझे ताक रहे हैं। यदि उनसे प्रति क्षण मिलते हुए भी निर्लेप रहे तो तू जीत सकता है। त्रिगुणात्मक तीर देह और उसके भीतर निवास करने-वाले आत्माके ऊपर बरसते ही रहते हैं, किन्तु यदि आत्मा जाग्रत रहे तो वे चाहे जितने क्यों न बरसे, हमारा कुछ नही बिगाड़ सकते।

जाग्रत-आत्मा बननेकी शर्त क्या है? कौन इस परिस्थितिको समझ सकता है? यही बतानेके लिए अर्जुन-विषादयोग कहा गया है। अर्जुनका अर्थ है जिज्ञासु आत्मा। जबतक बुद्धि आतुर नही होती, तबतक उसमें जिज्ञासा उत्पन्न नही होती। जबतक बुद्धि प्रलोभनोंमें पड़ी हुई है, तबतक 'गीता' का उसके लिए कोई उपयोग नही है। 'गीताजी' का विद्यार्थियोके लिए उपयोग है अथवा नही? जिसमें श्रद्धा है, और जिसकी श्रद्धामें अर्जुन बननेकी व्याकुलता है, उसके लिए 'गीता' उपयोगी है। शिक्षक कहता है कि भारतवर्षका क्षेत्रफल १९०० × १५०० मील है। इसे माननेवाला विद्यार्थी हाथमें गज लेकर नापने नही निकल पड़ेगा। वह तो इसे मान लेता है। इसी तरह भूगोलके सिद्धान्तके अनुसार शिक्षक कहता है कि पृथ्वी गोल है और विद्यार्थी उसे मान लेता

१. साधन-सूत्रमें 'अहिंसा' है। यह भूल ही जान पड़ती है।

है। यदि कोई कहे कि नहीं, पृथ्वी सपाट है तो वह ऐसा कहनेवालेसे उलझ जायेगा। जिसे शिक्षककी इस बातपर विश्वास हो जायेगा, उसे शिक्षककी दूसरी बातपर भी विश्वास हो जायेगा। उक्त विद्यार्थी भूगोल-विद्याके विषयमें जिस तरह विश्वास करेगा, उसी प्रकार धर्मरूपी भूगोल विद्याके विषयमें भी विश्वास करेगा। किन्तु फिर भी अनेक बातोंको लेकर उसकी जिज्ञासा जाग्रत होगी। कुछ वस्तुएँ तो मान ही लेनी पड़ती हैं, जैसे सरल रेखाकी परिभाषा। बादमें यह बात पक्की तरह स्पष्ट भी हो जाती है। विद्यार्थी अवस्था कुछ बातोंको मान लेनेकी अवस्था है। केवल विद्यार्थी ही क्यों, प्रौढ़ व्यक्तियोंको भी बहुत-कुछ मानकर चलना पड़ता है, अन्तमें जो बच रहता है, उसके विषयमें श्रद्धासे काम लिये बिना गति नहीं है। विद्यार्थीकी बुद्धि कोमल होती है। वह बहुत बोझा नहीं उठा सकती। जैसे-जैसे बुद्धि प्रौढ़ होती जाती है, वैसे-वैसे परिप्रश्न और प्रणिपातके द्वारा वह समस्याओंको सुलझाती चली जाती है। किन्तु शर्त यही है कि उसमें जिज्ञासा और आतुरता सदा होनी चाहिए। इसीलिए इसे विषाद योग कहा गया है। विषाद योग अर्थात् विषादके माध्यमसे ईश्वरके साथ जुड़ना। ईश्वरमें लीन होना हो, मोक्ष प्राप्त करना हो, तो हममें विषाद पैदा होना चाहिए। हमें आर्त बनना चाहिए।... ने[1] मुझसे कहा कि क्या उपवासके अन्तमें ईश्वर नहीं मिल सकता। यदि विकार उत्पन्न होते रहते हों, तो क्या शरीरको तड़ा-तड़ मारते रहना ठीक नहीं है? हिन्दुस्तानमें साधुओंकी जमाते हैं। कितने ही कीलोंके ऊपर सो जाते हैं, कितने ही जलती हुई दोपहरीमें धूनी रमाये आरामसे बैठे रहते हैं। जब वे अपनी देहको इस तरह दुःख दे रहे होते हैं, तब उनके मनमें बुरे विचार नहीं आते होंगे। यूरोपमें भी ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं। फकीरोंमें भी ऐसे लोग पाये जाते हैं। संसारमें तपस्या करनेवाले लोग होते चले आये हैं, और यह कोई पागलपन नहीं है। किन्तु मैंने तो अपना नम्र मत ही सामने रखा है कि ऐसा हम न करें। हमें तो मनको कष्ट देना है, मनको सुधारनेके लिए धीरजसे काम लेना है। उपवास आदि चाबुक मारने जैसे हैं। यदि यह निश्चित हो जाता कि उपवाससे मुक्ति मिल सकती है, तो सभी उपवास करने लगते। जगत्‌में जिज्ञासुओंकी संख्या कम नहीं है। बहुत है। जब लोग सांसारिक वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिए अनेक कष्ट भोगते हैं तो अलौकिक लाभके लिए क्या वे गलेमें छुरी खानेतक के लिए तैयार नहीं हो जायेंगे। मैंने कितने ही लोगोंको पैसेके लिए अपने शरीरमें छुरी घोंपते देखा है। जो लोग थोड़े-बहुत पैसेके लिए ऐसा कर सकते हैं, वे राजसिंहासनके लिए क्या नहीं कर सकते? किन्तु शरीरको ऐसा कष्ट देना सरल नहीं है। हमारे पास मध्यम मार्ग भी है; और वही ग्रहण करने योग्य है। तथापि ...की[2] बातमें एक तथ्य तो है ही। इस दिशामें उत्साह चाहिए। जिस तरहका उत्साह कामी-जनोंमें होता है, वैसा उत्साह वैसी आसक्ति मोक्षके विषयमें चाहिए। जगत्‌के प्रति आसक्ति न रखकर इस विषयमें आसक्त होना चाहिए। अर्जुन बननेकी पहली शर्त तो यही है कि व्यक्तिके मनमें विषाद उत्पन्न होना चाहिए। व्यक्ति 'स्व' और 'पर'

१, २. साधन-सूत्रमें नाम नहीं दिये गये हैं।

का भेद करने बैठ जाता है। शंका, मारने और न मारनेके विषयमें नही है। न मारना उचित है यह तो सभी जानते हैं। शाश्वत धर्म मारना तो हो ही नही सकता। अर्जुन स्वतन्त्र रूपसे इस धर्मका पालन तो कर ही नही सकता; प्रश्न इतना ही है कि द्रोण और भीष्मके ऊपर वह तीर किस तरह छोड़े। इस तरह अर्जुन स्वजन और परजनका झूठा भेद लेकर बैठ गया। अर्जुन एक प्रौढ़ व्यक्ति है। अज्ञान की स्थिति में उसे समाधान नही है। वह कृष्णपर मुग्ध है और आतुर होकर कहता है कि तुम मुझे इसका निराकरण बताओ। जबतक कोई व्यक्ति इतना असहाय न हो जाये, उसे सच्ची सहायता नही मिलती। जबतक रोगकी परिस्थिति इतनी खराब नहीं हो जाती, हम परम औषधिके लिए आतुर नही होते। इसे प्रसूतिकी वेदना समझिए। नया जन्म प्राप्त करते समय वेदनाका जो आक्रमण होता है, वही अर्जुनपर हुआ है। वैसा ही हम सबपर हो और यदि हम सब वैसी वेदनाका अनुभव करने लगें, तो तर जायें।

[९][1]

दूसरे अध्यायमें हम यह देखते हैं कि जिज्ञासुको व्याकुलता होनी चाहिए। व्यक्तिको ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब शरीर क्षीण हो जाता है और लगता है कि अब गये, तब गये। गजेन्द्र-मोक्षसे भी यही ध्वनि निकलती है। द्रौपदी आदिके आख्यानमें भी हम यही देखते हैं। व्यक्तिको इसीके बाद ज्ञान मिलता है और उसकी बुद्धि संस्कारवान् बनती है। जब भक्तराजने देखा कि चारों ओर आग जल रही है तब वह अपनी स्त्री और बच्चोंकी चिन्ता किये बिना भागा। जब ऐसा हो तब कहा जा सकता है कि बुद्धि संस्कारवान् हो गई। तभी सारे परदे गिरते हैं। हृदय तो अपनी जगह है, किन्तु यदि आत्मापर अज्ञानका परदा पड़ा हुआ है तो कुछ करना सम्भव नही होता। ऐसे प्रश्नपर कृष्ण आत्मा और देहका अन्तर बतलाते हैं। एक तर्क देते हैं तथा समझाते हैं और तबतक समझाते चले जाते हैं जबतक अर्जुन रस-सिक्त नही हो जाता। उसे जो भारी चिन्ता थी, वह देहको लेकर थी। बताया गया कि चिन्ता आत्माके विषयमें होनी चाहिए। श्री कृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। आत्मा न मरता है, न मारता है। देह ही नाशवान है। इसे तू नष्ट ही मान। इसके विषयमें चिन्ता करनेकी कोई बात ही नही है। किन्तु यह तो तर्क हुआ। करना क्या चाहिए? मैं तुझे जो-कुछ बताऊँ, यदि तू उसे करे तो पश्चात्तापको कुछ नहीं बचेगा। स्वल्प करेगा तो भी उससे महान् फल निकलेगा। जितना करते बने, उतना ही पर्याप्त हो जायेगा। तुझे यह समझ लेना चाहिए। जो व्यक्ति निश्चिन्त भावसे काम करता है, उसका क्या वर्णन है। दूसरे अध्यायमें ऐसे स्थितप्रज्ञकी बात इसीलिए कही गई है। इसे सुनकर जिज्ञासु रससिक्त हो उठता है और उसमें अधिक जाननेकी उत्सुकता जागृत हो उठती है। अर्जुनको यहाँतक भक्तिकी सुगन्ध नहीं आई थी। भक्ति तो सब-कुछ भूलनेपर ही उत्पन्न होती है। जब मीराको यह प्रतीति हो गई कि चन्द्र और सूर्यका प्रकाश मिल जानेके बाद जुगनूकी जरूरत नही है, तब वह भक्त बनी। ऐसे भक्तको कर्मकी आवश्यकता यदि बचती ही है, तो अपने लिए

१. इस क्रमसे १८ वें क्रमतक साधन-सूत्रमें तिथि और दिन सूचित नहीं हैं।

नहीं, परमार्थके लिए। जो काम हम करते हैं, भक्त भी सम्भव है हूबहू वही काम करता हो, किन्तु उसमें बुद्धि बिलकुल दूसरी है। उसके बाद भगवान यह बताते हैं कि कर्म किस तरह किया जाना चाहिए और यह बता चुकनेके बाद इसका रहस्य बतलाते हैं। धीरे-धीरे देहभाव क्षीण होता जाता है, आत्मा दिनोंदिन विकसित होती जाती है, जाग्रत् होती है और [व्यक्ति] उसके दिव्य रूपका दर्शन करता है।

[१०]

जब अर्जुन एकदम निर्बल हो जाता है तब उसकी बुद्धि जाग्रत् होती है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि केवल बुद्धिसे काम नहीं चलेगा। योग आवश्यक है, कर्मयोग आवश्यक है। तिलक महाराजने अनेक प्रमाण देकर कर्मयोगकी आवश्यकता सिद्ध की है। मानो बुद्धिको गृहस्थाश्रम स्थापित करनेकी आवश्यकता बताई है। अर्जुनने इन दोनों प्रकारके योगयुक्त पुरुषोंके लक्षण पूछे। तब उसे स्थितप्रज्ञके लक्षण बताये गये और इससे अर्जुन दुविधामें पड़ गया। वह सोचने लगा कि ऐसा व्यक्ति कर्मी हुआ अथवा ज्ञानी। इसलिए कृष्णने तीसरे अध्यायमें कर्मका रहस्य बताया। कर्मके बिना प्राणी रह ही नहीं सकता। मीराबाईने वर माँगा कि हर सांसमें तेरा ही स्मरण होता रहे। हम श्वासको जान-बूझकर नहीं लेते-छोड़ते। वह अपने-आप होता रहता है। जिस तरह स्वस्थ व्यक्ति साँस लेनेकी क्रिया अलिप्त होकर करता रहता है उसी प्रकार [स्थित प्रज्ञ] सभी कर्मोंमें अलिप्त रहता है। कर्म आरोग्यसूचक भी है और अनारोग्य सूचक भी। उदाहरणके लिए जिसे श्वास-रोग होता है उसके साँस लेनेके ढंगसे ही रोग प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार जिसका दम घुट रहा हो, उसके श्वास लेनेके ढंगसे ही उसके कष्टकी सूचना मिलती है। इसी प्रकार हमारे अन्य कर्म भी आरोग्यसूचक अर्थात् प्रयत्नहीन हो सकते हैं। जैसे जनकादिके हो गये थे। जनकादिका उदाहरण देनेके बाद श्रीकृष्णने अपना उदाहरण दिया और कहा कि मुझे भी अपना तन्त्र चलाते ही रहना पड़ता है। मैं तो एक क्षण भी आलस्य नहीं कर सकता। तू तो निद्रा ले सकता है, मैं नहीं ले सकता; तिसपर भी सदा अलिप्तका अलिप्त हूँ। यदि व्यक्ति इस तरह रहने लगे तो उसकी बुद्धि सौ वर्षतक तेजस्वी बनी रहे, बल्कि नित्यप्रति अधिक तेजस्वी होती चली जाये। किन्तु लोग विषयासक्त हैं। यदि विषयोंमें आसक्ति न हो तो अन्तिम अवस्थामें तो ज्ञानकी पराकाष्ठा प्राप्त होनी ही चाहिए। संसारमें हम इससे उलटी बात देखते हैं, किन्तु ऐसा दिखाई पड़ना महत्त्वपूर्ण नहीं है। हम अपूर्ण मनुष्य हैं और अपूर्ण अनुभवके बलपर अपूर्ण सिद्धान्त निश्चित कर लेते हैं। इसलिए मानना चाहिए कि हम जो-कुछ देख रहे हैं उसमें कहीं कोई चूक है। वृक्षके फल तो देखो। वह जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, अधिकाधिक रसवन्त होता जाता है और विकसित होता जाता है। खजूर पककर गिर पड़ा और सूख गया। किन्तु वह इस तरह कितना स्वादिष्ट बन गया। इसी तरह जिस मनुष्यकी बुद्धि ईश्वरके नियमका उल्लंघन नहीं करती, उसका तो विकास ही होता चला जाता है। तथापि हम देखते तो यह हैं कि आदमी क्षीण होता जाता है और नष्ट होता जाता है। यह विषयी व्यक्तिके विषयमें ठीक है।

तीसरा अध्याय साधारण व्यक्तिके लिए मानो रजत्-पात्र है। बड़ा उपयोगी है।

[११][1]

हमने देखा कि कर्मके बिना ईश्वर भी क्षण-भर नही रहता। तब फिर हम मोक्ष कैसे पा सकते है? जवाब दिया गया कि देही देहके कर्म करे। आत्माका उन कर्मोसे कोई सम्बन्ध नही है। लम्पट लोगोने इसका उलटा अर्थ लगाया। किन्तु जो वास्तविक बात है, वह समझी जा सकती है। वह बात यह है कि देहबन्धनका अर्थ ही कर्म है। यदि देह न रहे तो कर्म भी शेप न रहें। ईश्वर देहधारी नही है, उसके लिए कोई कर्म आवश्यक नहीं है। किन्तु देहातीत होते हुए भी ईश्वर कर्म किये बिना नही रहता। अर्थात् उसे देहधारी कहा जा सकता है क्योंकि सारा संसार ही उसका है। यदि हम देहातीत ईश्वरकी कल्पना करे तो वह निराकार है। यदि आत्मा इतना सोच ले कि देह, देहका काम करती रहे, तो स्वयं आत्मा बन्धनसे मुक्त हो जाये। पर कैसे जाना जा सकता है कि अमुक कर्म देहके द्वारा ही हो रहा है? बिना अहंकारके कर्म संभव नहीं है। आत्माहीन देहसे तो कर्म होना असम्भव है। यह एक दूसरी उपाधि हुई और इसका यह अर्थ हुआ कि आत्मा कर्त्ता बन जाता है और इसका अर्थ यह निकला कि अभिमानी आत्मा देहमें स्थित होकर काम करता रहता है। इसलिए तीसरे अध्यायमें प्रश्न किया गया कि ऐसी अवस्थामें क्या किया जाना चाहिए। 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्'; उत्तरमें कहा गया कि जिस काममें अधिकसे-अधिक परोपकार हो, वह काम किया जाये। और यह मानकर किया जाये कि वह अधिकसे-अधिक अलिप्त रहकर किया जा रहा है। जब कर्त्ता होनेका हमारा अभिमान कमसे-कम होगा तब कर्मकी गति सर्वाधिक तीव्र होगी। जो एक मील प्रति घंटेकी स्वाभाविक गतिसे निरन्तर चल रहा है वह साठ मील प्रतिघंटा दौड़नेवाले व्यक्तिकी अपेक्षा अपनी मंजिलपर जल्दी पहुँचेगा, क्योंकि पहला व्यक्ति अपनी आत्माके आनन्दमें चलता चला जायेगा जबकि दूसरा वृत्तिका चंचल और संशयी है; उसका इतना तेज दौड़ना भी ज्यादातर निरर्थक हो जायेगा। यदि हम अभिमानमुक्त होकर काम करते है तो हमारे कामकी गति धीमी भले ही हो, हम उसे परिणामतक निश्चित ही पहुँचा देंगे। यज्ञार्थ और परोपकारार्थ अनन्त कर्म किये जा सकते है। देखना इतना ही चाहिए कि हमारा कर्म देहके स्वार्थको साध रहा है अथवा आत्माके। ऐसा कहना कि व्यक्ति परोपकारके लिए पैदा होता है, एक ही दृष्टिसे सत्य है; क्योंकि अन्ततोगत्वा तो वह अपनी सारी प्रवृत्तियाँ स्वार्थके कारण ही चलाता है। किन्तु यदि यह स्वार्थ आत्मासे सम्बन्धित हो तो उसकी वह प्रवृत्ति परोपकार-प्रवृत्ति ही होगी। उसके सारे कार्य सेवा-धर्मके अंग बन जायेंगे।

इसीलिए भगवानने इस प्रसंगका समारोप करते हुए 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'[2] अर्थात् स्वधर्म चाहे गुणरहित भी हो और दूसरेका धर्म गुणयुक्त हो तो भी दूसरेके धर्मकी अपेक्षा अपना धर्म अच्छा है, ऐसा कहा। अर्जुनको दूसरेके कामने आकर्षित

१. साधना-सूत्र में तारीख नहीं दी गई है।
२. गीता, ३, ३५।

कर लिया था; इसलिए भगवान उससे कहते हैं कि दूसरेका काम चाहे जितना अच्छा क्यों न हो, वह तेरा काम नहीं हो सकता। दूसरेके धर्मका पालन करना सदाचरण हो ही नहीं सकता, क्योंकि हम दूसरेके धर्मका भली-भाँति आचरण कर ही नहीं सकते। अपने ही धर्मका कर सकते हैं। वास्तविकता तो यह है कि अन्ततोगत्वा उसे अपना और दूसरेका, दोनोंके ही धर्मका संन्यास करना है; किन्तु धर्म अथवा कर्म-मात्रसे यह तत्काल तो मिल नहीं सकता। स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होनेके कारण कोई धर्म, स्वधर्म होता है। निरभिमान होकर काम करनेवालेका कर्त्तव्य उसके पास ही पड़ा हुआ है। वह उसे अनायास ही प्राप्त रहता है। अनायास-प्राप्त हमारा यह धर्म ही हम अच्छी तरहसे कर सकते हैं। यदि हमें ऐसा लगे कि हमें पाखाना साफ करनेका जो काम सौंपा गया है, हम तो उसकी अपेक्षा पढ़ानेका काम अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं, तो यह एक मिथ्याभास है। पढ़ानेसे जितना लाभ होनेवाला है, उतना ही पाखाना साफ करनेसे भी होगा। एक दृष्टिसे यह विगुण है। विद्याभ्यासके आगे पाखाना साफ करना क्या चीज है? सागरके सामने गंगा नदीकी भी क्या बिसात है? गंगा अपने वक्षःस्थलपर नौकाएँ ही चला सकती है, जबकि समुद्रकी छातीपर बड़े-बड़े जहाज चल सकते हैं। गंगाका यह धर्म विगुण भले ही हो, किन्तु उसके लिए तो यही स्वधर्म है। 'होने' में विगुण होना और विगुण लगना, ये दोनों अर्थ हैं। किसी एक दृष्टिसे एक काम दूसरे कामसे श्रेष्ठ हो सकता है; किन्तु फिर भी हमारे लिए तो दूसरा, जो हमारा स्वधर्म है, अच्छा होगा।

वर्णाश्रम-धर्मका मूल इसी बातमें है। यद्यपि आज चारों वर्णोंका लोप हो गया है, फिर भी हम उन्हें मानते हैं। भावनामें मानना भी अच्छा है। जो व्यक्ति देहातीत हो गया है उसे भी वर्ण अर्थात् अपने-अपने कार्य-विभाजनको मानना पड़ता है। इसीलिए भगवानने अर्जुनसे कहा कि तेरा काम मारनेका है। 'स्वजन' और 'परजन' का भेद किये बिना तू इस कामको यज्ञार्थ कर। 'विगुण' और 'स्वनुष्ठितात्' ये दोनों ही एक-से सजातीय शब्द हैं।

[१२]

'गीताजी' बड़ेसे-बड़ा मानसिक पाथेय है। चरखा बड़ेसे-बड़ा शारीरिक संबल है। इसीलिए इसे मैंने सामने रखा है। इसे हमें जारी रखना है। प्रार्थनामें जिन श्लोकोंके विषयमें समितिने निश्चय किया, वे श्लोक विगुण हों तो भी उनका पाठ जारी रखना है। हर पन्द्रहवें दिन हम 'गीताजी'के किसी अन्य अध्यायका पाठ शुरू करेंगे। जबतक 'गीताजी' कण्ठस्थ नहीं हुई है, तबतक इसमें कुछ अड़चन मालूम पड़ेगी। वैसी अवस्थामें थोड़ा कष्ट उठाकर 'गीताजी'को खोलकर पढ़ लेंगे। यदि एक भी व्यक्तिने यह करना जारी रखा, तो वह सारे जगत्को श्रोता समझकर 'गीताका' पाठ करता चला जायेगा। जिसे अपना जीवन अहिंसक बना डालनेकी इच्छा है, उसके लिए यही योग्य है। जिसे आध्यात्मिक साम्राज्यका उपभोग करना है, यही उसका कर्त्तव्य है। जिसे अन्य कोई साम्राज्य प्राप्त करना हो, यह उसके लिए आवश्यक नहीं है। इसे हम रोज-रोज अधिकाधिक रसमय करते चले जायें, चेतनमय करते चले जायें।

आज तो यह एक सप्ताह-भरका बालक है। बादमें सूर्य-चन्द्रकी तरह नियमित रूपसे इसका उदय और अस्त होने लगेगा। आप लोग धीरे-धीरे इन श्लोकोंका अर्थ समझने-का प्रयत्न करते चले जायें।

मैंने कहा, 'गीताजी' बड़ेसे-बड़ा ज्ञान-भोजन, ज्ञानामृत है। मेरा यह कहना अवश्य ही साभिप्राय है। कण्ठस्थ तो इसे कोई भी कर सकता है। राक्षस और देवता दोनो ही इसे कण्ठस्थ कर सकते हैं। किन्तु मैंने इसे कण्ठस्थ करनेकी बात इसलिए कही है कि उसके बाद इसका सदुपयोग किया जाये, आडम्बर नही। कण्ठस्थ हो जानेके बाद चौबीसों घंटोंमें से किसी-न-किसी क्षण उसका विद्युत-स्पर्श हुआ करेगा। कोई-न-कोई श्लोक याद आ जायेगा और वह हमारा रक्षण करेगा। यह तो प्राणवायु है। जो व्यक्ति इसे श्रद्धापूर्वक पढता रहेगा, उसके लिए यह कल्पद्रुम है। इसके द्वारा हमारे तीनों प्रकारके तापोंका शमन हो सकता है। यदि हम इस जीवनमें इस फलको प्राप्त न कर सकें, तो इसका यह अर्थ नही कि हम अपनी श्रद्धाको विचलित हो जाने दें। यदि फल न आये तो उसका कारण हमारे प्रयत्नकी कमी होगी, वस्तुकी त्रुटि नही। यदि हम इसी भावनासे 'गीता'का स्वाध्याय करे तो वह ज्ञानामृत है।

[१३]

स्वधर्म किसे कहें? वर्णाश्रमका मूल इसी विचारमें है। वर्णाश्रम केवल हिन्दू-धर्मका एकाधिकार नही है। यह सारी दुनियामें पाया जाता है। यह बात देखते हुए आवश्यक है कि हम स्वधर्मका क्या अर्थ है, इसपर विचार करें। १८ वें अध्यायमें तो कहा गया है कि स्वधर्मका पालन करनेसे संसिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् स्वधर्मका पालन प्राणियोंके प्रति समभाव उत्पन्न कर देता है। इस नश्वर जगत्में पूरा-पूरा सादृश्य तो कहीं देखनेमें नही आता। किसी भी पेड़की दो पत्तियाँ एक-सी नही होती। फिर भी 'गीताजी' सबको समान भावसे देखनेका उपदेश करती है, सो किस तरह, इसे हम कल देखेंगे।

[१४]

गुणहीन स्वधर्म, [गुणयुक्त] परधर्मकी अपेक्षा अच्छा है और सो भी इस हद तक कि उसमें मरना भी श्रेयस्कर है। हमें समझना है कि परधर्म भयावह बन जाता है। एकका काम दूसरेको नहीं करना चाहिए; यदि करेगा तो फल भयानक होगा। मान लीजिए कि किसी देशमें कोई शक्तिशाली मन्त्री है। एस्क्विथ राज्यके सेनापति भी ऊपरके पदपर था; उसका काम था आदेश जारी करना और सेनापतिका काम था, उनपर अमल करना। किन्तु मान लीजिए कि एस्क्विथ अहंकारमें आकर सेनाका नेतृत्व भी करना चाहता तब तो देशका नाश हो जाता। मन्त्रीका पद राजाके बादका पद है। फिर भी यदि वह परधर्म अर्थात् सेनापतिके धर्मका आचरण करना चाहे, तो फल बड़ा भयानक होगा। अब सेनापतिकी बात सोचिए। मान लीजिए कि सेनापति ऐसा सोचने लगे कि मै और ऊँचा चढ जाऊँ, प्रधान बन जाऊँ और किसीको सेनापति बनाकर उसे हुकम देने लगूँ; पर इससे राज्यमें बड़ी उथल-पुथल मच जायेगी और राज्यका नाश हो जायेगा। वह जिस पदपर था, वह भी उसके हाथसे

चला जायेगा और जिसे लेने जा रहा था वह तो गया हुआ है ही। एक अन्य बातपर भी विचार करना चाहिए। सेनापति अपनी जगहपर बैठा हुआ है और प्रधान अपनी जगहपर। वे एक-दूसरेसे कम नहीं हैं। धर्मकी बात यहीं आती है। उसमें एक-दूसरेसे कम-ज्यादा होनेका भाव होता ही नही है; क्योंकि यदि दोनों अपने-अपने धर्मका पालन करें तो उसका पालन करते हुए वे शत-प्रतिशत श्रेय प्राप्त कर सकते हैं।

नीयत ही ईश्वरके दरबारमें सबसे पहले देखी जाती है। वहाँ यह नहीं देखा जाता कि कौन बड़े पदपर है और कौन छोटेपर। स्वधर्म अच्छा है और परधर्म उससे हीन है, यह भी कदापि नहीं मानना है। मानना यही है कि अपना ही धर्म सबसे अच्छा है। माता और शिशुका उदाहरण लीजिए। बालक कुरूप हो तो माता उसका और भी अधिक ध्यान रखती है। जो कोई भी उसका तिरस्कार करना चाहेगा वह उससे झगड़ पड़ेगी। इस तरह स्वधर्म मोक्षदायी है। 'महाभारत'में इसके अनेक दृष्टान्त हैं। तुलसीदासकी 'रामायण'में भी गुह और शबरी ईश्वरपरायण बने रहकर अपने-अपने काममें लगे रहे और इसलिए उन्होंने परमपद प्राप्त किया।

वर्णाश्रमका मूल स्वधर्ममें है। आज हमें वर्णोंकी ठीक-ठीक समझ नही है। वर्ण रोटी-बेटी व्यवहारमें सीमित होकर रह गया है। केवल हिन्दू धर्ममें ही वर्ण नही है। यदि यह केवल एक ही समाजका धर्म होता तब तो बहुत संकुचित कहलाता और इसके लिए प्राण देनेकी जरूरत न पड़ती। किन्तु यदि यह धर्म कोई एकांगी धर्म न होकर सनातन धर्म हो तो वह सब प्रकार रक्षणीय है। रोटी-बेटीका व्यवहार वर्णका आधार नहीं है। कर्मकी व्यवस्था उसका आधार है। छुआछूतका भाव तो बहुत बादमें आया। सारे संसारमें कर्मभेद देखा जाता है। सब जगह कर्मका विभाजन है। बड़े होकर लड़के क्या करेंगे, अधिकांश माता-पिताको इसका विचार करना पड़ता है और लड़कोंको भी इसका विचार करना पड़ता है। [वणर्श्राम धर्म हमें इस चिन्तासे बचा लेता है।] इसकी चिन्तामें हम लोक और परलोक दोनोंसे हाथ धो बैठते हैं। इसकी ऊहापोहमें हम अपने सहज साधन खो बैठते है। ऐसी अवस्थामें कौन किसे बताये कि किसका क्या धर्म है। स्वधर्मका अर्थ व्यक्तिका समाजसे स्वतन्त्र हो जाना नहीं है। यदि व्यक्ति मोक्षप्राप्तिका प्रयास करता हुआ अपनेको स्वतन्त्र माने तो वह अपने उद्देश्यमें असफल हो जायेगा। मोक्षार्थी तो समाजका दास ही बन जाता है। मोक्ष प्राप्त करनेका अर्थ है नमकके ढेलेका समुद्रमें घुल-मिल जाना। मोक्षपद प्राप्त करनेका अर्थ हुआ विशालसे-विशाल समुद्रमें जा मिलना। हम इस समाजमें केवल एक क्षुद्र जीव है। क्षुद्र जीव शब्दसे ही परतन्त्रता प्रगट होती है। इस परतन्त्रतामें ही हम स्वतन्त्र हैं। समाज हमें जो काम सौंप दे, वही हमारा काम हो जाता है। तीन आदमी हों तो एक सबसे ऊपर तो होगा ही। सेनापतिको कुछ बातोंमें प्रधानसे आदेश लेना पड़ता है और कुछ बातोंमें प्रधानका कर्त्तव्य है कि वह सेनापतिसे परामर्श करे। इस तरह स्वधर्मका अर्थ हुआ ऊपरके व्यक्तिने जो बताया वह काम करना। इसके आधारपर हम सूक्ष्म विचार कर सकेंगे।

[१५]

मोक्ष-सम्बन्धित इस पुस्तकमें नगण्य कामोंको करना और उसमें भी उन्हें स्वधर्म माननेकी बात कही गई है, सो किसलिए? क्या इससे मोक्ष मिलता है? मिलता है। 'महाभारत' में तुलाधारकी कहानी है। कोई ब्राह्मण ज्ञानप्राप्तिके लिए गया और ज्ञान मिला उसे कसाईके घर। महादेव [देसाई] ने जिस भक्तका उल्लेख किया वह कुम्हार था और भोजा[1] भक्त मोची था। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' कहकर श्रीकृष्णने कोई अनोखी बात नहीं कही है। स्वधर्ममें विचार है अपने ऊपर पावन्दी लगानेका। 'स्व' का अर्थ है वह वस्तु जो हममें रच-पच गई है। जो भोजन पचा नहीं है, वह विकार उत्पन्न करता है और अनेक रोग हो जाते हैं। यदि हम अपने आसपास गरिष्ठ पदार्थ खानेवाले लोगोंको देखकर और उन्हें हृष्ट-पुष्ट होते देखकर वैसा ही करने लगें तो उससे हानि होगी। स्वधर्म तो सभीके लिए वास्तविक मोक्ष है। किन्तु जबतक मोक्ष मिला नहीं है, तबतक देहधारीकी हैसियतसे हम क्या करें। यदि हम देहके धर्मको जान लें और उसके धर्मोंके अनुसार आचरण करते चले जायें तो हमें सम्पूर्ण रूपसे 'स्व' को पानेके लिए परतन्त्रता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। रहना तो हमें ईश्वरके अधीन ही है। हम रोज 'अन्तर मम विकसित करो'[2] गाते हैं। किन्तु क्या इसलिए हम अपने हृदयमें ईश्वरको जगा सकेंगे? हृदयमें चेतनाके संचारके लिए हमें किसी-न-किसीकी सहायता लेनी पड़ेगी। स्वधर्मका अर्थ होता है अमुक क्षणमें प्राप्त कार्य। हमें किसी-न-किसीके द्वारा सौंपा हुआ काम करना है। हमें अन्तरात्माके इशारेपर चलना है। किन्तु जिसके अन्तरात्मा न हो, वह क्या करे? जब हम 'मैं' को निकालकर बाहर करेंगे, तभी ईश्वर वहाँ विराजमान हो सकेगा। इसके लिए हमें परतन्त्र होना है। 'पर' का अर्थ है दूसरा और उत्तम पुरुष। हमें उसके अधीन होनेपर जो आज्ञा प्राप्त हो, तदनुसार काम करना है। किसी एक स्थानपर युक्त हो जानेके बाद हमें अनन्य निष्ठा और कर्त्तव्यपरायणतासे काम लेना चाहिए। भले ही वह प्राप्त धर्म देखनेमें कैसा भी क्यों न हो, उससे दुर्गन्ध आती हो, उसमें हिंसाका ही भास होता हो, तो भी वह किया ही जाना चाहिए। इस हिंसामय जगत्में हिंसाका धर्म प्राप्त हो जाये तो उसे किये बिना छुटकारा नहीं है। हरिश्चन्द्रको ऐसा ही धर्म प्राप्त हो गया था। जिस समय उसने अपनी स्त्रीपर तलवार उठाई, उस समय वह अहिंसक था। पत्नीका अनिष्ट उसे इष्ट नहीं था। उसका हृदय करुणाका सागर था। कवि कहता है कि उसने अपने हृदयको कठिन बना लिया। किन्तु नहीं, उसने केवल अपने हाथको कठिन बनाया था। यदि हम चित्रकार होते, तो हम उसका जो चित्र खींचते उसमें उसे परेशान चित्रित न करते। उसकी भौंहोंमें बल न होता। यदि हरिश्चन्द्रने यह काम मुखपर खिन्नताका भाव लिये हुए किया होता, तो कहा जाता कि वह मोहान्ध हो गया था और हम ऐसा ही मानते कि इस सीमा

१. गुजराती सन्त कवि (१७८५-१८५०)।

२. रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी प्रसिद्ध रचना जो आश्रम-भजनावलिमें सम्मिलित है।

तक आकर वह गिर गया था। तब उसपर ऐसा कलंक लग जाता। उसके मुख-पर ग्लानिका कोई चिह्न हो ही नही सकता था। इसी तरह हमें भी जब जो धर्म प्राप्त हो जाये, उसे सम्पूर्ण रूपसे तत्परायण होकर करना चाहिए और संशयरहित होकर करना चाहिए। आरम्भ न करना बहुत अच्छा है; किन्तु आरम्भ करनेके बाद कामको कदापि नहीं छोड़ा जा सकता। गुड़में चिपट जानेके बाद मकौड़ा फिर उसे छोड़ता ही नहीं है। उसने उसमें अपने पाँव गड़ा दिये, सो गड़ा दिये। हाथमें लिये हुए कामको न छोड़ना ही सत्याग्रह है। बालकसे लेकर वृद्धतक हरएकका कर्त्तव्य है कि जो काम लिया है, नि:सत्त्व होनेतक उसे करते ही चले जायें। यही अन्तर्ध्यान है, यही वेदान्त है। प्राप्त कर्मको करते हुए बुद्धिको ईश्वरार्पण कर देना तो आवश्यक ही है। काम कोई भी क्यों न हो, उसे करते समय तन्मयता तो होनी ही चाहिए। स्वार्पण बुद्धिसे किया गया काम पतनकारी और ईश्वरार्पण बुद्धिसे किया गया काम ऊर्ध्वगति दायक है।

[१६]

परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म अच्छा है यह एक बात हो गई। अब यदि कोई भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता तो ज्ञानी और अज्ञानीके कर्ममें अन्तर क्या है। ज्ञानी दूसरोंके लिए यज्ञ करता है और अज्ञानी अपने लिए। यदि हम यज्ञार्थ, परोपकारार्थ कर्म करेंगे तो वह अकर्म बन जायेगा। किन्तु इसके बाद लोक-संग्रहकी बात भी की गई और कहा गया कि तुझे तो तन्द्रारहित होकर काम करना है। तू अहंकार छोड़कर बुद्धिको ईश्वरार्पित करके काम कर।

इस प्रकार काम करनेका प्रयत्न करते हुए पापकर्म हो जानेकी सम्भावना कहाँ है? यदि हम स्वधर्म करते हुए स्वेच्छाचरण करने लगें, हमें अभिमान हो जाये तो वह स्वधर्मका आचरण न हुआ। इसी कारण संसारमें अधिकांश लोग स्वधर्मका आचरण करते हुए भी अपने पाप-कर्मकी राशि ही बढ़ाते चले जाते हैं।

तीसरे अध्यायमें 'गीता' पूरी हो जाती है। यदि उसके बाद कुछ भी न लिखा गया होता तो भी काम चल जाता। और तीसरे अध्यायमें विशेषत: पाँच-सात श्लोक ऐसे ही हैं। 'गीता' के शेष भागमें तो इन तीन अध्यायोंमें कही गई बातको ही अधिक समझाया गया है।

श्रीकृष्ण अर्जुनको जवाब देते हैं कि काम और क्रोध — ये दोनों व्यक्तिके दायें और बायें कंधेपर बैठे हुए हैं। यदि स्वधर्मका आचरण करते हुए ये दोनों हमपर सवार हों तो स्वार्थ व्यर्थ हो जाता है। क्या ऐसा कहा जा सकता है कि कौंसिल-प्रवेश करनेवाले बहुतसे लोग आज कोई छोटा काम कर रहे हैं। बहुतसे लोग इस कामको परोपकारकी दृष्टिसे ही कर रहे हैं, किन्तु उसे करते हुए उनके मनमें एक इच्छा पड़ी हुई है। उनकी इच्छा जीत प्राप्त करनेकी है और उनके मनमें क्रोध है। इसलिए वह अनुचित है। काम और क्रोध दोनों सगे भाई हैं और इन दोनोंका आधार है इन्द्रियाँ और मन। अर्थात् इन्द्रियोंको और मनको जीतकर ही काम और क्रोधपर विजय प्राप्त की जा सकती है। मनको अपने वशमें रखकर ही जगत्पर विजय

प्राप्त की जा सकती है और इसीलिए यह कहा गया है कि मोक्षका मूल राग-द्वेष आदिसे रहित होना है। और इसीलिए हमसे राग-द्वेष हीन होनेको कहा गया है। जब हम किसी बातके वशमें हो जाते हैं तो उसके लिए क्या नही करते। विश्वामित्र-ने बड़ा तप किया, किन्तु बादमें उनके मनमें यह भाव उत्पन्न हुआ कि मेरा तप वशिष्ठके तपसे श्रेष्ठ है। इसलिए मनमें वासना उत्पन्न हुई और वे क्रोधके वश भी हुए। अपनी बुद्धिसे इस भावको दूर करके आदमी बीरबहूटीकी तरह [धीमी किन्तु निरन्तर गतिसे] चलता चला जाये और धैर्यपूर्वक निश्चिन्त भावसे काम करता चला जाये।

[१७]

२३ नवम्बर, १९२६

बात तो तब है जब स्थिति ऐसी हो जाये कि 'गीता' का पाठ किये बिना जीवित रहना कठिन लगने लगे। कहाँ सन्ध्याकी व्यस्तता और कहाँ प्रातःकालका शान्त मुहूर्त। हमने 'गीता' का पाठ कर लिया और पाठ करा दिया, इतना ही पर्याप्त नहीं है। हमारा उच्चारण आदि भी दिन-प्रतिदिन शुद्ध होते चलना चाहिए। एकमें भी दोष रह जाये तो वह सबका दोष है। जैसे वाद्य-वृन्दके संगीतमें एकका दोष सबका दोष हो जाता है, उसी प्रकार जीवन-संगीतके विषयमें भी समझना चाहिए। यदि हृदय और मनको एक करके प्रार्थना चलाई जाये तो फिर शरीरका क्या? वह तो नाशवन्त है; रहे चाहे न रहे। देह नामक यह जड़ पदार्थ ईश्वर और हमारे बीच चाहे जितनी दूरी उत्पन्न क्यों न करता हो, किन्तु आखिरकार यह हमें कितनी देरतक दूर रख सकता है। यदि हम अपने बीच ईश्वरको साक्षी रखकर आत्माका अनुसन्धान करें और यदि हम एकके दोषको सबका दोष मानकर चलें तो यह एक बहुत अच्छी बात होगी। यदि हम सब अपना उच्चारण भी शुद्ध कर लें तो हम भगवानके सामने शुद्धसे-शुद्ध पात्रमें जल लेकर उपस्थित होंगे। वह अतिशय स्वच्छताके साथ बेलपत्र चढ़ाने जैसा, जलके स्वच्छसे-स्वच्छ प्रवाहमें से अर्घ्य भरकर लाने जैसा होगा। यों बाहरकी टीमटाम निरर्थक है। किन्तु जहाँ श्रद्धाकी बात हो, वहाँ व्यवस्था शोभित होती है। श्रद्धालु तो अपनी भेंटमें कलाका जितना विनियोग कर सकता है, उतना करेगा। आजकी कला तो निकम्मी है, निर्जीव है। पुराने कलाकारोंमें कितनी धीरज रही होगी। उन्होंने इसे हस्तगत करनेमें कितने वर्ष लगा दिये होंगे। हमारी दृष्टिमें अभीतक एक भी ऐसे पुराने कलाकारका नाम नहीं आया, जिसने अपना जीवन कोई बड़ा महल बनामें खपा दिया हो। उच्चार-शुद्धि करनेकी हमारी इच्छा हमारे प्रेमके अन्तर्भावका लक्षण है। इसलिए हमें चाहिए कि हम अपना गीतापाठ कदापि नीरस न बनने दें।

तीसरे अध्यायमें कर्मकी विजयका व्याख्यान किया गया है। कर्मके द्वारा योग साधना हो तो भगवानको अर्पित करके कर्म किये जाने चाहिए। ऐसा कहकर वहाँ यह भी बताया गया है कि ऐसे कर्मकी साधन-सामग्रीमें क्या-क्या सम्मिलित है। इसमें ज्ञानका संभाग होना चाहिए। फिर हम ज्ञानमार्ग और कर्ममार्गके विषयमें विचार

करते हैं। ज्ञानमार्गी एक ही मार्गपर चलकर शुष्क हो जाता है और कर्ममार्गी कर्ममें ही लगा रहे तो जड़ हो जाता है। कर्मकी योग्यताको समझनेके लिए ज्ञान और कर्म दोनोंका समन्वय चाहिए। अच्छे दोनों हैं, किन्तु एकके बिना दूसरा अधूरा है। पत्थरके समान विनय किसमें है? और पत्थरके समान कर्म भी किसमें है? कितना जबरदस्त ईश्वरार्पित कर्म है उसका? एक दृष्टिसे पत्थरका काम चलता ही रहता है, किन्तु पत्थरको पत्थरके रूपमें मोक्ष कहाँ मिला? पत्थरमें से उसे अहिल्या बनना चाहिए, चेतन-रूप बनना चाहिए। एक ओर पाषाणवत् बनें और दूसरी ओर ज्ञानकी मूर्ति और सो भी इस तरह कि किसीको खबर न हो कि यह ज्ञान है कि कर्म है। पूरा पुरुषार्थ तभी सिद्ध होता है। जब इन दोनोंका समन्वय हो तभी भक्ति आ मिलती है। यहाँतक तो हम यह बात सीखे कि इन दोनोंका समन्वय होना चाहिए। इन दोनोंको जान लेनेके बाद हमें सांख्य और योगमें विरोध दिखाई नहीं देगा। चौथे अध्यायका यह तात्पर्य है। जो विभिन्न यज्ञ गिनाये गये हैं, मैं उनके विस्तारमें नहीं पड़ूँगा।

[१८][१]

हठयोगी मानते हैं कि छठवाँ अध्याय उन्हींके लिए लिखा गया है। वे लोग ऐसा मानते हैं कि योगाभ्यासमें हठयोगका स्थान होनेके कारण यह लिखा गया। मैं ऐसा नहीं मानता। इतना अवश्य मानता हूँ कि हठयोगका कोई-न-कोई स्थान तो है ही। आत्मदर्शनके लिए हमें सभी साधनोंका उपयोग करना चाहिए। ऐसा कहते हैं कि जिन शारीरिक क्रियाओं इत्यादिके विषयमें लिखा गया है यदि उन्हें कोई करे तो आत्मदर्शन हो जाये। कोई योगी ज्ञानदेवसे सिंहपर बैठकर मिलने आया। ज्ञानदेव उससे दीवालपर बैठकर मिलने गये। किन्तु इससे क्या होता है? यह तो योगका उपहास ही है; उसका विकृत उपयोग है। ये शारीरिक प्रक्रियाएँ ईश्वरकी दिशामें ले जाती हों, ऐसा नहीं है। उसका मूल तो मनके भीतर ही है। इसी अध्यायमें कहा गया है कि 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्'। अर्थात् इस अध्यायमें आत्मसंयमकी ही बात कही गई है। देहके दमनका उद्देश्य भी आत्मसंयम और मनःसंयम ही है। ये सारी क्रियाएँ मनके संयमके लिए हैं, इतना जान लेनेके बाद यदि कोई इन क्रियाओंका अभ्यास करे तो अवश्य ही उसे बहुत लाभ मिल सकता है। हमने इस सबका प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि हमें अभीतक कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो इन क्रियाओंको जानता हो। इनमें विश्वास करनेवाले और इनके प्रयोगकी सलाह देनेवाले बहुत मिले। किन्तु इन्हें जाननेवाला कोई नही मिला। इसलिए मैंने इस दिशामें कुछ नहीं किया। किन्तु मेरी दृष्टि इस बातके ऊपर अवश्य है। मै इसकी चर्चा ही इसलिए कर रहा हूँ कि यदि तुममें से किसीको इस दृष्टिसे अन्वेषण करनेवाला कोई साधु पुरुष मिल जाये तो तुम उसका उपयोग कर सकते हो। हम सबके शरीर कितने अशक्त हो गये हैं। यदि हम शरीरके इस व्यायामको ठीकसे जान लें तो वह विलायतमें प्रचलित शारीरिक शिक्षासे अधिक उपयोगी सिद्ध

१. साधन-सूत्रमें क्रमांक १८ से २० तक तारीख नहीं दी गई हैं।

हो सकता है। निस्सन्देह छठे अध्यायमें संयम-नियमकी बात है। यह निष्काम कर्मका एक साधन अवश्य है। ज्ञानीका अर्थ शास्त्रज्ञ और योगी शब्दका अर्थ ही कर्मज्ञ है।

हम निष्काम कर्मकी स्थितिमें कब आ सकते हैं, इस अध्यायमें इसकी मर्यादा बताई गई है। आत्मसंयमके विना निष्काम कर्म असम्भव है। जो प्रतिक्षण अपने ऊपर मर्यादाएँ लगाता रहता है, वही निष्काम कर्म कर सकता है। चोर, लुटेरा, व्यभिचारी निष्काम कर्म करनेकी बात थोड़े ही करता है। बहुतसे लोग अपने आचरणका समर्थन 'गीता'के आधारपर करते हैं। किन्तु निष्कामता तो एक मानसिक स्थिति है और यह मानसिक स्थिति बिना प्रयत्न और बिना संयमके प्राप्त नहीं हो सकती। समत्वको वही जानता है, जिसका दाहिना हाथ यह न जानता हो कि बायाँ क्या कर रहा है। 'आत्मोपम्य' ही इसे नापनेका गज है। मैं अमुकके प्रति अमुक काम कर रहा हूँ, यदि वैसा ही दूसरा मेरे प्रति करेगा तो उचित होगा अथवा नहीं, यह देखते रहना चाहिए।

त्यागके बिना निष्कामता सिद्ध हो ही नहीं सकती, यह छठवें अध्यायका रहस्य है।

[१९]

'भगवद्गीता'के तीन विभाग किये गये हैं—'तत्' पदके लिए छः अध्याय, 'त्वम्' पदके लिए छः अध्याय और छः अध्याय 'असि' पदके लिए।[1]

छठे अध्यायमें इन्द्रिय-दमनका मार्ग बताया गया और फिर सातवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानकी बात की। विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान। ज्ञानमें भगवान्‌की परा प्रकृति आ गई और विज्ञानमें अपरा प्रकृति। विज्ञानमें और क्या-क्या आता है, इसका अधिक विवेचन आठवें अध्यायमें किया गया है। सातवें अध्यायका अन्तिम श्लोक तो यही है कि जो 'अधियज्ञ', 'अधिदैव' और 'अधिभूत' यज्ञोंको करता है, वह मुझे प्राप्त करता है। 'अक्षर'की बात करके भगवानने कहा कि उसीका चिन्तन किया जाना चाहिए क्योंकि व्यक्ति जिसका चिन्तन करता है, वैसा ही बनता है। उन्होंने बताया कि अधिदैव अर्थात् सबसे बड़ा परब्रह्म मैं हूँ और फिर पूछा कि ऐसी अवस्थामें छोटी-मोटी बातोंमें पड़नेकी क्या जरूरत है। ईश्वरकी ही आराधना करनी चाहिए और उसीकी सेवा। किन्तु ईश्वरकी सेवा करनेका क्या अर्थ है। उन्होंने तो कहा कि दृश्य और अदृश्य मैं ही हूँ। यदि बात ऐसी हो तो जो काम हम करते हैं उसका भी कर्त्ता ईश्वर ही है और फिर यदि वही सूत्रधार है तब फिर हम यह किसलिए मानें कि हम भी कुछ करते हैं। गंगामें जो मैला पानी आकर मिलता है वह भी पवित्र हो जाता है। इसी प्रकार मानना चाहिए कि हम जो पाप करते हैं उसका कर्त्ता भी ईश्वर है। क्योंकि यदि किसीमें पापवृत्ति न हो तो उसका कार्य पाप-कार्य नहीं होता। वस्तुको दी गई गति समाप्त कर दिये जानेके बाद भी वह थोड़ी देर गतिमान बनी रहती है। जैसे हम किसी वृक्षको काट दें तो उसके पत्ते थोड़ी देरतक हरे बने रहेंगे, किन्तु फिर थोड़ी ही देरके बाद मुरझाने लगेंगे। इसी प्रकार यदि गतिशील वृत्तियोंको

१. 'तत्त्वमसि' उपनिषद्‌का प्रसिद्ध वचन है।

व्यक्ति दबा दे तो वे फिर नहीं उभरतीं। सातवें और आठवें अध्यायमें यह बताकर कि सृष्टिका स्वरूप क्या है, दृश्य जगत् कैसा है, कर्म क्या है, यह कहा गया है कि सब-कुछ ईश्वरमय है। भगवानने निष्काम कर्म करनेकी बात इतना जोर देकर क्यों कही। इन दोनों अध्यायोंमें इसे पर्याप्त विस्तारके साथ कहा गया है। पानीके अन्दर पड़ा हुआ व्यक्ति उसमें तैरता ही रहता है, किन्तु पानीको उससे कुछ लेना-देना नहीं रहता। इसी प्रकार परमात्मा करुणाका सागर है। किन्तु इसे भी कल्पना ही समझिए। ईश्वर न दानी है, न करुणाका सागर। ऐसे ही विराट् तत्त्वमें हम पड़े हुए हैं।

[२०]

नौवें और दसवें अध्यायमें एक ही बात कही गई है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि समस्त भूतोंमें मैं ही स्थित हूँ, इसलिए जो-कुछ करो मेरे प्रति समर्पित करो। इसीलिए कहा 'मन्मना भव मद्भक्तो'। दसवें अध्यायमें अर्जुनने श्रीकृष्णसे अपनी विभूतियाँ बतानेको कहा। सातवें अध्यायसे ही भक्तिका प्रवाह प्रारम्भ होकर बढ़ता चला जा रहा है। विभूतियोंकी बात करनेके बाद भगवान अर्जुनको अधिकाधिक प्रेरणा देते हैं कि सब-कुछ प्रभुके अर्पण किया जाये। चारों अध्यायोंमें साधकको भक्तिकी ओर ले जाया गया है। इसलिए नौवें अध्यायमें विषय 'राजविद्या' और 'राजगुह्य'का है। हमारे जैसे, पापमें पड़े हुए, व्यक्तियोंके लिए यह एक बहुत बड़ा सहारा है। बड़ेसे-बड़े पापीको भी यहाँ सहायता देनेका आश्वासन दिया गया है। कोई वेद-मन्त्रोंका उल्लेख करके पतितोंकी सद्गति असम्भव भले ही बताये किन्तु 'गीता' ऐसा नहीं मानती। 'गीता' कहती है कि यदि बड़ेसे-बड़ा पापी भी मेरे प्रति समर्पित हो जाये तो वह तर जायेगा। यह विषय गुह्य तभीतक है, जबतक उसने हमारे हृदयको स्पर्श नहीं किया है।

[२१]

[२७ नवम्बर, १९२६][1]

भगवानने अपने विश्व-रूपका दर्शन देकर बताया कि यह दर्शन वेदों आदिके ज्ञानसे युक्त व्यक्तिको नहीं हो सकता। उसे ही हो सकता है जिसका हृदय भक्तिरसमें मग्न है। यह कैसा स्वरूप रहा होगा। 'भगवद्गीता'में मेरी तल्लीनता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। मैंने उसके प्रति आकर्षण होनेके कारण ही अर्थ समझानेकी बात स्वीकार की थी। किन्तु अभी यह आकर्षण दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसमें कहा गया विचार अधिकाधिक आत्मसात् होता जा रहा है। विषय-लोलुप होनेके कारण हम उसका पूरा रस नहीं ले पाते। उसका वास्तविक रस तो भक्ति और अध्यात्मका रस है। जैसे-जैसे यह पचता चला जाता है और जैसे-जैसे उसका अधिकाधिक आचरण होता चला जाता है, यह रस बढ़ता जाता है। मेरी ऐसी ही स्थिति होती जा रही है। मैंने इस अध्यायमें लगनेवाले समयका अनुमान लगा लिया है। इसका पाठ

१. साधन-सूत्रके प्रथम पृष्ठपर लिखा है: २४-२-१९२६ से २७-११-१९२६ तक।

करते हुए हमें बारह मिनट लग जाते हैं और इसलिए आधा पाठ हो चुकनेके बाद कुछ थकावट-सी लगती है। किन्तु यदि हम इसमें डूब जायें तो बच जायेंगे। महर्षि व्यासने इस विषयको कुछ इस ढंगसे रखा है कि हमें लगता है मानो हम ही विश्व-रूप दर्शन कर रहे हों। इस विश्वरूप दर्शनसे हमें अनुभव होता है कि जगत्में हमारा स्थान क्या है। कुछ भी नहीं। धूलके एक कण-जैसे हम हैं। विश्वमें, ब्रह्माण्डमें, तारा, ग्रह, सूर्य इत्यादिमें हमारा स्थान कितना नगण्य है। यदि शरीरका कोई रोम बोल सकता होता तो वह यही कहता कि मैं किस गिनतीमें हूँ। मैं तो जबतक शरीरका एक भाग बना हुआ हूँ, तभीतक मेरी कीमत है। यदि मुझे शरीरसे अलग कर दिया जाये तो मैं निकम्मा बन जाऊँगा। मुझमें जो चेतन-तत्त्व है वह नष्ट नही हो सकता और जहाँतक जड़-रूपका सवाल है, वह कितना भी विराट् क्यो न हो, क्षणिक है और नामरूपवाला है। ईश्वरके बाह्य स्वरूप, मूर्तिमन्त विराट् स्वरूपके प्रमाणमें हम कुछ भी नही हैं। ऐसी परिस्थितिमें हम किसकी हिंसा कर सकते है, और यदि हम किसीकी हिंसा करें ही तो उसके साथ ही हम स्वय भी मारे जायेंगे। हम जैसे-जैसे इस बातको समझते चले जायेंगे, वैसे-वैसे भक्तिमें डूबते चले जायेंगे।

आश्रमसे बाहर रहते हुए भी हम अपने नित्य-कर्मका पालन कर सकते हैं।

[गुजरातीसे]

गांधीजीनुं गीता-शिक्षण

८७. पत्र : सी० नारायणरावको

आश्रम
साबरमती
२७ नवम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला।[1] आप अपनी स्थायी नौकरी क्यों छोड़ना चाहते हैं? मैं समझता हूँ कि कोई भी व्यक्ति जीवनकी चाहे जिस स्थितिमें रहकर अवश्य ही देशकी सेवा कर सकता है; बशर्ते उसका पेशा अपने-आपमें ईमानदारीका हो। जो भी हो, नौकरी छोड़नेकी इच्छाका कारण बतानेके साथ-साथ मुझे कृपया निम्नलिखित जानकारी भी दीजिए :

आपकी उम्र क्या है? क्या आप विवाहित हैं? क्या आपके बच्चे हैं? क्या आपके माता-पिता जीवित हैं? क्या आपके कोई अन्य आश्रित भी हैं? क्या आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहता है? क्या आप प्रतिदिन लगातार आठ घंटे शारीरिक श्रम करनेको तयार हैं? क्या आप केवल सफाई, खेती या रसोईके काम या चरखा

१. १९ नवम्बरको पत्र लिखते हुए नारायणरावने "आनन्द और शान्तिपूर्ण जीवन बितानेके लिए" अपनी नौकरी छोड़ने और आश्रममें आनेकी इच्छा व्यक्त की थी।

कातने-सरीखे कामोंसे सन्तोषका अनुभव कर सकते हैं? क्या आप संस्कृत जानते हैं? आपने कहाँतक शिक्षा प्राप्त की है? आप कौन-कौनसी भाषाएँ जानते है?

हृदयसे आपका,

श्रीयुत सी० नारायणराव
क्लर्क, आबकारी विभाग
बरहामपुर

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० ११०२०)की माइक्रोफिल्मसे।

८८. पत्र: रिचर्ड बी० ग्रेगको

आश्रम
साबरमती
२७ नवम्बर, १९२६

देखता हूँ कि तुम मुझपर ऋणका बोझ बढ़ा रहे हो। तुम्हारे पहले पत्रमें[1] पूछे गये कई प्रश्नोंका जवाब देना बकाया ही है और अब मेरे सामने टॉमस पेनके उद्धरणों सहित तुम्हारा एक और पत्र आ गया।[2] इन उद्धरणोंका उपयोग तुम्हारे सुझावके अनुसार करनेकी आशा करता हूँ। अभी मैं उन्हें पढ़ नहीं पाया हूँ।

खद्दरपर लिखे लेखोंका तुम अपनी इच्छानुसार उपयोग कर सकते हो।

मुझे इस बातकी खुशी है कि तुम्हें "क्या यह जीवदया है?" शीर्षक लेख पसन्द आये ह। मुझे लगा कि चाहे मेरी बात सही लगे या न लगे, वह वास्तवमें सही ठहरे या न ठहरे, मुझे अपनी स्थिति स्पष्ट कर देनी चाहिए। इतना काफी है कि उन लेखोंमें व्यक्त विचार मेरे सुनिश्चित निष्कर्षोंको प्रस्तुत करते हैं।

तुम ध्यानसे देखो तो तुमने जो उदाहरण दिया है, उसमें निहित दोष तुम्हें दिख जायेगा। तुमने प्रतिपाल्यके प्रति अपने कर्त्तव्यकी तुलना हमला करनेवालेके नैतिक कल्याणके प्रति व्यक्तिके कर्त्तव्यसे की है। लेकिन जब कोई प्रतिपाल्यकी रक्षा कर रहा हो, उस समय हमलावरका नैतिक कल्याण खतरेमें नहीं होता। हानिकी आशंका तो प्रतिपाल्यके जीवनको ही है। और यदि हमलावर अजनबी होनेके बजाय एक ऐसा अन्य प्रतिपाल्य ही हो जो तुम्हारे संरक्षित प्रतिपाल्यसे ज्यादा सशक्त हो, तब भी तुम्हें अपने संरक्षित प्रतिपाल्यकी उस समय रक्षा करनी होगी जब उसपर हमला करने-वाला दूसरा प्रतिपाल्य हो और तुम आक्रमणकारीपर किसी अन्य तरहसे काबू करने योग्य नहीं हो। ईश्वर तुम्हारे इरादोंके अनुसार तुम्हारे कर्त्तव्यका मूल्यांकन करेगा। वस्तुतः इससे एक कदम आगे भी बढ़ा जा सकता है, और ऐसा मान सकते हैं कि

१. गांधीजी द्वारा ग्रेगको इससे पहले लिखे पत्रोंके लिए देखिए खण्ड ३१।
२. देखिए "स्वतन्त्रताका मूल्य", ९-१२-१९२६।

जिसकी रक्षा करनी है वह प्रतिपाल्य नहीं है, वरन् एक सर्वथा अजनबी व्यक्ति है, जिसने संरक्षण माँगा है। 'महाभारत' में एक बहुत सुन्दर कथा है। एक महान् राजाके[1] पास कबूतर बाजसे रक्षाके लिए उड़कर आता है। बाजको लगता है कि न्यायदृष्टिसे कबूतर उसका भोजन है—ईश्वरने उसे उसका भोज्य ही बनाया है। राजाने उस बाजको यह कहकर रोका कि यद्यपि सामान्यतया कबूतर बाजका विहित भोजन है, फिर भी वह स्वयं तो उन प्राणियोंकी रक्षा करनेके अपने कर्त्तव्यकी उपेक्षा नहीं कर सकता जो उससे संरक्षण माँगते हैं। यह कहकर उसने उदारता-पूर्वक बाजको कबूतरके बदलेमें अपना मास दे दिया। निश्चय ही इस कहानीके बाजके साथ निपटनेका सर्वाधिक आध्यात्मिक तरीका यही माना जायेगा। लेकिन जब कोई व्यक्ति आध्यात्मिक दुर्बलताके कारण यह तरीका न अपना सके तो उसे संरक्षणके नियमका पालन बाजके हमलेको बलपूर्वक रोककर करना होगा। और यह कार्य वह अहिंसाके नियमानुसार करेगा। मैं नहीं जानता कि मैं अपनी बात साफ समझा पाया हूँ या नहीं।

मैं देख रहा हूँ कि तुम सर्दी बिताने साबरमती नहीं आ रहे हो। मुझे इसका दो कारणोंसे खेद है। एक तो इसलिए कि यद्यपि मैं बाहर होऊँगा, फिर भी आश्रम-वासी तुम्हारी अनुपस्थिति महसूस करेंगे। दूसरे इसलिए कि तुम आश्रमके जलवायुके डरसे ही विचलित हो रहे हो। हम आहारशास्त्रियोंको ऐसे उपाय ढूँढ़ निकालने चाहिए कि जलवायु हमपर हावी न हो पाये बल्कि जलवायुको अपनी इच्छानुसार हम काबूमें कर सकें। खैर, मैं जानता हूँ कि यह तो एक आदर्श बात है। तुम जो कदम उठा रहे हो, वह सावधानीका है और इसलिए मौजूदा परिस्थितिमें वही अच्छा है। ऊपरकी सलाहको बिना जोखिम उठाये नहीं माना जा सकता। शिक्षाकी दिशामें तुम्हारे अनुसन्धानोका मैं काफी दिलचस्पीसे अध्ययन करूँगा।

देवदास काफी अच्छा और सशक्त है। वह मथुरादासकी सेवा-परिचर्या करने पंचगनी गया है। मैं २ दिसम्बरको वर्धाके लिए रवाना हो रहा हूँ। तुम्हें, स्टोक दम्पतिको, सुन्दरम्को और सावित्रीको प्यार।

तुम्हारा,

आर० बी० ग्रेग
शिमला

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १२०८८) की फोटो-नकलसे।

१. राजा शिवि।

८९. क्या यह जीवदया है?–८

इस विषयपर पत्र तो अभी भी ढेरों चले आ रहे हैं, लेकिन इनमें एक भी नई दलील अथवा विचार देखनेको नहीं मिलता; वही पुराने प्रश्न पूछे जाते हैं और वही पुरानी दलीलें पेश की जाती हैं। अत: जो लोग इस प्रश्नपर विचार कर रहे हैं, उनसे मेरी प्रार्थना है कि वे इस लेखमालाको बार-बार पढ़ें। यह सुझाव देते हुए मुझे तनिक भी संकोच नहीं होता, क्योंकि इसमें मैंने उतावलीमें किये गये विचार नहीं, अपितु अपने अनेक वर्षोंके अनुभव दिये हैं। मैंने उसमें कोई नये सिद्धान्त पेश नहीं किये हैं, पुराने सिद्धान्तोंको ही स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। वे स्पष्ट हुए हों अथवा नहीं, वे मेरे प्रामाणिक विचार हैं इसलिए,— और अनेक बहन-भाई मुझसे अहिंसाके गूढ़ प्रश्नके समाधानकी आशा रखते हैं इसलिए — मैं इन भाई-बहनोंसे इस लेखमालाको बार-बार पढ़ जानेका सुझाव देता हूँ। अनेक पत्र-लेखक मेरे अधूरे वाक्योंको उद्धृत करते हैं और उनसे उत्पन्न समस्याओंका समाधान माँगते हैं।

एक भाई कहते हैं, 'आप तो कुत्तोंका वंश ही मिटाना चाहते हैं।' मैंने ऐसा कभी नहीं कहा। मैंने जो कहा है सो उस जातिकी रक्षाके हेतुसे ही कहा है। मैंने तो इतना ही कहा है कि अमुक कुत्तोंको अमुक परिस्थितियोंमें मारा जा सकता है। इतना कहनेमें भी यदि दोष हो तो अलग बात है। लेकिन लेखकको अपनी दलील तो इस बातको ध्यानमें रखकर ही पेश करनी चाहिए कि मेरे कथनमें कुत्तोंके मर्यादित वधकी सूचना है, उससे अधिक कुछ नही।

कुछेक भाई मेरे पहलेके उन कथनोंको, जो उन्हें प्रिय हैं, उद्धृत करते हैं और मेरे आजके विचारोंसे उनका विरोध बताते हैं। मुझे ऐसा विरोध नहीं दिखता। अहिंसाका जैसा पक्षपाती मैं पहले था वैसा ही आज भी हूँ।

'पुष्प पांखड़ी ज्यां दुभाय
जिनवरनी नहि त्यां आज्ञाय।'

[फूलकी पंखुरीको भी जिसमें कष्ट होता हो, ऐसी बातमें जिनवरकी अनुमति नहीं हो सकती।]

इन पंक्तियोंको मैं अभी भी पहलेके-से भक्तिभावके साथ गा सकता हूँ, लेकिन जैसे मैं पहले वनस्पतिका, पुष्पों और फलोंका उपयोग किया करता था, वैसे ही आज भी करता हूँ। हाँ, इस उपयोगके पीछे यह भावना निहित है कि बादमें मुझसे जितना हो सकेगा इनका उपयोग उतना कम करूँगा और देहाध्यासको क्षीण करूँगा।

लेकिन कोई कह सकता है कि 'पुष्प और कुत्तोंकी क्या तुलना?' इस आक्षेपको मैं चुपचाप सह लेता हूँ। किन्तु यह तुलना प्रसंगवश की जा सकती है। भोगके लिए की जाये तो यह अधोगतिको पहुँचायेगी; धर्मको समझने अथवा समझाने-के लिए की जाये तो वह उचित हो सकती है। तुलना करनेका मेरा उद्देश्य निर्मल है, इसलिए मैं सुरक्षित हूँ।

अहिंसाधर्मीकी अक्षमता मेरे लिए दुःखदायी बन गई है। अहिंसा निर्बलता नहीं है, उसमें शक्तिका अभाव नहीं है। अहिंसा तो प्रचंड शक्ति है। उसके पूर्ण तेजको हम देख नहीं सकते, उसे सहन नहीं कर सकते। हममें से किसी-किसीको ही उसकी झाँकी-मात्र होती है।

अहिंसा जाग्रत् आत्माका विशेष गुण है। वह दूसरे अनेक गुणोंका आधार है। इसलिए उसका पालन विचार, विवेक, वैराग्य, तपश्चर्या, समता और ज्ञान बिना असम्भव है। उसमें कायरता नहीं चल सकती। जिसे अहिंसा समझनी है, उसे हिंसामें निहित अहिंसाको समझना ही होगा।

इस वाक्यका भले ही अनर्थ किया जाये। क्या ईश्वरके नामका अनर्थ नहीं होता? उसके नामसे क्या हम राक्षसको नहीं पूजते? उसके नामसे क्या कम पाप, कम हत्याएँ हुई हैं? इससे क्या ईश्वरके नामको कोई आँच आती है? इस कारण क्या हम ईश्वरका नाम किसी कोनेमें छिपकर लेंगे?

कर्म-मात्र सदोष है, क्योंकि उसमें हिंसा है। तथापि कर्मके क्षयके लिए भी हम कर्म ही करते हैं। देह-मात्र पाप है तथापि देहको तीर्थक्षेत्र बनाकर उसके द्वारा हम देहमुक्तिके लिए प्रयत्न करते हैं। ठीक यही बात हिंसा-मात्रके बारेमें समझनी चाहिए।

लेकिन, यह हिंसा कैसी हो? उत्तर है: स्वाभाविक हो, अल्पतम हो, उसके पीछे केवल करुणा हो, विवेक हो, तटस्थता हो और वह सहज-प्राप्त धर्म हो।

इस विचारसरणीका अनुकरण करते हुए हिंसा दिन-प्रतिदिन कम होती जायेगी। इसलिए जिस हिंसाका उद्देश्य अहिंसाके क्षेत्रकी वृद्धि करना हो, जो हिंसा अनिवार्य हो, जिसका परिणाम बिना प्रयत्नके देखा जा सकता हो वह हिंसा क्षम्य होती है, कर्त्तव्य भी होती है। इसलिए यह कहना तनिक भी अनुचित नहीं है कि हिंसामें अहिंसा हो सकती है।

इतना कहनेके बाद आश्रममें इन प्रश्नोंका समाधान किस ढंगसे किया जा रहा है सो समझाकर मैं इस लेखमालाको समाप्त करता हूँ:

आश्रममें कुत्तोंके प्रश्नपर आश्रमकी स्थापनाके समयसे ही विचार किया जा रहा है। महाजनकी[1] प्रवृत्तिसे उनका उपद्रव बढ़ गया है। इस उपद्रवको अत्यन्त कष्टके साथ सहन किया जा रहा है। आश्रममें हम पागल कुत्तोंको मार देते हैं। ऐसे उदाहरण दस वर्षमें दो या तीन ही हुए हैं। अन्य किसी कुत्तेकी हत्या नहीं की गई है। हाँ, उन्हें जहाँ-तहाँ खाना देना बन्द कर दिया गया है। इस नियमका यदि पूरी तरहसे पालन किया जाये तो मैं देखता हूँ कि इससे कुत्ते भी सुखी रहते हैं और हम भी। लेकिन इस नियमका पालन पूरी तरहसे नहीं हो पाता। हरएक आश्रमवासी इस नियमको समझ नहीं सका है और वे सब उसके पालनके सम्बन्धमें पूरी तरहसे जाग्रत् भी नहीं हैं। और फिर आश्रममें रहनेवाले मजदूर लोग तो भला इस नियमका पालन करेंगे ही क्यों?

१. नगरके उन प्रतिष्ठित् व्यक्तियोंका संघ जो पिंजरापोल आदि चलाते हैं।

कुछेक कुत्तोंको लाचार होकर पालना पड़ता है। इस समय ऐसी दो कुतियों और उनके बच्चोंका पालन हो रहा है। बच्चोंको आवश्यक गर्मी मिले इसके लिए विशेष पेटी और टोकरीकी व्यवस्था की गई है। उन्हें दूध दिया जाता है, उनकी माँ के लिए खास खुराक बनाई जाती है।

दूसरी ओर आवारा कुत्तोंको ले जानेके लिए हमने महाजनसे विनती की है। उसने इसे मंजूर कर लिया है, लेकिन अभीतक महाजनकी गाड़ी आई नहीं है।

कुत्तोंके प्रति हमारा क्या धर्म है, इसके सम्बन्धमें अपने विचार मैंने सबको समझाये हैं। लेकिन इस विषयमें सबको बहुत-कुछ अपनी अन्तःप्रेरणाके अनुसार कार्य करनेकी छूट भी है। कोई मारनेके कर्त्तव्यको मुझसे ग्रहण नहीं कर सकता; परिस्थिति विशेषमें मारनेकी छूट अवश्य ले सकता है। मैंने उन्हें इसकी मर्यादाएँ ठीक-ठीक समझाई हैं। हर कोई अपने-अपने सामर्थ्यके अनुसार समझकर उसका पालन करता है और करेगा। मेरा आशय स्पष्ट रूपसे समझमें न आया हो तो उसे समझानेके लिए ही मैंने आश्रमके आचारका, जो कि इस विषयमें मेरे विचारोंका अनुगामी है, उल्लेख किया है।

स्वयं दुःख उठाकर, यहाँतक कि मृत्यु होती हो तो उसे भी स्वीकार करके दूसरोंको सुख भोगने देनेका नाम ही अहिंसाधर्म है। अमुक व्यक्ति किस हदतक यह दुःख उठानेको तैयार है, उसका अन्दाज कोई तीसरा व्यक्ति नहीं लगा सकता। धर्म एक है और अनेक भी है, क्योंकि आत्मा भी एकानेक है।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, २८-११-१९२६

९०. भाषण : गुजरात विद्यापीठमें[1]

२८ नवम्बर, १९२६

गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी मैं यहाँ उपस्थित हो सका हूँ, इसे मैं ईश्वरका अनुग्रह मानता हूँ। जिन विद्यार्थियोंको प्रमाणपत्र और पुरस्कार मिले हैं उन्हें मैं बधाई देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनके शुभ मनोरथ पूर्ण हों। कुछ समझ नहीं पा रहा था कि आजके इस शुभ अवसरपर मुझे क्या कहना चाहिए कि इस बीच मेरी सहायताके लिए श्री चिन्तामणि वैद्य आ गये। इस सप्ताह मुझे उनका पत्र मिला कि वे किसी कार्यवश यहाँ आ रहे हैं। तुरन्त ही मेरे मनका बोझ हल्का हो गया। उनका नाम विद्यार्थी न जानें, यह हो ही नहीं सकता। उनकी विद्वत्ता प्रसिद्ध है। उन्होंने 'महाभारत' और भारतके इतिहासपर ग्रन्थ लिखे हैं। देशसेवा उन्होंने केवल ग्रन्थोंसे ही नहीं अपितु सार्वजनिक कार्यके द्वारा भी की है। जैसा हमारा यह विद्यापीठ है वैसा ही विद्यापीठ महाराष्ट्रमें भी है, वे उसकी सेवा कर रहे हैं। वे वहाँके कुल-

१. यह भाषण गांधीजीने गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबादके दीक्षान्त समारोहके अवसरपर दिया था।

नायक हैं। वहाँके कुलनायककी पदवी हमारे कुलनायकसे ज्यादा ऊँची है। वहाँ कुल-पति शंकराचार्य हैं। यहाँ नानाभाई[1] मेरे साथ सलाह-मशविरा कर सकते हैं; वहाँ तो सारा उत्तरदायित्व वैद्यराज खुद सम्भालते हैं। वे जो कहेंगे वह सुनने लायक ही होगा। फिर भी कुछ-एक बातें मुझे कहनी हैं।

आप सब देख सकते हैं कि संख्याकी दृष्टिसे विद्यापीठकी स्थिति कमजोर होती जाती है, लेकिन मैं इससे तनिक भी नही घबराता। १९२० में मैंने जब इस विद्या-पीठकी मंगल स्थापना की थी उस समय इस कार्यके प्रति मेरे मनमें जो श्रद्धा थी वही आज भी है। मैं तो साहसपूर्वक यह भी कह सकता हूँ कि मेरी यह श्रद्धा और भी दृढ़ होती जाती है। जगतमें संख्याबलकी महत्ता है। लेकिन हमारा आन्दोलन तो गुणबलपर ही आधारित है। जहाँ संख्याबल कम हो वहाँ हतोत्साहित होनेकी जरूरत नहीं है लेकिन विशेष सावधानी तो रखनी ही पड़ती है। आज भारतमें मुट्ठी-भर अंग्रेज अधिकारी राज्य करते हैं। सोचिए, उनमें कितना आत्मविश्वास होगा? हिन्दुस्तानमें २५० जिले हैं, इसलिए २५० कलेक्टर होंगे। एकके हिस्सेमें कितने व्यक्ति आते हैं? तथापि वह शामको टेनिस खेल सकता है और रातको आरामसे सोता है। मनमें भी उसे चिन्ता नहीं सताती। यदि हमें उसके साथ जूझना है तो हम चाहे मुट्ठी-भर ही क्यों न हों, हमें उनके जैसा आत्मविश्वास रखना चाहिए। जहाँ कार्यकर्त्ता हजारोंकी संख्यामें हों वहाँ आलस्य अथवा प्रमाद चल सकता है। लेकिन जहाँ संख्या थोड़ी हो वहाँ तो प्रत्येकको विशेष रूपसे सावधान रहना चाहिए।

मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि विद्यापीठके भविष्यके बारेमें मुझे लेशमात्र भी चिन्ता नहीं है। यदि आप अपने कार्यमें सावधान रहेंगे तो भविष्य उज्ज्वल ही है। यदि विद्यापीठमें एक भी विद्यार्थी होगा तो भी वह अपना काम अवश्य करेगा और इस एक विद्यार्थीके लिए मैं — कश्मीरमें भी हुआ तो वहाँसे भी — पदवी दानके लिए यहाँ आऊँगा। आप कभी ऐसा न समझें कि उस समय मेरा उत्साह रंचमात्र भी कम होगा। मैं तो यह कह सकता हूँ कि एक ही विद्यार्थीको पदवी प्रदान करते हुए मेरे मनमें विशेष उत्साह होगा और यदि मैं इस काबिल हुआ तो उससे मैं ज्यादा गौरवका अनुभव करूँगा।

श्री कुलनायकने मुझसे विद्यापीठको स्वतन्त्र शिक्षा-पद्धतिपर चलानेकी माँग की है। इस बारेमें उन्होंने जिन आदर्शोंको रखा है, उनका मैं स्वागत करता हूँ। दूसरे, मुझसे यह पूछा गया है कि क्या हमें पुरस्कारका प्रलोभन रखना चाहिए? हमें तो विद्यार्थियोंको यह बताना है कि विद्या ही अपने-आपमें एक पुरस्कार है। यज्ञका फल यज्ञ ही है। लेकिन इस सुझावका भी मैं स्वागत करता हूँ। किन्तु मैं तो अपनी मर्यादाको समझकर चलनेवाला व्यक्ति ठहरा। हमें ऐसी तेज हवाका सामना करना है कि मुझे परिवर्तन करनेकी हिम्मत नहीं होती।

विद्यापीठकी स्थापना करनेमें मैंने कोई मूर्खता नही की। आप भी यदि मेरे जैसा विश्वास रख सकें तो रखें। हममें जो त्रुटियाँ हैं उन्हें मैं अच्छी तरह जानता

१. नरसिंहप्रसाद भट्ट, गुजरात विद्यापीठके तत्कालीन उपकुलपति।

हूँ, क्योंकि मैं स्वयं त्रुटियोंसे भरा हुआ हूँ। आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप दुर्बलता न आने दें।

[गुजरातीसे]

साबरमती, खण्ड-५, अंक-३, १९२६

९१. पत्र : ब्रजकृष्ण चाँदीवालाको

सोमवार [२९ नवम्बर, १९२६][1]

चि० ब्रजकिसन,

मीरां बहन दिल्ली शुक्रवारके रोज १०–११ बजे पहोंच जायगी विद्यावतीजीके गुरुकुलमें ठहरेगी हिंदी सीखनेकी मतलबसे आ रही है स्टेशन पर जाना और उनको दरियागंज ले जाना।

आवश्यक सहाय देना. उमीद तो है कि गुरुकुलसे कोई तो आ जायेंगे. वर्धा[2] आनेका दिल है तो आना.

बापूके आशीर्वाद

मूल पत्र (जी० एन० २३५३) की फोटो-नकलसे।

९२. पत्र : पुरुषोत्तमदास ठाकुरदासको

आश्रम,
सोमवार [२९ नवम्बर, १९२६]

भाईश्री पुरुषोत्तमदास,

जो काम कोई नहीं कर सका वह काम आप कर रहे हैं। अपने वचनके अनुसार मैंने इसी महीने करेन्सीका अध्ययन शुरू कर दिया है[3]। गत सप्ताह मैंने शाही आयोगकी रिपोर्ट पढ़ना समाप्त किया।[4] आपकी टिप्पणी पढ़कर मुझे बहुत

१. शुक्रवार, ३ दिसम्बर, १९२६ को मीराबहन दिल्लीमें थीं; देखिए "पत्र: मीराबहनको", ३-१२-१९२६। इससे पहले सोमवार २९ नवम्बरको था।

२. गांधीजी ३ दिसम्बर, १९२६ को अहमदाबादसे वर्धाके लिए रवाना हुए जहाँ वे २० दिसम्बर १९२६ तक रहे।

३. देखिए खण्ड ३१, पृष्ठ ३८१।

४. भारतीय मुद्रासे सम्बन्धित सवालोंका अध्ययन करने और उपयुक्त सुझाव देनेके लिए इस शाही आयोग (रायल कमिशन) की घोषणा वाइसरायने २० अगस्त, १९२६ को की थी। हिल्टन यंग इस आयोगके अध्यक्ष थे। आयोगने रुपयेकी विनिमय दर स्वर्णमें १ शि० ६ पें० तय करने और एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करनेका सुझाव दिया था। पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास इस आयोगके एक सदस्य थे और उन्होंने रिपोर्टमें इन दो मुद्दोंपर अपना मतभेद प्रकट किया था।

आनन्द हुआ। इसका अर्थ यह नही कि मैं यह सारी चीज समझ सकता हूँ। इस विषयके मेरे अज्ञानका आपको अन्दाजा भी नहीं हो सकता। गोल्ड एक्सचेन्ज स्टैंडर्ड, बुलियन स्टैंडर्ड और एक्सचेंज स्टैंडर्डका भेद अभीतक मुझे स्पष्ट नही हुआ है। फिलहाल मदानकी पुस्तक पढ़ रहा हूँ। मैं अपनी राय देनेके लिए कबतक तैयार हो जाऊँगा सो नही जानता। [लेकिन] अपना अज्ञान प्रकट करनेके लिए तैयार हो रहा हूँ; इस बीच मैं दूरसे आपकी लड़ाई निहार रहा हूँ और उसकी प्रशंसा कर रहा हूँ।

मोहनदासके वन्देमातरम्

गुजराती पत्र (एस० एन० १९९७०) की माइक्रोफिल्मसे।

९३. अबलाका बल

जनरल स्मट्सने एमिली हॉबहाउसके अन्तिम संस्कारके समय ब्लूमफॉन्टीनमें जो शब्द कहे थे, उसे महान् भाषण कहकर यहाँ देते हुए[1] मुझे किसी प्रकारका संकोच नही है। उस भाषणसे यह स्पष्ट था कि एक चारित्र्यवान् व्यक्ति, एक स्त्री, जिसे भूलसे अबला कहते हैं, क्या कर सकती है और सच्ची देशभक्तिका क्या अर्थ होता है।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, २-१२-१९२६

९४. जीवन-चक्र

इस लेखका[2] यह शीर्षक मैंने दिया है किन्तु लेख श्रीयुत चक्रवर्ती राजगोपालाचारीकी शाही कृषि आयोगके[3] सामने दी गई गवाहीका सारांश है। इसका महत्त्व इसी बातमें है कि यह उनके अनुभवोंका सम्यक् विवरण है। इसे एक बार ध्यान देकर पढ़ लेनेपर पाठक अपने-आप ही समझ सकेंगे कि हिन्दुस्तानके करोड़ों लोगोके लिए चरखा सचमुच जीवन-चक्र है या नही। चक्रवर्ती राजगोपालाचारीकी दूसरी यह सलाह कि गरीब लोगोके सामनेसे शराब पीनेकी सुविधा हटा ली जानी चाहिए, उन सभी लोगोंके लिए विचारणीय है जो हिन्दुस्तानकी आर्थिक दुर्दशाकी समस्याको हल

१. यहाँ नहीं दिया गया है।

२. यहाँ नहीं दिया गया है। इसमें कहा गया था कि थोड़ेसे समयमें ही अकेले तमिलनाडमें ३०,००० चरखे चलने लगे हैं और हर चरखेकी औसत वार्षिक आय १४ रु० ९ आना ८ पाई हो रही है। कई किसान परिवारोंकी कृषिसे होनेवाली आय ५० रु० प्रतिवर्ष ही है, यह देखते हुए इसे एक अच्छी आय ही कहा जायेगा।

३. मार्क्विस ऑफ लिनलिथगोके नेतृत्वमें गठित इस आयोगकी घोषणा वाइसरायने २० जनवरी, १९२६को की थी। १९२६-२७के शीतकालमें इसकी बैठक हुई थी।

करना चाहते हैं। औरतोंकी सूत कातनेके श्रमसे होनेवाली कमाई अगर मर्द शराबमें उड़ाते रहे तो चरखा भी उनकी कुछ सहायता नहीं कर सकेगा।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २-१२-१९२६

९५. टिप्पणियाँ

मुद्रा

पिछले कई बरसोंसे मित्र लोग मुझसे मुद्रा-प्रश्नका अध्ययन करनेका आग्रह करते आ रहे हैं; किन्तु मैंने अभीतक तो उनकी बात नहीं मानी है। इसका कारण यह नहीं है कि जिन अति महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंकी ओर जनताका ध्यान खिंच रहा है उनमें से मुद्रा-प्रश्न एक नहीं है; बल्कि इसका कारण यह है कि मेरे पास बहुत ज्यादा काम है और फिर मैं इस शास्त्रके बारेमें कुछ नहीं जानता। मुझे जिन विषयोंका सन्तोषजनक ज्ञान नहीं होता, मैं उनके सम्बन्धमें न कभी बोलता हूँ और न कभी लिखता हूँ। किन्तु अब इस आग्रहको अधिक टालना सम्भव नहीं है। मित्रोंका कहना है कि मुझे इस विषयके अध्ययनको लोकप्रिय बनाना चाहिए और इस महत्त्वपूर्ण मामलेमें जनसाधारणको शिक्षित करनेके लिए अपने प्रभावका पूरा उपयोग करना चाहिए। इस दिशामें उन-जैसा उत्साह मुझमें नहीं है। मुद्राके बहुत ही उलझे हुए मसले जन-साधारणको समझाये जा सकते हैं या नहीं, मुझे इसीका निश्चय नही है। किन्तु उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है और मैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। उनका कहना है कि यदि सरकारकी वर्तमान मुद्रा-नीति पूरी तरह कार्यान्वित हो गई तो उससे भारतके करोड़ों मूक लोगोंपर भारी दबाव पड़ेगा। वे इस दबावको बरदाश्त नहीं कर सकेंगे। इसलिए मैंने इस प्रश्नके अध्ययनका वचन दिया है और उसपर विचार करनेके लिए 'यंग इंडिया' के स्तम्भ खोल दिये हैं। यदि सम्भव हुआ तो उसके सम्बन्धमें अपना मत देनेकी बात भी मैंने मान ली है। अपने इस वचन की पूर्तिकी दृष्टिसे मैं अन्यत्र एक लेख छाप रहा हूँ। लेख प्रो० पी० ए० वाडियाकी लेखमालामें से पहला है। मैंने शाही आयोगकी रिपोर्टको भी अभी-अभी पढ़कर समाप्त किया है। मेरी समझमें मैं चरखेके अर्थशास्त्रपर लिखी पुस्तकको जैसी आसानीसे समझ लेता हूँ वैसे इस शास्त्रको नहीं समझता। मैं ऐसे गुरुकी खोजमें हूँ जो मुद्राकी भाषाको भी मेरे निकट वैसी ही सुबोध बना दे जैसी मेरे लिए चरखेकी भाषा है। मैं इस समस्याके सम्बन्धमें अपना मत तभी प्रकट कर सकूँगा; उससे पहले नहीं। तबतक यह वचन अवश्य देता हूँ कि मैं इस विषयका अध्ययन करनेके लिए अपने समस्त बचे हुए समयका उपयोग करूँगा।

आवारा कुत्ते और गाँवके कुत्ते

एक मित्र पूछते हैं कि आवारा कुत्तोंको मार डालनेकी मेरी सलाहमें क्या परमोपयोगी ग्रामीण कुत्तोंको मारनेकी बात भी शामिल है? हरगिज नहीं। मैं इस

बातको 'नवजीवन' के किसी पिछले अंकमें पूर्ण रूपसे स्पष्ट कर चुका हूँ कि गाँवोंके कुत्ते तो गाँवोंके लोगोंकी रातको चोरों और बाहरी कुत्तों तथा दिनमें अन्य जानवरोंसे रक्षा करनेवाले सबसे सस्ते और सबसे अधिक जागरूक सिपाही हैं। मैंने तो आवारा कुत्तोंतक को अन्धाधुन्ध मारनेकी बात नहीं कही है। मारनेके पहले अन्य बहुत-सी तरकीबें काममें ला देखनी चाहिए। मैंने जिस बातपर जोर दिया है वह है नगरपालिकाओंके लिए ऐसा कानून बना देनेकी बात जिसके अनुसार उन्हें पाले हुए कुत्तोंके सिवा अन्य कुत्तोंको मार डालनेका अधिकार प्राप्त हो जाये। इस मामूलीसे कानूनके फलस्वरूप कुत्ते निर्दय अवहेलनासे बच जायेंगे और महाजन भी सचेत हो जायेंगे। प्रयोजन अविचारपूर्ण और विवेकरहित दानशीलताको रोकना है। उस दानशीलतासे जिसके कारण कुत्ते और वे मनुष्य भी जो भीख माँगते फिरते हैं सभीको नुकसान पहुँचता है—दानपर जीनेवालेको भी और उस समाजको भी जो इस प्रकारकी मिथ्या दानशीलताको बढ़ावा देता है।

सबसे योग्य महिला

एक पत्र-लेखकने मुझे रोमके इतिहाससे नीचे दी हुई मनोरंजक कतरन भेजी है :[1]

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, २-१२-१९२६

९६. पत्र : मीराबहनको

सूरत
३ दिसम्बर [१९२६]

चि० मीरा,[2]

तुम्हारा तार मिला। आनन्द हुआ। ईश्वर तुमपर छाया रखे।[3]

सप्रेम,

बापू

श्रीमती मीराबाई
कन्या गुरुकुल
दरियागंज, दिल्ली

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५१८८) से।
सौजन्य : मीराबहन

१. यहाँ नहीं दी गई है। इसमें तीन रोमनोंके बीचके उस विवादका विवरण था जो उनके बीचमें इस प्रश्नपर छिड़ा था कि उनमें से किसकी पत्नी सर्वश्रेष्ठ है। अन्तमें टार्क्विनियसकी पत्नी सर्वश्रेष्ठ ठहरी क्योंकि जब अन्य महिलाएँ भोजनोत्सव कर रही थीं, तब ल्यूक्रेशिया करघेपर कपड़ा बुन रही थी।

२. 'चि० मीरा', ये शब्द देवनागरी लिपिमें हैं। मीराबहनको लिखे गये अन्य पत्रोंमें भी गांधीजीने 'चि० मीरा' देवनागरी लिपिमें ही लिखा है।

३. गांधीजीने मीराबहनको हिन्दी सीखने और धुनाई तथा कताई सिखानेके लिए दिल्लीके कन्या गुरुकुलमें भेजा था।

९७. पत्र : घनश्यामदास बिड़लाको

वर्धा
कार्तिक कृष्ण १४, १९८३ [४ दिसम्बर, १९२६]

भाई घनश्यामदासजी,

आपका खत मीला है। खत पढ़नेमें मुझको कोई बाधा नहिं आती है। यदि यूरोप न जानेमें किसी प्रतिज्ञाका भंग नहीं है तो मेरा विश्वास है कि यह समय आपका वहां जानेका नहिं है।

आपके विजयके बारेमें तो मैं कुछ लीखना नहिं चाहता। कई युद्ध ऐसे भी रहते हैं जिसमें हारना विजय है। मैं नहिं जानता इस समय जो हुआ है आपके लीये कल्याणकर है या नहिं। मेरी सलाह यह है कि तटस्थतासे एसेंब्लीमें सब चीजको देखते रहें।

मैं तो जानता हुं कि मेरे मौनसे मैंने देशकी सेवाकी है परंतु मुझे आत्मविश्वास नहिं है कि अनेक दलोंको एकत्रित कर सकता हुं। मेरा दिल तो गौहती जानेसे हटता है।[1] मैंने श्रीनिवास आयंगार और मोतीलालजीको लीखा भी है कि मुझको छूटी दे दें। मुझको आत्मविश्वास आनेसे मैं अपने आप मेदानमें आ जाउंगा।

मैं नहिं जानता यदि मुझको कलकत्ता जाना होगा तो कहां मेरा जाना उचित होगा। यदि किसी जगह पर जानेके लीये मजबूर नहिं हुआ तो आपके मार्फत रहना मुझे प्रिय होगा।

आपका
मोहनदास

मूल पत्र (सी० डब्ल्यू० ६१४०)से।
सौजन्य : घनश्यामदास बिड़ला

९८. सभ्यता

महादेवभाई देसाईने युवक सप्ताहके[2] प्रसंगमें तकलीपर जो भाषण दिया था उसे मैं लगभग अक्षरशः प्रकाशित कर रहा हूँ, क्योंकि इस भाषणमें उनके अन्तरके उद्‌गार हैं और वह जिन परिस्थितियोंमें दिया गया था वे भी उल्लेखनीय हैं। यह भाषण, भाषणकी खातिर नहीं दिया गया था। लेकिन कुछ युवक उसे सुनते-सुनते ऊब गये और उन्होंने गड़बड़ मचाना शुरू कर दिया। मैंने अनेक बार लिखा है कि इस तरह भाषणके बीचमें हल्ला-गुल्ला करनेकी प्रथा भारतवर्षकी सभ्यताको शोभा नहीं देती। इस देशमें तो जिन्हें किसीका भाषण अच्छा नहीं लगता वे उसपर ध्यान नही देते

१. कांग्रेसके वार्षिक अधिवेशनके लिए।
२. अहमदाबादमें नवम्बर, १९२६ में मनाया गया।

और यदि बिलकुल ही अरुचिकर लगता है तो उठकर चले जाते हैं। लेकिन भाषण-कर्त्ता भाषण बंद कर दे, इसके लिए जोर-जबरदस्ती नहीं करते। हल्ला-गुल्ला करना बलात्कार ही कहा जायेगा। हममें असहिष्णुता बढ़े, यह बात हमारी प्रगतिको रोकने-वाली है। जो चीज हमें पसन्द न हो वह खराब ही होगी, ऐसा मान लेनेका हमारे पास कोई कारण नहीं है। संसारमें अनेक वस्तुएँ तो ऐसी ही होती हैं जो आरम्भमें कड़वी लगती हैं परन्तु जिनका परिणाम मीठा होता है।

जिस राष्ट्रका युवक वर्ग मर्यादा, विवेक, नम्रता और सहिष्णुताका त्याग करता है, वह राष्ट्र नष्ट हो जाता है। राष्ट्रीय जीवनकी बागडोर तो युवक वर्गके हाथमें ही होती है। उनकी जवाबदेही वृद्ध वर्गकी अपेक्षा ज्यादा है। क्योंकि बुजुर्गोंने तो वे जितना दे सकते थे अथवा देना चाहते थे उतना दे दिया। युवक वर्ग तो आज नया निर्माण कर रहा है, अपना नया दान दे रहा है।

हल्ला-गुल्ला करनेवाले अपनी इस जवाबदेहीमें चूक गये। महादेव देसाईका भाषण तो उनके हाथ दे रहे थे। अतः वह आँखोंसे सुना जा सकता था। युवक हाथोंसे दिये जानेवाले उस भाषणको रोकनेमें असमर्थ थे। जब उन्होंने अपनी इस असमर्थता-को देखा तब उन्होंने शोरगुल मचाना बन्द कर दिया, लेकिन उन्होंने ऐसा करके अपयश तो मोल ले ही लिया। दूसरे दिन अखबारोंने लिखा कि युवकोंने शोरगुल करके महादेवभाईको तकलीपर व्याख्यान देनेसे रोका। इसमें महादेव देसाईकी मानहानि नहीं हुई। इससे तो शोर मचानेवालोंकी इज्जत गई। लेकिन उनकी लाज गई यह बात देशकी लाज जानेके बराबर है। देशकी लाज उसके देशवासियोंकी लाजसे अलग नहीं है।

तकलीके प्रति अरुचि व्यक्त करना तो चींटीपर सेना लेकर चढ़ाई करनेके समान है। तकली मनुष्यके प्राचीनतम हथियारोंमें से एक है, इस बातको प्राचीन पुस्तकों-के उद्धरणोंसे 'नवजीवन' में प्रतिपादित किया जा चुका है। तकली गरीब लोगोंका यन्त्र है, उनका आश्रय है। जिस प्रकार हल अन्नका साधन है उस प्रकार तकली वस्त्रका साधन है। तकलीसे ही मिलोंकी उत्पत्ति हुई है। स्पिनिंग मिल अर्थात् तकली मिल। जिस तरह एक मनुष्य दूसरे घरोंके पाइपको बन्द कर उन्हें अपने घरमें इकट्ठा कर ले तो वह अन्य सब लोगोंको पानीके लिए पराधीन कर देगा, उसी तरह स्पिनिंग मिल भी जुदा-जुदा तकलियोंको इकट्ठा कर स्वतन्त्र रूपसे कातनेवाले लोगोंको पराधीन कर देती है। इस तरह तकली स्वतन्त्रताका चिह्न है और मिल परतन्त्रताका। ऐसी लाभकारी वस्तुका तिरस्कार किसलिए? इस छोटी वस्तुकी शक्तिको समझना हमारा धर्म है। और जो व्यक्ति हमें उसकी शक्तिका भान कराता है वह हमारे धन्यवादका पात्र है, हमारे आभारका अधिकारी है।

हलका त्याग करनेपर जिस तरह हम भूखों मर जायेंगे उसी तरह तकलीका त्याग करनेके कारण हम वस्त्रहीन हो गये हैं। मुट्ठी-भर लोगोंके पास कपड़े हैं, इससे कोई यह न समझे कि करोड़ों लोगोंके पास कपड़े हैं। इतिहास साक्षी है कि हमारे लाखों भाई-बहन नंगे फिरते हैं और भूखों मरते हैं।

तकलीमें दोहरी शक्ति है, अंगको ढँकनेकी और उसका पोषण करनेकी। कारण, कातनेकी क्रिया हमें वस्त्र प्रदान करती है और इसके परिणामस्वरूप जो पैसे बचते हैं उनसे हमारी अन्न प्राप्त करनेकी शक्तिमें वृद्धि होती है। इसीलिए तकली अथवा चरखेको मैंने अन्नपूर्णाकी उपमा दी है।

तकली हमारे आलस्यको दूर करती है, हमारा तन ढाँकती है और उसका पोषण करती है। ऐसे यंत्रका तिरस्कार किसलिए?

इसके अतिरिक्त तकली गरीबोंके साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित करती है और हमें उनके दुःखका हिस्सेदार बनाती है।

ऋषियोंने एक आख्यायिकाके द्वारा तिनकेकी शक्तिकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। वायु उसे उड़ा नहीं सकी, अग्नि उसे जला नही सकी। एक तिनकेको तुच्छ समझकर भले ही कोई उसका तिरस्कार करे लेकिन यदि असंख्य तिनके न हों तो हमें अन्न-पानी कुछ भी नही मिले। जो शक्ति घासके तिनकेमें छिपी हुई है वही तकलीमें भी छिपी हुई है। जिन्होंने तकलीका उपहास किया है उनसे मैं अनुरोध करता हूँ कि वे यक्ष और देवताओंके संवादपर विचार करें। तकलीको तुच्छ माननेवाले गरीबोंको तुच्छ समझते है। गरीबोंको तुच्छ माननेवाले अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मारते हैं, जिस डालपर वे बैठे हैं उसीकी जड़ उखाड़ते हैं। गरीब हैं इसीलिए धनी लोगोंका निर्वाह हो रहा है। यदि गरीब ही न हों तो धनीके लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है?

नौजवानो! आप चाहे किसी भी स्कूलमें हों, किसी भी कालेजमें हों, सहयोगी अथवा असहयोगी हों, हल्ला-गुल्ला करनेमें शामिल रहे हों अथवा उसके दुःखी प्रेक्षक रहे हों, मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप अपनी प्राचीन सभ्यताको नही छोड़ना, विवेकका त्याग न करना, गरीबोंके प्रति प्रेम भावको न छोड़ना। तलवार जिस तरह नाशका चिह्न है उसी तरह तकली समृद्धिका एक महत्त्वपूर्ण चिह्न है। आपने शोर-गुल रूपी तलवारका प्रयोग करके ठीक नहीं किया। तकलीका त्याग, उसकी अवगणना आपके लिए सर्वथा अनुचित है। महादेवने आपका ध्यान आपके कर्त्तव्यकी ओर आकर्षित किया है। जो कातनेका यज्ञ नहीं करते, जो उस यज्ञकी प्रसादी खादीको नहीं पहनते, वे गरीबोंको और उनके तरीकोंको नहीं जानते, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। आपको भी ऐसा ही विश्वास होना चाहिए।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, ५-१२-१९२६

९९. पत्र : बहरामजी खम्बाताको

वर्धा
५ दिसम्बर, १९२६

भाईश्री ५ खम्बाता,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे आनेसे मैं तो बहुत प्रसन्न हुआ। और भी आना। देहके प्रति तुम्हारा मोह ज्यों-ज्यों कम होगा त्यों-त्यों तुम्हें शान्तिका अनुभव होगा। उस तेलका नाम मेरे हाथ अभी नहीं आया है। उसे खोज निकालूँगा।

बापूके आशीर्वाद

भाईश्री ५ बहरामजी खम्बाता
२७५, हार्नबी रोड
कोट, बम्बई

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ४३६७) की फोटो-नकलसे।
सौजन्य : तहमीना खम्बाता

१००. तार : छगनलाल गांधीको

६ दिसम्बर, १९२६

छगनलाल गांधी
आश्रम, साबरमती

अमेरिकी मित्रोंका स्वागत है।

बापू

अंग्रेजी तार (एस० एन० ११२४९) से।

१०१. पत्र : आश्रमकी बहनोंको

वर्धा

मौनवार, ६ दिसम्बर, १९२६

बहनो,

अपने वचनानुसार, सुबह नाश्ता करके, पहला काम तुम्हें पत्र लिखनेका कर रहा हूँ।

अभी सात बजनेमें पाँच मिनट बाकी हैं। इसलिए तुम सब अभी तो प्रार्थना-मन्दिरमें आ रही होगी। जो समय रखो, उसका पालन करना। जिसने हाजिर होना मंजूर किया है, वह आकस्मिक घटनाके सिवा जरूर हाजिर होती होगी। मैंने तो रमणीकलालको[1] 'गीताजी' के एक-दो श्लोक हमेशा करानेकी सूचना दी है। परन्तु तुम अपनी इच्छाके अनुसार वाचन शुरू करवाना। लिखनेका अभ्यास कभी न छोड़ना। अक्षर हमेशा सुधारना।

मगर यह सब धर्म नहीं, धर्म-पालनमें साधन-रूप है। धर्मकी व्याख्या तो हम जिन श्लोकोंका रोज पाठ किया करते थे, उनमें है। और हमें तो धर्म-पालन ही सीखना है। धर्म परोपकारमें है। परोपकार यानी दूसरेका भला चाहना और करना, दूसरेकी सेवा करना। इस सेवाका आरम्भ करते हुए तुम एक-दूसरेके साथ सगी बहनका-सा स्नेह रखना, एकके दुःखमें सब दुःखी होना। यह तो एक ही बात हुई। मुझे पत्र तो हर हफ्ते लिखने हैं, इसलिए अब यहाँसे अपना भाषण बन्द करता हूँ।

दक्षाबहन, कमला बहन और चि० रुखी मजेमें हैं। सब तीसरे दर्जेमें आये, परन्तु भीड़ नहीं थी, इसलिए कष्ट नहीं हुआ। मैं अकेला ही दूसरे दर्जेमें था। लक्ष्मीदासभाई[2] तो अपने चरखा-कार्यमें तल्लीन हो गये हैं। यहाँ 'गीताजी' के पाठमें वहाँ-जैसा ही हो गया है। विशेष तुम मेरे चि० पुरुषोत्तमके नाम लिखे पत्रमें देख लेना।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० ३६२९) की फोटो-नकलसे।

१. रमणीकलाल मोदी, आश्रमके स्कूलमें एक अध्यापक।
२. लक्ष्मीदास पु० आसर।

१०२. पत्र : म्यूरिएल लिस्टरको

वर्धा
६ दिसम्बर, १९२६

प्रिय कुमारी लिस्टर,

मैं पिछली रातको आपका पूरा पत्र पढ़ पाया। मुझे भय है कि यदि आप काफी दिनों भारतमें ठहरीं तो शायद आप उन चीजोंके सम्बन्धमें और भी ज्यादा देखेंगी, जानेंगी, जिनका आपने अपने पत्रमें वर्णन किया है। धर्म एक जटिल प्रश्न है, उतना ही जटिल जितना स्वयं जीवन। इस धर्मके नामकी ओटमें कितनी अनगल बातें हो सकती हैं, उसे देखकर आश्चर्य होता है। लेकिन आपने जो देखा है, वह तो एक गुजर जानेवाली, अस्थायी स्थिति है। नगरोंसे दूर, गाँवोंमें जो जीवन है, वह अपने ढंगसे काफी हदतक धार्मिक है; मेरी रायमें पश्चिमकी अपेक्षा ज्यादा धार्मिक है। वह जीवन सामान्य हिन्दू-धर्मका स्थायी अंग है। हिन्दू धर्मका मूल्यांकन ग्रामीणों-पर उसका जो प्रभाव है, अंततः उसीके द्वारा किया जायेगा। हिंसाका सिद्धान्त उनपर कोई असर डालनेमें युगोंसे विफल होता रहा है। इतिहासमें इन ग्रामोंके सामूहिक रूपसे हिंसामें भाग लेनेका कोई लेखा-जोखा नहीं मिलता। लेकिन इसीलिए ये पूर्णतया अहिंसात्मक हों, सो बात भी नहीं है। ये अपेक्षाकृत अहिंसात्मक अवश्य हैं। अस्तु, यह सब लिखना व्यर्थ है। सारा संसार कुछ भी करे, मुख्य बात तो यही है कि हम खुद कैसे रहते हैं। मैं दुनियाको जितना ही देखता हूँ, अपनी नगण्यताका उतना ही भान होता है और उससे ईश्वरपर और भी ज्यादा निर्भर रहना सीखता हूँ। मुझे दो पृष्ठोंसे ज्यादा नहीं लिखना चाहिए।

आपका,
मो० क० गांधी

अंग्रेजी पत्र (जी० एन० ६५६०) की फोटो-नकलसे।

१०३. पत्र : मीराबहनको

सोमवार [६ दिसम्बर, १९२६][1]

चि० मीरा,

मुझे उम्मीद थी कि आज तुम्हारा पत्र आयेगा। यह मेरा दूसरा पत्र है। पहला कार्ड था। मैं देखता हूँ कि अगर 'आत्मकथा'[2] सोमवारको लिखी जाये, जैसा कि मैंने किया है, तो तुम्हारे पास भेजी जा सकती है। इसलिए यह रहा उसका अनुवाद।[3] इसे दुरुस्त कर देना और उसी दिन डाकमें डाल देना। उस सूरतमें वह समयपर पहुँच जायेगा। उसी दिन न देख सको तो सीधे स्वामीके पास भेज सकती हो। वह तुम्हारे पास बुधवारको पहुँचना चाहिए और गुरुवारको भी डाकमें पड़ जाये तो मुझे शनिवारको समयपर मिल जायेगा। . . . यहाँ 'यंग इंडिया' के लिए अहमदाबादकी डाकका आखिरी दिन रविवार है। अब तुम्हें मालूम हो गया होगा कि तुम्हें क्या करना है। यह बन्दोबस्त, जबतक मैं यहाँ हूँ तबतक जारी रहेगा।

रोलाँका खत[4] भी साथमें है। स्पैरोने[5] मुझे उसका अनुवाद करके दिया है। वह भी साथमें है। अगर तुम्हारे खयालसे यह ठीक हो तो मेरे लिए फिरसे उसका अनुवाद मत करना।

प्रेम,

बापू

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५१८९) से।
सौजन्य : मीराबहन

१. तारीखकी सूचना मीराबहनसे प्राप्त।

२. *आत्मकथा*, ३-१२-१९२५ से *यंग इंडिया*में किश्तवार छपनी शुरू हुई। महादेव देसाई द्वारा किये गये अंग्रेजी अनुवादको गांधीजी संशोधनके लिए मीराबहनके पास अध्याय-अध्याय करके भेज देते थे।

३. अनुवाद यहाँ नहीं दिया गया है।

४. देखिए परिशिष्ट २।

५. कुमारी हेलेन हॉसडिंग।

१०४. पत्र: लालतापरशाद शादको

वर्धा
६ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपके ३० अक्तूबरके पत्रका उत्तर इससे पहले न दे सकनेके लिए क्षमा करेंगे। बहुत अधिक पत्र-व्यवहार होनेकी वजहसे आपका पत्र अनजाने ही एक फाइलमें अलग रख दिया गया था और पिछले सप्ताह ही वह मुझे दिया गया। प्राप्ति स्वीकार करनेमें विलम्बका यही कारण है।

सद्गुरुओंसे जाकर मिलनेके लिए जैसा आग्रह आपने किया है वैसा ही ऐसे और पत्र-लेखकोंने भी किया है, जिनका खयाल है कि उनसे मिलकर [सच्चा गुरु प्राप्त करनेकी] मेरी उत्कट इच्छा पूरी हो जायेगी। केवल तीन या चार दिन पहले ही मुझे मद्रास प्रेसीडेन्सीसे एक तार मिला, "तुरन्त आ जाइए, आप जैसा गुरु चाहते हैं, आपको दिखाता हूँ।" क्या मुझे वहाँ चला जाना चाहिए था? क्या मुझे ऐसे सभी पत्रोंपर अमल करना चाहिए? मेरी रायमें गुरुकी तलाशका यह तरीका नहीं है। जब मैं यह कहता हूँ कि उचित समय आनेपर गुरु स्वयं खोजीके पास आ जायेगा तो यह किसी प्रकारके दम्भका लक्षण नहीं है, वरन् यह तो एक सुविदित सत्यका प्रकाशन ही है। आप ईश्वरकी तलाशमें धरतीपर इधर-उधर न भटकें। वह आपको अपने हृदयमें ही खोजना है। और उसी तरह पूर्ण पुरुष गुरु भी उन लोगोंको ढूँढ़ निकालता है जो पूरी विनम्रता और लगनके साथ उसकी कामना करते हैं। इसलिए मेरे सामने जो समस्या है, वह इतनी सरल नही जितनी आप उसे मानते हैं। और यह दुराग्रह या हठ भी नही है।

आपने मुझे जो अंग्रेजीकी पुस्तक भेजी है, उसको मैंने शुरू किया, लेकिन मैं आपको बता दूँ कि मैं उसे ज्यादा नही पढ़ सका हूँ; इसका सीधा-सा कारण यह है कि जो काम मैं पहलेसे हाथमें ले चुका हूँ, उनके कारण मुझे एक पलका विश्राम या अवकाश नही मिलता।

हृदयसे आपका,

श्रीयुत लालतापरशाद शाद
कायस्थ मोहल्ला
अजमेर

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७६१) की फोटो-नकलसे।

१०५. पत्र : वी० वी० दास्तानेको

वर्धा
६ दिसम्बर, १९२६

प्रिय दास्ताने,

आपका पत्र मिला। निश्चय ही आप जानते हैं कि 'आत्मकथा' का मराठी अनुवाद करनेकी मेरी अनुमति स्वामीकी रजामंदीपर निर्भर है। लेकिन मेरा ख़याल है कि इसमें स्वामीकी रजामन्दी थी।

आपने जो लिखा है, उससे मुझे लगता है कि नैतिक दृष्टिसे मुंशीजीपर केवल अपने पिताके भरण-पोषणकी जिम्मेदारी है। फिर रह जाते हैं उनके लड़के, उनकी पत्नी और शायद ३ छोटे बच्चे; मेरा खयाल है कि बच्चे बहुत छोटे हैं, सयाने नहीं हैं। सबसे बड़े लड़केको अपने पैरों खड़ा होनेके लिए कहना चाहिए। यह एक तरहसे लड़केके लिए भी अच्छा होगा और मुंशीजीके कंधोंसे एक बोझ उतर जायेगा। यदि लड़केकी बहू अपने पतिके साथ नहीं रह सकती तो उसे किसी आश्रममें जगह दिलाई जा सकती है, जहाँ वह अपना जीविकोपार्जन कर सकती है। १० सालके बच्चेको भी किसी आश्रममें रख देना चाहिए। मुंशीजीको खुद अपने लिए कोई उपयुक्त काम चुन लेना चाहिए और वह काम उन्हें करना ही चाहिए। मुझे नहीं मालूम कि क्या परिवारमें बहू ही गृहस्वामिनी है और घर चलाती है। ऐसा हो तो भी उसके राजी हो जानेपर लड़केसे कह दिया जाना चाहिए कि अगर वह अपनी जीविका स्वयं नहीं कमाता तो घर छोड़ दे। जो भी हो, मुंशीजीको स्वयं तो राष्ट्रपर बोझ बने रहनेपर आपत्ति होनी चाहिए; खासकर जब उसकी कोई जरूरत नहीं है।

हृदयसे आपका,

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७६२) की माइक्रोफिल्मसे।

१०६. पत्र : मणिबहन पटेलको

वर्धा
सोमवार [६ दिसम्बर, १९२६][1]

चि० मणि,

सब बहनोंके नाम पत्र इसके साथ हैं। अब तुम्हारा। अभीतक तुम्हारी अनिश्चित स्थिति देखकर मुझे दुःख होता है। मैं नहीं मानता कि तुम्हारे लिए आश्रमसे अधिक अच्छी कोई और जगह हो सकती है। हो सकता है कि आश्रममें भी तुम्हारा जी न लगे। इस स्थितिको दूर करनेका प्रयत्न करो। तुम्हें कब्जकी शिकायत रहती है, पर इसका उपाय तो तुम्हारे हाथमें ही है। अथवा तुम्हें अहमदाबादका पानी मँगाकर पीना चाहिए। जितना आसानीसे पिया जा सके उतना मँगाया जा सकता है। नदीका पानी उबालकर पिओ तो वह भी वही काम देगा। तुम्हें प्रफुल्लित रहनेका दृढ़ निश्चय करना चाहिए। १४ तारीखके बाद यहाँ आनेके विचारपर दृढ़ रहना। यहाँ संस्कृतकी पढाईमें तो मदद मिलेगी ही। हवा तो अनुकूल है ही। मुझे खुले दिलसे जो-कुछ लिखना हो उसे लिखनेमें संकोच न रखना।

रमणीकलालभाईसे कहना कि पूंजाभाईके[2] स्वास्थ्यके बारेमें कोई समाचार नहीं मिल रहा है। इसलिए चिन्ता रहती है। उनका पता क्या है? यदि उन्हें उनके स्वास्थ्यके समाचार मिलते हों तो लिखें।

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

१०७. पत्र : प्रभाशंकर पट्टणीको

सत्याग्रह आश्रम
वर्धा
मार्गशीर्ष सुदी १, १९८३ [६ दिसम्बर, १९२६]

सुज्ञ भाईश्री,

आ गये — बहुत अच्छा हुआ। आपका पत्र वर्धामें मिला। तबीयतके बारेमें आपने कुछ नहीं बताया; लिखिएगा। मुझे मार्चमें तो काठियावाड़[3] जाना ही है, तब

१. साधन-सूत्रके अनुसार।
२. पूँजाभाई शाह।
३. काठियावाड़ राजनीतिक परिषद्के अधिवेशनके लिए।

मिलेंगे ही। यदि जल्दी आनेकी बात हुई तो लिखूंगा। इंग्लैंडसे भी आपका एक पत्र मिला था।

मोहनदासके वन्देमातरम्

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ३२१७) की फोटो-नकलसे।
सौजन्य: महेश पट्टणी

१०८. पत्र: देवचन्द पारेखको

सोमवार [६ दिसम्बर, १९२६][1]

भाई देवचन्द भाई,

साथका पत्र में तुम्हारी जानकारी और सम्हालकर रखनेके लिए भेज रहा हूँ। मैंने उचित उत्तर लिख भेजा है। मैंने लिखा है कि वे[2] भले ही राजनीतिक विषयपर कुछ न कहें और यह भी लिखा है कि हम उन्हें बार-बार काठियावाड़ आनेके लिए नहीं कहेंगे।

बापू

गुजराती पत्र (जी० एन० ५७२२) की फोटो-नकलसे।

१०९. पत्र: रामदास गांधीको

वर्धा
मौनवार [६ दिसम्बर, १९२६][3]

चि० रामदास,

तुम्हारा पत्र मिला। जहाँ श्रद्धा और सरलता है वहाँ अन्ततः सफलता अवश्य मिलती है। अब्बास साहबकी[4] सरलताका क्या कहना! उनमें उतनी ही श्रद्धा भी है, इसीसे परिस्थितियाँ भी अनुकूल मिलती रहती हैं। अब्बास साहबसे कहना कि रेहाना[5]

१. डाककी मुहरमें तारीख ९ दिसम्बर, १९२६ दी गई है; इससे पिछला सोमवार ६ दिसम्बर, १९२६ को था।

२. अमृतलाल ठक्कर, जिन्हें काठियावाड़ राजनीतिक परिषद्की अध्यक्षताके लिए बुलाया गया था, और जिन्होंने, मालूम होता है, अपने पत्रमें इस आमन्त्रणको स्वीकार कर सकनेमें अपनी कठिनाइयोंकी चर्चा की थी।

३. डाककी मुहरसे।

४. अब्बास तैयबजी।

५. अब्बास तैयबजीकी पुत्री।

इस बार मुझे बहुत पसन्द आई। मीराबाईके साथ तो घंटों बातें कीं। बड़ौदामें सोहेली भी मिली थी। वह अब बड़ी हो गई है और उसकी सगाई हो गई है इसलिए बहुत शरमाती थी। मेरे साथ तो उसने बात भी न की। मणिलाल ११ तारीखको बम्बई उतरेगा, बहुत करके उमर सेठ उसे पोरबन्दर उतार लेंगे।

बापूके आशीर्वाद

[पुनश्च :]

अब्बास साहबको अभिवादन।

चि० रामदास गांधी
मार्फत चि० गौरीशंकर व्यास
माणावदर
काठियावाड़

गुजराती पत्र (जी० एन० ६८५१) की फोटो-नकलसे।

११०. पत्र : मणिबहन पटेलको

वर्धा
बुधवार [८ दिसम्बर, १९२६][1]

चि० मणि,

तुम्हारा कार्ड मिला। खुशीसे आओ। रातकी गाड़ी लेनेकी बजाय सुबहकी लेना अच्छा है। फिर जैसी मरजी हो वैसा करना। मुझे अब कोई शादी तो करनी नहीं है कि प्रति क्षण विचार बदलूँ। यह इजारा तो कन्याओंका होता है और कुछ हदतक उसका उपभोग कुमार भी करते हैं।

बापूके आशीर्वाद

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

१. साधन-सूत्रके अनुसार।

१११. पत्र : वसुमती पण्डितको

[८ दिसम्बर, १९२६][1]

चि० वसुमती,

तुम्हारा पत्र मिला। बा आश्रममें ही है। मेरे साथ यहाँ दस-एक लोग हैं। महादेव, सुब्बैया, केशु, लक्ष्मीदासभाई, कृष्णदास, कमलाबहन, दक्षाबहन (तुम नहीं जानती) और रुखी। और फिर राजगोपालाचारी आदि अन्य जो भाई आये हैं वे अलग। क्या तुम्हें वर्धा नहीं आना है? मैं यहाँ २० तारीखतक हूँ, ऐसा मानता हूँ। उम्मीद है तुम्हारी तबीयत अच्छी होगी। कुमारी हॉर्सडिंग भी साथ हैं। मीराबहन दिल्ली गई है।

बापूके आशीर्वाद

श्रीमती वसुमती धीमतराम
केलापीठ

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ४७३) से।
सौजन्य : वसुमती पण्डित

११२. पत्र : राजकिशोरी मेहरोत्राको

बुधवार [८ दिसम्बर, १९२६][2]

चि० राजकिशोरी,

तुमारा खत मीला। तुमको किसी जगह शिक्षाके लीये भेजना तो मुझको बहोत प्रिय है। परंतु इसका यह अर्थ है कि तुमने और प्रजोत्पत्तिका मोह छोड़ दीया है। ब्रह्मचर्यका पालन करनेका निश्चय कीया है, सेवामें हि अपना जीवन व्यतीत करनेकी प्रतिज्ञा की है, तुमारे मात पिता और ससुर सासका आश्रय छोड़ दिया है। उनकी आज्ञा भी है? स्वाश्रयी बननेमें नौकर इ० की सेवाका त्याग करना पड़ता है। मेरा अवलोकन यह है की अबतक तुमने स्वादेंद्रिका संयम नहिं कीया है। और न तुमने दूसरे भोगोंका त्याग कीया है। इन सब बातोंको सोच कर मुझे निश्चय पूर्वक लीखो। दरम्यान आश्रममें होते हुए भी तो बहोत सा अभ्यास हो सकता है सो करो।

बापूके आशीर्वाद

मूल पत्र (सी० डब्ल्यू० ४९५४) से तथा जी० एन० ७४७९ से भी।
सौजन्य : परशुराम मेहरोत्रा

१. डाककी मुहरसे।
२. डाककी मुहरसे।

११३. उनकी अन्य सेवाएँ

मेरे एक मित्रने मुझे फीनिक्स (नेटाल) के 'इंडियन ओपिनियन' की एक कतरन भेजी है। कुछ समय पहले इन पृष्ठोंमें जनरल स्मट्स द्वारा की गई एमिली हॉबहाउसकी प्रशंसा छपी थी। उनके भाषणमें एक बात छूट गई थी। मित्रने उसीकी ओर ध्यान खींचा है। कतरनमें एमिली हॉबहाउसके उस प्रयत्नका उल्लेख है जो उन्होंने बोअर-युद्धके बाद संकटग्रस्त बोअर-स्त्रियोंमें कताई और बुनाईके उद्योगको शुरू करनेके सम्बन्धमें किया था। उक्त अंश इस प्रकार है।[1]

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ९-१२-१९२६

११४. स्वतन्त्रताका मूल्य

दिसम्बर १७७६ में अमेरिकाके स्वतन्त्रता-संग्राममें अंग्रेजोके विरुद्ध युद्धमें रत सेनापति वाशिंगटनके सैनिकोके नाम लिखे गये टॉमस पेनके सन्देशके कुछ अंश ग्रेगने मेरे पास भेजे हैं।[2] वे यहाँ दिये जा रहे हैं :[3]

यहाँ यह बात ध्यान देने लायक है कि शान्तिके सिपाहियों और युद्धके सैनिकों, दोनोसे एक ही गुणकी कहाँतक आशा की जाती है। टॉमस पेनका यह सन्देश अहमदाबाद कांग्रेसके प्रतिज्ञा-पत्रके अनुसार १९२१ में संगठित स्वयंसेवकोंको भी, जिन्होंने विचार, शब्द और कार्यमें सर्वदा शान्ति रखनेका वचन दिया था, करीब-करीब अक्षरश: सुनाया जा सकता था और यह मौजूँ भी होता। अगर स्वतन्त्रता कोई मूल्यवान वस्तु है तो चाहे तुम शारीरिक शक्तिसे उसे जीतो चाहे आत्मिक बलसे, यानी स्वयं कष्ट सहकर, किन्तु मूल्य तो उसका जबरदस्त ही चुकाना होगा। विकट परिस्थितियोंमें अहिंसावादीको भी साहस और वीरताकी अगर अधिक नही तो कमसे-कम उतनी आवश्यकता तो जरूर ही है जितकी तलवार पकड़नेवालेको। स्वराज्य चाहे हम हिंसासे लें चाहे अहिंसासे, स्वराज्य लेनेके लिए हमें सुख और चैनको तिलांजलि देनी ही पड़ेगी — उसमें विलासकी तो कोई बात ही नही। प्रतापने जिसे स्वतन्त्रता माना उसके लिए वह कंगाल बन गया। प्रह्लादने जिसे स्वाधीनता समझा उसके लिए उसने अपना शरीर नष्ट करनेके लिए सौंप दिया। मगर हममें अब भी

१. यहाँ नहीं दिया गया है।

२. देखिए "पत्र: रिचर्ड बी० ग्रेगको", २७-११-१९२६।

३. यहाँ नहीं दिये गये हैं।

ऐसे बहुतसे लोग हैं जो स्वराज्य सेंतमेंत ले लेना चाहते हैं। टॉमस पेन कहता है कि यह तो एक असम्भव बात है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ९-१२-१९२६

११५. सर्वभूतहिताय

'यंग इंडिया' के एक नियमित पाठक लिखते हैं:[1]

मैंने उक्त चिट्ठी और खबर इसलिए दी है कि अपनी स्थिति समझानेमें मुझे इनसे मदद मिल सकती है। मैं जानता हूँ कि पत्र-लेखक 'यंग इंडिया' के बड़े ही सावधान पाठक हैं। अगर उन्होंने मेरी बातोंको इतने गलत रूपमें समझा, जो उनके पत्रसे स्पष्ट है, तो कौन जाने कि जब-तब 'यं० इं०' पढ़नेवालोंमें से ऐसी भूल कितने अधिक लोग न करते होंगे? हमारे दिलोंमें क्रूरता घर कर गई है, इसलिए हम बल-प्रयोगका एक भी मौका हाथसे नहीं जाने देना चाहते; और इसीलिए कई पाठकोंने मेरा ध्यान इस ओर खींचा था कि इससे गलतफहमी पैदा होनेका भय है। आदमी जब किन्हीं नाजुक सवालोंको ले रहा हो तब बहुत अधिक सावधान रहनेके सिवा और क्या कर सकता है। किन्तु अपनी बातोंके बड़ेसे-बड़े दुरुपयोगके भयसे भी परमसत्योंकी खुली और सच्ची चर्चा रोकी नहीं जा सकती। मुझे तो विनीत चर्चा, स्पष्टीकरण और विचार-विनिमयसे ही तत्त्वकी बातका ज्ञान हो पाता है। ऊपरका पत्र तो एक उदाहरण-मात्र है। इस चर्चासे पत्र-लेखक और मेरे बीच एक ही सिद्धान्तके स्पष्टीकरणमें सच्चा मतभेद प्रकट हुआ है।

मेरा मत है कि डाक्टर ब्लेजर छूट भले ही गये हों मगर मेरी समझके अनुसार तो उन्होंने अपनी लड़कीकी जान लेकर भूल की। इससे प्रकट होता है कि उन्हें अपने आसपास रहनेवालोंके मनमें दयाभाव होनेका भरोसा नहीं था। यह मान लेनेका कोई कारण न था कि दूसरे उस लड़कीकी देखभाल न करते। कुत्तोंके मामलेमें जो स्थिति मैंने समझी वह डाक्टर ब्लेजरकी मनःस्थितिसे बिलकुल ही अलग है। मैं यह भी माननेको तैयार नहीं हूँ कि अविकसित प्राणियोंके[2] आत्मा होती ही नहीं। मेरा विश्वास है कि नीची श्रेणीके प्राणियोंके भी आत्मा होती है।

१. पत्र यहाँ नहीं दिया गया है। पत्र-लेखकने पत्रके साथ समाचारपत्रोंकी दो कतरनें भेजी थीं। एक खबरमें अमेरिकाके एक डाक्टर हैरॉल्ड ब्लेजर द्वारा अपनी अर्द्धविक्षिप्त कन्याको क्लोरोफॉर्म देकर मार डालनेकी बात कही गई थी और बताया गया था कि उसमें मुद्दा केवल यही था कि उनकी मृत्युके बाद बेटीको किसीपर बोझकी तरह न छोड़ा जाये। डाक्टरको अदालतने निरपराध घोषित किया। दूसरी खबर थी एक फ्रांसिसी अभिनेत्री द्वारा अपने प्रेमीकी प्रार्थनापर उसे दर्दसे छुटकारा देनेके लिए गोली मार देनेकी। उसे भी अदालतने निरपराध घोषित किया।

२. डाक्टर ब्लेजरके छोड़े जानेमें एक तर्क यह भी था कि लड़की मन और बुद्धिसे अविकसित होनेके कारण 'आत्मासे' हीन थी।

इससे भी अधिक वजनदार दूसरी कठिनाई है, जिसे एक दूसरे पाठक पेश करते हैं। उसे संक्षेपमें यों समझाया जा सकता है:

> आपने जो स्थिति पसन्द की है, मैं उसे समझता हूँ। यही एक मात्र सही स्थिति है। मगर आपका तर्क क्या ज्यादातर लोगोके लाभवाले उपयोगितावादके सिद्धान्तका रूप ग्रहण नही कर लेता? अगर आपकी यही स्थिति हो तो फिर आपके इस अहिंसा सिद्धान्त और उपयोगितावादमें जो अधिकांशके अधिक सुखके लिए प्राण लेते हुए नहीं हिचकता और जो अहिंसाका दम नही भरता, अन्तर ही क्या रह जाता है?

पहले तो बाहरी रूपमें कर्म दोनोंके एक ही जैसे दिख सकते हैं; फिर भी आन्तरिक प्रेरणाके अनुसार उनके गूढ़ार्थोंमें अन्तर होगा। जैसे पश्चिममें अहिंसा मनुष्य तक ही, और वह भी यथासम्भव ही, समाप्त हो जाती है। वहाँ मनुष्य जातिके माने गये लाभके लिए जिन्दा पशुओंको चीरने-फाड़नेमें, या उपयोगितावादके उसी सिद्धान्तके नामपर युद्धके सामान इकट्ठे करनेमें कोई हिचक नही होती। दूसरी ओर अहिंसावादी एकाध बार उपयोगितावादीके साथ विनाशके किसी कर्ममें हाथ बँटा ले सकता है किन्तु जीवित प्राणियोंको चीरने-फाड़नेमें या युद्धकी अनन्त तैयारियोंमें सहायता देनेके बदले वह मर जाना ही अधिक पसन्द करेगा।

बात तो यह है कि अहिंसावादी उपयोगितावादका समर्थन नही कर सकता। वह तो 'सर्वभूतहिताय' यानी सबके अधिकतम लाभके लिए ही प्रयत्न करेगा और इस आदर्शकी प्राप्तिमें मर जायेगा। इस प्रकार वह मरना इसलिए चाहेगा कि दूसरे जी सकें। मरकर वह दूसरोंकी सेवाके साथ अपना कल्याण भी करेगा। सबके अधिकतम सुखमें अधिकांशका अधिकतम सुख भी आ जाता है। और इसलिए अहिंसावादी और उपयोगितावादी कई बार एक ही रास्तेपर मिलेंगे, किन्तु अन्तमें ऐसा अवसर भी आयेगा जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकड़ने होंगे और किसी-किसी दशामें एक दूसरेका विरोध भी करना पड़ेगा। सच कहें तो उपयोगितावादी कभी अपनी बलि नही दे सकता। किन्तु अहिंसावादी तो हमेशा मिट जानेको तैयार रहेगा। सर्वभूतहितवादी कुत्तेको मारेगा तो अपनी लाचारीके कारण मारेगा या तो फिर एकाध बार खुद कुत्तेको कष्टसे बचानेके लिए। यह निश्चय करना कि कुत्तेका लाभ किस बातमें है, बहुत ही खतरनाक है, और इसलिए ऐसा करनेवाला भयानक भूलें कर सकता है। किन्तु यह आपत्ति काम करनेकी मूल प्रेरणाको प्रभावित नही करती। सर्वभूतहितवादी हिंसाके क्षेत्रको सदा कमसे-कम बनायेगा। उपयोगितावादीके लिए हिंसाके क्षेत्रकी कोई सीमा नही है। अहिंसाके सिद्धान्तके अनुसार विचार करनेपर यूरोपीय महायुद्ध सरासर अनुचित मालूम होता है। उपयोगितावादके अनुसार प्रत्येक पक्षने उपयोगिताके अपने विचारके अनुसार अपना पक्ष न्याय-सिद्ध कर दिया है। उपयोगितावादके सहारे जलियाँवाला बाग काण्डको भी उसके करनेवालोंने न्याय-सिद्ध कर दिखाया। ठीक इसी तर्कसे अराजक भी अपनी हत्याओंका समर्थन करते हैं। किन्तु सर्वभूत-

हितवादके सिद्धान्तकी कसौटीपर इनमें से किसी भी कामको समुचित सिद्ध नहीं किया जा सकता।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, ९-१२-१९२६

११६. टिप्पणियाँ

असंगति

मेरा दौरा शुरू हो गया है, और अगर इसे जारी रखना है तो उसके साथ मेरे दुःख भी शुरू हो गये समझिए। लोगोंकी भीड़ दर्शनके लिए आती है। उनकी चमकती आँखों और हँसमुख चेहरोंमें प्रेमकी सच्ची झलक होती है। किन्तु जो बात मैं उनके कानोंमें निरन्तर डालता रहता हूँ, उसके विषयमें वे कुछ भी नही करते। जलगाँवमें गत ४ तारीखको लड़कों और लड़कियोंने मुझे अपने हाथके कते सूतकी सुन्दर लच्छियाँ भेंट कीं किन्तु स्वयं वे भी, कुछ प्रशंसनीय अपवादोंको छोड़कर मिलका ही कपड़ा पहिने हुए थे। मुझे नहीं लगता कि वे लड़के-लड़कियाँ अपने सूत कातनेका कारण समझते भी हैं। लड़कियाँ म्युनिसिपल स्कूलकी छात्राएँ थीं। उन्हें कातना शुरू किये सिर्फ चार ही महीने हुए थे।

अच्छा काम

इन लड़कियोंके कामकी जो रिपोर्ट मेरे पास है, उससे पता चलता है कि म्युनिसिपैलिटीके कुछ स्कूलोंमें कताई शुरू करानेका काम पूर्व खानदेश जिला खादी बोर्डको दिया गया था। क्या ही अच्छा हो अगर दूसरी म्युनिसिपैलिटियाँ इस उदाहरणका अनुकरण करें और अपने यहाँके खादी बोर्डोंको, जिनसे उम्मीद की जाती है कि उनके पास इस विषयके जाननेवाले होंगे, यह काम सौप दें। इस स्कूलमें तकली और चरखा दोनों चलते हैं। सबसे अधिक कातनेवाली लड़कीने ७१८८ गज सूत काता। ऊँचेसे-ऊँचा अंक २२ है। फी घंटा अधिकसे-अधिक ३७५ गज चरखेपर और १२० गज तकलीपर काता जा सका है। रिपोर्टमें कहा गया है:

> चौथी श्रेणीकी लड़कियोंको कातना इतना भा गया है कि उनमें से १५ ने [तकलीके सिवा] चरखेपर भी कातना सीखा है और फुरसतके समय वे उसपर कातती हैं। उनके उदाहरणसे प्रेरित होकर तीसरी श्रेणीकी भी कुछ लड़कियोंने चरखा चलाना सीखा है। यह प्रवृत्ति फैल रही है और अपनी खुशीसे कातनेवाली ऐसी लड़कियोंकी संख्या बढ़ रही है। कुछके लिए तो सूत कातना एक प्रकारका मन बहलाव या खेल हो गया है, क्योंकि वे छुट्टीके दिनोंमें भी कातने आया करती हैं। १२ लड़कियाँ अपनी पूनियाँ आप ही बना लेती हैं और दो तो धुनाई भी सीख रही हैं।

अब ऐसी आशा करनी चाहिए कि कुछ ही दिनोंमें हर लड़की अपनी रुई आप धुन लेगी और पूनियाँ बना लेगी, और शिक्षक लोग उन्हें खद्दर पहननेको कहेंगे। इसके लिए सबसे अच्छा तरीका है लड़कियोंको सूत कातनेका कारण पूरा-पूरा समझा देना और उनकी जरूरतोंके लायक वाजिब कीमतका खद्दर सुलभ कर देना। शिक्षकों-को लड़कियोंके माता-पिताओंसे भी सम्पर्क स्थापित करना चाहिए और इस काममें उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त करना चाहिए। सच्ची बात तो यह है कि ये सब काम तभी हो सकते हैं जब करनेवाले उसमें जी-जानसे लग जायें। इसका सबूत हमें अहमदाबादकी मजदूर शालाओंकी असाधारण सफलतासे मिलता है। अगर सभी कताई शिक्षक अपने-अपने लिए सूतकी परीक्षाका एक घरेलू यन्त्र बना लें तो बड़ा लाभ होगा। उस यन्त्रका वर्णन इन पृष्ठोंमें किया जा चुका है। सूत अगर मजबूत न हो तो अधिक गतिसे क्या फायदा? केवल धागा काढना ही काफी नहीं है। जरूरत ऐसा धागा निकालनेकी है, जिसका ताना बनाया जा सके।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ९-१२-१९२६

११७. पंजाबमें खादी

चरखा-संघकी पंजाब शाखाकी भेजी हुई विस्तृत हिन्दी रिपोर्टका अ० भा० च० सं० के कार्यालय द्वारा तैयार किया हुआ सारांश नीचे दिया जा रहा है।[1] मूलमें के कितने ही ब्योरे इस सारांशमें छोड़ दिये गये हैं। मूलके अनुसार ४२ केन्द्रोंमें खादीका काम हो रहा है। मैं चाहता हूँ कि पाठक समझ सकें, इसका क्या मतलब हुआ। इसका अर्थ है उन गाँवोंमें श्रमिकोंसे जीवन्त सम्बन्ध रखना और उनकी मेहनतके बदले उनमें धनका वितरण करना। बिना सोचे-विचारे शायद कोई यह कह उठे कि 'बनिये भी तो यही करते हैं।' मगर इन मेहनतकश लोगोंका शोषण करनेके लिए उनके बीच जानेवाले बनियेमें और उस देशभक्तमें, जो उनसे काम करके पैसा लेनेको कहता है, बहुत बड़ा अन्तर है। चरखेके एक बार जड़ पकड़ लेनेपर उसका आकर्षण अदम्य होगा। इसके फलस्वरूप जो लोग मेहनत करनेको तैयार हैं उनके घरोंसे, परिवारके छिन्न-भिन्न होनेकी नौबत आये बिना, भुखमरीका भूत भाग जायेगा। पंजाबके कामकी खूबी यह है कि वहाँका काम अबतक करीब-करीब स्वावलम्बी हो गया है। वहाँ बट्टे खाते डालने लायक रकमें हैं ही नहीं। सूत और प्रति गज दो आना बुनाई देनेके बदलेमें खादीका तैयार कपड़ा पा लेना वहाँकी एक बड़ी विशेषता है और इससे बहुत अधिक लाभ होनेकी सम्भावना है। मैं समझता हूँ कि यह बात केवल पंजाबके लिए ही सम्भव है, जहाँ, जैसा कि रिपोर्टमें कहा गया है, अभीतक बहुतसे स्त्री-पुरुष खद्दर पहनते आ रहे हैं। लाला किशनचन्द भाटियाको इस बातका गर्व होना स्वाभाविक

१. यहाँ नहीं दिया गया है।

ही है कि उन्हें अपने ही यहाँ कम दामपर चादरें छपवा लेनेमें सफलता मिली। उन्होंने खादी प्रतिष्ठानका चरखा भी मँगाया है और उसके जैसा चरखा बनवानेमें उन्हें सफलता भी मिली है। और जगहोंकी तरह पंजाबमें भी खरीदारोंके अभावका रोना है। जिस रफ्तारसे खद्दर तैयार होता है, उस रफ्तारसे वह बिक नहीं पाता। सभीको देशके लिए मरनेकी जरूरत नहीं है; लेकिन क्या हम उसके लिए मैनचेस्टर या जापानकी मिलोंमें बने नयेसे-नये ढंगके कपड़ोंके साथ दाम और रूपमें मुकाबला न कर सकने तक खद्दर पहनना शुरू नही कर सकते? अगर खद्दरके लिए हम एक भी पैसा अधिक न दे सकें या अपने कपड़ोंकी पसन्दगीमें थोड़ा भी संयम न बरत सकें तो हमारे स्वदेश-प्रेमकी कीमत ही क्या है? पंजाबके पास कपास है, कातने-बुनने और व्यापारके लिए बुद्धि तथा शक्ति है। तब क्या पंजाबके लोगोंमें इतनी देश-भक्ति भी न होगी कि जिस रफ्तारसे खद्दर तैयार होता जाये उसी तेजीसे वे उसे खरीदते भी जायें? यह बात तो होनी ही नहीं चाहिए कि मुझे या जमनालालजीको या किसी दूसरेको ही खद्दरके लिए पैसा जमा करने या उसे बेचनेके लिए वहाँ जाना पड़े।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ९-१२-१९२६

११८. अलौकिकतावादका नाश हो!

सेवामें
सम्पादक, 'यंग इंडिया',
महोदय,

औरंगजेबने काशीके विश्वनाथ मन्दिर-जैसे पूजा-स्थलको भ्रष्ट किया और तोड़ा, और जब आप अपने 'मजहबमें विश्वास रखनेवाले' उस-जैसे मनुष्यके इस कार्यके औचित्य और अनौचित्यपर विचार करते हैं तो कहते हैं कि उसने अपने 'धर्म'के अर्थात् इस्लामके 'अनुरूप कार्य नहीं' किया ('यंग इंडिया', ४-११-१९२६)। क्या आप इस प्रकार यह मानकर नहीं चल रहे कि आप इस्लामके बारेमें स्वयं इस्लामके नबीसे अधिक जानते हैं? क्योंकि आपको जानना चाहिए कि स्वयं मुहम्मदने, जिन्हें औरंगजेब अपना सबसे बड़ा आदर्श मानता था, शत्रुओंको जीतकर मक्का शहरमें घुसनेपर मूर्तिपूजासे सम्बन्धित वहाँकी समस्त वस्तुओंको और पूजाकी जगहोंको बरबाद कर दिया था। इसमें अपवाद काबाका पत्थर और कुछ ऐसी ही दूसरी चीजें थीं जिनमें स्वयं उनको भी विश्वास था। इस प्रकार आपको या तो यह कहना चाहिए कि (१) मुहम्मद ऐसे धार्मिक पुरुष थे जो केवल उसी बातको मानते थे जिसमें स्वयं उनका विश्वास होता था, किन्तु तब आपकी यह बात आपकी उस पहले कही हुई बातसे मेल नहीं

खायेगी कि मानव जातिके समस्त महान् धर्म-शिक्षक ऐसे लोग थे जिनमें ईश्वर-का रूप प्रकट हुआ था। (देखिए 'यंग इंडिया', ८-७-१९२६, पृष्ठ २४४ स्तम्भ २); अथवा (२) अरबके इस नबी (ईश्वर उन्हें शान्ति दे!) के मूर्तिपूजा विरोधी समस्त कार्योंको आलंकारिक कह देना चाहिए, जैसा कि जब आप दूसरे धर्मोंके धर्मग्रन्थोंमें ऐसी कोई बात देखते हैं जो शब्दशः लेनेपर आपकी समझमें नहीं आती या आपकी बुद्धिमें नहीं जँचती तो आप उसे प्रायः आलंकारिक मान लेते हैं; अथवा (३) आपको मुहम्मद साहबकी जीवन कथाको जिसे सभी ठीक मानते हैं, असत्य कहकर माननेसे इनकार कर देना चाहिए। यदि कोई चौथा रास्ता हो तो आप बतानेकी कृपा करें; किन्तु कृपया आप यह याद रखें कि औरंगजेबको समस्त सुन्नी उलेमाओंने और इतिहासकारोंने 'जिन्दा पीर' कहा है। इन लोगोंने औरंगजेबके मन्दिर-विध्वंसके कृत्योंके विरुद्ध, जहाँतक मैं जानता हूँ, कुछ नहीं कहा है, किन्तु इसके विपरीत उनमें से कईने उसके इन कृत्योंकी सराहना की है।

मक्का, मदीना और तैफमें वहाबी सम्प्रदायके अनुयायी इब्न सऊदने धर्म स्थानोंको जो अपवित्र किया, उनको ध्वस्त किया और कत्ले-आम कराया उसके विषयमें भारतके उलेमाओंमें अलग-अलग रायें हैं और जबकि उलेमाओंके एक वर्ग (अहले हदीस) ने इब्न सऊदके इन कृत्योंको इस्लाम-सम्मत बताया है, वहीं दूसरी ओर दूसरे उलेमा (शिया लोग और हनफी आदि) उन्हें इस्लाम-विरुद्ध मानते हैं। क्या इस बातको ध्यानमें रखते हुए ऊपर बताया तथ्य महत्त्वपूर्ण नहीं लगता? लेकिन मैं अभीतक एक भी ऐसे विद्वान और धर्म-प्राण उलेमासे नहीं मिला हूँ जो हिन्दुओंके पवित्रतम धर्मस्थलोंपर औरंगजेब द्वारा किये गये जुल्मोंकी हृदयसे भर्त्सना करता हो। वे तो उन्हीं सनातनियोंकी तरह हैं जो बस चले तो भारतमें अस्पृश्यता-निवारणका प्रयत्न करनेके लिए आपको उतनी ही तत्परतासे फाँसीपर चढ़ा दें जितनी तत्परतासे वे दक्षिण आफ्रिकाके गोरोंको भारतीयोंके साथ अस्पृश्यों-जैसा व्यवहार करनेके कारण फाँसीपर चढ़ा देंगे।

इस प्रकार मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि अलौकिकताका दावा करने वाले सभी धर्मोंमें संघर्ष और असंगतियोंका होना अनिवार्य है। अतः ऐसे धर्मोंको आप कितना ही उदार बनानेकी कोशिश करें लेकिन आप उन्हें तब तक उदार नहीं बना सकते जबतक आप उनमें इतना सुधार न कर दें कि उनका मूल स्वरूप ही खतम हो जाये। उन्हें सुधारनेका तरीका यही है कि उन्हें खतम कर दिया जाये। उदारवाद उनको खतम करके ही लाया जा सकता है। मेरा यही मत है; और मैं जितना ही सोचता हूँ मेरा यह मत उतना ही दृढ़ होता जाता है।

लगता है राजा युधिष्ठिरने सत्यकी कुछ झलक पा ली थी, क्योंकि तभी उन्होंने यक्षको इस प्रकार उत्तर दिया था:

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयश्च भिन्ना
नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्
महाजनो येन गतः सपन्थाः॥

अतः धर्म जिस गुफामें रहता है, उसे वहीं पड़े रहने देना अच्छा है!

आपका,
एक सत्यान्वेषी

पाठकोंको यह सुन्दर पत्र पढ़कर प्रसन्नता होगी। लेखकने मुझपर जो चोट की है वह मजेदार है। जिस चीजका बचाव नहीं किया जा सकता उसका बचाव करनेके लिए लेखककी रायमें, मैं जो तीन तरीके काममें लाता हूँ उनमें से मेरा विचार किसीका भी उपयोग करनेका नहीं है। जहाँतक मैं जानता हूँ मक्कामें पैगम्बर साहबने मूर्तियोंका जो भंजन किया और औरंगजेबने जो विध्वंस किया उनमें कोई समानता नहीं है। और अगर ऐसा पता चले कि पैगम्बर साहबने कभी-कभी कुछ गलतियाँ भी कीं तो इससे यही सिद्ध होगा कि वे भी गलतियाँ कर सकते थे। तथापि इस बातसे उनकी उस महानतामें कमी नहीं आती जो उन्हें एक दैवी शक्तिसे प्रेरित सन्तके रूपमें प्राप्त है और जिनमें अधिकांश अवसरोंपर खुदाकी झलक ही मिलती थी। उन्होंने स्वयं कभी कोई ऐसा दावा नहीं किया कि उनसे कोई गलती नहीं हो सकती। वे अकसर अपने साथियोंसे परामर्श लिया करते थे। एक अवसरपर जब उन्होंने उमरसे सलाह माँगी, तो उमरने कहा कि आपका खुदासे सीधा सम्पर्क है, अतः आपको किसीसे सलाह लेनेकी जरूरत नहीं है। लिखा है कि इसपर मुहम्मदने उमरको जवाब दिया कि यदि इस अवसरपर उन्हें ईश्वरका निर्देश मिल गया होता तो वे उमरकी सलाह न माँगते। मैं जानता हूँ कि 'सत्यान्वेषी' का मन्शा सचमुच यह कहनेका नहीं है कि मैं किसी भी अटपटी बातको बिना किसी समुचित कारणके ही "आलंकारिक कहकर टाल देता हूँ।" मैं मानता हूँ कि उनका मन्शा यह है कि मैं "बहसमें पड़ूँ।" जो भी कारण हो, मैं उन्हें तथा सभी सम्बन्धित लोगोंको विश्वास दिलाता हूँ कि जब कभी मैंने किसी विवरणको आलंकारिक बताया है तब मैंने वैसा माननेके आन्तरिक और ठोस प्रमाण दिये हैं। और न फिर मैं किसी ग्रन्थको बिना पर्याप्त कारणके काल्पनिक या असिद्ध-प्रमाण कहकर ही ठुकराता हूँ। पत्र-लेखककी भाँति ही एक सत्यान्वेषीके नाते मुझमें अपनी गलतियाँ और अपनी सीमाएँ स्वीकार करनेका साहस है, ऐसा मेरा विश्वास है। सभी धर्म-ग्रन्थोंमें बहुतसी ऐसी बातें हैं जो मुझे चक्करमें डालती हैं। मैं आशा करता हूँ कि किसी दिन मुझे उनके विषयमें प्रकाश मिलेगा। उस समयतक मैं विनम्रता और धैर्यके साथ प्रतीक्षा करना चाहता हूँ। मनुष्यके लिए सब-कुछ जानना जरूरी नहीं है।

किन्तु लेखकके पत्रका सबसे गम्भीर भाग वह है जिसमें उसने दैवी शक्तिका खण्डन किया है। मेरा उनसे कहना है कि जितनी पहेलियों और असंगतियोंके उत्तर

दैवी शक्तिके समर्थकोंको देने होते हैं उतने ही बुद्धिवादियोंको भी देने होते हैं। कुछ अत्यन्त शुद्ध और उत्कृष्ट लोग जब अपने विश्वासके आधारपर नही बल्कि अपने अनुभवके आधारपर इस बातकी गवाही देते हैं कि कोई एक ऐसी चीज अवश्य है जो ज्ञानेन्द्रियोंसे परे है तो क्या यह उनका ढोंग और भ्रम-मात्र है? मनुष्यकी पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे परे कुछ नही है, ऐसा फतवा दे देना क्या दम्भपूर्ण दावा करना नही है? इस बातको कौन 'अनुभव' नही करता कि ऐसे भी रहस्य हैं जिनकी थाह बुद्धि नही ले सकती? हम नित्य देखते हैं कि जो लोग श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं उनके चरित्रमें एक आकस्मिक परिवर्तन हो जाता है। क्या इस बातसे निर्विवाद रूपसे यह प्रकट नही होता कि ऐसी बातें हैं जिनको हम बुद्धिसे समझ या समझा नही सकते? लेखकने जिस प्रसिद्ध श्लोकको उद्धृत किया है उसमें भी आखिर यह कहा गया है कि धर्मको हृदयसे ही जाना जा सकता है, उसे अन्यथा जानना कठिन है। और जिस महान् ग्रन्थसे यह श्लोक लिया गया है उसके रचयिता भी स्वयं दैवी शक्तिमें विश्वास रखते थे। सृजन और संहारका रहस्य स्वयं ही दैवी शक्तिका एक जीता-जागता प्रमाण है। जब मनुष्य अपनी बुद्धिसे जीवकी सृष्टि करनेमें सफल हो जायेगा, तभी वह इस प्रकारकी हँसी उड़ानेका अधिकारी बनेगा।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, ९-१२-१९२६

११९. पत्र : मीराबहनको

वर्धा
९ दिसम्बर, १९२६

चि० मीरा,

तुम्हारे दोनों पत्र मुझे एक ही दिन मिले। मुझे खुशी है कि तुमने इतने विस्तारसे लिखा। यह आदत बनाये रखना। यहाँ जब घूमने जाता हूँ, तुम्हारी याद आती है। हम उसी पुराने रास्तेपर जाते हैं। मुझे आशा है कि तुम्हें मेरे दोनों पत्र मिल गये होंगे। गौहाटी जानेके बारेमें अभी कुछ पक्का नही है।[1] तुम हकीमजी और मौ० मुहम्मद अलीसे अवश्य मिलना। तुम्हें उनकी पत्नी और बेटियोंसे भी मिलना चाहिए।

सस्नेह,

बापू

श्रीमती मीराबाई
कन्या गुरुकुल
दरियागंज, दिल्ली

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५१९०) से।
सौजन्य : मीराबहन

१. गौहाटीमें होनेवाले कांग्रेस अधिवेशनमें भाग लेनेके लिए।

१२०. पत्र : शुएब कुरैशीको

वर्धा
९ दिसम्बर, १९२६

प्रिय शुएब,

निग्गी [वाली] जमीनके सम्बन्धमें शंकरलालकी मार्फत तुमने जो कागजात भेजे थे, वे इतने दिनोंतक मेरे पास, बल्कि मेरे सामने ही, पड़े रहे। अब मैंने उन सबको सावधानीसे पढ़ लिया है। पंच लोगों या उन्हें जो भी कहा जाये, की, बैठक की रिपोर्टपर सभी पक्षके लोगोंने हस्ताक्षर नहीं किये हैं। अतएव सर्वश्री भोपटकर और दाण्डेकरका, उन्हें जो ठीक लगे सो संशोधन करना, कानूनी दृष्टिसे गलत नहीं कहा जा सकता। मैं उनके गुण-दोषोंपर विचार कतई नहीं कर रहा हूँ और मे यह भी नहीं समझता कि मूल मसौदेसे संशोधनमें कुछ खास फर्क है।

जहाँतक मैं देख सकता हूँ केवल एक ही संशोधन महत्त्वका है। और वह यह है कि "हिन्दुओंको पहलेकी भाँति हमेशा इस जमीनपर से गुजरनेका हक होना चाहिए।" क्या मूल मसौदेमें जो-कुछ कहा गया था उसका यह मतलब नहीं निकाला जा सकता?

चौथे अनुच्छेदमें उल्लिखित बैलगाड़ीके रास्तेका क्या प्रयोजन है? क्या उसका ऐसा उद्देश्य था कि बैलगाड़ीके रास्तेसे लोग देहू तो जा सकेंगे लेकिन पादुकातक नहीं जा सकेंगे। हिन्दुओंका पादुकातक जानेका हक कायम रहनेकी बात मंजूर करनेके बाद मेरी रायमें बाकी सब बातें गौण हो जाती हैं।

यदि तुम इस मामलेमें दिलचस्पी ले रहे हो तो मैं तुम्हें सलाह दूँगा कि दस्तावेजोंका ध्यानसे अध्ययन करो और न्यासियोंका ठीक मार्गदर्शन करो। यदि दस्तावेजमें कही गई बातोंसे हिन्दू पंच अभीतक मोटे तौरपर सहमत हों तो मैं समझता हूँ कि समझौता हो जानेकी पूरी उम्मीद है।

आजकल तुम क्या कर रहे हो? अखिल भारतीय चरखा संघकी ओरसे जो जिम्मेदारी तुमने अपने ऊपर ली है, क्या तुम्हारा इरादा उसे निभानेका है? उस हैसियतसे किये गये अपने कामोंका लेखा-जोखा तुम्हें अध्यक्षको देना है और उससे भी ज्यादा बड़ी बात यह कि अपनी अन्तरात्माको देना है।

हृदयसे तुम्हारा
मो० क० गांधी

अंग्रेजी पत्र (एस० एन० १२३८१) की फोटो-नकलसे।

१२१. पत्र : गॉर्डन लॉको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
९ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र[1] मिला। उसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ। हिन्दू धर्मके सम्बन्धमें जिन पुस्तकोंको पढ़नेकी मैं सिफारिश कर सकता हूँ वे हैं सर एडविन आर्नोल्ड द्वारा किया गया 'भगवद्गीता' का अनुवाद जिसका नाम 'सांग सेलेस्टियल' है, उन्हींकी लिखी 'लाइट ऑफ एशिया', मैक्समूलर कृत 'इंडिया: व्हाट इट कैन टीच अस', तथा दत्तकी छन्दबद्ध संक्षिप्त 'रामायण' और 'महाभारत'। कुछ अन्य पुस्तकें भी हैं, लेकिन मैं समझता हूँ कि हिन्दू दर्शनका ठीक अन्दाज इनसे मिल जाता है।

क्या आप जानते हैं कि १९१५ से मैंने फोटोग्राफरोंसे फोटो बनवाना बन्द कर दिया है।[2] मेरे पास अपनी फोटोकी एक भी प्रति नही है। पुस्तक व लेखन सामग्रीकी दूकानोंपर और अन्यत्र जो फोटो बिक रहे हैं, वे सब मेरी अचानक खीची गयी तसवीरें हैं। यदि आप चाहें कि इनमें से ही एक फोटो, जिनके बारेमें मित्रोंका कहना है कि वे मेरा सही रूप प्रस्तुत नहीं करते, लेकर भेज दूँ, तो मैं एक फोटो खरीद लूँगा और खुशीसे उसपर दस्तखत कर दूँगा। लेकिन लड़के यदि मेरा बाहरी स्वरूप कैसा है, इसकी अपेक्षा इसपर अधिक ध्यान दें कि मैं किस सिद्धान्तका प्रतिनिधित्व करता हूँ तो मैं उसे कहीं ज्यादा पसन्द करूँगा। लेकिन मैं उस विषयमें भी कोई व्यवस्था नही देना चाहता। वे स्वयं अपनी रुचिसे बातें चुनेंगे या फिर आप उनके लिए मार्ग तय करेंगे।

आपके यहाँके लड़कोंको मेरा सन्देश इस प्रकार है: सबसे जरूरी बात यह है कि हर हालतमें सत्यका ही चिन्तन, उच्चारण, और आचरण करे। 'हर हालत' पर विशेष आग्रह रहे।

हृदयसे आपका,

श्री गॉर्डन लॉ
बॉयेज सेक्रेटरी
यंग मैन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन
न्यूबर्ग
न्यूयॉर्क, यू० एस० ए०

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७५६) की फोटो-नकलसे।

१. लॉ ने ५ नवम्बरको पत्र लिखते हुए यह जानकारी देनेका अनुरोध किया था कि हिन्दू-ग्रन्थोंसे उन्हें क्या पढ़ना चाहिए (एस० एन० १०८३६)।

२. पत्र-लेखकने गांधीजीके एक हस्ताक्षरित फोटोके लिए आग्रह किया था।

१२२. पत्र : सुरेश बनर्जीको

वर्धा
९ दिसम्बर, १९२६

प्रिय सुरेश बाबू,

आपका पत्र मिला। आशा है कि आप अपने हृदय-रोगसे पूरी तरह छुटकारा पा जायेंगे।

मेरी समझमें नहीं आता कि प्रफुल्ल बाबूके निर्णयपर खुश होऊँ या दुःख मानूं। यह सब तो निर्णयके पीछे जो मंशा है, उसपर निर्भर करेगा। मैंने उन्हें लिखा है कि यदि वे चाहें तो वर्धा आ जायें। उनके प्रतिष्ठानसे नाता तोड़ लेनेसे सतीश बाबूको गहरा सदमा पहुँचा है। आपको किसी दिन वर्धा जरूर आना चाहिए और विनोबासे परिचित होना चाहिए। यदि मैं गौहाटी गया तो लौटते समय आपके साथ कुछ दिन बितानेका अपना वायदा भूला नहीं हूँ। मैं अभी तय नहीं कर पाया हूँ।

हृदयसे आपका,

डा० सुरेश बनर्जी
अभय आश्रम
कोमिल्ला

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७५७) की माइक्रोफिल्मसे।

१२३. पत्र : रामदेवको

वर्धा
९ दिसम्बर, १९२६

प्रिय रामदेवजी,

आपका पत्र मिला। मुझे 'प्रैक्स ऑफ एंग्लिसाइज्ड इंडियन्स' के उद्धरणवाले पत्रके मिलने की याद नहीं पड़ती। यदि आप मुझे उस पत्रकी एक नकल भेज दें तो मैं देखूंगा कि मैं उसका क्या उपयोग कर सकता हूँ। मैं आपके लघु लेखकी प्रतीक्षा करूँगा।

आप चाहें तो योजना प्रकाशित कर दें; या फिर उसके बारेमें जैसा चाहें, कर सकते हैं।

अपने आगामी गुरुकुलके दौरेका मुझे ध्यान है। उसके लिए तो मैं स्वयं भी बहुत उत्सुक हूँ; लेकिन आप मेरे १३ दिन वहाँ रुकनेकी आशा नहीं करेंगे। क्या वही समय कुम्भ मेलेका भी है?

लघु-लेख मिल गया है।

हृदयसे आपका,

श्रीयुत रामदेवजी
गुरुकुल विश्वविद्यालय
डा० खा० गुरुकुल कांगड़ी
(बिजनौर) संयुक्त प्रान्त

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७५८)की माइक्रोफिल्मसे।

१२४. पत्र : विधानचन्द्र रायको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
९ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

मोतीलालजी तथा अन्य मित्रोंसे मेरा जो पत्र-व्यवहार चल रहा है, उसे दृष्टिमें रखते हुए मैंने जानबूझकर आपके तारका जवाब मुल्तवी रखा है। गौहाटी जानेके बारेमें मैं अभीतक कुछ तय नहीं कर पाया हूँ। मोतीलालजीने मुझे अभी-अभी एक आदेशात्मक तार भेजा है; लेकिन मैंने उन्हें जो पत्र लिखा है, उसके सुविचारित जवाबकी मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। यदि मैं किसी हालतमें गौहाटी जाता भी हूँ, तो वहाँ जाते समय रास्तेमें असम मेलके छूटनेतक केवल कुछ घंटे कलकत्ता रहूँगा। इसलिए मैं आपको अभी कोई निश्चित जवाब नहीं दे सकता।

मुझे आशा है कि अस्पताल तरक्की कर रहा होगा।

हृदयसे आपका,

डा० विधान राय
चित्तरंजन अस्पताल
रसा रोड
कलकत्ता

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७५९) की माइक्रोफिल्मसे।

१२५. पत्र : हकीम अजमलखाँको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
९ दिसम्बर, १९२६

प्रिय हकीम साहब,

आश्रमसे रवाना होते समय आपका पत्र मिला। पत्र आपके सचिवका लिखा हुआ था। मैं पत्रका आशय समझ नहीं सका हूँ। मुझे नहीं मालूम कि श्री सी० विजयराघवाचारीने आपको क्या लिखा है। क्या आप चाहते हैं कि मैं उन्हें पत्र लिखूँ?

आशा है कि अब आप पूरी तरह फिर स्वस्थ हो गये होंगे। पता नहीं कि आप इन दिनों सार्वजनिक जीवनमें कुछ दिलचस्पी ले रहे हैं या नहीं। मैं चार दिन पहले वर्धा आया था; और शायद कुछ दिनों यहाँ रहूँ। इस बार मैं गोहाटी जाना टालना चाहता हूँ और मैं मोतीलालजी तथा अन्य लोगोंको इसके लिए राजी करनेकी कोशिश कर रहा हूँ कि वे मुझे मुक्त कर दें।

हृदयसे आपका,

हकीम साहब अजमलखाँ
शरीफ मंजिल
दिल्ली

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७६०) की फोटो-नकलसे।

१२६. पत्र : एन० एस० हार्डीकरको

वर्धा
९ दिसम्बर, १९२६

प्रिय डा० हार्डीकर,

मैं आपके पत्रका उत्तर इससे पहले सिर्फ इस कारणसे नहीं दे सका कि मुझपर कामका बहुत बोझ था। और जिस समय मुझे आपका पत्र मिला, 'यंग इंडिया' की प्रति भी मेरे सामने नहीं थी।

मुझे कर्नाटक खींचकर ले जानेके लिए आपको एक लाखकी खद्दर बेचनी होगी और खद्दर कार्यके लिए एक लाख इकट्ठा भी किया जा सकना चाहिए। आपका कहना है कि आप कर्नाटकके राजनैतिक जीवनको नया स्वरूप देनेके लिए मुझे वहाँ आनेपर राजी कर लेंगे। क्या आप खादीके राजनैतिक जीवनको नया स्वरूप दे सकनेकी

सामर्थ्यमें विश्वास करते हैं? क्या आप जानते हैं कि मैंने खादीके लिये अपना सब-कुछ दाँवपर लगा दिया है। मेरी प्रस्थापना यह है कि आप जिस हदतक खादीको बढ़ाते हैं, ठीक उसी हदतक देशके राजनैतिक जीवनको भी आगे बढ़ाते हैं; उससे तनिक भी ज्यादा नहीं। जिस क्षण मैं इस सत्यको लोगोंके मनमें बैठा सकूँगा, उसी क्षण हम प्रगतिके पथपर आगे बढ़ चलेंगे।

हृदयसे आपका,

डा० एन० एस० हार्डीकर
हुबली

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७६३) की माइक्रोफिल्मसे।

१२७. पत्र : एच० सी० हलको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
९ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका कृपापत्र[1] मिला। अमेरिका आनेके लिए आपकी ओरसे मुझे मिलनेवाला यह चौथा निमन्त्रण है। जाने क्यों कुछ ऐसा है कि अभी फिलहाल मुझे अपने अन्तरमें इसकी प्रेरणा नहीं मिलती। यदि केवल इच्छाके इशारेपर चलनेकी बात हो तब तो मुझे आपके निमन्त्रणपर तत्काल चला आना चाहिए। लेकिन मेरे भीतर कोई चीज मुझे यह बताती है कि यदि मैं अपने विचारोंपर यहीं रहकर अमल करूँ, फिर भले ही वह कितना ही अपूर्ण क्यों न हो, तो इस अमलके द्वारा जितने प्रभावशाली ढंगसे मैं अपना सन्देश दे पाऊँगा उतने प्रभावशाली ढंगसे अमेरिका जाकर नहीं दे सकता।

हृदयसे आपका,

हन्ना क्लोदियर हल
नेशनल चेयरमैन
५०४, वालनट लेन
स्वार्दमोर, पेनसिलवानिया,
यू० एस० ए०

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७६४) की फोटो-नकलसे।

१. ६ नवम्बरको हलने अपने पत्रमें गांधीजीको लिखा था कि विमेन्स इन्टरनेशनल लीग फॉर पीस ऐंड फ्रीडम उनकी अमेरिका यात्राका हृदयसे स्वागत करेगी और यह भी लिखा था कि "हम समझते हैं कि आपका शान्ति और सद्भावनाका सन्देश हर जगहके लोगोंके लिए है और यदि स्वयं आकर आप यह सन्देश अपने मुखसे देंगे तो पूरे आन्दोलनको बड़ी मदद मिलेगी" (एस० एन० १०८३७)।

१२८. पत्र : फ्रांसिस्का श्टांडेनटको

[पत्रोत्तरका पता:]
आश्रम, साबरमती
९ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। आपको खादी नहीं मिली मुझे इसका बहुत खेद है। मेरा खयाल था कि मैं उसके लिए समुचित प्रबन्ध कर चुका हूँ। आपका पत्र पानेपर कि आपको अभीतक स्वामीसे, जो उस समय यात्रापर था, खादी नहीं मिली है, मैंने स्वामीसे कह दिया है और मैं आशा करता हूँ कि आपको पत्रके मिलनेतक खादी मिल गई होगी।

आपने जिस 'कान्शन्स' नामक अखबारका उल्लेख किया है, उसमें मैंने किसी किस्मकी कोई चीज छपने नहीं भेजी। ऐसा कोई अखबार है, इसकी जानकारी भी मुझे आपसे ही मिली। कितने ही लोग मेरी अनुमति या जानकारीके बिना मुझसे सम्बन्धित तमाम बातें लिख दिया करते हैं।

आप मुझे सुविधानुसार सूचित करें कि जो खादी आपको मिली, वह वहाँ काफी उपयोगी रही या नहीं। निश्चय ही उस जलवायुमें आपको ऐसे सभी ऊनी कपड़ोंका इस्तेमाल करनेमें नहीं झिझकना चाहिए जो आपके लिए जरूरी हों। खद्दर सम्बन्धी नियम तो एकदेशीय है, सर्वदेशीय नहीं। भारतमें जब हमारी अपनी कपास है, और उससे कपड़ा बना सकनेकी योग्यता हममें है, तो फिर हमें ऐसा कपड़ा नहीं ही पहनना चाहिए जो यहाँका बना नहीं है, बाहरसे मँगाया हुआ है। और सो भी तब जब कि करोड़ों लोग अभी धंधेके अभावमें निठल्ले हैं, और उन्हें खद्दरके उपयोगमें लगाना उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

हृदयसे आपका,

श्रीमती फ्रांसिस्का श्टांडेनट
ट्राउटमान्सडॉर्फगास नं० १
ग्राज (श्टीरियामें)
ऑस्ट्रिया

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७६५) की माइक्रोफिल्मसे।

१२९. पत्र : सो० ब० स्पिल्लेनारको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
९ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र[1] मिला। आश्रमके सदस्यके रूपमें ऐसे किसी भी व्यक्तिको दाखिल करनेपर बन्दिश नहीं है जिसका स्वास्थ्य अच्छा हो और जो जिन्दगीकी कठिनाइयाँ झेलनेको, गरीबीमें रहनेको और बराबर श्रम करनेको तैयार हो। लेकिन मैं आपको सलाह दूँगा कि आप भारत न आयें, जहाँकी जलवायु आपके देशकी जलवायुसे भिन्न है और जहाँके रीति-रिवाज और आदतें आपके यहाँसे बहुत ही भिन्न हैं। मेरे खयालसे आपको जितना जरूरी लगे उतना परिवर्तन करके वहीं आश्रमके जीवनकी अनुकृति तैयार कर लेनी चाहिए। मैं आपको यह सलाह नहीं दे सकता कि आप भारत आकर अपना स्वास्थ्य खतरेमें डालें; या यहाँ आकर निराशाका अनुभव करें।

हृदयसे आपका,

सोहन्ना बट्टीजी स्पिल्लेनार
६१, पी० डब्ल्यू० ११४ स्ट्रीट
न्यूयार्क सिटी

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७६६) की फोटो-नकलसे।

१३०. पत्र : रोलो रसेलको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
९ दिसम्बर, १९२६

इतने वर्षोंके बाद आपका पत्र पाकर मुझे बड़ी खुशी हुई। आपने जो पुस्तक मुझे भेजी है, मिल गई है। उसे पढ़नेकी मेरी बहुत इच्छा है, लेकिन मैं नहीं जानता कि मैं उसे कब पढ़ सकूँगा।

१. २० अक्तूबरको लिखे एक विस्तृत पत्रमें संगीत और कलाकी शिक्षिका स्पिल्लेनारने, जिन्हें अपने काममें रुचि नहीं बच रही थी, और जो 'आध्यात्मिक प्रकाश' पाना चाहती थीं, गांधीजीसे आश्रममें अपने ११ सालके लड़के सहित दाखिल होनेकी अनुमति चाही थी (एस० एन० १०९३१)।

मेरा जीवन बहुत कठिन है, जैसा आपने उसे जोहानिसबर्गमें देखा था, उससे भी ज्यादा। मैं भी कुछ अनुभवके बाद इसी निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि आपके जीवनपर आप जो कुछ पढ़ते हैं, उसका नहीं, वरन् आप जैसा सोचते हैं उसका प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी पोलक परिवारसे मुझे आपके बारेमें समाचार जरूर मिलते रहते हैं, और तब मुझे यह जानकर खुशी होती है कि आप अब भी वैसे ही निश्छल हृदय व्यक्ति हैं जैसा कि मैं जोहानिसबर्गमें आपको जानता था।

मैं श्रीमती रसेलको दो शब्द लिख रहा हूँ।

हृदयसे आपका,

केन्ट हाउस
१, नॉटिंघम प्लेस
डब्ल्यू० आई०

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७६७) की फोटो-नकलसे।

१३१. पत्र : श्रीमती रोलो रसेलको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
९ दिसम्बर, १९२६

प्रिय श्रीमती रसेल,

आपके पतिके लिखे पद्योंकी पुस्तक पाकर मुझे बड़ी खुशी हुई। मैं इस उपहारको मूल्यवान मानता हूँ; हालाँकि यह नहीं कह सकता कि पुस्तक पढ़ कब सकूँगा। मेरा सारा समय रहन रखा हुआ है।

हृदयसे आपका,

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७६८) की माइक्रोफिल्मसे।

१३२. तार : एस० श्रीनिवास आयंगारको[1]

[१० दिसम्बर, १९२६ या उससे पूर्व]

२४ को गौहाटी पहुँच रहा हूँ।

[अंग्रेजीसे]
बॉम्बे क्रॉनिकल, ११-१२-१९२६

१. श्रीनिवास आयंगार गौहाटीमें होनेवाले कांग्रेस अधिवेशनके अध्यक्ष चुने गये थे।

१३३. पत्र : जी० वी० केतकरको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
१० दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। गीता-दिवस मनानेका आपका विचार और जिस ढंगसे आप उसे मनाना चाहते हैं वह मुझे बिलकुल ठीक नही लगता। इसके अलावा 'गीता' की जो व्याख्या आपने की है उससे मैं सहमत नही हूँ। 'गीता' को किसी लौकिक युद्ध-क्षेत्रमें दो विरोधी वंशोंके सशस्त्र संघर्षका वर्णन-मात्र मानकर मैं उस अलौकिक पुस्तकका महत्त्व कम नहीं कर सकता।

हृदयसे आपका,
मो० क० गांधी

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ९८२) से।
सौजन्य : जी० वी० केतकर

१३४. पत्र : ए० ए० पॉलको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
१० दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

मुझे अपनी प्रस्तावित चीन यात्राके सम्बन्धमें क्या हो रहा है इसका ठीक पता नहीं है।[1] अगले वर्ष भारतमें मेरा कार्यक्रम बहुत व्यस्त है और ऐसी ही अन्य कई विचारणीय बातें हैं; इसलिए अब मैं जल्दीसे-जल्दी निश्चित रूपसे यह जानना चाहूँगा कि क्या मुझे चीन जाना ही है और जाना है तो कब। जिन मित्रोंका आपसे पत्र-व्यवहार चल रहा है आप कृपया उन्हें स्पष्ट लिख दें कि महज इसलिए कि उन्होंने मेरी यात्राकी योजना बनाकर मुझे एक प्रकारसे निमंत्रित भी कर दिया है, वे अपनेको उस प्रस्तावसे बँधा हुआ महसूस न करें। इसलिए यात्राके कार्यक्रमकी योजना केवल तभी पूरी की जाये जब उसकी सचमुच ही जरूरत मालूम पड़े। महज दिखावटी प्रदर्शनोंसे मैं ऊब गया हूँ। मुझे भाषण देनेकी कोई इच्छा नहीं है। मुझे केवल एक

१. ए० ए० पॉलके मार्फत गांधीजीको चीन यात्राका निमंत्रण मिला था और गांधीजी १९२७ की शरद् ऋतुमें वहाँ जानेको राजी हो गये थे, देखिए खण्ड ३१।

ही चीज भली लगती है, हार्दिक बातचीत और एक दूसरे की कठिनाइयोंपर खुलकर चर्चा। मैं चाहूँगा कि आप यदि इस नतीजेपर पहुँचें कि इस यात्रासे किसी बड़े लाभकी आशा नहीं की जा सकती तो आप मुझसे पूछे बिना इसे रद कर दें। मेरी अपनी राय है कि चीनकी मौजूदा अशांत स्थितिमें[1] यात्रा विफल जायेगी। मेरा संदेश विशुद्ध अहिंसा और सत्यका संदेश है। जब लोगोंमें उत्तेजना व्याप्त हो और उनका खून उबल रहा हो, तब वे ऐसा संदेश ग्रहण करनेके योग्य नही होते। इसलिए असंदिग्ध और संगत पुकारपर ही मुझे चीन जाना चाहिए। यदि चीनके हमारे मित्र आग्रह ही करें और आप भी इस नतीजेपर पहुँचें कि यात्रा करनी चाहिए, तो भी आप अन्तिम फैसला निश्चय ही मुझपर छोड़ेंगे। मेरे पास सारा ब्यौरा यथासम्भव मुकम्मिल भेज दिया जाये ताकि मैं उचित निष्कर्षपर पहुँच सकूँ। ऐसे सभी मामलोंमें मुझे किसी निर्णयपर पहुँचनेमें प्रार्थना मदद देती है।

हृदयसे आपका,

श्री ए० ए० पॉल
किलपॉक, मद्रास

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० ११३७८) की फोटो-नकलसे।

१३५. पत्र: विधानचन्द्र रायको

वर्धा
१० दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

मैंने महादेवको भेजा गया आपका तार देखा है। मुझे याद नही पड़ता कि मुझे आपका कोई पत्र मिला था; और रहा आपका तार, सो उसका जवाब[2] मैंने वर्धासे डाक द्वारा आपको भेजा था, और आशा है कि वह अबतक आपको मिल गया होगा। अब यह तय है कि मैं गौहाटी जा रहा हूँ। मैं २२ को यहाँसे रवाना होकर २३ की सुबह कलकत्ता पहुँचूँगा और उसी दिन गौहाटीके लिए गाड़ी पकड़ूँगा। मैं नहीं समझता कि जो चन्द घंटे मैं कलकत्तेमें रहूँगा, उसमें आप मुझसे वह रस्म[3] अदा कराना चाहेंगे।

१. चीन इस समय एक तरहकी गृहयुद्धकी स्थितिसे गुजर रहा था। विभिन्न प्रान्तोंके अधिपति प्रभुसत्ताके लिए एक दूसरेसे संघर्षमें लगे थे और च्यांगकाई शेकके अधीन कोमिनतांग इस वक्ततक प्रभावशाली केन्द्रीय सत्ताके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं हो सका था।

२. देखिए "पत्र: विधानचन्द्र रायको", ९-१२-१९२६।

३. अनुमानतः यह चित्तरंजन सेवासदनके एक हिस्सेका शिलान्यास करनेकी बात थी। यह रस्म गांधीजीने २-१-१९२७ को अदा की। देखिए "भाषण: चित्तरंजन सेवासदन, कलकत्तामें", २-१-१९२७।

कलकत्तेमें मेरा एक मित्रके पास ठहरनेका विचार है। जब मैं कलकत्तेमें रसा रोडपर ठहरा था उस समय वे अकसर वहाँ आते रहते थे और उन्होंने मुझसे वायदा करा लिया था कि अगली बार जब कलकत्ता जाऊँगा, तो उनके पास ठहरूँगा। उनका नाम व पता है: श्रीयुत खंडेलवाल, ५० हरीश मुकर्जी रोड, कलकत्ता।

हृदयसे आपका,

डा० वि० च० राय
३६, वेलिंगटन स्ट्रीट
कलकत्ता

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७५४)की माइक्रोफिल्मसे।

१३६. पत्र : डी० के० फड़केको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
१० दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला और श्री केलकर रचित लोकमान्यकी जीवनीका आपने जो अनुवाद किया है उसके पृष्ठ भी मिले।

मैं चाहूँगा कि आप वर्धा आयें और पास ही में कोई जगह किरायेपर ले ले, फिर मुझे सुबह भोरसे लेकर रातको ९ बजेतक काम करते देखें और यदि आप पायें कि मेरे पास कुछ क्षण भी अवकाशके रहते हैं, तो आप उन्हें, अपनी पुस्तक पढ़नेके लिए और फिर भूमिका लिखनेके लिए लगवा सकते हैं। लेकिन यदि आप ऐसा नहीं कर सकते हैं तो आपको मेरी बातपर यकीन कर लेना चाहिए कि मेरे पास कोई अवकाश नहीं है और जो काम मैंने पहलेसे ही हाथमें ले रखे हैं, उन्हें ही पूरा करनेके लिए मुश्किलसे समय मिलता है। इसलिए आप मुझे अवश्य ही क्षमा कर दें।

हृदयसे आपका,

श्री डी० के० फड़के
६, कोचीन स्ट्रीट
फोर्ट
बम्बई

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७५५) की माइक्रोफिल्मसे।

१३७. पत्र : मीराबहनको

शनिवार [११ दिसम्बर, १९२६][1]

चि० मीरा,

तुम्हारे चारों पत्र मिल गये। दो की पहुँच मैं पहले ही दे चुका हूँ।

मेरे खयालसे तुम्हें 'चि०' का अर्थ मालूम है। वह 'चिरंजीवी' का संक्षेप है और उसका अर्थ है 'बहुत जीनेवाला'। यह आशीर्वाद घरके बड़े लोग छोटोंके नामके पहले लगाते हैं।

मुझे तुम्हारे सारे पत्र पसन्द आये। मुझे खुशी है कि तुम्हें मुसलमान मित्रके यहाँ जानेका जल्दी ही मौका मिल गया। कुमारी ग्रोवरका नाम मैं बिलकुल ही भूल गया था। मुझे खुशी है कि तुम वहाँ गई। वह एक भली और स्नेही लड़की है और उसे अपने कामकी लगन है।

तुम्हें चाहिए कि अपनी दिनचर्या मुझे लिखो और प्रार्थना, अध्ययन तथा भोजन-का हाल बताओ। लिखो कि तुम क्या खाती हो? तुम्हारा पेट कैसा रहता है? कितना दूध लेती हो? भोजन कब करती हो? वहाँ मच्छर हैं या नहीं? क्या तुम नियमसे घूमने जाती हो? कुछ हिन्दी लिखती हो कि नहीं? क्या कोई तुम्हें पढ़ाता है? तुम्हें कौन-कौनसे फल मिलते हैं?

संशोधित अध्याय[2] मुझे समयपर मिल गया। तुम्हें डाकका समय मालूम कर लेना चाहिए।

मैं इसी महीनेकी २१ तारीखको वर्धा छोड़ दूँगा। मोतीलालजीका आग्रह है कि मैं गौहाटी जाऊँ। उम्मीद है कि तुम्हें 'यंग इंडिया' की अपनी प्रति नियमित रूपसे मिल रही होगी। न मिलती हो तो स्वामीको लिखना, और मृत्युंजयको लिख देना कि ध्यान रखें। मैं मान रहा हूँ कि तुम्हें 'हिन्दी नवजीवन' भी मिल रहा होगा।

उर्दू लिपि भूल मत जाना।

अमेरिकी मित्र, दोनों माँ-बेटी, अभी यहीं हैं। मेरा खयाल है कि मैंने उनके जानेकी बात तुम्हें लिखी थी। बेटी एक महत्त्वकी पाठशालामें शिक्षिका है। वे लोग कल जा रही हैं। मेरे कारण जमनालालजीके यहाँ ४० से ज्यादा मेहमान हैं। बेचारी जानकी बहन[3]!

मेरी तन्दुरुस्ती असाधारण तौरपर अच्छी है। सुबह-शाम नियमित व्यायाम होता है।

१. डाकखानेकी मुहरके अनुसार।

२. आत्मकथा के अध्याय; देखिए "पत्र: मीरा बहनको", ६-१२-१९२६।

३. जमनालालजीकी पत्नी।

तुम इस पत्रके छोटे होनेकी शिकायत नहीं कर सकती।

सस्नेह,

बापू

शनिवार

रोलाँके पत्रके[1] उस अंशके सही होनेके बारेमें, जो तुमने अब दुरुस्त कर दिया है, यकीन नहीं था। अब पूरी तरह अर्थ समझमें आता है। मूल पत्र वापस न भेजो। अपने कागजोंमें नत्थी कर लेना।

बापू

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५१९१) से।
सौजन्य : मीराबहन

१३८. काठियावाड़ राजनीतिक परिषद्

काठियावाड़ राजनीतिक परिषद्की समितिने परिषद्के आगामी अधिवेशनके[2] लिए श्री अमृतलाल ठक्करको अध्यक्ष चुना है; इसके लिए मैं समितिको बधाई देता हूँ।

इस पदके लिए राजनीतिके क्षेत्रमें प्रख्यात अनेक व्यक्तियोंके नाम आये थे लेकिन श्री अमृतलाल ठक्करका नाम आनेपर किसीके लिए कहनेको कुछ रह ही नहीं गया। उनके अध्यक्ष चुने जानेके पीछे मुख्य बात, जैसा कि मैं समझा हूँ, यह थी कि अध्यक्ष वह व्यक्ति होना चाहिए जो काठियावाड़का हो, चरित्रवान हो और देशसेवाके रंगमें रँगा हुआ हो। इस त्रिविध कसौटीपर श्री अमृतलाल ठक्कर खरे उतरे। चरित्रमें श्री अमृतलाल ठक्करसे बढ़कर हो, ऐसा सेवक आज न तो काठियावाड़में मिल सकता है, न गुजरातमें और न समस्त हिन्दुस्तानमें ही मिल सकता है। देशके लिए उन्होंने जो त्याग किया है वह कदाचित् हम सबसे ज्यादा पुराना है। अपने स्वीकृत कार्यके प्रति उनकी एकाग्र निष्ठा उन्हें और देशको शोभान्वित करती है और सेवा-परायणतामें उनकी स्पर्धा करना मुश्किल है। उन्होंने जिस सेवा क्षेत्रको चुना है वह जितना आसान है उतना ही कठिन भी है। आसान इसलिए कि जिन जातियों-की सेवाका कार्य उन्होंने चुना है उनकी सेवामें रस लेनेवाले व्यक्ति बहुत थोड़े हैं और इस कारण उन्हें इस सेवाका परिणाम भी तुरन्त मिलता है। कठिन इसलिए है कि उस सेवाके कोई ऐसे परिणाम नहीं निकलते जिससे दुनियाकी आँखें चौंधिया उठें। फलतः अनुभवहीन लोग वहाँसे भाग खड़े होते हैं। लेकिन अमृतलाल ठक्कर ढेढ़ और भंगियोंके पुरोहित हुए और फिर इतनेसे ही सन्तुष्ट न रहकर भीलोंके सेवक और मित्र बने।

१. देखिए परिशिष्ट २
२. यह अधिवेशन पोरबन्दरमें मार्च १९२७ में होना था, लेकिन हुआ जनवरी १९२८ में।

ऐसा व्यक्ति राजनीतिक परिषद्में आकर क्या करेगा? यह प्रश्न उनका चुनाव करनेवाले लोगोंके मनमें तो नहीं उठा लेकिन अमृतलाल ठक्करके मनमें वह उठा। चुनावके लिए उनका नाम आने देनेके लिए उलाहना देते हुए उन्होंने मुझे जो पत्र लिखा है उसका सार यह है।[1] (वह पत्र इस समय मेरे सामने नहीं है)।

यह प्रश्न उनके मनमें उठा, यह बात उनकी शुभ मनःस्थितिकी परिचायक है। लेकिन यह तो उन्हें भी ज्ञात है कि राजनीतिक परिषद् इस समय धन्धा ही अन्त्यजादिकी सेवा करनेका कर रही है। कौन कहेगा कि खादीमें वह सेवा नहीं आती? इतना ही नहीं, अपितु अन्त्यजादिके लिए प्रत्यक्ष रूपसे भी परिषद्ने इस वर्ष कोई कम काम नहीं किया है, और न कम पैसा ही खर्च किया है। इसलिए श्री अमृतलाल ठक्करको जो वस्तु प्रिय है वह इस समय परिषद्का कार्य-क्षेत्र ही है। इसके सिवा श्री अमृतलाल ठक्कर तो काठियावाड़में खादी कार्यके जनक रहे हैं। उनके मनमें खादीके प्रति उतना प्रेम अथवा उतनी श्रद्धा इस समय भी है या नहीं सो मैं अवश्य नहीं जानता। उसका स्पष्टीकरण वह सहज ही परिषद्के आगे कर सकेंगे।

रही राजनीतिकी बात, सो मेरे विचारसे आज ऐसी परिषद्के लिए रचनात्मक कार्यसे भिन्न कोई दूसरी राजनीति हो ही नहीं सकती। मैंने तो समस्त भारतवर्षके लिए ऐसी ही कल्पना की है। यदि तथाकथित राजनीतिको छोड़कर भारतवर्ष रचनात्मक कार्यमें तन्मय हो जाये और अपना काम ठक्कर बापाकी निष्ठासे करे तो स्वराज्य हस्तामलकवत हो जाये। और अगर यह बात भारतवर्षके लिए ठीक है तो काठियावाड़के लिए तो मैं उसे विशेष रूपसे कहूँगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनीतिका कोई भी कार्य काठियावाड़में अथवा काठियावाड़से बाहर होना ही नहीं चाहिए। जिनसे केवल राजनीतिका ही काम हो सकता है, जिन्हें रचनात्मक कार्य व्यर्थ जान पड़ता है, वे राजनीतिमें अवश्य पड़ेंगे। हम उनका दामन पकड़कर उनके पीछे-पीछे चलेंगे। किन्तु यदि हमें उनका काम पसन्द नहीं आया तो हम उन्हें उनकी राह जाने देंगे और जब वे देखेंगे कि हममें से कोई उनका अनुकरण नहीं कर रहा है तब उनके मनमें अपने मार्गके औचित्यपर शंका उत्पन्न होगी और वे वापस लौटेंगे। काठियावाड़ परिषद्ने इस सुवर्ण मार्गको ग्रहण किया है। मुझे उम्मीद है कि परिषद् इस मार्गको नहीं छोड़ेगी। मैं ऐसी एक भी घटनाको नहीं जानता कि जिससे परिषद्को ऐसा लगे कि उसे अपना यह मार्ग छोड़ना चाहिए। यदि हम सज्जन बनेंगे, जाग्रत, भयमुक्त और एक बनेंगे तो राजा भी सहज ही सज्जन, जाग्रत, प्रेमालु और जनताका मित्र बन जायेगा। यह ईश्वरीय नियम कि 'आप भला तो जग भला' लोकोक्ति-मात्र नहीं अपितु सत्य है। यह जन-युग है; इस युगमें 'यथा राजा तथा प्रजा' की अपेक्षा 'जैसी प्रजा तैसा राजा' ज्यादा सत्य है। इसीलिए राजनीतिका अर्थ है लोगोंमें ऊपरसे लेकर नीचेतक सबके साथ सम्बन्धकी भावना और एकता। यह एकता ऐसा रचनात्मक कार्य है जिसमें सबके पारस्परिक सम्बन्धकी आवश्यकता

१. यहाँ नहीं दिया गया है। अपने इस पत्रमें ठक्करने लिखा था कि वे तो ढेढ़, भंगियों, भीलों आदिमें काम करते रहे हैं; ऐसी हालतमें राजनीतिके क्षेत्रसे उनका मेल कैसे बैठेगा।

होती है। खादी राजाओंसे निःशब्द और नम्रतापूर्वक जो बात कह रही है वह बात लम्बे-लम्बे भाषणों और लेखोंसे भी नहीं कही जा सकती। लेकिन खादीका भाषण जो जानता है वही सुन सकता है। उस मधुर भाषणको सुननेके लिए कार्यके प्रति उत्कट लगन और एकाग्रताकी जरूरत है। अस्पृश्यता-निवारणका मतलब है आत्मशुद्धि अर्थात् गरीबोंके साथ हार्दिक ऐक्य। इस शक्तिकी तुलनामें मुझे विधान परिषदोंके भाषण निर्जीव मालूम होते हैं।

लेकिन यह तो मेरे निजी विचार हैं। उन्हें मैं काठियावाड़ियों और श्री अमृतलाल ठक्करको समर्पित करता हूँ। इनमें से जो उन्हें अच्छा लगे उसे वे स्वीकार करें तथा शेषका त्याग करें।

मैंने भावनगरमें परिषद्से[1] राजनीतिक कार्य मुझे सौंपनेके लिए कहा था। परिषद्ने मुझे वह सौंप दिया। मैं मानता हूँ कि उसमें परिषद्ने भूल नहीं की। किन्तु मुझसे ऐसा कुछ नहीं हो सका है जो मैं यहाँ बताऊँ। मैंने हार खाई है, कुछ निराशा हुई है, लेकिन मुझे और कोई मार्ग नहीं सूझा है। मार्ग तो यही था, और है। सारे काठियावाड़का प्रतिनिधित्व करनेवाली परिषद् इतना ही कर सकती है, वह विनय ही कर सकती है। विभिन्न राज्योंकी जनता अपनी-अपनी जगह कुछ विशेष कर सकती है, यह एक अलग बात है। अपने-अपने राज्यकी राजनीतिक परिस्थितियोसे परिचित उन राज्योंके कार्यकर्त्ता कुछ कर सकते हैं और उन्हें करना भी चाहिए। राजनीतिक परिषद्के कार्यक्षेत्रकी मैंने जान-बूझकर मर्यादा तय की है। इसके बाहर जाना चाहिए अथवा नहीं, इस बातका विचार हमारे अध्यक्ष महोदय करेंगे और यदि वे हमें नया मार्ग बता सकेंगे तो बतायेंगे।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, १२-१२-१९२६

१३९. अन्त्यज सर्वसंग्रह

श्री अमृतलाल ठक्करके अन्त्यज सेवा मण्डलकी ओरसे 'अन्त्यज सर्वसंग्रह' प्रकाशित हुआ है उसे मैंने जान-बूझकर 'नवजीवन' में अक्षरशः प्रकाशित किया है।[2] मुझे आशंका है कि कितने ही पाठक उसे देखकर चिढ़े होंगे और कितने ही चिढ़े तो नहीं होंगे लेकिन उन्होंने उसे पढ़ा ही नहीं होगा। इन दोनों वर्गोंके पाठकोंसे मैं आग्रहपूर्वक अनुरोध करता हूँ कि वे 'नवजीवन' के पिछले अंकोंको ढूँढ़कर यह सग्रह पढ़ जायें। पढ़नेवालोंको ही इस चीजकी कुछ कल्पना हो सकेगी कि इस सग्रहके लिए कितनी मेहनत हुई है। अकेले आनन्द ताल्लुकेमें ही ८८ गाँवोंकी जाँच हुई है और एक-एक गाँवमें सूक्ष्मतासे जाँच करना हो तो उसमें बहुत सारा समय तो लगाना ही पड़ता है।

१. भावनगरमें परिषद्का अधिवेशन १९२५ में हुआ था।

२. नवम्बर ७, १४, २१, २८ और दिसम्बर ५, १९२६ के अंकोंमें।

इस संग्रहमें संकलित तथ्य हिन्दू-धर्मके अनुयायियोंके लिए लज्जाका विषय है। संग्रहके पाठक तुरन्त देख सकेंगे कि अन्त्यजोंके प्रति अपने धर्मको हम कितना ज्यादा भूल गये हैं। कोई अपरिचित व्यक्ति भी यह कहेगा कि जहाँ लोगोंको पानी पीनेकी भी पूरी सुविधा नहीं मिल सकती, वहाँके लोग धर्मका ककहरा भी नहीं जानते।

पाठक देखेंगे कि अनेक गाँवोंमें ईसाई पादरी काम कर रहे हैं। यह उनके लिए जितनी गौरवकी बात है, उतनी हमारे लिए शर्मकी है। आज हम जो अन्त्यज सेवा कर रहे हैं वह इस दृष्टिसे भले ही ठीक मानी जा सकती है कि पहले हम इस दिशामें कुछ करते ही नहीं थे। लेकिन जबतक एक भी गाँव ऐसा है जहाँ हिन्दू धर्मानुयायियोंकी ओरसे कोई अन्त्यज सेवक न हो और जहाँ उनके लिए पानीकी व्यवस्था नहीं है, तबतक हमें नीचा देखना ही पड़ेगा।

इस संग्रह-कार्यको भाई अमृतलाल ठक्करने भाई परीक्षितलालको[1] सौंपा था। परीक्षितलाल विद्यापीठके स्नातक हैं। विद्यापीठके प्रत्येक स्नातकके लिए यह विशाल कार्यक्षेत्र पड़ा हुआ है। ग्रामसेवा ही सच्ची देशसेवा है क्योंकि हिन्दुस्तान अपने सात लाख गाँवोंमें बसा हुआ है। हिन्दुस्तान शहरोंमें नहीं बसता; हमारे ये शहर तो यूरोपके शहरोंकी अत्यन्त घटिया आवृत्ति मात्र हैं और जो लोग यह जानते हैं कि गाँवसेवाका आरम्भ खादी और अन्त्यज सेवासे ही होता है, वे सचमुच इस विषयके मर्मको जान गये हैं।

[गुजरातीसे]
नवजीवन, १२-१२-१९२६

१४०. पत्र : हरिइच्छाको

वर्धा
मार्गशीर्ष सुदी ७, १९८३ [१२ दिसम्बर, १९२६]

चि० हरिइच्छा,

मैंने तुम्हारे इस रास-गीतको सहेज कर तो रखा ही था। पहुँच की खबर देना। आशा है कि तुमने अपना हिन्दीका अभ्यास जारी रखा होगा और प्रार्थनामें नियमित रूपसे शामिल होती होगी। चन्दन आदिकी तबीयत अच्छी हो गई होगी? सब बहनें कातती तो हैं न?

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ४९०९) से।
सौजन्य : हरिइच्छा कामदार

१. परीक्षितलाल मजमूदार, जिन्होंने बादमें अनेक वर्षोंतक गुजरात हरिजन सेवक संघके अध्यक्ष पदपर कार्य किया।

१४१. पत्र : कार्ल थीमको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
१३ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंके जवाब इस प्रकार हैं :

(१) हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न हल करनेके प्रयत्न अभीतक सफल नही हो सके हैं। इस मामलेमें समय लगेगा।

(२) मैं ब्रिटिश सरकारसे सहयोग करनेकी किसी भी योजनाका तबतक अनुमोदन नही कर सकता जबतक कि शासन-प्रणालीमें पर्याप्त परिवर्तन नही हो जाता; अर्थात् जबतक सैनिक व्ययमें भारतके लाभको ध्यानमें रखकर काफी कमी नही की जाती, सारे विदेशी कपड़ेपर निषेधात्मक महसूल नही लगा दिया जाता और मद्यका निषेध घोषित नही कर दिया जाता। आपको भेजनेके लिए मेरे पास कोई चुनिंदा सामग्री नही है, लेकिन इन मुद्दोंपर आप सारी जानकारी 'यंग इंडिया' के पृष्ठोंमें से इकट्ठा कर सकते हैं। उसके मुख्य लेख अब पुस्तकके रूपमें उपलब्ध हैं। पुस्तक आप श्री एस० गणेशन, २९ पाइक्रॉफ्ट्स रोड, ट्रिपलीकेन, मद्राससे प्राप्त कर सकते हैं।

हृदयसे आपका,

डा० कार्ल थीम
लीपज़िग
जर्मनी

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १२३१९) की फोटो-नकलसे।

१४२. पत्र : विधानचन्द्र रायको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
१३ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

इस पत्रके साथ जो पत्र आपको भेज रहा हूँ, वह मेरे पास बहुत समयसे ऐसे कुछ कागजातोंमें दबकर, जिनपर मैं उस समय ध्यान नहीं दे पा रहा था, पड़ा रह गया था। अब चूँकि इन बकाया कामोंको निपटानेके लिए मेरे पास कुछ समय बच जाता है, इस पत्रपर मेरी निगाह पड़ी। मैं इसे भेज रहा हूँ ताकि आप इसपर जो कहना चाहते हों, कह सकें।

हृदयसे आपका,

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७५०) की माइक्रोफिल्मसे।

१४३. पत्र : धीरेनको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
१३ दिसम्बर, १९२६

प्रिय धीरेन,

तुम्हारा ९ तारीखका पत्र मेरे पास कुछ समयसे पड़ा रहा है। लेकिन कामका बोझ इतना अधिक रहा है कि मेरा बहुत-सा पत्र-व्यवहार बकाया पड़ा रह गया है। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पत्रका जवाब रुका नहीं रहना चाहिए था। लेकिन यकीन करो कि इधर हालमें मुझे एक क्षणका भी अवकाश नहीं रहता था और मुझे मजबूरन् ऐसे कई काम टालने पड़ते थे जिन्हें मैं अन्यथा न टालता।

मुझे उर्मिला देवीसे मालूम हुआ है कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक चल रहा है और तुम अपनेको काममें लगाये रखते हो। मुझे आशा है कि तुमने कताईमें भी काफी प्रगति कर ली होगी। मैं चाहता हूँ कि यदि अनुमति मिल जाये तो तुम वहाँ रुई धुनना भी सीख लो। यदि तुमने धुनाईकी क्रियाको देखा भी हो तो बिना किसी शिक्षकके तुम उसे सीख ले सकते हो।

अब रहा तुम्हारा प्रश्न। मेरी रायमें किसी बेगुनाह कैदीको भूखा रहनेकी जरूरत नहीं है; जिसने उसे कैद कर रखा है यदि अपने उस संरक्षकसे वह गुजर-बसरके लिए पैसा स्वीकार करता है तो इससे उसकी प्रतिष्ठा नहीं घटती। लेकिन मैं यह

जरूर मानता हूँ कि उसे, जितनेसे गुजारा हो जाये उतनेसे ज्यादा पैसा नही लेना चाहिए। लेकिन यदि उसके संरक्षक उसको इतना देते हों कि वह उसमें से उन लोगोंका पालन-पोषण भी कर सकता हो जो उसपर निर्भर हैं, तो उसे न अपने खर्चमें इतनी काट-कसर करनी चाहिए कि उसके स्वास्थ्यको हानि पहुँचे और न ऐसा कुछ करना चाहिए कि उसके सम्बन्धियोंको भूखा रहना पड़े। इस तरह कितना पैसा लिया जाये इसका फैसला आखिरकार तो हर व्यक्तिको स्वयं ही करना होगा। लेकिन गुजारेके लिए रकम लेनेके औचित्यके बारेमें मुझे किसी तरहका कोई सन्देह नही है।

हृदयसे तुम्हारा,

श्रीयुत धीरेन
द्वारा सुपरिंटेंडेंट
सेन्ट्रल जेल
मिदनापुर (बंगाल)

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७५१) की फोटो-नकलसे।

१४४. पत्र : एस० के० जैनको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
१३ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पिछली ३ अक्तूबरका पत्र समयाभावके कारण मेरे पास पड़ा रहा और मै उसपर ध्यान नहीं दे सका। यदि वह नवयुवक अपने जीवनके सम्बन्धमें सारा ब्यौरा देते हुए मुझसे पत्र-व्यवहार करेगा और मुझे बतायेगा कि किसी काममें नियुक्त किये जानेसे पहले छ: महीनेतक वह सत्याग्रह-आश्रममें अनुशासन पालन करते हुए रहनेको तैयार है, तो फिर मैं देखूँगा कि क्या-कुछ किया जा सकता है। सच तो यह है कि चरित्रवान और योग्य हों तो चाहे जितने नौजवानोंको जगह देनेमें कोई कठिनाई नही है।

मैं इस २० तारीखतक वर्धामें हूँ, उसके बाद अच्छा होगा कि आप अपना पत्र मेरे स्थायी पतेपर भेजें।

हृदयसे आपका,

श्रीयुत एस० के० जैन
१५, नागजी बंगलोज़
माटुंगा, जी० आई० पी०
बम्बई

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७५२) की माइक्रोफिल्मसे।

१४५. पत्र : ता० ना० नैथानीको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
१३ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। मुझे उक्त स्वामीजी या उस घटनाके बारेमें कोई बात याद नहीं पड़ती। लेकिन यह तो सम्भव है कि यदि वे आश्रममें आये हों तो मैंने उनसे पूछा हो कि क्या वे चरखा कातते हैं। लेकिन मेरे लिए उनकी तरफसे अपनी पीठ घुमा लेना मुमकिन नहीं है। मैं उस समय काममें व्यस्त ही रहा होऊँगा। आजकल मैं समय बचानेके खयालसे मिलनेवालोंसे सूत कातते समय मुलाकात करता हूँ। मैं उनसे बात करता जाता हूँ और साथ ही कातता भी रहता हूँ।

कुछ चित्रोंमें मुझे भगवान् कृष्णके रूपमें प्रस्तुत किये जानेकी एक शिकायत मिलनेकी बात मुझे बखूबी याद है; और यह भी याद है कि मैंने उसके खिलाफ जोरदार शब्दोंमें लिखा था। लेकिन इस मामलेमें मैंने कितनी पंक्तियाँ लिखी थीं सो तो याद नहीं है। मैं नहीं समझता कि किसी लेखके प्रभावका मूल्यांकन उसकी लम्बाईसे किया जाना चाहिए।

अबतक मेरे पास कोई भी ऐसा महात्मा नहीं आया जिसे मैं एकदम अपना गुरु कह उठता।

हृदयसे आपका,

ताराचन्द नानकराम नैथानी
हलानी (द्वारा) मेहराबपुर
उ० प० रेलवे

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १९७५३) की फोटो-नकलसे।

१४६. पत्र : प्रभाशंकर पट्टणीको

वर्धा
सोमवार [१३ दिसम्बर, १९२६][1]

सुज्ञ भाईश्री,

यह तो आप जानते ही हैं कि चि० मथुरादास आपके पंचगनीके बंगलेमें रह रहा है, अभीतक उसने उसका कोई भाड़ा नहीं दिया है। कुछ-न-कुछ भाड़ा अवश्य दिया जाना चाहिए, ऐसा मेरा तथा उसका आग्रह है। 'सीजन' के समय बंगला खाली कर देनेके लिए मैंने उससे कहा है, इसलिए फरवरीके अन्ततक बंगला खाली कर देनेकी तैयारी चल रही है। तो, मैं चाहूँगा कि आप भाड़ेके सम्बन्धमें मुझे अवश्य लिखें। स्वास्थ्यके बारेमें भी लिखिएगा।

मोहनदासके वन्देमातरम्

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ३२०८) की फोटो-नकलसे।
सौजन्य : महेश पट्टणी

१४७. पत्र : आश्रमकी बहनोंको

वर्धा
मार्गशीर्ष सुदी ११, १९८३, १३ दिसम्बर, १९२६

बहनो,

आज भी नाश्ता करके तुम्हारा स्मरण कर रहा हूँ। ठीक ६ बजकर ५० मिनट हुए हैं, यानी तुम्हारी प्रार्थनाका वक्त हो गया। और सब भूल जायें, पर यह न भूलें। इसमें परस्पर एक-दूसरेका और सबका ईश्वरके साथ सहयोग है। यह सच्चा स्नान है। जैसे शरीर बिना धोये मलिन होता है वैसे ही हृदयको प्रार्थना द्वारा धोये बिना स्वभावतः स्वच्छ आत्मा मलिन दिखाई देती है। इसलिए इस वस्तुको कभी न छोड़ना। सुबहके चार बजे सबके बीच सहयोगका मौका है, मगर उस प्रार्थनामें तमाम बहनें आनेमें असमर्थ होती हैं। सात बजेकी प्रार्थनामें बहनों-बहनोंके बीच सहयोगका मौका है। उसमें सब आ सकती हैं। बहनोंके बीचका सहयोग अति आवश्यक है।

यहाँ दो अमेरिकी स्त्रियाँ, जो वहाँ एक दिन रह चुकी हैं, आई थीं। तीन दिन रहकर कल गईं। वे माँ-बेटी हैं। लड़की कुमारी है। वह पच्चीस वर्षकी है और

१. डाककी मुहरसे।

पाँच सौ लड़कियोंके महाविद्यालयमें एक ऊँची श्रेणीकी शिक्षिका है। दुनियामें नीति-शिक्षण किस ढंगसे दिया जाता है, यह देखनेके लिए उसके आचार्यने उसे भेजा है। उसकी माँ उस कुमारीके अभिभावकके रूपमें साथ रहती है। दोनों सारी दुनियामें निर्भयतासे घूम रही हैं। ऐसी निर्भयता और उस बहनके जैसी सेवानिष्ठा हममें आ जाये तो कितना अच्छा हो?

मीराबहनका जीवन तो सब बहनोंके लिए विचार करने योग्य बन गया है। उसके हिन्दी पत्र वहाँ आते होंगे। मेरे नाम जो पत्र आते है, उनसे मैं देखता हूँ कि उसने अपनी सरलता और प्रेमपूर्ण स्वभावसे गुरुकुलकी बालाओंके मन हर लिये हैं। वह लड़कियोंमें खूब घुलमिल गई है और उन्हें पींजना-कातना अच्छी तरह सिखा रही है। अपना एक पल भी व्यर्थ नहीं जाने देती। इस निष्ठा, इस त्याग और इस पवित्रताकी आशा मैं तुम बहनोंसे रखता हूँ। तुम कुशल बनकर और पवित्र जीवन बिताकर सारे भारतवर्षमें फैल जाओ, क्या यह आशा तुम्हारी शक्तिसे ज्यादा है? मैं प्रतिक्षण स्त्री-सेविकाओंकी जरूरत महसूस कर रहा हूँ। त्यागी पुरुष देखनेमें आते हैं। लेकिन त्यागी स्त्रियाँ बाहर आकर काम करती दिखाई नहीं देतीं। स्त्री तो त्यागकी मूर्ति है। मगर इस समय उसका त्याग कुटुम्बमें समा जाता है। जो त्याग वह कुटुम्बकी खातिर करती है, उससे भी ज्यादा वह देशके लिए क्यों न करे? अन्तमें तो जो धर्मपरायण बनेगी, वह विश्वके लिए अवश्य त्याग करेगी। मगर [विश्वकी सेवामें] देश पहली सीढ़ी है। और जब देशहित विश्वहितका विरोधी न हो, तब देशहित-सेवा हमें मोक्षकी तरफ ले जानेवाली बन सकती है।

यह विचार सब बहनें करने लगें, यही इस सप्ताहकी माँग है।

चूँकि वहाँ मणिबहन[1] नहीं होगी, इसलिए यह पत्र तारा बहनको[2] भेज रहा हूँ। मगर मैं चाहता हूँ कि तुम अपनेमें से एक प्रमुख मुकर्रर कर लो।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० ३६३२) की फोटो-नकलसे।

१. वल्लभभाई पटेलकी पुत्री।
२. रमणीकलाल मोदीकी पत्नी।

१४८. पत्र : एक मित्रको[1]

वर्धा
१५ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मुझे अभी-अभी दिया गया है। मैं आपके छात्रावासमें अहिंसाके विषयपर बोलना तो चाहता हूँ, लेकिन मुझे लगता है कि २१ तारीखको मेरे पास बिलकुल समय नहीं होगा; क्योंकि मैं नागपुरमें केवल कुछ ही घंटे रहूँगा। और इस तारीखके पहले मैं वर्धा नहीं छोड़ सकता।

हृदयसे आपका,
मो० क० गांधी

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ४५०५) की फोटो-नकलसे।
सौजन्य : श्रीमती लम्सडेन

१४९. हिमालयके शिखरोंसे

एक मित्र, जो अबतक भारतके मैदानोंमें रहे हैं और अब कार्यवश सैर-सपाटेके लिए हिमालयमें गये हुए हैं, उसकी बर्फीली शृंखलाओंकी प्रशंसामें डूब गये हैं। उन्होंने मुझे निम्न उद्धरण भेजा है :

> संसारके कोलाहलसे दूर, अत्यधिक अन्तराल और शीतके कारण भयंकर, फिर भी अकथनीय रूपसे सुन्दर तथा गम्भीर नीरवतामें संसारसे ऊपर मस्तक उठाये खड़े हिमालयके इन शिखरोंको काहेकी उपमा दें? कह सकते हैं, वह विभूति रमाये हुए ध्यानमें मग्न, मौन और अकेले बैठे हुए किसी महान् योगीकी तरह है। वह स्वयं देवोंके देव महादेव-शिवके समान है।

और अन्तमें उन्होंने होम्स द्वारा दी गई 'नीरवताको श्रद्धांजलि' उद्धृत की है :

> सृष्टिकी सराहनाके लिए सच्ची भाषा मौन ही है।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, १६-१२-१९२६

१. मित्रका नाम ज्ञात नहीं है।

१५०. दक्षिण आफ्रिकाकी स्थिति

प्रिटोरियासे श्री एन्ड्रयूजने निम्न तार दिया है:

डच चर्चने प्रार्थना दिवसका समर्थन किया है। हर्टजोग १७ तारीखको प्रतिनिधि-मण्डलसे[1] मिलेंगे। फिर अवकाश लेंगे। पहली बैठक २० तारीखको है।

इस मुश्किल मसलेके न्याययुक्त हलके लिए उपयुक्त वायुमण्डल तैयार करनेकी दिशामें, डच लोगोंके रिफॉर्म्ड चर्चका उक्त समर्थन एक बड़ी बात है। दक्षिण आफ्रिकामें डच चर्च एक बड़ी ही रूढ़िवादी संस्था है। हिन्दुस्तानियोंके सवाल, या दक्षिण आफ्रिकामें जिसे रंगका सवाल कहते हैं, उसके विषयमें उनका दृष्टिकोण शायद ही कभी उदार रहा हो। १७ तारीखको जनरल हर्टजोग द्वारा प्रतिनिधियोंका किया जानेवाला यह स्वागत, सम्मेलन और सम्मेलन जिन विषयोंपर विचार करेगा, उन विषयोंके जबर्दस्त महत्त्वको स्वीकार करनेकी दिशामें पहला कदम है।

मुझे आशा है कि इस धुनके पक्के अंग्रेज, एन्ड्रयूज को इस महान् काममें हिन्दुस्तानी जनता पूरे दिलसे मदद देगी। कोई कहना चाहे तो हल्के भावसे कह सकता है कि प्रार्थना करनेमें तो कुछ खर्च होता नहीं, और प्रेसवाले छाप देंगे कि प्रतिनिधिमण्डलकी सफलताके लिए फलाँ-फलाँ जगहपर प्रार्थना की गई। मगर सच-मुच श्री एन्ड्रयूजने हमसे जो कुछ करनेको कहा है वह सर्वाधिक कठिन काम है। अपना धन कोई खुशीसे या नाखुशीसे या दिखावेके लिए भी दे सकता है। किसी भी बातसे हम मौखिक सहमति प्रकट कर सकते हैं। मगर हार्दिक सहयोग तो अनि-च्छापूर्वक या दिखावेके लिए हो ही नहीं सकता। और श्री एन्ड्रयूज हमसे हार्दिक सहयोग माँगते हैं; क्योंकि हृदयकी तीव्र भावना ही प्रार्थना है। हम अपने भाव मुखसे प्रकट कर सकते है, अपने खास कमरेमें या सर्वसाधारणके आगे भी प्रकट कर सकते हैं, मगर भावना सच्ची है तो उसे हमारे हृदयके भीतरसे निकलना चाहिए। इसलिए जिनसे हो सके, यानी जिन्हें दक्षिण आफ्रिकाके हिन्दुस्तानियोंके आन्दोलनमें विश्वास है, ईश्वरमें विश्वास है, और इसलिए प्रार्थनामें भी विश्वास है, वे १९ तारीखको दक्षिण आफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंसे हार्दिक सहयोग करनेके लिए कुछ समय निकालें और सम्मेलनकी कार्यवाहीकी सफलताके लिए ईश्वरका आशीर्वाद माँगें।

अगर आज भी हिन्दुस्तानमें कोई है जो यह न जानता हो कि दक्षिण आफ्रिकामें हिन्दुस्तानियोंका आन्दोलन किसलिए है तो वह जान ले कि दक्षिण आफ्रिकामें हिन्दुस्तानियोंकी हस्ती ही खतरेमें पड़ी हुई है। खासतौरसे जानने योग्य बात यह है कि वह एशियाई विधेयक जो दक्षिण आफ्रिका-संघ संसदकी पिछली बैठकमें स्थगित कर दिया गया था, और जो इस सम्मेलनका एक विचारणीय विषय होगा, इस

१. भारतीय प्रतिनिधिमण्डलके सदस्य, जो दक्षिण आफ्रिकाके भारतीयोंकी समस्याओंपर दक्षिण आफ्रिकी सरकारसे बात करनेके लिए दक्षिण आफ्रिका जा रहे थे।

प्रकारका विधेयक है कि उसके लागू हो जानेपर एक भी स्वाभिमानी हिन्दुस्तानीका दक्षिण आफ्रिकामें रहना असम्भव हो जायेगा। दक्षिण आफ्रिकामें हिन्दुस्तानियोंकी कानूनी स्थितिका जिन्हें पता नही है उन्हें मालूम होना चाहिए कि दक्षिण आफ्रिकामें कही भी उन्हें लगभग कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही है। वे ऑरेंजिया प्रान्तमें घरेलू नौकरके सिवाय किसी और हैसियतसे नही रह सकते। कई जगहोंमें उन्हें जमीनकी मालिकी नहीं मिल सकती। सारे दक्षिण आफ्रिकामें भारतीयोंके व्यापारिक अधिकार बहुत कम कर दिये गये हैं। व्यापारिक अधिकारोंसे सम्बन्धित मौजूदा कानूनको भारतीयोंके विरुद्ध दिनोंदिन कड़ाईसे लागू किया जा रहा है — उन भारतीयोंके विरुद्ध भी जिनके पास बहुत लम्बे अरसेसे व्यापारके लाइसेंस हैं। उनके विरुद्ध खड़ी की गई सामाजिक बाधाओं और उनके कारण यात्राकी स्वतन्त्रतामें पड़नेवाली कठिनाइयों आदिका तो मैं जिक्र ही नही करता। उनको अपने बच्चोंकी शिक्षाकी बरायनाम भी कोई सहूलियत प्राप्त नही है। अभी जैसी स्थिति है वही काफी बुरी है। अगर एशियाई विधेयक पास हो गया तो उससे रही-सही कसर भी पूरी हो जायेगी। भारतीय प्रवासियोंको न्यूनतम न्याय दिलाने और स्थितिको बर्दाश्त लायक बनानेके लिए बड़ी कठिनाइयोंके बाद यह सम्मेलन कराया जा सका है। और एन्ड्रयूज इसी प्रयत्नकी सफलताके लिए १९ तारीखको भगवान्से प्रार्थना करनेको कहते हैं। जिन लोगोंको विश्वास हो, वे नम्र भावसे इसमें अपना हार्दिक सहयोग दें।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, १६-१२-१९२६

१५१. टिप्पणी

समृद्ध भारत

विदेश व्यापार-मन्त्री श्री ए० एम० सैमुअल द्वारा लिंकन चेम्बर ऑफ कामर्सके सम्मुख दिये गये भाषणकी रिपोर्ट इस प्रकार है:

> भारत हमारा सबसे बड़ा ग्राहक है। वह हर साल हमसे ९,००,००,००० पौंडका माल, अधिकांशमें बढ़िया किस्मका ऐसा तैयार माल, खरीदता है जिसमें अंग्रेजोंकी काफी मेहनत लगी होती है। इसलिए भारतके साथ व्यापारकी किसी भी प्रकारकी वृद्धि अभिनन्दनीय होगी, क्योंकि अधिक लोगोंको रोजगार देकर हम वर्तमान सरकारकी मुख्य नीतिका पालन कर रहे होंगे। वह नीति है बेरोजगारोंकी संख्या घटाना।
>
> भारत हमसे काफी तादादमें लोहे और इस्पातकी चीजें, तथा रेलवेका सामान खरीदता है। वह समृद्ध देश है और उसके पास दूसरे देशोंका माल खरीदनेके लिए काफी रकम है। वह तो इतना ही चाहता है कि दरें अनुकूल हों। उसकी साख बहुत ऊँची है; बाजारमें केवल इंग्लैंडकी साख

ही उससे अधिक है। लेकिन जिलेकी कई फर्में हैं जिन्होंने पूरे साज-सामानके साथ अपने विक्रय और तकनीकी संगठन भारतमें खोल रखे हैं। किन्तु भारतके सरकारी प्रतिनिधि चाहते हैं कि ये फर्में वहाँ अपने कुशल तकनीकी प्रतिनिधि रखें जो मौकेपर जाकर सलाह या सहायता दे सकें। बहुत पेचीले कलपुर्जोंकी बिक्रीके लिए तकनीकी सलाहकारोंकी सहायताकी जरूरत पड़ती है। बेचनेवालेके पास हर समय एक ऐसा तकनीकी सलाहकार होना चाहिए जो व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ानेमें उसकी मदद कर सके। इसलिए यह जरूरी है कि बिक्रीके लिए रखी गई या बेची गई मशीनोंके विषयमें भारतके खरीदने-वाले इन्जीनियरोंको विस्तृत जानकारी देनेके लिए जानकार ब्रिटिश प्रतिनिधि उनके साथ सम्पर्क रखें। भारत जो मशीनें बाहरसे मँगाता है उसमें ८० प्रतिशत मशीनें अब भी हमारी ही होती हैं और अधिकांश ब्रिटिश फर्मोंके खास अपने प्रतिनिधि भारतमें मौजूद हैं मगर मुझे ऐसे खरीदनेवाले भी मिले हैं जिन्हें यह शिकायत थी कि उन्हें ब्रिटिश विशेषज्ञोंसे वांछित सहायता प्राप्त नहीं हुई। उनकी एक शिकायत यह भी थी कि भारतमें हम मालका काफी स्टाक तथा मशीनी पुर्जे नहीं रखते।

भारतमें कृषि यंत्रोंकी बिक्रीके सम्बन्धमें मुझे मालूम है कि ब्रिटिश फर्मोंने इस बाजारके विकासके लिए काफी कष्ट और खर्च उठाये हैं, किन्तु उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली। खैर, भारत सरकार अपने किसानोंको सहायता देनेका भरसक प्रयत्न कर रही है, और इसका एक सबसे अच्छा उपाय है किसानोंके हाथमें अच्छे औजार देना। भारतमें कृषि और सहकारी ऋण विभाग इस उद्देश्यसे खोले जा रहे हैं कि वहाँ लोग आधुनिक औजारों-का इस्तेमाल करना और उनकी मरम्मत करना सीखें तथा उन औजारोंको खरीदनेमें ये विभाग लोगोंकी सहायता करें।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्री सैमुअलका यह विश्वास ही है कि हम समृद्ध हैं और अगर हम कृषि सम्बन्धी और दूसरे प्रकारकी वे सारी मशीनें, जो इंग्लैंड तैयार कर सकता है, खरीदें और वहांके विशेषज्ञोंसे काम लें तो हम और समृद्ध होंगे। मगर ये दोनों बातें हम लोगोंको सत्यसे काफी दूर जान पड़ती हैं। हम जानते हैं कि भारत समृद्ध नहीं है; वह दिनोंदिन निर्धन होता जा रहा है। हममें से कुछ लोग यह भी जानते हैं कि इंग्लैंड या किसी भी दूसरे देशसे अन्धाधुन्ध मशीनें मँगाने और कुशल विशेषज्ञ बुलानेसे गरीबीका यह मसला हल नहीं होगा। जैसा कि गोखलेने कई साल पहले कहा था कि इस प्रकार बाहरसे माल मँगानेसे हमारा अपना विकास रुकता है। हम अधिकाधिक गुलाम बनते जाते हैं। हमें जरूरत है अपने हाथ-पैरोंसे काम करनेकी शक्तिमें आवश्यक तकनीकी दक्षता जोड़नेकी, ताकि हम स्वयं अपनी जरूरतोंके लायक यन्त्र बना सकें। बिना सोचे-विचारे पश्चिमकी नकल करनेका फल होगा, सभी प्रकारके उद्यम और योग्यताओंपर पानी फेरना। उसके फलस्वरूप

सामान्य सुखी जीवन बितानेकी हमारी क्षमता भी जाती रहेगी। शाही कृषि आयोग जैसे आयोगोंके उद्देश्यके सम्बन्धमें जो सन्देह उत्पन्न होते हैं और जिसकी चर्चा इन पृष्ठोंमें हालमें ही की गई थी,[1] वे ऐसे ही भाषणोंसे उत्पन्न होते हैं।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १६-१२-१९२६

१५२. खादी प्रतिष्ठान

पिछले सप्ताह मैंने पंजाबमें खादीकी प्रगतिपर एक विस्तृत रिपोर्टका सारांश छापा था।[2] इस बार खादी प्रतिष्ठानकी वैसी ही रिपोर्ट नीचे देता हूँ। इसमें 'बैलेंस शीट' छोड़ दी है, क्योंकि पाठकोंकी जिनमें दिलचस्पी हो सकती है प्रायः ऐसी सभी बातें रिपोर्टमें ही आ गई हैं। जो विवरण प्रकाशित किये जाते हैं, खादी कार्यकर्त्ता इन्हें जरा ध्यानपूर्वक पढ़ते रहें जिससे वे भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें अपनाये गये कामके तरीकोंकी तुलना कर सकें। पाठक देखेंगे कि 'मैजिक लैन्टर्न'के[3] जरिये खादीका प्रचार करना खादी प्रतिष्ठानकी एक विशेषता है। अब भारतके दूसरे प्रान्त भी इसे शुरू कर रहे हैं। प्रतिष्ठानकी एक और विशेषता है उसका तकनीकी विभाग। बहुत मुश्किलोंके बाद खादी प्रतिष्ठानको अपनी एक मुकम्मिल जगह मिल सकी है, जहाँ खादीकी रँगाई और धुलाईके प्रयोग बड़े पैमानेपर किये जाते हैं।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १६-१२-१९२६

१५३. पत्र : शिवाभाई पटेलको

वर्धा

बृहस्पतिवार, १६ दिसम्बर, १९२६

भाई शिवाभाई,

तुम्हारा पत्र मिला।

तुम्हें घबरानेकी कोई बात नहीं है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर मैं इसे अवश्य व्रत-भंग ही कहूँगा लेकिन उसके लिए मनुष्य बहुत कम उत्तरदायी है। जो-कुछ हुआ वह तुमने जान-बूझकर या इच्छापूर्वक तो किया नहीं है; इसलिए कोई भारी प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं रहती। जिस दिन तुम्हें स्वप्नदोष हो उस दिन हल्की खुराक खाओ अथवा एक समयका खाना छोड़ दो। अथवा ऐसा मालूम होनेपर कि

१. देखिए "टिप्पणियाँ", १८-११-१९२६ का उपशीर्षक 'क्या यह सन्देहातिरेक है?'।

२. देखिए "पंजाबमें खादी", ९-१२-१९२६।

३. पर्देपर तस्वीरें दिखानेवाला यंत्र।

स्वप्नदोष हुआ है, उठकर कटि-स्नान करो। यदि तुमसे ऐसा न हो सके तो अशुद्ध भागको साफकर रामनाम जपो। इतनी सफाई भी पूरा प्रायश्चित्त है। क्या करना चाहिए, यह बात हमारी उस समयकी मानसिक वृत्तिपर निर्भर करती है। इतनी शुद्धि करनेके बाद जो-कुछ हुआ उसके लिए दुखी नहीं होना चाहिए, उसपर विचार नहीं करते रहना चाहिए। खानेमें, पढ़नेमें, विचार करनेमें अथवा संग करनेमें यदि हमसे कोई भूल हो गई हो तो उसे दुबारा नहीं करना चाहिए। बिना इरादा किये होनेवाले स्वप्नदोषसे तो केवल निर्विकार मनुष्य ही अटूट प्रयत्न करनेसे बच सकता है।

रातका भोजन और अल्लम-गल्लम खाना छोड़ देना चाहिए, स्वादके लिए कुछ नहीं लेना चाहिए। जिसे खाये बिना काम ही नही चले उससे प्राप्त स्वादसे ही सन्तोष रखना चाहिए।

बापूके आशीर्वाद

[पुनश्च :]

तुम्हारे भाईका अभी कोई समाचार नही मिला।

[इस पत्रको] दुबारा नही देखा है।

गुजराती पत्र (एस० एन० ९४९१) की फोटो-नकलसे।

१५४. पत्र : हरदयाल नागको

[१७ दिसम्बर, १९२६][1]

प्रिय मित्र,

आपका पत्र[2] मिला जिसे पाकर मुझे बड़ी खुशी हुई। मैं नही जानता कि गौहाटीमें मैं क्या करूँगा। मैं तो जैसा मेरी अन्तरात्मा कहेगी, वैसा ही करूँगा।

निश्चय ही चरखा बंगालमें खतम नहीं हो रहा है। शायद चाँदपुरमें ऐसा हो रहा हो। बंगालमें खद्दरका उत्पादन बराबर बढ़ रहा है और उसकी बिक्री भी।

यदि आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं चल रहा है तो मैं निश्चय ही ऐसा नहीं समझता कि आपको गौहाटी आनेके लिए कष्ट देना मुनासिब है। मैं वहाँ जो भी कुछ करूँगा, वह निःसन्देह आम जनताकी जानकारीमें आयेगा। लेकिन मैंने सभी असहयोगियोंको बता दिया है कि वे कोई ऐसी आशा लेकर गौहाटी न आयें कि वहाँ आतिशबाजीका कोई तमाशा होगा। यहाँतक कि वे खद्दरके सिवा किसी असहयोग कार्यक्रमपर भी विचार किये जानेकी आशा न करें।

[अंग्रेजीसे]

फॉरवर्ड, २४-१२-१९२६

१. साधन-सूत्रके अनुसार।

२. पत्र-लेखकने गौहाटी कांग्रेस-अधिवेशनमें गांधीजीका कार्यक्रम जानना चाहा था।

१५५. पत्र : सैम हिगिनबॉटमको

[पत्रोत्तरका पता.]
आश्रम साबरमती,
१७ दिसम्बर, १९२६

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। यह तो जाहिर है कि [हृदयस्थ] विचारोंसे जो प्रभाव उत्पन्न होता है वह शायद बोले गये शब्दोंसे भी अधिक शक्तिशाली होता है। आपने मेरे बारेमें जितना अधिक सोचा है, उसके लिए मैं आपको बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ। किन्तु मैंने भी आपके बारेमें कम नही सोचा है और मैंने कितने ही लोगोसे आपके तथा आपके कार्योंके बारेमें चर्चा की है।

मैं नही समझता कि निकट भविष्यमें मेरे इलाहाबादसे होकर गुजरनेका कोई मौका निकलनेकी सम्भावना है। मेरे सामने एक लम्बे दौरेका कार्यक्रम पड़ा है। फिर भी फरवरीके अन्तमें मेरे आश्रममें रहनेकी सम्भावना है। उस समय यदि आप वहाँ पहुँचकर एक-दो दिन गुजार सकें, तो हम शान्तिसे कुछ समय साथ-साथ बिता सकते हैं। तब आप आश्रमकी गतिविधियोंको देख सकेंगे और हम जो कृषिकार्य कर रहे हैं, उसमें आपकी मूल्यवान् सलाहका लाभ भी हमें मिल सकेगा।

हृदयसे आपका,
मो० क० गांधी

श्री सैम हिगिनबॉटम
इलाहाबाद कृषि संस्थान
इलाहाबाद

अंग्रेजी पत्र (जी० एन० ८९३५) की फोटो-नकलसे।

१५६. सन्देश : वर्धाकी सार्वजनिक सभाको[1]

१९ दिसम्बर, १९२६

मुझे खुशी है कि आप लोग उस सज्जन पुरुष, एन्ड्रयूजकी अपीलपर एक प्रार्थना-सभा कर रहे हैं। दक्षिण आफ्रिकामें जो समस्या है वह है अस्पृश्यता-निवारण की समस्या। दक्षिण आफ्रिकामें अब जो परिषद् बुलाई जा रही है, उसके कार्योंका केवल भारतीयोंपर ही नहीं, बल्कि सभी एशियाइयों, नीग्रो तथा अन्य लोगोंपर भी दूरगामी प्रभाव पड़ेगा। हमें ईश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिए कि वह परिषद्के सदस्योंमें विवेक-बुद्धि जाग्रत करे और वहाँ न्याय किया जा सके।

[अंग्रेजीसे]
बॉम्बे क्रॉनिकल, २२-१२-१९२६

१५७. पत्र : मीराबहनको

१९ दिसम्बर, १९२६

चि० मीरा,

तुम्हारे सुखदाई पत्र बराबर मिलते रहे हैं। अभी तो मैं लम्बा खत लिखनेकी हिम्मत नहीं कर सकता। जब रोलाँको पत्र लिखूँगा, तो वह तुम्हारी मार्फत ही जायेगा। मगर क्या तुम लिखना जरूरी मानती हो? मुझे खुशी है कि तुम श्रीमती गडोदियाके सम्पर्कमें आ चुकी हो। तुम्हें काफी घूमना चाहिए।

सस्नेह,

तुम्हारा,
बापू

चि० मीराबाई,
कन्या गुरुकुल, दरियागंज
दिल्ली

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५१९२) से।
सौजन्य : मीराबहन

१. इस सभाकी अध्यक्षता गंगाधरराव देशपाण्डेने की थी और यह सन्देश महादेव देसाईने पढ़ा था।

१५८. पत्र : राजकिशोरी मेहरोत्राको

वर्धा
सोमवार [२० दिसम्बर, १९२६ या उससे पूर्व][1]

चि० राज किशोरी,

तुमारे साथ वहोत वातें करनेका मेरा दिल था परन्तु मुझे समय न मीला। परसरामके कहनेपर मुझे पता मीला कि तुमारा चित्त आश्रममें शांत नहिं रहता है। तुमको आश्रममें वलात्कारसे रखनेका परसरामका इरादा नहि है। यदि तुमारा दिल किसी और जगह रहना है तो तुम रह सकती है। परसरामको आश्रमसे हटनेके लीये मजबूर नहि करना चाहिये। परसराम तुमारी आजीविकाके लीये वद्ध है तुमारे हि साथ रहनेके लीये नहिं, यदि तुमारा दिल वह जहां रहे वहा रहेनेका न हो तो पत्नि पतिके पीछे जाती है, पति पत्निके पीछे नही जा सकता है। कयों कि पति आजीविका या आत्मोन्नतिके कारण और जगह जानेके लीये कोई वार मजबूर हो जाता है।

तुमारी और लड़कोकी तबीयत अच्छी होगी। तुमारे सव ख्याल मुझे वगैर संकोच के लीखो।

बापूके आशीर्वाद

मूल पत्र (सी० डब्ल्यू० ४९५३) से।
सौजन्य : परशुराम मेहरोत्रा

१५९. पत्र : परशुराम मेहरोत्राको[2]

मौनवार [२० दिसम्बर, १९२६ या उससे पूर्व][3]

"सौंपे गये कामको करते जाओ। निर्देश भेज रहा हूँ[4]।"

यह तार मीला होगा। तुम्हारे कार्यमें पचे रहो। मात पिताको जो रुपैये भेजते थे वह तो भेजते ही रहो। 'यं० इं०' और हिंदी शिक्षा ई० काम कीया करो। ज्यादा मेरे वहाँ आनेपर। चिंता छोड़ो।

बापूके आशीर्वाद

१ और ३. तिथिका निर्णय परशुराम मेहरोत्राने स्मृतिके आधारपर स्वयं किया है। २० दिसम्बरको सोमवार था।

२. पत्रका प्रथम पृष्ठ उपलब्ध नहीं है।

४. मूल पत्रमें तारका पाठ अंग्रेजी लिपिमें दिया गया है, लेकिन यहाँ उसका अनुवाद कर दिया गया है।

[पुनश्च :]

न तुमारे, न राजकिशोरीको, न लड़कोंको बीमार होना चाहिए। खबरदार। २१को वर्धा छोड़ता हूँ।

मूल पत्र (सी० डब्ल्यू० ४९५७)से।
सौजन्य : परशुराम मेहरोत्रा

१६०. पत्र : आश्रमकी बहनोंको

मौनवार, मार्गशीर्ष सुदी १ [१९] ८३
[२० दिसम्बर, १९२६]

बहनो,

तुम्हारी तरफसे चि० राधाके पत्र पहुँचे हैं। पू० गंगाबहन प्रमुख चुनी गई, यह ठीक ही हुआ है। मगर प्रमुख चुननेके बाद अब तुम्हें उन्हें उस पदको शोभायमान करनेमें मदद देनी होगी, क्या इस तरफ तुम्हारा ध्यान खींचूँ? तुमने [अपनेमें से एक] निरक्षर बहनको प्रमुख नियुक्त करके सद्‌वर्तनको, त्यागको प्रधानता दी है। यही होना चाहिए। सद्‌वर्तनके बिना अक्षरज्ञान बेकार है। इसके बारेमें कभी शंका न करना।

प्रमुखका अर्थ है बड़ी सेविका। राजाको हुक्म देनेका अधिकार तो तभी मिलता है, जब वह सेवा करनेकी शक्तिमें सबमें ऊँचा पहुँच गया हो। वह जो हुक्म देगा, वह अपने स्वार्थके लिए नहीं, मगर समाजके भलेके लिए होगा। आजकल तो धर्मके नामपर अधर्म हो रहा है इसलिए राजा त्यागी होनेके बजाय भोगी बन बैठे हैं, और उन भोगोंके लिए हुक्म देने लगे हैं। मगर तुमने तो गंगाबहनको धार्मिक दृष्टिसे प्रमुख बनाया है। यानी तुमने यह फैसला किया है कि तुम सब सेविका बननेका प्रयत्न करनेवाली हो और गंगाबहन मुख्य सेविका है।

याद रखना कि तुम सब बहनें भारतमातासे सूतके धागेसे बँधी हो। सूतको भूलोगी तो सेवाको भी भूलोगी। इसलिए चरखा न भूलना। राम तो आज चरखे-में ही बसता है। चारों ओर भुखमरीका दावानल सुलग रहा है। उसमें मुझे तो चरखेके सिवा और कोई आधार दिखाई नहीं देता। भगवान किसी मूर्तरूपमें ही हमें दिखाई देता है। इसीलिए द्रौपदीके बारेमें हम गाते हैं, 'वसनरूप भये श्याम'। जिसे देखना हो, वह आज उसे चरखेके रूपमें देख ले।

मैं अपनी हद लाँघ गया हूँ। मुझे दो पन्नोंसे आगे नहीं लिखना था। ज्यादा लोभ करूँ तो चल नहीं सकता।

मीराबहनके तमाम पत्र मैं चि० मगनलालको भेजा करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि उन्हें तुम सब बहनें ध्यानसे सुनो, समझो और विचार करो। मेरी नजरमें इस समय हमारे पास वह एक आदर्श कुमारी है।

तुम्हें हाशियावाले अच्छे कागजपर लिखनेको कहकर राधाने मुझपर खासा बोझ डाल दिया है। जहाँतक उठेगा, उठाऊँगा।

अपनी तबीयतके बारेमें मैं कुछ नहीं लिखता, क्योंकि वह बहुत अच्छी है। जमनालालजी और जानकीबहनने मुझे बचाकर खूब शान्ति दी है। मेरा वजन चार पौण्ड बढ़ गया मालूम होता है। भोजन बराबर किया जा सकता है। बा की बनाई हुई प्रसादी हमेशा चखता हूँ। वह अभीतक चल रही है।

मैं यहाँसे कल रवाना होऊँगा। बम्बईसे मीठूबहन,[1] जमनाबहन और पेरिनबहन[2] खादीके कामके लिए आ रही हैं। उनसे मैं गोंदियामें[3] मिल जाऊँगा। गोदिया कहाँ है, यह तुम्हें नकशेमें देख लेना चाहिए।

दक्षाबहन और जर्मन बहन कल गइ। एक बारडोली और दूसरी काशी।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० ३६३०) की फोटो-नकलसे।

१६१. पत्र : घनश्यामदास बिड़लाको

सोमवार [२० दिसम्बर, १९२६][4]

भाई घनश्यामदासजी,

आपके दो पत्र मीले हैं। भाई श्रीप्रकाशका असल पत्र वापिस भेजता हुं।

आपकी चेष्टाका सरल वर्णन पढ़कर मुझे आनंद हुआ है। इलेकशनसे हमारी आबोहवा गंदी हुई है। यह तो मैंने खूब देख लीया। इतना कार्यके बाद देशको लाभ नहिं परंतु हानी हि होगी। परंतु आपको एसेंबलीमेंसे नीकल जानेकी सलाह में नहिं दे सकता हुं। तटस्थ रहनेका अर्थ यह है कि एक भी वोट आप ऐसा न दें जिसमें किसीका दबाण हो जैसे प्राय: हमेंशह बनता हैं।

आपने जो विश्वास मुझे दिलाया है वह अनावश्यक था। क्योंकि मुझे आपके शुभ प्रयत्नोंमें श्रद्धा है तदपि आपका विश्वास मुझे प्रिय है।

में कलकत्ते २३ तारीखको पहोंचुगा और उसी रोज गोहती जाऊंगा। ठहरने का भाई खंडे [ल] वालके यहां है। जब मैं कलकत्तेमें था तब आया जाया करते थे। दुबारा कलकत्ते जानेके समय यदि कोई राजकारण नहिं होगा तो उनके यहां ठहरूंगा ऐसा मैंने कहा था उसपर वह जोर देते हैं। इसलीये वही ठहरना होगा। आप गोहती आनेवाले है क्या?

आपका,
मोहनदास

मूल पत्र (सी० डब्ल्यू० ६१४१) से।
सौजन्य : घनश्यामदास बिड़ला

१. मीठूबहन पेटिट।
२. पेरिनबहन कैप्टेन।
३. गांधीजी २२ दिसम्बर, १९२६ को गोंदिया गये थे।
४. पत्रमें गांधीजीके गौहाटी जाते हुए २३ तारीखको कलकत्ता पहुँचनेके उल्लेखसे लगता है कि यह पत्र पिछले सोमवारको जो २० दिसम्बरको पड़ा था, लिखा गया।

१६२. भाषण: वर्धाकी सार्वजनिक सभामें[1]

[२० दिसम्बर, १९२६][2]

. . . न मालूम लोग मुझसे और क्या करनेकी उम्मीद रखते हैं? मैंने वर्ष-भर चुप रहकर अत्यन्त गंभीरतासे विचार किया है और इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि अगर हम त्रिसूत्री कार्यक्रम, जिसमें मर्द और औरत, जवान और बूढ़े, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सरकारी नौकर और दूसरे सब लोग हिस्सा ले सकते हैं, पूरा कर सकें तो स्वराज्य क्या रामराज्य भी मिल सकता है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि अगर हिन्दू और मुसलमानोंमें एकता न हुई, हम अब भी अस्पृश्यताके अभिशापसे मुक्त न हो सके और हमारे मध्यमवर्गीय लोगोंने स्वदेशी धर्मका पालन न किया तो स्वराज्य प्राप्त करना असम्भव है। आप यह न समझें कि मैं इस कार्यक्रमसे किसी दुराग्रह अथवा सनकीपनके कारण चिपका हुआ हूँ। इस संसारमें दो, केवल दो वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके अलावा और कुछ ऐसा नहीं है जिसका मैं देशके लिए त्याग न कर सकूँ। वे दो वस्तुएँ हैं — सत्य और अहिंसा। मैं इन दोनोंका त्याग सारे संसारके लिए भी नहीं करूँगा। मेरे लिए सत्य ही ईश्वर है और ईश्वरको पानेका अहिंसाके सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं है। मैं ईश्वर या सत्यको छोड़कर हिन्दुस्तानकी सेवा करना नहीं चाहता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि जो मनुष्य सत्यको छोड़ता है वह अपने देशको भी छोड़ सकता है, अपने प्रियसे-प्रिय सम्बन्धीका भी त्याग कर सकता है। . . . अब काम करनेका समय आ गया है। आखिर कोई कबतक बोलता ही रहेगा। कोई एक बार, दो बार या सौ बार बोले मगर अन्तमें स्वयं काम करना या काम करके उदाहरण तो उसे दिखलाना ही पड़ेगा। . . . अगर सारा हिन्दुस्तान एकमत होकर कहे कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य असम्भव है, तो भी मैं कहूँगा कि यह सर्वथा सम्भव है; अगर सत्य और ईश्वर नामकी कोई चीज पृथ्वीपर है तो हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य भी सम्भव है। अगर लोग इकट्ठे होकर खादीको खुले आम जलाने लग जायें और कहें कि यह तो पागलकी बकवास है तो भी मैं कहूँगा कि उन्हीं लोगोंकी बुद्धि ठिकाने नहीं है। उसी प्रकार अगर भारतके सभी हिन्दू मेरे विरुद्ध एकमत होकर कहें कि आज हम जिसे अस्पृश्यता कहते हैं, वह शास्त्र-विहित या स्मृति-विहित है, तब मैं कहूँगा कि ये शास्त्र और ये स्मृतियाँ ही झूठी हैं। अपने धर्मके इन्हीं तीन मूल मन्त्रोंको, इसी कलमेको, इसी गायत्रीको, इसी प्रकार सुनाता हुआ मैं सभी जगह जाऊँगा, जिससे मैं अपने प्रति और अपने कर्त्ताके प्रति सच्चा रहूँ।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ३०-१२-१९२६

१. महादेव देसाईके "साप्ताहिक पत्र" से उद्धृत।

२. महादेव देसाईने यही तिथि दी है।

१६३. पत्र : रामेश्वरदास पोद्दारको

ट्रेनमें
मंगलवार [२१ दिसम्बर, १९२६][1]

भाई रामेश्वरजी,

आपका पत्र मीला। रु० ५० भी मीले हैं। वर्धा नहिं आनेमें कोई अपराव नहिं हुआ है। यदि हुआ है तो आपने पैसे भेजकर प्रायश्चित्त कर लीया है। पैसे अमृत-लालजीको भेज रहा हुं। आप रामनाम लो।

आपका,
मोहनदास

मूल पत्र (जी० एन० १८७) की फोटो-नकलसे।

१६४. पत्र : मणिबहन पटेलको

गोंदिया
[२१ दिसम्बर, १९२६][2]

चि० मणि,

मेरे प्रति तुम्हारे स्नेहभावको मैं जानता हूँ लेकिन कोई सारी उम्र मेरे साथ थोड़े ही रहा जा सकता है? मेरे कामके साथ रहा जा सकता है। इसलिए तुम्हें उसके लिए तैयार हो जाना चाहिए। वहाँ एक भी मिनट खाली न जाने देना। मुझे लिखती रहना। यथासंभव मैं भी लिखूंगा।

बापूके आशीर्वाद

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

१. डाककी मुहरपर तारीख २२-१२-१९२६ है; इस दिन बुधवार था।
२. साधन-सूत्रमें १९२६ दिया गया है; गांधीजी २१ दिसम्बरको कुछ घंटोंके लिए गोंदियामें थे।

१६५. भाषण : अमरावतीमें व्यायामशालाके उद्घाटनके अवसरपर[1]

[२१ दिसम्बर, १९२६][2]

आप जानते हैं कि मुझे अपनी कमजोरियाँ मालूम हैं। जितना काम मैं कर सकूँ उससे अधिक काम उठाना मेरे स्वभावमें ही नहीं है। मगर डाक्टर पटवर्धनके अनुरोधको टाला भी तो नही जा सकता था। मुझे यह जानकर खुशी हुई कि इस अखाड़ेमें हिन्दू और मुसलमान बिना भेद-भावके लिये जाते हैं; और सिर्फ मुसलमान ही नहीं बल्कि 'अछूत' लड़के भी इसमें आते हैं। मुझे यह देखकर आनन्द हो रहा है कि यह संस्था इस प्रकार साम्प्रदायिकतासे अछूती है।

हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि जो युवक अपने शरीरको स्वस्थ और सबल बनाना और उसका सदुपयोग करना चाहते हैं उन्हें ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए। मैं सारे देशमें घूमा हूँ। मुझे सबसे अधिक कष्ट यह देखकर होता था कि हमारे नवयुवक ऐसे है कि फूँक मारनेसे उड़ जायें। जबतक हमारे यहाँ बाल-विवाहका अभिशाप है, जबतक हमारे समाजमें बाल-विवाहसे उत्पन्न व्यक्ति हैं, तबतक अधिक शारीरिक श्रम असम्भव है। राजयक्ष्माके रोगीको दण्ड-बैठक करनेको कौन कहेगा? अगर हमें नवयुवकों और नवयुवतियोंको स्वस्थ और सबल देखनेकी चाह है, अगर हम चाहते हैं कि हिन्दुस्तान मजबूती और तन्दुरुस्तीके रास्तेपर उन्नति करे तो हमें इस कुप्रथाकी जड़में कुल्हाड़ी मारनी पड़ेगी। मनुने कहा है कि विद्यार्थीको कमसे-कम २५ वर्षतक अवश्य ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। जबतक ये बातें पूरी नहीं होतीं, कसरत और व्यायाम आदि व्यर्थ हैं।

मगर इसके अलावा एक और बात है जिसकी ओर मैं आप लोगोंका ध्यान खींचना चाहता हूँ। आप जानते हैं कि जिस बातका हिंसासे बहुत दूरका भी नाता हो, उससे मैं सम्बन्ध नहीं रख सकता। दूसरे लोग चाहे जो-कुछ कहें, मगर मेरा पक्का विश्वास है कि अहिंसाके सिवाय दूसरा रास्ता नहीं है और मेरे लिए तो यही सबसे बड़ा और शाश्वत धर्म है। इसपर कोई सज्जन पूछ सकते हैं कि तब मेरे जैसे अहिंसा-प्रेमीने इस संस्थासे सहकार किया ही क्यों? इसका कारण स्पष्ट है। अहिंसाका अर्थ है हिंसाका उपयोग करनेकी शक्तिका त्याग। इसलिए जिसमें वह शक्ति है ही नहीं, वह अहिंसाका पालन कर ही नहीं सकता। अहिंसा बड़ी भारी आत्मिकशक्ति है। इसके पुजारीमें शारीरिक शक्तिके व्यवहारकी ताकत तो होनी चाहिए, मगर

१. यह भाषण महादेव देसाईके "साप्ताहिक पत्र"से लिया गया है।

२. महादेव देसाई लिखते हैं: "वर्ष-भरका मौन [वर्धामें] २० तारीखकी शामको तोड़ा गया और कलसे यात्रा शुरू हो गई है। अमरावती, नागपुर और गोंदियाका दौरा किया गया।" गांधीजी २१ नवम्बरको नागपुरमें थे। सम्भव है कि गांधीजी उसी दिन अमरावती पहुँचे।

वह जानबूझकर, सोच-समझकर उस शक्तिसे काम न ले। ऐसा नहीं है कि शारीरिक शिक्षा हिंसा करनेकी शक्ति पानेका रास्ता है; मगर हम अपने युवकोंको अहिंसा-पालनके लिए निर्बल बननेकी सलाह न दें। हथियार छीनकर किसीको अहिंसक नहीं बनाया जा सकता। हिन्दुस्तानमें ब्रिटिश शासनके पापोंमें से एक पाप यह है कि हमारे हथियार हमसे जबर्दस्ती छीन लिये गये हैं। किन्तु यह किया गया हमें नपुंसक बनानेके लिए; अगर सम्भव होता तो भी यह हमें अहिंसक बनानेके लिए नहीं किया गया। मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान मजबूत बने और उसे हथियारका उपयोग करनेकी स्वतन्त्रता मिले; किन्तु वह फिर भी उस स्वतन्त्रताका उपयोग न करे।

अतः शारीरिक शिक्षा देनेवाली ऐसी संस्थाओंको मैं पसन्द करता हूँ। मगर मैं चेतावनीका भी एक शब्द कहना चाहता हूँ। कोई भी संस्था जिसका उद्देश्य किसी जाति-विशेषको दबाना हो, चाहे वह जाति हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या पारसी कोई भी क्यों न हो, वह मेरा आशीर्वाद नहीं पा सकती। मेरे आशीर्वादकी अधिकारी वही संस्था हो सकती है जिसका उद्देश्य सभी सम्प्रदायों, सभी जातियों, सभी समाजों, राष्ट्रके सभी युवकोंका शारीरिक कल्याण है, फिर वे किसी भी जाति या समाजके क्यों न हों। अगर मुझे यह नहीं मालूम होता कि आज जो व्यायामशाला मैंने खोली है, वह इसी प्रकार की है तो मैं यहाँ आता ही नहीं। एक बार और आपको बधाई देता हुआ मैं चाहता हूँ और भगवान्से प्रार्थना करता हूँ कि आप सभी सच्चे और पवित्र बनें और आपका जीवन हमारे राष्ट्र और धर्मोके लिए बलिदान रूप हो।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, ३०-१२-१९२६

१६६. भाषण : नागपुरकी सार्वजनिक सभामें[1]

२१ दिसम्बर, १९२६

महात्माजीने लोगोंसे अनुरोध किया कि वे धन देकर तिलक विद्यालयकी सहायता करें। उन्होंने खद्दरमें अपना विश्वास फिरसे दुहराया और कहा कि यदि लोग मेरी सलाह माननेको राजी हों तो वे कुछ ही वर्षोंमें स्वराज्य पा सकते हैं। लोगोंको विदेशी कपड़ा पहने देखकर उन्हें दुःख हुआ और उन्होंने कहा कि मैं 'महात्मा गांधीकी जय' सुनते-सुनते थक गया हूँ। मैं ठोस काम चाहता हूँ। उन्होंने कहा कि आज सुबहसे मैंने सक्रिय कार्य आरम्भ कर दिया है और चरखेके अपने सन्देशको सुनानेके लिए मैं भारतके कोने-कोनेका दौरा करूँगा।

[अंग्रेजीसे]
फॉरवर्ड २२-१२-१९२६

१. यह सभा चिटनिस पार्कमें तिलक विद्यालयके ७ वें वार्षिकोत्सवके अवसरपर हुई थी।

१६७. गंगा और यमुनाका संदेश

एक मित्रने मुझे इस प्रकार लिखा है:[1]

हमारे यहाँ इन दोके अलावा दूसरी गंगाएँ और यमुनाएँ भी हैं। यह सच है कि उनके नाम दूसरे हैं। किन्तु वे सभी हमारे देशके विशाल मैदानोंको उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिमतक सींच रही हैं। इन मित्रको गंगा और यमुना जो सन्देश देती है, भारतकी अन्य बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा भारतवासियोंको वही एक मात्र सन्देश नहीं-मिलता। उनको देखकर हमें यह याद हो आता है कि जिस देशमें हम रहते हैं उसके लिए हमें क्या करना चाहिए। उनको देखकर हमें यह भी याद आता है कि जिस तरह ये नदियाँ क्षण-प्रतिक्षण लगातार अपनी शुद्धि कर रही है हमें भी उसी तरह निरन्तर आत्मशुद्धि करते रहना चाहिए। लगभग १० साल हुए मैंने लिखा था कि हिन्दुओंका प्रार्थना-मन्त्र गायत्री, गंगाकी ही अमूल्य देन है। प्राचीनकालके ऋषियोंको गंगाके उज्ज्वल जलसे अवश्य ही प्रेरणा मिली होगी। आधुनिक व्यस्त जीवनमें तो हमारे लिए इन नदियोंका मुख्य उपयोग यही है कि हम उनमें गन्दी नालियाँ छोड़ते हैं और मालसे भरी नौकाएँ चलाते हैं। हम अपने इन कार्योंसे इन नदियोंको मलिनसे मलिनतर बनाते चले जा रहे। इन मित्रकी तरह हमारे पास इतना समय भी नहीं है कि हम इन नदियोंके किनारोंपर सैर करने जायें और वहाँ उस सन्देशको मौन होकर ध्यानपूर्वक सुनें जो वे अपने कलकल स्वरमें हमें देती हैं।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २३-१२-१९२६

१६८. टिप्पणियाँ

अ० भा० च० सं० के प्रस्ताव

अ० भा० चरखा संघकी कार्यसमिति की गत १३ से १६ दिसम्बर, १९२६ तक वर्धामें होनेवाली बैठकमें निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किये गये:

(१) अ० भा० चरखा संघ या उसकी प्रान्तीय शाखाओंके द्वारा संचालित बिक्री-केन्द्रोंको सीधे दूसरे कार्यालयोंसे थोक या फुटकर बिक्रीमें उधार व्यापार करनेकी सख्त मुमानियत की जाती है।

(२) फेरी लगानेवाले जितनेकी खादी ले जाते हैं, उसकी कीमतके बराबर नकद जमानत उनसे माँगी जाये। खास हालतोंमें, जहाँ आवश्यक समझा जाये, अगर फेरी लगानेवाला वांछनीय व्यक्ति हो, किन्तु नकद जमानत न

१. पत्र यहाँ नहीं दिया गया है। पत्रमें लेखकने यमुना नदीके किनारे प्राप्त हुए आनन्दका वर्णन किया था।

दे सके, तो उससे जाती जमानत ली जा सकती है। फेरी लगानेवालोंको इस बातकी सख्त ताकीद तो की ही जाये कि वे किसी भी हालतमें उधार न बेचें और समय-समयपर हिसाब चुकता करते रहें। अगर किसी समय कोई फेरीवाला, बिके स्टाकका हिसाब चुकता न कर सके या बचा स्टाक हिसाबके अनुसार न हो तो उसे उसी समय हटा देना चाहिए और उससे बाकी पैसेकी वसूलीके लिए तुरन्त ही उपाय करना चाहिए।

(३) यद्यपि जिन स्थानोंमें, बिक्री-केन्द्रोंको बिना हानि उठाये लोगोंसे चलाने योग्य मदद नहीं मिलती वहाँ बिक्री केन्द्र खोलना वांछनीय नहीं है, फिर भी समस्त प्रान्तीय विभागोंको यह हिदायत दी जाती है कि वे उन बिक्री-केन्द्रोंको बन्द कर दें जिनमें दो सालके अनुभवके बाद भी यह मालूम हुआ है कि खर्च, बरस-भरकी कुल बिक्रीके ६। प्रतिशतसे ज्यादा आता है। नये केन्द्र सिर्फ वहीं खोले जायें जहाँ यह आशा हो कि एक सालके भीतर बिक्रीका स्तर कमसे-कम इस हदतक पहुँच जायेगा।

(४) इस समय यह आवश्यक है कि हम अपनी शक्ति उन्हीं केन्द्रोंमें लगायें जिनमें अधिक बेकारीके कारण या हाथ-कताई और हाथ-बुनाई उद्योगकी विशेष सुविधाके कारण खादी तैयार करनेकी ज्यादा सहूलियत हो; इसलिए यह निश्चय किया जाता है कि प्रान्तीय एजेंटोंको और मन्त्रियोंको कामकी योजनाएँ पेश करते वक्त ऐसे उत्पादन केन्द्र नहीं खोलने या चलाने चाहिए जिन्हें केवल घाटेपर ही खोला या चलाया जा सकता है। किन्तु जहाँ आन्दोलनके लाभकी दृष्टिसे किन्हीं केन्द्रोंको नुकसान उठाकर भी कायम रखना वांछनीय समझा जाये, वहाँ यह ध्यान भी रखा जाना चाहिए कि उस प्रान्तमें उत्पादनमें कुल जितनी पूँजी लगी हो, ऐसे प्रारम्भिक प्रयत्नमें उसका १० प्रतिशतसे अधिक खर्च न किया जाये।

केनियाके भारतीय

एक स्तम्भमें केनियाके किसी प्रवासी, श्री डी० बी० देसाईका पत्र दिया जा रहा है। इसमें बताया गया है कि केनियाके भारतीयोंपर लगभग १२ साल या इससे भी ज्यादा अर्सेसे जो व्यक्ति-कर लगा हुआ है उसमें वृद्धि कर दी गई है।[1] पत्रकी खास बात यह है कि इसमें सारी बात पूरी तफसीलके साथ कही गई है। यदि उसमें दिये हुए तथ्य सही हैं तो यह केनियाके यूरोपीयों और केनिया सरकारपर गम्भीर लांछनकी बात है। पाठकोंको स्मरण होगा कि केनियाके भारतीयोंने इस व्यक्ति-करको चुपचाप ही नहीं मान लिया था। यह अवश्य है कि उनका आपत्ति करना व्यर्थ हो गया था। फिर भी खयाल था कि इस अन्यायपूर्ण करमें वृद्धि नहीं की जायेगी। किन्तु यदि पत्र-लेखककी बात सही है तो एक मुद्रा सम्बन्धी चालाकी बरत कर यह कर ५० प्रतिशत बढ़ा दिया गया है अर्थात् वह २० शिलिंगसे ३० शिलिंग

१. पत्रके पाठके लिए देखिए परिशिष्ट ३।

कर दिया गया है। कर-सम्बन्धी सुधारके लिए जो संशोधन रखा गया है उससे तो यह कर ५० शिलिंग हो जायेगा। इस करमें वृद्धिके जो कारण दिये गये हैं वे बिलकुल बेतुके मालूम होते हैं। पाठकोंको यह जाननेके लिए कि करसे प्राप्त होनेवाले धनका उपयोग किस तरह किया जायेगा, स्वयं इस पत्रको ही पढ़ना चाहिए। केनियाके भारतीयोंके लिए निश्चय ही यह आशा करनेका कारण है कि जनता और सरकार उनकी सहायता करेंगे और इस भेदभावकारी और अन्यायपूर्ण कानूनके नामंजूर किये जानेकी माँग करेंगे।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २३-१२-१९२६

१६९. खादी सेवा-संघ

कुछ समय पहले इन्हीं पृष्ठोंमें प्रकाशित खादी सेवक-संघके नियमोंके मसविदेके बारेमें प्राप्त होनेवाली सम्मतियोंपर पूरा विचार करके अ० भा० चरखा संघकी कार्यसमितिने बहुत सावधानीसे पर्याप्त वाद-विवादके बाद फिरसे जो नियमावली तैयार की है, वह इन्हीं पृष्ठोंमें अन्यत्र प्रकाशित है। अर्जी और नौकरीके अनुबन्ध फॉर्मके नमूने भी दिये गये हैं। इस सेवा-संघके द्वारा उन लोगोंको सेवा करनेका अवसर मिलता है जो खादीके जरिये सेवा करना चाहते हैं। साथ ही इसके जरिये उनकी अपनी जीविकाके लिए भी थोड़े वेतनका प्रबन्ध हो जाता है।

शिक्षा मण्डल ही इसका परीक्षक मण्डल भी होगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी परीक्षक अनिवार्य रूपसे हर एक परीक्षार्थीकी परीक्षा करेंगे। शिक्षा मण्डलके अध्यक्ष द्वारा चुने हुए, एक या एकसे अधिक परीक्षकगण नियमोंके अनुसार विभिन्न आवश्यक परीक्षाएँ लेंगे।

ऐसी सम्मतियाँ आई थीं कि जो पारिश्रमिक निश्चित किया गया है उसे देखते हुए शिक्षाकी अवधि तीन सालकी बैठेगी। मगर सभी सदस्य इसी निष्कर्षपर आये कि जितने विषय पढ़ने हैं और व्यावहारिक काम करके सीखने हैं, उनके खयालसे तीन सालकी शिक्षा कुछ बहुत अधिक नहीं होगी। गत पाँच वर्षोंके अनुभवसे पता चलता है कि इस पाठ्यक्रममें शामिल विभिन्न हुनरोंको सीखनेके लिए निरन्तर अभ्यास आवश्यक है। जो लोग कम ज्ञान और अनुभव लेकर गाँवोंमें खादी-कार्यका संगठन करने गये हैं, उन्हें कठिनाई पड़ी है। हाथ-कताईके शास्त्रमें बराबर उन्नति होनेकी गुंजाइश है। समय-समयपर जो अनुसंधान-कार्य होता रहा है, उससे मालूम होता है कि हममें से अच्छेसे-अच्छे लोगोंको भी इस हुनरकी उन्नतिमें योग देनेकी पूरी गुंजाइश है, ताकि बिना अतिरिक्त मेहनत या समयके खर्चके उन करोड़ों गरीब लोगोंकी आमदनी दुगुनी हो जाये जिनके लिए हाथ-कताईका प्रचार किया जाता है।

यह दुर्भाग्यकी बात है कि हमारे स्कूलों और कालेजोंमें हाथसे काम करनेके हुनरका कोई स्थान नहीं है। इसलिए खादी सेवाके लिए आवश्यक शिक्षाकी दृष्टिसे

स्कूलों और कालेजोंकी शिक्षा बहुत उपयोगी नहीं है। इसलिए कोई स्नातक और कोई अनपढ़ युवक करीब-करीब एक ही स्तरपर प्रशिक्षण लेना आरम्भ करते हैं। बल्कि स्नातक युवकको यदि शारीरिक श्रमसे अरुचि हो गई हो, जैसा कि कई लोगोंको हो जाती है, तब तो प्रारम्भमें उसका स्तर कुछ और पिछड़ा हुआ होता है।

दूसरा सवाल जिसपर बहुत सावधानीसे विचार करना पड़ा, वेतनका था। खादी सेवा-संघ गरीबोंकी जरूरत पूरी करनेके लिए खोला गया है। इसलिए इसकी सेवा-के बदले अधिक या अच्छी आमदनीकी उम्मीद दिलाना असम्भव है। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत-सरकारने अपने नौकरोंका जो वेतन-क्रम निश्चित कर रखा है, वह भारतके जन-समूहकी हालत देखते हुए बहुत अधिक है। यह वेतन-क्रम तो एक समृद्ध टापू (इंग्लैंड) के लोगोंकी जरूरतोंके अनुरूप है; और इसलिए उससे हमारे करोड़ों गरीबोंके ऊपर प्रायः असह्य बोझ पड़ता है। अतः सरकारी नौकरीके, और खादी सेवा-संघके वेतनोंमें कोई तुलना न की जाये। मैं साथ ही साथ यह भी कहनेका साहस करता हूँ कि इसमें नौकरीके शुरूमें जो वेतन है वह सरकारके वेतन-जैसा ही अच्छा है। खादी-सेवा अगर कम बैठती है तो सरकारी नौकरीके अन्तिम लाभोंकी तुलनामें कम बैठती है। सरकारी नौकरीमें कई हजार रुपये तकका वेतन मिल सकता है, किन्तु खादी-सेवामें तो अधिकसे-अधिक २० रु० की ही बढ़ती सम्भव है। इसलिए जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा पाई है, उनके लिए इस सेवा-संघमें प्रवेश करना सचमुच ही आत्म-त्याग है। मगर क्या देशके अंग्रेजी पढ़े युवकोंसे इतने छोटेसे त्यागकी आशा रखना बहुत अधिक है? मैं इस त्यागको बहुत छोटा समझता हूँ; क्योंकि हमें याद रखना चाहिए कि उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा जनताके ही खर्चपर पाई है। यह ऐसी शिक्षा है जिसे केवल कुछ लोग ही पाते हैं और सर्वसाधारण इसे कभी पा ही नहीं सकते। फिर यह शिक्षा ऐसी है, जिसने हमें अगर कुछ थोड़ेसे आत्मत्यागी देशभक्त दिये हैं, तो साथ ही बड़ी संख्यामें ऐसे लोग भी दिये हैं, जो इस देशको गुलामीमें रखनेके लिए सरकारको स्वेच्छासे सहायता देते रहे हैं।

यह बात भी ध्यान देनेकी है कि योग्य और गरीब व्यक्तियोंके लिए इस सेवामें प्रशिक्षण-कालके अन्तमें समुचित शिक्षा-वृत्ति या वजीफा दिया जाता है, और साथ ही जहाँ समुचित योग्यतावाले लोगोंको दस वर्षतक नौकरीमें रखनेके लिए संघ बाध्य है, वहीं उन लोगोंको संघकी सेवा करने अथवा अन्यत्र नौकरी कर लेनेकी पूरी छूट है। यह ढील जानबूझकर इसलिए दी गई है कि जिसमें नवयुवक, भले सेवा-संघमें प्रवेश न करें, आयें और कताई तथा उसके सम्बन्धकी सब बातें सीखें।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २३-१२-१९२६

१७०. पारसियोंमें हाथसे सूत-कताई

एक पत्र-लेखकने मेरे पास बम्बई अहातेके 'गजेटियर' के १८८३ के संस्करणके ७ वें खण्डके पृष्ठ १५५ से यह अंश उद्धृत करके भेजा है :

> **गामदेवीके पारसी बुनकर विशेष रूपसे प्रसिद्ध थे, और सन् १७८७-८८ में एक यूरोपीय यात्री डाक्टर होव वहाँके पारसियोंसे उनकी इस कलाका ज्ञान प्राप्त करनेके विशेष उद्देश्यसे वहाँ गये थे। इस उद्योगको समाप्त हुए ५० बरस-से भी ज्यादा हो गया है। किन्तु पुरोहित वर्गकी पारसी स्त्रियाँ अब भी पारसी स्त्री-पुरुषों द्वारा पहनी जानेवाली पवित्र 'कस्ती' तैयार करनेके लिए काफी सूत कातती हैं। बम्बईमें इसकी बहुत बिक्री होती है और मेहनतके हिसाबसे तीन रुपये या उससे भी ज्यादामें मिलती है। कुछ पारसी स्त्रियाँ दुकानदारोंकी माँगके मुताबिक निवाड़, मोटी धोतियाँ और खादीका कपड़ा तैयार करती हैं। किन्तु ज्यादातर तो पारसियोंने इस बुनाईके धन्धेको, जिसमें उन्हें कभी इतनी कुशलता प्राप्त थी, त्याग ही दिया है।**

यदि वे पारसी, जो शराबकी दूकानें चला रहे हैं, इस अनैतिक व्यापारको त्याग दें और उसकी जगह बुनाईके इस उत्थानकारी और उत्पादक धन्धेको, जिसमें वे ५० वर्ष पहले इतने कुशल थे, करने लगें तो यह भारतके लिए और स्वयं उनके लिए एक बहुत बड़ा वरदान सिद्ध हो। हाथके कते सूतकी कस्तीके जिक्रसे मुझे उस दृढ़निश्चयी पारसी बहनकी याद आती है जो मुझे नवसारीमें मिली थी। उसने मुझे बताया कि एक समय नवसारीकी पारसी स्त्रियाँ कस्तीके लिए सूत कातकर अपनी आजीविका कमाती थीं और हाथोंकी कती कस्ती पवित्र मानी जाती थी। किन्तु बादमें वहाँ सुधारकोंके रूपमें कुछ ऐसे लोग पहुँच गये जो हाथकते सूतकी जगह मशीनोंका कता सूत काममें लेने लगे और नवसारीकी स्त्रियोंका यह धन्धा समाप्त हो गया।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २३-१२-१९२६

१७१. अखिल भारतीय चरखा संघ

अ० भा० चरखा संघकी सालाना रिपोर्ट अभी-अभी छपकर सामने आई है। वह इतनी संक्षिप्त है कि एक कार्यव्यस्त आदमी भी उसे पढ़ ले सकता है। चरखा-संघका अर्थ गरीबोका संघ न होकर 'गरीबसे-गरीबके लिए संघ' है। यह संघ गरीब लोगोंका नही हो सकता, क्योकि वे जानते ही नही कि संघ क्या चीज है। उनके पास फालतू मेहनत करनेकी ऐसी गुजाइश ही नही है कि वे संघको श्रमदान कर सकें। इसलिए अगर उनके लिए कोई संघ होना ही है तो जरूरी यह है कि दूसरे लोग जो उनकी मेहनतपर गुजर करते है, अपने उन गरीबसे-गरीब भाइयोके लिए [श्रमके रूपमें] कुछ-न-कुछ दें। यह संघ ऐसे ही लोगोंको लेकर बना है। कामको देखते उनकी संख्या बहुत ही कम है। मेरी इच्छा है कि वे और अधिक होते। मगर वे अधिक हों या कम, उनका काम महत्त्वपूर्ण है। रजिस्टरमें ११० धुनिये, ४२,९५९ कतैये और ३,४०७ बुननेवाले दर्ज हैं। कमसे-कम ९ लाखसे भी कुछ अधिक ही रुपयेकी रकम इनमें वितरित हुई। मजदूरी देनेका यह काम १५० उत्पादन केन्द्रों-पर हुआ और उनके द्वारा मोटे हिसाबसे १५०० गाँवोंको सहायता पहुँची। मैंने ये मुख्य-मुख्य बातें पाठकोंकी दिलचस्पी बढानेके विचारसे ही दी हैं। रिपोर्टमें फाजिल शब्द एक भी नही है। यह केवल बातरतीब इकट्ठे किये हुए और सजाये हुए अंकों और कार्योकी विवरण-सूची मात्र है। पाठक अगर देखना चाहें तो उसमें उन्हें साल-भरके भीतर तैयार की गई और बेची गई खादीके भी आँकड़े मिलेंगे। उसमें यह भी मिलेगा कि इस बढ़ते हुए संगठनसे कितने नवयुवकोका गुजर होता है और कितने अन्य दूसरे सहायक उद्योग चलते हैं। अ० भा० चरखा संघ कार्यालय, अहमदाबादको चार आनेके टिकट भेजनेपर रिपोर्ट मिल सकती है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २३-१२-१९२६

१७२. भेंट : समाचारपत्रके प्रतिनिधिसे

कलकत्ता
२४ दिसम्बर, १९२६

गौहाटीसे रवाना होनेसे पहले महात्मा गांधीसे एक भेंटमें नवीन कार्यक्रमके बारेमें प्रश्न किये जानेपर उन्होंने कहा कि अभी तो इसके बारेमें कोई बात नहीं की जा सकती क्योंकि यह कार्यक्रम कांग्रेस तय करेगी। उन्होंने कहा :

हर आदमीकी अपनी राय हो सकती है, लेकिन यह मुझे मालूम है, लोग यहाँसे खुला दिमाग और इस बातकी हार्दिक इच्छा लेकर जा रहे हैं कि कोई ऐसा व्यवहार्य कार्यक्रम निर्धारित किया जा सके जो सब गुटोंको स्वीकार्य हो; लेकिन कार्यक्रम क्या होगा, इसकी कोई पूर्व घोषणा, मोटे तौरपर ही सही, खतरनाक होगी।

सुधारोंको कार्यरूप देनेके प्रश्नपर महात्माजीने कहा :

जहाँतक मैं कह सकता हूँ जबतक बंगालको चुभनेवाला काँटा, अर्थात् राजनीतिक कैदियोंकी अनिश्चित कालतक नजरबन्दीका प्रश्न, सम्मानजनक और सन्तोषजनक ढंगसे हल नहीं हो जाता तबतक लोगोंमें स्वभावतः सुधारोंको कार्यरूप देनेके प्रति जबर्दस्त अनिच्छा रहेगी।

[अंग्रेजीसे]

बॉम्बे क्रॉनिकल, २५-१२-१९२६

१७३. तार : लाजपतरायको[1]

२४ दिसम्बर, १९२६

स्तब्धकारी समाचार मिला। आप दिल्ली जाकर उत्तेजना और रोष रोकें। तारसे विवरण भेजें।

[अंग्रेजीसे]

लीडर, २८-१२-१९२६

१. स्वामी श्रद्धानन्दकी हत्याका समाचार लाला लाजपतरायको २३ दिसम्बरको कलकत्तामें प्राप्त हुआ था और अगले दिन उन्होंने यह सूचना गांधीजीको प्रेषित की जो उस समय अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीकी बैठकमें भाग लेनेके लिए गौहाटीके रास्तेमें थे। गांधीजीको लालाजीका तार सोरभोग नामक एक छोटे स्टेशनपर मिला। गांधीजीने इसपर लाला लाजपतरायको उक्त तार भेजा, और लालाजी श्री मु० रा० जयकरके साथ उसी रात कलकत्तासे दिल्लीके लिए रवाना हो गये।

१७४. तार : इन्द्र विद्यावाचस्पतिको[1]

[२४ दिसम्बर, १९२६]

स्तब्ध कर देनेवाला तार मिला। पिताजीको तो वीरगति मिली है।

हिन्दी नवजीवन ६-१-१९२७

१७५. भाषण : अ० भा० कां० क०की बैठक, गौहाटीमें[2]

[२४ दिसम्बर, १९२६]

मेरे पास अखबारवाला आया था और कुछ जाहिर करनेका आग्रह उसने दो बार किया। मैंने उसे कह दिया कि मुझसे कुछ कहना पार लगे मेरी ऐसी हालत नहीं है। श्रीमती नायडूने भी मुझे यहाँ कहा कि कुछ सन्देशा प्रकट करो। उनसे भी मैंने इनकार कर दिया। अब पीछेसे मुझे यही आज्ञा होती है इसलिए अपना उद्गार निकालनेकी कोशिश करता हूँ, किन्तु मेरी ऐसी दशा नहीं है कि मैं कुछ कह सकूँ। हाँ, तत्काल मेरे मनपर कैसा असर हुआ यह मैं कह सकता हूँ सही। लालाजीका तार मेरे पास पहुँचते ही तुरन्त मैंने मालवीयजी वगैरहको खबर भेजी और लालाजी और स्वामीजीके सुपुत्र इन्द्रको तार भेजा। इस तारमें दुःख या शोक प्रकट न करके मैंने तो जनाया कि यह सामान्य मृत्यु नहीं है। इस मृत्युपर मैं रो नहीं सकता। अगर्चे कि यह मृत्यु असह्य है तो भी मेरा दिल शोक करनेको नहीं कहता और कहता है कि यह मृत्यु हम सबको मिले तो क्या ही अच्छा हो!

स्वामी श्रद्धानन्दकी दृष्टिसे इस प्रसंगको धर्म-प्रसंग कहेंगे। वे बीमार थे। मुझे तो कुछ खबर न थी, किन्तु एक मित्रने खबर दी कि स्वामीजी भाग्यसे ही बच जायें तो बच जायें। पीछेसे मेरे तारके उत्तरमें उनके लड़केका तार मिला कि वे धीरे-धीरे ठीक हो रहे हैं। यह भी मालूम हुआ कि डाक्टर अन्सारी बहुत अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं। इस प्रकारकी गम्भीर बीमारीमें वे बिछौनेपर पड़े थे और उस बिछौनेपर ही उनके प्राण लिये गये। मरना तो सबको है, किन्तु यों मरना किस कामका? सारे हिन्दुस्तानमें और पृथ्वीपर जहाँ-जहाँ हिन्दुस्तानी लोग होंगे, वहाँ-वहाँ स्वाभाविक बीमारीसे ही स्वामीजीके मरनेका जो असर होता उसकी अपेक्षा इस अपूर्व मरणसे अजब ही असर होगा। मैंने भाई इन्द्रको हमदर्दीका एक भी तार

१. महादेव देसाईने अपने "गौहाटीका पत्र" में लिखा है कि यह तार गांधीजीने स्वामी श्रद्धानन्दकी हत्याकी खबर सुननेके बाद दिया था।

२. भाषणका यह पाठ महादेव देसाई द्वारा लिखित "गौहाटीका पत्र" से लिया गया है।

या पत्र नहीं लिखा है। उन्हें और कुछ दूसरा कह ही नहीं सकता। इतना ही कह सकता हूँ कि तुम्हारे पिताको जो मृत्यु मिली है वह धन्य मृत्यु है।

किन्तु यह सब बात तो मैंने स्वामीजीकी दृष्टिसे, मेरी अपनी दृष्टिसे की है। मैं अनेक बार कह चुका हूँ कि मेरे लेखे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक हैं। मैं जन्मसे हिन्दू हूँ और हिन्दू-धर्ममें मुझे शान्ति मिलती है। जब-जब मुझे अशान्ति हुई, हिन्दू-धर्ममें ही मुझे शान्ति मिली है। मैंने दूसरे धर्मोंका भी निरीक्षण किया है और इसमें चाहे जितनी कमियाँ और त्रुटियाँ होयें तो भी मेरे लिए यही धर्म उत्तम है। मुझे ऐसा ही लगता है और इसीसे मैं अपनेको सनातनी हिन्दू मानता हूँ। कितने सनातनियोंको मेरे इस दावेसे दुःख होता है कि 'विलायतसे आकर यह सुधरा हुआ आदमी हिन्दू कैसा?' किन्तु मेरा हिन्दू होनेका दावा इससे कुछ कम नहीं होता और यह धर्म मुझे कहता है कि मैं सबके साथ मित्रतासे रहूँ। इसीसे मुझे मुसलमानोंकी दृष्टि भी देखनी है।

मुसलमानकी दृष्टिसे जब इस बातका विचार करता हूँ तो मुझे दूसरी ही बात मालूम पड़ती है। यह काण्ड मुसलमानके हाथ बन पड़ा। धर्मचर्चा के बहाने घरमें प्रवेश करके उसने यह कृत्य किया। नौकरने तो कहा, 'स्वामीजी बीमार हैं। आज नहीं मिल सकते।' दरवाजेपर हुज्जत हुई। स्वामीजीने सुनकर कहा, 'अच्छा है, आ जाने दो।' और स्वामीजीके उससे बात करनेको न रहनेपर भी उन्होंने बातेंकीं — बात करनेकी तो उनमें ताकत ही नहीं थी — स्वामीजीको तो उसे समझा कर बिदा कर देनेको था, इसलिए बुलाकर कहा, 'भाई, अच्छे हो जानेपर तुम्हें जितनी बहस करनी हो कर लेना, किन्तु आज तो बिछौनेपर पड़ा हूँ।' इसपर उसने पानी माँगा। धर्मसिंहको स्वामीजीने आज्ञा दी, 'इनको पानी पिलाओ।' आज्ञाकारी नौकर पानी लेने जाता है तबतक तो यहाँ उसने रिवाल्वर निकाल ली। एकसे संतोष न हुआ तो दो गोली मारी। स्वामीजीने उसी समय प्राण खोये। धर्मसिंह आवाज सुनकर अपने मालिकको बचाने दौड़ा किन्तु बचावे कौन? ईश्वरको स्वामीजीके शरीरकी रक्षा नहीं करनी थी। धर्मसिंहके ऊपर भी वार हुआ। उसे चोट लगी। वह अस्पतालमें है। मारनेवाला अब्दुल रशीद हिरासतमें है। ऐसे संयोगके बीच किये गये इस खूनसे मुसलमानोंके लिए हिन्दुओंमें कैसा भाव आयेगा, इसका मुझे बहुत दुःख है और इसमें भी शंका नहीं है कि हिन्दू जनताको मुसलमानोंके प्रति उल्टा खयाल आयेगा। क्योंकि आज दोनों जातियोंमें मुहब्बत नहीं है, विश्वास नहीं है। दोनों जातियाँ जानती हैं कि एक दिन तो मिलकर भाइयोंके जैसा रहना ही है, किन्तु दोनों ही कमजोर होनेके कारण एक दूसरेसे लड़कर मजबूत होने और तब एकत्र होनेकी आशा रखती हैं। इससे आज अखबारोंमें जो गन्दगी फैल रही है, जो जहर पैदा हो रहा है, उसे देखकर यह कहना कठिन है कि इस कृत्यका क्या परिणाम होगा। इसीसे मैं खामोश रहना चाहता था। मेरे दिलमें जो तूफान उछल रहा है, उसे मैं शान्त नहीं कर सकता, दबा नहीं सकता और तुम्हारे आगे व्यक्त नहीं कर सकता।

हमारे लिए यह एक अच्छा शिक्षा-पाठ बनना चाहिए कि स्वामीजीका खून अब्दुल रशीदके हाथों हुआ। इससे हम एक-दूसरेको समझ लेवें; अगर हम यह समझ

लें कि हम लड़कर साथ नहीं रह सकते तो क्या ही अच्छा हो! किन्तु आजका वातावरण देखकर मुझे यह आशा नहीं होती कि हम एक ही खूनसे बच जायेंगे।

श्रद्धानन्दजी और मेरे बीच कैसा सम्बन्ध था, यह तो आज मैं यहाँ नहीं कहूँगा। मेरे सामने वे अपने दिलकी बातें कहा करते थे। कोई छः महीने हुए जब वे आश्रममें आये थे, तब कहते थे, 'मेरे पास धमकीके कितने पत्र आते हैं। लोग धमकी देते हैं कि तुम्हारी जान ले ली जायेगी। पर मुझे उनकी कुछ परवाह नहीं।' वह तो बहादुर आदमी थे। इनसे बढ़कर बहादुर आदमी मैंने संसारमें नहीं देखा। मरनेका उन्हें डर नहीं था, क्योंकि वे सच्चे आस्तिक, ईश्वरवादी आदमी थे। इसीसे उन्होंने कहा, 'मेरी जान अगर ले ही ली जाये तो उसमें होना ही क्या है।' यह खून हुआ तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? एकसे अधिक खून भी होयें तो भी आश्चर्य क्यों होना चाहिए? आज तो एक मुसलमानने एक हिन्दूका खून किया है, किन्तु अगर कोई हिन्दू किसी मुसलमानका खून करे तो भी आश्चर्य न हो। ईश्वर करे ऐसा एक भी प्रसंग न आये। किन्तु जब हम अपनी जबान और कलमपर काबू न रख सकेंगे तो और दूसरा परिणाम होगा क्या? किन्तु मैं इतना कहना चाहता हूँ कि अगर कोई हिन्दू इस खूनकी नकल करे तो वह हिन्दू धर्मको लज्जा देगा।

मैंने तो कहा है कि अज्ञानी लोग जो लड़ते हैं उसकी बनिस्बत एक-दूसरेको दुश्मन माननेवाले नेता ही लड़ लेवें तो क्या ही अच्छा हो। किन्तु ऐसा न होना चाहिए कि इन अज्ञान लोगोंमें से एक आदमी भी नेताओंमें से किसीकी जान ले।

आज हम ईश्वरसे माँगें कि इस खूनका हम सच्चा अर्थ कर लें। मुसलमानों और हिन्दुओंकी परीक्षाका यह समय है। हिन्दू शान्ति रखें और इस खूनका बदला लेनेकी इच्छा न करें। इस खूनसे यह न मान बैठें कि अब हमारे और मुसलमानोंके बीच दुश्मनी शुरू हो गई है और अब हिन्दू-मुसलमान ऐक्य असम्भव है। अगर ऐसा वे मानेंगे तो वे भी गुनहगार होंगे और अपने धर्मको वे कलंक लगायेंगे। मेरी मतिके अनुसार तो एक भी मुसलमान अगर ऐसा मानता हो कि रशीदने जो-कुछ किया, ठीक ही किया तो ऐसा मानकर वह अपने धर्मको दाग लगायेगा। मुसलमानोंका धर्म यह नहीं है। वह दूसरा ही है। मुसलमान धर्मकी सच्ची खूबियाँ बतलानेका यह प्रसंग मुसलमानोंको मिला है। श्रद्धानन्दजी और हिन्दुओंको तो जो चाहिए वह मिल ही गया, किन्तु मैं मनुष्यकी हैसियतसे, मुसलमानोंका मित्र और भाई होनेके कारण कहता हूँ कि अगर हम दोनों जातियाँ इसको समझ लेवें तो हम दोनोंके लिए यह लाभदायी हो पड़ेगा। हम दोनोंको ही इस परीक्षामें से निकलनेकी ईश्वर हमें सद्बुद्धि और भक्ति दे और हम प्रार्थना करें कि इस कृत्यके परिणामस्वरूप हम इस प्रकार परस्पर बर्ताव करें कि ईश्वर कहे कि दोनों जातियोंको जो करना चाहिए था वही उन्होंने किया है।

हिन्दी नवजीवन, ६-१-१९२७

१७६. भाषण: स्वदेशी प्रदर्शनी, गौहाटीमें[1]

२५ दिसम्बर, १९२६

महात्माजीने कहा कि मुझे चरखेमें उत्कट विश्वास है और यह मेरा विश्वास दिनोंदिन बढ़ रहा है। इसलिए मैं चरखा आन्दोलनको संगठित और व्यापक करनेके हर अवसरका स्वागत करता हूँ। स्वराज्यके लिए मैंने तीन शर्तें रखी हैं, जिनमें चरखेके प्रसारको मैं सबसे महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। यही एक धन्धा है जिसमें करोड़ों लोग मिलकर काम कर सकते हैं, जिसमें बच्चे, बूढ़े, औरत, मर्द, सभी अपना योगदान कर सकते हैं। इससे भी बड़ी बात यह है कि यह एक ऐसा मंच है जो औरतोंको स्वराज्यके लिए चलनेवाले राष्ट्रीय आन्दोलनमें अपना समुचित स्थान प्राप्त करनेका सर्वोत्तम अवसर प्रदान करता है। मुझे विश्वास है कि चरखा-कार्यक्रमकी सफलता (स्वराज्य-प्राप्तिकी) दूसरी शर्त, अर्थात् हिन्दू-मुसलमान एकताकी शर्तको पूरा करनेमें भी काफी मदद देगी।

मैं मुद्रा समस्याका अध्ययन कर रहा हूँ ताकि विनिमयके अनुपातको लेकर जो विवाद चल रहा है उसके बारेमें अपनी राय कायम कर सकूँ। लेकिन जो-कुछ मैंने पढ़ा है उससे मुझे लगता है कि वास्तवमें शहर गाँवोंको चूसकर जिन्दा हैं, और विचौलिए किसानोंको और देशको निचोड़ कर करोड़ों रुपये देशके बाहर भेज रहे हैं। मैं सरकारी कलक्टरोंकी रिपोर्टोंके आधारपर कहता हूँ कि गाँव बर्बाद हुए जा रहे हैं, और भारतकी आबादीके दसवें हिस्सेको पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। सौ बरसोंसे शहर-निवासी गाँववालोंका खून चूस रहे हैं। तब फिर वे बदलेमें खद्दरको अपनाकर गाँववालोंको कुछ प्रतिदान क्यों नहीं देते और इस प्रकार क्यों नहीं वे एक ऐसे आन्दोलनको प्रोत्साहित करते जिसमें देशका उत्थान करनेकी जबर्दस्त शक्ति भरी हुई है? कांग्रेस एक महान संस्था है, लेकिन अभी वह गाँववासियोंतक पूरी तरह नहीं पहुँच पाई है।

कांग्रेसके अधीन संगठित होनेवाले चरखा संघको कांग्रेसने पूरा स्वराज्य दे दिया है, और इतने ही समयमें संघने १,५०० गाँवोंसे सम्पर्क स्थापित कर लिया है। संघ ५०,००० स्त्रियों और ४,००० बुनकरोंको काम मुहय्या करता है। जो लोग तीर्थ स्थानोंमें गये हैं वे वहाँकी भिखारियोंकी समस्यासे परिचित होंगे। जो लोग काम कर सकते हैं और जिन्हें यदि समुचित रोजगार देना सम्भव हो जाये तो ऐसे लोगोंको

१. गांधीजीने प्रदर्शनीका उद्घाटन करते हुए यह भाषण दिया। इस अवसरपर श्रीनिवास आयंगार, पंडित मदनमोहन मालवीय, सरोजिनी नायडू, डा० मुंजे, मोतीलाल नेहरू तथा अबुल कलाम आजाद आदि अनेक नेता उपस्थित थे।

भिक्षा देना अपराध है। चरखा संघने जिन ५०,००० स्त्रियोंको काम दिया है वे ऐसी हैं जिनके पास कोई रोजगार नहीं था और जो एक धेला भी नहीं कमाती थीं। यदि उसकी गतिविधियोंको और बढ़ाया जा सके, और यदि लोगोंको यह मालूम हो कि पंडित मोतीलाल नेहरू, पंडित मालवीय और मौलाना मुहम्मद अली-जैसे नेता चरखेको अपना रहे हैं, तो मेरा सन्देश लोग सुनेंगे और भिखारियोंकी समस्यासे भी निपटा जा सकेगा। अभी बहुत बड़े क्षेत्रको इस आन्दोलनके अधीन लाना बाकी है, क्योंकि भारतमें सात लाख गाँव हैं। १९२१ में खद्दरकी जो कीमत थी, आज वह लगभग उससे आधी है, और ऐसा कहना भी निश्चय ही गलत होगा कि अब पहलेके मुकाबले खद्दरका उत्पादन कम हो गया है।

[अंग्रेजीसे]

फॉरवर्ड, २७-१२-१९२६

१७७. अखिल भारतीय गोरक्षा मण्डल

कहा जा सकता है कि इस मण्डलका काम धीमी गतिसे ही चलता है। इसकी कार्यवाहक समितिकी बैठक इस मासकी १७ तारीखको वर्धामें हुई थी। बैठकमें समितिके सदस्य पूरी संख्यामें उपस्थित नही थे, इसलिए आधा घंटा इन्तजार करनेके बाद समितिका काम चलानेका प्रस्ताव किया गया। तभी एक सदस्य डा० मुजे आ पहुँचे और काम उपस्थित सदस्योकी आवश्यक संख्यासे ही शुरू हुआ। किसी भी संस्थामें ऐसा होना नही चाहिए। लेकिन हम लोगोंको रचनात्मक कार्योंमें कम अथवा तनिक भी दिलचस्पी नहीं होती, इसलिए ऐसे कार्योंमें यदि उसमें आर्थिक लाभ न हो तो बहुत ही कम लोग शामिल होते हैं।

इस मण्डलका कार्य दुग्धालयों तथा चर्मालयोंकी मार्फत गोरक्षा करना है, इसलिए उसमें परिश्रम, पैसा, बुद्धि आदिकी ही आवश्यकता है। इसलिए उसमें कौन उपस्थित होना चाहेगा?

तथापि गोरक्षाका प्रश्न धार्मिक और आर्थिक दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ढोरोंकी रक्षा और संवर्धनके बिना खेती नहीं हो सकती और खेतीके बिना मनुष्य नही जी सकता। इसके अतिरिक्त ढोरोंके बिना दूध नही मिल सकता और दूधके बिना जनताका जीवन दूभर हो जायेगा।

ढोरोंकी रक्षा और उनके संवर्धनका प्रश्न उनका ज्ञानपूर्वक पालन करनेपर निर्भर है और यह ज्ञान उसके लिए परिश्रम किये बिना सम्भव नही है। इसलिए अखिल भारतीय गोरक्षा मण्डलका हेतु प्रयोगोंके द्वारा इस ज्ञानकी वृद्धि करना है, और चमड़ेके व्यापारके तथा चमड़ा कमानेके धन्धेके प्रति जनतामें जो घृणा है उसे दूर करना है।

इसमें दिलचस्पी कौन ले? सब विचारवान स्त्री-पुरुषोंको इसमें दिलचस्पी लेनी चाहिए। लेकिन बहुतसे लोग लें अथवा कम लोग लें, पर ऐसे मण्डलोंको दृढ़तापूर्वक अपना काम जारी रखकर अपनी श्रद्धाको सिद्ध करना चाहिए।

अतएव समितिने चार प्रस्ताव पास किये हैं।

मण्डलको दुग्धालय चलानेकी विद्यामें निपुण एक सज्जनकी सेवाएँ प्राप्त हैं, अतः मण्डलने तत्सम्बन्धी प्रयोग करनेके लिए अध्यक्षको ५०,००० रुपये तककी राशि खर्च करनेकी सत्ता प्रदान की है।

एक सज्जन चर्मालयके लिए भी मिल गये हैं, अतः तत्सम्बन्धी प्रयोग करनेके लिए भी मण्डलने ५०,००० रुपयेकी एक और रकम खर्च करनेकी सत्ता दी है।

मण्डलके पास अभी इतना पैसा नहीं है। अभी तो उसके पास मुश्किलसे दस हजार रुपये होंगे। बाकी तो जब मिलेंगे तब होंगे। लेकिन उनके मिलनेकी उम्मीद है। मित्रोंने सहायता करनेका वचन दिया है और यदि कार्य अच्छा हो तथा अच्छे कार्यकर्त्ता मिलें तो धन भी अवश्य मिल जाता है। ऐसा विश्वास होनेके कारण मैंने समितिकी दी हुई उपर्युक्त सत्ता स्वीकार कर ली है। इस कार्यमें जो गोसेवक मदद करना चाहें, मैं उन्हें मदद करनेका आमन्त्रण देता हूँ। पाई-पाईका हिसाब रखा जाता है और रखा जाता रहेगा। उसे समय-समयपर प्रकाशित किया जायेगा। कार्यकी सफलता-असफलताका आधार परिस्थितियोंपर है। उम्मीद तो यह है कि प्रयोगके अन्तमें हम यह सिद्ध कर सकेंगे कि दुग्धालय और चर्मालयकी ये दोनों प्रवृत्तियाँ स्वावलम्बी बनाई जा सकती हैं।

इस कार्यके लिए जिन कार्यकर्त्ताओंको नियुक्त किया गया है उनका परिचय मैं तनिक अनुभव प्राप्त करनेके बाद देनेका विचार रखता हूँ। यदि ये प्रयोग सफल होते हैं तो इनमें मैं गोरक्षाके बीज देखता हूँ।

दूसरे [दो] प्रस्ताव मण्डलको सदस्योंके सम्बन्धमें स्वावलम्वी बनानेके बारेमें हैं। मण्डलको कार्यकर्त्ताओंकी आवश्यकता है, अधिकारियोंकी नहीं। इसलिए एक प्रस्ताव-में यह कहा गया है कि समितिके जो सदस्य लगातार समितिकी तीन बैठकोंमें अनुपस्थित रहेंगे उनकी जगह खाली हो जायेगी। यह प्रस्ताव आवश्यक है, क्योंकि जो लोग समितिके प्रस्तावोंमें अपनी रायका लाभ दे सकते हैं केवल उनकी ही जरूरत है। यदि वे उपस्थित नहीं होंगे तो लाभ किस तरह दे सकेंगे? इसके बारेमें मन्त्री प्रत्येक सदस्यके साथ पत्र-व्यवहार करेगा।

चौथा प्रस्ताव सदस्योंसे सम्बन्धित है। जो सदस्य अपना दूसरे वर्षका चन्दा नहीं देगा वह सदस्य नहीं माना जायेगा। यह याद दिलानेके लिए है। यह अभीष्ट है कि इस मण्डलके सदस्य और प्रतिनिधि उत्तरदायी हों। वस्तुतः देखा जाये तो ये दो नियम समस्त संस्थाओंके लिए अनिवार्य होने चाहिए — सदस्योंके लिए चन्दा देना और प्रतिनिधियोंके लिए बैठकोंमें उपस्थित होना।

मुझे उम्मीद है कि जो लोग मण्डलके उद्देश्यको पसन्द करते हैं वे उपर्युक्त चारों प्रस्तावोंका स्वागत करेंगे तथा यथाशक्ति सहायता देंगे।

मन्त्रीके बारेमें तो कहा जा सकता है कि समितिको अपनी स्वीकृति-मात्र देनी थी। श्री वालजी गोविन्दजी देसाईको २०० रुपये प्रतिमासपर मन्त्री रखा गया था। श्री वालजी देसाई गोसेवक हैं और विद्वान हैं। उन्होंने २०० रुपये कोई लोभवश नहीं माँगे थे; उनकी पारिवारिक जिम्मेदारी बड़ी होनेके कारण ही उन्होंने ऐसी माँग की थी। इनसे ज्यादा योग्य मन्त्रीकी खोज मैं नहीं कर सका। मण्डलके संविधानके अनुसार मन्त्रीकी खोज करनेकी जिम्मेदारी मुझपर थी। जब मैंने वालजी देसाईको नियुक्त किया था तब कल्पना यह थी कि उन्हें सारा समय गोरक्षाका कार्य करना होगा। बादमें मैंने अनुभव किया कि उनका समय बच जाता है। हम दोनोंने निश्चय किया कि उस समयका सदुपयोग साहित्य-सेवाके लिए किया जाये और कुछ कमाई उससे की जाये। उन्हें ऐसा काम मिल रहा है। इसलिए उन्होंने मण्डलसे प्रतिमास ५० रुपयेसे ज्यादा न लेनेका विचार मण्डलके सदस्योंके सम्मुख रखा। पिछली जुलाईसे वह कम ही पैसे लेते रहे हैं। मण्डलने उनके इस निश्चयको साभार स्वीकार किया है और उन्हें इस बातकी छूट दी है कि यदि मण्डलके बाहरका काम मिलता हो तो अपने खाली समयमें वे उसे कर सकते हैं। मुझे कहना चाहिए कि खाली समयमें भाई वालजी जो काम करते हैं वह काम मण्डलका भले ही न कहलाये परन्तु वह अधिकांशतः गोसेवाका ही होता है। 'नवजीवन' के पाठकोंको यह बात बतानेकी कोई जरूरत ही नहीं है।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, २६-१२-१९२६

१७८. भाषण : ध्वजारोहण समारोहके अवसरपर[1]

२६ दिसम्बर, १९२६

डॉ० हार्डीकर और स्वयंसेवको,

मैं आज सुबह आप सबको यहाँ देखकर बहुत प्रसन्न हूँ। मुझे आशा है कि आज जो झंडा मैं फहरा रहा हूँ उसे हमेशा इसी प्रकार फहरते रखा जायेगा, और आप सब लोग ऐसे कार्य करेंगे जो इस महान झंडेकी शानके अनुरूप हों। मातृभूमिके प्रति की गई आपकी सेवाओंके लिए मैं आपको आशीष देता हूँ।

[अंग्रेजीसे]

फॉरवर्ड, २७-१२-१९२६

१. गौहाटीमें कांग्रेस पंडालके बाहर ध्वजारोहण करनेके बाद गांधीजीने यह भाषण हिन्दीमें दिया था। डॉ० एन० एस० हार्डीकर स्वयंसेवकोंके प्रधान थे।

१७९. प्रस्ताव और भाषण: कांग्रेस अधिवेशन, गौहाटीमें[1]

२६ दिसम्बर, १९२६

प्रस्ताव

स्वामी श्रद्धानन्दकी हत्यापर, जो कायरतापूर्ण और धोखेसे की गई, यह कांग्रेस घृणा और आक्रोश प्रकट करती है। उन्होंने अपना जीवन और अपने जबर्दस्त गुणोंको अपने देश और अपने धर्मकी सेवामें अर्पित कर रखा था और वे निर्भयता तथा निष्ठापूर्वक दलित, पतित और दुर्बल लोगोंके कल्याणमें लगे हुए थे। इस कांग्रेसके मतमें ऐसे वीर और नेक राष्ट्रभक्तकी दुखद मृत्युसे देशको जो क्षति पहुँची है, वह अपूरणीय है।

भाइयो और बहनो,

आपने गौर किया होगा कि जो प्रस्ताव मैंने पेश किया है, उसे पहले मौलाना मुहम्मद अली पेश करने वाले थे। लेकिन अध्यक्ष महोदयके आदेशपर मैं इसे पेश करनेके लिए खड़ा हुआ हूँ। हमने अखबारोंमें देखा कि स्वामीजीकी हत्यासे देशभरमें शोक और त्रास व्याप्त हो गया है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीमें इसी विषयपर बोलते हुए मैंने कहा था कि हमें स्वामीजीकी मृत्युपर शोक नहीं करना चाहिए। उन्हें तो एक सूरमाकी मौत मिली है; और ऐसी मृत्युकी कामना तो हममें से हरएकको हो सकती है। लेकिन मैं अपने इस अन्तिम कथनमें एक छोटा-सा सुधार करना चाहता हूँ। ऐसी मौत जब आती है तब हर वीर पुरुष उसका स्वागत करता है। वह उसका एक मित्रके रूपमें स्वागत करता है। लेकिन इसी कारण हमें ऐसी मृत्युको निमन्त्रित नहीं करना चाहिए या उसके लिए लालायित नहीं होना चाहिए। हम ऐसी इच्छा न करें कि कोई व्यक्ति गलत राहपर चलकर ईश्वर तथा मनुष्यके प्रति अपराध करे और हमें शहीद बननेका गौरव मिले। किसीके पथभ्रष्ट होनेकी कामना करना गलत है। हम सभीको बहादुर होना चाहिए ताकि शहीदकी मौत मिल जाये तो हम खुशीसे मर सकें; लेकिन शहीद होनेकी लालसा हममें नहीं होनी चाहिए।

स्वामीजी सूरमाओंके भी सूरमा और वीरोंके भी वीर थे। उन्होंने निरंतर वीरतापूर्ण कार्यकलापोंमें लगे रहकर देशको चकित कर दिया था। उन्होंने देशकी वेदीपर अपनेको बलिदान कर देनेका जो संकल्प किया था मैं उसका साक्षी हूँ।

लेकिन क्या स्वामीजीने देशकी जो सेवाएँ कीं, उनके बारेमें विस्तारसे कुछ कहने-की जरूरत है? सभी लोग जानते हैं कि स्वामीजी असहायोंके सहायक थे, निर्बलों और दलितोंके मित्र थे; और अस्पृश्योंके लिए उन्होंने जो काम किया, वह तो अनुपम है। मुझे भली प्रकार याद है कि एक बार उन्होंने मुझसे कहा था कि जबतक अखिल

१. इस भाषणका पाठ १३-१-१९२७ के *यंग इंडिया*में भी "वीरोंके वीर" शीर्षकसे प्रकाशित हुआ था।

भारतीय कांग्रेस कमेटीका प्रत्येक हिन्दू सदस्य अपने घरमें एक 'अछूत' नौकर नहीं रखता तबतक अछूतोंके उत्थानके लिए कांग्रेस जो काम कर रही है वह पूरा नहीं होगा। यह बात अव्यवहार्य प्रतीत हो सकती है, लेकिन इससे अछूतोंके प्रति उनके असीम प्रेमका परिचय मिलता है।

यहाँ मैं उनकी अन्य बहुत सारी सेवाओंकी चर्चा नहीं करूँगा। स्वामीजी जैसे महान और वीर राष्ट्रभक्त तथा ईश्वरके सेवक और भक्तकी हत्याके प्रसंगको भी देशहितमें प्रयुक्त किया जा सकता है। लेकिन हम लोग चूँकि अपूर्ण पुरुष हैं, इसलिए उनकी दुखद मृत्युपर हमारा शोक करना स्वाभाविक है। और जब हम उन परिस्थितियोंका विचार करते हैं जिनमें उनकी मृत्यु हुई तो हमारे मनमें घृणा और आक्रोश उत्पन्न होना स्वाभाविक है। हत्यारेने स्वामीजीसे इस्लामके ऊपर चर्चा करनेके लिए भेंट करनी चाही। स्वामीजीके स्वामिभक्त नौकरने उसे अन्दर जानेसे मना कर दिया, क्योंकि उसे डा० अन्सारीका आदेश था कि जबतक स्वामीजी गम्भीर रूपसे बीमार हैं तबतक वह किसीको स्वामीजीसे भेंट न करने दे। लेकिन स्पष्ट ही ईश्वरका आदेश कुछ और ही था। स्वामीजीके कानोंमें जब हत्यारेका अनुरोध पड़ा तो उन्होंने धरमसिंहसे उसे आने देनेको कहा। भाई अब्दुल रशीदको अन्दर आने दिया गया। मैं उसे जान-बूझकर भाई कह रहा हूँ, और यदि हम सच्चे हिन्दू हैं तो आप समझ जायेंगे कि मैं उसे भाई क्यों कहता हूँ। स्वामीजीने अपने नौकरसे अब्दुल रशीदको अन्दर आनेको कहा, क्योंकि ईश्वर स्वामीजीकी महानता और हिन्दू-धर्मकी गरिमा दिखाना चाहता था। स्वामीजी बहुत अस्वस्थ थे और धार्मिक प्रश्नोंपर चर्चा करनेकी स्थितिमें नहीं थे, इसलिए उन्होंने उस अजनबीसे फिर कभी आनेको कहा। लेकिन वह गया नहीं। उसने कहा कि मैं प्यासा हूँ, और पानी माँगा। स्वामीजीने धरमसिंहसे पानी लानेको कहा, और धरमसिंहकी अनुपस्थितिका लाभ उठाकर अब्दुल रशीदने स्वामीजीके सीनेपर पिस्तौल चला दी।

यह ऐसी घटना है जो भारतमें नहीं घटनी चाहिए थी — उस भारतमें जहाँ हिन्दू और मुसलमान, दोनों अपने धर्मपर गर्व करते हैं। 'गीता' को मैं जिस श्रद्धाके साथ देखता हूँ, उसी श्रद्धाभावसे मैंने 'कुरान' का अध्ययन किया है; और मैं कहता हूँ कि 'कुरान' में इस प्रकारकी हत्याका आदेश या अनुमति कहीं नहीं दी गई है। इस हत्याके सम्भव होनेका कारण यही है कि दोनों जातियाँ एक-दूसरेको घृणा और शत्रुताके भावसे देखती हैं। बहुतसे मुसलमानोंका विश्वास है कि लालाजी और मालवीयजी मुसलमानोंके उतने ही घोर शत्रु हैं जितने कि उनकी रायमें स्वामीजी थे। दूसरी ओर, बहुतसे हिन्दू हैं जो सर अब्दुर्रहीम तथा अन्य कुछ मुसलमान सज्जनोंको हिन्दू-धर्मका शत्रु मानते हैं। मेरी रायमें दोनों ही बिलकुल गलत हैं। स्वामीजी इस्लामके शत्रु नहीं थे, और न लालाजी और मालवीयजी ही हैं। लालाजी और स्वामीजीको अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करनेका अधिकार है, और उनके विचारोंसे हम भले ही असहमत हों, लेकिन उनके विरुद्ध घृणाकी भावना भड़काना उचित नहीं है। फिर भी हम आज क्या देखते हैं? मुसलमानोंका कोई अखबार ऐसा नहीं है जो इन

देशभक्तोंके खिलाफ कटुतापूर्ण भाषाका इस्तेमाल न करता हो। मैं पूरी विनम्रतासे पूछता हूँ कि आखिर उन्होंने क्या गलती की है? उनके काम करनेके ढंगसे हम असहमत हो सकते हैं। लेकिन मुझे निश्चय है कि मालवीयजीको जो भारतभूषण कहा जाता है वह उनकी महान सेवाके कारण ही कहा जाता है। लालाजीकी सेवाओंका इतिहास भी महान है। अब मुसलमान नेताओंको लीजिए। सर अब्दुर्रहीम ऐसा सोच सकते हैं कि हिन्दू लोग मुसलमानोंकी अपेक्षा हर मानेमें आगे बढ़े हुए हैं, वे समृद्ध हैं, वे शिक्षित हैं; और मुसलमान लोग गरीब हैं, अशिक्षित हैं। हमें इस बातकी छूट है कि हम सोचें और कहें कि उनके विचार गलत हैं, लेकिन उनकी जो राय है उसके लिए हम उन्हें गाली क्यों दें? अगर मौलाना मुहम्मद अली कहते हैं कि गांधीके लिए उनके मनमें आदर है, लेकिन उनके विचारसे 'कुरान' में विश्वास करनेवाले किसी मुसलमानका धर्म गांधीके धर्मसे श्रेष्ठ है, तो हम गुस्सा क्यों हों? क्या कुछ ईसाई पादरी ऐसा नही कहते कि नियमित रूपसे गिरजा जानेवाला एक ईसाई बड़ेसे-बड़े धर्मात्मा हिन्दूसे श्रेष्ठ है? इससे हम घट-बढ़ नही जाते। इसलिए मैं आपसे अपील करता हूँ कि यदि आप स्वामी श्रद्धानन्दजीकी स्मृतिका आदर करते हैं तो आप पारस्परिक घृणा और निंदाके वातावरणको शुद्ध करें; आप उन अखबारोंका बहिष्कार करानेमें मदद दें जो घृणा भड़काते हैं और गलतफहमियाँ फैलाते हैं। मुझे पूरा यकीन है कि आज ९० प्रतिशत अखबार बन्द हो जायें तो भारतका कोई नुकसान नहीं होगा। बहुतसे मुसलमान अखबार हिन्दुओंके खिलाफ घृणा फैलानेके आधारपर चलते हैं और बहुतसे हिन्दू अखबार मुसलमानोंके खिलाफ घृणाके बलपर चलते हैं। स्वामीजी अपने रक्तसे लिखा गया एक मूल्यवान पाठ हमें दे गये हैं। 'क्या आपको आर्य समाजकी उदारताका पता है?' एक बार उन्होंने मुझसे पूछा था। 'क्या आप जानते हैं कि महर्षि दयानन्दने अपनेको विष देनेवाले मनुष्यको किस प्रकार क्षमा कर दिया था?' मैं यह बात जानता था। जब मैं जानता था कि महर्षिके सामने युधिष्ठिरका उदाहरण और 'गीता' तथा 'उपनिषदों' की शिक्षा थी तब मैं इससे अनभिज्ञ कैसे हो सकता था? लेकिन श्रद्धानन्दजीने महर्षिके प्रति अगाध श्रद्धापूरित शब्दोंमें उनकी क्षमाशीलताका विवरण विस्तारसे सुनाया। मै आपको बताता हूँ कि इस शिष्यमें अपने महान गुरुकी तुलनामें क्षमाशीलताका यह गुण कम नही था। 'शुद्धि'के फलितार्थोंके बारेमें चर्चा करते हुए उन्होंने एक बार मुझसे कहा था कि उनके शुद्धि आन्दोलनमें मुसलमानोंके प्रति कोई दुर्भाव नहीं है। शुद्धिका अर्थ आत्मशुद्धि तथा महान हिन्दू जातिकी शुद्धि है। 'गीता' का यह वचन कि "सभी प्राणियोंमें अपना ही स्वरूप देखो" उनका आदर्श था लेकिन उन्होंने इस बातपर जोर दिया कि मुसलमान मेरे लेखे जितने घनिष्ठ हैं, हिन्दू उससे कम नहीं हैं; और हिन्दुओंकी सेवा करना मेरा कर्तव्य है। भले ही सारा मुसलमान समाज मेरे विरुद्ध हो जाये, लेकिन मैं डंकेकी चोट कहूँगा कि मालवीयजी मेरे मित्र और बड़े भाई हैं। इस साँसमें मैं यह भी कहता हूँ कि कोई भी मुसलमान नेता हिन्दू धर्मका शत्रु नहीं है। सर अब्दुर्रहीम हिन्दुओंके शत्रु नहीं हैं, और न मियाँ फज्ले हुसेन ही उनके शत्रु हैं; मिलनेपर उन्होंने

मुझे विश्वास दिलाया था कि वे एक पुराने कांग्रेसी हैं; वे हिन्दुओंको मुसलमानोंसे कम प्यार नही करते, लेकिन एक मुसलमानके नाते वे मुसलमानोंकी सेवा करना चाहते हैं। हम उनके विचारोंसे असहमत हो सकते हैं, मुसलमानोंके लिए रखी गई उनकी माँगोंको हम नापसन्द कर सकते हैं, लेकिन केवल इसी कारण हम उन्हें गाली क्यों दें, या उन्हें हिन्दुओंका शत्रु क्यों बतायें? क्यों न हम सत्याग्रहियोंकी भाँति उनके विचारोंसे अपनी असहमति प्रकट करें और जरूरी हो तो उन विचारोंकी मुखालफत करें, ठीक वैसे ही जैसे अनेक प्रश्नोंपर मै मालवीयजीकी मुखालफत करता हूँ? इसलिए में जितने जोरसे कह सकता हूँ, उतना जोर देकर फिर कहता हूँ कि सर अब्दुर्रहीम या श्री जिन्ना या अलीबन्धु हिन्दुओंके शत्रु नही है। हमें स्वामी श्रद्धानन्दकी मृत्युसे मिला सबक भुला नही देना चाहिए। आप सब खड़े होकर अभी यह प्रस्ताव स्वीकार करेंगे, लेकिन इस समय भी शायद दिल्लीमें हिन्दू-मुस्लिम दंगे जारी हैं। फिर भी मै आपसे कहता हूँ कि स्वामी श्रद्धानन्दजी हमारे लिए जो पाठ छोड़ गये है उसे आप सब समझें और हृदयंगम कर लें तो हमारे लिए कुछ ही समयमें स्वराज्य प्राप्त कर लेना फिर सम्भव हो जायेगा। आप कहेंगे कि यह एक पागल आदमी है जो बड़े-बड़े वादे करनेका आदी है। लेकिन मै आपको बताता हूँ कि मैं पागल नहीं हूँ, मै अब भी अपने कार्यक्रममें उतनी ही ईमानदारीसे विश्वास करता हूँ जितना कि १९२० में करता था। लेकिन जिन लोगोंने १९२० में प्रतिज्ञाएँ की थी उन्होने प्रतिज्ञाएँ तोड़ दी और उस समय स्वराज्य प्राप्तिको असम्भव बना दिया। हम सब उसी पिताकी सन्तान है जिसे हिन्दू, मुसलमान और ईसाई अलग-अलग नामसे जानते है। शंकरने ईश्वरमें अपनी आस्था 'एकमेवाद्वितीय' कहकर व्यक्त की, रामानुजने उसीको द्वैतवादमें व्यक्त किया और मुहम्मदने 'ला इल्लाह इल्लिल्लाह' कहकर व्यक्त किया; किन्तु इससे फर्क क्या पड़ता है? इन तीनोंका तात्पर्य एक ही चीजसे था। अगर हम अपने हृदयोंको स्वच्छ बना सकें तो देखेंगे कि स्वामीजीने मरकर भी हमारी वैसी ही सेवा की है जैसी जीवित रहते हुए की। आइए, हम उनके खूनसे अपने हृदयोंको धो डालें और, अगर जरूरत हो तो, अपने अधिकारोंके लिए शांति और सत्याग्रहके तरीकोंसे लड़ें। हर मुसलमान भी यह समझ ले कि स्वामी श्रद्धानन्दजी मुसलमानोंके शत्रु नही थे, उनका जीवन सर्वथा शुद्ध और निष्कलंक था और वे हम सभीके लिए शांतिका पाठ अपने खूनसे लिखकर छोड़ गये हैं।

अब आप शायद समझ जायेंगे कि मैंने अब्दुल रशीदको भाई क्यो कहा है, और मैं उसे दोहराता हूँ। मै तो उसे स्वामीजीकी हत्याका अपराधी भी नहीं समझता। वास्तवमें अपराधी तो वे सब हैं जिन्होंने एक दूसरेके विरुद्ध घृणाकी भावना भड़काई। हम हिन्दुओंके लिए 'गीता' का आदेश है कि हम समानताका भाव रखें, हमें एक विद्वान ब्राह्मणके प्रति भी वैसे ही भाव रखने चाहिए जैसे किसी चाण्डाल, कुत्ते, गाय या हाथीके प्रति।

यह शोक करने या आँसू बहानेका अवसर नही है। यह वह अवसर है जब हमारे हृदयमें वीरताका अमिट पाठ लिखा जाना चाहिए। वीरता केवल क्षत्रियोका

ही गुण नहीं है। यह उनका विशेष गौरव जरूर हो सकती है। लेकिन हमारी स्वराज्यकी लड़ाईमें ब्राह्मणोंमें, वैश्योंमें और शूद्रोंमें भी वीरता उतनी ही जरूरी है जितनी कि क्षत्रियोंमें। इसलिए हमें शोकके आँसू नहीं बहाने चाहिए। आइए, हम भी उसी आग और विश्वासको अपने अन्दर पैदा करें जो स्वामी श्रद्धानन्दजीमें थी, और उस आगसे अपने दिलोंको साफ करके उसे फौलादकी तरह मजबूत बनायें।

[अंग्रेजीसे]

रिपोर्ट ऑफ द इंडियन नेशनल कांग्रेस, फॉर्टी-फर्स्ट सेशन, गौहाटी (असम), १९२६, पृ० ४२-५

१८०. प्रस्ताव और भाषण: कांग्रेस अधिवेशन, गौहाटीमें

२६ दिसम्बर, १९२६

प्रस्ताव

दक्षिण आफ्रिका उपमहाद्वीपके भारतीय प्रवासियोंके दर्जेकी समस्या हल करनेके सर्वोच्च उपायपर विचार करनेके लिए दक्षिण आफ्रिकामें इस समय जो गोलमेज सम्मेलन हो रहा है, यह कांग्रेस उसका स्वागत करती है और प्रार्थना करती है कि उसे अपने विचार विमर्शमें दैवी मार्गदर्शन और ईश्वरीय कृपा प्राप्त हो।

यह कांग्रेस उन नेक अंग्रेज सज्जन, श्री सी० एफ० एन्ड्रयूजके प्रति आभार प्रकट करती है, जिनका दक्षिण आफ्रिकामें इसके लिए उपयुक्त, शान्त वातावरण तैयार करनेमें प्रमुख योग रहा है।

यह कांग्रेस अध्यक्ष महोदयको अधिकार देती है कि वे इस प्रस्तावका पाठ तार द्वारा जनरल हर्टजोग, सर एम० हबीबुल्ला और श्री सी० एफ० एन्ड्रयूजको भेज दें।[1]

महात्माजीने उपस्थित जनोंके सामने हिन्दीमें भाषण किया। भाषणका सारांश निम्नलिखित है:

उन्होंने कहा, श्री सी० एफ० एन्ड्रयूजने पत्र-व्यवहारके जरिये मुझे दक्षिण आफ्रिकाकी स्थितिसे अवगत रखा है। श्री एन्ड्रयूजने अपने पत्रोंमें इस बातपर जोर दिया है कि गोलमेज सम्मेलनको दैवी मार्गदर्शन मिलनेके लिए सर्वत्र प्रार्थनाएँ की जानी चाहिए। ऐसी प्रार्थनाकी अतीव आवश्यकता है। आप जानते हैं कि भारत सरकारके पास दक्षिण आफ्रिकासे अपनी इच्छा मनवानेकी कोई शक्ति नहीं है। हालके साम्राज्यीय सम्मेलनने औपनिवेशिक दर्जा प्राप्त देशोंके साम्राज्यीय सम्बन्धोंके क्षेत्रमें और अधिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दी है। इसलिए हम ईश्वरसे यही प्रार्थना कर सकते हैं कि गोलमेज

१. प्रस्तावका अनुमोदन अबुल कलाम आजादने किया और वह सर्वसम्मतिसे पास हो गया।

सम्मेलनमें भाग लेनेवालोंके ऊपर वह अपनी कृपाकी वर्षा करे ताकि इस दैवी कृपाके प्रभावसे यह सम्मेलन दक्षिण आफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंको न्याय प्रदान कर सके।

इसके बाद गांधीजीने श्रोताओंका ध्यान इस तथ्यकी ओर खींचा कि दक्षिण आफ्रिकामें हमारे देशवासी जिस अस्पृश्यताके शिकार हैं, वह भारतकी अस्पृश्यताकी प्रतिक्रिया ही है। इसलिए उचित यही है कि आप पहले अपने घरकी हालत सुधारें।

उन्होंने दक्षिण आफ्रिकी राजनीतिज्ञोंको याद दिलाया कि जो शक्तिशाली लोग अपनी शक्तिका दुरुपयोग करते हैं, वे अपने ही विनाशकी तैयारी करते हैं। उन्होंने उनसे अनुरोध किया कि भारतीय प्रवासी जो सामान्य बुनियादी न्याय चाहते हैं, उन्हें वह प्रदान किया जाये। भारतीय प्रवासी किसी प्रकारकी कृपा नहीं चाहते; बल्कि सच तो यह है कि शुद्ध न्यायकी दृष्टिसे जिन चीजोंकी उन्हें जरूरत नहीं थी, उसे उन्होंने शांतिके विचारसे माँगा ही नहीं है।

[अंग्रेजीसे]

रिपोर्ट ऑफ द इंडियन नेशनल कांग्रेस, फॉर्टी-फर्स्ट सेशन, गौहाटी (असम), १९२६, पृष्ठ ५१-२

१८१. पत्र : आश्रमकी बहनोंको

गौहाटी
सोमवार, २७ दिसम्बर, १९२६

बहनो,

आज तुम्हारा पत्र सवेरे शुरू करनेके बजाय डाक बन्द होनेके वक्त शुरू कर रहा हूँ। यहाँ डाक जल्दी बन्द होती है।

यहाँका दृश्य बहुत सुन्दर है। ठेठ ब्रह्मपुत्रके किनारे हमारी झोंपड़ी बनाई गई है। काकासाहबका जी तो झोंपड़ी देखकर ही उसमें रहनेको हो जाये। ऊपर घासका छप्पर है। यहींके बाँसकी पट्टियोंकी दीवार है। उसे मिट्टीसे लीप दिया है और अन्दर सब जगह आसमानी रंगकी खादीसे सजाया गया है। भीतर खाट नहीं है, मगर यह कहा जा सकता है कि बाँसके पायोंवाला एक तख्त बनाया है। उसपर घास बिछा दी है, उसके ऊपर जाजम और जाजमपर खादी। इसी तख्तपर मैं बैठता हूँ, खाता हूँ और सोता हूँ। वह इतना बड़ा है कि उसपर चार आदमी और सो सकते हैं। मगर दूसरा कोई नहीं सोता। जमीनपर भी घास बिछाकर उसपर जाजम और उसके ऊपर खादी बिछा दी है। ऐसी झोंपड़ीमें रहना किसे पसन्द नहीं होगा? हाँ, यह सही है कि इस झोंपड़ीकी आयु बहुत थोड़ी है। बरसातमें यह निकम्मी है। मगर इसमें खर्च बहुत कम होता है। बनानेमें दो-एक दिन लगते होंगे और बहुत कुशलताकी जरूरत भी नहीं रहती। सभी कलाओंका यही हाल है। वे हमेशा सादी और स्वाभाविक होती हैं।

नमी और सरदी खूब है। जो खूब चलते-फिरते हैं, वे बीमार नहीं होते। और तो बादमें, और उस वक्त जो याद आ जाये सो।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० ३६३१) की फोटो-नकलसे।

१८२. भाषण: कांग्रेस अधिवेशन, गौहाटीमें[1]

२७ दिसम्बर, १९२६

श्री गांधीने कहा कि मुझसे न्यायभाव रखनेकी अपील की गई है। मेरी न्याय भावनाके अनुसार तो सदस्यताके लिए सूत देनेकी शर्तको फिरसे लागू हो जाना चाहिए, साथ ही कताई अनिवार्य कर देनी चाहिए।[2] व्यक्तिगत रूपसे मैं किसी बातके अधिक परिमाणमें होनेके बजाय उसके अधिक गुणयुक्त होनेको बेहतर मानता हूँ, किन्तु यदि कांग्रेसको गुणकी अपेक्षा संख्या पसन्द है तो मेरा सुझाव है कि जितने ही कम प्रतिबन्ध हों, कांग्रेसके लिए उतना ही अच्छा होगा। इसके विपरीत, यदि आप लोगोंको गुणशीलतामें विश्वास है तो आपको सदस्यताके ऊपर कुछ ऐसे प्रतिबन्ध लगाने चाहिए जिनसे गुणोंका विकास होनेके कारण राष्ट्रीय पुनरुद्धारमें मदद मिल सकती है। कांग्रेस अपने अन्दर सभी पार्टियोंको लाना चाहती है; लेकिन हम कुछ खोकर उन्हें नहीं पाना चाहेंगे। किन्तु इसलिए कोई अपरिवर्तनवादियोंपर या स्वराज्यवादियोंपर यह आरोप न लगाये कि वे कांग्रेसके दरवाजे दूसरोंके लिए बन्द रखना चाहते हैं; क्योंकि आखिरकार सभी राष्ट्रीय संगठनोंमें सदस्यता सम्बन्धी अपने-अपने प्रतिबन्ध हैं जो उनके विकासको व्यवस्थित बनाते हैं। अतः यह फैसला करना समितिके ऊपर है

१. गांधीजी विषय-समितिकी बैठकमें मोतीलाल नेहरू द्वारा रखे गये निम्न प्रस्तावपर बोल रहे थे: "निश्चय किया गया कि कांग्रेस संविधानकी धारा ७ में निम्नलिखित संशोधन किया जाये: उपधारा ४ के स्थानपर निम्नलिखित कर दिया जाये: 'कोई व्यक्ति जिसने इसके उप-खण्ड (१) का पालन नहीं किया है और जो नियमित हाथकता और हाथबुना खद्दर नहीं पहनता उसे प्रतिनिधियोंके चुनावमें, या किसी समिति या उप-समितिके चुनावमें अथवा किसी भी कांग्रेस संगठनके चुनावमें मतदानका अधिकार नहीं होगा और उसे कांग्रेस या कांग्रेस संगठन या कांग्रेसकी किसी समिति या उप-समितिमें भाग लेनेका अधिकार भी नहीं होगा।'"

२. महादेव देसाईके "साप्ताहिक पत्र" में यह इस प्रकार दिया गया है: "मैं कह दूँ कि सदस्यताके लिए सूत देनेकी शर्तको फिर लागू कर दिये जानेपर ही मेरी न्याय-भावनाकी सन्तुष्टि होगी। यदि कताईकी शर्त राष्ट्रीय विकासके लिए जरूरी है, मैं समझता हूँ कि वह निश्चित रूपसे जरूरी है, तो क्या उसके लिए मेरा यह शर्त रखना ठीक नहीं है? यदि कोई सदस्य मुझपर यह आरोप लगाये कि मेरा मंशा किसी दलको कांग्रेससे बाहर रखनेका है तो मैं इससे अपनेको भले ही अपमानित न महसूस करूँ, पर मुझे इससे गहरा दुःख जरूर होगा।"

कि खद्दर अनिवार्य है या नहीं। मेरी रायमें तो यही एक सूत्र है जो कांग्रेस और जन-साधारणको परस्पर जोड़ता है। चरखा संघके रजिस्टरमें ५० हजारसे ऊपर ऐसे स्त्री-पुरुषोंके नाम हैं जिन्हें कातनेका काम दिया जा रहा है। कांग्रेसको खद्दरकी इस शक्तिका पूरा उपयोग करना चाहिए और स्वराज्य प्राप्त करनेकी दृष्टिसे उस शक्तिको बढ़ाना चाहिए। स्वराज्य कोई डाउनिंग स्ट्रीटसे[1] नहीं टपकेगा, वह तो कांग्रेसको सूतके कोमल तन्तु द्वारा जनताके साथ जोड़नेपर ही मिलेगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि मताधिकारका जो नियम इस समय है उससे काम नहीं चलेगा, क्योंकि वह तो [जनताके लिए] अपमानकारी है। बहुतसे स्थानोंमें होता क्या है कि कांग्रेस कमेटीके दफ्तरोंके पास ही कुछ गज खद्दरका कपड़ा किरायेपर लेकर या खरीदकर रख दिया जाता है और कमेटीकी बैठकमें भाग लेने और अपना मत देनेके लिए दफ्तरमें प्रवेश करनेसे पहले सदस्य वही खद्दरका कपड़ा पहन लेते हैं।

कृपया मूक जनताका इस प्रकार अपमान न करे। वह पहलेसे ही बहुत अपमानित है। यदि आप कांग्रेसजनोंके गुणवान होनेकी अपेक्षा उनका अधिक संख्यामे होना महत्त्वपूर्ण मानते हैं तो बेहतर होगा कि कांग्रेससे सूतके चन्देकी यह शर्त बिलकुल ही हटा लेनेको कहा जाये। लेकिन यदि आप गुणवत्ताको उचित समझते हैं तो हमें सदस्यताके लिए सूतकी शर्तको और कड़ा बनाना चाहिए। मैं ऐसा नही चाहता कि कांग्रेसजन कांग्रेस छोड़कर अलग हो जायें। मैं तो इस शर्तको कड़ी इसलिए बनाना चाहता हूँ कि वह कांग्रेस संगठनके विकासके लिए आवश्यक है।

पण्डित मोतीलाल नेहरूने जो संशोधन रखा है वह तो ईमानदारीका पक्ष समर्थन ही है। यदि आप खद्दर पहननेमें विश्वास नही रखते तो यह आपका परम कर्त्तव्य है कि आप बिना हिचके इस संशोधनके विरुद्ध अपना मत दें; लेकिन मैं तो वर्तमान धाराको हमारे लिए अपमानजनक होनेके सिवा और कुछ नही मानता। इस प्रश्नपर विचार करते समय हमें विशिष्ट व्यक्तियोंकी रायको महत्त्व नही देना चाहिए। यदि खद्दर अपनी ही शक्तिपर खड़ा हो सकता है तो ठीक, नही तो उसे खतम कर देना चाहिए। इसलिए आप लोग विचार करते समय मेरा खयाल न करें। खद्दर रहे चाहे न रहे; मुझे इसकी परवाह नही है। लेकिन मुझे कांग्रेसके सम्मानकी परवाह अवश्य है, क्योकि कांग्रेस एक बड़ी चीज है। चुनावोंमें कैसी भी सफलता मिले, स्वराज्य उससे नही आयेगा। कल आपको प्रतिनिधि शुल्क एक रुपयेसे बढ़ाकर पाँच रुपये करना पड़ा था। क्यों? क्या कांग्रेसका कोष इतना खाली हो गया है? यदि हमें कांग्रेसमें आस्था होती तो हमारी आर्थिक स्थिति कही अधिक बेहतर होती। १९२०-२१ में क्या हमारी आर्थिक स्थिति आजकी अपेक्षा कही ज्यादा अच्छी नही थी? क्या हमारी आर्थिक स्थितिके इतना गिर जानेका कारण खद्दर है? मैं आपसे कहूँगा कि आप अपने सीनोंपर हाथ रखकर खुदसे पूछें कि यह अवनति क्यों हुई है? मेरी व्यक्तिगत राय है कि इस प्रस्तावको बिना किसी असहमतिके पास कर देना चाहिए;

१. अभिप्राय डाउनिंग स्ट्रीट, लंदन-स्थित ब्रिटिश प्रधानमंत्रीके घरसे है।

लेकिन यदि आप इसे पास करते हैं तो इसके सम्पूर्ण फलितार्थको स्वीकार करते हुए ही पास कीजिए। अर्थात् हमें लोगोंको खद्दर पहननेकी शिक्षा देना जारी रखना होगा। आप मुझे सन्तुष्ट करनेके लिए कुछ न करें। मुझे आपकी कृपाकी जरूरत नहीं है। मैं भी आपकी भाँति ही देशका एक विनम्र सेवक हूँ, और उस नाते हम सब एक ही दर्जेके लोग हैं। एक सदस्यके नाते मैं अपने सारे अधिकार अपने पास रखूँगा और चूँकि मैं स्वतन्त्रताका प्रेमी हूँ इसलिए आपको भी अपनी स्वतन्त्रताका उपयोग करनेका वैसा ही अधिकार देता हूँ।

[अंग्रेजीसे]

अमृतबाजार पत्रिका, २८-१२-१९२६

१८३. पत्र : मीराबहनको

[२७ दिसम्बर, १९२६][1]

तुम्हारे सारे प्रेमपत्र मुझे मिल गये हैं। मुसलमानोंके प्रति घृणाकी बातवाला तुम्हारा पत्र पढ़कर बेचैनी हुई। यह घृणा धर्म-परिवर्तनके भयके कारण उत्पन्न हुई है।

तुम वहाँ सही काम कर रही हो। हर चीजको गौरसे देखो। जहाँ हो सके सुधार करो। जहाँ लाचार हो जाओ वहाँ चुप रहो। तुम वहाँ विद्यार्थी बनकर ही गई हो। तुम्हारा काम अपनी हिन्दी पूरी कर लेना है। सिखाने और सुधार करनेका तुम्हारा काम तो प्रासंगिक है। गुरुकुल तुम्हारे लिए पाठशाला है और तुम्हारी शालामें जो-कुछ होता है तुम उस सभीमें सहभागी नहीं हो सकतीं, ठीक वैसे ही जैसे मुझे क्षौर-क्रिया की शिक्षा देनेवाले किसी शराबीके पाप-कर्मोंमें मैं सहभागी नहीं हो सकता। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि तुमने अबतक जो-कुछ किया है, उसकी मैं आलोचना कर रहा हूँ। यह तो केवल तुम्हें यही विश्वास दिलानेको है कि तुम बिलकुल ठीक कर रही हो।

खर्चके बारेमें क्षमा-याचना क्यों? हम किफायत जरूर करना चाहते हैं। मगर हम अपनेको उन चीजोंसे वंचित नहीं रखना चाहते, जिनकी हमें अपने आपको सेवा-क्षम बनाये रखनेके लिए जरूरत है। तुम्हें मालूम है कि जितने भी रुपयेकी जरूरत हो तुम श्री गाडोदियासे ले सकती हो।

'रीटा' अरीठा है, जो साबुनका काम देता है।

तुम्हें मिस राम-जैसी और भी बहुत-सी मिलेंगी। भगवान् करे तुम्हारे सम्पर्कसे उनकी आँखें खुलें। रायसीना[2] बिलकुल वैसी ही बस्ती है, जैसा कि तुमने उसके बारेमें लिखा है, बल्कि और भी खराब है। वह खूनसे सने रुपयोंपर खड़ी है। खूनका दौरा पैरोंतक पहुँच ही नहीं पाता; साराका-सारा खून यह सिर ही चूसे ले रहा है। थोड़े दिनमें इसे गर्दन-तोड़ बुखार धर दबायेगा और —!

१. डाककी मुहरसे।

२. नई दिल्ली।

यहाँका दृश्य सुन्दर है। हमारी कुटिया विशाल ब्रह्मपुत्रके किनारेपर ही है। यहाँ नमी और ठण्डक है; हवा बहुत चलती है। लेकिन तेजीसे व्यायाम किया जाये, तो यह मौसम बहुत ही स्वास्थ्यप्रद है। मैं आमतौरपर कांग्रेस-मण्डपतक पैदल ही जाता हूँ। वह एक मीलसे कुछ अधिक ही पड़ता है।

कल कलकत्तेके लिए रवाना हो रहा हूँ। वहाँ चार दिन रहनेका इरादा है।

सस्नेह,

बापू

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५१९३) से।

सौजन्य : मीराबहन

१८४. भाषण : कांग्रेस अधिवेशन, गौहाटीमें[1]

२८ दिसम्बर, १९२६

आप उन लोगोंमें पूर्ण स्वतंत्रताकी भावना उत्पन्न करना चाहते हैं जिनमें परस्पर फूट है। बुद्धिमान व्यक्ति इतना बड़ा ग्रास कभी नहीं लेता, जिसे वह निगल न सके। मान भी लें कि पूर्ण स्वतन्त्रता ऐसी चीज है जो स्वराज्यसे कहीं अधिक बड़ी है, तो भी मैं आपसे कहता हूँ कि आप धीरज रखें और इस समय जितना प्राप्त करना सम्भव है उतना प्राप्त करनेके बाद ही अगली सीढ़ीपर कदम रखें। मेरे लिए तो अभी एक ही कदम काफी है, लेकिन बातकी तहमें जायें तो मैं आपसे कहूँगा कि स्वराज्यमें पूर्ण स्वतन्त्रता भी शामिल है, और पूर्ण स्वतन्त्रताके इसमें शामिल होनेके कारण ही श्री जिन्ना और पण्डित मालवीयने उसका विरोध किया; और श्री जिन्ना तो कांग्रेससे निकल ही गये। हम यह बात बिलकुल स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यदि सम्भव हो तो हम साम्राज्यके अन्दर रहना चाहते हैं। आप मानव स्वभावमें और स्वयं अपनेमें आस्था क्यों खोते हैं? आप अपनी इस क्षमतामें कि आप अंग्रेजोंका दर्प खण्डित करके उनसे अपनी सेवा करवा सकते हैं, आस्था क्यों खोते हैं? यदि आपको गोरी चमड़ीसे चिढ़ है तो क्या आप सभी अंग्रेजोंको निकाल बाहर करना चाहते हैं, यहाँतक कि अंग्रेजी पढ़ानेके लिए भी कोई अंग्रेज नहीं रखना चाहते? दक्षिण आफ्रिकाका उदाहरण लीजिए; वहाँ डच बोअर जैसी दर्पीली जातिके लोग हैं। लेकिन वे भी ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं रखते। जनरल हर्टजोग लन्दनसे लौटे तो पूरी तरह उनका हृदय-परिवर्तन हो चुका था। वह जानते हैं कि यदि वह आज स्वतन्त्रताकी घोषणा करना चाहें, तो स्वतन्त्रता मिल सकती है। ब्रिटिश संसद हमें कोई भी संविधान क्यों न प्रदान करे, मैं उससे तबतक सन्तुष्ट नहीं होऊँगा जबतक उस संविधानमें स्वतन्त्रता घोषित करनेका वैसा ही अधिकार हमें भी न दिया गया हो, ताकि यदि हम अपनी स्वतन्त्रता घोषित करना चाहें तो उसे घोषित कर सकें

१. गांधीजी विषय-समितिकी बैठकमें स्वतन्त्रताके प्रस्तावपर बोल रहे थे।

(हर्ष-ध्वनि)। स्वतन्त्रता शब्दमें जो प्रभाव है, उसे आप कम न करें। उसकी परिभाषाको सीमित न करें। कौन जाने, कोई व्यक्ति हमें उसकी इससे भी अच्छी परिभाषा दे दे। यह एक अपरिभाषित शब्द है, और मैं कहूँगा कि इसकी परिभाषा की ही नहीं जा सकती। और इससे इस शब्दकी शक्ति बढ़ जाती है।

भारतकी देशी रियासतोंसे सम्बन्धित मसलोंपर कांग्रेस विचार न करे, इस निश्चयके प्रकाशमें महात्मा गांधीने नाभा रियासतके सवालपर गोपनीय रूपमें एक वक्तव्य दिया। उन्होंने कहा कि इस सवालको फिरसे उठाया जाना चाहिए। उनकी यह भी राय थी कि मुद्राका सवाल जन-साधारणके लिहाजसे बहुत महत्वपूर्ण है और उन्होंने इस बातपर आश्चर्य व्यक्त किया कि कल रात विषय समितिने बिना पूरी तरह विचार किये ही सवालको रद कर दिया था।[1]

[अंग्रेजीसे]

सर्चलाइट, २-१-१९२७

१८५. भाषण: कांग्रेस अधिवेशन, गौहाटीमें[2]

२८ दिसम्बर, १९२६

महात्मा गांधीने श्री बनर्जीको उनके कथनके[3] लिए बधाई दी। उन्होंने कहा, इस देशमें हजारों महात्मा हैं, आपको उनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इन महात्माओंके चंगुलसे निकल आना ही बेहतर है (हँसी)।

लेकिन मैं कोई महात्मा नहीं हूँ। मैं देशका एक विनम्र सेवक हूँ और आप मेरे चंगुलसे आसानीसे नहीं छूट सकते (हँसी)। आत्म-बलिदानका माद्दा रखनेके मामलेमें चूँकि मैं किसी उग्र अराजकतावादीसे अपनेको कम नहीं मानता, इसलिए मैं बड़ेसे-बड़े क्रान्तिकारी कार्यक्रमसे कभी नहीं डरता। लेकिन मैं चाहूँगा कि आप उस आदमीकी बातपर विचार करें और तौलें, जिसने अपने जीवनमें कई संघर्ष देखे हैं और जो जानता है कि क्रांतिकारी आन्दोलन किस तरह चलाये जाते हैं। यदि आज आप 'स्वराज्य' शब्दकी व्याख्या करते हैं, तो इससे आप सिर्फ उसकी शक्तिको सीमित ही करेंगे। मैं कहूँगा कि 'स्वराज्य' शब्दमें पूर्ण स्वतन्त्रता शामिल है। इसमें एक ऐसी चीज भी शामिल है जो आज आपके आत्म-सम्मानको नागवार है। मैं कहता हूँ कि इसमें अंग्रेज लोगोंके साथ पूरी बराबरीके स्तरपर घनिष्ठ सम्बन्ध रखना तो सम्मिलित है ही। जिन लोगोंको जलियाँवाला बागके अत्याचारके कारण और सुधारोंके लागू होनेके बाद भी जो-कुछ होता रहा है, उसके कारण [अंग्रेजोंसे] कोई सम्बन्ध रखना असह्य है,

१. गांधीजीके बाद मोतीलाल नेहरू और साम्बमूर्तिने भाषण दिया।

२. स्वतन्त्रता प्रस्तावके ऊपर गांधीजी दूसरी बार बोल रहे थे।

३. उपेन्द्रनाथ बनर्जीने अपने भाषणमें कहा था कि प्रस्तावके खिलाफ यह कोई दलील नहीं हो सकती कि गांधीजी उस प्रस्तावके विरुद्ध हैं।

में उनके साथ सहानुभूति रखता हूँ; किन्तु मैं कहूँगा कि आप अधीर हो रहे हैं। आपको मेरी सलाह है कि जल्दबाजी भी धीरे-धीरे ही करें।

यदि यह प्रस्ताव वापस नहीं लिया जाता, और मत-विभाजनकी माँगपर यदि यह बहुत बड़े बहुमतसे गिर जाता है, तो उस हालतमें भी जो अत्यन्त क्रान्तिकारी कार्यक्रम मैंने दिया है वह आपके सामने बच रहता है। लेकिन आप इस धोखेमें न रहें कि मैं कौंसिल-कार्यक्रममें आपका नेतृत्व करूँगा। आज उसके बारेमें कोई अगर-मगरकी बात भी नहीं है। किन्तु यदि किसी दिन मेरी अन्तरात्मा मुझसे कहेगी कि मुझे कौंसिलके अन्दर जाकर संघर्ष करना चाहिए तो मैं घुटने टेककर पण्डितजीसे अनुरोध करूँगा कि वह मुझे अपने साथ ले ले और मुझे अपना सचिव बना लें (हँसी); लेकिन अभी उसका कोई सवाल नहीं उठता। आपको ऐसा नहीं कहना या सोचना चाहिए कि ऐसा समय कभी नहीं आयेगा। मैंने कौंसिल-कार्यक्रमको अपने दिमागसे बिलकुल ही नहीं निकाल दिया है। जिनकी याददाश्त अच्छी है, उन्हें स्मरण होगा कि कलकत्तेके विशेष अधिवेशनमें मैंने कहा था कि हमें ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि हम कौंसिल कार्यक्रमपर कभी विचार ही नहीं करेंगे, लेकिन यदि मैं कौंसिलमें जाऊँगा या दूसरोंको कौंसिलमें भेजूँगा और लॉर्ड रीडिंग मुझसे यदि कहेंगे, "आप मेरी कौंसिलमें आइए।" तो मैं जवाब दूँगा, "आप अमुक बातें स्वीकार कर लीजिए, मैं आ जाऊँगा।" जिस प्रकार मैंने चम्पारन जाँच-आयोगकी सदस्यता स्वीकार कर ली थी, उसी प्रकार मैं कौंसिलकी सदस्यता और कार्यकारिणी परिषद्की सदस्यता भी स्वीकार कर सकता हूँ (हँसी), लेकिन जब मैं कार्यकारिणीका सदस्य बनूँगा तो आप मान सकते हैं कि स्वराज्य आ गया है (हँसी), और साथ ही श्री साम्बमूर्तिकी पूर्ण स्वतन्त्रता भी आ गई है।

मैंने अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तो प्राप्त कर ली है। अब मैं चाहता हूँ कि हर भारतीय वह स्वतन्त्रता प्राप्त कर ले और इस प्रकार नतीजा पूर्ण स्वतन्त्रताके रूपमें प्रतिफलित होगा। मैं आपको बता सकता हूँ कि जब कांग्रेस ऐसी सक्रिय संस्था बन जायेगी जिसके सदस्य अपने कार्यको पूरा करनेके लिए कृतसंकल्प हों, जब भारत वास्तवमें अपना एक वचन पूरा कर लेगा, अर्थात् विदेशी कपड़ेका बहिष्कार कर देगा — जब आप विदेशी कपड़ेका लगभग पूर्ण बहिष्कार कर देंगे — तो आप देखेंगे कि मैं पण्डित मोतीलाल नेहरूके पास जाऊँगा और उनसे कहूँगा, "महोदय, आप कृपापूर्वक मुझे अपनी कौंसिल-पार्टीमें शामिल कर लीजिए।" लेकिन जबतक आप वास्तवमें कृतसंकल्प नहीं होते, यह बहिष्कार सम्भव नहीं होगा। मैं चाहता हूँ कि आपमें से हर-एक व्यक्ति इस खादी-सेवामें सम्मिलित हो जाये। मैं आपको ३० रुपये माहवार और आवश्यक प्रशिक्षण दे सकता हूँ, लेकिन मैं आपको गाँवोंमें भेजूँगा, और तब निश्चय मानिए कि विदेशी कपड़ेका पूर्ण बहिष्कार हो जायेगा। तब कौंसिल कार्यक्रमको पूरा करनेमें आपके साथ मैं भी शरीक होऊँगा।

आज हम एक अनुशासित संगठनके सदस्य नहीं हैं। आप अपने दिलपर हाथ रखकर कहिए कि क्या आप अनुशासित हैं। हम जैसा चाहिए, अध्यक्षकी आज्ञाका

उस प्रकार खुशीसे पालन नहीं करते। हमें अपने अध्यक्षको कन्धोंपर उठाकर कहना चाहिए, "हम आपको पूरा-पूरा सहयोग देंगे।"

क्या आपको मालूम है कि इस आशयके धमकी भरे पत्र मिल रहे हैं कि स्वामी श्रद्धानन्दजीकी जान चली गई है, अतः अब किसी मुसलमानको भी अपनी जानसे हाथ धोना होगा। ऐसा ही एक पोस्टकार्ड आया है जो इस वक्त अध्यक्ष महोदयके हाथमें है। यह खत गुमनाम है। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है; लेकिन इस प्रकारके गुमनाम पत्रोंसे हमें इस बातका संकेत मिलता है कि देश किधर जा रहा है। जब हमारे चारों ओर वातावरणमें ऐसी उत्तेजना व्याप्त हो, उस समय क्या मैं कौंसिल कार्यक्रमका भार उठानेके लिए समय निकाल सकता हूँ? यदि हम इतने सारे लोग मिलकर वातावरणको शुद्ध बना सकें, तो आप देखेंगे कि मैं कौंसिल कार्यक्रमकी ओर ध्यान देने लगूंगा। कृपया आप मुझे फिलहाल भूल जायें। यदि आप इस संशोधनको बिना विचार किये अस्वीकार करें, तो ऐसा आप अपनी जिम्मेदारीपर करें। इस विषयमें आप संशोधनके गुण-दोषोंके आधारपर और बिना किसी सौदेबाजीके तथा बिलकुल मुक्त मनसे विचार करें।[1]

[अंग्रेजीसे]
सर्चलाइट, २-१-१९२७

१८६. भाषण: गौहाटी नगरपालिकाकी सभामें[2]

२८ दिसम्बर, १९२६

महात्माजीने अपने छोटे-से भाषणमें अपने सम्मानके लिए नगरपालिकाको धन्यवाद दिया और कहा कि मुझे इस बातसे बहुत खुशी हुई है कि असमके लोगोंमें अभीतक कताई और बुनाईका शौक बना हुआ है। मैं यह बात जानता हूँ कि आज भी आपके यहाँ किसी विवाह-योग्य कन्याके लिए बुनाई-कला जानना अनिवार्य है। मैं चाहता हूँ कि गौहाटी नगरपालिका अपने अधीनस्थ प्राइमरी स्कूलोंमें कताई, बुनाई और हिन्दीकी शिक्षा लागू करके अन्य स्थानीय निकायोंके सामने एक उदाहरण प्रस्तुत करे। मैं चाहता हूँ कि आप इसके लिए प्रशिक्षित शिक्षक नियुक्त करें। यदि गौहाटी इस मामलेमें आगे आयेगा तो और अन्य स्थानोंमें भी उसका अनुकरण होगा।

[अंग्रेजीसे]
अमृतबाजार पत्रिका, ३०-१२-१९२६

१. प्रस्ताव भारी बहुमतसे अस्वीकृत हो गया।
२. गांधीजीको नगरपालिकाकी ओरसे एक अभिनन्दनपत्र दिया गया था।

१८७. भेंट: एसोसिएटेड प्रेसके प्रतिनिधिसे[1]

गौहाटी

२८ दिसम्बर, १९२६

गांधीजीने एसोसिएटेड प्रेसके प्रतिनिधिको बताया कि आनेवाले वर्षमें मेरा काम चरखेके सन्देशका और खद्दरके प्रयोगका प्रचार-प्रसार करना तथा साथ ही अखिल भारतीय देशबन्धु स्मारकके लिए धन इकट्ठा करना होगा, जिसका मुख्य उद्देश्य खद्दरका प्रसार करना है।

[अंग्रेजीसे]

फॉरवर्ड, ३०-१२-१९२६

१८८. अभय आश्रममें खादी-कार्य

कोमिल्लाके अभय आश्रममें १९२५-२६ में जो खादी-कार्य किया गया है उसकी नीचे लिखी रिपोर्ट[2], आशा है, दिलचस्पीसे पढ़ी जायेगी। मेरा पाठकोंसे अनुरोध है कि मैं जो रिपोर्ट प्रकाशित कर रहा हूँ, वे उन्हें ध्यानसे पढ़ें। उनसे सिद्ध होता है कि खादी-ने उन्नति की है और वह भविष्यमें भी उन्नति करेगी। यह बात इन रिपोर्टोंको मिला कर पढ़नेसे जितनी अच्छी तरह सिद्ध होती है, उतनी किसी भी अन्य बातसे नहीं होती। इन रिपोर्टोंमें एकांगी अर्थात् एक प्रान्तका ही विवरण नहीं दिया गया है, बल्कि लगभग सभी प्रान्तोंका विवरण है। जिन प्रान्तोंका कोई काम नहीं बताया गया है या बहुत कम काम बताया गया है, उनमें अभी कार्यकर्त्ता नहीं हैं। 'फसल जबर्दस्त है; किन्तु मजदूर इनेगिने हैं।' अभय आश्रमकी रिपोर्टसे पता चलता है कि खादीके दाम कितने गिर गये हैं। उससे यह भी मालूम होता है कि कतैयों और बुन-करोंकी कुशलता बढ़नेके साथ-साथ खादीके दाम अभी और गिरेंगे। खादी उद्योगकी सबसे ज्यादा उल्लेखनीय बात यह है कि खादी आरम्भसे ही स्वावलम्बी है। इसका कारण जल्दी ही समझमें आ जायेगा। अधिकांश सदस्य अपनी इच्छासे सूत कातने-वाले हैं और सिर्फ गुजारे लायक मजदूरी लेते हैं। रिपोर्ट तैयार करनेवालोंसे मैं कहना चाहूँगा कि वे आँकड़े देते समय 'लगभग' और 'करीब-करीब'-जैसे शब्दोंका प्रयोग न करें। 'लगभग ८,००० कतैये' कहनेसे ठीक पता नहीं चलता। प्रत्येक केन्द्रके लिए कतैयोंकी, बुनकरोंकी और धुनियोंकी ठीक संख्या देना सम्भव होना चाहिए। ऐसे व्यापक और बड़े आन्दोलनमें जितनी ज्यादा सही बातें कहीं जायें, जितनी सावधानी बरती जाये, वह कम ही है। यह आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जब कार्यकर्त्ता

१. इस भेंटके बाद गांधीजी उसी दिन तीसरे पहर कलकत्ताके लिए रवाना हो गये।

२. यहाँ नहीं दी जा रही है।

सत्यका पूर्ण पालन करें और अपने चरित्रको शुद्ध रखें। कार्यकर्त्ताओंकी सच्चाई, सच्चरित्रता और त्यागवृत्ति ही इसका एकमात्र बल है और जिस आन्दोलनको यह मिल जाये उसे किसी दूसरी सहायताकी जरूरत नहीं है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ३०-१२-१९२६

१८९. शहीद श्रद्धानन्दजी

जिसकी आशंका थी वही हुआ। कोई छः महीने हुए स्वामी श्रद्धानन्दजी सत्याग्रहाश्रममें आकर दो-एक दिन ठहरे थे। बातचीतमें उन्होंने मुझसे कहा था कि उनके पास जब-तब ऐसे पत्र आया करते थे जिनमें उन्हें मार डालनेकी धमकी दी जाती थी। ऐसा कौन-सा सुधारक है, लोग जिसकी जानके गाहक नहीं हुए? इसलिए उनके लिए ऐसे पत्र पानेमें अचम्भेकी कोई बात नहीं थी और उनका मारा जाना कोई अनहोनी नहीं है।

स्वामीजी सुधारक थे। वे कर्मवीर थे, वचनवीर नहीं। जिस बातमें उनका विश्वास था, वे उसका पालन करते थे। उन विश्वासोंके लिए उन्हें कष्ट झेलने पड़े। वे वीरताके अवतार थे। खतरेके सामने वे कभी काँपे नहीं। वे योद्धा थे और योद्धा रोग-शय्यापर नहीं मरना चाहता। वह तो युद्ध-भूमिमें मरना चाहता है।

कोई एक महीना हुआ, स्वामी श्रद्धानन्दजी बहुत बीमार पड़े। डाक्टर अन्सारी उनकी चिकित्सा करते थे। जितने प्रेमसे सम्भव था, डाक्टर अन्सारी उनकी सेवा करते थे। इस महीनेके शुरूमें मेरे पूछनेपर[1] उनके पुत्र इन्द्रने तार दिया था कि स्वामीजी अब अच्छे हैं और मेरे प्रेम तथा शुभकामनाके आकांक्षी हैं। मैं तो उनके बिना माँगे ही उन्हें अपना प्रेम देता रहता था और भगवानसे उनके लिए प्रार्थना करता रहता था।

भगवानको उन्हें शहीदकी मौत देनी थी। इसलिए रोग-शय्यापर रहते हुए ही वे उस हत्यारेके हाथ मारे गये जो इस्लामपर धार्मिक चर्चाके नामपर उनसे मिलना चाहता था। उसे स्वामीजीकी आज्ञासे अन्दर आने दिया गया। उसने प्यास मिटानेको पानी माँगनेके बहाने स्वामीजीके ईमानदार नौकर धर्मसिंहको पानी लेनेको बाहर भेज दिया, और फिर नौकरके चले जानेपर बिस्तरपर पड़े हुए रोगीकी छातीमें दो प्राणघातक चोटें कीं। स्वामीजीके अन्तिम शब्दोंकी हमें खबर नहीं। फिर भी अगर मैं उन्हें थोड़ा भी पहचानता था तो मुझे इसमें बिलकुल सन्देह नहीं है कि उन्होंने अपने परमात्मासे उस हत्यारेके लिए, जो यह नहीं जानता था कि वह कोई पाप कर रहा है, क्षमायाचना की होगी। इसलिए 'गीता' की भाषामें 'वह योद्धा धन्य है, जिसे ऐसी मृत्यु प्राप्त होती है।'

१. यह पत्र-व्यवहार उपलब्ध नहीं है।

मृत्यु तो हमेशा ही धन्य होती है, मगर उस योद्धाके लिए तो और भी अधिक, जो अपने धर्म यानी सत्यके लिए मरता है। मृत्यु कोई शैतान नहीं है। वह तो सबसे बड़ी मित्र है। वह हमें कष्टोंसे मुक्ति देती है। हमारी इच्छाके विरुद्ध भी हमें छुटकारा देती है। वह हमें बराबर ही नई आशाएँ, नये अवसर प्रदान करती है। वह नीदके समान मीठी है, जो हमे फिर ताजा कर देती है। किन्तु तो भी किसी मित्रके मरनेपर शोक करनेका रिवाज है। लेकिन जब कोई शहीद मरता है तो यह रिवाज बेमानी हो जाता है। अतएव इस मृत्युपर मै शोक नहीं कर सकता। स्वामीजी और उनके परिवारके लोग ईर्ष्याके पात्र हैं क्योंकि श्रद्धानन्दजी मर जानेपर भी जी रहे हैं। वह हमारे बीच अपने विशाल शरीरको लेकर घूमा करते थे, आज उससे भी अधिक सच्चे अर्थमें वह जी रहे हैं। जिस कुलमें उनका जन्म हुआ था, जिस जातिके वह थे, वे सभी उनकी ऐसी महिमामय मृत्युके लिए बधाईके पात्र हैं। वह वीर पुरुष थे। उन्होंने वीरगति पाई।

मगर इस घटनाका एक दूसरा पहलू भी है। मै अपनेको मुसलमानोका मित्र समझता हूँ। वे मेरे सगे भाई हैं। उनकी भूलें मेरी भूले हैं। उनके सुखसे मै सुखी और दुःखसे दुखी होता हूँ। किसी मुसलमानके पापसे मुझे उतना ही दुःख होता है जितना किसी हिन्दूके पापसे होता है। एक नामधारी मुसलमानने यह घोर कृत्य किया है। मुसलमानोंके मित्रकी हैसियतसे मुझे इसका बहुत अधिक खेद है। शहीदकी मृत्युपर होनेवाली खुशी कम इसलिए हो गई कि उसका कारण हमारा एक भटका हुआ भाई ही है। इसलिए शहादतकी कामना कभी नही करनी चाहिए। वह तो आनन्दकी वस्तु तभी बनती है जब बिना बुलाये आ जाये। हम अपने छोटेसे-छोटे भाईकी भूलपर भी न हँसें।

मगर सच तो यह है कि जबतक कोई भूल भयंकर रूप धारण नही कर लेती, उसे भूल माना ही नही जाता और जबतक उसकी यथेष्ट निन्दा नही हो लेती तबतक उसका परिमार्जन नही होता।

इस दुखद काण्डका राष्ट्रीय महत्त्व है। यह हमारा ध्यान उस बुराईकी ओर खींचता है जो राष्ट्रके जीवनको ही नष्ट करता जा रहा है। हिन्दू और मुसलमान, दोनोंको ही अपना कर्त्तव्य चुन लेना चाहिए। हम दोनों ही इस समय कसौटीपर चढ़े है।

क्रोध दिखलाकर हिन्दू अपने धर्मको कलंकित करेंगे और उस एकताको दूर कर देंगे जिसे एक दिन अवश्य ही आना है। आत्मसंयमके द्वारा वे स्वयंको अपने उपनिषदों और क्षमामूर्ति युधिष्ठिरके योग्य सिद्ध कर सकते हैं। एक व्यक्तिके पापको हम सारी जातिका पाप न मान बैठें। हम अपने मनमें बदला लेनेकी भावना न रखें। इसे हम एक हिन्दूके प्रति एक मुसलमानका पाप माननेके बदले एक वीर पुरुषके प्रति एक भूले-भटके भाईकी भूल मानें।

मुसलमानोंको अग्नि-परीक्षामेंसे होकर निकलना पड़ेगा। इसमें कोई शक नही कि छुरी और पिस्तौल चलानेमें उनके हाथ जरूरत से ज्यादा साफ हैं। तलवार वैसे

इस्लामका धर्म-चिह्न नहीं है मगर इस्लामकी पैदाइश ऐसी स्थितिमें हुई जहाँ तलवारकी ही तूती बोलती थी और अब भी बोलती है। ईसाके सन्देशका भी कुछ असर नहीं पड़ा क्योंकि उसे ग्रहण करने लायक वातावरण ही उपस्थित नहीं हुआ। पैगम्बरके उपदेशोंके साथ भी यही बात है। मुसलमानोंको बात-बातपर तलवारें निकाल लेनेकी बान पड़ गई है। इस्लामके अर्थ हैं शान्ति; अगर उसे अपने अर्थके अनुसार बनना है तो तलवार म्यानमें रखनी होगी। यह खतरा तो है कि मुसलमान लोग गुप्त रूपसे इस कृत्यका समर्थन ही करें। यदि ऐसा हुआ तो यह उनके लिए और संसारके लिए दुर्भाग्यकी बात होगी; क्योंकि आखिरकार हमारी समस्या एक विश्व-समस्या है। ईश्वरपर विश्वास और तलवारपर विश्वास, इन दोनों चीजोंमें कोई संगति नहीं है। मुसलमानोंको सामूहिक रूपसे इस हत्याकी निन्दा करनी चाहिए।

मैं अब्दुल रशीदकी ओरसे भी कुछ कहना चाहता हूँ। मैं उसे नहीं जानता। मुझे इससे मतलब नहीं कि उसने हत्या क्यों की। दोष हमारा है। अखबारवाले चलते-फिरते रोगाणु बन गये हैं। वे झूठ और निन्दाकी छूत फैलाते हैं। अपनी भाषाके गन्देसे-गन्दे शब्दोंका भंडार वे खाली कर देते हैं और पाठकोंके संशय रहित और प्राय: ग्रहणशील मनोंमें विकारके बीज बो देते हैं। अपनी वक्तृत्वाशक्तिके मदसे मत्त नेताओंने अपनी कलम और अपनी जबानपर लगाम लगाना सीखा ही नहीं है। गुप्त और छल-कपटपूर्ण प्रचार अपना भयंकर काला काम बेरोक-टोक करता रहता है। इसलिए यह तो हम शिक्षित और अर्द्ध-शिक्षित लोग ही हैं जो अब्दुल रशीदकी मनोवृत्तिके लिए दोषी हैं।

दो विरोधी दलोंमें किसका कितना दोष है, इसका निश्चय करना बेकार है। जहाँ दोनों ही दोषी हों, वहाँ धर्मराजकी तुलासे दोषोंका, न्याय-अन्यायका ठीक-ठीक बँटवारा कौन कर सकता है? आत्मरक्षाके लिए झूठ बोलना या अतिशयोक्ति करना उचित नहीं है।

वैसे ऐसी आशा रखना तो बहुत बड़ी बात होगी, किन्तु स्वामीजी बहुत बड़े थे और इससे यह आशा बँधती है कि उनका खून हमारा पाप धो देगा, और हमारे दिलोंके मैलको साफ करके, मनुष्य जातिके दो बड़े समुदायोंको एक कर देगा।

स्वामीजीको जैसा मैं जानता था, उसकी चर्चा मैं 'यंग इंडिया' के अगले अंकमें करूँगा।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ३०-१२-१९२६

१९०. अस्पृश्यताकी तुलना

अपने वर्धा-मुकामके समय मुझे अछूतोंके मुहल्ले देखनेका अवसर आया था। उनमें रहनेवाले लोग सुखी तो मालूम पड़ते थे किन्तु इतनी जागृति हो जानेपर भी अस्पृश्यता-निवारणके आन्दोलनकी धीमी चालसे वे असन्तुष्ट हैं। उन्हें इस बातका रंज है कि अब भी साधारणतः मंदिरों, कुओं या स्कूलोंका उन्हें व्यवहार नहीं करने दिया जाता। वे यह समझ ही नहीं सकते, समझेंगे भी नहीं कि प्रगति 'लँगड़ी' होती है और इसलिए उसकी गति बहुत धीमी होती है। वे इसकी कोई वजह नहीं देख सकते, और कोई वजह है भी नहीं, कि जो कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं, उन्हें झेलना ही पड़े।

इस दिलचस्प दौरेके दो दिनों बाद मुझे मालूम हुआ कि जमनालालजीकी कोशिशोंकी बदौलत वर्धाके अछूत और जगहोंकी अपेक्षा अधिक सुखी हैं। वहाँके कई सार्वजनिक कुओंसे वे पानी ले सकते हैं, म्युनिसिपल स्कूलमें वे बेरोक-टोकके भर्ती किये जाते हैं, अनाथालयमें सवर्ण और अछूत अनाथोंमें कोई अन्तर नहीं किया जाता, पानीके सार्वजनिक नलोंसे उन्हें पानी लेने दिया जाता है, और उनके प्रति अन्यायकी दीवार तोड़नेकी निरन्तर कोशिश की जा रही है।

जिस समय अछूत भाई मुझे अपने विचार बता रहे थे उस समय मुझे दक्षिण आफ्रिकाकी अस्पृश्यताकी घटनाएँ बरबस याद हो आईं। यह वहाँ गोलमेज सम्मेलनमें जो विमर्श इस समय चल रहा है, उसके खयालसे स्वाभाविक ही था। भारतमें हम कुछ लोगोंको अस्पृश्य मानते हैं और इसी प्रकार दक्षिण आफ्रिकामें दूसरे लोग हमें। यहाँ तो 'जालिमके ऊपर जुल्म' वाली बात लागू है। जैसा हम हिन्दुस्तानमें करते हैं, उसका बदला हमें दक्षिण आफ्रिकामें सूद समेत मिलता है।

वहाँ सम्मेलन इस समस्याका हल खोजनेमें लगा है। सुफलकी प्राप्तिके लिए एन्ड्रयूज भगीरथ-प्रयत्न कर रहे हैं। उन्होंने दक्षिण आफ्रिकाकी पवित्रतम शक्तियोंको इसके पक्षमें संगठित किया है।

तथापि आइए, हम दोनों प्रकारकी अस्पृश्यताओंके अन्तरपर विचार करें। हिन्दुस्तानकी अस्पृश्यता घड़ियाँ गिन रही है। उसकी जड़पर कुल्हाड़ा लग चुका है। शिक्षित समाज उसके विरुद्ध है। कोई भी प्रभावशाली पुरुष उसका समर्थन नहीं करता। अछूतोंको बाँध रखनेवाली जंजीरें दिनोदिन टूटती जा रही हैं। कानून भी उसका समर्थन नहीं करता। वह जो-कुछ बची है, सो रस्मोरिवाजके कारण। रिवाज जल्दी नहीं बदलते। कानूनका सहारा न रहनेपर भी वे लम्बे अरसेतक साँस खींचते रहते हैं, खास कर अगर वे रूढ़ हो चुके हों। अब हिन्दुस्तानकी अस्पृश्यता समय पाकर अपने आप समाप्त हो जायेगी।

दूसरी ओर, दक्षिण आफ्रिकावाली अस्पृश्यता दिनपर-दिन जड़ पकड़ती जाती है। इसे दिन-ब-दिन कानूनकी अधिकाधिक सहायता मिलती जाती है। सन् १९१४के अन्तिम समझौतेके बावजूद, १९१५से अबतक दक्षिण आफ्रिकी संघ संसदकी हर बैठकमें

दक्षिण आफ्रिकाके हिन्दुस्तानी अछूतोंकी कानूनी अयोग्यताएँ बढ़ती ही गई हैं। ब्रिटिश साम्राज्यके और हिस्सोंमें भी यह रोग फैलता जा रहा है, जैसा कि पिछले सप्ताह प्रकाशित केनियासे आये पत्रसे[1] साफ मालूम पड़ता है।

इन्हीं बढ़ती हुई बुराइयोंके विरुद्ध दक्षिण आफ्रिकामें एन्ड्रयूज लगभग अकेले ही लोहा लिये हुए हैं। आइए, हम आशा करें कि उनकी मेहनत सफल होगी।

किन्तु बेशक इस बुराईका सामना करनेका सबसे अच्छा तरीका है कि हम हिन्दुस्तानमें पहले उससे मुक्त हो जायें। दक्षिण आफ्रिका संघके प्रतिनिधियोंके[2] मुँहसे यह बात अनेक बार सुननेमें आई थी कि पहले हम अपने यहाँ अछूतोंपर लगे निषेध तो हटाएँ और तभी दक्षिण आफ्रिकामें भी निषेधोंके विरुद्ध आन्दोलन करना ठीक होगा। शायद वे भूल गये थे, या उन्हें मालूम ही नहीं था कि यहाँ हम लोगोंमें, अछूतोंके ऊपर कोई कानूनी निषेध नहीं है। मगर दूसरोंसे न्याय माँगते समय इस तरहकी दलील पेश करना हमें शोभेगा नहीं। कानूनका एक बहुत अच्छा सिद्धान्त है जो हमारे मामलेपर लागू होता है। 'जो दूसरोंसे न्यायकी चाह रखते हैं, उन्हें आप बेदाग होना चाहिए।' इसलिए दक्षिण आफ्रिकाकी अस्पृश्यताके विरुद्ध जो सबसे अच्छी दलील हम तैयार कर सकते हैं, वह है, पहले अपने ऐबको दूर कर लेना। तबतकके लिए, जो-कुछ राहत हमें गोलमेज सम्मेलन दिला सके, उसीसे हमें सन्तोष करना पड़ेगा।

इस सवालका एक और दूसरा पहलू भी है। अछूतोंका भी स्वयं अपने प्रति और भारतके प्रति कोई कर्त्तव्य है। किन्तु इस दूसरे पहलूका विचार मैं किसी दूसरे ही लेखमें करूँगा।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ३०-१२-१९२६

१९१. टिप्पणियाँ

सर हबीबुल्लाका शिष्टमण्डल

श्री सी० एफ० एन्ड्रयूजने तार दिया है:

> **अच्छा हो कि शिष्टमण्डल फरवरीतक ठहरे ताकि प्रान्तीय चुनाव समाप्त हो जायें और वातावरण शान्त हो जाये।**

मुझे आशा है कि लार्ड इर्विनके लिए श्री एन्ड्रयूजकी सलाहको मानना और शिष्टमण्डलको चुनाव समाप्त होनेतक दक्षिण आफ्रिकामें रुकनेकी अनुमति देना सम्भव होगा। हर स्थानकी तरह दक्षिण आफ्रिकामें भी चुनावोंमें लोगोंमें सर्वोत्तम भावनाएँ नहीं, बल्कि निकृष्टतम रोष और द्वेषकी भावनाएँ उभरती हैं। इसमें सन्देह नहीं है

१. देखिए परिशिष्ट ३।

२. दक्षिण आफ्रिका संघके संसदीय प्रतिनिधि-मण्डलके सदस्य, जो भारत सरकारके निमन्त्रणपर एफ० डब्ल्यू० बेयर्सके नेतृत्वमें १८ सितम्बर, १९२६ को तीन सप्ताहकी यात्रापर भारत आये थे।

कि शिष्टमण्डल वहाँ रहेगा तो उसके प्रभावसे इन भावनाओंपर कुछ अंकुश रहेगा। किन्तु दक्षिण आफ्रिकाकी दृष्टिसे देखा जाये तो शिष्टमण्डलको चुनाव आरम्भ होनेसे पहले ही भारत भेज देनेका यही सबसे बड़ा कारण हो सकता है। शिष्टमण्डलके वहाँ रहनेसे उम्मीदवारोंको खुलकर भाषण देनेमें अवश्य ही संकोच होगा और इससे उनपर एक अंकुश लगेगा; फलत. उन्हें उसकी उपस्थितिपर आपत्ति हो सकती है।

"कष्टसे मुक्ति देनेवाली हत्या"?

एक आदरणीय पत्र-लेखकने, जिसके पत्रको पढकर मैंने "सर्वभूतहिताय"[1] ('यंग इंडिया', ९-१२-१९२६) शीर्षक लेख लिखा था, मुझे अब यह लिखा है:

> तीन मामलोंमें से आपने केवल एक डाक्टर ब्लेजरके मामलेकी चर्चाकी है और पेरिसके मामलेमें और डेन्मार्कके कानूनके मामलेके गुणावगुणपर आपने कोई सम्मति प्रकट नहीं की है। यदि आप हमें यह बतायेंगे कि इन दोनों मामलोंमें अपने नैतिक दृष्टिकोणसे आपका निर्णय क्या है तो मैं तथा आपके पत्रके अन्य दूसरे पाठक निश्चय ही कृतज्ञ होंगे।

जिन मामलोंका उल्लेख किया गया है वे ये हैं:

> पिछले साल लगभग इन्हीं दिनोंमें मुझे ऐसा याद आता है कि मैंने पेरिसकी एक घटना पढ़ी थी। एक अभिनेत्रीने अपने प्रेमीको उसके ही निरन्तर अनुरोधपर गोलीसे मार डाला था, क्योंकि उसका प्रेमी एक रोगसे घोर कष्ट पा रहा था और उसे स्वस्थ होनेकी कोई आशा नहीं थी। अभिनेत्रीपर नर-हत्याका मुकदमा चलाया गया; लेकिन असेसरके इस फैसलेपर वह छोड़ दी गई कि जिन हालतोंमें यह हत्या की गई है उनमें ऐसा करना अपराध नहीं है। फ्रांसमें ऐसा कोई कानून नहीं है जिससे यह फैसला उचित ठहरता हो। किन्तु मैंने पढ़ा है कि डेन्मार्कमें एक ऐसा कानून बनाया गया है जिसमें किसी मनुष्यको 'कष्टसे मुक्त करनेके लिए मारना' कुछ विशेष अधिकार-प्राप्त लोगोंके लिए अपराध नहीं है।

मेरी रायमें इस तरहकी हत्या यदि नेकनीयतीसे की जाये तो वह निश्चय ही मेरी परिभाषा और समझके अनुसार हिंसा नहीं मानी जायेगी; किन्तु किसी तीसरे व्यक्ति द्वारा किये गये ऐसे कार्यको उचित ठहरानेकी जिम्मेदारी मैं अपने ऊपर नही ले सकता क्योंकि मेरे पास ऐसे किसी मामलेका फैसला कर सकने लायक पर्याप्त प्रमाण आदि नहीं होंगे। इस मामलेमें अपराधीके बचावका सवाल पूरी तरह उसकी नीयतपर आधारित होगा और चूंकि नीयतके बारेमें निर्भ्रम निर्णय ईश्वर ही कर सकता है, इसलिए हरएक आदमीको अपनी जिम्मेदारी समझकर ही काम करना चाहिए और जो भी परिणाम हों उन्हें भुगतना चाहिए। इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि डेन्मार्कमें बनाये गये कानूनका समर्थन नही किया जा सकता। और मेरी रायमें तो केवल इस आधारपर किसीकी हत्या करनेको, कि मृत व्यक्ति मरना चाहता था,

१. देखिए पृष्ठ ३९४-९६।

उचित ठहराना बहुत ही खतरनाक काम है। ऐसे बहुतसे मामले हैं जिनमें कोई व्यक्ति असह्य पीड़ासे घबराकर कह सकता है कि इस पीड़ाको सहनेसे बेहतर है कि मुझे मार दिया जाये। लेकिन अच्छा हो जानेपर वह व्यक्ति भगवानका शुक्रिया अदा करेगा कि भला हुआ उसकी इच्छा पूरी नहीं की गई। मेरी सम्मतिमें अधिक अच्छा यह होगा कि जिस व्यक्तिके बारेमें हम पक्की तौरपर जान लें कि वह जीवित नहीं बचेगा उसका हमें साहसपूर्वक अन्त कर देना चाहिए। ऐसा एक उदाहरण युद्ध-क्षेत्रमें घातक रूपसे घायल सैनिकका है जिसको चिकित्साकी सुविधा प्राप्त होनेकी कोई सम्भावना न हो। ऐसी हालतमें उसकी हत्याका आधार उस घायल सैनिककी स्वयं मार दिये जानेकी इच्छा नहीं होगी, बल्कि यह निश्चित जानकारी होगी कि बिलकुल बेसहारा हालतमें उसे तिल-तिल करके मरना पड़ेगा; खासकर जब उस घायल सैनिकको प्रेमपूर्ण शुश्रूषा प्राप्त हो सकनेकी भी कोई उम्मीद नहीं है। इसमें यह मान लिया गया है कि जो सैनिक उसकी हत्या करेगा वह इस स्थितिमें भी नहीं है कि अपने घायल साथीकी शुश्रूषा कर सके।

बुरे विचारोंका दमन

इन्हीं स्तंभोंमें प्रकाशित "अनीतिकी राहपर" शीर्षक लेख-मालामें जो विचार दिये गये हैं, उनके समर्थनमें एक सज्जनने एक लेख भेजा है। इसमें कोई नई बात तो नहीं है, मगर इसमें भगवान बुद्धकी शिक्षाओंमें से एक उद्धरण दिया गया है, जिससे उन लोगोंको सहायता मिल सकती है जो बुरे विचारोंका दमन करना चाहते हैं। वह उद्धरण इस प्रकार है:

> अगर मनकी किसी स्थितिके कारण, किसी भाईमें बुभुक्षा घृणा, अनैक्य सम्बन्धी बुरे विचार उठें, तो उसे अपने मनको दूसरी उचित बातमें लगाना चाहिए। अगर तब भी बुरे विचार उठते ही रहें तो उसे पढ़ना चाहिए कि इन बुरे विचारोंके क्या खतरे हैं। और इसपर ध्यान देना चाहिए कि इस प्रकारके विचार कितने बुरे हैं और किस प्रकारसे बुरा फल लाते हैं। अगर वे तब भी उठते ही रहें तो उसे उनकी उपेक्षा करनी चाहिए और अपने मनको उनपर जाने ही न देना चाहिए। अगर वे तब भी उठते ही रहें तो उसे सोचना चाहिए कि किस प्रकार इस ढंगके विचारोंको दबाया जा सकता है। ऐसा करते ही ये विचार निकल जायेंगे, गायब हो जायेंगे। उसका चित्त दृढ़ और एकाग्र हो जायेगा। अन्तमें, लाख दबानेपर भी यदि ये विचार आते ही रहें तो उसे दाँतसे-दाँत भिड़ाकर और तालूमें जीभ लगाकर केवल विचार-बलसे अपने चित्तका दमन करना चाहिए, उसे अपने वशमें बलात् लाकर, अपने शासनके अधीन करना चाहिए। ऐसे करते ही ये विचार गुजर जायेंगे, गायब हो जायेंगे। वह केवल ऐसे विचारोंको ही सोचेगा, जिन्हें वह सोचना चाहता है, न कि उन्हें, जिन्हें वह सोचना ही नहीं चाहता।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ३०-१२-१९२६

१९२. भाषण: कलकत्ताकी सार्वजनिक सभामें[1]

३१ दिसम्बर, १९२६

उपस्थित लोगोंके सामने हिन्दीमें बोलते हुए महात्माजीने कहा कि स्वामी श्रद्धानन्द-जैसी मृत्यु मिलना कोई सरल बात नहीं है। किसी साधारण मनुष्यको ऐसी मृत्यु नहीं मिलती। वीर पुरुष साधारण पुरुषों जैसी मृत्यु नहीं पाते। हिन्दू-धर्मकी खातिर अपने प्राण उत्सर्ग करनेके कारण स्वामीजी अमर रहेंगे। हम सब यहाँ स्वर्गीय स्वामीजीकी स्मृतिका तर्पण करनेके लिए एकत्र हुए हैं। एक स्मारक कोष खोला गया है। मुझे आशा है कि हर आदमी इसमें अपनी सामर्थ्यके अनुसार चन्दा देगा। स्मारक कोषके लिए दस लाख रुपये जमा करनेका विचार किया गया है। इसमें से आधा रुपया अस्पृश्यता-निवारणके कार्यमें और शेष आधा रुपया शुद्धि और संगठनके ऊपर खर्च होगा। स्वामीजीने हिन्दू धर्मके लिए बहुत कुछ किया है। वे प्रमुख धार्मिक कार्यकर्त्ताओंमें से एक थे। महात्माजीने कहा, अस्पृश्यता निवारणके प्रश्नपर मेरा स्वामीजीसे कोई मतभेद नहीं था। सच्ची बात तो यह है कि स्वर्गीय स्वामीजी अस्पृश्योंके लिए ही जिये, और यदि आप उनकी स्मृतिका उचित सम्मान करना चाहते हैं तो ऐसा आप स्वामीजीके जीवन-अनुष्ठानको अपनाकर ही कर सकते हैं।

शुद्धि और संगठनपर बोलते हुए महात्माजीने कहा कि स्वामीजीका यह अनुष्ठान उचित मार्गपर आधारित था। प्रत्येक धर्मको यह वैध अधिकार है कि वह लोगोंको अपने क्रोडमें ले और अपनेको संगठित करे, लेकिन तभीतक जबतक इसका आधार पशुबल न हो। स्वामी श्रद्धानन्द बलात् धर्म परिवर्तनके पक्षमें कभी नहीं थे; और मैं दावेसे यह कहता हूँ कि मैं स्वामीजीको भलीभाँति जानता था।

[अंग्रेजीसे]

अमृतबाजार पत्रिका, १-१-१९२७

१. यह सभा बड़ाबाजार स्थित माहेश्वरी भवनमें स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दको श्रद्धांजलि अर्पित करने और शुद्धि तथा संगठन कार्योंके लिए धन एकत्रित करनेके लिए हुई थी। इस सभामें पण्डित मदनमोहन मालवीयने भी भाषण किया था।

१९३. पत्र : मगनलाल गांधीको

सोमवार [दिसम्बर, १९२६][1]

चि० मगनलाल,

तुम्हारे दो पत्र मिले हैं। तुमने संयुक्त भोजनालयमें खाना शुरू किया, यह ठीक हुआ।

केशुकी[2] स्थितिके बारेमें मुझे बताना। रामचन्द्र कोस[3] कोई यों ही बनाकर नहीं बेच सकता। उसके पेटेन्टको तुमने फिरसे रजिस्टर करवाया है या नहीं। यदि पेटेन्ट आफिससे कागजात आ गये हों तो देनेमें जो बाकी रह गया हो, वह भर देना। बेस्ट एण्ड कम्पनीको तो हम तभी भुगतान कर सकते हैं जब पेटेन्ट-सम्बन्धी काम पूरा हो जाये अथवा हम लिफ्ट बेचने लगें।

काकासाहबको दक्षिण आफ्रिका-सम्बन्धी प्रार्थनाकी रिपोर्ट बनाकर एन्ड्रयूजको भेजनी चाहिए। ज्यादा लिखनेका समय नहीं है। रातके दस बज रहे हैं।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ७७४९) से।
सौजन्य : राधाबहन चौधरी

१९४. पत्र : मणिबहन पटेलको

[१९२६][4]

चि० मणि,

तेरा पत्र मिला। वाह, यदि अविवाहित लड़कियाँ बीमार पड़ें तो अपना दुखड़ा किसके पास रोऊँ? यह तो समुद्रमें आग लगनेके समान हुआ। सेवा करनेके लिए भी शरीर-रक्षाकी कला सीख लेनी चाहिए। मेरा तो ख्याल है कि जैसे तुम सब कपड़े पहनती हो वैसे ही रातको मच्छरदानी भी लगानी चाहिए। और तो मैंने बच्चोंके पत्रमें जो लिखा है सो देखना।

१. १९ दिसम्बर, १९२६ को दक्षिण आफ्रिकामें होनेवाले गोलमेज सम्मेलनकी सफलताके लिए प्रार्थना-दिवसके रूपमें मनाया गया था। इसकी पत्रमें चर्चा की गई है, इससे मालूम होता है कि यह पत्र किसी समय दिसम्बरमें लिखा गया था।

२. मगनलाल गांधीके पुत्र।

३. चरखा या मोटका सुधरा हुआ रूप।

४. साधन-सूत्रके अनुसार।

आशा है, इस पत्रके मिलनेतक तो बीमारी चली गई होगी।

बापूके आशीर्वाद

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

१९५. पत्र : मणिबहन पटेलको

मौनवार [१९२६][1]

चि० मणि,

इधर तो तुम्हारा एक भी पत्र नहीं आया। अब तबीयत बिलकुल अच्छी हो गई क्या? जैसे-जैसे व्यर्थकी चिन्ता घटेगी और चित्त बालककी तरह शुद्ध होगा, वैसे-वैसे बीमारियाँ कम हो जायेंगी। 'शुद्ध' का अर्थ समझना। शुद्ध चित्तको किसी बातका बुरा नहीं लगता, उसे किसीका दोष नहीं अखरता। वह किसीका बुरा नही देखता। यह भव्य स्थिति है। मैं कह दूँ कि मेरी तो यह स्थिति नही है। मैं उस स्थितिको पहुँचना चाहता हूँ, परन्तु उससे बहुत दूर हूँ। इस स्थितिको अखण्ड ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी जल्दी पहुँचते है। ऐसोंको मैंने देखा है। एन्ड्रयूज इस स्थितिके नजदीक हैं। इन्हें मूर्ख माननेवालोको तुम मूर्ख जानना। ऐसी शुद्धता तुममें आनी ही चाहिए।

बापूके आशीर्वाद

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

१९६. पत्र : मणिबहन पटेलको

मौनवार [१९२६][2]

चि० मणि,

तुम्हारा पत्र मिला। बापूसे[3] भी सब हाल सुने। बीमारीके बारेमें अब अधिक नहीं लिखता, क्योंकि देरसे-देर शनिवारको मिलनेकी आशा है। परन्तु तुम्हें झट स्वस्थ और प्रसन्न हो जाना चाहिए।

बापूके आशीर्वाद

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

१. साधन-सूत्रके अनुसार।
२. साधन-सूत्रके अनुसार।
३. वल्लभभाई पटेल।

१९७. पत्र : मणिबहन पटेलको

मौनवार [१९२६][1]

चि० मणि,

तुम्हारा पत्र मिला। मेरे एक उद्‌गारपर से महादेवने तुम्हारी अनुमतिकी प्रतीक्षा किये बिना मुझे तुम्हारा पत्र दिखा दिया। मुझसे कुछ छिपानेकी महादेवसे कोई आशा न रखे। यह बात उसकी शक्तिके बाहर है। हम कुछ आदतें डालते हैं, फिर उनसे उलटा करना शक्तिके बाहर हो जाता है। अच्छी आदतोंके लिए इस गुणका विकास करना चाहिए। अहिंसाका शुद्ध ध्यान करनेवाला अन्तमें हिंसा करनेमें असमर्थ हो जाता है। यानी शरीरसे नहीं, विचारसे। विचार ही कार्यका मूल है। विचार गया तो कार्य गया ही समझो।

मेरा वियोग जितना तुम्हें खटकता है, उतना ही मुझे भी खटका हो तो? और अभी भी खटकता हो तो? तुमने श्रेयको पसन्द किया, मैंने भी उसीको पसन्द किया। इसीमें तुम्हारा, मेरा और सबका कल्याण है। श्रेयको प्रेय बनाना ही शिक्षाका उद्देश्य होना चाहिए। इसलिए आश्रममें रहना श्रेयस्कर है, ऐसा यदि समझती हो तो उसे प्रिय बनाओ। इसमें अपने मनको या मुझे धोखा न देना। जब तुम्हें आश्रममें रहना अच्छा न लगे तब तुम्हें अन्यत्र रखनेको मैं हमेशा तैयार हूँ, यह समझ लो। मुझे खुलकर लिखना। भले ही मैं उसे न समझूँ। भले ही उसके उत्तरमें भाषण दूँ। बड़ोंके भाषण सहन करना सीखना चाहिए।

बापूके आशीर्वाद

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

१. साधन-सूत्रके अनुसार।

१९८. पत्र : मणिबहन पटेलको

सोमवार [१९२६][1]

चि० मणि,

तुम्हारा पत्र मिला। काका (विट्ठलभाई) की[2] मौजूदगीमें शहरमें जाना तय किया, यह ठीक ही किया।

मनु[3] और मणिलाल[4] धीरजसे ही ठिकाने आयेंगे।

वा फिर कह रही थी कि वह रविवारको रवाना होगी। बुधको तो वह पहुँच जायेगी।

यह पत्र मैं रातको सोनेसे पहले लिख रहा हूँ। इसलिए अधिक नहीं लिखूंगा।

बापूके आशीर्वाद

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

१९९. पत्र : लक्ष्मीको

आश्रम
साबरमती
[१९२६][5]

चि० लक्ष्मी[6],

इस बार तुम्हारा पत्र देरसे आया कहा जा सकता है। लिखावट सुन्दर बन पड़ी है। एक ही पत्रमें दो तरहकी लिखावट नहीं होनी चाहिए। खेलनेका मन होता है, इसकी कोई चिन्ता नहीं। बालकका मन खेलनेका होता ही है, लेकिन उतना ही काम करनेका भी होना चाहिए। जिन बच्चोंका मन हमेशा खेलनेमें लगा रहता है वे किसी-न-किसी समय अवश्य झूठ बोलते हैं। अब तुम्हें तेरहवाँ साल लगेगा। यह

१. साधन-सूत्रके अनुसार।

२. विट्ठलभाई विधानसभाके अध्यक्ष चुने जानेके बाद अपने क्षेत्रमें अर्थात् गुजरातमें दौरा करनेके लिए आये थे।

३. हरिलाल गांधीकी पुत्री।

४. आश्रमका एक विद्यार्थी।

५. लक्ष्मीका जन्म १९१४ में हुआ था। पत्रमें उसकी बारहवीं वर्षगाँठकी चर्चासे लगता है कि यह पत्र १९२६ में लिखा गया था।

६. आश्रमके हरिजन अन्तेवासी दूधाभाईकी पुत्री।

कोई कम उम्र नहीं कही जायेगी। जो कपड़े फट जायें उन्हें यहाँसे मँगवा लेना। यदि कपड़े वहाँ सिल सकते हैं यानी दानी बहनको सीना आता हो तो यहाँसे खादी भेजी जा सकती है। और यदि वह न सी सके तो यहाँसे बनवाकर भेजे जा सकते हैं। वर्षगाँठके दिन कोई भी अच्छा काम करनेका निश्चय करना। रूखी[1] और आनन्दी[2] बीमार पड़ गई हैं; दोनोंको बुखार आता है। उम्मीद है कि वे दो-तीन दिनोंमें ठीक हो जायेंगी।

गुजराती प्रति (एस० एन० १९६२७) की माइक्रोफिल्मसे।

२००. पत्र: प्रभाशंकर पट्टणीको

आश्रम
साबरमती
शुक्रवार [१९२६][3]

सुज्ञ भाईश्री,

बुखार आ जानेके बारेमें जो पत्र आया था उसके बाद फिर आपका और कोई पत्र नहीं आया इससे माने लेता हूँ कि अब चिन्ताकी कोई बात नहीं है। मैं चाहता हूँ कि आप खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर लें, फिर चाहे उसके लिए बहुत प्रयत्न भी क्यों न करना पड़े। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जबतक पूरी ताकत न आ जाये तबतक आप शासनके कार्यसे दूर रहें? यदि आप पूरा आराम करें और खूब शक्ति प्राप्त करनेकी प्रतिज्ञा करें तो मैं त्रापज आनेके लिए ललचाऊँगा जरूर। लेकिन यदि मैं ऐसा करूँ तो मुझे आपके आसपास चौकीदार भी नियुक्त करने चाहिए। निरंकुश सत्ता क्या यह एक अंकुश सहन करेगी?

मोहनदासके वन्देमातरम्

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ३२००) की फोटो-नकलसे तथा जी० एन० ५८८६ से भी।
सौजन्य: महेश पट्टणी

१. मगनलाल गांधीकी पुत्री।

२. लक्ष्मीदास आसरकी पुत्री।

३. पत्रमें प्रभाशंकर पट्टणीकी बीमारी और त्रापजमें जाकर रहनेकी चर्चासे लगता है यह पत्र इसी वर्ष लिखा गया होगा।

२०१. पत्र : प्रभाशंकर पट्टणीको

आश्रम
साबरमती
शनिवार [१९२६][1]

सुज्ञ भाईश्री,

आपका पत्र मिला। आपका वजन इतना ज्यादा कम है कि तबीयत पूरी तरहसे सुधरी हुई नही कही जा सकती। आबूमें भी स्वास्थ्यमें कोई भारी सुधार हुआ नही लगता। शायद त्रापज जानेकी मेरी शर्तको आपने बहुत ही निर्बल स्वरसे स्वीकार किया है। ऐसी स्वीकारोक्तिसे मैं आनेके लिए ललचानेवाला व्यक्ति नही हूँ। यहाँका मौसम अभी ऐसा नही है कि कोई बीमार व्यक्ति यहाँ आनेके लिए ललचाये। अभी तो दोपहरकी उमस बहुत ज्यादा है। बादल घिरे हुए हैं और बरसात हो नहीं रही है। ऐसी हालतमें तो भले-चंगे व्यक्ति भी बीमार पड़ जायें। आप सपरिवार पंचगनी जाकर क्यों नही रहते? आप पंचगनी जाकर दो दिन रह आयें, ऐसी मेरी इच्छा है।

मोहनदासके वन्देमातरम्

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ३२०१) की फोटो-नकलसे।
सौजन्य : महेश पट्टणी

२०२. प्रार्थना-प्रवचन[2]

[१९२६]

गोविन्द, द्वारिकावासिन्, कृष्ण, गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ, हे रमानाथ, व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां माम् उद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण, कृष्ण, महायोगिन्, विश्वात्मन्, विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द, कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥[3]

१. पत्रमें प्रभाशंकर पट्टणीकी बीमारी और त्रापज जाकर रहनेकी चर्चासे लगता है कि यह पत्र इसी वर्ष लिखा गया होगा।

२. गांधीजीने १९२६ में आश्रमकी स्त्रियोंको प्रातः ७ बजेकी प्रार्थना-सभाओंमें जो प्रवचन दिये थे उनकी मणिबहन पटेल द्वारा ली गई टीप।

३. इस प्रार्थना-सभाके लिए निर्धारित प्रार्थनाके पहले तीन श्लोक।

मेरा आदर्श यह है कि पुरुष, पुरुष रहते हुए स्त्री बने तथा स्त्री, स्त्री रहते हुए पुरुष बने। पुरुषको स्त्री बनना चाहिए अर्थात् उसमें स्त्रियोंकी नम्रता और विवेक होना चाहिए और स्त्रीको पुरुष बनना चाहिए, इसका अर्थ यह है कि उसे भीरुता-को छोड़ हिम्मतवाली और बहादुर बनना चाहिए।

ऐसा कहा जाता है कि स्त्रियोंमें ईर्ष्या-भाव बहुत होता है। लेकिन पुरुषोंमें ईर्ष्या होती ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। उसी तरह सभी स्त्रियाँ भी ईर्ष्यालु नहीं होतीं। बात सिर्फ इतनी ही है कि चूँकि स्त्रियोंको २४ घंटे घरमें रहना पड़ता है, इसलिए उनकी ईर्ष्या अधिक स्पष्ट रूपसे दिखाई देती है।

* * *

तुम्हें शिक्षा देते हुए मेरे धीरजकी कोई सीमा नहीं होगी। उसका अन्त तुम्हारी जिज्ञासाके अन्तके साथ ही होगा।

* * *

पुरुष और स्त्री दोनों निर्भय बन सकते हैं। पुरुष [प्रायः] ऐसा मानता है कि वह निर्भय रह सकता है; लेकिन यह बात हमेशा सच नहीं होती। और इसी तरह स्त्रियाँ भी अपनेको निर्बल मानकर अपने लिए 'अबला' नाम चलने देती हैं —यह बात भी ठीक नहीं है। स्त्रियोंको भयभीत रहनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। मैंने अभी परसों ही मीराबाईके सम्बन्धमें एक बात सुनी है। इसे मैं तुम्हें बताता हूँ। मीराबाई वृन्दावन गईं और वहाँ उन्होंने एक साधुका दरवाजा खटखटाया। साधुने कहा कि मैं किसी स्त्रीका मुँह नही देखता। मीराबाईने पूछा कि तुम कौन हो? मैं तो मात्र एक ही पुरुषको जानती हूँ और वह है ईश्वर। यह सुनकर साधुने अपना दरवाजा खोल दिया और मीराबाईको साष्टांग नमस्कार करके कहा, आज मेरी आँखें खुल गई हैं। मैं अन्धकूपमें से निकल आया हूँ।

* * *

स्त्री और पुरुष दोनों जबतक विकारके वशीभूत हैं तबतक दोनोंको भय है।

द्रौपदीने उतना ही बल दिखाया जितना युधिष्ठिरने दिखाया था।

द्रौपदी पाँच पतियोंसे विवाहके बावजूद भी सती कही जाती हैं। उसे सती कहा जाता है इसका कारण यह है कि उस युगमें जिस तरह एक पुरुष कई स्त्रियोंसे विवाह कर सकता था उसी तरह [प्रदेश-विशेषमें] स्त्रियाँ भी एकसे अधिक पुरुषोंसे विवाह कर सकती थीं। विवाह-सम्बन्धी नीति युग-युगमें [और देश-देशमें] बदलती रहती है।

[दूसरी तरहसे देखते हुए] द्रौपदी बुद्धिका रूपक है और पाँच पाण्डव उसकी वशीभूत पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ वशीभूत हो जायें यह तो एक अच्छी बात ही है। पाँच इन्द्रियाँ बुद्धिके वशीभूत हो गईं और इस तरह उनका परिष्कार हुआ, इसी बातको यों कहा जा सकता है कि बुद्धिने उनका वरण कर लिया।

द्रौपदीने अगाध बलका परिचय दिया। भीम भी द्रौपदीसे डरता था। युधिष्ठिर धर्मराज थे, वे भी उससे डरते थे।

जेलमें जब मैंने 'महाभारत' में द्रौपदी द्वारा श्रीकृष्णसे की गई यह प्रार्थना पढ़ी तब मैं बहुत रोया।

मेरे विचारानुसार द्रौपदीकी इस प्रार्थनाकी शक्ति अपूर्व है। उत्तर भारतमें असंख्य लोग इस प्रार्थनाका गान करते हैं।

शब्दोंकी शक्ति भी उनके पीछे निहित तपश्चर्याके अनुपातसे बढ़ती अथवा कम होती है। ॐ शब्दमें क्या है? मात्र अ, उ और म तीन अक्षरोंको मिलाकर एक शब्द बना लिया है; लेकिन इसकी कीमत हम जो तपश्चर्या करते हैं, उसमें निहित है। जैसे-जैसे तपश्चर्यामें वृद्धि होती है वैसे-वैसे इसके मूल्यमें भी वृद्धि होती है। यही बात द्रौपदीके सम्बन्धमें भी लागू होती है। वह भी व्यासजीका एक कल्पित पात्र है, फिर ऐसी स्त्री हुई हो अथवा न हुई हो। [इस प्रार्थनाकी शक्तिका कारण] एक तो व्यासजीकी तपश्चर्या है और दूसरे व्यासजीने द्रौपदीसे जो प्रार्थना करवाई वह बादमें करोड़ों लोगोंने की, इससे भी प्रार्थनाका मूल्य बढ़ा।

गो-विन्द अर्थात् इन्द्रियोंका स्वामी। गोपी अर्थात् हजारों इन्द्रियाँ। गोपीजन-प्रिय अर्थात् बड़े समुदायका प्रिय अथवा यों कहिए कि निर्बल-मात्रका प्रिय। द्रौपदी कौरवोंसे घिरी हुई थी। कौरव अर्थात् हमारी दुष्ट वासनाएँ। वह कहती है, 'हे केशव, तू मुझे क्यों नहीं जानता?' यह आर्तनाद है। दुखियोंकी आवाज है। क्या हम सबके मनमें दुष्ट वासनाएँ नही होती? किसी भी समय विकार उत्पन्न नही होता? द्रौपदी कहती है कि कौरवोंने मेरे आसपास घेरा डाल लिया है। यहाँ कौरवोंका अर्थ दुष्ट पुरुष भी हो सकता है। लेकिन हम दुष्ट पुरुषोंकी अपेक्षा दुष्ट वासनाओंसे अधिक घिरे हुए हैं। इसलिए कौरवोंका अर्थ दुष्ट वासना करना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

द्रौपदी ईश्वरकी दासी है और दासीको ईश्वरसे भी लड़नेका अधिकार है। इसलिए वह कहती है, 'हे नाथ, हे प्रभु, हे रमानाथ अर्थात् हे लक्ष्मीपति अर्थात् समस्त जगतके स्वामी, मोक्ष देनेवाले, आत्मदर्शन करानेवाले, व्रजनाथ अर्थात् जगतके नाथ; आर्तिनाशन् अर्थात् दुःखोंका नाश करनेवाले, मैं कौरव रूपी समुद्रमें डूबी हुई हूँ — दुष्ट वासनाओंसे भरी हुई हूँ, तुम मेरा उद्धार करो।'

द्रौपदी ने 'कृष्ण, कृष्ण', ऐसा दो बार कहा। मनुष्यको जब बहुत आनन्द होता है अथवा बहुत दुःख होता है उस समय वह दो बार बोलता है। 'तुम मुझ शरणागत दुखियाकी रक्षा करो, मैं दुष्ट वासनाओंसे घिरी हुई हूँ और शिथिल हो गई हूँ, मेरा गात शिथिल हो गया है। तुम मेरा उद्धार करो।'

* * *

बम्बईमें एक जानकीबाई नामक महिला है। सन् १९१५ में जब मैं रेवाशंकर भाईके यहाँ था तब वह मुझे वहाँ मिलने आई। उसने मुझसे कहा कि मैं ऐसा करती हूँ, वैसा करती हूँ। उस समय तो मुझे उसपर विश्वास नही हुआ। बादमें मैं द्वारिका गया; वहाँ भी वह पहुँची, इसलिए उसके सम्बन्धमें मैंने विशेष रूपसे जाँच की। तब मुझे पता चला कि वह दुष्टसे-दुष्ट लोगोंके बीचमें भी निर्भय घूमती

है। उसके मनमें यह धारणा बैठ गई है कि मुझे दुष्टसे-दुष्ट लोगोंमें रहते हुए अपने शीलकी रक्षा करनी है और होता भी यह है कि कोई उसे खीझमें भी "तू" कहकर सम्बोधित नहीं करता। वह सिंहनीकी भाँति दुष्ट लोगोंके बीचमें घूमती है।

* * *

हम द्रौपदीके समान दुर्बल हैं। कारण, हममें अनेक प्रकारकी वासनाएँ हैं, और अनेक प्रकारकी मलिनताएँ हैं। हम दुर्बल हैं इसका प्रमाण यह है कि हम सब सर्पादि से डरते हैं, मैं आश्रममें सबसे बड़ा माना जाता हूँ, किन्तु मैं भी डरता हूँ। इसलिए मैं द्रौपदीसे भी अधिक दुर्बल हूँ।

द्वारिका अर्थात् सारा जगत अथवा हम स्वयं —— काठियावाड़में पोरबन्दरके समीप स्थित छोटा और गन्दा नगर नहीं।

* * *

स्त्रियोंने ऐसा क्या किया है कि इनके बारेमें तुलसीदास-जैसे व्यक्तिने भी उनके लिए अपमानसूचक विशेषणोंका प्रयोग किया है? इसे आप तुलसीदासका दोष कहें अथवा परिस्थितिका, लेकिन यह दोष तो है ही।

इस पुराने विधि-विधानकी रचना ऋषि-मुनियों अर्थात् पुरुषोंने ही की है। इसलिए इसमें स्त्रियोंके अनुभवका अभाव है। हमें वस्तुतः स्त्री-पुरुषमें से किसीको भी ऊँचा अथवा नीचा नहीं समझना चाहिए। दोनोंके स्थान और कार्य अलग-अलग हैं। दोनोंकी मर्यादाएँ ईश्वरने निश्चित की हैं।

* * *

आत्माका उद्धार आत्मा ही कर सकती है। आत्माका बन्धु आत्मा ही है। स्त्रियोंका उद्धार स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। इसके लिए तपश्चर्याकी जरूरत है। यह बात सच है कि स्त्रियोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा तपश्चर्याकी शक्ति अधिक होती है। लेकिन यह तपश्चर्या विवेकपूर्वक की जानी चाहिए। अभी तो वे मजदूरोंके समान जबरदस्ती काम करती हैं।

कोई भी दूसरा व्यक्ति स्त्रियोंकी रक्षा नहीं कर सकता, ऐसा कह सकते हैं। वे अपनी रक्षा आप ही कर सकती हैं। वे स्वावलम्बी बन सकती हैं अथवा नही, इस प्रश्नके उत्तरमें मेरे अन्तरसे यह ध्वनि निकलती है कि हाँ, वे स्वावलम्बी बन सकती हैं। यदि वे सत्याग्रह सीख लें तो वे पूर्णरूपसे स्वावलम्बी और स्वतन्त्र हो सकती हैं, फिर उन्हें किसीपर निर्भर रहनेकी जरूरत न रहे। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे किसीसे किसी किस्मकी सहायता नहीं लें; जरूरत होनेपर वे सहायता अवश्य लें। लेकिन यदि संसार उनकी सहायता न करे तो उन्हें ऐसा नहीं लगना चाहिए कि वे निराधार हैं। यदि हम उपलब्ध पदार्थोंका उपभोग करते हुए भी अपने मनको उनसे अलग रखें तो हम स्वावलम्बी ही रहते हैं, फिर भले ही हम समस्त जगतका आश्रय लें तो भी पराधीन नहीं बनते। यदि कोई आश्रय नहीं भी देता तो भी हमें लगता है कि आश्रय नही मिला तो कोई बात नहीं। उस समय हम क्रोध नही

करते, और न किसीकी निन्दा ही करते हैं। इसका नाम ही सत्याग्रह है। हमें भयभीत नहीं होना चाहिए। यह बात हमारी बुद्धिमें पैठ जाये, इतना ही पर्याप्त नहीं, हमें हृदयमें ऐसा महसूस करना चाहिए। भय-त्यागका मतलब यह नहीं कि हम जगतकी परवाह न करें।

मेरा कोई नहीं है, इस विचारका हमें त्याग करना चाहिए। सबका आधार ईश्वर ही है। आज स्त्रियोंकी जो स्थिति है उसपर विचार करते हुए उनके पतियोंको दोषी ठहराया जा सकता है। लेकिन स्त्रियोंको तो यही विचार करना है कि वे स्वयं अपनी निर्बलताको कैसे निकाल बाहर करें।

* * *

जगतमें प्रार्थना एक ही हो सकती है। यदि हम यह प्रार्थना नित्य करेंगे और विवेकपूर्वक करेंगे तो यह हमारे मनमें पैठ जायेगी। केशव तो हमारे पास ही हैं। वे द्वारिकामें रहते हैं, ऐसी बात नहीं। यह तो कविकी भाषा है। द्रौपदी भूल गई कि केशव उसके पास हैं। लेकिन कृष्ण तो वहाँ उसके पास बैठे-बैठे उसके चीरको बढ़ाते रहे। हमारे मनमें भी दुर्वासनाएँ उठती हैं, दुष्ट विचार आते हैं। उस समय हमारे मनमें यह विचार उठना चाहिए कि हमारे मनमें ऐसे विचार क्यों आते हैं? उस समय हमें इस श्लोकका पाठ करना चाहिए।

* * *

यह पुस्तक[1] केवल राजनीतिकी पुस्तक नहीं है। इसमें मैंने राजनीतिके बहाने धर्मकी कुछ झाँकी दिखानेकी चेष्टा की है। हिन्द-स्वराज्यका अर्थ क्या है? धर्मराज्य अथवा रामराज्य। मैंने पुरुषोंकी जितनी सभाओंमें भाषण दिये हैं उतनी ही स्त्रियोंकी सभाओंमें भी दिये हैं। उनमें मैंने स्वराज्य शब्दका नहीं, अपितु रामराज्य शब्दका प्रयोग किया है।

यह पुस्तक मेरे अनेक वर्षोंके चिन्तनका दोहन है। जिस तरह मनुष्य तब बोलता है जब उससे बोले बिना नहीं रहा जाता, उसी तरह जब मुझसे नहीं रहा गया तब मैंने इसे लिखा। यह पुस्तक विशेष रूपसे अनपढ़ लोगोंके लिए लिखी गई है।

* * *

हमें माता-पिताके चारित्र्यकी जो विरासत प्राप्त होती है वही सच्ची विरासत है। यह आध्यात्मिक विरासत कहलाती है। इसमें वृद्धि करना हमारा धर्म है। पिता एक लाख रुपया छोड़ गया हो और पुत्र उसके दस लाख बनाये तथा कहे कि पिताने कैसे केवल एक लाख रुपये ही इकट्ठे किये, जबकि मैं इतना चतुर हूँ कि मैंने दस लाख रुपये इकट्ठे कर लिये तो ऐसा कहनेवाला पुत्र कुपुत्र कहलायेगा; क्योंकि उसके इस कथनमें अभिमान है। हमें तो माता-पिताकी सम्पत्तिकी विरासतमें वृद्धि नहीं करनी है, अपितु उनके चारित्र्यकी विरासतमें वृद्धि करनी है, तथापि

१. हिन्द-स्वराज्य।

हमें अभिमान नहीं करना चाहिए। नम्रताके बिना आध्यात्मिक विरासत मिलती ही नहीं है।

* * *

जो कार्य हमने जन्मसे ही कभी न किया हो, जैसे हम लोग माँसादि नहीं खाते, उसे न करनेपर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि हमने कोई त्याग किया। यह तो हमारे लिए स्वाभाविक ही था। इसमें हमने पुरुषार्थ नहीं किया।

* * *

मनुष्यका सौन्दर्य उसके नैतिक आचरणमें है। पशुकी सुन्दरता उसके शरीरसे आँकी जाती है। गायको देख हम कहते हैं कि इसकी चमड़ी देखो, इसके बाल देखो, इसके पैर देखो, इसके सींग देखो। लेकिन मनुष्यके बारेमें ऐसा नहीं कहा जाता कि यह मनुष्य साढ़े पाँच फुट ऊँचा है इसलिए यह सुन्दर है तथा यह दूसरा केवल साढ़े चार फुट ऊँचा है इसलिए यह असुन्दर है। जो साढ़े पाँच फुटसे एक इंच अधिक ऊँचा हो तो उसे ज्यादा सुन्दर नहीं कहा जा सकता। मनुष्यकी सुन्दरताका आधार तो उसका हृदय है, उसकी धन-सम्पत्ति नहीं। यहाँ आश्रममें हमने हृदयके गुणोंका विकास करनेको ही धर्म माना है। हम खाते-पीते हैं, ईंट-चूनेके मकान बनवाते हैं, लेकिन ऐसा हम विवश होकर करते हैं। हमने मिट्टीके मकानकी अवमानना नहीं की है। मिट्टीके मकानमें रहकर हम लज्जित नहीं होते। हम तो वैभवमें डूबे हुए हों तो शरमाते हैं। हम अपने वैभवमें वृद्धि करते हों तो हमें शर्मसे सिर झुका लेना चाहिए। हाँ, सेवाके लिए हमारे पास अवश्य धन हो सकता है। ऐसा धनका संग्रह हमें लाचारीसे करना पड़ता है; लेकिन कितने ही व्यक्ति तो अपने लोभको ही धर्म मानकर धनका संग्रह करते हैं। यह बात ठीक नहीं है। हम बाह्य प्रपंचका जितना प्रसार करते हैं आन्तरिक विकास उतना ही कम होता है, और इसलिए धर्मकी हानि होती है।

* * *

बम्बईके बाजारमें हमारे व्यापारी करोड़ों रुपये कमाते हैं, इससे हमें खुश नहीं होना चाहिए। उसके कारण तो हमें रोना आना चाहिए, क्योंकि जहाँ बम्बईके व्यापारी दलाली करके पाँच करोड़ रुपये कमाते हैं, वहीं अंग्रेजोंको ९५ करोड़ रुपया मिलता है। और वह भी हिन्दुस्तानमें से और गरीबोंका खून चूसकर। उसकी हमें खबर नहीं होती, क्योंकि आखिर ३३ करोड़ लोगोंके इतने बड़े राष्ट्रको चूसनेमें भी कुछ समय तो लगता है न?

* * *

यदि श्रमिक अपना सारा काम ईश्वरार्पण बुद्धिसे करे तो उसे आत्मदर्शन हो सकता है। आत्मदर्शन अर्थात् आत्मशुद्धि। वस्तुतः देखा जाये तो आत्मदर्शन शारीरिक श्रम करनेवालेको ही होता है, क्योंकि 'निर्बलके बल राम'। निर्बल अर्थात् शरीरसे निर्बल नहीं, यद्यपि उसका भी बल राम ही है। यहाँ तो इसका अर्थ साधन-सम्पत्तिसे

निर्बल है। मजदूरमें नम्रता आनी चाहिए। केवल बुद्धिका विकास करनेका अर्थ है राक्षसी बुद्धिका विकास करना। इसलिए केवल बौद्धिक काम करते रहनेमें हममें आसुरी वृत्ति ही आ सकती है। इसीसे 'गीता' में कहा गया है कि श्रम किये बिना खाना चोरी करना है। श्रममें नम्रताका भाव है, इसीलिए वह कर्मयोग है। लेकिन जो मनुष्य केवल निर्वाहके लिए श्रम करता है उसका श्रम कर्मयोग नही कहा जायेगा; क्योंकि वह तो केवल पैसेके लिए श्रम करता है। पैसेके लिए पाखाना साफ करना कोई यज्ञ नही है। लेकिन सेवार्थ, सफाईकी दृष्टिसे, दूसरोंका भला हो इस खयालसे पाखाना साफ करना यज्ञ कहा जायेगा। यदि कोई सेवाभावसे, नम्रतापूर्वक, आत्मदर्शनके लिए श्रम करता है तो उसे आत्मदर्शन होता है। ऐसा श्रम करनेवाले-को आलस तो आना ही नही चाहिए। वह अतंद्रित होता है।

* * *

चलनी सूपपर कैसे हँस सकती है, जबकि दोनोंमें लगभग एक जैसे दोष हैं? उसी तरह पुरुष स्त्रीको क्या कह सकता है अथवा उसपर क्या कटाक्ष कर सकता है? स्त्रियोंमें अनेक अन्धविश्वास, विकार और भय भरे हुए हैं। पुरुषोंमें भी ये सब मौजूद हैं। कितने ही शास्त्रियोंका कहना है कि स्त्रियोंको मोक्ष नही मिलता। लेकिन मेरे देखनेमें ऐसी बात नहीं आई है। वैष्णव सम्प्रदायमें तो यह कल्पना है कि मीराबाई जैसा कोई भक्त ही नहीं है। मुझे लगता है कि यदि मीराबाईको मोक्ष नही मिल सकता तो किसी भी पुरुषको नही मिल सकता।

* * *

किसान खेतमें सोता है, तुम अथवा कोई अंग्रेज अधिकारी तो वहाँ क्या सोयेगा? लेकिन उसकी चिन्ता कोई नहीं करता। उसके जीवनमें क्या आनन्द है? उसे सवेरे उठकर खेतमें काम करना होता है, इसीलिए वह नही सोता है। कभी-कभी साँपके काट लेनेपर मर जाता है। लेकिन ऐसा जीवन किसान विवशतासे व्यतीत करता है। यदि इसे त्याग कहा भी जाये तो वह विवशतासे किया हुआ त्याग है। यदि उसे कोई रेलगाड़ीमें बिठाये तो वह उसमें नही बैठेगा, ऐसी बात नही है। वह तो उसमें झटसे बैठ जायेगा। लेकिन इन सबके पीछे यदि विवेक हो, ज्ञान हो तो उसका जीवन धन्य हो जाये। कितने ही ज्ञानी लोग किसानोंकी अथवा जड़भरतकी तरह जीवन बिताते हैं। वे ऐसा जानबूझकर करते हैं।

* * *

यदि मेरा मन मिट्टीकी मूर्तियोंकी पूजा करनेसे शान्ति प्राप्त करे तो मैं उनकी पूजा अवश्य करूँ। मेरा जीवन सार्थक होता हो तभी मेरा बालकृष्णकी मूर्तिकी पूजा करना ठीक है। पत्थर देवता नही है, किन्तु पत्थरमें देवताका वास है। यदि मैं मूर्तिपर चन्दन लगाकर चावल चढ़ाकर उससे यह कहूँ कि तू मुझे आज इतने लोगोंका सिर काटनेकी शक्ति दे तो तुममें से जो लड़की इस योग्य हो उसे चाहिए कि वह उस मूर्तिको उठाकर कुएँमें फेंक दे अथवा उसे तोड़कर चूर-चूर कर दे।

* * *

यदि हम समदर्शी होना चाहते हैं तो हमें ऐसा उपाय करना चाहिए कि जो समस्त जगतको मिले वही हमें भी मिले, यदि समस्त जगतको दूध मिले तो हमें भी मिले। ईश्वरसे हमारी प्रार्थना यह होनी चाहिए कि यदि तू मुझे दूध देना चाहता है तो सारे जगतको दूध दे। लेकिन ऐसी प्रार्थना कौन कर सकता है? वही जिसमें इतनी करुणा हो, जो दूसरोंके लिए श्रम कर सकता हो। यदि हम इस नियमका पालन नहीं कर सकते तो हमें कमसे-कम इसे समझना तो अवश्य चाहिए। हमें अभी तो ईश्वरसे इतना ही माँगना चाहिए कि हम इतने ज्यादा गिरे हुए हैं कि वह हमें निभा ले। हम भले ही आगे न बढ़ें, लेकिन वह हमें इतनी शक्ति दे कि हमारे पास जो परिग्रह है, उसे हम कम कर सकें। यदि हम अपने पापोंका प्रायश्चित्त करें तो उनमें वृद्धि नहीं होगी। हमें कोई भी वस्तु अपनी समझकर नहीं रखनी चाहिए और यथाशक्ति परिग्रहका त्याग करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

*   *   *

सत्यका, अहिंसाका पालन करनेके लिए यदि समस्त जगतकी मददकी जरूरत हो तब तो मनुष्य पराधीन बन जाये। लेकिन ईश्वरने ऐसा सुन्दर नियम बनाया है कि समस्त जगत विमुक्त हो जाये तो भी मनुष्य सत्यका, अहिंसाका पालन कर सकता है। यदि हम झगड़ा न करना चाहते हों तो हमारा विरोधी झगड़ा कर ही नहीं सकता। वह हारकर शान्त हो जायेगा। क्रोध करनेसे क्रोध बढ़ता है। यह अग्निमें घी डालनेके समान होता है।

*   *   *

जिस मनुष्यके मनमें कभी कोई प्रश्न ही नहीं उठता, वह उन्नति कैसे कर सकता है?

*   *   *

. . .[1] बहनने आत्मघात कर लिया है। उससे हमें यह सीखना है कि मनुष्यको मन-ही-मन दुख अथवा चिन्तासे घुलना नही चाहिए। मन-ही-मन चिन्ता नही करनी चाहिए। जिसकी ओरसे दुखका अनुभव किया हो हमें उससे तुरन्त कह देना चाहिए, तभी वह दुःख हमारे मनमें नही रहेगा। हम मन-ही-मन जो जलते-कुढ़ते रहते हैं वह भी एक प्रकारका आत्मघात ही है।

आत्म-निन्दा एक सीमातक एक अच्छी चीज है। अपने विषयमें अपने मनमें असन्तोष रहना एक तरहसे अच्छा है; लेकिन यह असन्तोष हदसे ज्यादा नही होना चाहिए। अमुक सीमातक असन्तोषके होनेसे मनुष्य उन्नति करता है, लेकिन यदि हम बालकी खाल निकालते रहें और हमेशा ऐसा कहते रहें कि मुझे यह चीज नहीं आती, वह चीज नहीं आती तो वह सचमुच ही नहीं आती और हम मूर्ख बनते हैं। हमें प्रसन्न रहना चाहिए और इसके साथ ही एक प्रकारका असन्तोष भी रखना चाहिए, तभी हम उन्नति कर सकते हैं।

१. साधन-सूत्रमें नाम छोड़ दिया गया है।

देहको रत्न चिन्तामणि कहा गया है। यदि हम ईश्वरपरायण रहें तो सच ही उसे रत्न चिन्तामणि बना सकते हैं। ईश्वरपरायण बननेके लिए इसका दमन भी करना चाहिए।

पुरुषको तो बाहर घूमना-फिरना होता है। उसे बाहरके काम-धन्धे रहते हैं इसलिए वह एकाएक गमगीन नहीं होता, लेकिन स्त्रीको घरमें ही रहना होता है, इसलिए वह एकान्तवासी बन जाती है और एकदम निराश और गमगीन हो जाती है। उसे बात करनेके लिए यदि कोई दूसरी स्त्री मिलती है तो इतनी वाचाल हो जाती है कि क्या बोलना चाहिए और क्या नहीं, इसका उसे तनिक भी विवेक नहीं रहता। घरमें ही बने रहनेके कारण उसमें ऐसे अनेक दुर्गुण आ गये हैं। यद्यपि एक दृष्टिसे यह एकान्तवास स्पृहणीय है। इसकी वजहसे कितने ही प्रलोभनोंसे दूर रहा जा सकता है। लेकिन इस एकान्तवासका लाभ तभी मिल सकता है यदि हम अन्तर्मुख हों, अन्तरको टटोलते हुए आत्मनिरीक्षण करना सीख जायें।

* * *

कल्पना कीजिए कि एक ऐसी बहन है जिसे एक भी अक्षर नहीं आता है, वह ककहरा भी नहीं जानती। फिर भी वह अपने काममें मग्न रहती है। जो अपना न हो ऐसे घासके एक तिनकेको भी हाथ नहीं लगाती। स्वप्नमें भी चोरी नहीं करती। उससे पूछो कि 'भागवत' क्या है तो वह तुम्हारा मुँह ताकने लगेगी; लेकिन सबपर ऐसा प्रेमभाव रखती है मानो साक्षात् जगदम्बा हो।

अब एक दूसरी स्त्रीकी कल्पना कीजिए जिसे सब-कुछ आता हो, जिसने उपनिषदोंको रट रखा हो, उच्चारण भी बहुत बढ़िया हो, लेकिन जो चोरी करती हो, झूठ बोलती हो, दूसरोंसे काम करवानेमें चतुर हो, जिसमें बत्तीसों लक्षण हों।

इन दोनोंमें से अच्छी तो पहली ही है इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं, लेकिन यदि उसे लिखना-पढ़ना भी आता हो तो वह दूसरीसे विशेष रूपसे अच्छी है।

* * *

जिस ज्ञानमें नम्रता नहीं, कोमलता नहीं, उस ज्ञानका क्या उपयोग? कौशिक मुनिपर जब पक्षीकी बीट पड़ी तो उन्होंने उसपर क्रोध किया। उससे पक्षी जलकर भस्म हो गया। अपने तपकी यह शक्ति देखकर मुनिके मनमें सहज ही अभिमान हो आया। बादमें वह एक सज्जनके यहाँ अतिथि बनकर पहुँचे। घरकी स्वामिनी उस समय अपने पतिकी सेवामें रत थी इसलिए उसने अतिथिको खड़ा रखा। पतिकी सेवा पूरी करनेके बाद वह खाना लेकर मुनिके पास गई और देरीका कारण बताया और क्षमा माँगी। इसपर मुनिको क्रोध हो आया तो उस महिलाने कहा, 'मैं वह चिड़िया नहीं हूँ कि तुम्हारे क्रोधसे जलकर भस्म हो जाऊँ। तुम्हारा इस तरह क्रोध करना ज्ञान नहीं है।' तब कौशिक मुनिको ज्ञान हुआ और उन्होंने उक्त महिलासे कहा, "तूने तो मुझे दो प्रकारका भोजन दिया; एक तो खाद्यान्न और दूसरा ज्ञानान्न।"

* * *

स्वाभाविक रूपसे अपने गले पड़नेवाले कामको जो व्यक्ति करता है वह उससे अलिप्त रह सकता है, ऐसे कामके सम्बन्धमें उसे मोह नहीं होता।

* * *

सच्चा ज्ञान, सच्ची शिक्षा हमारी अपनी कर्त्तव्यपरायणतामें निहित है।

* * *

यदि हम अस्पतालमें जाकर देखें कि वहाँ कितनी तरहके व्यक्ति आते हैं तो हमें घिन आये। डाक्टर दवा करता है परन्तु उसके साथ रोगीको नीरोग रहना सिखाना भी उसका काम है। लेकिन यह काम शायद ही कोई डाक्टर करता है। अधिकांश डाक्टर तो शरीरका ज्यादा लाड़-प्यार करनेमें सहायक बन जाते हैं। ऐसा करके वे मनुष्यके नैतिक चरित्र और उसकी आत्माको नुकसान पहुँचाते हैं। और फिर शरीरकी ज्यादा सार-सम्भाल करनेसे वे सच्चे अर्थोंमें शरीरकी भी रक्षा नहीं कर सकते।

जीवित प्राणियोंको मारकर दवाएँ तैयार करना या शरीरको सीना, दो-चार टाँके लगाना सीखना, यह क्या मनुष्यका काम है? ऐसा तो राक्षस करते हैं।

* * *

पुरुष अथवा स्त्री, दोनोंको विकार तो होते ही हैं। विकार उत्पन्न हुआ कि उनका मन जहाँ-तहाँ घूमता रहता है, भटकता रहता है। एक वस्तु हमें समझ लेनी चाहिए और वह यह कि हमारा जन्म भोगोंका उपभोग करने अथवा करानेके लिए नहीं अपितु आत्मदर्शनके लिए हुआ है।

शिव-पार्वतीका विवाह आदर्श विवाह है। पार्वतीके जैसा सच्चा विवाह जिसे करना हो उसे तो शिवजी-जैसे निर्विकारी वरका ही चिन्तन करना चाहिए। ऐसी रेखा केवल पार्वतीके ही हाथमें थी, सो नहीं। प्रत्येक स्त्रीके हाथमें यह रेखा होती है।

पतिके चुनावमें उसने कैसे कपड़े पहने हैं, कैसी पगड़ी बाँधी है, इसका विचार नहीं करना है अपितु यह देखना है कि उसके गुण कैसे हैं, उसके पास विद्या कितनी है। एक बार विवाह करनेका विचार किया तो अच्छे चरित्रवालेके साथ, जिससे मनका मेल हो सकता हो उसके साथ विवाह करना चाहिए। ऐसा चारित्र्यवान युवक मिले तो ठीक, नहीं तो कुँआरी रहनेका संकल्प करना चाहिए। जो भी मिल जाये उसीके साथ विवाह करनेका विचार नहीं करना चाहिए। पार्वतीने तो संकल्प किया था कि शिवजी-जैसा निर्विकारी पुरुष मिलेगा तो ही विवाह करूँगी अन्यथा कुँआरी रहूँगी। प्रत्येक कन्याको पार्वतीका आदर्श रखना चाहिए।

* * *

किसीके कन्धेपर न बैठना भी एक प्रकारकी सेवा है। किसीसे कोई सेवा न लेना, काम न करवानेकी वृत्ति रखना, यह भी एक प्रकारकी सेवा है।

* * *

यह जगत तो ऐसा है कि इसके एक टाँका लगाओ तो तेरह टूट जाते हैं, तो फिर हम इसमें कहाँ-कहाँ सुधार करें? सच्चा सुधार तो यही है कि हम अपने अन्तरमें निहित आत्मारूपी सत्यको पहचानें।

आप भला तो जग भला। अहिंसाके सान्निध्यमें वैरका त्याग होता है, ऐसा भगवान पतंजलिने लिखा है। यदि हम स्वयं गुलाम हैं तो हमें सारी दुनिया गुलाम नजर आती है। तात्पर्य यह है कि निर्दोष व्यक्तिको कौन छलना चाहेगा? उसके साथ कोई कपट करेगा तो अपना ही नुकसान करेगा। यदि हम प्रतिकार न करें अर्थात् दुष्ट व्यक्तिका विरोध न करें तो उसकी दुष्टता उसे ही मार गिराती है। उसे ठोकर लगती है और वह सीधा हो जाता है।

*　　　　*　　　　*

यदि हम आश्रममें अपना स्वराज्य सिद्ध कर लें तो समस्त हिन्दुस्तानको स्वराज्य मिल जाये। अर्थात् सब बेंतके समान सीधे हो जायें। कोई किसीपर सन्देह न करे; यदि परस्पर एक दूसरेके प्रति अविश्वास न हो तो स्वराज्य हमारी हथेलीमें है।

स्वराज्यका अर्थ है दूसरोंपर नहीं बल्कि अपने ऊपर राज्य करना अर्थात् अपने ऊपर अंकुश रखना। जिसने अपनी इन्द्रियोंपर अधिकार कर लिया है उसने सब-कुछ प्राप्त कर लिया है।

जिस व्यक्तिने दण्डनीतिको ग्रहण किया, हथियार नीतिको अपनाया है उसे छल-कपटसे काम लेना ही पड़ता है। इस नीतिके साथ छल-कपट लगे हुए ही हैं।

*　　　　*　　　　*

हम सबका मन्दिर आश्रममें है। आश्रममें भी नहीं, वह तो हमारे हृदयमें है। दो-चार पत्थर इकट्ठा करके बनाया हुआ मन्दिर किसी कामका नहीं। हम यदि अपने हृदयमें मन्दिर प्रतिष्ठित कर सकते हैं तो वह मन्दिर कामका है।

आश्रम यदि इसी तरह सुचारु रूपसे चलता रहे और इसमें दुष्ट व्यक्ति पैदा न हों तो यह आश्रम तीर्थक्षेत्र बन जाये।

कहा जाता है कि नर्मदामें जितने कंकर हैं, वे सब शंकर हैं। नर्मदा अर्थात् भड़ौंचमें जो नदी है, केवल वही नहीं अपितु सारी नदियाँ। नदीके कंकरको धोकर उसपर बेलपत्र चढ़ाये कि वह शंकर रूप हुआ। केवल शंकर ही नहीं, यदि हम स्वच्छ मिट्टी लेकर इसका शिवलिंग-जैसा आकार बनायें और उसपर बेलपत्र चढ़ायें तो वह भी शंकर हो जाती है। यदि इससे भी आगे जाकर विचार करें तो हमारे हृदयमें ही शंकर विराजमान हैं।

हम तो मूर्तिपूजक भी हैं और मूर्तिभंजक भी। मूर्तिमें निहित पाषाणताके भंजक हैं, लेकिन मूर्तिमें प्रतिष्ठित ईश्वरकी भावनाके पूजक हैं।

*　　　　*　　　　*

मैं यह अपेक्षा करता हूँ कि आश्रममें रहनेवाली सारी स्त्रियाँ कोई भी कार्य बिना विचारे न करें। इसके लिए स्त्रियोंको ज्ञानी होना चाहिए। आजकल तो हिन्दुस्तानमें स्त्री-समाज शुष्क हो गया है।

* * *

जिन लड़कियोंको अविवाहित रहना है उन्हें स्वतन्त्रताका वरण करना चाहिए। परतन्त्र रहनेवाली लड़की अविवाहित रह ही नहीं सकती।

* * *

[कहावत है कि]

भूत मरे तो प्रेत जागे। तात्पर्य यह कि यदि हम किसीको लूटते हैं तो हमें भी लूटनेवाला कोई दूसरा बैठा हुआ है। इसके सम्बन्धमें एक और कहावत है 'शेरको सवा शेर'। यहाँ शेर अर्थात् सिंह। सिंह अन्य पशुओंको मार कर खाता है, लेकिन उसे मारकर खा जानेवाले अन्य सिंह मौजूद हैं।

* * *

जिस तरह भोजन पकाना न आनेपर कच्चा-पक्का बनाकर खानेसे अजीर्ण हो जाता है, उसी तरह यदि किसीको पढ़ना नहीं आता तो वह भले कितनी ही बार क्यों न पढ़े उसे कुछ भी समझमें नहीं आता। उसे पढ़ाईका अजीर्ण होता है।

* * *

बड़ेसे-बड़ा व्यक्ति भी यदि न करने योग्य कार्य करता है तो उसे उसका फल अवश्य मिलता है।

* * *

भक्तजन अन्तर्नादसे प्रेरित होकर काम करते हैं परन्तु कभी-कभी अन्तर्नाद भी धोखा दे सकता है, इसलिए भक्तोंको चाहिए कि वे सावधान रहें।

* * *

जो व्यक्ति आधा झूठ बोलता है, वह वस्तुतः ड्योढ़ा झूठ बोलता है। कारण वह अपनेको ही छलता है, जबकि निरा झूठ बोलनेवालेको इस बातका ज्ञान रहता है कि वह झूठ बोल रहा है।

* * *

बच्चोंकी शिक्षा मुख्य रूपसे माताओंपर होती है। मैं आश्रममें चाहे कैसी भी शिक्षा क्यों न दूँ, लेकिन माताओंके सहयोगके बिना कुछ नहीं कर सकता। हमें अपने बच्चोंको परोपकारी बनाना है।

शिक्षकके पास जाते समय भी बालक माताके हृदयका एक तार अपने साथ लेकर जाता है। उसे यह धुन लगी रहती है कि कब छुट्टी हो और कब मैं माँके पास जाऊँ। इस तार द्वारा माता उसे खींचती रहती है।

हम चाहे 'गीता' पढ़ें, 'रामायण' पढ़ें, 'हिन्द-स्वराज्य' पढ़ें, लेकिन इन सबमें से हमें जो बात सीखनी है, वह तो परमार्थ ही है। बालकोंको भी हमे यही सिखाना है।

हमारे जिन पूर्वजोंने शराब छोड़ दी उन्होंने अवश्य ही भारी पुरुषार्थ और पुण्यका काम किया, लेकिन हम लोगोंने जिन्होंने उसे कभी पीया ही नही उन्हे तो इस विषयमें नकारात्मक पुण्य ही मिल सकता है। हमारे लिए तो इतना ही कहा जा सकता है कि हम शराब पीनेका पाप नही करते। हम जब शराबके समस्त अनिष्टोंको समझने लगें तभी यह कहा जायेगा कि हमने शराब सचमुच छोड़ दी है।

उसी तरह यदि हम अपने पुराने त्योहारों और व्रतोका पालन बिना सोचे-समझे करते हैं तो उसका कोई अर्थ नही है। लेकिन यदि हम इसके रहस्यको समझें और औरोंको भी समझा सकें तभी हमें और समाजको उसका लाभ मिलेगा। हमारी बहनें नागपंचमी, जन्माष्टमी आदि त्योहार मनाती हैं, उन्हे इन त्योहारोंके मर्मको भी समझना चाहिए। नागपंचमीका अर्थ यह होगा कि नागको शत्रु माना और इसके बावजूद शत्रुको भी नही मारना चाहिए, इस भावनाका प्रचार करनेके लिए नाग-पंचमीका व्रत किया। इस संसारमें नागके समान विषैला प्राणी और कोई नही है, यदि कोई है तो वह हम ही हैं। इस व्रतसे हमें यह सीखना है कि जिसे हम नागके समान विषैला मानते हैं उसे भी अमृतके समान मानें और उससे यह सीखें कि मनुष्य-मात्र पूजा करने योग्य है अर्थात् सेवा करने योग्य है।

* * *

यह संसार प्रेमके बन्धनसे बँधा हुआ है, इसीलिए वह चल रहा है। इतिहासमें एक दूसरेके प्रति प्रेमभाव रखनेके नित्यके प्रसंगोंकी चर्चा नही होती, उसमें झगड़ा फसाद और मारधाड़का ही वर्णन मिलता है। दुनियामें एक दूसरेके साथ प्रेम-व्यव-हारकी घटनाओंकी तुलनामें लड़ाई-झगड़ेकी घटनाएँ बहुत कम होती हैं। संसारमें हम इतने गाँवों और शहरोंको बसा हुआ देखते हैं। यदि संसारमें हमेशा लड़ाई ही होती रहती तो इन गाँवों और शहरोंका अस्तित्व ही न होता।

* * *

जिन नियमोंसे धर्मकी हानि होती है उन नियमोंका लोप हम अवश्य कर दें। हम ऐसे नियमोंको नही मानें, इतना ही नही; उनका सक्रिय विरोध करें। विरोध करनेके दो मार्ग हैं। मारकाट करनेका और सत्याग्रह करनेका। हम तो सत्याग्रहका मार्ग ही ग्रहण करेंगे। हमें धर्मके नामपर हिंसा नही करनी है। हम तो धर्मके नाम-पर फाँसीपर चढ़ेंगे, मर मिटेंगे परन्तु औरोंकी हत्या नही करेंगे।

* * *

स्त्रियोंको अपने शीलकी रक्षा किस तरह करनी चाहिए, यह प्रश्न अनेक बार पूछा जाता है और इस सम्बन्धमें उन्हे खंजर रखनेका सुझाव भी दिया जाता है। किन्तु यदि स्त्रियाँ खंजर रखने लगेंगी तो मुझे भय है कि उसका उपयोग उन्हीके

विरुद्ध हुआ करेगा। खंजरका प्रयोग करनेके लिए बहुत कठोरताकी आवश्यकता है। उसका प्रयोग करनेके लिए अपनी सारी जीवन-पद्धति बदलनी होगी। जिस व्यक्तिने किसी दिन रक्त देखा ही न हो, बहाया न हो वह खंजरका उपयोग कर ही नहीं सकता। खंजर चलाना सीखनेके लिए शिकार करना चाहिए, भेड़-बकरियोंको मारने-काटनेकी तालीम लेनी चाहिए। किसीके शरीरमें खंजर भोंकनेके लिए हमें पहले अपने हृदयको इतना कठोर बनाना होगा।

इसलिए स्त्रियोंको खंजर चलानेकी शिक्षा देनेके बजाय यह शिक्षा देनी चाहिए कि उन्हें किसीका भय रखनेका कोई कारण नहीं है। उनसे कहना चाहिए कि तुम्हारे ऊपर तो सदैव ईश्वरका वरद हस्त है। यदि हम सच्चे हृदयसे ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करते हों तो हमें किसका भय हो सकता है? कितना ही दुष्ट व्यक्ति तुमपर हमला करनेके लिए आये, उस समय तुम रामनाम लेना। अनेक दुष्ट व्यक्ति तो इस प्रकारसे ही भाग निकलेंगे। परन्तु कभी-कभी ऐसा न हो तो भी क्या? उस समय हमें अपने प्राणोंको त्याग देना चाहिए। बालक मरनेके निकट पहुँच गया हो तब भी माता अपने प्राणोंको बाजीपर लगाकर अन्ततक उसकी सेवा करती है न? और खूब सेवा करनेपर भी यदि बालक माँकी गोदमें खत्म हो जाये तो माँको इतना सन्तोष रहता है कि उससे जितना हो सका उतना उसने किया। प्राण देनेकी पूरी-पूरी तैयारी रखना हमारा धर्म है। कोई कितना ही दुष्ट क्यों न हो, यदि हम उसके बलात्कारके आगे आत्म-समर्पण नहीं करते और मर जाते हैं परन्तु वशमें नहीं आते तो उक्त दुष्ट व्यक्ति क्या कर सकता है? सम्भव तो यह है कि मरनेकी पूरी तैयारी किए हुए पवित्र व्यक्तिके सम्मुख दुष्ट व्यक्ति अपनी दुष्टता ही छोड़ देगा। इसलिए सत्याग्रहसे दोहरा लाभ है। जो व्यक्ति सत्याग्रह करता है उसका तो भला होता ही है, परन्तु जिसके विरुद्ध सत्याग्रह किया जाता है, उसका भी भला होता है।

[गुजरातीसे]

बापुना पत्रो : आश्रमनी बहेनोने

२०३. पत्र : मणिबहन पटेलको

[१ जनवरी, १९२७][1]

चि० मणि,

तुम्हारा पत्र मिल गया। इस पत्रके पीछेका पत्र पढ़ना।[2] इस कामके लिए तुम्हें भेजनेका विचार होता है। तुम या मीराबाई ही वहाँ काम कर सकती हो। वहाँ सिन्धी लड़कियाँ होंगी, इसलिए अंग्रेजी और हिन्दीकी जरूरत होगी। मीराबाईको अभी नहीं भेजा जा सकता। इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम जाओ। यदि निश्चय हो जाये तो बताना।

तुम्हें सुख-दुःख सहकर भी आश्रममें अर्थात् मेरे साथ ही रहना है। अपना अन्तर मेरे सामने उँडेलकर मुझसे 'माँ' का काम लेना।

तुम्हारी नीरसताका कारण भीतर-ही-भीतर साथीका अभाव तो नहीं है न? मुझे तुम्हारे एक हितैषीने आग्रहपूर्वक कहा है कि मुझे तुम्हारा विवाह कर ही देना चाहिए। यह बात एक युवकके सिलसिलेमें निकली। वह पाटीदार तो नहीं है, परन्तु योग्य है। मैंने कहा कि तुम्हारे बारेमें मैं तो निर्भय हूँ। तुम्हारी विवाहकी इच्छा होगी, यह अभी तो मैं नहीं देखता। तब उन्होंने कहा, "आप मणिबहनको नहीं जानते।" इस समय मैं मजाक नहीं कर रहा हूँ, यह मेरी भाषासे ही तुम देख सकोगी। मुझे निर्भयतासे उत्तर देना। इतना तो निश्चित है कि जो कुमारी रहना चाहती है, उसे वीरांगना बनना चाहिए। उसे प्रफुल्लित रहना चाहिए। नहीं तो लोग कहेंगे, "इसकी शादी कर दो।"

बापूके आशीर्वाद

चि० मणिबहन पटेल
सत्याग्रह आश्रम
साबरमती

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

१. साधन-सूत्रके अनुसार।

२. कराचीके नारायणदास आनन्दजीने २०-१२-१९२६ को लिखे अपने पत्रमें गांधीजीसे अनुरोध किया था कि वह कराची नगरपालिकाकी कन्या पाठशालाओंमें तकली कातना सिखानेके लिए गुजरातसे किसी दक्ष महिलाको भेजें।

२०४. भाषण : दलितवर्गकी पाठशालाओंके छात्रोंकी सभामें[1]

२ जनवरी, १९२७

उत्तर देते हुए महात्माजीने कहा कि मैं नहीं जानता था कि दलितवर्गोंके सदस्य मुझे कोई अभिनन्दनपत्र भी देंगे। मैं आपके कष्टों और आपके अनन्त दुःखोंको समझता हूँ और कभी-कभी मेरा मन होता है कि मैं भी अछूत बन जाऊँ ताकि मैं इस देशमें आपकी स्थितिको स्पष्ट रूपसे अनुभव कर सकूँ। मुझे इस बातका दुःख है कि हिन्दू समाजके लोग आप लोगोंकी कोई मदद नहीं कर रहे हैं, उलटे, मजदूरीके रूपमें आपसे सेवा कराते हैं। यदि हिन्दू समाजमें यही भावना बनी रही तो यह देश गारत हो जायेगा। स्वामी श्रद्धानन्दजीका, जिन्होंने देशसे अस्पृश्यताका निवारण करनेमें अपनी अमूल्य जान गँवा दी, कथन था कि जब मैं देखूँगा कि हिन्दू लोग अपने घरोंमें कमसे-कम एक-एक दलितवर्गका बालक रख रहे हैं तभी मैं समझूँगा कि हिन्दुओंको देशके अस्पृश्योंका खयाल है। किन्तु इससे भी पहले स्वामीजी यह चाहते थे कि दलितवर्गके लोग शराब, जुआ और अन्य बुरी लतें छोड़ दें, जिनके कारण वे देशकी अन्य जातियोंसे हमेशा पिछड़े रहते हैं।

महात्माजीने आगे बोलते हुए कहा कि पण्डित मदनमोहन मालवीयने स्वामी श्रद्धानन्दके शुद्धि और संगठन आन्दोलनको जारी रखनेके लिए ५ लाख रुपया इकट्ठा करनेकी अपील निकाली है। मालवीयजी दलितवर्गोंसे किसी धनकी अपेक्षा नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि हिन्दू समाजके लोग अपनी भलाईके खयालसे उनकी इच्छा पूरी कर देंगे; तथापि आप लोगोंको चाहिए कि स्वामी श्रद्धानन्दकी पुण्यस्मृतिके प्रति श्रद्धाके प्रतीक स्वरूप आप लोग आपसमें कुछ धन जमा करें और वह थैली मालवीयजीको भेंट करें।

[अंग्रेजीसे]

अमृतबाजार पत्रिका, ४-१-१९२७

१. गांधीजी कलकत्ता और हावड़ा स्थित दलितवर्गोंकी १६ पाठशालाओंकी ओरसे दिये गये अभिनन्दनपत्रका उत्तर दे रहे थे। यह सभा कलकत्ताके मिर्जापुर पार्कमें हुई थी।

२०५. भाषण : चित्तरंजन सेवासदन, कलकत्तामें[1]

[२ जनवरी, १९२७][2]

आधार-शिला रखनेकी विधि संपन्न होनेकी घोषणा करते हुए गांधीजीने डॉ० नीलरतन सरकारके इस कथनका जोरदार शब्दोंमें समर्थन किया कि देशबन्धु और स्वयं उनके बीच आध्यात्मिक एकता थी। उन्होंने कहा कि देशबन्धुकी मृत्युसे यह एकता सम्भवतः और भी वास्तविक बन गई है। उन्होंने कहा, मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गुलाम भारतकी विशिष्ट राजनीतिक स्थितिके कारण अन्य राजनीतिक नेताओंकी ही भाँति यदि देशबन्धुको भी अपनी शक्तियाँ राजनीतिमें न लगानी पड़ी होतीं तो उन्होंने पूरी तरहसे धार्मिक सुधार और दरिद्रनारायणकी सेवामें ही अपनेको लगा दिया होता। लेकिन देशबन्धुका विश्वास 'गीता' की इस शिक्षापर अमल करनेमें था कि अन्य कर्त्तव्य भले ही श्रेष्ठ प्रतीत हों, लेकिन जो कर्त्तव्य तात्कालिक हो, पहले उसीको पूरा करो। भले आज ऐसा लगे कि मै एक साधारण मातृगृहकी आधार-शिला रख रहा हूँ, लेकिन देशबन्धुके दृष्टिकोणसे यह कार्य स्वराज्यकी दिशामें एक और कदम है। इसके बाद उन्होंने कुछ क्षेत्रोंमें व्यक्त की गई इस शंकाकी चर्चा की कि चूँकि बंगाली लोगोंमें संकीर्ण प्रान्तीयताकी भावना होती है इसलिए इस स्मारक संस्थामें भी वही भावना आ जायेगी।

यदि बंगाली लोग समूचे भारतको बंगालमें आत्मसात् कर लें तो मुझे उसमें कोई आपत्ति नही होगी, क्योंकि तब यू० पी० के बूढ़े पंडित[3] और गुजरातके मुझ बूढ़े बनिये, दोनोंको आराम करनेके लिए कुछ समय मिल जायेगा। मुझे इसमें तनिक भी आपत्ति नही होगी कि वह बंगाल जिसने रवीन्द्रनाथ ठाकुर, राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्दको जन्म दिया है, वह बंगाल जिसकी धरती चैतन्यके पवित्र चरण-स्पर्शसे धन्य हुई है, वह बंगाल जिसकी धरती गंगा और ब्रह्मपुत्रके पवित्र जलसे पावन हुई है, समूचे भारतको अपनेमें आत्मसात् कर ले। लेकिन उपर्युक्त भय निराधार है; क्योंकि डा० विधानचन्द्र रायने न्यासियोंकी ओरसे घोषणा की है कि यह सेवासदन उसी उदार भावनाके साथ चलाया जायेगा जिस भावनाके साथ देशबन्धुने मातृभूमिकी सेवा की। यह संस्था उस व्यक्तिके प्रति एक सजीव श्रद्धांजलि स्वरूप है जिसकी उत्कट इच्छा हमारी उन दलित बहनोंका उद्धार करनेकी थी, जो हमारी काम-वासनाकी शिकार है। यह संस्था किसी अमुक न्यासीकी नही है, यह सारे देश-

१. महादेव देसाईके "साप्ताहिक-पत्र" से उद्धृत।

२. तिथिका निर्धारण फॉरवर्डमें प्रकाशित रिपोर्टसे किया गया है।

३. पं० मदनमोहन मालवीय।

की संस्था है। आइए, हम इस संस्थाको देशबन्धुका स्मारक होने योग्य बनायें और इस प्रकार भारतमें उनकी स्मृति अमर बनायें।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १३-१-१९२७

२०६. भाषण: केवड़ाताल श्मशानघाट, कलकत्तामें[1]

२ जनवरी, १९२७

महात्मा गांधीने इस अवसरपर एक छोटासा भाषण दिया। उन्होंने कहा कि मैं बंगालके नहीं, सारे भारतवर्षके एक बहुत बड़े राष्ट्रभक्तके सम्मानमें बननेवाले स्मारककी आधार-शिला रख रहा हूँ। इसे मैं अपने लिए परम सौभाग्य की बात मानता हूँ। मुझे इस बातका खेद है कि मैं अश्विनीबाबूके निकट सम्पर्कमें नहीं आ सका। जब मैं दक्षिण आफ्रिकामें था उस समय बंगाल विभाजनके जमानेमें अखबारोंके जरिये मैं अश्विनीबाबूके कार्योंसे परिचित हुआ था।

महात्माजीने आगे बोलते हुए कहा कि भारत लौटनेपर अपनी बंगाल यात्राके दौरान जब मैं बारीसाल गया तब मुझे अश्विनीकुमार दत्तके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। बारीसालमें मैं जैसे ही स्टीमरसे नीचे उतरा, मुझे बताया गया कि अश्विनी बाबू रोगशय्यापर पड़े हैं, और इसी कारण मेरा स्वागत करने नहीं आ सके हैं। अतः मैंने अपना सबसे पहला कर्त्तव्य यह माना कि मैं सीधे पहले उनके पास ही जाऊँ और रोगशय्यापर पड़े इस महान देशभक्तके दर्शन करूँ। उस समय मिलनेपर अश्विनी बाबूकी आँखोंमें जैसा प्रेमभाव मैंने देखा, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता।

महात्माजीने कहा कि अश्विनीबाबूके जीवनसे हमें यह पाठ मिलता है कि मातृ-भूमिके पुजारी वही लोग हो सकते हैं जिन्होंने स्वदेशके लिए जीवनके सारे सुखोंका त्याग कर दिया हो और अपनी सारी व्यक्तिगत इच्छाओं और आकांक्षाओंका बलिदान कर दिया हो। महात्माजीने भारतके नौजवानोंको सलाह दी कि वे उस भावनाको अपनायें जिस भावनाको लेकर अश्विनीकुमारने अपना जीवन बिताया। यही सबक है जो संसारके महापुरुषोंके जीवनसे हर नौजवानको सीखना चाहिए।

महात्माजीने आगे कहा कि अखबारोंमें बहुतसे लोगोंके बारेमें बहुतसी बातें पढ़नेको मिलती हैं, लेकिन जबतक कोई उन व्यक्तियोंसे साक्षात् न मिले तबतक उनके बारेमें सच्ची बातका पता नहीं चल सकता। जब मैं अश्विनीकुमार दत्तके निकट सम्पर्कमें आया तभी मुझे अखबारोंमें कही गई उनसे सम्बन्धित बातोंकी सचाईका पूरा भान हुआ।

१. यह भाषण गांधीजीने अश्विनीकुमार दत्तके स्मारकका शिलान्यास करनेके अवसरपर दिया था।

अन्तमें महात्माजीने नौजवानोंसे अपील करते हुए कहा कि यदि वे स्वदेशकी सेवा करना चाहते हैं तो उन्हें ऐसे महापुरुषोंसे मिलना-जुलना चाहिए और उनके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करना चाहिए। ऐसे महापुरुषोंका सच्चा स्मारक उनके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करना ही होगा।

[अंग्रेजीसे]

अमृतबाजार पत्रिका, ४-१-१९२७

२०७. भाषण: खादी प्रतिष्ठान, सोदपुरमें[1]

[२ जनवरी, १९२७][2]

आप देखेंगे कि उन्होंने[3] खादीके लिए अपना सब-कुछ दाँवपर लगा दिया है। आपमें से बहुतसे लोग सोचेंगे कि वह पागल हो गये हैं। लेकिन मैं आपको बताता हूँ कि विश्वासके बलसे पर्वत डिग जाता है, और सतीशबाबूको खादीमें विश्वास है। साथ ही उनका यह संकल्प है कि जो लाखों रुपयोंका विदेशी कपड़ा कलकत्तेके बाजारोंमें आता है, उसे जहाँतक बन पड़े आनेसे रोकें।

गांधीजीकी चन्देकी अपीलपर ५०० रु० तत्काल जमा हो गये और करीब ३००० रुपये देनेके वचन मिले।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १३-१-१९२७

२०८. पत्र: गंगाबहन वैद्यको

[२ जनवरी, १९२७के पश्चात्][4]

चि० गंगाबहन,

मैं देखता हूँ कि तुम्हारे लिखनेमें लिंगकी भूलें होती हैं। कच्छी [भाषा]में स्त्रीलिंग और पुलिंग ही हैं, किन्तु गुजरातीमें नपुंसक लिंग भी है। कच्छीमें तुम "घर केवो" कहती हो; गुजरातीमें "घर केवुं" कहते हैं। तुम "तमारो शरीर" कहती हो जब कि गुजरातीमें "तमारुं शरीर" कहा जाता है। इस तरह दो भाषाओंकी तुलना

१. गांधीजी खादी प्रतिष्ठानकी कलाशालाका उद्घाटन कर रहे थे, जिसकी स्थापना सतीशचन्द्र दासगुप्तने कलकत्तेके निकट सोदपुरमें की थी। यह रिपोर्ट महादेव देसाईके "साप्ताहिक पत्र" में से ली गई है।

२. तारीखका निर्धारण हिन्दूमें प्रकाशित रिपोर्टसे किया गया है।

३. सतीशचन्द्र दासगुप्त।

४. यह पत्र गंगाबहनके २ जनवरी, १९२७के पत्रके उत्तरमें लिखा गया था।

करते हुए आनन्द आयेगा और भाषा ज्यादा आसानीसे सुधरेगी। इस तरह मानसिक कसरत करनेसे बुद्धि भी विकसित होती है।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ८७०३) से।
सौजन्य: गंगाबहन वैद्य

२०९. तार: परशुराम मेहरोत्राको

कलकत्ता
३ जनवरी, १९२७

परशुराम
सत्याग्रहाश्रम
वर्धा

तुम एक पखवारा 'स्त्रीदर्पण' को दे सकते हो।[1]

बापू

अंग्रेजी तार (जी० एन० ७४८७) की फोटो-नकलसे तथा सी० डब्ल्यू० ४९६२से भी।

२१०. पत्र: मीराबहनको

३ जनवरी, १९२७

चि० मीरा,

तुम्हारे दो पत्र मिले। तुमपर क्या बीत रही है उसे मैं समझ रहा हूँ। इसकी मुझे खुशी ही है। मनुष्य जातिके तमाम दोषोंके बावजूद तुम्हें उससे प्रेम तो करना ही है। आश्रम अन्ततः साबरमतीमें नहीं, बल्कि खुद तुम्हारे अपने मनमें है। अधमसे-अधम प्राणीको भी हमें शुद्ध मानकर चलना चाहिए। सबके साथ समान व्यवहार करनेका, और परस्पर विरोधी तत्वोंवाले इस विश्वमें पानीमें कमलकी तरह अलिप्त रहनेका यही अर्थ है।

तुम्हारा कार्यक्रम समझमें आ गया। तुम उसे पूरा कर सकती हो। आगे तुम्हारा पत्र मिलनेतक मैं कन्या गुरुकुलके ही पतेपर लिखता रहूँगा।

१. आश्रममें आनेसे पहले मेहरोत्रा 'स्त्रीदर्पण' नामक हिन्दी पत्रिकाके सम्पादक थे। उन्होंने 'स्त्रीदर्पण' की आर्थिक समस्याओंका निपटारा करनेके लिए गांधीजीसे कुछ दिनोंके लिए आश्रमसे छुट्टी माँगी थी।

मेरा खयाल है, तुमने जो परिस्थितियाँ बताई हैं, उनको देखते हुए तुम यह तो कदापि नहीं चाहोगी कि मैं किसीको वहाँ शिक्षा पानेके लिए भेजूँ।

मैं यह पत्र सोदपुरसे लिख रहा हूँ। सोदपुर कलकत्तेका एक उपनगर है। यहां सतीशबाबूने अपना खादीका कारखाना बनाया है। यह एक बहुत बड़ा प्रयत्न है। इसपर लगभग ८०,००० रुपये लगे हैं।

तुम्हें भेजे गये कार्यक्रमके अनुसार हम कल कोमिल्ला जा रहे हैं। लेकिन आगेके लिए यह ध्यान रखना अच्छा होगा कि जब शंका हो तब पिछले पतेपर पत्र लिखा जाये।

एक भाई द्वारा दिये गये साथके कागजमें तुम्हारी दिलचस्पी होगी।

सस्नेह,

बापू

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५१९४) से।
सौजन्य : मीराबहन

२११. पत्र : मणिबहन पटेलको

[सोदपुर]
सोमवार [३ जनवरी, १९२७][1]

चि० मणि,

मैंने तुम्हारे पत्रोंकी उम्मीद रखी थी, परन्तु एक भी नहीं मिला। आशा है, तुम्हारा मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा होगा। संस्कृतकी पढ़ाई खूब चल रही होगी। मुझे ब्यौरेवार उत्तर लिखना। ६ तारीखतक कोमिल्लामें रहूँगा। ९ तारीखतक काशीमें। काशीका पता—गांधी आश्रम, बनारस छावनी, करना। बापूको पत्र लिखना। मालूम हुआ है कि वे तुम्हारी चिन्ता कर रहे हैं। हम सब मजेमें हैं।

बापूके आशीर्वाद

श्रीमती मणिबहन
सत्याग्रह आश्रम
वर्धा, बी० एन० रेलवे

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

१. साधन-सूत्रके अनुसार।

२१२. पत्र : आश्रमकी बहनोंको

सोदपुर
सोमवार, मार्गशीर्ष अमावस्या [३ जनवरी, १९२७]

प्यारी बहनो,

इस बार मुझे अभीतक तुम्हारा साप्ताहिक पत्र मिला नहीं है। आज हम खादी प्रतिष्ठान द्वारा ली गई जमीनपर बने नये मकानोंमें हैं। यहाँ बहुत सारे नये मकान बनाये गये हैं। ये सबके-सब नौ महीनोंमें तैयार हुए हैं। यहाँ ही अब यन्त्रोंके द्वारा खादी धोने, सफेद करने और रंगनेका काम चलता है। कल यहाँ भारी सभा हुई थी। इसमें बहुत सारे लोगोंने भाग लिया। मुझे लगा कि मुझे लोगोंसे चन्दा इकट्ठा करना चाहिए। मैंने माँगा और लगभग ३,५०० रुपये जमा हो गये।

यहाँ हम जिस तरहसे प्रार्थना करते हैं, उसी तरह प्रार्थना होती है। श्लोकोंका पाठ भी किया जाता है। लेकिन हमारी अपेक्षा ये लोग ज्यादा बेसुरा गाते हैं इसलिए कर्ण-कठोर लगता है, लेकिन धीरे-धीरे इसमें सुधार हो जायेगा।

पेरीनबहन, मीठूबहन और जमनाबहन अभीतक साथ हैं। वे अपना खादीका काम करती जाती हैं। वे जो खादी अपने साथ लाई थीं उसमें से आधी खादी वे बेच चुकी हैं।

तुम सब नियमित रूपसे प्रार्थना करती हो, यह बहुत अच्छी बात है; मैं यह भी देखता हूँ कि प्रार्थनामें उपस्थिति ठीक है।

कातना यज्ञ है, यह न भूलना। 'गीता' में कहा गया है कि यज्ञ किये बिना जो अन्न खाता है वह चोरी किया हुआ अन्न खाता है। यज्ञ अर्थात् परोपकारकी दृष्टिसे किया हुआ काम। ऐसा सार्वजनिक कार्य हमने चरखा माना है।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० ३६३३) की फोटो-नकलसे।

२१३. पत्र : प्रभाशंकर पट्टणीको

गाड़ीमें
४ जनवरी, १९२७

सुज्ञ भाईश्री,

आपने लिखा है कि मैं केवल [पत्रकी] पहुँच ही न लिखूं और पूछा है कि मैं काठियावाड़ कबतक पहुँच रहा हूँ। अब तो मुझे उत्तर देना ही होगा। उम्मीद तो यह है कि मैं मार्च मासके आरम्भमें वहाँ पहुँचूंगा।[1]

स्वास्थ्यकी देखभाल कीजिएगा।

मोहनदासके वन्देमातरम्

[पुनश्च :]

हिन्दू अब्दुल रशीदको[2] माफ कर दें तो और क्या चाहिए?

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ३२१०) की फोटो-नकलसे।
सौजन्य : महेश पट्टणी

२१४. पत्र : रामदास गांधीको

मंगलवार [४ जनवरी, १९२७][3]

चि० रामदास,

मैं यह पत्र गाड़ीपरसे लिख रहा हूँ। तौलियोंके लिए पट्टणी साहब आदिको . . .।[4] काठियावाड़में अस्पताल तो बहुत हैं; वहाँ तौलियोंकी खपत हो सकती है। गोंडलके बाद क्या तुमने खादी खरीदी ही नहीं अथवा कही औरसे खरीदी? बुआजीके किरायेके [रुपयोंके लिए] व्यवस्था कर रहा हूँ। वे निराश्रय भटकती फिरें, ऐसा नहीं होने दूँगा। मणिलाल[5] आश्रम जा रहा है।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० ६८५२) की फोटो-नकलसे।

१. काठियावाड़ राजनीतिक परिषद् मार्चमें पोरबन्दरमें होनेवाली थी।
२. स्वामी श्रद्धानन्दका हत्यारा।
३. डाककी मुहरसे।
४. मूलमें यहाँ कुछ शब्द छूटे हुए हैं।
५. मणिलाल गांधी इस समय दक्षिण आफ्रिकासे भारत वापस आये थे।

२१५. भाषण: प्रार्थना सभामें[1]

[५ जनवरी, १९२७][2]

आपकी संस्थाएँ[3] अग्रदूत हैं, ये जमनोत्री और गंगोत्रीके समान हैं। इसलिए इन्हें भी उन दो प्रवाहोंकी ही तरह पवित्र बनायें। जब मैं इनके विषय में सोचता हूँ तब मुझे ऐसा लगता है, मानो दो सुन्दर घोड़े एक-दूसरेसे स्पर्धा करते हुए, बड़े वेगसे एक साथ खादीके रथको खींचे चले जा रहे हैं। इस अर्थमें आपकी सफलता अद्वितीय है कि आपने अपने मालकी बिक्रीके लिए अपने प्रान्तके बाहरके लोगोंकी सहायता नहीं ली है। आपने बंगालके स्त्री-समाजको अपनी इच्छाके अनुसार ढाल लिया है और आज वे आपके द्वारा तैयार की गई साड़ियोंको पहननेमें गर्वका अनुभव करती हैं। इसके लिए वे प्रशंसाकी पात्र हैं। तो अब आप एक-दूसरेकी खूबियों और खामियोंको अपनी मानिए; अपनी कठिनाईकी घड़ियोंमें खादी प्रतिष्ठान, अभय आश्रमसे सहायता ले और अभय आश्रम, खादी प्रतिष्ठानसे।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया १३-१-१९२७

२१६. भाषण: ग्रामीणोंकी सभा, कोमिल्लामें

५ जनवरी, १९२७

महात्माजी अपने दलके साथ आश्रमके निकटवर्ती दो गाँवों, राजापुरा और मुरादपुरमें गये जहाँ नामशूद्र रहते थे। उन्होंने उनके निवासियोंके सामने हिन्दीमें भाषण किया। . . . उन्होंने कहा, आप लोग अपनेको किसीसे नीचा न समझें, और तथाकथित ऊँची जातिवालोंकी बुराइयोंकी नकल न करें। आप लोग शराब पीना छोड़ें और सादा तथा ईमानदारीका जीवन व्यतीत करें। महात्माजीने खद्दरके महत्व और उपयोगितापर विशेष जोर दिया और लोगोंसे कहा कि वे अभय आश्रमके सदस्योंका उदाहरण अपनायें। . . .

[अंग्रेजीसे]

अमृतबाजार पत्रिका, ७-१-१९२७

१. गांधीजीने यह भाषण अभय आश्रम, कोमिल्लाकी प्रार्थना सभामें दिया था। इस संस्थाको डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी चलाते थे। इस आश्रमके अन्तर्गत अस्पृश्योंके लिए सात स्कूल चल रहे थे और एक खादी भण्डार भी इसमें था। इस प्रार्थना-सभामें दिये गये प्रवचनका केवल अन्तिम अंश ही उपलब्ध है।

२. यह रिपोर्ट महादेव देसाईके "साप्ताहिक पत्र" से ली गई है। उसमें कोई तिथि नहीं दी गई है। लेकिन इसे ५ जनवरीको हुई सार्वजनिक सभाकी रिपोर्टसे पहले स्थान दिया गया है।

३. तात्पर्य खादी प्रतिष्ठान और अभय आश्रमसे है।

२१७. भाषण : कोमिल्लाकी सार्वजनिक सभामें[1]

५ जनवरी, १९२७

आपने हिन्दीमें बोलनेकी अनुमति देकर मुझपर बहुत कृपा की है। आपके सम्मुख दो शब्द अंग्रेजीमें भी कह देना चाहता हूँ, किसी और कारणसे नही तो इस कारणसे कि मैं आपकी कृपाके लिए आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ। मुझे जब कभी अपने देशवासियोंकी सभामें अंग्रेजीमें बोलनेके लिए बाध्य होना पड़ता है तभी मैं अपमान और लज्जाका अनुभव करता हूँ। मैंने बंगालियोंकी सभाओंमें बंगालियोंसे अनेक बार अनुरोध किया है कि वे मेरी वफादारीको बेजा कसौटीपर न कसें, स्वयं भारतमातापर अनुचित भार न डालें। विन्ध्य पर्वतमालाके उत्तरमें रहनेवाले भारतीयोंके लिए एक महीनेमें हिन्दी सीख लेना बहुत ही सुगम है। आप इस दिशामें प्रयत्न करके देखिए और तब मुझे बताइए कि जो-कुछ मैं कहता हूँ वह सच है या नही। हमें यह नहीं कहना चाहिए कि हमारी मातृभाषा केवल बंगला, गुजराती या पंजाबी है। ये प्रान्तीय भाषाएँ हैं। जब हम वन्देमातरम् गीत गाते हैं तब वह भारत माताको या समस्त भारतको निवेदित किया जाता है। जब बंकिमने इस भावपूर्ण गीतको लिखा था तब उन्होंने उसमें "सप्तकोटि भुजै" कहा था। किन्तु आपने और अन्य लोगोंने सोच-विचारकर उसके स्थानमें "द्वित्रिशत्कोटि भुजै" कहा और यह उचित भी था। आपका "द्विंत्रिशत्कोटि भुजै" कहना उचित और शोभास्पद है, और समस्त भारतका उस सुन्दर गीतको स्वीकार करना भी उचित और शोभास्पद है। तब क्या हम उसके अनुसार आचरण न करेंगे और सम्पूर्ण हृदयसे उस गीतको गाते हुए यह नही कहेंगे कि हम सब केवल बंगालकी नही, बल्कि भारतमाताकी सन्तान हैं? इसलिए मैं आपसे कहता हूँ कि मैं जब अगली बार यहाँ आऊँ या आप जब मुझे अगली बार यहाँ बुलायें, आप मुझसे हिन्दीमें ही भाषण करनेका आग्रह करें। यह तो हुई एक बात।

हमने कांग्रेसका पिछला अधिवेशन देख लिया है। हमारे नेताओंने ब्रह्मपुत्रके पुनीत तटपर उन सुन्दर हरे-भरे पेड़-पौधों और दृश्योंके बीचमें, जिनकी सुन्दरताकी उपमा संसारमें शायद ही मिले, परस्पर विचार-विमर्श किया। उन्होंने विधान परिषदोंके सम्बन्धमें एक कार्यक्रम तैयार किया है। किन्तु ऐसे लोग हममें से कितने हैं जो उस कार्यक्रमके अमलमें प्रत्यक्ष भाग ले सकते हैं? हममें से कितने लोग विधान परिषदोंमें और विधान सभा में जा सकते है? हममें से कितने लोग इन विधायक संस्थाओंके सदस्योंके चुनावोंमें मत दे सकते हैं? क्या भारतके करोड़ों ग्रामीणोंको मत देनेका अधिकार दे दिया गया है? भारत इन १०-२० बड़े-बड़े नगरोंमें ही रहता है या ७ लाख गाँवोंमे रहता है? तब ऐसा कार्यक्रम कौन-सा है जो इस १,९०० मील लम्बे और १,५०० मील

१. सभा महेश-प्रांगणमें हुई थी।

चौड़े देशमें फैले हुए ७००,००० गाँवोंमें आबाद ३० करोड़ लोगोंको परस्पर जोड़ सकता है? ऐसा कौन-सा काम है जिसे भारतका हरएक ग्रामीण, स्त्री-पुरुष और बालक, हिन्दू और मुसलमान कर सकता है और उससे लाभ उठा सकता है तथा इसके साथ-साथ समस्त भारतकी भी उन्नति कर सकता है? इसका एकमात्र और असन्दिग्ध उत्तर है चरखा और खद्दर। यदि हम लोग चाहें तो खादीका सन्देश दूर-दूरतकके गाँवोंमें पहुँच सकता है। भारतके करोड़ों ग्रामीण, जो बिलकुल निर्धन हो गये हैं, जो विदेशियोंके पैरों तले ही नहीं, बल्कि आपके और मेरे पैरों तले भी कुचले जाकर धूलमें मिल गये हैं, चरखा चला सकते हैं। हम शहरोंमें रहनेवाले लोग इन करोड़ों ग्रामीणों की पैदा की हुई सम्पत्तिसे और उनके श्रमसे अपना निर्वाह कर रहे हैं; हम अमेरिकियों या अंग्रेजोंकी तरह एशियाई जातियोंके या संसारकी कथित दुर्बल जातियोंके शोषणपर जीवित नहीं रहते। यदि ये लोग भी भारत, चीन, आफ्रिका और संसारके अन्य भागोंका शोषण न कर सकते तो इनको भी चरखेका या ऐसे ही किसी अन्य साधनका आश्रय लेनेके लिए बाध्य होना पड़ता। हम उनका शोषण नहीं करते, क्योंकि हममें उनका शोषण करनेकी सामर्थ्य नहीं है; अभी हमें मजबूरन् यह नेकी बरतनी पड़ रही है। किन्तु मुझे आशा है कि ऐसा समय आ रहा है जब हम अपने हृदयकी उदारताके कारण, एक व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोणके कारण अपने ही मनकी प्रेरणासे किसी राष्ट्रका, फिर वह चाहे जितना कमजोर क्यों न हो, शोषण करना बुरा मानेंगे। मुझे आशा है कि हम लोग अपने जीवनकालमें ही स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेंगे और जब हम उसे प्राप्त कर लेंगे तो हम संसारकी समस्त जातियोंसे कहेंगे कि उन्हें हमसे डरनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि हम संसारकी तथाकथित सभ्य जातियोंसे सदा डरते रहे हैं। सम्भव है, आज आप मेरी बातपर विश्वास न करें। आप चाहें तो मुझे पागल कह सकते हैं। किन्तु वह समय आ रहा है जब आप कहेंगे कि बूढ़ा ठीक ही कहता था, और यदि भारतके शहरोंमें नहीं, बल्कि गाँवोंमें समृद्धि लानी है तो भारतकी समृद्धि और स्वतन्त्रताका एक-मात्र साधन चरखा ही है।

आपने गौहाटीमें जो दृश्य देखा उसका कारण यही है। मैं इसकी आशा नहीं करता था और बहुत चाहनेपर भी मैंने उसकी माँग नहीं की थी। किन्तु आपने गौहाटीमें यह असाधारण दृश्य देखा कि कांग्रेसने खादीके आधारपर अपने मताधिकारमें संशोधन किया। मैं जानता हूँ कि इस प्रश्नपर काफी विवाद था। किन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि मताधिकारमें जो यह सुधार किया गया, वह जन-साधारणकी इच्छाके आगे मजबूर होकर किया गया। नेताओंने यह सुधार इसलिए किया कि उन्होंने यह देख लिया कि ग्रामीणोंके हृदयतक केवल खादीके जरिये ही पहुँचा जा सकता है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि स्वराज्यवादी चुनावोंमें खद्दरके कारण ही जीते। शायद आप न जानते हों, या जानते भी हों कि मद्रासमें जो लोग खद्दरके विरोधी थे उनको भी मतदाताओंसे अपील करते वक्त खादीको अपनानेके लिए बाध्य होना पड़ा था और ज्यों-ज्यों दिन बीतते जायेंगे त्यों-त्यों आप देखेंगे कि खादी-का महत्त्व बढ़ रहा है, क्योंकि खादीमें अपने सहज गुण हैं, क्योंकि राष्ट्रके किसी भी

सावजनिक संगठनमें इतने निःस्वार्थ, योग्य, युवा और शिक्षित लोग काम नहीं करते रहे हैं जितने खादी-संगठनमें, क्योंकि दूसरा कोई भी संगठन ऐसा नही है जो उन लगभग असंख्य देशभक्त युवकोंको काम दे सके, जो केवल जीवन-यापनके एक सम्मान-जनक धन्धेसे ही सन्तुष्ट हो सकते हैं और जो ग्रामीण भाइयोंके निकट सम्पर्कमें रह कर उन्हींके जैसा रूखा-सूखा खाने और उनके सुख-दुखके सच्चे भागीदार बननेमें ही परम सन्तोष मानेंगे। क्या आप दूसरा कोई भी संगठन बता सकते हैं जिसमें इतनी क्षमता हो?

आप मेरा विश्वास कीजिए, खादी-धर्म मर नहीं रहा है। खद्दरके प्रति लोगोंका उत्साह कम नहीं हो रहा है। पाँच सालका अनुभव बताता है कि वह निःसन्देह धीरे-धीरे किन्तु लगातार और आशाजनक रूपसे बढ रहा है। इसके सिवा दूसरी बात हो भी नही सकती थी। चूँकि भारतको खादीकी आवश्यकता है, चूँकि भारतके करोड़ों लोगोंको अपनी शक्ति कायम रखनेके लिए पर्याप्त साधनकी आवश्यकता है, इसलिए कांग्रेसने प्रस्ताव पास करके यह आवश्यक कर दिया है कि कांग्रेसजन केवल सभा-समारोहोंके अवसरोंपर ही नही, बल्कि सदा खादी पहनें। वे यदा-कदा मिलोंका कपड़ा पहन सकते हैं, किन्तु तभी जब निर्वाहके लिए यह नितान्त आवश्यक हो जाये। किन्तु यदि वे सच्चे कांग्रेसी हैं तो वे सदा हाथ-कते सूतकी हाथ-बुनी खादीके सिवा दूसरा कोई कपड़ा नही पहन सकते।

और अब दो शब्द अस्पृश्यताके सम्बन्धमें कहूँगा। स्वामी श्रद्धानन्दजी बहुत ही वीर और देशभक्त पुरुष थे। उन्होंने अस्पृश्योंके लिए अपने प्राण दे दिये। वे अस्पृश्योंको अपने प्राणोंके समान प्यार करते थे। वे उन्हें अपनी ही सन्तान मानते थे और यदि उनका वश चलता तो वे अस्पृश्यताको भारतसे मिटा देते। और अस्पृश्यताको मिटानेका क्या अर्थ है? उसका अर्थ है सबसे प्यार करना, उसका अर्थ है 'भगवद्गीता' के इस महान् सन्देशको कार्य रूप देना: 'यदि तुम ईश्वरको जानना चाहते हो तो ब्राह्मण और भंगीसे समान व्यवहार करो।' लेकिन उन दोनोंमें क्या समानता है? ब्राह्मण विद्वत्तामें भंगीसे सदा ही श्रेष्ठ होता है और मैं उन दोनोंसे समान व्यवहार कैसे करूँ? 'भगवद्गीता' बताती है कि तुम उनसे वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो कि वे तुमसे करें अथवा जैसा तुम स्वयं अपने-आपसे करना चाहते हो।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति'

'भगवद्गीता' की शिक्षा भी यही है। उस वीर शहीदने अपने जीवनमें इसी शिक्षा को कार्य-रूप दिया और वह उसके बलिदानसे पवित्र हो गई है। उन्होंने इसपर अपने रक्तकी मुहर लगा दी है। तो अब हम ऐसा करें जिससे वह रक्त हम सबको शुद्ध करे, जिससे हमारे मनमें अपने उन भाइयोंके प्रति, जिन्हें हम अहंकारवश अस्पृश्य कहते हैं, अलगाव या पृथक्ताका जो भाव हो उसकी आखिरी निशानीतक मिट जाये। ये लोग अछूत नहीं हैं, अछूत हम हैं। वे जितना ध्यान, जितना स्नेह दिये जानेके पात्र हैं, हम उन लोगोंको उतना ध्यान, उतना स्नेह देकर तो दिखायें। जब मैं

कोमिल्ला गया था, तब मैंने वहाँके दो गाँव देखे थे। इन गाँवोंमें ज्यादातर तथा-कथित अछूत लोग ही रहते हैं। यदि लोग मुझे न बताते तो मैं यह समझ ही नहीं सकता था कि जिन लोगोंको मैं देख रहा हूँ, वे अछूत हैं। मुझे उनमें और पास खड़े दूसरे लोगोंमें कोई अन्तर दिखाई नहीं दिया। वे ऐसे ही खाते-पीते और अनुभव करते हैं, जैसे हम। अगर हम लोग उनके गुण-दोषों और उनकी असुविधाओंका खयाल करें और उनकी तुलना अपने गुण-दोषों और अपनी सुविधाओंसे करें तो निश्चय ही हम पायेंगे कि ईश्वरके खातेमें हमारी बुराइयोंका लेखा उनकी बुराइयोंके लेखेसे ज्यादा बड़ा होगा। इसलिए हमें धरतीपर किसी भी मनुष्यको अस्पृश्य न मानना चाहिए। हमें दक्षिण आफ्रिकासे भी यही शिक्षा मिली है। वहाँ ईश्वर हमसे बिलकुल ठीक बदला ले रहा है। हम अपने भाइयोंके साथ जैसा व्यवहार यहाँ कर रहे हैं, वैसा ही व्यवहार हमारे सगे-सम्बन्धियोंके साथ दक्षिण आफ्रिकामें किया जा रहा है। वहाँ हमारे साथ पंचमों और भंगियोंके जैसा बरताव हो रहा है। हम अपने इस पापको जिस क्षण धो डालेंगे, हम इस अस्पृश्यताके अभिशापसे जिस क्षण मुक्त हो जायेंगे, आप देखेंगे कि दक्षिण आफ्रिकामें बसे हुए हमारे देशवासियोंके बन्धन उसी क्षण टूट जायेंगे।

मैं हिन्दू-मुस्लिम एकताकी समस्याको छेड़नेका साहस नहीं करता। यह मनुष्यके हाथोंसे निकल गई है और इसका उपाय अब केवल ईश्वरके हाथोंमें है। जैसे द्रौपदीको उसके पतियोंने, मनुष्योंने और देवताओंने त्याग दिया था और उसने केवल ईश्वरसे ही सहायताकी प्रार्थना की थी और ईश्वरने उसको सहायता दी थी, वैसी ही दशा मेरी है; हममें से हरएकको ऐसा ही सोचना चाहिए। हमें सर्वशक्तिमान ईश्वरसे ही सहायता माँगनी चाहिए और उसीसे कहना चाहिए कि उसकी सृष्टिके हम तुच्छ प्राणी अपने कर्त्तव्यका पालन नहीं कर सके हैं। हम एक-दूसरेसे घृणा करते हैं, हम एक-दूसरेका अविश्वास करते हैं, हम एक-दूसरेका गला पकड़ते हैं और एक-दूसरेकी हत्या भी कर देते हैं। हमें उसी प्रभुसे हार्दिक पुकार करनी चाहिए कि वह हमारे हृदयोंसे इस घृणाको दूर करके उन्हें शुद्ध बनाये। हम एक-दूसरेका अविश्वास करके और एक-दूसरेसे डरकर उसकी इस पृथ्वीको, उसके नामको और इस पवित्र देशको बदनाम कर रहे हैं। यद्यपि हम इसी मातृभूमिकी सन्तान हैं, इसीका अन्न खाते हैं, फिर भी हमारे मनोंमें एक-दूसरेके लिए गुंजाइश नहीं है। हमें ईश्वरसे पूर्ण विनम्रताके साथ प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमें समझ और ज्ञान दे।

आपने मेरी बात बहुत ध्यानसे सुनी है। मैंने भी आपको वही चीज दी जो मैं प्रसन्न-भावसे श्रोताओंको नहीं देता अर्थात् मैंने अंग्रेजीमें भाषण दिया और सो भी किसी हदतक लम्बा भाषण दिया। अब मैं आपसे इसका प्रतिदान माँगता हूँ। मैं चाहता हूँ कि आप कल अभय आश्रममें आयें और उसके गोदाममें जितनी खादी हो, उस सबको खरीदकर गोदाम खाली कर दें। मैं तभी समझूँगा कि आपने मेरा सन्देश, भारतके गरीबोंका सन्देश अच्छी तरह समझा है। वहाँ आप गरीबोंके लिए और खुद आपके लिए काम करते हुए कुछ कार्यकर्त्ताओंको देखेंगे। ये लोग आपके और गाँवके लोगोंके

बीचकी कड़ी है। ये अपनी शक्ति-भर मातृभूमिकी सेवा करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। मै चाहता हूँ कि आप अपनी जेबोमें हाथ डालें और जो-कुछ आपके पास हो वह मुझे दे दें। किन्तु आप जितना दे सकते हैं और जितना देना चाहते हैं, उतना ही दे। आप शर्मके कारण या आप सभामें हैं, इस संकोचमें आकर और मेरे दबावसे कुछ न दें। आप मेरे ऊपर कृपा दिखानेके लिए या मेरे प्रेमके कारण भी कुछ न दें। यदि आप मुझे अपना प्रेम देंगे तो मैं उसका उपयोग दूसरे कामके लिए करूँगा। किन्तु मैं चाहता हूँ कि आप जो-कुछ दे सकते हैं और जो-कुछ आपके पास है, वह गरीबोंके लिए दें, उन लोगोंके लिए दें जिन्हें दिनमें एक वक्त भी पूरा खाना नही मिलता। यदि आपको यह सन्तोष हो कि इस संस्थाका काम ठीक तरहसे, योग्यतासे और त्याग-भावसे किया जा रहा है, यदि आपको यह विश्वास हो कि खादी पहनना पाप नही है और अपने देशके भूखे मरते हुए लोगोंके हाथोसे कते हुए सूतकी खादी पहनना अनुचित नही है, बल्कि उचित और आवश्यक है तो आप अपना रुपया, पैसा और सोना, जो भी आपके पास हो मुझे दें।

यदि आपको इस सम्बन्धमें कोई सन्देह हो, इस मामलेमें आपको शंकाएँ हो तो मैं आपसे कहता हूँ कि आप अपना हाथ रोक लें और मुझे एक पाई भी न दें। आपका मन इस सन्देशको आज नही तो भविष्यमें कभी जरूर स्वीकार करेगा। और अगर आपको विश्वास हो कि यह ठीक काम है, किन्तु कदाचित् आपमें इस सन्देशको पूरी तरह अंजाम देनेकी शक्ति न हो, तो आप इस महान्, वास्तवमें महानतम् राष्ट्रीय-उद्योगको अपनी सहायता दें, क्योंकि भारतके गाँवोमें उद्योगोंका प्रचार चरखेसे जितनी अच्छी तरह हो सकता है उतनी अच्छी तरह अन्य किसी उपायसे नहीं हो सकता। उन करोड़ों भारतीयोके लिए, जो वर्षमें कमसे-कम चार महीने बेकार रहते हैं, जो पूरे भोजनके अभावमें भूखसे तड़प रहे हैं और जिनके लिए प्रतिदिन एक आनेकी आय भी वरदान है, चरखेसे अच्छा या अधिक कारगर, बल्कि मैं तो कहूँगा कि उसकी बराबरीका भी उपाय आजतक कोई व्यक्ति नही सुझा सका है। मैं आपसे उन्हीके लिए प्रार्थना करता हूँ। ईश्वर इस सीधे-सादे सन्देशको समझनेमें आपकी सहायता करे।

आपको याद होगा कि जब मैं पिछली बार बंगाल आया था तब मैंने अखिल-बंगाल देशबन्धु स्मारकके लिए धन इकट्ठा किया था।[1] वह धन अब जिसे सेवासदन कहते है उसके लिए था। मैंने तब यह घोषित किया था कि समय आनेपर मैं अखिल भारतीय देशबन्धु स्मारकके लिए भी धन इकट्ठा करूँगा। आप जानते हैं कि उसका उद्देश्य चरखेके सन्देशका प्रचार करना है। इस प्रकार यदि आप खादीके लिए धन देंगे तो उसका मतलब होगा कि आपने स्मारकके लिए ही धन दिया।

[अंग्रेजीसे]
अमृतबाजार पत्रिका, ७-१-१९२७
यंग इंडिया, १३-१-१९२७

१. देखिए खण्ड २७, पृष्ठ २८७-८८।

२१८. स्वामीजीके संस्मरण

स्वामीजीसे मेरा पहला परिचय तब हुआ था जब वे महात्मा मुंशीरामके नामसे प्रसिद्ध थे। वह परिचय भी पत्रोंके जरिये हुआ था। उस समय वे काँगड़ी गुरुकुलके प्रधान थे। गुरुकुल शिक्षाके क्षेत्रमें उनका महान् मौलिक योगदान है। वे पश्चिमकी रूढ़िवादी शिक्षा पद्धतिसे सन्तुष्ट न थे। अपने छात्रोंमें वे वैदिक शिक्षाका प्रचार करना चाहते थे और वे हिन्दी माध्यमसे पढ़ाते थे, अंग्रेजी माध्यमसे नहीं। वे चाहते थे कि अपने शिक्षा-कालमें विद्यार्थी ब्रह्मचर्यका पालन करें। दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रहियोंके लिए उस समय जो धन इकट्ठा किया जा रहा था, उसमें चन्दा देनेके लिए उन्होंने लड़कोंको उत्साहित किया था। वे चाहते थे कि लड़के खुद कुली बनकर, मजदूरी करके चन्दा दें क्योंकि दक्षिण आफ्रिकाका वह युद्ध कुलियोंका युद्ध ही था। लड़कोंने यह सब पूरा कर दिखाया और स्वयं कमाई हुई पूरी मजदूरी मेरे पास भेजी। इस विषयमें स्वामीजीने मुझे जो पत्र भेजा था, वह हिन्दीमें था। उन्होंने मुझे 'मेरे प्रिय भाई' कहकर सम्बोधित किया था। इस बातने मुझे महात्मा मुंशीरामका प्रेमी बना दिया। इससे पहले हम दोनों कभी मिले नहीं थे।

एन्ड्रयूज हम लोगोंके बीचके सूत्र थे। उनकी इच्छा थी कि जब कभी मैं देश लौटूं, उनके तीनों मित्रों,—कवि ठाकुर, आचार्य रुद्र और महात्मा मुंशीरामसे परिचय प्राप्त करूँ।

वह पत्र पानेके बाद हम दोनों एक ही सेनाके सैनिक बन गये। १९१५ में हम दोनों उनके प्रिय गुरुकुलमें मिले और उसके बादसे हर मुलाकातमें हम दोनों परस्पर निकट आते गये और एक दूसरेको ज्यादा अच्छी तरह समझने लगे। प्राचीन भारत, संस्कृत और हिन्दीके प्रति उनका प्रेम असीम था। बेशक, असहयोगके पैदा होनेके बहुत पहलेसे ही वे असहयोगी थे। स्वराज्यके लिए वे अधीर थे। अस्पृश्यतासे वे नफरत करते थे और अस्पृश्योंकी स्थिति ऊँची करना चाहते थे। अस्पृश्योंकी स्वाधीनतापर कोई बन्धन उन्हें सह्य नही था।

जब रौलट अधिनियमके विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ तो उस आन्दोलनका स्वागत करनेवालोंमें वे सबसे पहले थे। उन्होंने मुझे बहुत ही प्रेमसे भरा एक पत्र भेजा। किन्तु वीरमगाम और अमृतसर-काण्डके बाद सत्याग्रहका स्थगित किया जाना वे नहीं समझ सके। उस समयसे हमारे बीच मतभेद शुरू हुए किन्तु उनसे हमारे भाई-भाईके सम्बन्धमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ा। उस मतभेदसे मुझपर उनका बाल-सुलभ स्वभाव प्रकट हुआ। परिणामका विचार किये बिना ही वे जो सत्य समझते थे, कह देते थे। वे अति साहसिक थे। समय बीतनेके साथ-साथ मेरे सामने हम दोनोंके स्वभावका अन्तर स्पष्ट होता गया किन्तु उससे तो उनकी आत्माकी शुद्धता ही सिद्ध हुई। जैसा सोचना, वैसा ही कहना कोई दोष नहीं है। यह तो एक गुण है। यह तो सत्यप्रियताका सर्वप्रधान लक्षण है। स्वामीजी मनकी बात स्पष्ट कहते थे।

[सत्याग्रह-स्थगन सम्बन्धी] बारडोलीमें किये गये निश्चयने उनका दिल टूट गया। मेरी तरफसे वे निराश हो गये। उनका प्रकट विरोध बहुत जबर्दस्त था। मेरे नाम उनके निजी पत्रोंमें और भी जोरदार विरोध होता था। किन्तु जितना जोरदार उनका विरोध होता था उतना ही जोरदार उनका प्रेम भी होता था। अपने प्रेमका विश्वास केवल पत्रोंमें ही दिला देनेसे वे सन्तुष्ट न थे। मौका मिलनेपर उन्होंने मुझे ढूंढ निकाला और मुझे अपनी स्थिति समझाई और मेरी स्थिति समझनेकी भी कोशिश की। मगर मुझे मालूम होता है कि मुझे ढूंढ निकालनेका असली कारण यह था कि वे मुझे विश्वास दिला सकें कि एक छोटे भाईके समान मुझपर उनकी प्रीति जैसीकी-तैसी बनी हुई है — गोया यह विश्वास दिलानेकी कोई जरूरत थी!

आर्य समाज और उसके संस्थापकके[1] सम्बन्धमे मेरे कथनोंसे[2] और स्वयं उनके बारेमें मेरी उक्तियोंसे उन्हें बहुत गहरी ठेस लगी, परन्तु हमारी मित्रतामें इस धक्केको सह लेनेको शक्ति थी। वे समझ नही पाते थे कि महर्षिके विषयमें मेरी सामान्य धारणा और अपने व्यक्तिगत शत्रुओंके प्रति ऋषिकी असीम क्षमाका एक साथ मेल कैसे बैठ सकता है। महर्षिमें उनकी इतनी अधिक श्रद्धा थी कि उनपर या उनकी शिक्षाओंपर कोई भी टीका वे सहन नही कर सकते थे।

शुद्धि आन्दोलनके लिए मुसलमानोके पत्रोंमें उनकी बड़ी कड़ी आलोचना और निन्दा की गई है। स्वयं मैं उनके दृष्टिकोणको स्वीकार नही कर सका था। अब भी मैं उसे स्वीकार नही करता। किन्तु मेरी रायमें उनके दृष्टिकोणसे उनकी स्थिति पूरी तरह अभेद्य थी। जबतक शुद्धि और तबलीग नैतिकता और वैधताकी मर्यादाके भीतर रहें, तबतक दोनों ही बराबर छूटके अधिकारी है। लेकिन यह अवसर इस अत्यन्त विवादग्रस्त विषयपर विचार करनेका नही है। तबलीगमें और शुद्धिमें, जो उसका जवाब है, आमूल परिवर्तन करना होगा। संसारके धर्मोके उदार अध्ययनमें उन्नति होनेके साथ-साथ शुद्धि या धर्म-प्रचारका वर्तमान बेढंगा तरीका, जो तत्त्वसे अधिक रूपपर ही ध्यान देता है, निश्चय ही बिलकुल बदल जायेगा। यह तरीका तो एक दलकी अधीनताको छोड़ कर दूसरे दलमें जा मिलना है और एक-दूसरेके धर्मको गाली देना है। इसीसे परस्पर घृणा फैलती है।

अगर हम हिन्दू और मुसलमान दोनों, शुद्धिका आन्तरिक अर्थ समझ सकें तो स्वामीजीकी मृत्युसे भी लाभ उठाया जा सकता है।

एक महान् सुधारकके जीवनके संस्मरणोंको मै सत्याग्रहाश्रममें उनके कुछ ही महीनों पहलेके आखिरी आगमनकी बातकी चर्चा किये बिना खत्म नही कर सकता। मुसलमान मित्रोंको मैं विश्वास दिलाता हूँ कि वे मुसलमानोंके दुश्मन नही थे। वे बेशक कुछ मुसलमानोंका विश्वास नही करते थे। किन्तु उन लोगोंसे उनको द्वेष नही था। उनका खयाल था कि हिन्दू दबा दिये गये है और उन्हें बहादुर बनकर अपनी और

१. स्वामी दयानन्द।
२. देखिए खण्ड १४।

अपनी इज्जतकी रक्षा करने योग्य बनना चाहिए। इस बारेमें उन्होंने मुझसे कहा था कि मेरे विषयमें बड़ी गलतफहमी फैली हुई है। मेरे विरुद्ध कही जानेवाली कई बातोंमें मैं बिलकुल निर्दोष हूँ। मेरे पास धमकीके कितने ही पत्र आया करते हैं। मित्रगण उन्हें अकेले चलनेसे मना करते थे। मगर यह परम आस्तिक पुरुष उनको यह जवाब दिया करता था: "ईश्वरकी रक्षाके सिवा मैं और किसकी रक्षाका भरोसा करूँ? उसकी आज्ञाके बिना एक तिनका भी नहीं हिलता। मैं जानता हूँ कि जबतक इस देहके द्वारा वह मुझसे सेवा लेना चाहता है, मेरा बाल भी बाँका नहीं हो सकता।"

आश्रममें रहते समय उन्होंने आश्रमकी पाठशालाके लड़के-लड़कियोंसे बातें की थीं। उनका कहना था कि हिन्दू धर्मकी सबसे बड़ी रक्षा आत्मशुद्धिसे ही, भीतरसे ही होगी। चरित्र और शरीरके गठनके लिए वे ब्रह्मचर्यपर बहुत जोर देते थे।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ६-१-१९२७

२१९. टिप्पणियाँ

श्रद्धानन्द स्मारक

यह उचित ही है कि हिन्दू महासभाकी ओरसे स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजीकी स्मृतिको चिरस्थायी बनानेके लिए चन्देकी अपील की जाये। स्वामीजी संन्यास-धारणके बाद जिन कामोंके लिए जीते थे, हिन्दू महासभाने उन कार्योंको जारी रखनेके लिए चन्दा इकट्ठा करनेका निश्चय किया है। इस निश्चयके लिए मैं उसे साधुवाद देता हूँ। वे काम हैं, अस्पृश्यता-निवारण, शुद्धि तथा संगठन। 'अस्पृश्यता' सम्बन्धी कार्यके लिए पाँच लाख रुपयेकी अपील की गई है और पाँच-पाँच लाख रुपयोंकी ही अपील शुद्धि और संगठनके लिए। जिसे साधारणतः शुद्धि समझा जाता है, उस अर्थमें शुद्धि-आन्दोलनकी आवश्यकतामें मेरा विश्वास अब भी नहीं है। पापियोंकी शुद्धि तो एक अनवरत आंतरिक क्रिया है। जो न तो हिन्दू कहे जा सकते हैं और न मुसलमान ही, या जो हालमें ही विधर्मी करार कर दिये गये हैं मगर जो यह भी नहीं जानते कि धर्म-परिवर्तन कहते किसे हैं, और जो निश्चय रूपसे हिन्दू ही रहना चाहते हैं, ऐसे लोगोंकी शुद्धिका तरीका वास्तवमें धर्म-परिवर्तन करना नहीं है, बल्कि प्रायश्चित्त है। शुद्धिका तीसरा पहलू है धर्म-परिवर्तन। बढ़ती हुई सहिष्णुता और ज्ञानके इस युगमें मैं इसकी जरूरत नहीं मानता। मैं धर्म-परिवर्तनका विरोधी हूँ, चाहे कोई उसे हिन्दुओंमें शुद्धि, मुसलमानोंमें तबलीग या ईसाइयोंमें धर्म-परिवर्तन कहे। धर्म-परिवर्तन तो हृदयकी क्रिया है और उसे केवल भगवान् ही जान सकता है। उसे तो व्यक्तिपर ही छोड़ देना होगा। मगर धर्म-परिवर्तनपर अपने विचार व्यक्त करनेका यह स्थान नहीं है। जिनका इसमें विश्वास है उन्हें बिना किसी विरोधके अपने रास्ते चलनेका तबतक पूरा अधिकार है जबतक वे उचित सीमाओंके अन्दर रहते हैं, यानी जबतक धर्म-परिवर्तनके लिए जोर-

जबर्दस्ती या धोखे और प्रलोभनोंका सहारा नही लिया जाता और जबतक दोनों पक्षोंको पूरी स्वतन्त्रता है और वे सयानी उम्र और परिपक्व बुद्धिके हैं। इसलिए जिनका शुद्धिमें विश्वास है उन्हे इस अपीलपर सहायता देनेका पूरा अधिकार है।

संगठन वास्तवमें एक सही आन्दोलन है। अगर किसी जातिको अपना पृथक् अस्तित्व रखना है तो उसे अपना संगठन करनेका पूरा अधिकार है, बल्कि उसके लिए यह परमावश्यक है। मैं इस आन्दोलनसे इसलिए अलग रहा हूँ कि संगठनके विषयमें मेरे विचार कुछ अनोखे हैं। मेरा विश्वास संख्यासे अधिक गुणपर है। आजकल संख्यापर, यहाँतक कि गुणकी उपेक्षा करके संख्यामें विश्वास रखनेका चलन है। सामाजिक और राजनीतिक अर्थशास्त्रमें निस्सन्देह संख्याका स्थान है। बात केवल इतनी है कि मैं केवल संख्याका उस प्रकार संगठन करनेमें असमर्थ हूँ जैसा कि आजकल हो रहा है। इसलिए मेरे निकट अस्पृश्यता-निवारण सम्बन्धी कार्यके लिए चन्देकी अपीलका ही महत्त्व है। इसकी अपनी निराली ही शक्ति है। हिन्दू धर्मके सुधार और इसकी सच्ची रक्षाके लिए अछूतोद्धार सबसे बड़ी वस्तु है। इसमें सब-कुछ शामिल है और इसलिए अगर हिन्दू धर्मका यह सबसे बड़ा कलंक मिट जाये तो हमें वह सब-कुछ अपने-आप ही मिल जायेगा जिसकी आशा शुद्धि और संगठनसे की जाती है। और मैं यह इसलिए नही कहता कि अछूतोंकी, जिन्हें हरएक हिन्दूको गले लगाना चाहिए, संख्या बहुत बड़ी है किन्तु इसलिए कहता हूँ कि एक पुराने और बर्बर रिवाजको तोड़ डालनेकी समझ और समझसे उत्पन्न शुद्धिसे जो शक्ति हमें मिलेगी वह अदम्य होगी। इसलिए अस्पृश्यता-निवारण एक आध्यात्मिक क्रिया है। स्वामीजी उस सुधारके जीवन्त प्रतीक थे, क्योंकि वे आमूल सुधार करना चाहते थे। वे कोई समझौता नही कर सकते थे और न आड़े आनेवालेको वे बख्श सकते थे। अगर उनकी चलती तो वे बातकी बातमें हिन्दू धर्मसे अस्पृश्यताको समाप्त कर डालते। वे हरएक मन्दिरको, हरएक कुएँको, सबके साथ बराबरीके हक देते हुए अछूतोके लिए खोल देते और परिणामोंको झेल लेते। स्वामी श्रद्धानन्दजीके लिए मैं इससे अच्छा कोई स्मारक नही सोच सकता कि हरएक हिन्दू आजसे अपने दिलोंसे अस्पृश्यताकी अपवित्रता निकाल दे और अस्पृश्योंके साथ अपने सगोंके समान बरताव करे। किसी व्यक्ति द्वारा दी गई पैसेकी सहायता तो, मेरी समझमें, अस्पृश्यताको हिन्दू धर्मसे सदाके लिए निकाल डालनेके उसके दृढ निश्चयका चिह्न-भर होगी।

स्वामीजीको सामुदायिक और धार्मिक रूपसे श्रद्धांजलि देनेके लिए जनवरीकी ९ तारीख निश्चित की गई है। मुझे आशा है कि हर शहर, हर गाँवमें उनका श्राद्ध संस्कार मनाया जायेगा। मगर इस संस्कारमें भाग लेनेवाले यदि इसके साथ ही अपने ऊपरसे अस्पृश्यताका कलंक नही धो डालते, तो संस्कारका वास्तविक महत्त्व ही समाप्त हो जायेगा। प्रत्येक 'अछूत' को श्रद्धांजलि समारोहोंमें शामिल होना चाहिए; और क्या ही अच्छी बात होती अगर उसी दिन अछूतोंके लिए सभी मन्दिर खोल दिये जायें। अगर संगठित रूपसे उद्योग किया जाये तो उस दिन सूर्यास्तके पहले ही कोष भर जा सकता है।

खादी-शिक्षा मण्डल

अ० भा० चरखा संघकी कार्य समितिने खादी-शिक्षा मंडलमें डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र घोषका नाम इस शर्तपर रखा था कि वे उसे मंजूर कर लें। किन्तु चूँकि वे अपने प्रधान कार्यालयसे कहीं बाहर गये थे और पत्र छपनेके समयतक उनकी मंजूरी नहीं आ सकी थी, इसलिए आखिरी घड़ीमें उनका नाम लौटा लिया गया था। डाक्टर घोषने अब वह पद स्वीकार कर लिया है। पाठकोंको यह जानकर खुशी होगी कि मण्डलको एक ऐसे पुरुषकी सहायता प्राप्त होगी जिसने खादी और चरखा शास्त्रका अध्ययन किया है, और जिसे उसका व्यावहारिक अनुभव है।

हाथ-कताईपर पुरस्कृत निबन्ध

हाथ-कताई और हाथ-बुनाईपर अखिल भारतीय चरखा संघने अपना पुरस्कृत निबन्ध प्रकाशित कर दिया है। यह निबन्ध प्राध्यापक एस० वी० पुणताम्बेकर और श्रीयुत एन० एस० वरदाचारीने लिखा है। मैं इस पुस्तककी ओर खादीके कार्यकर्त्ताओं और खादीके आलोचकोंका ध्यान आर्कषित करता हूँ। मोटे टाइपमें छपी यह पुस्तक २३५ पृष्ठोंकी है और उसका आकार अठपेजी है। उसमें खादीके कार्यकर्त्ताओंको ऐसी अनेक बातें मिलेंगी जिन्हें शायद वे पहलेसे नहीं जानते। पुस्तकमें चार अध्याय हैं। पहले अध्यायमें अंग्रेजोंके आनेसे पहले, भारतके कताई और बुनाई उद्योगोंका इतिहास दिया गया है। दूसरे अध्यायमें यह बताया गया है कि भारतका सबसे बड़ा सूत कातनेका राष्ट्रीय उद्योग किस तरहसे पूर्णतः और बुनाईका दूसरा बड़ा राष्ट्रीय उद्योग किस तरह लगभग नष्ट कर दिया गया। तीसरे अध्यायमें यह बताया गया है कि हाथ-कताई और हाथ-बुनाई उद्योगोंकी उन्नतिकी कितनी सम्भावना है; और साथ ही इस अध्यायमें प्रसंगवश कारखानोंके कताई और बुनाईके उद्योगोंकी तुलना हाथके कताई और बुनाईके उद्योगोंसे की गई है। चौथे अध्यायमें यह बताया गया है कि चरखेसे समस्त विदेशी कपड़ेका बहिष्कार कैसे सम्भव है। लेखकोंने अपनी हर बातका समर्थन तथ्यों और अंकोंसे किया है।

पुस्तकका मूल्य एक रुपया है और वह अखिल भारतीय चरखा संघ, अहमदाबादके दफ्तरसे अथवा श्री एस० गणेशन, करेंट थॉट प्रेस, ट्रिप्लीकेन, मद्राससे डाक-व्यय सहित एक रुपया दो आने भेजकर मँगवाई जा सकती है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ६-१-१९२७

२२०. कांग्रेस

जब कानपुरमें असमके प्रतिनिधियों द्वारा १९२६ के कांग्रेस अधिवेशनको गौहाटीमें करनेका निमन्त्रण दिया गया था और जब कांग्रेसने उसे स्वीकार कर लिया था तब मेरे मनमें कितनी ही आशंकाएँ उठी थीं। मुझे लगा था कि कांग्रेस अधिवेशनकी दृष्टिसे असम बहुत दूर है, वहाँ संगठन भी नहीं है और प्रान्त इतना गरीब है कि अधिवेशनका खर्च बर्दाश्त नहीं कर पायेगा। गौहाटीकी आबादी सिर्फ १६००० है। ऐसी छोटी आबादीवाले किसी और शहरने कांग्रेसका अधिवेशन अपन यहाँ करनेका निमन्त्रण देनेका दुस्साहस आजतक नहीं किया था। मगर गौहाटी सबसे बाजी मार ले गया। जितने कम समयमें उसने प्राकृतिक शोभाके बीच, ब्रह्मपुत्रके किनारे खादीकी नगरी बसा दी, वह अविश्वसनीय है। कांग्रेसका विशाल मण्डप भी शुद्ध असम खादीका बना था। भिन्न-भिन्न प्रान्तोंके दर्शकों और प्रतिनिधियोंकी अलग-अलग रुचियोंका ध्यान रखते हुए स्वागत-समितिको बाहरसे आदमी और सामान मँगाने पड़े थे। नेताओंके लिए बनाये गये आवास प्रतिनिधियोंके आवाससे अलग थे। जब इस प्रकारके अलगावका मैंने विरोध किया तो मुझे बताया गया कि ऐसा जानबूझ कर नहीं किया गया है, बल्कि लाचारीसे किया गया है, क्योंकि एक ही स्थानमें इतनी जगह नहीं थी कि सभीके लिए व्यवस्था की जा सके। इन कुटीरोंकी बनावट भी अत्यन्त सरल थी — केवल असमके बाँस, असमकी मिट्टी, असमका फूस, असमकी खादी और असमकी मेहनतसे ही ब्रह्मपुत्रके किनारे वे बहुत ही साधारण और सुन्दर कुटीर खड़े किये गये थे। एक सुन्दर कुटीरमें ले जाते हुए श्री फूकनने[1] मुझसे कहा, 'अब तो आप बहुत खुश होंगे कि हम लोग आपको, जैसा कि आपने बेलगाँवमें कहा था, कुटियाके नामपर राजमहल न देकर, सचमुच एक कुटिया ही दे रहे हैं। मगर इसका श्रेय हम लोगोंको नहीं है, क्योंकि यह गुण तो अभावका है। रहनेके लिए हम आपको इससे अधिक अच्छा या बुरा स्थान दे ही नहीं सकते थे।' खैर, मुझे अभावके इस गुणसे बहुत खुशी हुई। मगर पाठक यह न सोचें कि इन कलात्मक कुटियोंमें बेलगाँवके भव्य दिखनेवाले महलोंसे कुछ कम आराम था। जहाँतक मुझे स्मरण है, दूसरे प्रबन्ध भी इसी सादगी और सुन्दरतासे किये गये थे।

स्वागताध्यक्षका भाषण भी वैसा ही सादा और सुन्दर था, इसलिए स्वभावतः छोटा भी।

सभाकी कार्यवाही ठीक घोषित समयपर ही शुरू हो गई। रीति-रस्मोंमें कोई समय नष्ट नहीं किया गया। चन्द मिनटोंमें श्री फूकनका संक्षिप्त भाषण समाप्त हो जानेपर जय-ध्वनिके बीच अध्यक्ष[2] अपना भाषण पढ़नेको भाषण-मंचकी ओर बढ़े।

१. स्वागताध्यक्ष श्री नीलमणि फूकन।

२. एस० श्रीनिवास आयंगार।

स्वामी श्रद्धानन्दकी हत्याकी खबरसे सारी सभामें छाई हुई उदासी तो वहाँ थी ही, किन्तु वह इतनी दबी हुई थी कि बाहरसे मालूम नहीं पड़ती थी। प्रतिनिधियोंको मालूम था कि स्वामीजीने वीरगति पाई है, इसलिए यह समय रोनेका नहीं था, काम करनेका था और इसलिए कांग्रेसका कार्य ऐसे चलता रहा, मानो कुछ हुआ ही न हो। रीति-रस्मकी सभी बातें, अध्यक्षका नियमित जुलूसतक बिलकुल हटा दी गई थीं। अध्यक्षका अभिभाषण, उसमें जितने प्रश्नोंपर विचार किया गया है, उसके लिहाजसे काफी संक्षिप्त है। भाषणके आधे हिस्सेको, जिसमें कौंसिलोंका उल्लेख है और स्वराज्यवादी दलके रवैयेका समर्थन है, मैं छोड़े देता हूँ।

रचनात्मक कार्यको समुचित महत्त्व दिया गया है। उसमें खद्दरको सबसे पहला स्थान मिला है। अध्यक्षको विश्वास है कि अ० भा० चरखा संघ एक राष्ट्रव्यापी श्रमिक संगठन बन जायेगा, और यह संगठन अगर पूरी तरह स्वराज्यका रूप न ले सके तो भी उसके कारण कमसे-कम उस दिशामें कुछ प्रगति तो होगी ही। अगर कांग्रेसका हर सदस्य और सदस्या अपना-अपना कर्त्तव्य पूरा करे तो यह सचमुच स्वराज्य भी साबित हो सकता है। श्रीयुत एस० श्रीनिवास आयंगारके शब्दोंमें :

> **चरखेमें लोगोंको धीरे-धीरे अपनी ओर खींच लेनेकी जो शक्ति है, उसके कारण उसने राष्ट्रके मनको इस हदतक प्रभावित किया है कि वह प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है; उसने हमारे स्त्री-पुरुषोंको एक नई गरिमा प्रदान की है।**

जब खादीको लेकर कांग्रेसकी सदस्यताकी शर्तोंमें संशोधन पेश किया गया, तो बहुत जबर्दस्त विरोध रहनेपर भी उसके उत्साहपूर्वक स्वीकार किये जानेसे इस बातका काफी सबूत मिल गया। कोई आश्चर्य नहीं है कि अध्यक्षने यह विचार व्यक्त किया कि "खद्दर हमारे स्वावलम्बन और सहनशक्ति, दोनोंका ही प्रतीक है"।

दूसरा स्थान शराब-बन्दीको दिया गया है। अध्यक्ष द्वारा इस आरोपकी स्वीकृति कि पिछले दिनोंमें हम लोगोंने पूर्ण शराब-बन्दीपर ज्यादा ध्यान नहीं दिया है, ठीक ही है। उनका कहना है,

> **अगर हम राष्ट्रभरमें पूर्ण शराब-बन्दीके पक्षमें लोकमत तैयार कर सकें तो इस आन्दोलनकी नैतिक गरिमा बहुत बढ़ जायेगी।**

वे कहते हैं :

> **पिछले छः वर्षोंमें एक भी ऐसा मन्त्री नहीं मिला है, और न शायद आगे मिलेगा जो पूर्ण शराब-बन्दीके लिए विधेयक लानेका साहस करे और उसके अस्वीकृत होने या पेश करनेकी अनुमति न मिलनेपर त्यागपत्र दे दे।**

अगर हिन्दुस्तान-जैसे शराब-विरोधी देशमें ऐसे मन्त्री न मिल सकें जो देशको पूर्ण शराब-बन्दीका उसका उचित अधिकार दिलायें तो निश्चय ही कहीं कोई बहुत बड़ी खराबी है। यह तर्क भी, कि शराबपर रोक लगानेसे शराबीके व्यक्ति-स्वातन्त्र्यपर धक्का लगता है, उतना ही दोषपूर्ण है जितना यह कहना कि चोरीके

विरुद्ध बनाये कानूनोंसे चोरी करनेके अधिकारमें खलल पड़ता है। चोर तो धन ही चुराता है, मगर शराबी अपनी और अपने पड़ोसीकी इज्जत बेचता है। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि अध्यक्षने शराब-बन्दीसे आमदनीमें होनेवाली कमीको पूरा करनेका सहज उपाय नही बताया है। इस देशमें सेनापर बहुत अधिक खर्च होता है, जो बिलकुल बेकार है और जिसका आधार राष्ट्रके प्रति अविश्वास है। शराब और अन्य मादक पदार्थोंसे होनेवाली आमदनी २५ करोड़ है और सैनिक व्ययमें २५ करोड़से अधिककी कमी की जा सकती है।

इसके बाद अस्पृश्यता आती है। उनकी समझमें अस्पृश्यताको हटानेतक स्वराज्यके लिए बैठे रहनेकी जरूरत नही है। अपनी बातके समर्थनमें वे अमेरिकाका बहुत ही सुन्दर उदाहरण पेश करते हैं, जिसने अपने यहाँ वास्तविक और व्यापक दास-प्रथाके बावजूद स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, मगर वे साथ ही साथ यह भी कहते हैं:

> स्वराज्यके सवालको अलग रखिए, वह मिले चाहे न मिले, किन्तु अस्पृश्यताका तो हमें जरूर ही अन्त करना पड़ेगा।

इसके बाद यह ब्राह्मण दार्शनिक[1] कहता है:

> हिन्दुओंके उच्च दर्शन तत्त्वों और अपने देशमें धार्मिक मतभेदके इतिहासको देखकर मुझे यह कहनेका साहस होता है कि हिन्दू धर्मकी अमर आत्मासे अस्पृश्यताका कोई सम्बन्ध नहीं है। चाहे दयाके तराजूपर तौलिए अथवा बुद्धि या अध्यात्मके तराजूपर; चाहे इसे देशभक्ति अथवा समानाधिकारकी दृष्टिसे देखिए, हम हिन्दू-धर्मके एक सनातन सिद्धान्तके रूपमें अस्पृश्यताका औचित्य शोभनीय ढंगसे सिद्ध नहीं कर सकते। यह हमारी दृष्टि मन्द करती है, हमारे अनुभवको सीमित करती है, हृदयको क्रूर बनाती है, हमारे दायित्वके क्षेत्रको कम करती है और न्याय, प्रेम तथा ईमानदारीके हमारे आदर्शोंके मार्गमें बाधक बनती है।

हिन्दू धर्मके ऊपर आ पड़नेवाले इस अभिशापका इस प्रकार विरोध और निन्दा करनेके लिए अध्यक्षको मैं साधुवाद देता हूँ।

अब दूसरा विषय है, श्रम और बेकारी। मुझे ऐसा मालूम होता है कि इस विषयपर जितना विचार किया गया है उससे अधिक विचारकी जरूरत थी। मेरी समझमें उसमें काफी परिवर्तनकी जरूरत है। मेरा कहना है कि अपने समस्त फलितार्थोंके साथ चरखा आन्दोलन करोड़ों लोगोंकी बेकारीकी सबसे पुर-असर दवा है।

सरकारकी मुद्रा-नीतिको भी उनके अभिभाषणमें स्थान मिला है। अध्यक्षने भारतीय मुद्राशास्त्र-सभाकी स्थापनाका 'हार्दिक' स्वागत किया है और उनका विश्वास है कि उसके जरिये, पौंड और रुपयेके अनुपात, स्वर्ण-मान, स्वर्णमुद्रा, और इससे सम्बन्धित दूसरे प्रश्नोंपर जनताको बहुत शिक्षा मिलेगी। मगर उनका निश्चित मत है:

१. अध्यक्ष श्री एस० श्रीनिवास आयंगार।

> विधान सभामें बहस करने और मत लेने, या बाहर सभाएँ करके विरोध करनेसे तबतक कुछ भी नहीं होगा जबतक कि उक्त सभा कांग्रेसका अनुसरण न करे और इसके सदस्य कांग्रेसकी चालू राजनीतिको न मानें।

देशी राज्योंको भी थोड़ा स्थान मिला है।

देशी राज्योंके बाद स्वभावतः बृहत्तर भारतको स्थान दिया गया है।

> प्रवासी हिन्दुस्तानी, चाहे वे दक्षिण आफ्रिकामें हों या केनियामें, फीजीमें हों या गियानामें, लंकामें रहते हों अथवा मलायामें, अमेरिकामें बसे हों या आस्ट्रेलियामें, अथवा कहीं भी हों, उनकी स्थिति अनिवार्यतः स्वदेशवासी हिन्दुस्तानियोंकी स्थितिपर ही निर्भर करेगी; और इधर हिन्दुस्तानका स्वराज्य हमारे अपने प्रवासी भाइयोंकी बहादुर और अडिग वृत्तिपर निर्भर होगा।

मेरा खयाल है कि कांग्रेसके अध्यक्षका यह सुझाव केवल एक शुभेच्छा मात्र है कि कांग्रेसका अधिवेशन एक बार दक्षिण आफ्रिकामें भी किया जाये। इस विषयपर जितना विचार किया गया है, उसकी अपेक्षा और अधिक गहराईसे विचार करनेकी जरूरत है। अध्यक्षके भाषणमें श्री एन्ड्रयूजकी अद्भुत सेवाओंका भी उल्लेख नहीं किया गया है। मेरे खयालसे यह भूल अनजाने हुई है और इसका कारण यह है कि अध्यक्ष अनेक स्थानीय कार्योंमें बहुत व्यस्त रहे हैं।

एशियाई संघका उल्लेख भी बहुत थोड़ी-सी पंक्तियोंमें किया गया है। श्री आयंगारने इस बातपर खेद प्रकट किया है कि हम समस्त एशियाई देशोंसे अपने सांस्कृतिक और व्यावसायिक सम्बन्धोंकी सम्भावनाओंकी दीर्घकालसे उपेक्षा करते आये हैं। मैं कहना चाहता हूँ कि सांस्कृतिक सम्बन्धोंकी ओर हमारे महाकवि और व्यावसायिक सम्बन्धोंकी ओर हमारी बड़ी-बड़ी व्यापारिक पेढ़ियाँ पर्याप्त ध्यान दे रही हैं।

अध्यक्ष महोदयकी अदम्य आशावादिताकी झलक हमें साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता-सम्बन्धी अनुच्छेदोंमें मिलती है। वे कहते हैं :

> मुझे पूरा विश्वास है कि जहाँ ईमानदारीके साथ और लोगोंको समझाने-बुझानेके तरीकेसे गहरे प्रचारके जरिये सम्प्रदायवादमें निहित भ्रान्तियोंका स्पष्ट विश्लेषण किया जायेगा, वहाँ यह बुराई टिक नहीं सकेगी। सौभाग्यसे भारतीयोंमें पूर्वग्रह और भय तथा आशंकाका भाव बहुत गहरा जमा हुआ नहीं है और साम्प्रदायिकता तो इसी सतही पूर्वग्रह और आशंकाकी उपज है।

'सहिष्णुताकी आवश्यकता' शीर्षकके अन्तर्गत उनका यह सारगर्भित कथन है :

> यद्यपि प्रत्येक जातिको दूसरे धर्मवालोंको अपने धर्ममें लानेकी छूट होनी चाहिए, किन्तु वास्तवमें अब धर्मान्तरणका आश्रय लेना उपयोगी अथवा आवश्यक नहीं रहा है, क्योंकि धर्म-प्रचारके किसी खास प्रयत्नकी अपेक्षा किसी जातिके श्रेष्ठतम और परम धर्मप्राण व्यक्तिके आचरण उस जातिके धर्म-प्रचारके कहीं अधिक उपयुक्त और कारगर साधन सिद्ध होते हैं। किन्तु यदि धर्म-

प्रचारका प्रयत्न किया ही जाता है तो वह खुला और सामान्य होना चाहिए; वह गुप्त रूपसे या किन्हीं विशेष पुरुषों या स्त्रियोंका धर्म-परिवर्तन करनेके लिए नहीं किया जाना चाहिए। हमें यह समझ लेना चाहिए कि कोई भी महान् और पुराना धर्म केवल जनसंख्यामें वृद्धि होनेसे ही सत्य, सुन्दरता अथवा आध्यात्मिकतामें बढ़ नहीं जाता।

वे इस अनुच्छेदके अन्तमें अशोकके शिलालेखोंमें से यह सुन्दर उद्धरण देते हैं:

जो मनुष्य अपने धर्मका तो आदर करता है, किन्तु अपने धर्मके प्रति आसक्तिके कारण उसका गौरव बढ़ानेके खयालसे दूसरे धर्मोंको हीन बताता है, वह वास्तवमें अपने इस प्रकारके आचरणसे अपने धर्मको बड़ी ही गहरी हानि पहुँचाता है।

स्पष्ट है कि अध्यक्ष साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वके विरोधी हैं। वे कहते हैं:

'साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व' शब्दोंका प्रयोग बहुत गलत किया गया है और ये शब्द ठीक अर्थके बोधक नहीं हैं; क्योंकि समस्त सार्वजनिक प्रश्नोंमें, देशकी समस्याओंमें और उनके किसी खास हलमें सभी जातियोंकी समान दिलचस्पी है।

वे फिर कहते हैं:

हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि मनुष्य-मनुष्यके बीच न्याय करना जाति-जातिके बीच न्याय करना है। किसी समाज या जातिके सदस्योंको समस्त पदोंपर कब्जा करनेसे रोकनेके लिए बस इतना ही जरूरी है कि उस समाज या जातिके विरुद्ध एक निषेधक नियम बना दिया जाये।

अध्यक्ष महोदय कहते हैं:

राजनीतिमें धर्मका और प्रायः रूढ़िगत धर्मका बेजा हस्तक्षेप रोका जाना चाहिए, क्योंकि यह एक आदियुगीन अथवा मध्ययुगीन कल्पना है, जिसका जन्म साम्प्रदायिक राज्योंमें हुआ है और वह कल्पना धर्म और राजनीति, दोनोंके लिए समान रूपसे घातक है।

किन्तु वे आगे कहते हैं:

मैं नीति धर्म अथवा उस आध्यात्मिक गुणकी बात नहीं कहता जो सभी धर्मोंमें समान रूपसे मिलता है, क्योंकि वह तो राजनीति और संस्थाओंको शुद्ध, सौम्य और स्वस्थ बनाता है।

श्रीयुत आयंगार आगे कहते हैं:

राजनीतिक विवादकी उत्तेजनामें हमें यह न भूल जाना चाहिए कि प्रत्येक धर्मके लिए शक्तिका स्रोत ईश्वर होता है और उसकी जड़ें प्रह्लाद-जैसे

लोगोंकी आत्माओंमें जमी होती हैं। टार्कुमाडा[1] जैसे आततायियोंके समस्त अत्याचार, लोगोंको टिकठीसे बाँधकर जला देने जैसी विभीषिका तथा सभी तरहके अत्याचार भी मनुष्यकी आत्माके ऊर्ध्वमुखी गुणोंको नष्ट नहीं कर पाये हैं। वर्तमान अथवा भावी सरकारसे हिन्दू-धर्मको न तो किसी प्रकारकी शक्ति प्राप्त करनेकी जरूरत है और न इस्लामको। दोनों स्वराज्यसे बहुत ऊँचे हैं और स्वराज्यकी उनसे तुलना नहीं की जा सकती। हमारे हृदयोंमें धर्मका जो अंकुर है और जिससे प्रेरित होकर मनुष्यने ब्रह्माण्डकी ऐसी दिव्य व्याख्या की, जिससे व्यक्ति इहलोकमें मार्ग-दर्शन और शान्ति पानेके तथा परलोकमें मोक्षके लिए अनुबद्ध बना रहता है, उसे कोई भी विदेशी अथवा देशी, लोकतन्त्री अथवा निरंकुश सरकार नष्ट नहीं कर सकती।

उनके भाषणके अन्तिम तीन पृष्ठोंमें एकताकी बड़ी जोरदार अपील की गई है।

भारतमें केवल दो ही दल हो सकते हैं, एक सरकार और उसके अनुयायियोंका, जो स्वराज्यकी प्राप्तिमें अड़ंगा डालता है, और दूसरा वह जो स्वराज्यके लिए प्रत्यक्ष रूपसे, निरन्तर लड़ता रहता है।...हम एक शक्तिमान जातिसे स्वतन्त्रता लेनेके लिए संघर्ष कर रहे हैं। इस जातिके पास प्रशिक्षित कर्मचारी और असीम भौतिक साधन हैं। इस जातिसे किये जानेवाले महान् संघर्षमें मैं व्यक्तिगत मतपर आग्रह करनेके सिद्धान्तकी निन्दा करता हूँ। कोई मार्ग विशेष स्वीकार करना समझदारीका काम है या नासमझीका काम, उस पर चलकर हम सफल होंगे या असफल होंगे, उससे स्वराज्य जल्दी मिलेगा या उसके मिलनेमें बाधा आयेगी, इन प्रश्नोंपर अपने व्यक्तिगत मत या निर्णय या भावनाको अपने अन्तःकरणका मामला बना लेना झूठा सिद्धान्त है। हमें अपने अन्तःकरणसे धर्म, नैतिकता, और सम्मानके प्रश्नोंपर निर्णय करना चाहिए, किन्तु देशका कामकाज चलानेमें, जबतक कोई निर्णय धर्म-विरुद्ध, नीति-विरुद्ध अथवा असम्मानजनक न हो तबतक मेरी समझमें यह नहीं आता कि हम एक-दूसरेसे मतभेद रखनेके अधिकारपर आग्रह करते हुए स्वराज्यके लिए लड़नेवाली संस्थामें आवश्यक अनुशासन कैसे कायम रख सकते हैं।

भाषणका अन्त भी उसी गहरी भावना और हार्दिक तथा प्रबल अनुरोधसे भरा हुआ है, जो उनके भाषणमें सर्वत्र दिखाई पड़ता है। वे कहते हैं:

स्वराज्य बुद्धिका मामला नहीं है, बल्कि भावनाका मामला है। हमें इस भावनाको अपने हृदयोंमें अटूट श्रद्धाके साथ कायम रखना चाहिए।... हममें स्वराज्यके लिए ऐसा अगाध उत्साह होना चाहिए जो भ्रमोंसे और

१. टॉमस टार्कुमाडा (१४२०-१४९८); स्पेनका इनक्विजिटर-जनरल, जिसके बारेमें कहा जाता है कि उसके आदेशसे १०,००० लोगोंको टिकठीमें बाँधकर आगमें जिन्दा जला दिया गया था।

क्षणिक भावावेशोंसे विचलित न हो, जो संगठित लोक समुदायोंकी एक-सी और तेज सामूहिक प्रगतिका कायल हो, जिसपर बाधाओंका कोई प्रभाव न हो, जिसमें समयके प्रभावसे उतार-चढ़ाव न हो और जो न तो जेल-यात्राओं-से दबाया जा सकेगा और न असफलताओंके कारण पराभूत ही होगा।

मुझे आशा करनी चाहिए कि उनका यह अनुरोध हम सबके हृदयोंमें गुंजित होगा।

प्रस्तावोंकी विस्तृत जाँच करनेकी जरूरत नहीं है। शोक-प्रस्तावोंके अतिरिक्त कौंसिल-सम्बन्धी प्रस्ताव तो है ही जो कौंसिलमें प्रवेश करनेवाले सदस्योंके मार्गदर्शनके लिए है। फिर दक्षिण आफ्रिका और केनियाके सम्बन्धमें, बंगालके नजरबन्दोंके सम्बन्धमें और गुरुद्वारा सम्बन्धी कैदियोंके बारेमें पास किये गये प्रस्ताव भी हैं। मेरे मतसे कांग्रेस संविधानकी खादी-सम्बन्धी धारा परिवर्तनसे सुधर गई है। हम सभा-समारोहों-में ही खादी पहनते हैं, लोग इसका मजाक उड़ाने लगे थे। यदि हमें अपने मताधि-कारकी योग्यतामें खादीकी पोशाकको स्थान देना है तो उचित बात यह है कि हम बराबर खादी पहनें। आशा है कि हरएक कांग्रेस कार्यकर्त्ता इस प्रस्तावपर स्वयं अमल करेगा और दूसरे लोगोंको भी उसपर अमल करनेके लिए प्रेरित करेगा। किन्तु मुझे अगले अंकमें उन दूसरी बातोंकी चर्चा अधिक विस्तारसे करनेकी जरूरत है, जिनपर विषय-समितिमें वापस लिये गये या नामंजूर किये गये प्रस्तावोंके सम्बन्धमें वाद-विवाद किया गया था।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ६-१-१९२७

२२१. भेंट : 'फ्री प्रेस ऑफ इंडिया' के प्रतिनिधिसे

कोमिल्ला
६ जनवरी, १९२७

गौहाटी कांग्रेस द्वारा पास किये गये खादीके अनिवार्य उपयोगसे सम्बन्धित प्रस्तावके बारेमें श्री टी० सी० गोस्वामीने[1] एक वक्तव्य[2] दिया था। इस वक्तव्यके सिलसिलेमें 'फ्री प्रेस ऑफ इंडिया' के एक प्रतिनिधिसे मुलाकातमें गांधीजीने निम्न-लिखित बात कही :

खद्दरके विषयमें श्री गोस्वामीके स्पष्ट वक्तव्यके लिए मैं उन्हें बधाई देता हूँ। इस वक्तव्यसे शब्दाडम्बर और मिथ्याचारका वह कुहासा, जिसने इस प्रश्नकी चर्चा-के वातावरणको धूमिल कर रखा है, दूर हो जाना चाहिए। अगर खद्दरको टिकना

१. केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाके सदस्य।
२. यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

है तो वह अपने गुणोंके बलपर टिके, वरना खत्म हो जाये। इस वक्तव्यमें श्री गोस्वामीका जो रुख प्रकट होता है वह तो यही बताता है कि उन्हें खद्दरका जिक्र भी नागवार है। खद्दरके प्रति उनकी आपत्ति यही नहीं है कि वह अन्धश्रद्धाका विषय बन गया है; वे आर्थिक दृष्टिसे भी खद्दरको आपत्तिजनक मानते हैं। वे कहते हैं कि खद्दरका आर्थिक दृष्टिसे निष्फल होना और विदेशी कपड़ेका स्थायी बहिष्कार अवांछनीय होना सिद्ध हो सकता है। यदि मैं श्री गोस्वामीकी तरह सोचता होता तो मैं भी खद्दरवाली धाराका उनके जितना ही कड़ा विरोध करता। पहले कुछ विशेष अवसरोंपर ही खद्दर पहननेका नियम था। उसकी जगह अब जो यह नियम बनाया गया है कि हमेशा उसीका उपयोग होना चाहिए, यह परिवर्तन मेरी प्रेरणासे नहीं किया गया। लेकिन इस परिवर्तनको मैं वांछनीय ही नहीं, बल्कि सच्चे राष्ट्रीय जीवनके विकासके लिए आवश्यक भी मानता हूँ और बिना किसी हिचकके उसका समर्थन करता हूँ। राष्ट्रीय भावनासे रहित राजनीति मेरी समझमें नहीं आती। मैं विदेशी कपड़ेके बहिष्कारको कोई राजनीतिक हथकण्डा-भर नहीं मानता; मैं उसे एक स्थायी कर्त्तव्य मानता हूँ। और मैं मानता हूँ कि यदि हम सचमुच इस कर्त्तव्यका पालन करना चाहते हों तो खादीको अपनाकर इसे तत्काल सिद्ध किया जा सकता है।

इतना ही नहीं, मैं एक कदम और आगे जाकर यह भी कहता हूँ कि खद्दरके जरिये विदेशी कपड़ेका बहिष्कार ही एक ऐसी चीज है जिसे हमारा राष्ट्र एक निश्चित समयके भीतर पूरी तरह लागू करनेमें समर्थ है, और चूँकि समूचे राष्ट्रका संगठित होकर एक ही चीजके लिए प्रयत्नशील होना खद्दरके आर्थिक पहलूमें शामिल है, इसलिए इसके राजनीतिक परिणाम बहुत जबर्दस्त होंगे। इसलिए यदि यह सही और उचित है कि जो स्वराज्य चाहते हैं केवल वे ही लोग कांग्रेसके सदस्य हो सकें तथा उन लोगोंको, जो वर्तमान ब्रिटिश अधिसत्ता बनाये रखना चाहते हैं, कांग्रेससे बाहर रखा जाये, तो फिर यह भी उतना ही ठीक है कि केवल वे ही लोग कांग्रेसके सदस्य हो सकें जो सक्रिय और अनवरत रूपसे खद्दरके उत्पादन और उसकी बिक्रीके जरिये विदेशी कपड़ेके बहिष्कारका काम करनेके इच्छुक हों। जिसे श्री गोस्वामी खद्दरकी मर्यादा बताते हैं, वह उसकी मर्यादा नहीं बल्कि उसकी खूबी है; खद्दर इसकी परवाह नहीं करता कि उसे पहननेवाला आदमी कैसा है; वह एक सरकारी जासूसके शरीरपर भी वैसे ही सुशोभित हो सकता है जिस प्रकार भारतके किसी सन्त प्रकृतिके सेवकके शरीरपर। क्योंकि राष्ट्रमें तो बड़े और छोटे, स्वस्थ और अस्वस्थ, अच्छे और बुरे, सभी प्रकारके लोग शामिल हैं। अच्छे लोगोंको तो यह चाहिए कि वे बुरे लोगोंको सुधारने और उनकी सेवा करनेको अपना सौभाग्यपूर्ण अधिकार मानें।

[अंग्रेजीसे]

फॉरवर्ड, ७-१-१९२७

२२२. भाषण: महिलाओंकी सभा, कोमिल्लामें

६ जनवरी, १९२७

...इसके बाद महात्मा गांधीने महिलाओंकी एक बड़ी सभामें भाषण किया। उन्होंने कहा कि हमें स्वराज्य प्राप्त करना है, जिसका मतलब है रामराज्य। रामराज्य बिना सीताके नहीं आ सकता। उन्होंने कहा कि सभी महिलाएँ अपनेमें सीता-जैसे गुण पैदा करें और सीताकी तरह वे भी अपने हाथसे तैयार किया हुआ कपड़ा पहनें, तथा सादा और शुद्ध जीवन व्यतीत करते हुए सीताका अनुकरण करें। अन्तमें उन्होंने कहा कि गरीबीका एकमात्र इलाज चरखा ही है।

महात्माजी द्वारा अखिल भारतीय देशबन्धु स्मारकके लिए चन्देकी अपीलपर महिलाओंने कुछ धन दिया, और कतिपय महिलाओंने अपने सोनेके जेवर भी दिये।

[अंग्रेजीसे]

अमृतबाजार पत्रिका, ८-१-१९२७

२२३. पत्र: मणिबहन पटेलको

[काशी]
शनिवार [८ जनवरी, १९२७][1]

चि० मणि,

तुम्हारा पत्र मिला। वालजी भाईसे[2] पढ़नेकी व्यवस्था की है सो ठीक हुआ। उनसे बहुत सीखा जा सकेगा।

तुम्हें शिक्षण-कार्यसे क्यों मुक्त किया गया है, यह मैं नहीं जानता। क्योंकि जिस पत्रमें यह बात कही गई थी उससे कारण मेरी समझमें नहीं आया। तुम खुद साहस-पूर्वक पूछ सकती हो। मैं तो समझता था कि तुम्हें कारण बताया गया होगा। मैं निश्चिन्त था, क्योंकि शिक्षा देनी हो या न देनी हो, तुम्हें आश्रममें ही रहना है और वेतन कहो या जो-कुछ भी कहो, वह चालू ही रहेगा। तुम्हारी जिम्मेदारी मुझे उठा लेनी है। शिक्षकपर रोष भी न करना। उन्हें सारा प्रबन्ध चलाना पड़ता है, इस-लिए उन्हें जो ठीक लगता है, वैसा वे करते हैं। परन्तु कारण जाननेका तो तुम्हें हक है ही । वह जान लेना।

१. साधन-सूत्रके अनुसार।
२. वालजी गोविन्दजी देसाई।

परन्तु अब तो तुम्हें कातना सिखानेकी तैयारी करनी है। उसके सिलसिलेमें जो सीखना जरूरी हो वह सीख लेना है, अर्थात् चरखेको सुधारना, रुईकी किस्में, लोढ़ना, पींजना, कातना, फुँकारना, आँटी बनाना, तार जोड़ना वगैरा सब क्रियाएँ। माल बनाना आना चाहिए। साड़ी[1] चढ़ाना आना चाहिए। और जहाँ जाना होगा वहाँ इन क्रियाओंके साथ दूसरा जो-कुछ सीखनेको मिल जाये वह सीख लेना चाहिए और इसी सिलसिलेमें संस्कृत और हिन्दी तो पक्की हो ही जानी चाहिए। संस्कृतमें 'गीताजी' के अर्थ व्याकरण सहित पक्के होने चाहिए। तकली तो है ही। कराचीसे तार आया है कि तुम्हारा नाम बोर्डके सामने गया है। यह बात सुनकर मुझे खुशी हुई है।

मुझे पत्र लिखती रहना और खूब उत्साहपूर्वक काम करना।

अब २ से ८ तारीखतक गोंदिया, नागपुर, वर्धा, अकोला, अमरावती, इस प्रकार कार्यक्रम रहेगा। निश्चित शहर नहीं जानता। वर्धा पत्र भेजना ठीक होगा।

बापूके आशीर्वाद

चि० मणिबहन पटेल
सत्याग्रह आश्रम
साबरमती

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

२२४. अस्पृश्यताकी गुत्थियाँ

मैं इस अंकमें भाई गोविन्दजी जादवदासका पत्र उनके दिये हुए शीर्षकके साथ ही प्रकाशित कर रहा हूँ। उनका दिया हुआ शीर्षक है — "हिन्दू धर्मकी अधोगति" उनका आशय यह है कि यदि हमें अस्पृश्यताको दूर करना है तो अस्पृश्योंके लिए अलग स्कूल, मन्दिर और कुएँ किसलिए? इस दलीलको नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता। दक्षिण आफ्रिकामें भी ऐसे ही प्रश्न उठा करते थे और अब भी उठते हैं। भारतीयोंके लिए अलग स्कूल खोलना भारतीयोंकी अस्पृश्यताकी आयुको लम्बा करना है — ऐसी दलील वहाँ मैंने स्वयं की थी और जिसपर बीतती है वही दूसरोंकी वेदनाको समझ सकता है, इस न्यायसे मैं भाई गोविन्दजीके दुःखको समझ सकता हूँ।

लेकिन जहाँ मैंने देखा कि जिस वस्तुका अस्तित्व है, उसके अस्तित्वकी अवगणना करके चलना मूर्खता होगी, वहाँ मैंने इस भेदको अच्छी तरह समझ-बूझकर रहने दिया और अपना काम निकाला। फलतः वहाँ मैंने अलग स्कूलोंकी बात को स्वीकार किया।

१. आजकल तकुएपर लोहेकी गिर्री होती है; परन्तु उस समय गिर्रीकी जगह गोंदकी मददसे वहाँ थोड़ा-सा सूत लपेट दिया जाता था और माल इसी सूतपर घूमती थी; इसे साड़ी कहते थे।

मैंने वहाँकी रेलोमें भारतीयोंके लिए पहले और दूसरे वर्गके डिब्बे अलग रखनेकी बातको भी स्वीकार किया। जिस तरह भाई गोविन्दजी ऐसे भेदका विरोध करते हैं वैसे ही मैंने भी किया लेकिन जहाँ कौमकी हस्ती ही मिट जानेका भय पैदा हो गया, वहाँ मैंने ऐसे भेदको स्वीकार किया जिससे उस भेदके रहते हुए भी उसकी तीव्रताको कम किया जा सके। उदाहरणके लिए, पहले भारतीय केवल तीसरे वर्गमें ही मुसाफिरी कर सकते थे। आन्दोलनके फलस्वरूप उन्हें, वे चाहें तो, दूसरे और पहले वर्गके टिकट देनेका आदेश जारी हुआ, लेकिन इसके साथ ही उनके लिए प्रथम और द्वितीय वर्गके डिब्बे अलग रखनेका निश्चय भी हुआ। विरोध करके भी अन्तमे हमने इतने भेदको स्वीकार कर लिया। सरकार हमारी माँगी हुई सुविधा तो दे सकती है लेकिन अन्य लोगोको हमारे साथ बैठनेके लिए कैसे विवश कर सकती है?

इस विचारसरणीका अनुसरण करते हुए मैं इस निश्चयपर पहुँचा कि जबतक अन्त्यज सामान्य मन्दिरों आदिका उपयोग नही कर सकते तबतक मन्दिरों आदिके उपयोगसे वे वंचित रह जायें इससे तो यही बेहतर होगा कि उनके लिए अलग संस्थाएँ बनें और उन्हें उनका लाभ मिले। अस्पृश्यता फिलहाल वातावरणसे तो चली गई है तथापि अनेक लोग अभी भी अपने व्यवहारमें उसका सर्वथा नाश करनेके लिए तैयार नही हुए है। जबतक ऐसी स्थिति है तबतक अन्त्यजोंके मित्र क्या करे? अपनी शुद्धिका प्रमाण उन्हें कैसे देना चाहिए? उत्तर यही होगा कि ऐसा अन्त्यजोंके लिए मन्दिर आदि बनवाकर ही किया जा सकता है।

भाई गोविन्दजी कहते हैं कि ऐसे मन्दिर आदि भले ही बनाये जायें लेकिन आप उनके साथ 'अन्त्यजों के लिए' ऐसा अप्रिय विशेषण क्यों जोड़ते हैं? बात यह है कि ऐसा विशेषण उन्हे जान-बूझकर तो कोई देता ही नही है। जो मन्दिर आदि इस समय बन रहे हैं उसका उपयोग उन्हें बनानेवाले तथा अन्त्यजोंके अन्य मित्र तो करते ही हैं। इसलिए इस दृष्टिसे तो अन्त्यजोंके लिए बननेवाली संस्थाएँ सार्वजनिक हैं। लेकिन उनके बारेमें प्रथम अधिकार अन्त्यजोंका है; उनके उपयोगमें अन्त्यज बन्धुओंका विचार सबसे पहले होता है, उनकी सुविधाका ध्यान पहले रखा जाता है।

इसलिए यद्यपि मैं भाई गोविन्दजी जैसे अन्त्यज भाईके दुःखको समझ सकता हूँ तो भी उन्हें यह मान लेनेका सुझाव देता हूँ कि "अन्त्यज सर्वसंग्रह"[1] और उसके पीछे मन्दिर आदि बनानेका आन्दोलन पवित्र, स्तुत्य और अन्त्यजोंके लिए लाभदायक है।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, ९-१-१९२७

१. देखिए "अन्त्यज सर्वसंग्रह", १२-१२-१९२६।

२२५. भेंट : डॉ० भगवानदाससे

काशी
९ जनवरी, १९२७

आरम्भमें श्री भगवानदासने इस आशयकी बात कही — महात्माजी, इस देशके राजनीति विषयके तथा अन्य विषयके कल्याणके लिए जो परमावश्यक परमोपयोगी उपाय मुझको सूझ पड़ते हैं, और जिनके प्रचारके लिए मैं अपनी अति अल्पशक्तिसे छः वर्षसे यत्न कर रहा हूँ, उनके विषयमें मैं आपका मत जानना चाहता हूँ। यदि आप उन उपायोंका समर्थन करेंगे तो देश उनको आदरसे देखेगा, और स्यात् काममें लानेका यत्न करेगा, क्योंकि आपमें इस कालमें तपस्याका बल बड़ा भारी है, और इस कारणसे देशकी श्रद्धा आपमें बहुत है। अभी हालमें भी मैंने उन्हीं उपायोंको प्रस्तावोंके रूपमें रखकर श्री शिवप्रसाद गुप्तजीके[1] हाथ गौहाटी कांग्रेसके सामने उपस्थित करनेके लिए भेजा था, पर मालूम हुआ कि उनके विषयमें केवल इतना ही कार्य हुआ कि प्रतियाँ अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीके सदस्योंको बाँट दी गईं। उन्हीं प्रस्तावोंकी एक प्रति प्रश्नोंके रूपमें रखकर मैंने आपके पास श्री कृपालानीजीके द्वारा भिजवाई है।

महात्माजीने कहा कि मैं उन प्रस्तावोंका उत्तर पीछे लिखकर आपके पास भेज दूँगा।

श्री भगवानदासने कहा — उन्हींका आशय लेकर मैं इस समय यथासम्भव आपका मत जाननेका प्रयत्न करूँगा। समयके अभावसे लिखित प्रश्नावलीकी जो बातें पूछनेको रह जायें, उनका उत्तर आप अनुग्रह करके पीछेसे लिखित रूपमें भिजवा देंगे। अब मैं प्रश्न करता हूँ।

[प्रश्न] — आपके विचारमें सच्चे स्वराज्यका यह मुख्य तत्व है या नहीं कि जनताके चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा देशका कानून बने और ऐसे प्रतिनिधि चुने जायें जो समाजके उत्तम स्व हों, अधम स्व नहीं, अर्थात् जो ज्ञानी, अनुभवी, निःस्वार्थ और लोकहितैषी हों?

[उत्तर] — यह भी मुख्य तत्वोंमें है।

इसके सिवा यदि और भी कोई मुख्य तत्त्व हैं तो वे कौन हैं?

मेरी कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्य धर्मको समझे। तब प्रतिनिधिकी आवश्यकता ही नहीं रहती। यह आदर्श स्वराज्य है। इसमें शासक और शासनकी आवश्यकता

१. काशी निवासी बाबू शिवप्रसाद गुप्त; महान् दानी, और बनारसके भारत-माता मन्दिरके निर्माता; कांग्रेसके कर्मठ कार्यकर्ता।

नहीं रहती। कोई सरकारी कर्मचारी नहीं रहते। सब आदमी एक दूसरेके सेवक होते हैं। इस आदर्श स्वराज्यको मनमें रखनेसे भूल न करेंगे या कम करेंगे। यह निश्चय है कि ऐसा आदर्श स्वराज्य मिलेगा नहीं पर इसके निकटतम हम पहुँच सकेंगे।

यह तो पराकाष्ठाका स्वराज्य हुआ जैसा स्यात् 'महाभारत' में वर्णित उत्तर कुरुओंका था जो सब योगसिद्ध, देवप्राय और जीवनमुक्त थे। पर हम लोगोंकी अवस्थाकी दृष्टिसे अहमदाबादमें आपने कहा था कि देशको औपनिवेशिक स्वराज्यतक मैं पहुँचा सकता हूँ। यह हमारे लिए तत्काल उपयोगी, बीचका स्वराज्य हुआ?

हाँ।

ऐसे मध्यकाष्ठाके स्वराज्यमें व्यवस्थापिका (लेजिस्लेटिव) सभाएँ अवश्य होंगी?

हाँ।

उनके लिए प्रतिनिधि चुनना होगा?

हाँ।

वे प्रतिनिधि जहाँतक मिल सकें अधिकतम ज्ञानी, अनुभवी, निःस्वार्थ और लोकहितैषी होने चाहिए?

हाँ।

निर्वाचकों (इलेक्टर्स) को यह आदर्श सदा अपनी आँखके सामने रखना चाहिए?

हाँ।

तत्काल डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपल बोर्ड आदि तथा जितनी कांग्रेस कमेटियाँ चुनी जाती हैं उनमें भी इसी आदर्शसे काम लेना चाहिए।

अवश्य।

यह आदर्श जनतामें फैला है या नहीं?

कुछ-कुछ।

कांग्रेस कमेटियों, लोकल बोर्डों आदिके लिए जो चुनाव होते हैं उनके देखनेसे क्या अनुमान करना चाहिए कि यह आदर्श कहाँतक फैला है और उससे कहाँतक काम लिया जाता है? बहुत कम फैला है या पर्याप्त मात्रामें?

जितना चाहिए उससे कम है।

व्यवस्थापिका सभाओंमें यही आदर्श बरतना चाहिए?

आजकल जो भी चुनाव होते हैं उन सबमें यही आदर्श बरतना चाहिए।

इस आदर्शको फैलानेके लिए पर्याप्त प्रयत्न किया गया है या नहीं? नेताओंकी ओरसे या कांग्रेसकी ओरसे?

इसके उत्तरमें 'हाँ' या 'नहीं' कह देना पर्याप्त न होगा। मेरा विश्वास है कि इसके लिए अनुकूल हवा नहीं है।

आपने पहले कहा कि कुछ-कुछ फैला है। तो जो-कुछ हुआ वह कैसे हुआ?

अबतक प्रयत्न व्यक्तिगत हुआ। जब अनुकूल हवा फैलती है तब अनायास सभी ऐसे आदर्शके वश बरतते हैं।

इस आदर्शके अनुकूल हवा पैदा करनेका यत्न करना चाहिए या नहीं?

निरन्तर करना चाहिए।

किस प्रकारका यत्न इसके लिए उपयोगी होगा?

ऐसे प्रयत्न करनेवाले व्यक्तियोंकी संख्या बढ़ती रहे। और ऐसे प्रयत्नशील व्यक्तियोंकी संख्या बढ़ानेका एक ही रास्ता है और हमेशा रहा है। वह यह कि जिनका ऐसे आदर्शपर विश्वास है वह कितनी ही कठिनाइयाँ होते हुए भी अपने आदर्शको न छोड़ें।

अर्थात् व्यक्तियोंको लेख और व्याख्यान द्वारा इस आदर्शका प्रचार करना चाहिए?

व्यक्तियोंको अपने आचार द्वारा प्रचार करना चाहिए। व्याख्यान और लेख द्वारा कुछ नहीं होता, यदि उदाहरण न हो। यदि उदाहरण हो तो लेख और व्याख्यानसे भी सहायता मिलती है। आचारमें व्याख्यान, लेख आदि भी आ जाते हैं।

यह मैंने माना कि बिना स्वयं आचरण किये, वक्ताके उपदेशमें प्रभाव नहीं होता। पर जैसे आपने स्वयं खद्दर धारण आरम्भ किया, चरखा चलाना आरम्भ किया, पर साथ-साथ इनका उपदेश भी बहुत विस्तारसे और निरन्तर परिश्रमसे आप करते आये हैं, तभी इन भावोंका प्रचार देशमें बढ़ता जा रहा है, और इसी प्रकार ही आप असहयोग सम्बन्धी कई विषयोंका आचरणके साथ उपदेश भी बराबर करते रहते हैं, वैसे ही क्या इस विषयमें भी जनताको निरन्तर आप उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं समझते कि, 'हे भाइयो, जहाँ-जहाँ प्रतिनिधि चुनना हो वहाँ-वहाँ ऐसी ही योग्यताके स्त्री-पुरुषोंको चुनो।' क्या बिना ऐसे उपदेशके जनता इस परम महत्त्वके विषयमें अन्धकारमें न पड़ी रहेगी?

यह प्रश्न ठीक है, परन्तु वस्तुतः इसका उत्तर मेरे पिछले उत्तरमें आ गया है क्योंकि उपदेशको मैं आचारका अंग समझता हूँ। उपदेशको मैं पृथक् स्थान नही देता हूँ, क्योंकि जिसका आचार नहीं, उसका उपदेश निरर्थक है, और कई बार हानि-कारक हो जाता है। और जो अपने आचारको शुद्ध रखता है वह अवसर पानेपर उपदेश देता ही रहता है।

पर जहाँतक मुझको याद पड़ता है आपने अपने लेखों और व्याख्यानोंमें भारत-वर्षकी जनताको यह उपदेश नहीं किया कि किस-किस योग्यताके प्रतिनिधि तुमको चुनने चाहिए?

मैंने एक नहीं अनेक बार यह उपदेश लेख और व्याख्यान द्वारा किया है।

'यंग इंडिया' में इस विषयके लेख मिलेंगे?

हाँ।

मैं खोजूँगा। बीचके स्वराज्यमें, जिसमें प्रतिनिधियोंका स्थान है, उसमें योग्य प्रतिनिधि प्राप्त करनेके लिए क्या उपाय करना चाहिए, क्या मर्यादा बाँधनी चाहिए? किन लक्षणोंसे योग्य प्रतिनिधि पहचाने जायें? जहाँतक मुझे देखनेमें आया, पश्चिमके

राज्योंमें और आधुनिक भारतके निर्वाचनमें अच्छे प्रतिनिधि नहीं चुने जाते। यही बड़ा भारी दोष प्रचलित सेल्फ गवर्नमेंट या स्वराज्यके प्रचारोंमें हो रहा है।

यही एक बलवान कारण है कि मैं कौंसिल प्रवेशका सख्त विरोध करता हूँ। जबतक जनताको स्वत्वका ज्ञान नहीं हुआ है और उनकी बुद्धिकी जागृति नहीं हुई है तबतक लोग किसी कानून द्वारा प्रतिनिधित्वकी शुद्धताको नहीं संभाल सकेंगे। और मेरी आजकी प्रवृत्तिमें इस शुद्धिका बड़ा हिस्सा है। आरम्भसे आत्मशुद्धि, तपस्या, और इसके द्वारा जनताकी शक्ति वृद्धि करनेका मेरा प्रयत्न रहा है। ऐसी तपस्यासे उनकी बुद्धि भी ठीक हो जायेगी और इसी कारणसे असहयोगके आरम्भके बाद जो म्युनिसिपैलिटीका चुनाव हुआ तब यहाँ अच्छे आदमी चुने गये — बिना परिश्रम या व्ययके। जब वह तपस्याका वातावरण हट गया तब गड़बड़ होने लगी।

इस देशकी पुरानी प्रथा यह है कि तपस्या और विद्या यह दो पदार्थ हैं। दोनोंका सम्पादन करनेसे ही सच्चा मनुष्यत्व कहिए, ब्रह्म सम्पन्नत्व कहिए, ब्राह्मणत्व कहिए, जिसे ही शायद आप स्वत्व पहिचानना कहते हैं, सिद्ध होता है। पुराणमें कथा है, रावणादिने बड़ी तपस्या की, पर उसका उनको भोग रूप फल मिला। वे 'सत्व' की, आत्मस्वरूपकी, ओर नहीं गये। मेरे विचारमें जो असहयोगके बाद हवा बँधी उसमें तपस्याका अंग था, पर विद्याका अंग नहीं था, इसी कारणसे वह हवा स्थिर न रही, और वो ही तीन वर्षमें लुप्त हो गई। यह मेरा विचार आप ठीक समझते हैं या नहीं?

यह प्रायः ठीक है। थोड़े सुधारकी आवश्यकता है। उस समयकी हमारी तपस्याका प्रमाण कम था। यदि हमारी तपस्याका प्रमाण योग्य रहता तो विद्याका हम अवश्य संपादन कर लेते। एक जगह 'गीताजी' में भगवानने कहा है कि जिसकी भक्ति चिरस्थायी रहती है उसको बुद्धि वही दे देता है। इस वाक्यपर मेरी बड़ी श्रद्धा है।

मैं भी इसको मानता हूँ, पर भक्ति इस प्रकारसे सफल तभी होती है जब उसका लक्ष्य, उसका इष्ट, उसका विषय सद्विषय हो, अन्यथा नहीं। 'गीता' में ही कहा है, "दूसरे देवताओंको पूजनेवाले दूसरे देवताओंके पास जाते हैं, मेरा पूजनेवाला मेरे पास आता है।" और भी कहा है कि "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" और भी कहा है कि "ज्ञानके सदृश दूसरा पवित्र करनेवाला नहीं।" इन बातोंको विचार करके मेरे मनमें ऐसा रहा है कि तपस्याके आरम्भसे सच्चे अभीष्टका ज्ञान भी अत्यावश्यक है, नहीं तो तपस्यासे संचित शक्ति अवश्य कुमार्गपर चली जायेगी, जैसे रावण आदिकी। क्या यह ठीक नहीं है?

बिलकुल ठीक है।

इसी वास्ते मैं असहयोगके आरम्भसे यत्न कर रहा हूँ कि तत्कालका भी जो स्वराज्य है उसका अर्थात् बीचवाले औपनिवेशिक स्वराज्यका जो मुख्य तत्व है, अर्थात् योग्य प्रतिनिधियोंका चुनना, उसके विषयमें असहयोग रूपी तपस्याके साथ-साथ

उपयोगी ज्ञानका भी, विशेष रूपसे कांग्रेसकी ओरसे और नेताओंकी ओरसे, उपदेश किया जाये। क्या यह विचार अनुचित था?

यदि इसका अर्थ यह है कि लोगोंके सामने कोई योजना रखी जाये तो मैं इस रायपर आया हूँ कि ऐसी योजनासे ऐसा कोई फायदा नहीं होगा। परन्तु लोगोंको इस बारेमें ज्ञान देना, उनको जागृत करना, जिससे वे योग्य प्रतिनिधिको ही चुननेके लिए शक्तिशाली बन जायें, यह उचित है। प्रतिनिधियोंकी क्या-क्या योग्यता हो — उमर कितनी हो आदि — उसे मैं अभीसे बाँधना पसन्द नहीं करता। यह सब चुननेवालोंकी ही समझपर छोड़ना चाहिए।

चरखेके विषयमें, रुईके पैदा करने, संग्रह करने आदिके विषयमें, सूत कातने, कपड़ा बुनने-बेचने आदिके विषयमें बहुत तफसीलसे स्वयं अथवा सहायकों द्वारा आप जनताको निरन्तर उपदेश देते रहते हैं, वैसा क्या इस गम्भीर विषयमें कि योग्य प्रतिनिधि किन लक्षणोंसे पहिचाने जायें, आप जनताको कुछ थोड़ा भी दिग्दर्शन करना-कराना आवश्यक नहीं समझते? जो स्वयंसिद्ध बात है, जैसे दो और दो मिलके चार होते हैं, वह भी बच्चोंको बहुत परिश्रमसे सिखानी पड़ती है। खाली समयमें चरखा कातो यह भी प्रायः स्वतःप्रमाण बात है, पर यह भी आपके इतने परिश्रमपर भी लोकमें जैसी चाहिए वैसी नहीं फैली, फिर प्रतिनिधिकी योग्यताका निर्णय बिना किसी भी विशेष उपदेशके आप निर्वाचकोंकी समझपर कैसे छोड़ देना चाहते हैं? यदि उमरके विषयमें आप किसी मर्यादाकी सूचना देना अभी उचित नहीं समझते तो अन्य किसी योग्यताके बारेमें तो कुछ सूचना दीजिए?

इस बारेमें मैं कुछ लिख चुका हूँ और समय पानेसे यथायोग्य लिखता हूँ। पर सभामें इसके उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती। लोग जब प्रतिनिधि चुननेकी अवस्थाको पहुँचेंगे तब उनको इस बारेमें अवश्य उपदेश देना होगा, जिस तरह चरखे का दिया जाता है। प्रत्येक वस्तुका समय होता है।

अब दूसरे विषयपर प्रश्न करता हूँ। मजहबवालोंकी एकता क्या बिना उनको यह समझाये कि तुम सभी लोगोंके धर्मोका मुख्य तत्व एक ही है, हो सकती है? अर्थात् मजहबोंका असली एका बिना साबित किये, क्या मजहबवालोंका एका हो सकता है?

नहीं।

जब भिन्न धर्मवालोंको समझाया जाये कि सब धर्मोका हृदय एक ही है तब ही तो धर्मवालोंमें एका होगा?

हाँ।

इसके लिए क्या प्रयत्न होना चाहिए?

सब धर्मके जो अच्छे और सच्चे धर्माचारी लोग हैं उनको इस बातका प्रचार करना चाहिए।

आपने इस विषयमें कोई विशेष प्रयत्न किया है या करना चाहते हैं?

मैंने व्यक्तिगत प्रयत्न काफी किया और वह आज भी जारी है। हमारे यहाँ इस प्रचारके लिए अधिक लोगोंका अभाव है, अर्थात् हमारे यहाँ ऐसे बहुत कम मनुष्य हैं जो अन्य धर्मोंके गुण-अवगुण अलग करके, गुणग्राही बनकर सब धर्मोंके गुणोंका समन्वय करके लोगोंके सामने रखें।

तो क्या आपके जैसे प्रभावशाली नेता यह यत्न करना उचित नहीं समझते कि भारतवर्षमें जो धर्म प्रचलित हैं उनके कुछ चुने हुए उदार-हृदय, उदार-बुद्धि प्रतिनिधि एकत्र होकर एक कमेटी बनाकर इस प्रकारसे सब धर्मोंकी हार्दिक एकताके लिए व्याख्यान, लेख, आचार द्वारा यत्न करें?

मेरी समझके अनुसार यथाशक्ति मैंने प्रयत्न किया है परन्तु विद्वान् लोगोंको इकट्ठा करके ऐसा प्रयत्न करानेकी योग्यता मुझमें नहीं दीखती। इसलिए मैंने अपने व्यक्तिगत प्रयत्नसे सन्तोष मान लिया है।

समयकी कमीसे अब दूसरे विषयपर एक प्रश्न कर लेता हूँ। हिन्दू सभाकी ओरसे शुद्धि और संघटनकी पुकार हो रही है। आपके विचारमें क्या शुद्धिका काम बिना "कर्मणा वर्णः" के सिद्धान्तको माने चल सकता है, और संघटनका काम भोजनकी उस परस्पर अस्पृश्यताके मिटे बिना हो सकता है जो इस समय हिन्दू समाजकी हजारों जात्युपजातियोंमें फैली हुई है?

शुद्धि और संघटनके बारेमें मैंने अपने विचार 'यंग इंडिया' में श्रद्धानन्दजीके लिए जो स्तुति-लेख[1] लिखा है, उसीमें बताये हैं। उससे ज्यादा कहनेमें असमर्थ हूँ। हाँ, इतना कह दूँ कि भोजनके बारेमें जो पंक्तिभेद भी आजकल रखा जाता है वह हिन्दू संघटनका घातक है, इसमें कुछ शक नहीं है?

आपने तारीख ६-१-१९२७ के 'यंग इंडिया' में इस आशयसे लिखा है, "तबलीगको भी, और शुद्धिको भी, जो तबलीगका जवाब है, जड़से बदलना होगा। संसारके धर्मोंका उदार-बुद्धिसे अध्ययन करनेका अवश्य यह फल होगा कि धर्म परिवर्तनका वर्तमान अभद्र प्रकार समूल बदल जाये, जो ऊपरी आकारको ही देखता है और तात्त्विक वस्तुको नहीं। अपनी भक्तिको एक दलसे हटाकर दूसरे दलको देना, और प्रतिस्पर्धासे भिन्न धर्मवालोंका एक दूसरेको बुरा कहना — इसीसे परस्पर द्रोह पैदा होता है।" ... "शुद्धिका तीसरा रूप अन्वर्थ 'कन्वर्शन' अर्थात् धर्मपरिवर्तन है। वर्धमान सम्मर्षण (अन्योऽन्य सहन) और बुद्धि प्रकाशके युगमें ऐसे धर्मपरिवर्तनकी उपयोगितामें मुझे बहुत सन्देह है। मैं ऐसे धर्मपरिवर्तनका विरोध करता हूँ, चाहे हिन्दू लोग उसको शुद्धि कहें, चाहे मुसलमान लोग तबलीग, चाहे ईसाई लोग प्रॉसीलैटॅजिंग।"

१. देखिए "स्वामीजीके संस्मरण", ६-१-१९२७।

मैं भी आपके इन सब विचारोंका हृदयसे अनुमोदन करता हूँ। आपने इन शब्दोंको कहकर थियोसाफिकल सोसाइटीके पहले और दूसरे उद्देश्योंका पूरा समर्थन किया है। यह सोसाइटी आज इक्यावन वर्षसे काम कर रही है और जिसका मैं तैंतालीस वर्षसे सदस्य हूँ। किन्तु प्रत्यक्ष है कि वह 'वर्धमान सम्मर्षण और बुद्धिप्रकाश' बहुत ही मंदगतिसे वर्धमान हैं, और उस "संसारके धर्मोंके उदार बुद्धिसे अध्ययन" से, जिससे "धर्मपरिवर्तनका वर्तमान अभद्र प्रकार समूल बदल जायेगा" जो मनुष्योंके केवल ललाटोंपर लगाये हुए धर्मके साइन बोर्डोंको, ध्वजोंको, बदल देता है — उस अध्ययनसे भी प्रत्यक्ष है कि अभीतक उन बहुशिक्षित मनुष्योंकी क्रियापर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा है जो इन विविध धर्मपरिवर्तनोद्योगोंको पीछेसे चलानेवाले हैं। ऐसी अवस्थामें क्या यह उचित नहीं है कि आप सरीखे बड़े नेता उस परस्पर सम्मर्षण और बुद्धि-प्रकाशकी वृद्धिके लिए, तथा विविध धर्मोंके उदारभावसे अध्ययनकी शीघ्रतर प्रगतिके लिए, विशेष प्रकारसे और प्रत्यक्ष रूपसे यत्न करें (जैसा मेरे प्रस्ताव नम्बर ६ का आशय है), और देश-भरमें स्थान-स्थानपर समितियाँ स्थापित करें जो इस अत्यावश्यक कामको करें जिसको थियोसाफिकल सोसाइटीने इधर कुछ वर्षोंसे छोड़-सा रखा है? अपने प्रश्नका आशय स्पष्ट करनेके लिए यह और कह देना चाहता हूँ कि जब मैंने अपने पहले प्रश्नमें पूछा कि 'कर्मणा वर्णः' का सिद्धान्त शुद्धिकार्यका एकमात्र मूल भी और पूर्तिकर्त्ता भी है या नहीं, तब मेरा अभिप्राय यही था कि यदि यह मान लिया जाये तो सारा मनुष्य संसार तत्काल ही तात्त्विक हिन्दुत्वमें सम्मिलित किया जा सकेगा, और किसी विशेष धर्मकी ध्वजा-पताका चिह्न आदिके बदलनेकी भी आवश्यकता न होगी।

मैं एक (अंग्रेजी) कविके शब्दोंमें ही उत्तर दे सकता हूँ कि 'मैं दूरके लक्ष्यको देखनेकी इच्छा नहीं करता हूँ, मेरे लिए एक कदम ही पर्याप्त है'। अन्ततोगत्वा भविष्य तो मनुष्य-मात्रकी समस्त वर्तमान क्रियाओंका, जो बहुधा परस्पर-विरोधिनी होती हैं, फलस्वरूप ही होगा।

मेरे प्रस्ताव नम्बर २ में मैंने जिन योग्यताओंकी सूचना की है, कि ये प्रतिनिधियोंमें होनी चाहिए, उनमें से कोई भी आपके विचारमें उचित है?

प्रायः सभी। पर कानूनमें उनका उल्लेख होना ठीक नहीं। यह बात तत्त्वतः निर्वाचकोंके शिक्षण ही की है।

आप प्रायः इसको अनुचित नहीं समझते कि स्वयंसेवकोंका दल कांग्रेसके सम्बन्धमें सार्वजनिक कार्य करनेके लिए बनाया जाये। यदि ऐसा है तो क्या आपके विचारमें यदि स्वयंसेवकोंसे उन योग्यताओंकी आशा की जाये और वह बातें मान ली जायें जिनकी सूचना मैंने प्रस्ताव नम्बर ५ क-खमें की है, तो यह दल बहुत अधिक कार्यसाधक हो जायेगा? यदि उन योग्यताओंमें से आपके विचारसे कोई अनुपयुक्त हो, या कोई दूसरी योग्यता अधिक उपयुक्त हो तो कृपा करके उसे बताइए।

यदि सम्भव हो तो ऐसा दल बनाना अभीष्ट है। योग्यताएँ भी ठीक हैं। पर अनुभव कहता है कि अभी हम लोगोंकी अवस्था ऐसी नहीं है कि समग्र भारतवर्षके लिए हम लोग कोई ऐसा दल बना सकें। केवल प्रस्ताव पास करनेसे ऐसा दल नहीं उत्पन्न हो जायेगा।[1]

आज, १९-२-१९२७

२२६. भाषण : बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें[2]

बनारस
९ जनवरी, १९२७

गांधीजीने कहा कि कुछ हल्कोंसे मुझे ऐसी सलाह दी जा रही है कि आपको जो कहना था सो तो अब बहुत कह चुके। अब आपकी कोई नहीं सुन रहा है। फिर आप खादीकी बात करना बन्द क्यों नहीं कर देते?

लेकिन मैं अपने प्रिय मन्त्रका जाप करना क्यों छोड़ दूँ? क्या मेरे सामने प्रह्लादका वह प्राचीन उदाहरण नहीं है? उसे मृत्युसे भी अधिक कठोर यातनाएँ दी गईं लेकिन उसने रामनामका जाप नहीं छोड़ा। मुझे तो अबतक कोई यातना भी नहीं सहनी पड़ी है। फिर मैं लोगोंको वह सन्देश देना कैसे बन्द कर सकता हूँ जो देशकी स्थिति मेरे कानोंमें आकर बार-बार सुना रही है? पंडितजीने[3] आपके लिए राजाओं-महाराजाओंसे लाखों रुपये इकट्ठे किये और आज भी कर रहे हैं। देखनेमें तो लगता है कि यह पैसा धनाढ्य राजाओं-महाराजाओंसे मिलता है, लेकिन वास्तवमें करोड़ों गरीब लोगोंसे ही मिलता है। कारण यह है कि यूरोपके विपरीत हमारे यहाँके धनाढ्य लोगोंका धन हमारे उन ग्रामीण भाइयोंकी कीमतपर ही बढ़ता है जिनमें से अधिकांशको दिनमें एक बार भी पूरा भोजन नहीं मिलता। इस प्रकार आप जो शिक्षा पाते हैं, उसकी कीमत वे क्षुधार्त ग्रामवासी चुकाते हैं जिन्हें यह शिक्षा कभी भी नसीब नहीं होगी। इसलिए आपका यह कर्त्तव्य है कि जो शिक्षा आपके गरीब भाइयोंकी पहुँचसे परे है, वह शिक्षा ग्रहण करना आप बन्द कर दें। किन्तु आज मैं आपसे यह करनेको नहीं कह रहा हूँ। आज तो मैं आपसे उनके लिए मात्र एक छोटा-सा

१. डॉ० भगवानदासकी टिप्पणीके अनुसार इस प्रश्नोत्तरका अधिकांश भाग हिन्दीमें था। केवल कुछ अंश ही अंग्रेजीमें था जिसका हिन्दी अनुवाद कर दिया गया था। प्रकाशनसे पूर्व इस प्रश्नोत्तरके प्रूफ महात्माजीको दिखला लिये गये थे और उनकी स्वीकृतिके बाद ही आजमें उन्हें प्रकाशित किया गया।

२. इस सभाका आयोजन गांधीजीके आगमनसे सप्ताह-भर पूर्व वाइसरायके आगमनके अवसरपर खड़े किये गये शामियानेमें किया गया था। सभामें लगभग २००० विद्यार्थी मौजूद थे। यह रिपोर्ट महादेव देसाईके "साप्ताहिक पत्र" से ली गई है।

३. पण्डित मदनमोहन मालवीय।

यज्ञ करके उनके उपकारका थोड़ा-सा प्रतिदान ही देनेको कह रहा हूँ। कारण, 'गीता' में कहा है कि जो व्यक्ति यज्ञ किये बिना खाता है वह चोरीका माल खाता है। युद्धकालमें ब्रिटेनके तमाम नागरिकोंसे जिस यज्ञकी अपेक्षा की जाती थी वह यह था कि हर परिवार अपनी बाड़ीमें आलू पैदा करे और हर परिवार थोड़ी-सी सीधी-सादी सिलाई किया करे। हमारे लिए हमारे युगका यज्ञ चरखा चलाना है। मैं दिन-रात इसके बारेमें कहता रहा हूँ, लिखता रहा हूँ। अब आज और अधिक नहीं कहूँगा। अगर भारतके गरीबोंका यह सन्देश आपके हृदयको छू पाया है तो मैं आपसे कहूँगा कि आप कल ही कृपालानीके खादी भण्डारपर धावा बोल दें और उसके सारे मालको खरीदकर उसे खाली कर दें तथा आजकी रात अपनी जेबोंको बिलकुल खाली कर डालें। पंडितजीने भिक्षाटन कलाको खूब सिद्ध कर लिया है। मैंने भी यह कला उन्हींसे सीखी है, और अगर वे राजाओं-महाराजाओंसे धन वसूल करनेमें सिद्धहस्त हैं तो मैंने भी गरीबोंकी जेबोंको उनसे भी गरीब लोगोंकी खातिर खाली करवानेके लिए उतनी ही बेहयाई बरतना सीखा है।

* * *

आपके लिए लाखों रुपये भीख माँगने, आपके लिए ये शानदार इमारतें खड़ी करनेमें, मालवीयजीका एक उद्देश्य यहाँसे विशुद्धतम कान्तिवाले रत्न तैयार करके देशको देना है, और मातृभूमिकी सेवाके लिए अच्छे और सशक्त नागरिक प्रस्तुत करना है। अगर आप उस हवाके झोंकेमें बह जायेंगे जो पश्चिमसे आ रही है तो उनका उद्देश्य विफल हो जायेगा। ऐसा नहीं है कि सारा यूरोप इन तरीकोंका हामी है। ऐसे यूरोपीय भाई भी हैं, लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है, जो उस विषाक्त प्रवृत्तिको रोकनेके लिए संघर्षरत हैं। लेकिन, अगर आप समय रहते सचेत नहीं हो जायेंगे तो अनैतिकताका जो झंझावात तेजीके साथ बल पकड़ रहा है, वह इतना प्रबल हो जा सकता है कि आपको अपनी चपेटमें लेकर बिलकुल विवश कर दे। इसलिए मैं अपने हृदयकी समस्त शक्तिसे आपसे कहता हूँ: सावधान हो जाइए, इस आगसे समय रहते बच निकलिए, अन्यथा यह आपका सर्वनाश कर देगी।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २०-१-१९२७

२२७. भाषण: श्रद्धानन्द-स्मृति सभा, बनारसमें

९ जनवरी, १९२७

महात्माजीने कहा कि आज बड़ा पवित्र दिन है और यह सभा भी बहुत अच्छे स्थानपर हो रही है जहाँ मन्दिर और मस्जिद बगल-बगलमें हैं। कोई मुसलमान स्वामी श्रद्धानन्दजीको शत्रु समझता हो तो वह गलती करता है। वे वीर पुरुष थे। उनको वीर गति प्राप्त हुई। वे धर्म और सत्यके अनुसार बड़े साहस और वीरतासे अपना काम करते रहे।

आज, १०-१-१९२७

२२८. भाषण: अस्पृश्योंकी सभा, बनारसमें

९ जनवरी, १९२७

महात्माजीने कहा:

आपका अभिनन्दनपत्र पाकर मैं अपनेको कृतार्थ हुआ समझता हूँ। यदि मुसलमान समझ लें तो आजका दिन उनके लिए भी पत्रिव है, क्योंकि स्वामी श्रद्धानन्दकी आत्मा तथा गुणोंका स्मरण करनेके लिए हम लोगोंने आज गंगा-स्नान किया है। हमने इसलिए स्नान किया है कि उनके गुण हममें भी आ जायें। स्वामीजी अछूतोंके मित्र थे, उनके दुःखसे वे दुःखी होते थे, इसीके कारण उन्होंने देहका त्याग किया। यह अच्छा ही है। यदि किसीका धर्मके कारण खून किया जाये तो जिसका खून होता है उसका भला ही होता है, उसके लिए इससे बढ़कर कोई मृत्यु नही है। स्वामीजी इतने सख्त (दृढ़) थे कि जहाँ अछूतोंको जानेका अधिकार नही था वहाँ उन्हें स्वयं भी जानेमें कष्ट होता था, जैसा कि युधिष्ठिर वगैर अपने कुत्तेको साथ लिए स्वर्गमें नहीं जाना चाहते थे। अछूतोंमें दोष भी हैं। कुछ अछूत शराब पीते हैं। यह छोड़ना चाहिए। यह न कहना चाहिए कि दूसरे वर्ण तो पीते हैं, क्योंकि अछूतोंको आगे बढ़ना है। गुणोंका अनुकरण करना चाहिए, दोषोंका नही। जुआ नही खेलना चाहिए। झूठ नही बोलना चाहिए, साफ रहना चाहिए। हमको सुबह-शाम 'राम-राम' कहकर अपनी आत्माकी शुद्धि करनी चाहिए। हम सबको खद्दर ही पहनना चाहिए, क्योंकि इससे गरीबोंको जीविका मिलती है। आज देशभरमें स्वामीजीके नामपर अछूतोद्धारके लिए चन्दा इकट्ठा होगा। हम चाहते है कि कमसे-कम एक-एक पैसा आप लोग भी दें।

अन्तमें महात्माजीने ईश्वरसे प्रार्थनाकी कि अछूत कहानेवाले लोगोंका हृदय पवित्र हो और वे भी हिन्दू जातिके स्तम्भ बनें।

आज १०-१-१९२७

२२९. भाषण: महिलाओंकी सभा, बनारसमें[1]

९ जनवरी, १९२७

भगिनियो, मैं अभी एक सभासे आ रहा हूँ और एक बड़ी सभामें जाना है। अगर आप लोग शान्त होकर सुनें तो मैं आपसे दो बातें कहूँ। पहली बात तो यह कि अगर आप हिन्दुस्तानमें स्वराज्य यानी रामराज्य चाहती हैं तो आप सीताकी तरह शुद्ध हों। सीताजी अपने मन और शरीर दोनोंसे पवित्र थीं। लंकासे वापस आनेपर जब उनकी अग्नि-परीक्षा हुई तो अग्निने उन्हें स्पर्शतक नहीं किया। क्यों? इसलिए कि वे शरीर ही से नहीं बल्कि हृदयसे भी शुद्ध थीं। उस समय विलायतसे कपड़ा नहीं आता था, विलायती वस्त्र नहीं पहना जाता था। सब चरखा चलाती थी और खादी पहनती थीं। विदेशी वस्त्रोंसे कोई सौन्दर्य नहीं बढ़ता। मन और शरीरको पवित्र करना ही असली सौन्दर्य है। मन और शरीरको पवित्र रखनेवाली स्त्री ही हमारी पूज्य हो सकती है। इसलिए बहिनो, तुम खादी पहनो और चरखा चलाओ और पवित्र बनो। अपने लड़के-लड़कियोंको भी खादी पहनाकर शुद्ध बनाओ। खादीके कार्यके लिए अगर आप लोग कुछ देना चाहती हों तो मुझे दें।

दूसरी बात जो मैं आज आप लोगोंसे कहना चाहता हूँ वह स्वामी श्रद्धानन्दजीकी मृत्युके बारेमें है। वे मरे नहीं, बल्कि हमारे हृदयमें जीवित हैं। वे वीर थे, उनकी आत्मा महान् थी। हम लोगोंने आज गंगा-स्नान किया और उनको श्रद्धांजलि दी और ईश्वरसे प्रार्थना की कि वह उनके गुण हमको भी दे ताकि हम उनके कार्यको कर सकें।

आज, १२-१-१९२७

२३०. भाषण: बनारसकी सार्वजनिक सभामें

९ जनवरी, १९२७

महात्माजीने उत्तरमें अभिनन्दनपत्रके लिए धन्यवाद देते हुए कहा:

[म्युनिसिपल] बोर्ड द्वारा दिये गये पत्रमें यह बात कही गई है कि मैं काशीजी-से अपना नया कार्य शुरू कर दूँ। मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि मैं यहाँ कोई नया कार्य बताने नहीं आया हूँ और न मुझे किसी नये कामका पता ही है। इसलिए जो लोग कोई नया कार्यक्रम जाननेके लिए यहाँ आये होंगे उनको नाउम्मीद होना पड़ेगा और उसका मुझे दुःख है। मैं जिस बातमें लोगोंकी भलाई समझता हूँ वही लोगोंके सामने रखता हूँ। हमारे हिन्दुस्तानमें जितनी कंगाली है, जितनी गरीबी है उतनी दुनियामें कहीं नहीं है। गरीबोंके लिए काम चाहिए, किसानोंके लिए चार महीनेके

१. यह हिन्दू स्कूलके काशी नरेश हॉलमें हुई थी।

वास्ते काम चाहिए। गरीबोंको पैसा दे देनेसे हमारे उद्देश्यकी पूर्ति नही हो सकती। इससे वे भिखारी हो जायेंगे। उनके लिए और किसानोंके लिए सबसे अच्छा काम चरखा है। इससे बढ़कर आसान धन्धा अभीतक मुझे किसीने नहीं बताया है। इसलिए मेरी आप लोगोंसे प्रार्थना है कि आप खादी पहनें, चरखा चलायें और इस काममें मदद दें। आपसे मेरी प्रार्थना है कि सभा खतम होनेपर आप लोग खादी प्रदर्शनी देखने जायें। उसको देखनेके बाद आपको मालूम हो जायेगा कि कितनी अच्छी खादी तैयार होती है। अगर खादीके काममें हमें लोगोंसे मदद मिले तो इससे दस गुना काम हो सकता है।

हमारे दिलमें खुदा रहता है। हम उससे पूछें तो मालूम होगा कि गरीबोंके हाथसे बने हुए कपड़ोंको पहनना हमारा कर्त्तव्य है। विदेशी लोग तो अपना माल देनेके लिए हमें मुफ्तमें कपड़ा दे सकते हैं। जो लोग गरीबोंके लिए दो पैसा अधिक देनेसे डरते हैं, वे सच्चे सनातनधर्मी और पाक मुसलमान नही हो सकते। जो गरीबोंकी मदद नही कर सकते उनका ईश्वरका नाम लेना व्यर्थ है।

मैं बंगाली टोला, और हिन्दू स्कूलसे स्त्रियोंकी सभासे आ रहा हूँ। स्त्रियोंने कुछ चन्दा दिया है। उन्होंने गहना भी उतार कर दे दिया है। यहाँ भी बहनें मौजूद हैं। उनसे भी कहता हूँ कि वे सीताजीकी तरह पवित्र बनें। उनकी जब अग्नि-परीक्षा ली गई, उन्होंने जब अग्निमें प्रवेश किया तो भी वे जली नहीं, अग्निने उन्हे स्पर्श नहीं किया। सीताजीके बदनसे विदेशी वस्त्र छू भी नही गया था। सीताजी और उनकी दासी चरखा चलाती थीं। सीताजीके युगमें सूत काता जाता था और उसीका बुना हुआ वस्त्र हम पहनते थे। स्त्रियोंसे मेरी प्रार्थना है कि वे भी चरखा चलायें और खादी पहनें।

अब मुझे सुनाया जाता है कि मैं हिन्दू-मुस्लिम प्रश्नके मामलेमें क्यों चुप रहता हूँ। यह प्रश्न अब हमारे हाथोंसे निकल गया है। आज स्वामी श्रद्धानन्दजीको जलांजलि देनेका दिन है। हमें चाहिए कि हम उनकी आत्माके साथ मिलन करें। एक भाई पागल हो गया और उसने उनकी हत्या कर दी। उनकी वस्तुतः मृत्यु नही हुई है। वे अब भी जीते हैं। अगर वह आदमी पागल न हो गया होता तो यह बात नामुमकिन थी। मेरे पास पत्र आते हैं कि इस घटनाके पीछे बहुतसे लोग हैं। मुझे इन सबका पता नही है। पर मैं यह जानता हूँ कि उनकी हत्या 'कुरान' के विरुद्ध है। श्रद्धानन्द मुसलमानोंके दुश्मन थे, यह मैं नहीं मान सकता। उनकी सब बातोंसे मेरी सहमति न थी, उनके सब मतोंसे मैं सहमत न था, तो भी मैं कई दफा कह चुका हूँ कि मुसलमान लोग स्वामी श्रद्धानन्दजी, मालवीयजी और लालाजीको दुश्मन न समझें। सबको स्वतन्त्रता और निर्भयताके साथ अपने खयालोंको प्रकट करनेका अधिकार है। अपना धर्म बतानेका सबको अधिकार है। स्वामीजी सब जीवोंके साथ दया करनेवाले थे। अब तो अछूतोंके साथ बहुत-कुछ मनुष्यताका व्यवहार होने लगा है। इस सम्बन्धमें हम बहुत कुछ आगे बढ़े हैं और उन्नति की है। स्वामी श्रद्धानन्दजीने बहुत शुरूसे इस बारेमें काम किया है। अछूतोद्धार उनके कार्यका मुख्य अंग था।

अब दिन आ रहा है कि हिन्दू और मुसलमान अपना दिल साफ करेंगे और तब ईश्वर प्रसन्न होगा। स्वामीजीकी आत्माको प्रसन्न करनेका उपाय यही है कि उनके अछूतोद्धारके काममें आप लोग मदद दें।

हिन्दुओंसे मुझे कहना है कि वे अस्पृश्यताका कलंक धो डालें। यही सच्ची शुद्धि होगी। वे बदला लेनेका भाव अपने मनमें न लावें। अगर वे ऐसा खयाल करेंगे तो वे श्रद्धानन्दजीकी आत्माको दुःखी करेंगे और यह हिन्दू धर्मके लिए कलंककी बात होगी। पागलपनका जवाब पागलपन नहीं हो सकता। हिन्दुओंसे मेरी प्रार्थना है कि वे बदला लेनेकी कोशिश न करें, इरादातक न करें। ऐसा करना स्वामी श्रद्धानन्दजीकी आत्माको दुःख देना होगा।

मुसलमानोंसे मेरा कहना है कि मैं चाहता हूँ कि एक मुसलमान भी ऐसा न हो जो अपने कमरेमें बैठकर स्वामी श्रद्धानन्दजीकी हत्याकी बातको पसन्द करे। 'कुरान' में ऐसी बातका हरगिज समर्थन नहीं किया जा सकता। हम सब अगर हिन्दुस्तानको आजाद करना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि हम अपने दिलोंको साफ करें।

आज, १२-१-१९२७

२३१. पत्र : मीराबहनको

बनारस उर्फ काशी
१० जनवरी, १९२७

असंशोधित

चि० मीरा,

तुम्हारा पत्र मिला, या कहूँ कि तुम्हारे पत्र मिले? स्टेशन जानेका समय हो गया है, फिर भी यह खत लिख रहा हूँ।

तुम्हें जो तरह-तरहके अनुभव हो रहे हैं, उन सबसे मुझे खुशी है। जबतक तुम अपना स्वास्थ्य और मानसिक सन्तुलन बनाये रखोगी, मैं तुमसे नाराज नहीं होऊँगा। बाकी तो हम भूलें करके ही सीखते हैं। ऐसा नहीं कि मेरी जानमें तुमने कोई भूल की है। परन्तु जहाँ भूल होनेका ज्ञान हो, वहाँ अधिकांश मामलोंमें सुधार कर लेनेकी तैयारी ही काफी प्रायश्चित्त और इलाज है।

काशीमें मुझे बहुमूल्य अनुभव हुए, मगर उनकी चर्चा करनेका मेरे पास समय नहीं है।

सस्नेह,

बापू

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५११९६) से।
सौजन्य : मीराबहन

२३२. पत्र : आश्रमकी बहनोंको

काशी
मौनवार, पौष सुदी ६[1] [१० जनवरी, १९२७]

बहनो,

चि० राधाका लिखा हुआ पत्र मुझे कल ही मिला। मैं देखता हूँ कि तुम्हारी सात बजेकी प्रार्थना नियमसे हो रही है और उसमें सबको आनन्द आता है। इससे मुझे खुशी होती है। काकासाहबका कहना ध्यानमें रखने लायक है। 'हां' या 'ना' कहकर बैठे रहनेके बजाय हमें उसके कारण समझने और समझानेकी शक्ति पैदा करनी चाहिए।

कल श्रद्धानन्दजीका श्रद्धांजलि दिवस था। पं० मालवीयजी अभी काशीमें ही हैं। उन्होंने अन्त समयपर कहलवाया कि गंगाघाट नहाने जाना है और वहां अंजलि देनी है। मैं तैयार हो गया और राष्ट्रीय विद्यापीठके विद्यार्थी, जो मुझसे मिलने आये थे, उन्हें साथ ले लिया। दो-दोकी कतार बाँधकर हम निकल पड़े। मालवीयजी शामिल हो गये और हमारा जुलूस बढ़ता गया। गंगाघाटका वर्णन करनेका तो मुझे समय नहीं है। यह दृश्य भव्य है। घाटपर मैं जितनी चाहता हूँ उतनी सफाई नहीं है।

स्नान करके हम काशी-विश्वनाथके दर्शनोंके लिए गये। वहांका शेष वर्णन तो शायद महादेव करेगा। जर्मन बहन हमारे साथ थीं। उन्हें घुसने देंगे या नहीं, इस बारेमें शक था। वह बहन बौद्ध है, इसलिए हिन्दू मानी जायेगी। उसे कोई कैसे रोक सकता है? उसे रोकेंगे तो मुझे नहीं जाना है, यह मैंने सोच रखा था। मगर पंडेको यह बतानेपर कि वह हिन्दू है, वह चुप हो गया।

काशी-विश्वनाथकी गलीकी गन्दगीकी तो क्या बात लिखूं?

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० ३६३४) की फोटो-नकलसे।

१. ऐसा लगता है कि पौष सुदी ७ की जगह भूलसे पौष सुदी ६ लिख दिया गया है क्योंकि मौनवार पौष सुदी ७ को था।

२३३. पत्र : मणिलाल गांधीको

काशी
सोमवार [१० जनवरी, १९२७][1]

चि० मणिलाल,

तुम्हारा पत्र मिला। बा उसे भले पढ़ ले। अभीतक तो वह मैंने उसे पढ़नेके लिए दिया नहीं है, लेकिन देनेका विचार रखता हूँ। तुमने यदि हरिलालको दस रुपये भी न दिये होते तो उसपर उपकार होता। लेकिन तुमने दिये इसकी चिन्ता नहीं है। इसे मैं बड़ी भूल नहीं मानता। अनेक बार कठोरता ही सच्ची दया सिद्ध होती है और कोमलता निर्दयताका काम करती है। यदि सारा जगत शुद्ध हृदयसे हरिलालके प्रति कठोर बन जाये तो उसकी आँखें अभी खुल जायें। लेकिन चूँकि सब लोग दोषोंसे भरे हुए हैं इसलिए शुद्ध कठोरता नहीं दिखा सकते। हम स्वयं दयाके इच्छुक हैं। इसीलिए दूसरेके प्रति झूठी दया दिखाते हैं। तुमने हरिलालको दस रुपये दिये, इसके लिए मैं तुम्हें डाँट नहीं रहा हूँ बल्कि ज्ञान दे रहा हूँ। अभी तुम्हें अनेक बार कसौटीपर चढ़ना होगा।

तुम्हारे लिए व्यवस्था कर रहा हूँ। तुम निश्चिन्त रहो लेकिन योग्य बनो। एक पल भी व्यर्थ न गँवाना। शक्ति हो तो 'यंग इंडिया' अथवा 'नवजीवन' के लिए ई० आ० के विषयमें लेख लिखकर मुझे तुरन्त भेजना।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० १११८) से।
सौजन्य : सुशीलाबहन गांधी

२३४. पत्र : मीराबहनको

१० जनवरी, १९२७

चि० मीरा,

तुम्हारा वह पत्र मिल गया, जिसमें तुमने हकीमजीके साथ गाड़ीमें घूमनेका वर्णन किया है। मुझे इसमें कोई एतराज नहीं है कि तुम ब्रजकिशनजीके यहाँ स्वादिष्ट भोजन खा लो या हकीमजीसे पान ले लो। हकीमजीने तुम्हें पानके लिए लुभाया, इसका मुझे दुःख है। वह बुरी चीज है और उन्हें चाहिए था कि वे तुम्हें पान हरगिज न देते। परन्तु रायें अलग-अलग होती हैं। स्पष्ट है कि वे इसे निर्दोष समझते हैं। फिर भी स्वादिष्ट भोजन और पानका स्वाद लेनेको उचित ठहरानेके लिए

1. सोमवार १० जनवरी, १९२७ को गांधीजी बनारसमें थे।

तुमने जिस दलीलसे काम लिया है, वह मेरी रायमें दोषपूर्ण है। जिस चीजके लेने-की जरूरत न हो या इच्छा न हो, उसका स्वाद हमें क्यों जानना चाहिए? क्या तुम्हें मालूम है कि हर तरहकी बुराईको उचित ठहरानेके लिए हमेशा यही दलील दी गई है? यह वर्जित सेवका[1] लाखो बार दोहराया हुआ किस्सा है; यानी यह प्रश्न कि जिस चीजको लेने या छूनेसे मुझे मना किया जाता है, उसका स्वाद मुझे क्यों नहीं जानना चाहिए। मगर तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिए। अगर मेरा तर्क तुम्हारी समझमें न आये तो तुम्हें मुझसे धीरजके साथ बहस करनी चाहिए। अगर तुम मेरे तर्ककी कद्र करती हो तो वह भविष्यमें चेतावनीका काम दे सकेगा। मगर इसका परिणाम आत्म-प्रताड़ना नहीं होना चाहिए। इसकी कोई जरूरत नहीं। घटना तो तुच्छ है। परन्तु तुच्छ बातोंमें भयंकर सम्भावनाएँ छिपी रहती हैं। इसलिए मैंने पिताकी तरह तुम्हें सावधान किया है।

अब तुमने कन्या गुरुकुलका जो विश्लेषण किया है, उसके सम्बन्धमें। मैं आशा करता हूँ कि तुमने विद्यावतीसे इसके बारेमें बात की है। लेकिन तुम्हें इसके बारेमें आचार्य रामदेव और आचार्य सेठीसे खुलकर बात करनी चाहिए। आचार्य रामदेव उनके पथ-दर्शक हैं और उनको जँच जाये तो तत्काल सुधार किया जा सकता है। मैं उन्हें तुम्हारे पत्रका सम्बन्धित अंश उद्धृत करके भेजूँगा। उससे तुम्हारी स्थिति काफी स्पष्ट हो जायेगी। अस्वच्छता और अनुशासनहीनता समाप्त होनी ही चाहिए। मुस्लिम-विरोधी भावना जरा ज्यादा टेढ़ी खीर है। लेकिन तुम्हें अपना कर्त्तव्य करना है। अगर रोका जा सके तो छोटी बालिकाओंके दिमागमें जहर न घोलना चाहिए। लेकिन इन सभी बातोंकी चर्चा करते हुए भी अपनी सीमाओंका ध्यान रखना। तुम वहाँ हिन्दी सीखने और अनुभव प्राप्त करने गई हो, सुधार करने या शिक्षा देने नहीं। इसलिए तुम जो-कुछ कहो, सिर्फ सुझावके तौरपर यों ही कहो, जिसे चाहे स्वीकार किया जाये, चाहे न किया जाये। तुम्हारा अपना आचरण ही सुधारकी दिशामें पर्याप्त प्रयत्न है।

यह पत्र मैं चलती गाड़ीमें अपने मौनके दरमियान लिख रहा हूँ। मौन रातके नौ बजे खुलेगा।

सस्नेह,

बापू

[पुनश्च :]

हाँ, जब तुम तकली-कताईका निरीक्षण करने दिल्ली जाओ तो ब्रजकिशनके यहाँ ठहर सकती हो।

बापू

[पुनश्च :]

क्या तुम मेरा लिखा पढ़ पाती हो?

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५१९५) से।
सौजन्य : मीराबहन

१. बाइबिलका आदम और हौवाका प्रसिद्ध किस्सा।

२३५. पत्र : नानाभाई इच्छाराम मशरूवालाको

ट्रेनपर
सोमवार [१० जनवरी, १९२७][1]

भाईश्री नानाभाई,

तुम्हारा पत्र मिला। मुझे लगता है कि दास्तानेकी माँग उचित है। इस बार मैं चन्दा उगाहनेके निमित्त यात्रा कर रहा हूँ, इसलिए मुख्य रूपसे वहाँ ही जाऊँगा जहाँ उसकी आशा हो; लेकिन मानता हूँ कि अकोला तो यात्रामें होगा ही। जहाँ तुम्हारे जैसे खादीभक्त हों वहाँ मैं न जाऊँ ऐसा हो ही नहीं सकता। पहले मैं तुम जैसा लिखते हो उसी भावसे यात्रा किया करता था। यह भेद यदि तुम्हें समझ न आया हो तो फिर पूछना। उम्मीद है, बहन गोमतीका[2] बुखार उतर गया होगा और किशोरलाल अबतक चले गये होंगे।

बापूके आशीर्वाद

श्रीयुत नानाभाई इच्छाराम मशरूवाला
अकोला जिला

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ४३१९) की फोटो-नकलसे।
सौजन्य : कनुभाई मशरूवाला

२३६. पत्र : गंगाबहन वैद्यको

[१० जनवरी, १९२७ के पश्चात्][3]

चि० गंगाबहन,

भूलें होनेसे घबरानेकी कोई जरूरत नहीं। प्रयत्न करनेसे वे खुद-ब-खुद दूर हो जायेंगी।

जिसका मन निरन्तर परोपकारमें रत रहता है वह आसानीसे आत्मिक उन्नति प्राप्त करता है। तुम तो परोपकार करती ही रहती हो, इसलिए सब कुशल ही है।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ८७०४) से।
सौजन्य : गंगाबहन वैद्य

१. डाककी मुहरपर १३ जनवरी, १९२७ तारीख है। सोमवार १० तारीखको पड़ा था।
२. किशोरलाल मशरूवालाकी पत्नी।
३. यह पत्र गंगाबहनके १० जनवरी, १९२७ के पत्रके उत्तरमें लिखा गया था।

२३७. पत्र : गोरक्षा समिति, मैसूरको

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
११ जनवरी, १९२७

प्रिय मित्र,

आपके २७ नवम्बर, १९२६ के पत्रका जवाब देनेमें बहुत विलम्ब हुआ है, इसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। मुझे आपका पहला पत्र यथा-समय मिल गया था। मेरे खयालसे वह बिलकुल औपचारिक था, और चूँकि मेरे पास कुछ खास कहनेको नहीं था इसलिए मैंने आपको उत्तर नहीं दिया। आपके दूसरे पत्रसे मुझे लगा कि आप मेरी राय प्राप्त करनेको उत्सुक हैं। लेकिन उस समय मैं काममें इतना व्यस्त था कि ठीक विचार करके कुछ लिख भेजनेका अवकाश ही नहीं था। यह जवाब भी मैं बिहार-यात्राके दौरान दे रहा हूँ। मुझे आशा है कि आप इन तथ्योंको मेरे उत्तरमें विलम्बका पर्याप्त कारण मान लेंगे। शायद अब कोई जरूरत भी न हो, तथापि मैं अपने मनको सन्तोष देनेके लिए आपसे कहना चाहता हूँ कि पहले उत्तर न देनेमें आपके प्रति मंशा असौजन्य दिखानेका नहीं था और अब जब कि मुमकिन है मेरा उत्तर वक्त निकल चुकनेके बाद पहुँचेगा, वैसा कोई भाव नहीं है।

मैं धर्मके मामलेमें राज्य द्वारा किसी प्रकारके हस्तक्षेपके विरुद्ध हूँ, और भारतमें गायका सवाल धर्म और अर्थका मिलाजुला सवाल है। जहाँतक आर्थिक प्रश्नका सम्बन्ध है, मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है कि मवेशियोंकी रक्षा करना हर राज्यका कर्त्तव्य है, चाहे वह हिन्दू राज्य हो या मुसलमान राज्य। किन्तु यदि मैं आपकी प्रश्नावलीको ठीक समझा हूँ तो उसका मन्शा यह जाननेका है कि गोवधका नियमन करनेके लिए, उन मामलोंमें भी जिन्हें मुसलमान धार्मिक मानते हैं, क्या राज्यका हिन्दू और मुसलमानोंके बीच हस्तक्षेप करना उचित होगा अथवा नहीं। मैं भारतको जितना यहाँ जन्म लेनेवाले हिन्दुओंका देश मानता हूँ उतना ही वह यहाँ जन्म लेनेवाले मुसलमानों, ईसाइयों और अन्य लोगोंका देश भी है। और भारतके किसी हिन्दू राज्यमें भी यदि वहाँकी कोई प्रजा धार्मिक उद्देश्यसे गोवध करना चाहे तो बिना ऐसी प्रजाके प्रबुद्ध बहुमतकी मर्जीके उसका निषेध नहीं होना चाहिए, बशर्ते कि गोवध खानगी तौरपर किया जाये और हिन्दुओंको उत्तेजित करने या चोट पहुँचानेका कोई मन्शा उसमें न हो। यह अवश्यम्भावी है कि इस प्रकारके गोवधकी जानकारी-मात्रसे हिन्दुओंको ठेस पहुँचेगी। लेकिन दुर्भाग्य तो यह है कि हम जानते हैं कि भारतमें गोवध अकसर हिन्दुओंकी भावनाओंको चोट पहुँचानेके उद्देश्यसे ही किया जाता है। जिस राज्य-को अपने विभिन्न समाजोंकी भावनाओंका तनिक भी खयाल है, उसे ऐसी हरकतोंको सख्तीसे रोकना चाहिए। लेकिन मेरी रायमें गायके सवालका जो आर्थिक पहलू है उसे समुचित तौरपर सम्हाला जाये तो धर्मके नाजुक पहलूका हल वह अपने-आप

प्रस्तुत कर सकता है। ऐसी परिस्थिति बन सकनी चाहिए कि गोवध आर्थिक दृष्टिसे असम्भव बन जाये —— ऐसी परिस्थिति बन भी सकती है। किन्तु दुर्भाग्यवश स्थिति यह है कि भारत जैसे देशमें हिन्दुओंका यह पवित्र पशु ही सबसे सस्ता वध-पशु बन गया है। इसके लिए मैं निम्नलिखित सुझाव देता हूँ:

१. राज्य खुले बाजारमें बिकनेके लिए आये हुए पशुको अन्य खरीदारोंसे ज्यादा बोली लगाकर खरीद ले।

२. राज्य सभी प्रमुख नगरोंमें डेरियाँ खोले ताकि लोगोंको सस्ता दूध उपलब्ध हो सके।

३. राज्य चमड़ेके ऐसे कारखाने चलाये जहाँ वह अपने राज्यके मरे हुए पशुओं की खाल, हड्डी आदिका उपयोग कर सके, और साथ ही खुले बाजारमें भी मरे हुए पशुओंको वह खरीदे।

४. राज्यको आदर्श पशु-फार्म चलाने चाहिए और पशुओंकी नस्ल सुधारने और उन्हें रखनेकी कलाकी शिक्षा लोगोंको देनी चाहिए।

५. राज्यको इसकी उदार व्यवस्था करनी चाहिए कि . . .[1]

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १२६६७) की माइक्रोफिल्मसे।

२३८. पत्र: ए० सी० सी० हार्वेको[2]

[पत्रोत्तरका पता:]
आश्रम, साबरमती
११ जनवरी, १९२७

प्रिय मित्र,

आपने क्रिसमसके दिन जो पत्र मुझे लिखा था वह मेरी यात्राके दौरान जगह-जगहसे पुनः प्रेषित होकर भेजा जाता रहा और अब आज मुझे मिला है। आप यकीन कीजिए कि जनरल डायरके अथवा सर माइकेल ओ'डायरके खिलाफ मेरे मनमें कोई बात नहीं है।[3] वे दोनों तो एक गहरी पैठी हुई बीमारीके परिणाम[4] और उसके लक्षण मात्र थे। इस बीमारीकी मुझे उस समय पर्याप्त जानकारी नहीं थी, जब मैंने अमृतसरमें

१. पत्र अधूरा है।

२. हार्वे १९१९-२० में खालसा कालेज, अमृतसरमें अध्यापक थे और गांधीजी जब कालेजमें गये थे तब उनसे भेंट की थी (एस० एन० १२०९४)।

३. हार्वेने २१ दिसम्बरको बम्बईमें हुई एक सभाका हवाला दिया था जिसमें सर चिमनलाल सीतलवाड और जिन्नाने 'अमृतसरवाली नीति' को फिरसे अपनानेका सुझाव दिया था। हार्वेने गांधीजीको याद दिलाया था कि अमृतसरमें उन्होंने कांग्रेसको नरम और सहयोगकी नीति स्वीकार करनेके लिए राजी कर लिया था। हार्वेने अपने पत्रमें यह भी लिखा था कि सरकारकी तरफसे जो-कुछ होता है उससे भी खराब बातें राष्ट्रवादियोंकी ओरसे की जाती हैं (एस० एन० १२०९४)।

४. यहाँ साधन-सूत्रमें सम्बन्धित वाक्यमें शब्द 'प्रीचर' था। इसे 'क्रीचर' मानकर इस वाक्यका अनुवाद किया गया है।

सहयोग करनेकी अपील की थी। मेरी दलीलमें जो भी ताकत थी वह सहयोगके प्रति मेरी शुद्ध आस्थाके कारण थी। अब रौलट अधिनियम बन जाने और उसके बाद होनेवाली घटनाओंके बाद मेरी आँखें खुल गई है और मैं अपने भीतर वह उत्साह पैदा नहीं कर सकता जो अमृतसरवाली अपील करते समय मुझमें था। मेरा विश्वास हिल गया है। और फिर ऐसी कोई बात नहीं हुई है जिससे वह विश्वास दुबारा जम सके; हालांकि मैं फिरसे वही विश्वास अपने अन्दर महसूस करनेके लिए उत्सुक हूँ। किसी व्यक्ति या किसी कामके प्रति अविश्वास-भाव रखना मुझ मुझकर नहीं लगता। लेकिन तथ्योंको देखकर भी अपनी आँखें बन्द कर लूं, तो मैं झूठा बनूंगा। मैं मानता हूँ कि ईश्वरकी योजनामें जिस प्रकार रात्रिका होना एक बुनियादी तथ्य है ठीक उसी प्रकार असहयोग भी एक बुनियादी तथ्य है। यदि असहयोग न हो तो फिर सहयोग नामकी चीज हो ही नहीं सकती।[1] यदि जो-कुछ अच्छा है, उस कामको करनेमें हम अपना सहयोग देते हैं तो हमें चाहिए कि जो-कुछ बुरा है, उस काममें अपना सहयोग वापस ले लें। मेरा विश्वास है कि भारतका मौजूदा ब्रिटिश प्रशासन कुल मिलाकर अच्छा नहीं है, बल्कि निश्चित रूपसे बुरा है। उसकी सैन्य-नीति और राजस्व नीति, जिसमें शराब और मादक वस्तुओंका घृण्य व्यापार भी शामिल है, तथा भारतीयोंके ऊपर अंग्रेजोंके हितोंको तरजीह देनेकी नीतिके कारण इस दुःखी देशकी जनताका नैतिक और भौतिक दोनों दृष्टियोंसे निरन्तर ह्रास हो रहा है। इस देशके साथ जो घोर अन्याय किया जा रहा है उसकी अंग्रेज जनताको कोई खबर ही नहीं है, और यदि हम सहयोग देना जारी रखेंगे, तो उसे यह खबर कभी होगी भी नहीं, फिर हम यह सहयोग अज्ञानवश, दम्भवश या अपनी कमजोरीके कारण ही क्यों न दें। अतः सशस्त्र विद्रोहका एकमात्र विकल्प असहयोग ही है। ऐसा कहा जाता है कि हम समझा-बुझाकर या तर्क देकर अपना उद्देश्य प्राप्त कर सकते हैं।[2] लेकिन व्यापक अनुभवोंके आधारपर बनी मेरी रायमें लोगोंको किसी चीजके लिए राजी करनेके प्रयत्नमें तर्कका बहुत सीमित महत्त्व है। जिन बातोंकी जड़ें बहुत गहरी होती हैं, उन बातोंमें तर्क बुरी तरह विफल होता है। लेकिन मैंने जो स्थिति अपनाई है उसके प्रति मेरी भावनाएँ बहुत प्रबल हैं, तथापि मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे असहयोगका उद्देश्य ही सहयोग उत्पन्न करना है। आपको यह विश्वास दिलानेकी जरूरत नहीं है . . . .।[3]

[ए० सी० सी० हार्वे
गवर्नमेंट इंटरमीडिएट कालेज
लुधियाना, पंजाब]

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १२८०४) की फोटो-नकलसे।

१. हार्वेने अपने पत्रमें असहयोगकी नीतिको 'केवल राजनीतिक दृष्टिसे गलत ही नहीं बल्कि अधार्मिक और ईश्वरकी योजनाके विरुद्ध' भी कहा था।

२. हार्वेने अपने पत्रमें ऐसा भी कहा था।

३. साधन-सूत्रमें पाठ अधूरा है।

२३९. पत्र : एक मित्रको[1]

[पत्रोत्तरका पता :]
आश्रम, साबरमती
१२ जनवरी, १९२७

प्रिय मित्र,

आपके पत्रपर 'यंग इंडिया' में चर्चा करनेका मेरा विचार नहीं है, क्योंकि मेरा खयाल है आम पाठकोंके सामने वैसी कोई कठिनाई नहीं है जैसी आपके सामने आई है। यह जानते हुए भी कि मैं हजारों सूक्ष्म कीटाणुओंको मार डालता हूँ, यदि म इस प्रकारकी हत्याकी आवश्यकतासे मुक्त होनेकी बराबर कामना रखता हूँ और ऐसी हत्यासे बचनेकी यथा सम्भव पूरी कोशिश भी करता हूँ, तो वैसी स्थितिमें मैं कह सकता हूँ कि मैं अहिंसामें विश्वास रखता हूँ। और जन्म-मरणके बन्धनसे छुटकारा पानेकी मेरी उत्कट इच्छा भी इसीलिए है। मेरे वर्तमान जीवनको जीनेसे इनकार कर देनेसे कष्टोंका अन्त नहीं हो जाता। लेकिन मौजूदा शरीरके नाशके बाद दूसरा शरीर प्राप्त करनेसे मेरा इनकार करना एक ऐसी सम्भावना है जो उपलब्ध की जा सकती है।

हृदयसे आपका,

अंग्रेजी प्रति (एस० एन० १२८०५) की फोटो-नकलसे।

२४०. भाषण : धनबादमें[2]

१२ जनवरी, १९२७

महात्माजीने कहा कि बाबू राजेन्द्र प्रसादसे इस खराब मौसमके सम्बन्धमें पूछने-पर मुझे मालूम हुआ कि इस प्रान्तमें जाड़ोंमें भी बारिश होना कोई असाधारण बात नहीं है और कुछ हदतक बारिश होना .जरूरी भी है। निःसन्देह मुझे मालूम है कि बारिशकी वजहसे श्रोताओंको कितनी कठिनाई उठानी पड़ी है; और मुझे भी कुछ कम कठिनाइयाँ नहीं हुई हैं। लेकिन मैं सभी तरहकी कठिनाइयोंके बीच काम कर सकता हूँ। मेरा जीवन हर तरहकी कठिनाइयोंसे संघर्षकी एक लम्बी कहानी रहा है।

पहले महात्माजीने घोषणा की कि अगले दिन शामको एक सभा होगी, जिसमें मैं भाषण दूँगा। इसके बाद उन्होंने अपने दौरेका उद्देश्य समझाया। उन्होंने कहा कि

१. मित्रका नाम मालूम नहीं।
२. सभा स्थानीय हॉलमें हुई थी।

आप शायद जानते हैं कि मेरे इस दौरेका उद्देश्य विशेष रूपसे चरखे और खादीका सन्देश देना है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि स्वराज्य पानेकी दृष्टिसे देशमें अन्य काम करनेकी काफी गुंजाइश है, लेकिन मैंने जो चरखेका काम हाथमें लिया है सो इसलिए कि मैंने देखा कि यह काम समान जोरके साथ हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, स्पृश्य-अस्पृश्य सभी लोगोंसे करनेको कहा जा सकता है। चरखा एक सार्वत्रिक चीज है और इसलिए हर व्यक्तिको अपनी सामर्थ्यके अनुसार इससे कताई-का काम करना चाहिए। चरखा कातना हर भारतीयका पवित्र कर्त्तव्य है; इस सार्वत्रिक यज्ञमें हर व्यक्तिसे शामिल होनेकी अपेक्षा की जाती है। लेकिन यदि सब लोग ऐसा नहीं कर सकते, तो एक काम तो अवश्य कर सकते हैं। कमसे-कम खद्दर तो सभी पहन सकते हैं।

आगे बोलते हुए उन्होंने कहा कि समस्त भारतमें सर्वत्र खद्दरके कामको बड़े पैमानेपर चलानेके लिए उसपर बहुत पूंजी खर्च करनेकी जरूरत है। वह पूंजी देशको ही जुटानी है। करीब १६ लाख रुपये पहले ही इकट्ठा हो चुके हैं और खर्च भी किये जा चुके हैं; और इसके फलस्वरूप लगभग ५० हजार ऐसी औरतों और लगभग ४००० आदमियोंको रोजी मिलती है जिनके पास पहले लगभग कुछ काम करनेको नहीं था। बुनकरोंको, जिनमेंसे बहुतोंको लंकाशायरके बुनकरों से जबर्दस्त मुकाबला पड़नेके कारण अपना पेशा छोड़ देना पड़ा था, फिरसे रोजी मिल गई है। धुनियों और रुई पींजनेवालोंमें काफी धन पहले ही वितरित हो चुका है। इसलिए कताईका काम गरीबोंकी रक्षा करनेवाला है जबकि मध्यवर्गके लोग भी उससे काफी लाभ उठा सकते हैं। मध्यवर्गके नौजवान सरकारसे याचना और अमीरोंकी मिन्नत किये बिना अपनी बेरोजगारीकी समस्या स्वयं ही बहुत कुछ सुलझा सकते हैं। निश्चय ही इस कामसे बहुत आर्थिक लाभकी आशा नहीं की जा सकती, लेकिन नौजवान लोग खद्दरका काम फिरसे अपनाकर ईमानदारीसे जीविकोपार्जन भली-भाँति कर सकते हैं।

भाषण जारी रखते हुए उन्होंने कहा कि जिस कोषके लिए मैं धन देनेकी अपील कर रहा हूँ उसका नाम देशबन्धु-स्मारक-कोष है जो स्वर्गीय देशबन्धुकी पवित्र स्मृतिको चिरस्थायी बनानेके लिए शुरू किया गया है। खद्दर उनको दिलसे बहुत प्यारा था। उन्होंने इस बातको समझ लिया था कि चरखा ही एक ऐसी चीज है जिसके जरिये सर्वसाधारणको गाँवोंके पुनर्निर्माण कार्यमें लगाया जा सकता है। गाँवोंका पुनर्निर्माण उनके जीवनका स्वप्न था, जिसे वे अपने जीवनमें मूर्त नहीं कर सके। मृत्युसे कुछ दिन पूर्व उन्होंने खद्दर-सम्बन्धी दौरेमें मेरे साथ चलनेकी अपनी इच्छा व्यक्त की थी। लेकिन मेरे मन कछु और है, विधनाके कछु और। अपनी योजनाके अनु-सार कुछ काम शुरू कर सकनेसे पहले ही मृत्युके क्रूर हाथोंने उन्हें छीन लिया। महात्माजीने कहा कि उनकी अन्तिम इच्छा पूरी करनेके लिए ही यह अखिल-भार-

तीय देशबन्धु-स्मारक कोष शुरू किया गया है जिसका उपयोग अखिल-भारतीय चरखा संघ द्वारा किया जायेगा। उन्होंने उन परिस्थितियोंका उल्लेख किया जिनमें कि अखिल-बंगाल स्मारक कोषको अस्पतालपर खर्च करनेकी अनुमति दी गई थी और कहा कि मैंने उसी समय खद्दर कार्यके लिए अखिल भारतीय कोषमें धन देनेकी अपील की थी। महात्माजीने कहा कि देशबन्धुकी अन्तिम इच्छा पूरी करनेमें आप सबके लिए अपना-अपना योगदान करनेका यही अवसर है। इस कोषके लिए चन्दा देकर दाता एक साथ दो काम कर सकता है: जो देशबन्धु आपके लिए जिये और आप ही के लिए मरे, एक तो उनकी स्मृतिका आप सम्मान करेंगे, और दूसरे आप गरीबोंको काम और पैसेसे मदद करेंगे।

आगे बोलते हुए महात्माजीने कहा कि एक गज खद्दर खरीदनेका अर्थ है देशके गरीब लोगोंको लगभग ४ आनेकी मदद देना, जबकि विदेशी कपड़ेपर पैसे खर्च करनेका अर्थ है देशभाइयोंको अकथनीय कष्ट देते हुए उसी पैसेको देशसे बाहर भेजना। भारतीय मिलोंका कपड़ा खरीदनेका अर्थ गरीबोंकी मदद करना नहीं है, क्योंकि उसमें मुनाफेका सबसे ज्यादा भाग पूँजीपतिको मिलता है और वह श्रमिकोंको नाम-मात्रका थोड़ा-सा ही पैसा देता है जो उन्हें जीवित रखने-भरको भी काफी नहीं है। गांधीजीने कहा कि भारतीय मिलोंके बने कपड़े खरीदनेमें खर्च किये जानेवाले धनका तीन-चौथाई हिस्सा पूँजीपतियोंकी पहलेसे ही खचाखच भरी तिजोरियोंको ही और भरता है, जबकि श्रमिकोंको, जो सचमुचमें जरूरतमंद हैं, कुल मिलाकर मुनाफेके एक चौथाई हिस्सेसे ज्यादा नहीं मिलता है। देशकी गरीबीसे संघर्ष करने और उसमें सफलता पानेके लिए चरखा ही एकमात्र प्रभावशाली अस्त्र है।

इसके बाद महात्माजीने धनके लिए अपील की। उन्होंने कहा कि मैं चाहता हूँ कि सभी उपस्थित लोग अपनी शक्ति-भर इस महान् कार्यके लिए चन्दा दें और यदि उनके पास अभी इस समय देनेको न हो तो बादमें अधिकृत व्यक्तिके पास भेज दें। उन्होंने उस हॉलमें उपस्थित श्रोताओंसे कहा कि आप गम्भीरतापूर्वक वादा करें कि आगेसे हमेशा केवल खद्दर पहनेंगे। उन्होंने कहा, मैं तो आप लोगोंसे कहूँगा कि यदि आपके पास विदेशी वस्त्र हैं तो उन्हें जला दें। लेकिन यदि आप इस हदतक नहीं जा सकते तो आपको बिना संकोच अब आगेसे सभी विदेशी वस्त्रोंका बहिष्कार करना चाहिए। खद्दर (का काम) मेरे जीवनकी अदम्य अभिलाषा बन गया है क्योंकि मैंने देख लिया है कि सिर्फ खद्दर ही गरीबोंको भोजन दे सकता है। लोग मुझे पागल कह सकते हैं, लेकिन मैं इस कामको किसी भी चीजकी खातिर नहीं छोड़ सकता। उन्होंने हॉलमें उपस्थित हर व्यक्तिसे कहा कि वह जो भी थोड़ा बहुत दे सके, दे। उन्होंने कहा कि मैं यह नहीं चाहता कि लोग डरसे या शर्माशर्मीसे धन दें; मैं चाहता हूँ कि हर व्यक्ति इस उद्देश्यकी महानताको महसूस करे और तब फिर जो भी उसकी ताकत भर हो सके, करे।

अस्पृश्यताकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि यह हिन्दू-समाजका सबसे बड़ा कलंक है और इसे यथासम्भव जल्दीसे-जल्दी मिटा देना चाहिए। हिन्दू-धर्म कभी किसीको ऐसी शिक्षा नहीं देता कि वह किसी दूसरे व्यक्तिको अस्पृश्य माने। अस्पृश्यताकी प्रथाको मानकर हिन्दू लोग पाप कर रहे हैं। स्वामी श्रद्धानन्दजीने अस्पृश्यता-निवारणके लिए अपने प्राण दे दिये हैं। आपका कर्त्तव्य है कि आप गरीबों और अस्पृश्योंकी सेवाका काम उठायें।

प्रसंगवश महात्माजीने हिन्दू-मुस्लिम तनावकी भी चर्चा की, और स्वामीजीकी हत्याकी घोर निन्दा की। लेकिन उन्होंने कहा, यदि हिन्दू मुसलमान दोनों ही उनके खूनसे अपने दिल धोकर स्वच्छ बना लें तो स्वामीजी की मृत्यु भी लाभकारी बन सकती है। वैसा करना शुद्धिकी क्रिया होगी, वह एक सच्चा शुद्धिका कार्य होगा। हिन्दुओंका क्या कर्त्तव्य है? उन्हें बदला लेनेकी बात नहीं सोचनी चाहिए। सभी धर्मोंका उपदेश यही है कि बुराईका बदला बुराईसे नहीं बरन् भलाईसे देना चाहिए। सभी धर्म यही शिक्षा देते हैं कि सबसे बड़ी विजय स्वयं अपने आपपर विजय पाना है। हिन्दुओंको वही आत्मसंयम प्राप्त करना चाहिए। अब्दुल रशीद एक गरीब प्राणी है; अकेला वही इस जघन्य कृत्यके लिए उत्तरदायी नहीं है। दिल्लीके सारे मुस्लिम समाचारपत्र और वे सब लोग जो स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय और पण्डित मदनमोहन मालवीयको इस्लामका शत्रु समझते रहे, उन सबने मिलकर सामूहिक रूपसे हत्यामें योग दिया है। उन चीजोंका परिणाम आपके सामने है। देशके पूरे वातावरणको शुद्ध करनेकी जरूरत है। आपने जो संघर्ष शुरू किया है, उसकी सफलताके लिए १९२२ के जैसे उत्साहकी जरूरत है लेकिन वह सफलता तबतक नहीं मिल सकती जबतक कि ऐसे शुद्धीकरणकी प्रक्रिया पूरी नहीं हो जाती। इसलिए हर व्यक्तिको अपना पूरा ध्यान आत्मशुद्धिपर केन्द्रित करना चाहिए। शत्रुओंके प्रति शत्रु-भाव रखना बिलकुल अविवेकका काम है; उनपर तो तरस खाना चाहिए।

[अंग्रेजीसे]

सर्चलाइट, १६-१-१९२७

२४१. स्वतन्त्रता

हर साल कांग्रेसमें एक प्रस्ताव पेश किया जाता है जिसका उद्देश्य कांग्रेसके ध्येयको इस प्रकार बदलनेका होता है जिसके अनुसार स्वराज्यका अर्थ पूर्ण स्वतन्त्रता माना जाये। सौभाग्यसे हर साल कांग्रेस उसे जबर्दस्त बहुमतसे नामंजूर कर देती है। इस प्रस्तावकी नामंजूरी ही कांग्रेसकी बुद्धिमानीकी निशानी है। इस प्रस्तावका पेश किया जाना कुछ ऐसे उत्साही कांग्रेसजनोंकी अधीरता प्रकट करता है जिनका ब्रिटिश सरकारके इरादोंपरसे विश्वास उठ चुका है और जो मानते हैं कि उक्त सरकार हिन्दुस्तानके साथ कभी न्याय नहीं करेगी। आजकी स्थितिमें यह अधीरता क्षम्य है। पूर्ण स्वतन्त्रताके समर्थक भूल जाते हैं कि इससे उनका मनुष्य-स्वभावमें और इसलिए अपने आपमें भी अविश्वास प्रकट होता है। वे ऐसा क्यों मानते हैं कि ब्रिटिश नेताओंके दिल बदलेंगे ही नहीं? क्या यह कहना अधिक सही और गौरवपूर्ण न होगा कि हम स्वयं कमजोर हैं, इसीलिए उनके दिल नहीं बदलते? प्रकृति निर्बलतासे घृणा करती है। हम अंग्रेजोंसे और सारे संसारसे दयाकी भीख नहीं माँगते, न्याय माँगते हैं, जो हमारा हक है। न्याय भी मिलेगा, मगर तभी जब हम मजबूत होकर और अपना बल समझकर उसके लायक बन जायेंगे।

मुझे निश्चय है कि पूर्ण स्वतन्त्रताका बड़ासे-बड़ा समर्थक भी यह नही कहना चाहता कि वह किसी भी शर्तपर अंग्रेजोंके साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखेगा। अगर वह ऐसा कहता भी है तो उसका तात्पर्य, जैसा कि प्रस्तावके एक समर्थकने मेरे प्रश्नके उत्तरमें स्वीकार किया, यह होता है कि अंग्रेज लोग समानताके स्तरपर सम्बन्ध रखनेको राजी ही नहीं होंगे। यह बात तो अंग्रेजोंसे किसी भी शर्तपर सम्पर्क न रखनेसे बिलकुल जुदा है।

सचमुच ही स्वराज्य शब्दमें सभी कुछ शामिल है। इसमें कई अन्य चीजोंके अलावा पूर्ण स्वतन्त्रता भी शामिल है। इसे कोई एक निश्चित अर्थ देना, दृष्टि-कोणको संकुचित कर देना है, और आज सौभाग्यसे जो चीज सीमा-रहित है उसीको सीमामें बाँध देना है। स्वराज्यके अर्थको राष्ट्रकी चेतना और आकांक्षाओंके साथ ही साथ बढ़ने देना चाहिए। आज हम शायद 'औपनिवेशिक स्वराज्य' से ही सन्तुष्ट हो जायें। भविष्यकी पीढ़ियोंको सम्भवतः इससे सन्तोष न हो, सम्भव है वे इससे कुछ और बेहतर चीज चाहें। जो-कुछ आज हम पा चुके हैं, वह तथा जिसकी हम कल्पना कर सकते हैं, उससे भी बेहतर चीज, यह सभी कुछ अपरिभाषित स्वराज्यमें सम्मि-लित है। स्वराज्यका अर्थ यह है कि 'औपनिवेशिक स्वराज्य' के अन्दर भी हममें अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर सकनेकी सामर्थ्य होगी। जबतक हममें वह सामर्थ्य नहीं आ जाती तबतक मानो हमें स्वराज्य नहीं मिलता है। स्वराज्यका कमसे-कम इतना अर्थ तो जरूर है। दक्षिण आफ्रिका वह दर्जा अब प्राप्त कर चुका है। स्वराज्य

स्वतन्त्र राष्ट्रोंका स्वेच्छापर आधारित सहयोग है। इंग्लैंड और दूसरे उपनिवेशोंका सहयोग समानताकी शर्तपर पारस्परिक लाभके लिए है। हिन्दुस्तान अन्तमें कौनसा स्वराज्य लेगा, इसका निश्चय तो केवल वही कर सकता है। कांग्रेसके मौजूदा ध्येयके अनुसार ब्रिटिश साम्राज्य या, आप चाहें तो कह सकते हैं कि, ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डलके भीतर भी स्वराज्यका विकास सम्भव है। मैंने अकसर स्वराज्यका अर्थ प्रस्तुत किया है, वह यह है कि अगर सम्भव हो तो ब्रिटिश साम्राज्यके भीतर, किन्तु जरूरत पड़े तो उसके बाहर स्वराज्य। मैं तो ऐसा सोचता हूँ कि इससे बेहतर व्याख्या करना असम्भव है। यह राष्ट्रीय स्वाभिमानके सर्वथा अनुकूल है और इसमें राष्ट्रकी अधिकसे-अधिक प्रगतिकी गुंजाइश है।

आखिर, स्वराज्यकी असली परिभाषाका निर्धारण तो हमारे अपने कामों और उद्देश्य-प्राप्तिके लिए अपनाये गये हमारे साधनोंसे ही होगा। अगर हम साधनोंपर ही ध्यान रखें तो स्वराज्य तो अपने आप ही मिल जायेगा। इसलिए हमारे सभी प्रयत्न एक ऐसी वस्तुकी परिभाषा करनेके बदले जिसकी परिभाषा की ही नहीं जा सकती, उस वस्तुकी प्राप्तिके उपायकी खोजमें लगने चाहिए।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १३-१-१९२७

२४२. टिप्पणी

पनामामें भारतीय

पनामा गणतंत्रकी विधान सभाने अभी हालमें एक प्रवासी प्रतिबन्धक अधिनियम पास करके अन्य लोगोंके साथ-साथ ब्रिटिश भारतीयोंके पनामा-प्रवेशपर प्रतिबन्ध लगा दिया है। राष्ट्रपति चियारीने एक सुविचारित सन्देशके साथ विधेयकमें काफी संशोधन करने और पुनर्विचार करनेकी सलाह देते हुए उसे विधानसभाको वापस कर दिया था। लेकिन विधानसभाने उनके सुझाये गये उन्हीं संशोधनोंको स्वीकार किया जिन्हें स्वीकार करना अनिवार्य था; शेष सभीको नामंजूर कर दिया। विधानसभाने अपने देशकी भावी पीढ़ियोंके अधिकारोंकी रक्षा करनेके आधारपर ब्रिटिश भारतीयोंके ऊपर प्रतिबन्ध लगानेको उचित ठहराया। पनामामें इस समय शायद तीससे ज्यादा सिंधी भारतीय व्यापारी नहीं होंगे। ये शौककी चीजोंका व्यापार करते हैं। यह स्वीकार किया गया कि उनकी उपस्थिति पनामाके निवासियोंके लिए कोई खतरा नहीं है। किन्तु यह कानून आगेके लिए ही नहीं है, इसका प्रभाव उन प्रवासियोंपर भी पड़ता है जो कानून बननेसे पहलेसे वहाँ हैं। केवल उन्हीं लोगोंको छूट है जो पिछले दस वर्षोंका लगातार निवास सिद्ध कर सकें। ऐसे लोगोंको छूटका प्रमाणपत्र दिया जायेगा। मेरी समझमें ऐसे प्रवासी बहुत कम ही होंगे जो पनामामें इतनी लम्बी अवधिका लगातार निवास सिद्ध कर सकें। दक्षिण आफ्रिकाका अनुभव देखते हुए कहा जा सकता है कि दूसरे देशोंमें बसे प्रवासी भारतसे इतने वर्षोंतक लगातार बाहर कभी

नहीं रहते। मेरी जानमें अब यह मामला विदेश विभागके सामने है। देखना है कि यह विभाग पनामामें रहनेवाले भारतीयोंके, तथा भविष्यमें जीविकाकी खोजमें पनामा जानेका निश्चय करनेवाले भारतीयोंके अधिकारोंकी किस हदतक रक्षा कर पाता है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १३-१-१९२७

२४३. सन्देश: कांग्रेसजनोंको

श्रद्धा रखो। बुद्धि-बलके साथ-साथ चरित्र-बलका साधन करो।

आज, १३-१-१९२७

२४४. भाषण: धनबादमें

१३ जनवरी, १९२७

महात्मा गांधीने अभिनन्दनपत्रोंका उत्तर देते हुए नगरपालिका और जिला बोर्डके सदस्योंको अभिनन्दनपत्रोंके लिए धन्यवाद दिया। उन्होंने नगरपालिकाके सदस्योंको इस बातके लिए विशेष रूपसे धन्यवाद दिया कि उन्होंने साफ तौरसे स्वीकार किया कि उनकी नगरपालिकाके क्षेत्रमें खद्दर और चरखेका बहुत प्रचलन नहीं है। उन्होंने कहा कि जब मैं दक्षिण आफ्रिकामें था, तब भी मैं नगरपालिकाके मामलोंमें बहुत दिलचस्पी लिया करता था। मैं जानता हूँ कि देशके मामलोंमें नगर मुख्य भूमिका अदा करते हैं और आधुनिक युगमें विश्वके लगभग सभी आन्दोलनोंका सूत्रपात शहरोंसे हुआ है। मैं यह भी जानता हूँ कि शहरी नवयुवकोंमें नागरिक उत्तरदायित्वोंकी भावना जाग्रत करनेकी आवश्यकता है। लेकिन भारतकी अनोखी परिस्थितिमें शहरोंका अधिक-से-अधिक सिर्फ दूसरे दर्जेका महत्त्व है। असली भारत तो गाँवोंमें रहता है और सात लाख गाँवोंकी तुलनामें शहरोंका महत्त्व बिलकुल कम हो जाता है। भारतमें ग्रामीण जीवनके इस महत्त्वको नगरपालिकाओंके सदस्योंको नजरअंदाज नहीं करना चाहिए। इस देशमें शिक्षित लोगोंमें गाँवोंके साथ अपने सारे सम्बन्ध तोड़ देने और अपने मनसे उनकी याद मिटा देनेकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इस प्रवृत्तिको रोकना है। यूरोपमें गाँव हर चीजके लिए शहरोंपर निर्भर करते हैं जो सभी तरहकी गतिविधियोंके केन्द्र होते हैं। लेकिन भारतमें गाँव शहरोंका पोषण करते हैं और इसलिए हर शहरीका यह कर्त्तव्य है कि वह इस बातका ध्यान रखे कि गाँवोंके स्वस्थ विकास में किसी तरहकी बाधा न पहुँचे। लोगोंको इस बातपर आश्चर्य होता है कि भारतका निर्यात आयातकी अपेक्षा अधिक होनेपर भी भारत इतना गरीब कैसे हो सकता है। उसकी गरीबीका कारण यह है कि दूसरोंकी समृद्धि बढ़ानेके लिए देशसे करोड़ों

रुपया बाहर चला जाता है जबकि देशमें अधिकांश लोग यह भी नहीं जानते कि दो जून रोटी कैसी होती है। देशमें जो थोड़ा-बहुत धन बच जाता है, वह व्यापारियों और बिचौलियोंकी तिजोरियोंमें चला जाता है। उनके भाग्यपर मुझे ईर्ष्या नहीं है, लेकिन गरीब गाँववालोंको भुला नहीं देना चाहिए। वे खुद भूखे रह रहे हैं, जबकि शहरी लोगोंको न केवल भोजन वरन् अन्य ऐश-आरामके सामान भी मुहय्या कर रहे हैं। इन्हीं लाखों भूखे लोगोंके लिए कुछ मुट्ठी भोजन जुटानेके लिए ही मैं आप लोगोंसे चरखा अपनानेकी बात कह रहा हूँ। यदि आप सब लोग अन्य सभी तरहके कपड़ोंको छोड़कर केवल खद्दर पहनेंगे, तभी जाकर गरीब, कमजोर और दुखी ग्रामीण लोग भोजन कर सकते हैं और जी सकते हैं। मैं चाहता हूँ कि आप सब पवित्र कर्त्तव्य मानकर चरखा कातें, लेकिन यदि आप ऐसा नहीं कर सकते हैं, तो कमसे-कम आप खद्दर पहन सकते हैं। मुझे खुशी है कि आपने अपने अधिकार-क्षेत्रमें छोटे पैमानेपर कताईका काम शुरू करा दिया है, लेकिन अभी भी यह काम अधूरा है। जबतक आप खादी संगठनको बिलकुल दुरुस्त नहीं बनाते, आपके सभी कार्य अधूरे रहेंगे। मैं स्वयं भी तबतक सन्तुष्ट नहीं होऊँगा। खद्दरके लिए काम करना गरीबोंके लिए काम करना है। इसलिए मैं अपना सारा समय और शक्ति इसी काममें लगा रहा हूँ। गरीबोंके, देशके तथा ईश्वरके निमित्त इस कार्यको हाथमें लेना आपका कर्त्तव्य है।

भाषण समाप्त करते हुए उन्होंने फिर एक बार उन्हें अपने हार्दिक स्वागतके लिए धन्यवाद दिया।

[अंग्रेजीसे]

सर्चलाइट, १६-१-१९२७

२४५. भाषण : सार्वजनिक सभा, कटरासमें[1]

१३ जनवरी, १९२७

महात्माजीने कहा कि मुझे यहाँ आप सबसे मिलकर खुशी हुई है। पिछली बार जब मैं झरियामें था, तब मुझे यहाँ [कटरास] आनेका अवसर नहीं मिल सका था। उन्होंने कहा कि झरिया एक ऐसी जगह है जो भारतके सभी हिस्सोंसे पूंजीपतियों और मजदूरों दोनोंको ही अपनी तरफ खींच लेती है। यहाँके निवासी प्रमुख रूपसे मजदूर हैं और इसलिए मैं उनसे कुछ शब्द कहना चाहता हूँ।

आगे बोलते हुए उन्होंने कहा कि मैं अपने आपको भी एक मजदूर कहता रहा हूँ। जब कोई मुझसे मेरा धन्धा पूछता है तो मैं अपने-आपको एक बुनकर या किसान

१. सभा एक विशाल पंडालमें की गई थी। हिन्दीमें एक अभिनन्दनपत्र भेंट किये जानेके बाद गांधीजीने भाषण दिया था।

बताता हूँ। बल्कि मैं तो चाहूँगा कि लोग मुझे भंगी कहें। भंगीके पेशेको नीची निगाह-से नहीं देखना चाहिए। वह मानव-समाजको बड़ा लाभ पहुँचाता है। उसका काम घरके सबसे गन्दे हिस्सेकी सफाई करना है। इसलिए समाज उसका बहुत ऋणी है। उसका काम सेवाका काम है और उसे नीचा समझना नासमझी है। मेरी मां, और वस्तुतः प्रत्येक मां वही काम करती है जो एक भंगी करता है। क्या इसकी वजहसे आप अपनी मांसे घृणा करते हैं? यदि मेरे बाल्यकालमें मेरी मांने मेरी खातिर भंगी-का काम न किया होता, तो मैं इतने दिनोंतक जीवित ही नहीं रह सकता था और न आपके बीच भाषण देने आता। पेशेके कारण भंगीको नीची निगाहसे नहीं देखना चाहिए। जबतक किसी आदमीका दिल मैला न हो, तबतक कोई कारण नहीं कि उसे नीच समझा जाये, भले ही उसका पेशा कितना ही नीचा क्यों न हो। इसलिए भंगियोंसे और वस्तुतः सभी मजदूरोंसे मेरी अपील है कि उन्हें दूसरे लोगोंके घरोंकी सफाई करनेके साथ-साथ अपनी भी सफाई करना शुरू करना चाहिए। मैं जानता हूँ कि मजदूरोंको शराब पीने, जुआ खेलने, बीड़ी पीने और अन्य गन्दी आदतों की लत है। उन्हें इन सब बुराइयोंसे मुक्त होना चाहिए। मैं पूर्ण मद्यनिषेधका सम-र्थक हूँ, लेकिन जबतक वह नहीं हो जाता, उन्हें खुद उस गन्दी आदतसे छुटकारा पानेका प्रयत्न करना चाहिए। सभी तरहके प्रलोभनोंके बीच रहकर उनसे बचनेमें ही मनुष्यकी खूबी है। उन्होंने मजदूरोंसे अपील की कि वे ईश्वरके वास्ते और अपनी खातिर शराब पीना छोड़ दें।

जुआ खेलनेकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि यह एक बड़ी बुरी आदत है। इसीके कारण पाण्डव अपना सब कुछ हार गये थे। लेकिन अन्तमें उन्हें सब कुछ फिर वापस मिल गया क्योंकि उनका पक्ष सत्यका पक्ष था। युधिष्ठिरने जो कुछ किया था उसपर उन्हें स्वयं पछतावा था। मजदूरोंकी वासनामय प्रवृत्तिकी चर्चा करते हुए गांधीजीने कहा कि मैं जानता हूँ कि ऐसे लोग हैं जो अपनी पत्नीको छोड़ देते हैं और अपना धन और स्वास्थ्य कुटिल वेश्याओंके फेरमें पड़कर नष्ट करते हैं। यह बहुत बुरी आदत है। पत्नीके अलावा अन्य सभी औरतोंको बहनकी तरह मानना चाहिए।

बीड़ी और गाँजा पीना भी छोड़ देना चाहिए। मेरी समझमें नहीं आता कि लोग गाँजा क्यों पीते हैं। मैं जानता हूँ कि अमीर और विद्वान लोग भी सिगरेट-बीड़ी पीते हैं। लेकिन यह तो कोई कारण नहीं कि मजदूर लोग भी इसकी लत डालें। एक व्यक्तिको बुरी आदतोंकी लत हो तो कोई कारण नहीं कि अन्य व्यक्ति भी बुरी आदतें डाल लें। मेरी तो शिक्षित लोगोंसे भी अपील है कि उन्हें सिगरेट-बीड़ी पीना छोड़ देना चाहिए।

भाषण जारी रखते हुए महात्माजीने कहा कि मजदूरोंको याद रखना चाहिए कि ऐसे भी लोग हैं जो उनसे भी ज्यादा गरीब हैं। मजदूरोंके पास शराब, जुआ, बीड़ी आदिपर खर्च करनेको पैसा है, लेकिन गाँवोंमें ऐसे लोग हैं जिन्हें जिन्दा रहने

भरको पर्याप्त भोजन और वस्त्र भी नहीं मिल पाता। मजदूर कमसे-कम १५-२० रुपया कमा तो सकते हैं, लेकिन उनके ग्रामीण भाई एक पैसेका मुंह भी कभी ही कभी देख पाते हैं। क्या मजदूरोंके मनमें उनका भी कुछ ध्यान है? मजदूर खुद गरीब हैं। तो फिर क्या यह उचित नहीं है कि वे अपनेसे भी ज्यादा गरीब लोगोंके कष्टोंको महसूस करें? यदि वे ऐसा महसूस करते हैं, तो उनका कर्त्तव्य है कि वे सिर्फ खद्दर ही पहनें। उनको गाँवोंमें रहनेवाली अपनी बहनोंके हाथसे कते शुद्ध सूतका बुना कपड़ा पहनना चाहिए। वे खद्दरके लिए जो भी कुछ खर्च करेंगे वह इन गरीब लोगोंको मिलेगा। जो स्त्रियाँ एक पाई भी नहीं कमा सकती थीं, वे अब दो आना रोज कमा रही हैं। मैं आपसे इस बातकी अपील कर रहा हूँ कि आप उस पैसेको अपने गरीब देशवासियोंके हाथमें जाने दें। आप खद्दर पहनकर उस पैसेसे उनकी मदद कर सकते हैं। ईश्वरीय नियम है कि मनुष्यको दुखमें पड़े मनुष्योंसे सहानुभूति करनी चाहिए। इसलिए मैं ईश्वरके नामपर आपसे अपील करता हूँ कि आप खद्दरके अलावा अन्य सभी कपड़ोंका बहिष्कार करें और नकद पैसेसे, भले ही वह कितना ही कम क्यों न हो, मुझे मदद दें ताकि मैं खादी-कार्य कर सकूँ। पिछले साल ९६ हजारकी खादी बिहारमें तैयार की गई और ६ महीनेके भीतर ६० हजारकी खादी बेच दी गई। यह सारा पैसा गरीबोंके घर गया। खद्दर बेचनेके काममें इस वक्त काफी पैसा खर्च होता है। यदि आप लोग जिस तरह विदेशी कपड़ा खरीदते हैं, उसी तरह खद्दर खरीदें, तो उससे काफी पैसा बचाया जा सकता है और वह खादी उत्पादनके काममें लगाया जा सकता है। यदि आप यही करनेका निश्चय कर लें, तो देशके लिए जितनी खादीकी जरूरत है, सारीकी सारी यहीं बिना किसी कठिनाईके तैयार की जा सकती है। जरूरत सिर्फ आपकी सहानुभूति और सहायताकी है; क्या आप उसे देनेसे इनकार करेंगे?

स्त्रियोंको सम्बोधित करते हुए महात्माजीने कहा कि यदि आप स्वराज्य चाहती हैं, जो रामराज्यका पर्यायवाची है, तो आपमें से हरेकको सीता जैसा बनना चाहिए। सीता हृदयसे निष्कलुष थीं और हाथका कता-बुना खद्दर पहनकर अपना शरीर स्वच्छ रखती थीं। वह ऐसे समयमें हुई थीं जबकि हर घरमें चरखा होता था और हर औरत सूत काता करती थी। वह समय फिरसे वापस लाना है। घर-घरमें चरखेको अब भी वैसा ही महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए जैसा कि चूल्हेका है।

अन्य लोगोंको सम्बोधित करते हुए महात्माजीने कहा कि यदि आप स्वतन्त्रता पाना चाहते हैं तो आपको काफी त्याग अवश्य करना होगा। कमसे-कम आप इतना तो कर ही सकते हैं कि खद्दर पहनें। खादी-आन्दोलनको आपका पूरे मनसे सहयोग मिलना चाहिए; आपको इस कामके लिए हर सम्भव आर्थिक मदद देनी चाहिए। इसके बाद उन्होंने बताया कि किन परिस्थितियोंमें अखिल-भारतीय देशबन्धु स्मारक

कोष शुरू किया गया था और श्रोताओंसे अपील की कि उस कोषमें चन्दा देकर उस दिवंगत महापुरुषकी पवित्र स्मृतिका सम्मान करें।

भाषण जारी रखते हुए उन्होंने कहा कि देशबन्धु स्मारक कोषका उपयोग खद्दरके प्रसार कार्य में किया जायेगा। उस कोषमें कुछ धन आ चुका है, लेकिन जो काम हाथमें लिया गया है, उसके लिए और अधिक धनकी जरूरत है। प्रति-वर्ष ६० करोड़ रुपया देशसे बाहर चला जाता है; और हमारा उद्देश्य उस धनको देशमें रखना है। इसलिए उस कामपर काफी बड़ी रकम खर्च होगी। हमारा काम बहुत बड़ा है, लेकिन मुझे आशा है कि आपकी मददसे वह पूरा होगा। उस कोषमें हर व्यक्ति बिना किसी कठिनाईके चन्दा दे सकता है; सरकारी कर्मचारी भी उसमें चन्दा दे सकते हैं। मुझे आशा है कि मैं यहांसे निराश होकर नहीं जाऊँगा।

अस्पृश्यताकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि स्वामी श्रद्धानन्दने उसके लिए अपना जीवन बलिदान कर दिया है। कमसे-कम स्वामीजीकी खातिर आप लोगोंको वह कलंक मिटा देना चाहिए। हिन्दू-धर्मका उस दूषित प्रथासे कुछ सरोकार नहीं। 'गीता' कभी किसी अन्य व्यक्तिको अस्पृश्य माननेका उपदेश नहीं देती।

हिन्दू-मुस्लिम एकताकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि उसे कायम कर सकनेकी आशा करनेसे पहले दोनों ही जातियोंको शुद्धिकी प्रक्रियासे गुजरना होगा। मुसलमानोंसे उन्होंने कहा कि यदि एक भी मुसलमान स्वामीजीकी हत्याको प्रशंसनीय कार्य समझता है, तो बड़ी भूल करता है। मैं एक सनातनी हिन्दू होनेका दावा रखता हूँ लेकिन मैंने उतने ही आदरके साथ 'कुरान'का अध्ययन किया है जितने आदरके साथ 'गीता'का। लेकिन मैंने 'कुरान'में कहींपर भी ऐसे जघन्य कृत्यका अनुमोदन नहीं पाया है। इसके विपरीत उसमें ऐसे अंश हैं जो स्पष्ट ही हिंसाके विरुद्ध हैं। यदि हिंसा करनी ही है तो वह अपने दोषोंसे संघर्ष करनेके लिए अपनेपर ही करनी है, न कि किसी दूसरे व्यक्तिपर। हिन्दू दुर्बल और कायर हो गये हैं; अपनी दुर्बलताओंके बावजूद वे उन्नति करनेकी आशा कैसे कर सकते हैं? सच्चा शुद्धि-कार्य तो आत्मशुद्धि करना है और हममें से हर व्यक्तिका कर्त्तव्य है कि आत्मशुद्धिकी उस प्रक्रियासे गुजरें। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूँ कि वह आपके कार्यमें सहायता प्रदान करे।[1]

[अंग्रेजीसे]

सर्चलाइट, १९-१-१९२७

१. सभामें गांधीजीको ८८५ रुपयेकी थैली भेंट की गई थी और कुछ रुपया वहीं मौकेपर जमा किया गया।

२४६. भाषण: सार्वजनिक सभा, झरियामें[1]

१३ जनवरी, १९२७

महात्मा गांधीने सभामें भाषण देते हुए कहा कि मुझे इस बातकी खुशी है कि कर्मचारी संघके अध्यक्षने मेरी विनती स्वीकार कर ली और अंग्रेजीमें लिखा हुआ अभिनन्दनपत्र नहीं पढ़ा। मुझे सुबह दो अभिनन्दनपत्र मिल चुके हैं जो अंग्रेजीमें लिखे थे। लेकिन इस तीसरे अभिनन्दनपत्रपर मैंने आपत्तिकी क्योंकि इस सभामें बहुत कम लोग ऐसे हैं जो अंग्रेजी भाषा समझ सकते हों। यदि अभिनन्दनपत्र हिन्दी या बंगलामें होता तो मैं उसे बहुत पसन्द करता। अंग्रेजी भाषासे मेरा कोई झगड़ा नहीं है; वस्तुतः वह एक अच्छी भाषा है। मैं उसका कुछ ज्ञान रखनेका दावा रखता हूँ। यदि मुझे अंग्रेजीके प्रति द्वेष होता तो मैं अंग्रेजी भाषाका पत्र न चलाता होता। लेकिन अंग्रेजी भाषाका प्रयोग करनेके लिए सभी अवसर अनुकूल नहीं हैं। आपकी अपनी राष्ट्रभाषा है, जो हिन्दी है। आप अन्तर्प्रान्तीय मामलोंमें आसानीसे उसका प्रयोग कर सकते हैं, भले ही वह टूटी-फूटी हो। किसी आदमीकी पहचान उसके शब्दोंसे नहीं होती; आपको तो यह देखना चाहिए कि उसका हृदय सच्चा है या नहीं। खुद मैं भी चाहे व्याकरणकी दृष्टिसे गलत हिन्दी बोलूँ लेकिन मेरा उद्देश्य सच्चा है और इतना ही इस बातके लिए काफी है कि आप मेरे भाषणपर ध्यान दें।

आगे बोलते हुए उन्होंने कहा कि झरिया ऐसी जगह है जहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, मारवाड़ी, गुजराती, बंगाली, बिहारी बल्कि भारतके सभी प्रान्तोंके लोग साथ-साथ रहते हैं। मैं आशा करता हूँ कि वे सब किसीके प्रति दुर्भाव रखे बिना मित्रतापूर्वक रहते हैं।

भाषण जारी रखते हुए उन्होंने बताया कि विदेशोंसे आयातित कपड़ेसे भारतकी कितनी तबाही हुई है। उन्होंने कहा कि यह तो स्वाभाविक और वांछनीय भी है कि मनुष्य दूसरे लोगोंका भला करनेका प्रयत्न करे, फिर वे किसी भी देश या धर्मके लोग हों। लेकिन दूसरोंकी मदद इस ढँगसे करना कि खुद अपने ही घरको अपूरणीय क्षति पहुँचे, भयंकर गलती है। फिर आप विदेशी कपड़ा क्यों पहनते हैं? क्या आप मैनचेस्टरके बुनकरोंकी मदद करनेके लिए ऐसा करते हैं? निश्चय ही नहीं। इस प्रश्नका मुझे एक ही जवाब मिल सका है और वह यह कि विदेशी वस्त्र पहनना फैशन है और खद्दर खुरदरा और मोटा होता है। लेकिन अगर आपकी मांके हाथकी बनी रोटी खराब हो तो क्या आप उसे खानेसे इनकार कर देंगे और बेहतर रोटीके

१. स्वागत-समामें गांधीजीको झरियाके भारतीय कोयला खान कर्मचारी संघकी ओरसे एक अभिनन्दनपत्र भेंट किया गया था।

लिए घर-घर माँगते फिरेंगे? खद्दर आपकी मातृभूमिका उपहार है और इसलिए आपके लिए पवित्र वस्तु है। आप अपनी माँसे बेहतर रोटीकी माँग कर सकते हैं, लेकिन जबतक वह तैयार न हो सके तबतक खराब रोटीको ही सन्तोषके साथ खानेके सिवा दूसरा चारा नहीं है। इसी तरहसे आप खद्दरकी किस्म बेहतर बनानेकी कोशिश कर सकते हैं, लेकिन जबतक बेहतर खद्दर न मिल सके, तबतक जैसा भी खद्दर मिले उसीसे सन्तोष करना होगा, भले ही वह कितना ही खुरदरा हो।

आगे बोलते हुए उन्होंने कहा कि भारतीय संस्कृतिकी प्रमुख विशेषता यही है कि व्यक्ति दुखमें पड़े हुए अन्य मानवोंकी मदद करे। खद्दर पहनकर आप गरीबोंकी सहायता करनेका अपना धार्मिक कर्त्तव्य पूरा कर सकते हैं। आपकी 'गीता' आपको सिखाती है कि जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करता, वह पाप करता है। चरखा कातना आपके लिए यज्ञ करनेके समान है, और हर घरमें यज्ञवेदीकी तरह चरखा रखा जाना चाहिए। मैं अभी स्थानीय खादी भण्डारसे आ रहा हूँ। मैंने देखा कि उस दूकानमें केवल १००० रुपयेका खद्दर रखा गया है, और वह भी बेचा नहीं जा सका है। मैं नहीं जानता कि झरियामें कितने रुपयोंका विदेशी कपड़ा बेचा गया है, लेकिन मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि विदेशी वस्त्रोंकी बिक्री खद्दरकी बिक्रीकी अपेक्षा कई गुना ज्यादा हुई है। मेरे लिए यह बड़े ही खेदकी बात है कि झरियामें इतनी छोटी-सी खादीकी दुकान भी नहीं चलाई जा सकती है। मैं सबसे अपील करता हूँ कि आप सब लोग खद्दर पहनना अपना नियम बना लें। मेरा अनुरोध है कि आप सब लोग गम्भीरतापूर्वक समस्त विदेशी वस्त्रका बहिष्कार करने, और केवल खादी पहननेका संकल्प करें।

मजदूरोंसे उन्होंने कहा कि आप नशाबन्दीका पालन करें और सभी तरहके वस्त्रोंको छोड़कर केवल खद्दर पहनें। ऐसा करके आप अपने सैकड़ों ऐसे भूखे भाई-बहनोंको भोजन देनेका काम करेंगे जो रोजीके अभावमें एक पैसा भी नहीं कमा सकते। इसके बाद महात्माजीने अस्पृश्यता और हिन्दू-मुस्लिम तनावपर चर्चा की।

अभिनन्दनपत्रका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि मुझे इस बात की खुशी है कि संघका कार्य प्रगति कर रहा है और मैं संयोजकोंको उनकी सफलताके लिए बधाई देता हूँ। दूसरी बात, अर्थात् पूँजीपतियों और मजदूरोंके सम्बन्धोंके बारेमें उन्होंने आश्वासन दिया कि मेरी सहानुभूति हमेशा गरीब मजदूरोंसे है और मेरा उद्देश्य मालिकों और मजदूरोंमें सहयोग और शान्ति कायम करना है। उन्होंने कहा कि निश्चय ही जमशेदपुरके मजदूरोंके लिए मैंने कुछ किया है, लेकिन यहाँकी स्थानीय परिस्थितियोंसे मैं पूरी तरह वाकिफ नहीं हूँ। जमशेदपुरमें मजदूर नेताओंमें से कुछ मेरे जाने हुए लोग और मेरे मित्र तथा भाई-स्वरूप श्री एन्ड्रयूज भी थे। फिर भी यदि किसी भी समय मेरी मददकी जरूरत पड़ी, तो मैं जो-कुछ थोड़ा बहुत कर सकूँगा, करूँगा। निश्चय ही मैं ऐसा नहीं मानता कि सभी पूँजीपति बुरे और दमनकारी हैं, बल्कि इसके विपरीत मैं बहुत-से ऐसे पूँजीपतियोंको जानता हूँ जिनके दिलोंमें

मजदूरोंके भलेका खयाल है। महात्माजीने मजदूरोंको सही रास्तेपर चलनेकी सलाह दी और कहा कि मुझे विश्वास है कि अन्तमें सत्यकी विजय होगी। उन्होंने फिर एक बार धनके लिए अपील करते हुए अपना भाषण समाप्त किया।[1]

[अंग्रेजीसे]

सर्चलाइट, १९-१-१९२७

२४७. भाषण: औरंगाबादकी सार्वजनिक सभामें[2]

१४ जनवरी, १९२७

महात्माजीने कहा कि इससे पहले जब मैंने विहारका दौरा किया था, उस समय मुझे यहाँ आनेका मौका नहीं मिल सका था। इसलिए मुझे खुशी है कि मैं यहाँ आकर आप लोगोंसे मिल सका। मैं आप लोगोंको दूर गाँवोंसे चलकर यहाँ आनेके लिए धन्यवाद देता हूँ। उन्होंने कहा कि मेरे दौरेका उद्देश्य आप लोगोंसे यह अपील करना है कि आप भारतके लिए और अपने लिए कुछ थोड़ा बहुत कार्य करें, और मुझे आशा है कि मुझे आप निराश नहीं करेंगे।

उन्होंने कहा कि भारत एक गरीब देश है। जो लोग शहरोंमें रहते हैं, वे शायद कल्पना भी नहीं कर सकते कि ग्रामीण लोग कितने गरीब हैं; और जो ग्रामीण सभामें आये हैं वे भी यह नहीं जानते कि सुदूर गाँवोंमें ऐसे लोग रह रहे हैं जो उनसे भी ज्यादा गरीब हैं। ये गरीब लोग दुखमय अन्धकारमें रह रहे हैं और किसी तरह अपने कष्टमय अस्तित्वको दुखद अवसानतक ढकेलते हुए ले जा रहे हैं। शहरोंके लोग अपनी जीविकाके लिए उन ग्रामीणोंपर निर्भर हैं जो वदलेमें इन दीन-हीन लोगोंसे पैसा पाते हैं। वे सारे देशके लिए धन-धान्य पैदा करते हैं जबकि खुद अपना शरीर प्राणमय बनाये रखनेका उनके पास कोई साधन नहीं है। हो सकता है कि भारतीय रेलवेके जरिये चन्द सौभाग्यशाली लोगोंको थोड़ा-बहुत धन प्राप्त होता हो, लेकिन धन-धान्यके सच्चे उत्पादकोंको वह उनके आजीविकाके साधनोंसे भी वंचित कर देती है। मैं आपसे ईश्वरके नामपर उन गरीब, दीन और दुखी ग्रामीणोंके लिए अपील करता हूँ, जो वास्तवमें भारतीय समाजकी रीढ़के समान हैं।

आगे बोलते हुए उन्होंने बताया कि विदेशी वस्त्रोंके आयातने किस तरह हमारे देशभाइयोंके दुख और गरीबीको बढ़ानेमें योगदान किया है और यह भी समझाया कि किस तरह उस अमर्यादित आयातकी रोकथामसे देशकी बढ़ती गरीबीपर सफलता-

१. भाषण समाप्त होनेपर गांधीजीको १००१ रु० की थैली भेंट की गई।

२. डाक बंगलेके पासवाले खुले मैदानमें हुई इस सभामें लगभग १०,००० लोग उपस्थित थे और इसमें गांधीजीने करीब आधा घंटा भाषण दिया।

पूर्वक अंकुश लगाया जा सकता है। उन्होंने कहा, मैंने ऐसे अस्वाभाविक घटना-चक्रोंसे संघर्ष करनेके लिए जो सबसे ज्यादा प्रभावकारी अस्त्र खोजा है, वह चरखा है और मैं आप लोगोंसे उसे अपनानेकी सिफारिश करने आया हूँ। मुझे विश्वास है कि यदि आप लोग सफलतापूर्वक विदेशी वस्त्रोंका बहिष्कार कर सकें और सिर्फ खद्दर ही पहनने लगें, तो आप अपने लक्ष्य अर्थात् स्वराज्यकी ओर काफी हदतक बढ़ सकेंगे। लेकिन अगर खद्दरका राजनीतिक महत्त्व न भी माना जाये तो भी दूसरे अन्य आधार हैं जिनसे खद्दरका समर्थन होता है। यदि खद्दरको राजनीतिक अस्त्रकी तरह काममें न भी लाया जाये, तो भी आप अपने हजारों गरीब देशभाइयोंकी मददके खयालसे उसे इस्तेमाल कर सकते हैं। चरखा आपकी अन्नपूर्णा है क्योंकि उसमें असंख्य गरीब लोगोंको भोजन-पानी देनेकी सामर्थ्य है। यह तो संसारमें सभी मानते हैं कि हमारे देशवासी गरीब हैं, यहाँतक कि अंग्रेज इतिहासकारोंने भी अपनी पुस्तकोंमें इस तथ्यको प्रमाणित किया है कि भारतमें हजारों लोग ऐसे हैं जो यह जानते ही नहीं कि दो जून रोटी खाना कैसा होता है। मैंने खुद अपनी आँखोंसे उड़ीसामें वह सब देखा है जो अबतक केवल किताबोंमें पढ़ता रहा हूँ। उड़ीसामें लोग इतने गरीब हैं कि सचमुच उनके पास जीवन-निर्वाहका कोई उपाय नहीं है। क्या उनकी सहायता करना आपका कर्त्तव्य नहीं है? यदि आप किसी और तरहसे उनकी मदद नहीं कर सकते हैं तो आप खादी पहनकर तो कर ही सकते हैं। खादीका कार्य हिन्दू और मुसलमान कर सकते हैं, स्त्री और पुरुष, बच्चे और बूढ़े, बंगाली और पंजाबी सभी कर सकते हैं, सभी इस कार्यमें शामिल हो सकते हैं और इसकी सफलतामें यथासम्भव शक्तिभर अपना योग दे सकते हैं। सरकारी कर्मचारियोंपर भी खादी पहननेके सम्बन्धमें कोई रोकटोक नहीं है। आधुनिक औद्योगिकवादके शोर-शराबेसे दूर स्थित गाँवोंके शान्तिमय वातावरणमें हमारे ही भाई-बहनों द्वारा तैयार की गई खादी हमारी सहानुभूति और प्रोत्साहन पानेकी अधिकारिणी है। खादीका सम्बन्ध हमारे अतीत कालकी स्मृतियोंसे जुड़ा हुआ होनेके कारण वह पुनीत है और हर किस्मके दूसरे कपड़ोंकी अपेक्षा उसे ही पहनना आपका धार्मिक कर्त्तव्य है।

आगे बोलते हुए उन्होंने कहा कि विदेशी-वस्त्रोंपर खर्चा गया पैसा मैनचेस्टर और लंकाशायरके बुनकरोंकी जेबमें जाता है, जबकि भारतीय मिलोंके कपड़ेपर खर्चा गया पैसा अहमदाबादके व्यापारियोंकी पहले ही से खचाखच भरी तिजोरियोंको ही और भरता है। मुझे यह सोचकर दुःख होता है कि भारतमें अच्छे और कुशल वस्त्र-उत्पादकोंके होनेके बावजूद भी भारतीयोंको विदेशी उत्पादकोंको इतना पैसा चुकाना पड़ता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी अपने शासनके प्रथम दौरमें आपके वस्त्र-उद्योगको मिटानेके लिए शायद जिम्मेदार रही हो। उसने आपके वस्त्र-उद्योगको अपनी हिंसात्मक कार्रवाईसे या अपने अवांछनीय तरीकोंके जरिये सम्भवतः ठप्प किया हो। लेकिन, मैं पूछता हूँ, अबतक उन हालातोंको जारी रखनेके लिए कौन जिम्मेदार हैं? यदि आप

अब भी खद्दर अपनाना शुरू कर दें तो भारतीय वस्त्र फिरसे दुनियाके लिए दर्शनीय चीज बन सकता है। आपको 'प्रायश्चित्त' के रूपमें सूत कातना और खद्दर पहनना शुरू करना चाहिए। धनवान लोगोंको भी पैसेके लिए नहीं, वरन् गाँवोंके श्रद्धालु और अपना अनुकरण करनेवाले लोगोंके सामने उदाहरण प्रस्तुत करनेके लिए सूत कातना शुरू करना चाहिए। हिन्दू-धर्म हर व्यक्तिको यज्ञ करनेका सख्तीसे आदेश देता है। यज्ञ वह है जो किसी एक व्यक्ति द्वारा अपने हितके लिए नहीं किया जाता वरन् दूसरे लोगोंके हितके लिए किया जाता है। भारतकी वर्तमान परिस्थितियोंमें गरीब ग्रामवासियोंके लिए सूत कातनेसे बढ़कर अधिक हितकारी कोई दूसरा काम नहीं हो सकता है और इसलिए भारतीयोंके लिए सबसे अच्छा यज्ञ सूत कातना है, जिसे सभी व्यक्ति कर सकते हैं।

आगे बोलते हुए महात्माजीने कहा कि सिर्फ बिहारमें हमने २९,००० रु० सूत कातनेवालों और ३६,००० रु० बुनकरोंमें वितरित किये हैं। मुझे लगता है कि बिहारके लोगोंको खद्दरसे स्नेह है, लेकिन अगर उन सबने खादी अपनाई होती तो शायद हम बिहारके गरीब निवासियोंको और भी ज्यादा पैसा दे सकते। लगभग १०० साल पहले पटनामें बहुत अच्छी खादी तैयार की जाती थी जो विदेशोंको निर्यात की जाती थी और विदेशोंके लोग उसे एक शान-शौकतकी चीजके रूपमें इस्तेमाल करते थे। अब चक्र उलटा हो गया है और भारत विदेशोंको अच्छे कपड़ेका निर्यात करनेके बजाय करोड़ों रुपयोंके आयातित कपड़ेकी खपत करता है और भारतके लोग सुन्दर विदेशी कपड़ा पहननेमें गर्वका अनुभव करते हैं। बिहारके निवासियोंकी हैसियतसे आपको याद करना चाहिए कि अतीतकालमें वस्त्र-उद्योगने पटनामें कितनी उन्नति की थी। उन्हीं पुराने अच्छे दिनोंको वापस लाना आपका कर्त्तव्य है। आप हर-सम्भव तरीकेसे खद्दरको अपनाकर ऐसा कर सकते हैं। खद्दरने काफी प्रगति की है; महीन अच्छी खादी अब सुलभ है और १९२१ की तुलनामें उसका मूल्य भी काफी कम हो गया है। अगर लोग काफी संख्यामें खद्दरके प्रति दिलचस्पी दिखायें तो खद्दरको और भी सस्ता बना सकते हैं।

इसके बाद उन्होंने अखिल भारतीय चरखा-संघके लिए चंदेकी अपील की और आगे बोलते हुए उन्होंने अस्पृश्यताकी समस्या तथा हिन्दू-मुस्लिम एकताकी समस्या-पर चर्चा की।

उन्होंने कहा कि स्वराज्य सदैव मेरे जीवनका स्वप्न रहा है और १९२०-२१ में वह करीब-करीब मिल ही गया था। असली शुद्धि-कार्य अर्थात् आत्मशुद्धिकी प्रक्रिया उस समय शुरू हो गई थी। देशमें एक उत्साहकी लहर दौड़ गई थी और इसीलिए हम अपने लक्ष्यके लगभग बिलकुल करीब पहुँच गये थे। वही अध्याय हमें फिरसे दोहराना है, लेकिन जबतक आपसकी अनबन और मतभेद हमें बुरी तरह एक दूसरेसे अलग किये हुए हैं, वैसा नहीं किया जा सकता।

आगे बोलते हुए उन्होंने कहा कि जो लोग कौंसिलोंमें प्रवेश करते हैं, वे अपने देशवासियोंकी भलाई करनेकी सच्ची भावनासे वैसा करते हैं, और वे कुछ अच्छा काम कर भी सकते हैं। लेकिन मैं पूछता हूँ कि कितने लोग कौंसिलोंमें जा सकते हैं और कितने लोगोंको मतदानका अधिकार है? ६० लाख मतदाता ही तो समूचा भारत नहीं है; मेरा उद्देश्य तो ३० करोड़ भारतीयोंको ऊपर उठाना है। मेरा विश्वास है कि खद्दर शायद अमीर और गरीब लोगोंको जोड़नेवाली कड़ीका काम कर सकता है; चरखा भारतकी पूरी जनतामें एकता और सद्भावना पैदा कर सकता है। उन्होंने फिर एक बार लोगोंसे अपील की कि वे अखिल भारतीय चरखा-संघके लिए चन्दा दें और ईश्वरसे प्रार्थना की कि वह कर्त्तव्यपालनमें लोगोंकी मदद करे।[1]

[अंग्रेजीसे]

सर्चलाइट, २१-१-१९२७

२४८. विचार: दर्शक पुस्तिकामें

गया

पौष शुक्ल १२, १९८३ [१५ जनवरी, १९२७][2]

इस पुस्तकालय[3] देखकर मुझको बहो(त) आनंद हुआ। दानीको मैं धन्यवाद देता हुआ पुस्तकालयकी उन्नति चाहता हुं।

मोहनदास गांधी

मूल प्रति (जी० एन० २५०९) की फोटो-नकलसे।

२४९. तार: मणिबहन पटेलको

गया

१५ जनवरी, १९२७

तुम्हारे पत्रसे आनन्द हुआ। पींजना और लोढ़ना जल्दी पूरी तरह सीख लो।

बापू

[गुजरातीसे]

बापुना पत्रो: मणिबहेन पटेलने

१. सभा समाप्त होनेपर गांधीजीको २५०१ रु० की एक थैली भेंट की गई।

२. इस वर्ष पौष शुक्ल १२ क्षय तिथि थी। गांधीजी १५ जनवरी, १९२७ को गयामें थे, जिसके अनुसार तिथि पौष शुक्ल १३ होती है।

३. गयाका भुन्नालाल पुस्तकालय।

२५०. भाषण: गयाकी एक सभामें[1]

१५ जनवरी, १९२७

हिन्दीमें बोलते हुए महात्माजीने इस बातपर खेद प्रकट किया कि नगरपालिकाने उन्हें जो मानपत्र दिया वह अंग्रेजीमें था। उन्होंने कहा, जब भी मुझे मौका मिलता है मैं लोगोंसे बराबर आग्रह करता हूँ कि वे या तो अपने प्रान्तकी भाषामें, अन्यथा भारतकी राष्ट्रभाषा अर्थात् हिन्दीमें मुझे मानपत्र दें। मुझे अंग्रेजी भाषासे कोई दुश्मनी नहीं है; मैं कुछ विशेष अवसरोंपर उसका प्रयोग करता हूँ, लेकिन अपने ही आदमीसे कुछ कहनेके लिए अंग्रेजीका प्रयोग करना अवांछनीय है। मैं नगरपालिकासे अनुरोध करता हूँ कि मुझे ही नहीं किसी भी अन्य भारतीय नेताको जब आप कोई मानपत्र दें तो हिन्दीका ही प्रयोग करें।

आगे बोलते हुए उन्होंने कहा, हिन्दुओंके लिए गया सचमुच एक पवित्र स्थान है, एक तीर्थ-स्थान है। लेकिन जिस नगरमें देशके सभी हिस्सोंसे लोगोंका आना होता है उस नगरकी सड़कोंकी शोचनीय दशा देखकर मुझे दुःख होता है। आज सुबह मुझे गयाकी कुछ सड़कोंको देखनेका मौका मिला। गन्दगीमें इन सड़कोंने अहमदाबादकी सड़कोंको भी मात दे दी है, हालाँकि अहमदाबाद एक पुराना शहर है, वहाँ गरीब लोग बड़ी तादादमें रहते हैं, और शायद वहाँकी नगरपालिकाके पास इसी बातका बहाना है। मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि भारतके किसी भी हिस्सेमें मैंने इतनी गन्दी सड़कें नहीं देखीं। गया सारे भारतका आकर्षण-स्थल है, इसलिए यहांकी नगरपालिकाको तो एक आदर्श नगरपालिका होना चाहिए था, लेकिन मुझे इस मामलेमें निराशा ही हुई है। इस महान् नगरकी दशाको सुधारनेके लिए नगरपालिकाके सदस्योंको जी-जानसे लग जाना चाहिए। लेकिन यह सुधार किस प्रकार सम्भव है? सुधार करनेके लिए सदस्योंको स्वयं काम करना चाहिए। जमादार और मेहतरोंपर भरोसा करनेसे ही काम नहीं चलेगा। मैं तो कहूँगा कि नगरपालिकाके अध्यक्ष और सदस्य हाथोंमें झाड़ू और बाल्टियोंमें पानी लेकर निकल पड़ें और नगरकी सड़कों और टट्टियोंको साफ कर डालें। किसी देशके विकासमें नगरोंका काफी महत्त्व होता है। राजनीतिक दासतासे मुक्ति पानेके लिए यह निहायत जरूरी है कि देशके लोगोंमें नागरिक उत्तरदायित्वोंका विकास हो। देशमें और भी बहुत-सी नगरपालिकाएँ हैं जिनमें खराब प्रशासनका दोष है। लेकिन गयाका जो अनोखा महत्त्व है, उसे देखते हुए यह जरूरी है कि यहाँका प्रशासन ऐसे दोषोंसे मुक्त रहे। सड़कोंपर झाड़ू लगानेमें शर्मकी कोई बात नहीं है; मैंने खुद कई स्थानोंपर झाड़ू लगाई है; यहाँ बिहारमें

१. सभामें गांधीजीको नगरपालिका और जिला बोर्डकी ओरसे मानपत्र भेंट किये गये।

ही चम्पारनमें मैंने झाड़ू लगाई है। मैं पश्चिमी सभ्यताका प्रेमी नहीं हूँ; बल्कि भारतके प्रधान हितोंको चोट पहुँचानेवाले सभी पश्चिमी प्रभावोंका मैं विरोध ही करूँगा, लेकिन पश्चिमी संस्कृतिमें जो-कुछ अच्छा है उसका मैं स्वागत करूँगा। नगर-प्रशासनके मामलेमें हमें पश्चिमके लोगोंसे बहुत-कुछ सीखना है। ग्लासगो और बरमिंघम भी पहले गयाकी तरह ही गन्दे शहर थे, शायद इससे भी ज्यादा गन्दे थे। लेकिन उन नगरोंके प्रशासकोंने जिस तरह अपने शहरोंकी दशा सुधारी वह भारतकी नगर-पालिकाओंके सदस्योंके लिए अनुकरणीय है। मैं आशा करता हूँ कि गयाकी नगरपालिका इस नगरकी दशा सुधारनेके लिए तुरन्त कार्रवाई करेगी।

भाषण जारी रखते हुए महात्माजीने कहा, मुझे दुःख है कि नगरपालिकाके अध्यक्षने मुझे सवेरे यह नहीं बताया कि उनके अन्य सहयोगी उनसे दो मुद्दोंपर सहमत नहीं हैं, अर्थात् खद्दर और अस्पृश्यताके सवालपर। ऐसी हालतमें मैं उन्हें इन दो मुद्दोंपर राजी करनेके लिए कुछ वक्त दूँगा। यदि आप अपने और गाँववालोंके बीच सम्पर्ककी एक कड़ी कायम कर देना चाहते हैं तो खद्दरकी उपेक्षा नहीं कर सकते। जहाँतक अस्पृश्यताका सवाल है, स्वामी श्रद्धानन्दकी मृत्युके बाद मैं नहीं समझता कि इस विषयपर बहस करनेकी कोई जरूरत है। मैं एक सनातनी हिन्दू हूँ, लेकिन हिन्दू शास्त्रोंमें मुझे ऐसी कोई चीज नहीं मिली जो अस्पृश्यताके वर्तमान स्वरूपका समर्थन करती हो। यदि अस्पृश्यताका निवारण नहीं किया गया तो वह दिन दूर नहीं जब हिन्दू-समाज खतम हो जायेगा। संसारमें केवल तीन ही प्रमुख धर्म हैं, ईसाई-धर्म, इस्लाम और हिन्दू धर्म। जैसी कि हिन्दू महासभाने हिन्दू-धर्मकी व्याख्या की है, मैं बुद्ध धर्म और सिख धर्मको हिन्दू-धर्मकी ही शाखा मानता हूँ। लेकिन शक्तिशाली हिन्दू समाज तेजीसे छिन्न-भिन्न हो रहा है। ईसाई और इस्लाम जगत, वस्तुतः सारा अहिन्दू जगत हिन्दू समाजकी गतिविधियोंको गौरसे देख रहा है। यदि आप हिन्दुओंके रूपमें अपने अस्तित्वका औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं और पुराने गौरवकी फिरसे प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, तो आपका स्पष्ट कर्त्तव्य है कि आप हिन्दू धर्मपर से अस्पृश्यता रूपी कलंक मिटा डालें।

आज सुबह मुझे श्री एन्ड्रयूजका भेजा एक तार मिला है। अगर आप तथाकथित अस्पृश्योंको इसी प्रकार आतंकित करते रहेंगे तो आप दक्षिण आफ्रिकामें गोरोंके हाथ उचित व्यवहार पानेकी आशा कैसे रख सकते हैं। श्रीयुत गोखलेने अपने एक भाषणमें ठीक ही कहा था कि भारतीय लोग जब अपने ही कुछ वर्गोंके साथ इतना अमानवीय व्यवहार करते हैं तब यह ठीक ही है कि गोरे लोग भारतीयोंको नीची निगाहसे देखते हैं। जबतक अस्पृश्यता-निवारण नहीं हो जाता और खद्दर आन्दोलनको सफल नहीं बनाया जाता तबतक हमारे सारे काम अधूरे ही रहेंगे।

आगे बोलते हुए उन्होंने, जिला बोर्डको खादीका काम हाथमें उठानेके लिए धन्यवाद दिया। किन्तु साथ ही यह भी कहा कि मुझे इस बातका दुःख है कि स्कूली

बच्चोंमें कताईको लोकप्रिय नहीं बनाया जा सका है; लेकिन इसपर मुझे कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि मैं बच्चोंका स्वभाव जानता हूँ। बच्चे नियमित रूपसे कताई करें, इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षकगण स्वयं कताई करें। शिक्षकोंका उदाहरण देखकर हो सकता है कि बच्चे खेलकी चीज मानकर चरखेसे चिपट जायें, और खेल-खेलमें ही अद्भुत फल निकल सके। महात्माजीने लोगोंको पुराने जमानेमें भारतीय कपड़ा उद्योगकी याद दिलाते हुए कहा कि आप उन पुराने दिनोंको फिर वापस लानेका भरसक प्रयत्न करें।

[अंग्रेजीसे]

सर्चलाइट, २१-१-१९२७

२५१. भाषण : रमनाकी सार्वजनिक सभामें[1]

१५ जनवरी, १९२७

उन्होंने कहा कि नगरपालिकाके अध्यक्ष और हिन्दू सभाके अध्यक्षने भी मुझे इस बातकी याद दिलाई है कि गया एक पवित्र तीर्थ-स्थान है जो भगवान बुद्धके संसर्गसे पुनीत है। लेकिन मुझे यह देखकर दुःख होता है कि गयाके शौचालयोंकी इतनी बुरी हालत है और यहाँकी जैसी गन्दी सड़कें तो मैंने जीवनमें कभी नहीं देखीं। उन्होंने कहा कि मैंने नगरपालिकाके सदस्योंको उनके कर्त्तव्यका ध्यान दिलाया है, लेकिन यदि लोगोंमें उत्तरदायित्वकी भावना पर्याप्त रूपसे नहीं आ जाती तो नगरपालिकाके लिए अपना कर्त्तव्य निभा सकना असम्भव है। जहाँ [शहरी] जनता जाग्रत है, वहाँ नगरपालिकाके सदस्य अपने कर्त्तव्यकी उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि यह तो लोगोंके खुद अपने हाथकी बात है कि उन सदस्योंके स्थानपर वे नये और बेहतर सदस्य ले आयें। मैंने नगरपालिकाके सदस्योंको सड़कें साफ करने, झाड़ू लगानेकी सलाह दी है और मैं सभी लोगोंको उनके इस काममें सहयोग देनेकी सलाह दूंगा। सड़कोंको साफ रखना नागरिकोंका भी उतना ही कर्त्तव्य है जितना झाड़ू लगानेवालोंका। यदि नागरिक हृदयसे उनका सहयोग नहीं करते तो सफाई करनेवाले अपना कर्त्तव्य नहीं निभा सकते हैं।

हिन्दू सभाके अभिनन्दनपत्रकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि मुझे इस बातकी खुशी है कि सभा हिन्दुओंको कायरतासे मुक्त करनेका प्रयत्न कर रही है। लेकिन मैंने देखा है कि केवल हिन्दू ही कायर नहीं हैं। कायरता तो सभी भारतीयोंकी विशेषता बन गई है। यदि वे इस दोषसे मुक्त हो सकें तो दुनियाकी कोई भी ताकत उन्हें आगे बढ़नेसे रोक नहीं सकती।

1. इस सभामें, जिसमें लगभग १०,००० लोग उपस्थित थे, गांधीजीको स्थानीय हिन्दू सभाने एक अभिनन्दनपत्र भेंट किया था।

उन्होंने कहा कि मैं हिन्दू सभाको खद्दरके लिए और अस्पृश्यता-निवारणके लिए काम करनेपर धन्यवाद देता हूँ। मैंने पहले भी एक बार आपको बताया है कि अस्पृश्यता हिन्दू-धर्मका अंग नहीं है। इस पापके लिए आपको संसारके आगे शर्मसे सिर झुकाना चाहिए। 'गीता' आपको उपदेश देती है कि मनुष्यको ब्राह्मण और चांडालमें भेदभाव नहीं बरतना चाहिए।[1] मैं उस श्लोकका यही अर्थ निकालूँगा कि मनुष्यको ब्राह्मण और चांडालकी एक समान सेवा करनी चाहिए और किसीसे भी घृणा नहीं करनी चाहिए। हिन्दू धर्मके अनुसार केवल चार ही वर्ण हैं; पाँचवाँ वर्ण हो ही नहीं सकता।

भाषण जारी रखते हुए उन्होंने कहा कि शुद्धि मेरे लिए आत्मशुद्धिका पर्याय है। अस्पृश्योंसे स्नेह करके आप यह शुद्धि-कर्म कर सकते हैं। स्वामी श्रद्धानन्दजीने धर्मके लिए प्राण त्यागे हैं। उनके जीवनकी एक उत्कट आकांक्षा अछूतोद्धार करनेकी थी। कमसे-कम उन महान् स्वामीजीकी खातिर आपको यह बुराई मिटा ही देनी चाहिए। निश्चय ही, स्वामीजी शुद्धिका जो मतलब लगाते थे, उसके सम्बन्धमें स्वामीजीके साथ मेरा ईमानदारीसे मतभेद था। उन्होंने कहा:[2]

मैंने इस तथ्यको छिपाया नहीं है कि मैं 'शुद्धि' कार्यके सभी पहलुओंका अनुमोदन नहीं करता हूँ। हिन्दू-शास्त्रोंका श्रद्धापूर्वक अध्ययन करके मैं इस निष्कर्ष-पर पहुँचा हूँ कि उनमें धर्म-परिवर्तनकी वैसी कोई गुंजाइश नहीं है जैसी कि इस्लाम और ईसाई-धर्मोंमें है। 'कुरान' का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करनेके बाद मुझे यह भी विश्वास हो गया है कि उसमें वैसी तबलीगकी कोई इजाजत नहीं दी गई है जिसे आज बढ़ावा दिया जा रहा है। हो सकता है कि मैं गलती कर रहा होऊँ। वैसी दशामें ईश्वर मेरी भूल सुधार दे। जहाँतक मेरा अपना सवाल है, मैं अपने धर्मकी रक्षा तपश्चर्या द्वारा करूँगा जो प्रार्थनामय कष्टसहनका पथ है, जो किसी भी महान उद्देश्य तक ले जानेवाला राजपथ है। हिन्दू लोग हिन्दू धर्मको अस्पृश्यताके अभिशापसे मुक्त कराकर स्वामीजीका सच्चा स्मारक बना सकते हैं। स्वामीजीके बलिदानके पावन रक्तसे हिन्दू-मुसलमान दोनोंको अपने हृदय धो डालने चाहिए। मुझे अपनी इच्छानुसार 'गीता' या 'कुरान' पढ़नेकी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। हिन्दू मुझे 'गीता' या मुसलमान मुझे 'कुरान' पढ़नेको क्यों मजबूर करें? 'बाइबिल' पढ़नेके लिए मुझे किसी ईसाई द्वारा मजबूर किये जानेकी क्या जरूरत है? किसी भी व्यक्ति और उसके धर्म तथा परमेश्वरके बीच किसीको बाधा बनकर खड़ा होनेका हक नहीं है। जिस व्यक्तिको धर्मकी कोई कल्पना ही नहीं है, जिसका हृदय शुष्क और अपवित्र है, वह दूसरोंको (धर्मान्तरित

१. 'विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥'
गीता, ५-१८

२. इसके बादका अनुच्छेद यंग इंडियामें प्रकाशित महादेव देसाई द्वारा लिखित "साप्ताहिक पत्र" से लिया गया है।

करके) पवित्र बनानेका दुस्साहस कैसे कर सकता है? लेकिन यह तो मेरी अपनी राय है। और चूंकि मैं स्वतन्त्रताका पुजारी हूँ, मैंने अपनी इस रायके बावजूद भी इस बातका आग्रह रखा है कि श्रद्धानन्दजीको वैदिक धर्मके प्रचारका उतना ही हक था जितना कि मुसलमानोंको 'कुरान' के प्रचारका। और यदि श्रद्धानन्दजीकी उनके शुद्धि-कार्यके लिए हत्या कर दी गई, तो इसमें इस्लामका कोई यश नहीं है। हिन्दूधर्मको उनके बलिदानपर गर्व है और वह उस बलिदानसे और समृद्ध बना है। कोई मुसलमान उस हत्याका गुप्त रूपसे समर्थन न करे और न ऐसा ही समझे कि इससे इस्लामका कुछ भला हुआ है। एक भी हिन्दूको बदलेकी भावना दिलमें नहीं लानी चाहिए। यदि हिन्दू-मुसलमान परस्पर अविश्वास और भयकी भावनासे मुक्त हो जायें तो कोई भी ताकत उनको आजाद होनेसे रोक नहीं सकती। हम खुद अपने कर्मोंसे गुलाम बने हैं। इस ज्वलंत चर्चाके विषयपर मैंने अबतक अपना मुँह बन्द रखा है। श्रद्धानन्दजीके बलिदानने मुझे कुछ हदतक अपना मुँह खोलनेको मजबूर कर दिया है। लेकिन ऐसे वातावरणमें मैं कोई दिशा-निर्देश नहीं दे सकता। मैं तो केवल ईश्वरसे ही प्रार्थना करूँगा कि वह हमें भय, घृणा और अविश्वाससे मुक्त करे और हम केवल प्रेमकी शक्तिपर ही भरोसा करना सीखें।[1]

गोरक्षाकी चर्चा करते हुए महात्माजीने कहा कि यह तो ऐसा विषय है जिसपर कोई विवाद नहीं है और मुझे खुशी है कि आप लोग गोरक्षाका काम कर रहे हैं। भारतमें गायोंकी मौजूदा हालतके लिए हिन्दू खुद जिम्मेदार हैं। अगर वे अपनी गायें पैसोंकी खातिर कसाइयोंके हाथ न बेचें, अगर वे अपनी दुधारू गायोंकी उचित देखभाल करें तो उनकी हालत इतनी शोचनीय नहीं हो सकती। मैंने सुना है कि गयामें एक गोशाला है। भारतमें ऐसी अनेक गोशालाएँ हैं। यदि उनको ठीकसे चलाया जाये तो दूध तथा दूधसे बने पदार्थों और मृत गायोंके चमड़ेसे होनेवाली आमदनीसे बूढ़ी और मरियल गायोंका पालन किया जा सकता है। चमड़ा कमानेवाले कारखाने स्थापित करके मरी गायकी खालसे पैसे कमाये जा सकते हैं।

भाषण जारी रखते हुए महात्माजीने लोगोंसे अपील की कि वे सदा केवल खादी पहनें और इस प्रकार गरीब गाँववालोंकी मदद करें। उन्होंने कहा, चरखा आपकी कामधेनु है, उसमें हजारों गरीब और भूखे मर रहे गाँववासियोंको भोजन देनेकी शक्ति है। मुझे खेद है कि गया-जैसे शहरमें एक छोटी-सी खद्दरकी दुकान भी नहीं चलाई जा सकती। विदेशी वस्त्रोंसे भरी बड़ी-बड़ी दुकानोंके बीच एक छोटी-सी खद्दरकी दुकान देखकर मुझे दुःख होता है। मैं वह दिन देखनेको लालायित हूँ जब बाजारमें सभी बड़ी दुकानोंमें खादीका माल भरा होगा, जब केवल एक या दो छोटी दुकानोंमें ही विदेशी कपड़ा या भारतीय मिलोंका बना कपड़ा रह जायेगा और वे दो-एक दुकानें भी ठीकसे न चल रही होंगी।

१. इसके बादके अनुच्छेद सर्चलाइटकी रिपोर्टसे लिये गये हैं।

भाषण समाप्त करते हुए उन्होंने लोगोंसे ईश्वरके नामपर अपील की कि वे खद्दर कार्यके लिए देशबन्धु स्मारक कोषमें जो-कुछ थोड़ा बहुत दे सकें, दें, और इस प्रकार देशके गरीब लोगोंको आर्थिक मदद दें।...

[अंग्रेजीसे]

सर्चलाइट, २१-१-१९२७

यंग इंडिया, २७-१-१९२७

२५२. पत्र : मीराबहनको

[१६ जनवरी, १९२७][1]

चि० मीरा,

तुम्हारा पत्र मिला और उससे तुम्हारे साथ घटी घटना आदिका पता चला। मने सोचा था कि बिहारके दौरेका कार्यक्रम तुम्हें भेज दिया गया है; लेकिन अब याद आता है कि जब पहली बार तारीखें भेजी गई थीं तो दौरेकी रूप-रेखा तैयार ही नहीं हुई थी। बिहारके दौरेकी तारीखें तुम्हें कल भेजी गई है। मैं समझता हूँ कि तुम स्थानोंकी जानकारीके लिए अपने नक्शोंका उपयोग कर रही हो। मेरी राय है कि स्थानोंके नाम तुम हिन्दी लिपिमें ही लिखो। यह एक रोचक और लाभदायक प्रयास होगा।

प्यार सहित,

बापू

[पुनश्च :]

यह पत्र प्रार्थनाके ठीक बाद ५ बजे सुबह लिखा गया है, क्योंकि हम अभी-अभी तत्काल यहाँसे बहुत दूरके स्थानके लिए रवाना हो रहे हैं।

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५१९७) से।

सौजन्य : मीराबहन

१. डाककी मुहरके अनुसार।

२५३. पत्र : डाह्याभाई मनोरदास पटेलको

यात्रामें
[१६ जनवरी, १९२७][1]

भाईश्री डाह्याभाई,

तुम्हारा पत्र मिला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसानोंकी स्थिति फिलहाल खराब होती जा रही है। लेकिन इसके कारण तुम जो सोचते हो उससे कहीं ज्यादा गहरे हैं। अधीर होनेसे काम बिगड़ता है। रोष करनेसे सुधरता नहीं है। उपाय सरकारके हाथमें नहीं अपितु किसानोंके हाथमें है, यह बात यदि तुम समझ लोगे तो देखोगे कि दु:खी हुए बिना तुम्हारा काम आगे बढ़ेगा। मुझे यदि एक क्षणका भी अवकाश मिला तो मैं 'नवजीवन' में लिखूंगा। 'प्रजाबन्धु'[2] की कतरन मिली है। इससे पहले जो कतरन भेजी थी वह नहीं मिली है। मेरा खयाल है मिल जायेगी।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० २६९८) से।
सौजन्य : डाह्याभाई म० पटेल

२५४. पत्र : वा० गो० देसाईको

[१६ जनवरी, १९२७][3]

भाईश्री वालजी,

आपका पत्र मिला। आपका तार भी मिला था। आपको सारी मूल रचनाएँ भेजनेकी कोशिश तो हो ही रही है।

आपको अनुवाद-कार्यमें लगानेकी इच्छा होती है। काकाको उस बारेमें लिख रहा हूँ। शंकरलालके बहनोईकी [लेख] माला तो अभी लगातार चलेगी। लगता है कि उसमें आपकी सेवाओंका उपयोग हो सकता है। उसका सम्पादन काका कर रहे हैं; इसलिए उन्हें लिख रहा हूँ।

आपको यह तो याद ही होगा कि [अखिल भारतीय] गोरक्षा मण्डल[4] [की समिति] की बैठक ११ मार्चको है। आपने सदस्योंके नाम खोजकर उन्हें लिख दिया होगा।

१. डाककी मुहरसे।
२. अहमदाबादका एक गुजराती साप्ताहिक।
३. डाककी मुहरसे।
४. उस समय वालजी देसाई इस मण्डलके मन्त्री थे।

रविवार

आशा है, समितिकी बैठकके बारेमें परिपत्र भेज दिया होगा और रेवाशंकरभाई[1] और आश्रमसे[2] हिसाब प्राप्त कर उसे अन्तिम रूप दे दिया होगा।

अपनी तबीयतका ध्यान तो रखते हो न?

मोहनदासके वन्देमातरम

भाईश्री वालजी देसाई
सत्याग्रह आश्रम
साबरमती

गुजराती पत्र (सी० डब्ल्यू० ७३९०) की फोटो-नकलसे।
सौजन्य: वा० गो० देसाई

२५५. भाषण: महिलाओंकी सभा, सोनपुरमें[3]

१६ जनवरी, १९२७

सीताकी याद कीजिए। क्या आप समझती हैं कि वे रामके साथ १४ वर्षके वनवासमें आपकी तरह भारी-भारी जेवर पहन कर गई थीं? क्या आप ऐसा मानती हैं कि इनसे आपका सौन्दर्य बढ़ता है? सीता अपने हृदयकी सुन्दरताके प्रति सतर्क थीं, और वे अपने तनपर खद्दर धारण करती थीं। आप जो भारी-भारी जेवर पहनती हैं, वे भद्दे ही नहीं दिखते, इनमें मैल भी जमा होता रहता है। आप इन जंजीरोंसे अपनेको मुक्त कीजिए और उन लोगोंको कुछ राहत पहुँचाइए जिनके पास जेवर तो क्या, पहननेको कपड़ातक नहीं है।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, २७-१-१९२७

१. रेवाशंकर ज० झवेरी, जो मण्डलके कोषाध्यक्ष थे।
२. साबरमती आश्रम, मण्डलका प्रधान कार्यालय।
३. यह अंश महादेव देसाईके "साप्ताहिक पत्र" से लिया गया है।

२५६. भाषण : सार्वजनिक सभा, छपरामें[1]

१६ जनवरी, १९२७

महात्माजीने दोनों अभिनन्दनपत्रोंके जवाबमें बोलते हुए नगरपालिका और जिला बोर्डको उनके अभिनन्दनोंके लिए धन्यवाद दिया और कहा, मैं दूसरे मसलोंपर भी कुछ शब्द कहूँगा, लेकिन यहाँ आनेका मेरा मुख्य प्रयोजन खादी और चरखेके सन्देशका प्रचार करना है। एक अभिनन्दनपत्रमें मेरे उन प्रयत्नोंकी चर्चा की गई है जो मैं अस्पृश्यताकी बुराईको दूर करनेके लिए कर रहा हूँ। मेरे हृदयकी यह उत्कट इच्छा है कि हिन्दू समाजके इस कलंकको मिटा दूँ। स्वामी श्रद्धानन्द, जो यही प्रयत्न करते हुए मर मिटे, कहा करते थे कि जबतक प्रत्येक भारतीय नेताके घरमें एक-एक अछूतको परिवारके सदस्यकी भाँति नहीं रखा जायेगा, तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि अस्पृश्यता समाप्त हो गई है। पंचम वर्ण हमारा ही बनाया हुआ है; शास्त्रोंमें इसकी अनुमति नहीं दी गई है। यदि नेतागण अपने घरोंमें अछूतोंको रखें तो कोई कारण नहीं है कि इसके लिए जनता उन्हें दोषी ठहरायेगी। स्वामी श्रद्धानन्दका जीवन यही पाठ देता है कि "अछूतों की सेवा करो।" आपको उनके जीवनसे निर्भयताका पाठ भी सीखना चाहिए, और उनकी मृत्युसे साम्प्रदायिकताकी बुराइयोंको भी समझ लेना चाहिए। हमारे लिए हिन्दू-मुस्लिम एकताकी बहुत ही बड़ी आवश्यकता है। जबतक यह एकता नहीं स्थापित होती तबतक हम स्वराज्यका स्वप्न भी नहीं देख सकते।

अपना भाषण जारी रखते हुए उन्होंने कहा कि हमारे देशकी गरीबी एक ऐसा तथ्य है जिसे सभी स्वीकार करते हैं। यदि हम अपने देश और अपने धर्मके प्रति सच्चे हैं तो हमें गरीबोंके साथ सहानुभूति हुए बिना रह ही नहीं सकती। गरीबोंकी मदद करनेका सबसे अच्छा तरीका यह है कि लोग खादी पहनें। विदेशी या मिलके बने कपड़ेपर आपको एक कानी कौड़ी भी नहीं खर्च करनी चाहिए।

महात्माजीने एक बार फिर उपस्थित लोगोंसे अन्य सब प्रकारके कपड़े छोड़कर केवल खद्दर ही पहननेकी अपील की।

इसके बाद उन्होंने घोषणा की कि वे अब स्वयं सभामें खद्दर बेचेंगे, और अपने हाथमें खादीके कुछ टुकड़े लेकर खरीदनेवालोंको आगे आनेका निमन्त्रण दिया।

[अंग्रेजीसे]

सर्चलाइट, २१-१-१९२७

१. इस सभामें, जिसमें करीब दस हजार लोग उपस्थित थे, गांधीजीको नगरपालिका और जिला बोर्डकी ओरसे हिन्दीमें अभिनन्दनपत्र भेंट किये गये। वहाँसे एकमाके लिए रवाना होनेसे पहले गांधीजीने उन हॉलमें औरतोंकी एक सभामें भी भाषण किया।

२५७. भाषण : सार्वजनिक सभा, सिवानमें[1]

[१६ जनवरी, १९२७][2]

हिन्दू-मुस्लिम एकताकी हदतक आप अपने अंचल (सब-डिवीजन) को अन्य भागोंके मुकाबले बेहतर बताते हैं, इससे मुझे खुशी हुई है। लेकिन क्या आप कह सकते हैं कि आपमें ऐसी एकता है कि अन्य स्थानोंपर चाहे जो हो जाये, वह यहाँ नहीं टूटेगी? मेरी कितनी इच्छा है कि इस विशाल देशमें कमसे-कम एक प्रान्त, एक जिला, एक सब-डिवीजन तो ऐसा हो जो गर्वसे कह सके कि संसारकी कोई शक्ति हमारे यहाँ हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा नहीं करा सकती। हम भले ही सोचा करें कि हम जीवित हैं, लेकिन एकताके अभावमें हम मरे हुओंसे गये-बीते हैं। हिन्दू सोचता है कि मुसलमानोंसे लड़कर वह हिन्दू-धर्मको लाभ पहुँचाता है, और मुसलमान सोचता है कि वह हिन्दुओंसे लड़कर इस्लामको। लेकिन वास्तवमें इस तरह दोनों अपने-अपने धर्मका नाश कर रहे हैं। यह विष दोनों ही जातियोंके लोगोंमें व्याप्त हो गया है। इसमें ताज्जुब भी क्या है? यदि कोई मनुष्य जीवनके किसी एक क्षेत्रमें गलती करनेमें जुटा हो तो वह दूसरे क्षेत्रमें ठीक काम कर ही नहीं सकता। जीवन तो एक अविभाज्य, समूची चीज है।

मैंने कोमिल्लामें कहा कि यह समस्या अब आदमीके हाथसे बाहर हो गई है, और ईश्वरने उसे अब अपने हाथोंमें ले लिया है। सम्भव है मेरे इस कथनके पीछे मेरा अहंकार छिपा हो। लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता। ऐसा न माननेका मेरे पास पर्याप्त कारण है। मैं अपने दिलपर हाथ रखकर कह सकता हूँ कि अपने जीवनमें एक क्षणके लिए भी मैं ईश्वरको नहीं भूलता। पिछले बीस वर्षोंसे मैंने जो-कुछ भी किया है, यही मानते हुए किया है कि मैं जो-कुछ कर रहा हूँ वह ईश्वरको साक्षी रखकर कर रहा हूँ। हिन्दू-मुस्लिम एकताको मैंने अपने जीवनका अनुष्ठान बना लिया था। उसके लिए मैंने दक्षिण आफ्रिकामें काम किया, उसीके लिए मैंने यहाँ मेहनत की, उसके लिए मैंने तपस्या की, लेकिन ईश्वर सन्तुष्ट नहीं हुआ; ईश्वर नहीं चाहता था कि मैं इस कामका कोई श्रेय पाऊँ। और इसीलिए अब मैंने इस कामसे अपने हाथ धो लिये हैं। मैं असहाय हूँ। जितनी कोशिश कर सकता था, मैं कर चुका हूँ। लेकिन चूँकि मुझे ईश्वरमें विश्वास है, चूँकि एक क्षणके लिए भी उसपरसे मेरा विश्वास नहीं हटता, चूँकि उसकी दी हुई खुशी और उसके दिये हुए दुःखसे मैं सन्तुष्ट हूँ, इसलिए मैं अपनेको असहाय भले ही महसूस करूँ, आशा मैं कभी नहीं छोड़ता। मेरे अन्दर कोई चीज कहती है कि हम हिन्दू-मुस्लिम एकताके जितनी जल्दी होनेकी बात सोचनेकी

१. हिन्दीमें दिये गये भाषणका यह सार है।

२. सिवान, सारन जिलेका एक कस्बा है, जहाँका दौरा, २१-१-१९२७ के सर्चलाइटके अनुसार गांधीजीने १६ जनवरीको किया था।

हिम्मत भी नही कर सकते, उससे भी जल्दी वह स्थापित होकर रहेगी। भले ही हम न चाहें, एक दिन ईश्वर हमपर यह एकता थोप कर रहेगा। इसीलिए मैंने कहा कि अब यह बात ईश्वरके हाथमें पहुँच गई है। मैंने कहा कि मेरे इस कथनको अहंकारयुक्त कथन माना जा सकता है — अहंकार इस अर्थमें कि इससे यह ध्वनि निकलती है कि यह एकता स्थापित करना किसी दूसरे मनुष्यके वशकी बात नहीं है, और जैसे कि मुझसे ज्यादा इसके लिए किसी औरने प्रयत्न नही किया है। लेकिन उस कथनमें कोई अहंकार है नहीं। भले ही इस दिशामें सैकड़ों अन्य लोगोंने उसी ईमानदारी, प्रेम और उत्साहके साथ काम किया हो जिससे मैंने किया है, लेकिन ऐसा कोई नही है जिसने यह काम मुझसे ज्यादा किया हो। और मेरा विश्वास है कि वे सब भी अपनेको मेरे जैसा ही असहाय महसूस कर रहे होंगे। १९२० में मैंने कहा था कि ब्रिटिश साम्राज्य भी, अपनी सैन्यशक्ति, कूटनीति और संगठन-बलके बावजूद हमारी हस्ती नहीं मिटा सकता, न हमें गुलाम बना सकता है और न हिन्दुओं और मुसलमानोंको अलग कर सकता है। लेकिन ऐसा इसलिए था कि मेरे खयालसे उस वक्त हममें ईश्वरका भय था। हम एक दूसरेपर विश्वास करते थे और एक दूसरेकी शक्तिपर भरोसा रखते थे। लेकिन आज मैं आपको अपना सारा भय, सारी घृणा और सारा अविश्वास हृदयसे निकाल फेंकनेके लिए कैसे राजी कर सकता हूँ? श्रद्धानन्दजी मुसलमानोंके शत्रु नही थे। वह एक सूरमा थे। उनमें अपने विश्वासपर दृढ़ रहनेका साहस था। उनसे लड़नेका तरीका उनकी हत्या कर देना नही था। अतः आइए, हम हिन्दू और मुसलमान उनके रक्तसे अपने हृदयके पाप धो डालें।

और, वह कौन-सी चीज है जिसके लिए हमें लड़ना चाहिए? हम हिन्दू लोग मूर्ति-पूजक ही सही। हम गलत रास्तेपर हो सकते हैं। लेकिन जब ईश्वरने मनुष्यको गलतियाँ करनेका अधिकार दिया है, जब हमारे मूर्तिपूजक होनेपर भी ईश्वर हमें जीवित रहने देता है तो मुसलमान लोग भी हमें क्यों नहीं बर्दाश्त कर सकते। और अगर किसी मुसलमानको लगता है कि उसे गायका वध करना ही चाहिए तो कोई हिन्दू उसको ऐसा करनेसे क्यों रोके? क्यों नही वह उस मुसलमानके सामने घुटने टेककर उससे गायको न मारनेकी याचना करे? लेकिन हम लोग ऐसा कुछ भी नहीं करते। तो फिर यह ठीक है, जो चीज हम आज करनेको तैयार नहीं हैं वही चीज करनेके लिए ईश्वर एक दिन हिन्दुओं और मुसलमानोंको मजबूर करेगा। यदि आप ईश्वरमें आस्था रखते हैं तो मैं विनती करूँगा कि आप अपने अन्तरमें पैठकर वहाँ निवास करनेवाले प्रभुसे प्रार्थना करें कि वह आपको कोई गलत काम करनेसे रोके और आपको सही काम करनेकी प्रेरणा दे। हर शाम और सुबह हम यही प्रार्थना करें। दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २७-१-१९२७

२५८. पत्र : मीराबहनको

१७ जनवरी, १९२७

चि० मीरा,

हम इस समय गंगाके उत्तरमें हैं इसलिए फिलहाल तुम्हारे पास पत्र पहुँचनेमें ज्यादा समय लगेगा। जहाँ हम लोग इस समय ठहरे हैं वह राजेन्द्रबाबूकी पैतृक सम्पत्ति है। यह मकान एक दूरस्थ गाँवमें है। फिर भी रेलवे लाइनसे बहुत दूर नहीं है।

तुम्हारी हिन्दीमें अब कितनी प्रगति हुई है? क्या तुम अब बिना हिचके हिन्दीमें बोलती-चालती हो? क्या तुम्हें हिन्दीमें बातचीत करनेके लिए काफी वक्त मिल जाता है या तुम्हें अपना काम अंग्रेजीकी मददसे ही चलाना पड़ता है? मुझे आशा है कि तुम आश्रमको पत्र बराबर हर हफ्ते लिख रही होगी। यहाँ काफी ठंडा है। छायामें गर्मी महसूस नहीं होती। मौसममें नमी है, पर है आनन्दप्रद। मन होता है कि दिन-भर पैदल टहला जाये, लेकिन मुझे टहलनेका समय बहुत ही कम मिलता है।

मैं लगभग २० मार्चतक यहाँ हूँ, मुझे आशा है तबतक तुम वहाँ रहना चाहोगी। लेकिन यदि जगह तुम्हें अनुकूल न पड़ती हो तो वहाँ मत रहना।

प्यार सहित,

तुम्हारा,
बापू

[पुनश्च :]

आशा है तुम्हें मेरा यात्रा-कार्यक्रम मिल गया होगा। अगर न मिला हो, तो तुम खादी-कार्यालय, मुरादपुर, पटनाके पतेसे अपने पत्र भेजना। मुझे डर है कि इस पत्रका तुम्हारा उत्तर मुझतक पहुँचनेमें करीब १० दिन लग जायेंगे। मैं इसी ३० तारीखको पटना पहुँचूँगा।

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५१९८) से।

सौजन्य : मीराबहन

२५९. पत्र : मणिबहन पटेलको

मौनवार [१७ जनवरी, १९२७][1]

चि० मणि,

तुम्हारा पत्र मिल गया। तुम्हारे पत्रमें कुछ भी छिपाने-जैसी बात नहीं है, जिसे कोई न पढ़े। फिर भी उसे महादेवके सिवा और किसीने नहीं पढ़ा।

मैं जबरन तुम्हारी शादी हरगिज नहीं करूँगा; और बापू भी नहीं करेंगे। मेरी चले तो मैं लड़कियोंको जबरदस्ती कुँआरी रखूं। जबरदस्ती विवाह करनेको तो लड़कियाँ मुझे मजबूर करती हैं। इसलिए मेरी तरफसे तो तुम्हें अभयदान ही है। तुम्हें न समझनेवाले मुझे तंग करते थे। इसलिए मैंने फिरसे पूछ लिया, वह भी तुम्हारी व्यग्रावस्था देखनेके बाद। मैं ऐसी युवा लड़कियोंको जानता जरूर हूँ जो स्वयं जानती नहीं, किन्तु जिनकी चित्तकी व्यग्रताका कारण शादी न करना ही होता है। मैं मानता हूँ कि तुम्हारे लिए यह बात नहीं होगी। परन्तु तुम्हें सावधान करना मेरा धर्म था और यह बताना भी कि एक बार ना कहनेके बाद फिर कभी शादीका विचार नहीं किया जा सकता, ऐसा कुछ नहीं है। हाँ, यदि व्रत लिया हो तो जरूर बात खतम हो जाती है। फिर तो आसमान टूट पड़े तब भी व्रतको तोड़ा नहीं जा सकता। लेकिन जबतक तुमने व्रत नहीं लिया है तबतक मेरे जैसे लोग भी तुम्हें पूछेंगे। दूसरे तो आग्रह भी करेंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं चाहता हूँ कि तुम व्रत ले लो। वह तो जब तुमसे व्रतके बिना न रहा जा सके तब अपनी इच्छासे लेना। अब मैं तो तुम्हारे विवाहकी बात नहीं करूँगा। इतना ही नहीं, मैं औरोंको भी उससे रोकूँगा। परन्तु तुम्हें व्यग्रावस्थासे निकल जाना चाहिए और कौमारावस्थाको हर तरहसे सुशोभित करना चाहिए। ब्रह्मचर्यका तुम्हें धार्मिक अर्थ करना है और उससे धार्मिक फल प्राप्त करनेके लिए तुम्हें ब्रह्मचर्यका पालन करना है, जिसके बारेमें मैंने अभी 'नवजीवन' में छप रही अपनी 'आत्मकथा'[2] में लिखा है। इसलिए तुम्हारी प्रकृति शान्त, प्रफुल्लित, उद्यमी और समभावी हो जानी चाहिए।

'मार्गोपदेशिका'[3] बार-बार पढ़कर उसे पचा डालो। 'गीता' के प्रत्येक शब्दको उसके नियमोंके अनुसार समझना।

लोढ़ना-पींजना सीख लेनेके बारेमें मैंने तार दिया है।[4] मैंने कराची भी तार दिया है। अभीतक नारणदासका जवाब नहीं आया। आये या न आये, मेरे पास ऐसी माँग तो और जगहसे भी आई है। अलग-अलग जगह तुम्हें कताई सिखानेके लिए

१. साधन-सूत्रके अनुसार।

२. खण्ड ३, अध्याय ७ और ८।

३. आर० जी० भण्डारकर द्वारा रचित।

४. देखिए "तार: मणिबहन पटेलको", १५-१-१९२७।

भेजते रहनेका विचार है। मैंने ५० रु० और सफर-खर्चकी माँग की है। इससे अनुभव भी काफी होगा। बादमें देख लेंगे। वहाँ अभी किसी काममें न लगना। ३० रुपये लेती ही रहो। उनमें से बचें तो भले ही बचें। मैं हिसाब माँगूँगा।

बापूके आशीर्वाद

चि० मणिबहन पटेल
सत्याग्रह आश्रम
साबरमती

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : मणिबहेन पटेलने

२६०. पत्र : जमनालाल बजाजको

मौनवार, पौष सुदी १४ [१७ जनवरी, १९२७][1]

चि० जमनालाल,

तुम्हारा पत्र मिला है। गोंदिया और अमरावतीके भण्डारोंके बारेमें मैंने तुम्हें तार दिया है। मुझे गोंदिया आना होगा तो मैं वहाँ भी आ सकूँगा। ३१ की रातको पटनेसे रवाना होना है। पहलीको बम्बई मेल मुगलसरायमें मिलेगी। उसी दिन जबलपुर ....[2] पहुँचूँगा। इससे दूसरी तारीखको गोंदिया पहुँचना सम्भव है। तीसरी को सबेरे भुसावलवाली गाड़ी तो मिलेगी ही।

अब मणिलालके बारेमें। मैंने इसके बारेमें किशोरलालको पत्र लिखा है। वह तुम्हें पढ़ा देनेको लिखा है। मेरा तात्कालिक सुझाव यह है कि किसीका नाम लिये बिना गोमती अथवा विजयलक्ष्मी सुशीलासे यह पूछे कि उसका विवाह करनेका विचार है या नहीं। किशोरलालके पत्रसे मालूम होता है कि कोई बहन अभी शादी करनेको तैयार हो, ऐसा नहीं लगता। अगर ऐसा ही हो, तो हम उनको कैसे ललचायें? अगर कोई तैयार हो भी, तो शायद सुशीला हो, ऐसा किशोरलाल मानते हैं। इसीलिए विवाहके बारेमें उसकी इच्छा जान लेनेके बाद ही आगे बढ़ा जा सकता है। इस बीचमें उस तरफ तो आऊँगा ही। उस समय और ज्यादा सूझ पड़ेगा।

यहाँ तेज रफ्तारसे यात्रा हो रही है। ...[3] ठीक है। ज्यादा प्रबन्ध ...[4] हो सकता है। आज हम राजेन्द्रबाबूके गाँवमें हैं।

जानकीबहनके मसे फिरसे नरम हैं; तो भी उसे दिखाकर, डाक्टर कहे उस मुताबिक करना उचित लगता है। मैं चाहता हूँ कि डाक्टरको दिखानेमें देर न करो।

१. गांधीजीने इस पत्रमें अपनी यात्राका जो कार्यक्रम दिया है उससे यह पत्र जनवरी, १९२७का ठहरता है। पौष सुदी १४को १६ जनवरी थी किन्तु सोमवार १७ जनवरीको ही था।

२, ३, ४. साधन-सूत्रमें इन स्थानोंमें शब्द छूटे हुए हैं।

आशा है, विनोबाकी तबीयत ठीक होगी। शिवाजीकी तबीयतकी खबर भी जानना चाहता हूँ।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती पत्र (जी० एन० २८७९) की फोटो-नकलसे।

२६१. पत्र : आश्रमकी बहनोंको

मौनवार, पौष सुदी १४ [१७ जनवरी, १९२७]

बहनो,

तुम्हारा पत्र मिल गया।

मैं तो सोमवारको ही लिखता हूँ, परन्तु मेरा ठिकाना बदलता रहता है, इसलिए तुम्हारे पास मेरा पत्र पहुँचनेकी तारीख तो बदलेगी ही। अबतक मैं गंगाके दक्षिणमें था। कल उत्तरमें आया, इसलिए गंगा नदी लाँघनी पड़ी। पटनासे नाँवमें बैठकर उस पार गये। वहाँ मोटर तैयार थी। उसमें बैठकर सोनपुर गये। यहाँकी मिट्टी कीचड़-जैसी नहीं है। उसमें रेत भी मिली हुई है। इसलिए वह पैरोंको रेशमकी तरह नरम लगती है। बा और मैं लगभग एक मील तो पैदल चले। चप्पल नहीं पहने थे। रेत बहुत भली लगती थी। इस भागमें गंगामैया हर साल नई जमीन तैयार करती है। सैकड़ों मीलसे उपजाऊ मिट्टी घसीट कर लाती है और उसे यहाँ छोड़कर समुद्रकी ओर दौड़ जाती है, मानो उसका किया हुआ उपकार कोई उसे सुना दे और उसे शरमाना पड़े। आज हम राजेन्द्रबाबूके गाँवमें हैं। राजबंसीदेवी यहीं हैं। चन्द्रमुखी और विद्यावती जिस शहरमें वे रहते हैं, वहीं हैं, यानी छपरेमें। हम उनसे छपरेमें मिले। दोनोंका स्वास्थ्य कुल मिलाकर ठीक है — चन्द्रमुखीका आश्रमसे खराब, विद्यावतीका कुछ अच्छा।

कलकी स्त्रियोंकी सभामें मैंने एक नई बातका प्रचार शुरू किया। यहाँकी बहनें चाँदीके भारी गहने बहुत पहनती हैं, बच्चोंको मैला रखती हैं, बालोंमें कंघी नहीं करतीं। इसलिए गहनोंकी आलोचना की। नतीजा यह हुआ कि उनमें से कुछने अपने तोड़े, हँसली वगैरा मुझे दे दिये और वे भी इस शर्तपर कि वे अब और गहने नहीं खरीदेंगी, नहीं पहनेंगी। यह काम करते वक्त मुझे तुम सब बहनोंकी बहुत याद आई। बा मुझे इसमें खूब मदद दे रही है। मगर यह तो इसलिए कि वह मेरे साथ है। ऐसे काम मैं जितनी अच्छी तरह करता हूँ तुम उससे कहीं ज्यादा अच्छी तरह कर सकती हो। मगर इसके लिए त्याग चाहिए, उत्साह चाहिए, सुविधा चाहिए। यह सब तुम्हें वहाँ मिल सकता है? हम श्लोक गाते ही हैं न — आत्मवत् सर्वभूतेषु — सबको अपने जैसा समझो? यों समझें तो फिर किसीके बच्चे मैले हों, यह मानकर कि हमारे ही बच्चे मैले है, हम शर्माएँ; कोई दुखी हो तो यह समझकर कि हमीं दुखी हैं, दुखी हों और उस दुखको मिटानेके उपाय करें।

मगर मैं तो अपनी हदसे बढ़ गया। बढ़ना अच्छा लगता है, मगर अपने पास दूसरे पत्रोंका ढेर देखता हूँ तो डर जाता हूँ।

पटना, सोनपुर और छपरा कहाँ है, यह नकशा लेकर देख लेना। यह भूमि राजा जनककी है।

बापूके आशीर्वाद

[पुनश्च :]

गंगाबहन झवेरीने किसकी इजाजतसे अपने पैरमें मोच आने दी? हरिइच्छा आलस्यके मारे हाजिर न हो, तो वह सजाके योग्य काम होगा।

बापू

गुजराती पत्र (जी० एन० ३६३५) की फोटो-नकलसे।

२६२. पत्र : मीराबहनको

[१८ जनवरी, १९२७][1]

चि० मीरा,

तुम्हारे दो और पत्र मिले। हाँ, तुम जब भी चाहो हरद्वार जा सकती हो। अगर तुम्हारा वहाँ रहना हिन्दी सीखनेमें सहायक न हो, तो कातना और पींजना सिखानेके लिए तुम्हारा वहाँ[2] ठहरना जरूरी नहीं है। चूँकि ऐसा नहीं मालूम होता कि तुम हिन्दीमें बहुत प्रगति कर रही हो, इसलिए तुरन्त चल देना ही बेहतर है। तुम्हें अपनी तन्दुरुस्तीको किसी भी सूरतमें खतरेमें नहीं डालना चाहिए। इसलिए तुम खुद सोचकर जैसा उत्तम समझो, करो। अपना विचार विद्यावतीको बता देना।

हत्याके[3] बारेमें मुझे लिखे तुम्हारे पत्रसे मुझे दुःख हुआ। मेरे खयालमें जिन लोगोंने तुम्हें सूचना दी उनके आशयको शायद तुम समझ नहीं पाईं। घृणाकी भावना तो अवश्य ही है, वरना फसाद होता ही क्यों? किन्तु यह सोचकर कि यह घृणा तरुणोंमें भी फैल सकती है, मन काँप जाता है।

क्या तुम स्वामीजीके घर गई थीं?

सस्नेह,

तुम्हारा,
बापू

अंग्रेजी पत्र (सी० डब्ल्यू० ५१९९) से।
सौजन्य : मीराबहन

१. डाककी मुहरसे।
२. कन्या गुरुकुल।
३. अभिप्राय स्वामी श्रद्धानन्दजीकी हत्यासे है।

२६३. बिहारमें खादी

श्रीयुत राजेन्द्र प्रसादने मेरे पास अ० भा० चरखा संघकी बिहार शाखाकी सित-म्बर १९२६ तककी सालाना रिपोर्ट भेजी है। यह निश्चित गतिसे होनेवाली प्रगतिका लेखा है। शुरूमें इस संस्थाको जो कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी, उनका जिक्र करनेके बाद रिपोर्टमें कहा गया है:[1]

उत्पादन और बिक्रीके ८ केन्द्र हैं और ११ खादी डिपो हैं। इनके अलावा ६ स्थानों-पर बिक्री एजेंसियाँ हैं तथा अभी और अधिक खुलने जा रही हैं। इनमें ६५ पूरे समय काम करनेवाले कार्यकर्त्ता हैं, जिनमें दो अवैतनिक हैं। उनकी औसत माहवारी आमदनी २५ रुपये है। इस साल २,६९८ कतैयोंमें २९,५१९ रु० बाँटे गये; ४८९ बुनकरोंको ३६,८६२ रु० मिले; दो महीनेमें ६ दर्जियोंको २३० रु० मिले; ८ रंगरेजों और छपाई करनेवालोंको ६ महीनोंमें रंगका दाम मिलाकर २,२७३ रु० दिये गये और ६ महीनोंमें ४० धोबियोंको १,९५१ रु० मिले। यह कहना तो जरूरी नहीं है कि कतैये और बुनकर भी दिन-भर काम करनेवाले न थे। वे तो केवल फुरसतके समय काम करते थे।

रिपोर्टमें आगे चलकर कहा गया है:

> अबतक जो उन्नति हुई है, वह केवल बिक्री और उत्पादनमें हुई बढ़ती के रूपमें ही नहीं है; बल्कि अब खादी पहलेसे अच्छी और सस्ती भी बनने लगी है।

१९२३ में बारीक कपड़ेका औसत दाम रु० १-०-५ गज था। १९२६ में वह घटकर १३ आने गज हो गया। जब सूत बहुत कमजोर होता था उस समय ४५ इंच चौड़े कपड़ेकी बुनाई सवा तीन आने गज पड़ती थी। अब सूत अच्छा होनेसे उतना ही चौड़ा कपड़ा सवा दो आने गजके हिसाबसे बुना जाता है। हाथ-कता सूत बुननेके लिए अब बुनकरोंकी भी कोई कमी नहीं है। इनमें कुछ तो ७२ इंचतक चौड़ा कपड़ा बुन लेते हैं। ट्वील, कोटके कई तरहके कपड़े वगैरह बुने जाते हैं। रँगाई और छपाईके कामका संगठन बिहार विद्यापीठके एक स्नातककी विशेष देख-रेखमें किया जा रहा है।

संस्थाके भिन्न-भिन्न अंगोंके कामोंका जिक्र करनेके बाद रिपोर्ट कहती है:

> अगर हम अपना मौजूदा माल खपा सकें तो कपड़ेका दाम अभी १० प्रतिशत और घटाया जा सकेगा।

इस वर्ष आयोजित की गई चलती-फिरती सफल प्रदर्शनियोंका जिक्र तो स्वा-भाविक ही था। उनकी ब्यौरेवार रिपोर्ट समय-समयपर इस पत्रमें छप चुकी हैं। यहाँ दी गई रोचक रिपोर्टमें निम्न सारगर्भित बातें कही गई हैं:

१. रिपोर्टमें खद्दरके उत्पादन और बिक्रीके आँकड़े आदि दिये गये थे। इसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

खादी-कार्यके लिए बिहार प्रान्त विशेष उपयुक्त है। लोग खेती-पेशा हैं। यहाँ छोटा नागपुरकी कोयलेकी खानों और जमशेदपुरमें टाटाके लोहेके कारखानेके अलावा और कोई नाम लेने लायक धन्धा ही नहीं है। प्रान्तके अधिकांश हिस्सोंमें कताईका अब भी चलन है और सारे प्रान्तकी जरूरत लायक कपड़ा बनानेके लिए बुनकर और करघे काफी संख्यामें हैं। हालाँकि कपासकी किस्म घटिया है, लेकिन वह प्रान्तके कई हिस्सोंमें पैदा होती है। इसलिए अगरचे इसकी उन्नतिके लिए संगठन और तकनीकी दक्षताकी जरूरत है, फिर भी यहाँ खादी तैयार करनेका काम बहुत मुश्किल नहीं है। अगर काफी पूंजी, संगठन और तकनीकी दक्षताकी सहायता मिले तो इसका प्रायः बेहिसाब विस्तार हो सकता है।

उक्त विवरणसे मालूम होगा कि बिहारके पुराने परन्तु मृत-प्राय चरखा उद्योगको पुनरुज्जीवित करनेकी दिशामें क्या प्रगति हुई है। जितने बड़े क्षेत्रमें कताईका पुनरुद्धार किया जा सकता है और हमारे किसानोंकी बहुत बड़ी आबादीको फुरसतके समयके लिए जो एक परमावश्यक धन्धा दिया जा सकता है, उसको देखते तो हमने अभी बहुत ही थोड़े लोगोंतक पहुँचनेमें सफलता पायी है। इस बातसे तो शायद ही कोई इनकार करे कि इसकी सम्भावनाएँ बहुत ही विशाल हैं। किसी सहायक धन्धेकी जरूरतका पता, चाहे उससे आमदनी कुछ भी हो, इसीसे चल सकता है कि खाद्य और अखाद्य सभी फसल उगानेवाले खेतोंका औसत मीजान फी आदमी $\frac{1}{3}$ एकड़से भी कम पड़ता है। जमीन भी ऐसी कि जिसके पाँचमें से चार हिस्सेमें सिंचाई नहीं होती और लोग वर्षाके आसरे रहते हैं। अब इस थोड़ी-सी जमीनकी आमदनीके बलपर उस जमीनके मालिकसे आशा की जाती है कि वह न सिर्फ प्राणधारण ही किये रहे, बल्कि कपड़ेका खर्च और दूसरी सब जरूरतोंके अलावा, जमींदार, समाज और सरकारकी माँगें भी पूरी करे। इस दृष्टिसे देखनेपर चरखेके जरिये ७ पाई रोजानाकी अल्प आमदनी भी स्वल्प नहीं है। अनुभवसे पता चलता है कि एक श्रेणीके लोगोंको, जिन्हें ऐसी अतिरिक्त आमदनीकी जरूरत है, मगर बेकारीके कारण वह मिल नहीं पाती, इससे बड़ी सहायता मिलती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि खेतीमें सालमें १०० दिनोंसे अधिकका काम नहीं होता; मगर किसानका वह काम सालभरमें ऐसा फैला हुआ होता है कि वह खेत छोड़कर कहीं बाहर जाकर रोजी नहीं कमा सकता। बात तो यों है कि खेतीके धन्धेमें थोड़ी-थोड़ी अवधिके बाद काफी फुरसत मिलती रहती है, और इसलिए किसानके लिए कोई ऐसा सहायक धन्धा उपयुक्त नहीं हो सकता, जिसे जब चाहे छोड़ा न जा सके और जहाँसे छोड़ा है, वहींसे जब चाहे, तभी शुरू न किया जा सके। अनुभवसे पता चलता है कि केवल एक चरखा ही यह काम कर सकता है।

ऐसी आशा की जाती है कि रिपोर्टमें लोगोंसे खादी खरीदनेकी जो प्रार्थना की गई है, वे उसे पूरा करेंगे।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया २०-१-१९२७

२६४. हिन्दी बनाम अंग्रेजी

सभाओंके संयोजकोंको बार-बार यह याद दिलानेकी जरूरत दिखाई देती है कि सर्वसाधारणके बीच अभिव्यक्तिका सामान्य माध्यम अंग्रेजी नहीं, बल्कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी है। मैंने देखा है कि १९२१ के विपरीत इस सालमें अबतक जहाँ भी गया हूँ, अधिकांश स्थानोंमें मुझे अंग्रेजीमें ही मानपत्र दिये गये हैं। और उस समय तो यह बेतुकापन बिलकुल स्पष्ट ही हो गया जब झरियाके कोयला-खान क्षेत्रके कर्मचारियोंकी ओरसे दिये गये मानपत्रको अंग्रेजीमें पढ़नेकी कोशिश की गई और सो भी वहाँकी एक ऐसी सार्वजनिक सभामें, जिसमें हजारों लोग उपस्थित थे और उनमें से शायद पचास भी अंग्रेजी समझनेवाले न रहे हों। अधिकांश लोग हिन्दी आसानीसे समझ सकते थे और बहुत सारे लोग बंगला भी समझते। संघके अधिकारी बंगालके थे। अगर अंग्रेजी मसविदा मेरे लिए तैयार किया गया था, तो इसकी कोई जरूरत नहीं थी। वे मानपत्र बंगलामें लिख सकते थे और फिर चाहते तो मुझे उसका हिन्दी या हिन्दी न सही, अंग्रेजी अनुवाद ही दे सकते थे। लेकिन ऐसे विशाल श्रोता समुदायके सामने जबरदस्ती अंग्रेजीमें मानपत्र पढ़ना उसका अपमान है। मुझे आशा है कि अब वह समय आ रहा है जब अगर किसी सभाकी कार्यवाही ऐसी भाषामें चलाई जाती है, जिसे अधिकांश श्रोता नहीं समझ सकते तो वे वहाँसे उठकर चले जायेंगे। मगर उस सभाके सभापतिको इस बातके लिए श्रेय देना चाहिए कि मैंने जैसे ही उनका ध्यान इस बेतुकेपनकी ओर दिलाया, वैसे ही बात उनकी समझमें आ गई और उन्होंने बहुत शिष्टतापूर्वक कह दिया कि ऐसा मान लिया जाये कि मानपत्र पढ़ा जा चुका है। इस घटनासे सभी संयोजकगण चेतावनी लें — और विशेष कर आन्ध्र देश, तमिलनाडु, केरल और कर्नाटकके संयोजक। मैं उनकी कठिनाई समझता हूँ। लेकिन, अब तो उनके बीच हिन्दी प्रचारका काम करते हुए एक सुयोग्य सक्षम संस्थाको छः साल हो गये हैं। उनके मानपत्र अपने-अपने प्रान्तोंकी भाषाओंमें होने चाहिए और मेरे लिए उनके हिन्दी अनुवाद कर देने चाहिए। द्रविड़ देशमें मैंने बराबर अपने नियमसे अलग व्यवहार किया है और जब कभी वहाँके लोगोंने चाहा है, अपना भाषण अंग्रेजीमें ही दिया है। लेकिन, मैं समझता हूँ कि अब वह समय आ गया है जब उन्हें बड़ी-बड़ी सार्वजनिक सभाओंमें अंग्रेजीका सहारा लेना छोड़ देना चाहिए। सच तो यह है कि अंग्रेजी बोलनेवाले नेताओंने ही हिन्दी सीखनेसे अबतक इनकार करके जनसाधारणके बीच हमारी तीव्र सफलताके मार्गमें बाधा उपस्थित कर रखी है। अगर सीखनेवाले

प्रतिदिन तीन घंटे दें तो द्रविड़ देशमें भी हिन्दी भाषाको तीन महीनेके भीतर सीखा जा सकता है। जिन लोगोंको इसमें शंका हो वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयागके तत्त्वावधानमें मद्रासमें चलनेवाले हिन्दी प्रचार कार्यालयको एक मौका देकर तो देखें। ट्रिप्लीकेन स्थित उसके प्रधान कार्यालयमें और आन्ध्र देशमें तथा अन्यत्र स्थित शाखाओं-में उन्हें ऐसी पुस्तकें और शिक्षक अवश्य मिलेंगे जो उन्हें सन्तोष दे सकेंगे। आलस्य या अनिच्छाके अलावा हिन्दीको न जाननेका और कोई कारण नहीं हो सकता, क्योंकि इस भाषाको तो हिन्दुस्तानके बीस करोड़से अधिक लोग समझते हैं।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २०-१-१९२७

२६५. टिप्पणियाँ

अखिल भारतीय देशबन्धु स्मारक

आशा है 'यंग इंडिया' के पाठक अखिल भारतीय देशबन्धु स्मारकको भूल नहीं गये होंगे। कानपुर कांग्रेसके बाद जब मैंने साल-भरके लिए दौरा बन्द कर दिया, उस समय मैं जानता था कि जिसका मैंने व्रत लिया था, अखिल भारतीय देशबन्धु स्मारकके लिए चन्दा इकट्ठा करनेका वह काम भी बन्द हो जायेगा। लेकिन यह अनिवार्य था। चन्दा इकट्ठा करनेका काम बन्द करते हुए मैंने कहा था कि अगर ईश्वरने चाहा तो इस कामके लिए इस वर्षके अन्ततक मैं फिरसे अपना दौरा आरम्भ कर दूँगा। सो कलकत्तामें मैंने फिरसे चन्दा करना आरम्भ कर दिया, और अब मैं जो भी चन्दा इकट्ठा कर रहा हूँ, सब अखिल भारतीय देशबन्धु स्मारकमें लगाया जायेगा। हाँ, जहाँ-कहीं दाता अपनी रकमको किसी खास मदमें लगानेको कहेंगे, वहाँ तो वैसा किया ही जायेगा। और चूँकि अखिल भारतीय देशबन्धु स्मारकका उद्देश्य ग्रामोद्धार और चरखा आन्दोलनके जरिये ग्रामोद्धार है, इसलिए चन्देकी सारी रकमपर स्वभावतः अखिल भारतीय चरखा संघका अधिकार हो जाता है। स्मारकके निमित्त संगृहीत राशिका उपयोग चरखा संघके माध्यमसे ही किया जायेगा। १९२५ में कानपुरमें अखिल भारतीय देशबन्धु स्मारक कमेटीने इस आशयका एक प्रस्ताव भी पास किया था। इसलिए मैं उम्मीद करता हूँ कि जो लोग मेरे दौरेके क्रममें सभा आदिका संयोजन करेंगे, वे सभाओंमें आनेवाले लोगोंको मेरे दौरेके उद्देश्यसे अवगत करा देंगे। सभामें आनेवाले लोगोंको एकाएक चन्दा देनेको कहकर उन्हें चकित कर देनेका खयाल नहीं होना चाहिए। सीधा तरीका तो यही है कि उन्हें पहले ही बता दिया जाये कि उनसे चन्दा देनेको कहा जायेगा। स्मारक और इसके उद्देश्यमें जबतक किसीका विश्वास न हो, तबतक उसे चन्दा देनेकी जरूरत नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि सम्भव है, देशबन्धुकी स्मृतिको अपने मनमें श्रद्धासे संजोये रखनेके बावजूद किसीको चरखा आन्दोलनमें विश्वास न हो। लेकिन ऐसे

लोगोंको मैं यह बताना चाहूँगा कि देशबन्धुकी अन्तिम इच्छाएँ क्या थी। उन्होंने ये इच्छाएँ अपनी पत्नी, अपनी बहन, अपने विश्वस्त सहायकों, सतीशचन्द्र दासगुप्त और मुझपर अपनी मृत्युसे ठीक सात दिन पूर्व जाहिर की थी। उन्होंने कहा था, मैं जैसे ही दार्जिलिंगसे लौटूँगा, तनमनसे चरखा आन्दोलनमें पड़ जाऊँगा। उन्होंने देखा कि हम जो रचनात्मक आन्दोलन चला सकते हैं, उनमें यह सबसे समर्थ है, सबसे बड़ा है, और यह ग्राम-संगठन तथा ग्रामोद्धारका सबसे कारगर उपाय है। इसी कारण उन्होंने मुझे सतीशबाबूको उनके पास बुलानेको कहा था। उन्होंने उनके साथ चरखा आन्दोलनकी योजनाको कार्यान्वित करनेके बारेमें विचार किया था। ग्रामोद्धारके लिए संगृहीत राशिमें से अधिकांशका उपयोग वे चरखा आन्दोलनपर ही करना चाहते थे। इसलिए अगर मैं कह सकूँ तो कहूँगा कि चरखा-संघ देशबन्धुकी इच्छाओंका स्वाभाविक परिणाम है।

संयोजकोंसे

अगर सब-कुछ ठीक-ठीक चलता रहा तो इस साल मैं बिहार, महाराष्ट्रके कुछ हिस्सों, कर्नाटक सहित मद्रास, संयुक्त प्रान्त, बंगाल और उड़ीसाका दौरा करनेकी उम्मीद रखता हूँ। अगर समय मिला और स्वास्थ्य ठीक रहा तथा लोग स्मारकके लिए, अर्थात् खादी-कार्यके लिए चन्दा देना चाहेंगे, तो मुझे दूसरे प्रान्तोंका भी दौरा करनेमें खुशी होगी।

उड़ीसावालोंको मैंने जहाँतक सम्भव है, नवम्बर मास वहीं बितानेका वचन दिया है—सो इसलिए नहीं कि वहाँ मैं बहुत अधिक चन्दा इकट्ठा करनेकी उम्मीद रखता हूँ, बल्कि इसलिए कि वह प्रान्त हमारी अवदशाका प्रतीक है। मेरी नजरोंमें उसके उद्धारका मतलब भारतका उद्धार है। इस प्रान्तको भारतका सबसे गरीब प्रान्त क्यों होना चाहिए? यहाँके लोग भारतके दूसरे हिस्सोंके लोगोंसे कुछ घट कर नहीं हैं। उनका अपना एक सुन्दर इतिहास है। वहाँ भव्य मन्दिर हैं। उनके यहाँ जगन्नाथ विराजमान हैं, जो अपनी सृष्टिके प्राणियोंमें कोई भेद नहीं करते। और फिर भी, दुखके साथ कहना पड़ता है कि उन्हीं भव्य मन्दिरोंकी छायामें हजारों लोग भूखसे तड़प-तड़पकर दम तोड़ रहे हैं। यह चिरकालसे दारिद्र्य, अकाल और रोगका प्रदेश बना हुआ है। मैंने उड़ीसाके लोगोंकी तरह हताश, निराश और जीवनशक्तिशून्य लोग अन्यत्र कहीं नहीं देखे हैं। इसलिए मैं नवम्बर मासमें अपने उड़ीसा-निवासकी प्रतीक्षा एक उदास आनन्दके साथ कर रहा हूँ।

यह ऐसा प्रान्त है जिसे कताईके लिए आसानीसे संगठित किया जा सकता है, किया जाना चाहिए; क्योंकि यहाँके लोगोंके पास रोजगार नहीं है। सारे उड़ीसाको तो बंगालके अथवा पूरे हिन्दुस्तानके कारखानोंके बीच ले जाकर बसाया नहीं जा सकता। यह सम्भव हो तो भी ऐसा करना गलत होगा। मगर सौभाग्यसे यह सम्भव भी नहीं है। लोगोंको अपनी ही मिट्टीपर रहना है, और प्रत्युत्पन्नमति, परिश्रमी तथा सुखी होना सीखना है। आनन्द क्या चीज है, वे भूल गये हैं, इसलिए उड़ीसाके कार्यकर्त्ता अपना दायित्व समझें। मैं चाहता हूँ कि वे मन-प्राणसे चरखा आन्दोलनमें

जुट जायें। वे सारे उड़ीसाकी बात न सोचें। वे अलग-अलग ऐसे गाँवोंकी बात ही सोचें जहाँ वे जमकर रह सकते हैं, जहाँ वे प्रार्थनापूर्ण तथा सतत प्रयत्नके द्वारा लोगोंको निराशाके उस अन्धकारसे उबार सकते हैं जिसमें वे डूब गये हैं।

और यद्यपि जैसा कि मैंने कहा है, मैं वहाँ कोई बहुत बड़ी राशि इकट्ठा करनेकी उम्मीद नहीं करता, फिर भी सभाओंमें आनेवाले लोगों द्वारा दिये गये एक-एक पैसेके दानका भी मैं उसी प्रकार स्वागत करूँगा, जिस प्रकार १९२१ में किया था। वृद्ध लोगोंका काँपती उँगलियोंसे अपनी गाँठोंको, जिनमें उनके पैसे कसकर बँधे हुए थे, खोलना और खुशी-खुशी अपना पैसा मुझे देना — मैं कभी नहीं भूल सकता। मैं उस दृश्यको फिर देखना चाहता हूँ और अगर फिरसे यह संकल्प करनेकी जरूरत हो तो फिरसे संकल्प करना चाहता हूँ कि निराशाका यह हेमन्त निकट भविष्यमें आशाके वसन्तमें परिवर्तित होनेवाला है।

अब क्या मैं संयोजकोंसे इस बातको भी ध्यानमें रखनेको कह सकता हूँ कि मैं लगभग लगातार दौरा करता रहूँगा और मुझे वे जितना समय देंगे उसमें और रेलगाड़ीमें मुझे सम्पादन तथा पत्र-व्यवहारका काम भी देखना ही है? सोमवारोंके अतिरिक्त स्नान-भोजन आदिके लिए आवश्यक समयके अलावा मुझे प्रतिदिन तीन घंटेकी और फुरसत मिलनी चाहिए। रातके सारे प्रदर्शनोंसे बचा जाये। दिन-भर कठिन परिश्रम और भाग-दौड़ करनेके बाद सोनेके समय विघ्न डाला जाये तो वह बर्दाश्त नहीं हो सकता।

और चूँकि यह विशुद्ध कारोबारी दौरा होगा, इसलिए सभाओंकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए और श्रोताओंको इस तरह बैठाया जाये जिससे चन्दा उगाहनेवालोंको आने-जानेमें सुविधा हो। हर तरहकी चीख-पुकारसे बचना चाहिए। मैंने देखा है कि जहाँ प्रबन्ध ठीक होता है वहाँ उगाही अधिक होती है। श्रोताओंमें तो मैंने बराबर यह देखा है कि वे मेरे अनुरोधका बहुत ध्यान रखते हैं। यद्यपि धनवानोंके हजारोंके चन्देका स्वागत है, फिर भी मैं जानता हूँ कि आन्दोलनके लिए सच्चा वरदान तो गरीबों द्वारा दिया गया ताँबेका पैसा और एक-एक रुपया है। यह आन्दोलन उनके लिए है और वे अपनी शक्ति भर मुक्तहस्त होकर दान दें।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २०-१-१९२७

२६६. मुख्य बात

अवतकके किये गये अपने दौरेमें मैंने देखा है कि कताई संस्थाओंने कातनेवालों-का सही लेखा-जोखा नही रखा है। मैंने इन पृष्ठोंमें समय-समयपर जो आँकड़े दिये और प्रकाशित किये, वे कातनेवालोंको दी गई मजदूरीके आधारपर अनुमानसे दिये गये थे। आँकड़े-सम्वन्धी जानकारीकी दृष्टिसे तो यह अनुमान बहुत ठीक है, क्योंकि इसमें अगर गलती हो भी तो उससे दिशाभ्रम नही होगा; अर्थात् आँकड़े ज्यादा नही, कम करके ही बताये गये है। लेकिन, खुद इस आन्दोलनके लिए यह बात अच्छी नही है। कताई आन्दोलनका स्थायित्व कार्यकर्त्ताओं और कातनेवालोंके बीच महत्त्वपूर्ण और सीधा सम्पर्क स्थापित किये जानेपर निर्भर करता है, क्योंकि हम कातनेवालोंकी आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और सीमाओंको तभी समझ सकेंगे। इसका उद्देश्य भारतके असंख्य गाँवोंके कोने-अँतरे तकमें बसे घरोंतक पहुँचना और उनमें आशाकी किरण फैलाना है। यदि हम कातनेवालोंके साथ एक जीवन्त सम्पर्क स्थापित नही करते तो यह बात कभी नही हो सकेगी। इसलिए हम विचौलियोंके कामसे सन्तुष्ट नही हो सकते। सम्भव है, उन्हे तो हम जानते भी न हों; और सचाई यही है कि नही जानते। कातनेवालोंके हाथोंमें सुरक्षित रूपसे पहुँच जानेतक हमें एक-एक पैसेपर नजर रखनी चाहिए। स्मरण रहे कि इस आन्दोलनकी मुख्य बात बुनाई नही है; रँगाई या छपाई भी नही है; और ओटाई और धुनाई, जो कताईसे सम्बद्ध हैं, वे भी मुख्य बातें नही हैं। मुख्य बात कताई ही है। कारण यह है कि हमारे देशकी आर्थिक समस्याका समाधान करोड़ों अर्ध-बुभुक्षित लोगोंमें से अधिकांशको कोई सहा-यक धंधा देनेपर निर्भर करता है। जैसा कि इन पृष्ठोंमें दिये गये विभिन्न प्रान्तोंके आँकड़ोंसे स्पष्ट हो जायेगा, इस तरहका सवसे अच्छा धंधा सिर्फ कताई है।

इस अंकमें विहारके आँकड़े दिये गये है। इन आँकडोंके अनुसार २६९८ कातने-वालोंके मुकावले वहाँ बुनकर सिर्फ ४८९ है। मेरा अनुभव यह है कि अगर बुनकर और कातनेवाले बराबर-बराबर समयतक काम करे तो एक बुनकरको पर्याप्त काम मुहैया करनेके लिए दस कातनेवालोंकी जरूरत होती है। हमारा उद्देश्य अन्ततः कातने-वालोंको ओटाई और धुनाई भी सिखा देनेका है, ताकि वे साधारण परिश्रम और प्रशिक्षणसे ही कतैयोंके रूपमें अपनी आय बढा सकें। विहार, बंगाल और मद्रासमें यह काम किसी हदतक बड़े पैमानेपर किया जा रहा है। इसलिए चरखा संघका अस्तित्व तो तभी सार्थक हो सकता है जब वह उस विशाल जनसमुदायकी आर्थिक स्थितिको उत्तरोत्तर सुधार सके जिसतक किसी अन्य उपायसे इसमें कम समयमें पहुँच पाना अशक्य है। इस आन्दोलनका प्रभाव और शक्ति भी तभी बढ़ेगी जब वह इसी तरह उन करोड़ों आम लोगोंके कल्याणके लिए प्रेमपूर्वक काम करेगा जिनके एक बहुत छोटे हिस्सेतक ही वह अवतक पहुँच पाया है।

कार्यकर्त्ताओंका कहना है कि अगर हरएक कातनेवालेका सही-सही लेखा-जोखा रखना हो तो उसके लिए अतिरिक्त खर्च करना पड़ेगा। ऐसा हो सकता है। चूँकि मैं खुद किसी खादी केन्द्रकी देख-रेख नहीं करता, इसलिए इस तरहका लेखा-जोखा रखनेकी कठिनाईको मैं पूरी तरह समझनेमें असमर्थ हूँ। लेकिन मैं इतना तो निःशंक भावसे कह सकता हूँ कि खर्च चाहे कुछ भी पड़े, जबतक कताईकी प्रवृत्ति अपने आप चलनेवाले एक ऐसे आन्दोलनका रूप नहीं ले लेती जिसके ठप हो जानेका कोई खतरा ही न बचे तबतक कातनेवालोंका पूरा लेखा-जोखा रखना एक अनिवार्य आवश्यकता है। अगर हम आन्दोलनको दृढ़ नींवपर खड़ा करना चाहते हों तो ऐसा लेखा-जोखा रखनेमें जो भी अतिरिक्त खर्च हो, वह उठाने लायक होगा। प्राप्त होनेवाले और साथ ही साथ खर्च होनेवाले एक-एक पैसेका सही हिसाब रखनेका जो महत्त्व लेने-देनेका कारोबार करनेवाली किसी संस्थाके प्रामाणिक अस्तित्व और निरन्तर विकासके लिए है, कातनेवालोंका सही-सही लेखा-जोखा रखनेका वही महत्त्व कताई आन्दोलनके प्रामाणिक ढंगसे चलाये जाने और उसके निरंतर विकासके लिए है। इसलिए मैं आशा करता हूँ कि हर कताई संस्था शीघ्र ही कातनेवालोंका पूरा और अद्यतन लेखा-जोखा रखनेकी ओर प्रवृत्त हो जायेगी। कहनेकी जरूरत नहीं कि यह लेखा-जोखा रखनेका काम उन्हीं कार्यकर्त्ताओंको देना चाहिए जो निष्कलंक चरित्रवाले और पवित्र लोग हों और अगर यह काम स्त्रियाँ करें तब तो कहना ही क्या? इस आन्दोलनकी इस खामीका पता मुझे सबसे पहले बंगालके कार्यकर्त्ताओंकी तुनक-मिजाजीके कारण चला। अभय आश्रमकी रिपोर्ट[1] छापते समय मैंने प्रसंगवश ऐसा कह दिया था कि हमें आँकड़े बताते समय 'लगभग' और 'तकरीबन' का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इतना कहनेके बाद मैंने चरित्रकी पवित्रताके विषयमें कुछ सामान्य बातें लिखीं। मैंने वे बातें किसी खास व्यक्तिको लक्ष्य करके नहीं लिखी थीं, लेकिन चूँकि वे सामान्य बातें मैंने अभय आश्रमके कामकी चर्चाके सिलसिलेमें ही कह दी थीं, इसलिए कुछ-एक आश्रमवासियोंके मनमें शंका उत्पन्न हो गई कि मैंने वे बातें उन्हींके लिए कही हैं। मुझे उनके मनसे शंकाको दूर करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई, लेकिन उनके साथ हुई बातचीतसे मेरी समझमें यह बात आ गई और मैं आश्रमके सदस्योंको भी इस बातकी प्रतीति करा दे सका कि कातनेवालोंका सही-सही और अद्यतन लेखा-जोखा रखना परम आवश्यक है। इसलिए अभय आश्रमकी चर्चाके दौरान लिखे गये उस अनुच्छेदका मुझे कोई खेद नहीं है — भले ही उसका कारण सिर्फ इतना ही हो कि उससे मुझे इस दोषका पता चल गया कि हम कातनेवाले लोगोंका लेखा-जोखा ठीक तरहसे नहीं रखते। मैं सभी सम्बन्धित लोगोंकी जानकारीके लिए एक बार फिर कह देना चाहता हूँ कि बहुत बड़ी-बड़ी सम्भावनाओंसे आपूरित इस कताई आन्दोलनमें हम इस बातपर जितना भी जोर दें, कम ही होगा कि हमारी संस्थाओंके सदस्योंके लिए सन्देह-शंकासे ऊपर होना और रहना परम आवश्यक है, और अगर हमें ऐसी निष्कलंकता प्राप्त करनी है तो हमें सदाशयतापूर्ण सुझावों, टीकाओं और

१. देखिए "अभय आश्रममें खादी कार्य", ३०-१२-१९२६।

विचारोंको वर्दाश्त करने और उनका बुरा न माननेके लिए अपने भीतर काफी सहिष्णुता पैदा करनी पड़ेगी।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २०-१-१९२७

२६७. खरी टीका

निम्नलिखित पत्र मुझे पाठकोंके सामने अवश्य रख देना चाहिए :

मैंने आपका "शहीद श्रद्धानन्दजी" शीर्षक लेख यथेष्ट आदर और सावधानीसे पढ़ा है। उसपर टीका-टिप्पणी करनेके पहले मैंने उसे पाँच बार पढ़ लिया है, जिसमें उतावलीसे उसकी आलोचना न करने लगूँ।

यह लेख बेशक बहुत ही आकर्षक भाषामें लिखा गया है। आपकी लेखन शैली देखकर मुझे ईर्ष्या होती है। वह आकर्षक है, मगर मेरी समझमें उसका आकर्षण खतरेसे खाली नहीं है।

यह आलोचना मैं आपके चरित्रके विषयमें मेरे मनमें जो उच्च भाव है, उसीके कारण कर रहा हूँ। जब-तब कुछ मित्रोंसे इस विषयमें मैंने बहस भी की है। उनका कहना है कि सन्तके भेसमें आप नीति-चतुर पुरुष हैं, और चाहे जब स्वदेशके लिए सत्यका त्याग कर सकते हैं। इसके विपरीत मैं यह मानता आया हूँ कि आप सन्त हैं और अपने उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए कठिनसे-कठिन अवसरोंपर भी सत्यके पालनके लिए ही राजनीतिमें आये हैं। अगर आप मेरी शंकाओंका उचित समाधान करके यह दिखा सकें कि मेरी धारणा सही है तो मैं आपका बहुत आभार मानूंगा। कारण यह है कि अगर यह ठीक न हो तो नीचे की गई आलोचना बेकार ही होगी। मेरी सम्मतिमें अपनी नीतिके पक्के व्यक्तिको, जैसा आपने लिखा है वैसा लिखनेका पूरा अधिकार है।

आप मुझसे सहमत होंगे कि सत्यको छिपाना भी असत्यका ही एक रूप है। जब आप स्याहको स्याह समझें तब उसे स्याह न कहना कायरता होगी। सत्य और निर्भयताका बहुत निकटका सम्बन्ध है।

महात्माजी, क्या आपको ऐसा लगता है कि स्वामीजीका खून एक मुसलमान गुंडेका अमानुषिक, असभ्य और क्रूर कार्य था जिसके लिए मुसलमान समाजको शर्मिन्दा होना चाहिए? आप इसे ऐसा बतानेसे इनकार क्यों करते हैं? आप इस कुकृत्यकी और उसको करनेवाले तथा इसके लिए जिम्मेदार लोगोंकी (अर्थात्, उनकी जो हिन्दू नेताओंको काफिर कहते हैं यानी उन गर्म-दिमाग मुसलमान धर्म-प्रचारकों और पगले मौलवियोंकी) निन्दा करनेके बदले आप खूनीका बचाव कर रहे हैं; और मुसलमानोंकी ओरसे दोषको हल्का साबित

करनेकी दृष्टिसे दलीलें पेश करते हैं। आपने डायरका बचाव तो नहीं किया था। क्या यूरोपीय हमारे भाई नहीं है?

आगे आप कहते हैं कि इस्लामका अर्थ है शान्ति। क्या यही सत्य है? 'कुरान'में इस्लामकी जो शिक्षा दी गई है और उसके जन्मसे आजतक मुसलमान लोग इसका जैसा पालन करते आये हैं, उसका अर्थ शान्ति कभी नहीं है। ऐसी बात, जो साफ गलत है, आप क्यों लिखते है? बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म अलबत्ता शान्ति सिखाते हैं, मगर इस्लाम नहीं। क्या आप बतायेंगे कि आप ऐसा क्यों सोचते और लिखते है?

सरकारकी निन्दा करते समय तो आपने कोई मुरव्वत नहीं की, आर्यसमाजकी निन्दा करते समय भी आपने कोई उदारता नहीं दिखाई। फिर स्पष्ट दोषोंके लिए भी मुसलमानोंकी निन्दा करते हुए आप क्यों डरते है?

मुझे निश्चय है कि अगर किसी मुसलमान नेताके प्रति किसी हिन्दूने ऐसा काला काम किया होता (भगवान् न करे कि ऐसा हो) तो आपने खूनीकी और हिन्दू जातिकी निन्दा करनेमें कुछ उठा न रखा होता। आप हिन्दुओंसे मातम मनाने, उपवास करने, हड़ताल करने, मृतात्माके लिए स्मारक खड़ा करने और कितनी ही बातें करनेको कहते। फिर अपने 'सगे भाई' मुसलमानोंके साथ आप पक्षपातका व्यवहार क्यों करते हैं?

सत्यवक्ता किसी वस्तुका भय नहीं करता, इस्लामकी तलवारसे भी खौफ नहीं खाता। मैं आशा करता हूँ कि अपने प्रतिष्ठित पत्रमें आप इसका जवाब देकर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

पत्र-लेखक साफगो है। उसके पत्रसे उसकी उत्कटता टपकती है और उसका पत्र लोगोंकी वर्तमान दशाका द्योतक है।

सम्भव है कि मैं कभी संत हो सकूँ, लेकिन अभी मुझे संत बताना कुछ जल्दबाजी करना है। मै संत हूँ, ऐसा तो मुझे अपने-आप किसी प्रकार नही मालूम होता। मगर मुझे लगता है कि अनजानेमें हुई अपनी तमाम गलतियोंके बावजूद मैं सत्यका सेवक अवश्य हूँ। पत्र-लेखकने ठीक अनुमान किया है कि 'संतके भेसमें मै कोई नीति-चतुर पुरुष' नही हूँ। मगर चूँकि सत्य ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता है इसलिए कभी-कभी मेरे काम सबसे बड़ी नीति-चतुराईके अनुकूल मालूम पड़ते हैं। मगर मुझे आशा है कि सत्य और अहिंसाकी नीतिके सिवा मुझमें और कोई नीति-चातुर्य नही है। स्वदेश और स्वधर्मके उद्धारके लिए भी मैं सत्य और अहिंसाको छोड़ नहीं सकता। इसका अर्थ यही है कि सत्य और अहिंसाको छोड़नेसे देश या धर्म किसीका उद्धार नहीं हो सकता।

स्वामीजीकी हत्याके विषयमें लिखते समय मैंने सत्यको छिपाया नही है। मैं उस कृत्यको हूबहू वैसा ही समझता हूँ जैसा कि पत्र-लेखकने बयान किया है। मगर

हत्यारेके लिए मुझे वैसी ही दया आती है जैसी जनरल डायरके लिए मुझे आई थी। पत्र-लेखक यह न भूल जायें कि जनरल डायरके ऊपर मुकदमा चलानेकी मांगका समर्थन करनेसे मैंने इनकार कर दिया था। मैं यह दावा जरूर रखता हूँ कि कोई यूरोपीय भी मेरे लिए वैसा ही भाई है जैसा कि कोई हिन्दुस्तानी मुसलमान या हिन्दू।

हत्यारेके विषयमें मेरे भाव ये हैं कि धर्मके नामपर बुरे और अधार्मिक प्रचारका वह स्वयं एक शिकार है। इसीसे मैंने इस हत्याके लिए अखबारोंको दोषी ठहराया है जिन्होंने सर्वसाधारणकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी है। मैं मौलवियोंको और उन सब लोगोंको इस हत्याका दोषी ठहराता हूँ जिन्होंने स्वामीजीके प्रति घृणाकी आग भड़काई।

मगर मैं इस्लामको उसी अर्थमें शान्ति-धर्म मानता हूँ जिसमें ईसाई, बौद्ध या हिन्दू धर्मको मानता हूँ। निःसन्देह शान्तिकी मात्रामें अन्तर है मगर इन धर्मोंका उद्देश्य शान्ति है। मैं 'कुरान' के वे वाक्य जानता हूँ जो इसके विरुद्ध पेश किये जा सकते हैं मगर वेदोंसे भी तो वैसे ही वाक्य निकालना उतना ही सम्भव है। अनार्योंके विरुद्ध कहे गये वचनोंका और क्या अर्थ लगेगा? जरूर, उनका इस युगमें दूसरा ही अर्थ है मगर एक समय उनका भयंकर रूप अवश्य था। हम हिन्दुओंका अछूतोंके साथ जो व्यवहार है उसका और क्या अर्थ है? चलनी तो भला सूपपर न हँसे। वास्तविकता यह है कि हम सबका ही विकास हो रहा है। मैंने अपना मत प्रकट कर दिया है कि इस्लामके अनुयायियोंकी तलवार और छुरी बात-बातपर निकला करती है। मगर यह 'कुरान' की शिक्षाकी बदौलत नहीं है। मेरी समझमें उसका कारण है वह वातावरण जिसमें इस्लामका जन्म हुआ था। ईसाई धर्मका इतिहास खून-खराबीसे भरा पड़ा है मगर इसका कारण यह नहीं है कि ईसामें कहीं कोई कमी थी किन्तु यह है कि ईसाने अपनी उदात्त शिक्षा जिस वातावरणमें दी, वह उसके अनुकूल नहीं था।

ईसाई धर्म और इस्लाम, दोनों अभी कलके ही धर्म हैं। अभी उनकी व्याख्या करनेका ही क्रम चल रहा है। मौलवियोंके इस दावेको माननेसे कि मुहम्मदकी शिक्षाओंका निर्णायक अर्थ वे ही लगा सकते हैं, मैं उसी प्रकार इनकार करता हूँ जिस प्रकार ईसाकी शिक्षाओंका निर्णयात्मक अर्थ लगानेके पादरियोंके दावेको। दोनोंकी ही सही व्याख्या उन लोगोंके जीवनमें हो रही है जो चुपचाप शान्तिपूर्वक और समर्पित भावसे इन धर्मोंके अनुरूप जीवन जी रहे हैं। शोरगुल या विद्वत्ताको धर्म नहीं कहते। धर्मका स्थान हृदयमें है। हम हिन्दुओं, ईसाइयों, मुसलमानों और दूसरे धर्मवालोंको अपने-अपने धर्मका भाष्य अपने हृदयके रक्तसे लिखना होगा, अन्य किसी प्रकारसे नहीं।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २०-१-१९२७

२६८. भाषण: मधुबनीमें[1]

२० जनवरी, १९२७

महात्माजीने उत्तरमें बोलते हुए नगरपालिका और जिलाबोर्डको अभिनन्दनपत्र भेंट करनेके लिए धन्यवाद दिया। उन्होंने ब्रह्मचर्य आश्रमके लड़कोंको अपने सामने मधुर वैदिक मन्त्रोंका पाठ करनेके लिए धन्यवाद दिया। उन्होंने कहा, न तो मेरे पास इतना समय है और न ही हरेक अभिनन्दनपत्रका अलग-अलग जवाब देनेकी कोई जरूरत है। लेकिन एक चीजने मेरा ध्यान आकर्षित किया है। मुझे तीन-चार अभिनन्दनपत्रोंमें बताया गया है कि प्रान्तके कई भागोंमें आयुर्वेदिक औषधालय शुरू करनेके प्रयत्न किये जा रहे हैं। मुझे लगता है कि बिहारके लोग आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धतिमें दिलचस्पी ले रहे हैं। मैंने इस विषयपर अपनी राय पहले भी कई बार व्यक्त की है और मैं आप लोगोंका ध्यान उसकी तरफ दिलाना चाहता हूँ। मेरा विश्वास है कि यह पद्धति बहुत हदतक सही है, लेकिन साथ ही मैं यह भी मानता हूँ कि आयुर्वेदिक चिकित्सा करनेवाले वैद्योंमें अपने दोष हैं, और वे सही प्रशिक्षणके बिना चिकित्सा करने लगते हैं। मैं मानता हूँ कि पश्चिमी चिकित्सा पद्धति बहुत ही दोषपूर्ण है, लेकिन मैं यह भी जानता हूँ कि यूरोपके लोग अपनी चिकित्सा पद्धतिके लिए जो काम कर रहे हैं, भारतीय लोग अपनी चिकित्सा पद्धतिके लिए उसका आधा भी नहीं कर रहे हैं। लेकिन उस चिकित्सा-शास्त्रकी उन्नतिके लिए काम करनेका आपके पास बड़ा अच्छा मौका है। मैं नगरपालिकाओं और जिला बोर्डोंसे इस मामलेपर विचार करनेका अनुरोध करता हूँ। मैं वैद्योंसे भी अनुरोध करता हूँ कि वे इस चिकित्सापद्धतिका वैज्ञानिक तरीकेसे अध्ययन करें। यदि इस पद्धतिमें दोष है, और दोष निश्चय ही हैं, तो वैद्योंको उन्हें छिपानेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए; इसके विपरीत उन्हें उन दोषोंको दूर करनेका हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिए।

भाषण जारी रखते हुए उन्होंने कहा कि मुझे यह जानकर खुशी हुई कि मधुबनी गोशालाके संचालक पशुओंकी बेहतरीके लिए मृत पशुओंकी खालका उपयोग करनेके मेरे विचारोंसे सहमत हो गये हैं। गोशालाओंके दो पहलू हैं, एक तो आर्थिक और दूसरा धार्मिक। गोरक्षाका प्रश्न निर्विवाद विषय है। मेरी समझमें नहीं आता कि इस मुद्देपर मुसलमानोंसे कोई झगड़ा क्यों होना चाहिए। उन्होंने कहा कि कुर्बानीपर मेरे विचार पहले जैसे ही हैं।

१. इस सभामें गांधीजीको नगरपालिका, जिला बोर्ड, गोशालाओं, यंगमेन्स डिबेटिंग क्लब और आर्य-समाजकी तरफसे अभिनन्दनपत्र भेंट किये गये थे।

भाषण जारी रखते हुए उन्होंने कहा कि गोशालाओंकी वर्तमान कार्य-प्रणाली-में भी कई दोष हैं। उन्हें ठीक और सही ढंगसे चलाना चाहिए। इसके संचालकोंको पशुओंकी बीमारियोंके सम्बन्धमें पूरा ज्ञान होना चाहिए। उन्हें पता होना चाहिए कि गायोंको किस प्रकार रखा जाये और कैसा चारा दिया जाये, गांवके गरीब ग्राहकोंके लिए दूध कैसे सस्ता किया जाये; वस्तुतः गोशालाके संचालकोंको पशुपालनके पूरे विज्ञानका सम्यक् अध्ययन करना चाहिए और केवल तभी गोशालाओंका उद्देश्य पूरा हो सकता है।

आगे बोलते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दू-मुस्लिम एकता कायम करानेके लिए मैं जो भी कुछ कर सकता था, वह मैंने किया है, लेकिन मैं असफल रहा हूँ। इसी कारण मैंने समाचारपत्र भी पढ़ने बन्द कर दिये हैं। मेरे पास उन्हें पढ़नेका समय भी नहीं है। मेरी हालत मिथिलाके राजा जनक जैसी हो गई है जो उदासीन भावसे अपनी नगरीको जलते हुए देखते रहे थे, क्योंकि इससे पहले उस अग्निकी रोक-थामके लिए वह जो भी कुछ कर सकते थे, कर चुके थे। उसी तरह हिन्दू-मुस्लिम मतभेदों-के प्रति मेरा रवैया उदासीनताका है क्योंकि मैं जानता हूँ कि उसका निराकरण मेरी ताकतसे बाहरकी बात है। मैं नहीं जानता कि हिन्दू-मुस्लिम एकता कब और कैसे हो सकेगी। इस देशके लोग पागल हो गये हैं, वे बिना हिचक एक दूसरेका गला काट रहे हैं। मैं उसमें साझेदार नहीं हो सकता। मेरा धर्म अहिंसाका धर्म है। मेरा अहिंसामें अब भी वैसा ही अडिग विश्वास है जैसा कि पहले था, यद्यपि मेरे मित्रोंने इस बातका प्रयत्न किया है कि मैं विशेष अवसरोंपर हिंसाकी उपयोगिताको स्वीकार कर लूं। मेरे लिए सभी चीजें वैसी नहीं हैं जैसी वे दिखाई देती हैं और मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल अहिंसा ही ऐसा धर्म है जिसके द्वारा अन्ततोगत्वा विजय प्राप्त हो सकती है। इन्हीं सब कारणोंसे मैंने इस विषयपर चर्चा बिलकुल बन्द कर दी है। लेकिन मेरा विश्वास है कि एक-न-एक दिन हिन्दू-मुस्लिम एकता अवश्य कायम होगी — यदि मानवीय माध्यम द्वारा नहीं तो वह ईश्वरीय माध्यम द्वारा कायम होगी।

खद्दरकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि मुझे खुशी है कि खद्दर-कार्यके लिए मुझे थैली भेंट की गई है। लेकिन मधुवनीसे मैं कहीं ज्यादा धनकी आशा रखता था। मधुवनी एक बड़ा खद्दर केन्द्र है। मैंने देखा है कि बहुत-से स्थानीय गरीब सूत कातने-वाले अपना सूत लेकर चार या पांच मील पैदल चलकर कार्यकर्त्ताओंसे रुई अथवा पैसा लेने आते हैं। मैं जानता हूँ कि ऐसे लोग हैं जो उनसे भी ज्यादा गरीब हैं। जब मैं चम्पारनमें था, मैंने एक स्त्रीको यह शिकायत करते सुना था कि वह गंगामें इस-लिए स्नान नहीं कर सकती और अपने कपड़े नहीं साफ कर सकती क्योंकि उसके पास कोई दूसरा वस्त्र नहीं है। हो सकता है कि यह शिकायत अतिशयोक्तिपूर्ण हो, लेकिन ऐसी दशामें पड़े लोगोंका अभाव नहीं है। इन लोगोंकी गरीबी दूर करनेका

इसके सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं है कि उन्हें कोई काम-धन्धा दिया जाये और सबसे अच्छा धन्धा आप उन्हें कताई करनेका दे सकते हैं।

भाषण जारी रखते हुए उन्होंने कहा कि मैंने अभी 'ईशोपनिषद्' का एक श्लोक सुना है जिसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति काम नहीं करता, वह दूसरे लोगोंकी सम्पदाकी चोरी करता है। मैं पूछता हूँ कि इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह नहीं है कि वह वास्तवमें दूसरोंकी सम्पत्तिकी चोरी करता है, बल्कि यह है कि वह दूसरेके श्रमसे उपार्जित भोजनपर जीवित रहता है। जबतक कोई व्यक्ति केवल अपने लिए ही नहीं वरन् सभी मनुष्योंके लिए समानरूपसे काम नहीं करता, तबतक उसे जीनेका अधिकार नहीं है; क्योंकि व्यक्ति तो मानवताके महान् सिन्धुमें एक बूँदके समान है। इसी तरह 'गीता' ने मुझे यही शिक्षा दी है कि यज्ञ किये बिना किसीको खाना नहीं खाना चाहिए और गीता-सम्मत अनेक यज्ञोंमें से दूसरोंके लिए काम करना सबसे अच्छा यज्ञ है। तो फिर सूत कातना ही एक ऐसा काम है जो हजारों लोगोंकी मदद कर सकता है; वह ऐसा यज्ञ है जिसे सभी कर सकते हैं।

स्त्रियोंको सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा कि मेरी दृष्टिमें जितनी भी स्त्रियाँ विदेशी वस्त्र पहनें हैं, वे नंगी जैसी हैं, क्योंकि खद्दरके सिवा और कोई वस्त्र भारतीयोंकी नग्नता नहीं ढँक सकता।

महात्माजीने लोगोंसे स्थानीय राष्ट्रीय शाला और गोशालाके मामलोंपर ध्यान देनेका अनुरोध किया और कहा कि जरूरत हो तो वे धन देकर उनकी मदद करें। उन्होंने कहा कि यह हर नागरिकका कर्त्तव्य है कि वह संकटमें पड़े हर मनुष्य और हर संस्थाकी सहायता करे।

खद्दर कार्यके लिए धन देने तथा सभामें रखे खादीके मालको खरीदनेकी लोगोंसे फिर एक बार अपील करते हुए उन्होंने भाषण समाप्त किया।

[अंग्रेजीसे]

सर्चलाइट, २६-१-१९२७

२६९. भाषण: समस्तीपुरकी सार्वजनिक सभामें

२० जनवरी, १९२७

महात्माजीने कहा कि मुझे आप लोगोंसे एक बार फिर मिलकर खुशी हो रही है। मैं समस्तीपुरके लोगोंको भुला नहीं सकता, जो एक बार मुझे विशेष ट्रेनसे बाबू बृजकिशोर प्रसाद तथा अन्य लोगोंके साथ लेकर आये थे। इसलिए मैं बड़ी आशासे समस्तीपुर आया हूँ। उन्होंने कहा कि मेरे दौरेका उद्देश्य खादीका सन्देश देना है। मुझे यह देखकर बहुत दुख होता है कि जो लोग मुझसे मिलने आये हैं, उनमें से अधिकांश खद्दर नहीं पहने हैं। मैं हजारों मंचोंसे बराबर पिछले पाँच बरसोंके दीर्घकालसे खादीके सन्देशका उपदेश देता रहा हूँ, लेकिन लोग अब भी खादी इस्तेमाल करनेमें आनाकानी करते हैं। बिहारमें अपनी जरूरत-भरकी खादी तैयार करनेकी सामर्थ्य है, और यदि लोग इस महान गृह-उद्योगको सहारा दें तो आपके हजारों बेरोजगार स्त्री-पुरुषों — रुई धुननेवालों, साफ करनेवालों, कातनेवालों, बुनकरों, रँगरेजों और धुलाई करनेवालों — को भोजन-वस्त्र मुहय्या किया जा सकता है। खादीपर आप जो भी पाई खर्चेंगे वह आपके गरीब देशवासियोंके घरमें जायेगी। इसलिए खादी और केवल खादी ही पहनना आपका धार्मिक कर्त्तव्य है।

भाषण जारी रखते हुए उन्होंने कहा कि मिलका बना कपड़ा खरीदकर आप लंकाशायर या अहमदाबादके धनी मिल-मालिकोंको मदद दे रहे हैं। अनसूयाबहनके जरिये मुझे श्रमिकोंकी हालत अच्छी तरहसे मालूम है। मुझे पक्की तरहसे पता है कि मिलके बने कपड़ोंपर लोग जो बड़ी रकम खर्च करते हैं, उससे श्रमिकोंको कुछ लाभ नहीं होता है। धनी मिल-मालिकोंको पैसेकी जरूरत नहीं है और उनके लिए भारतसे बाहर भी व्यापारका बड़ा क्षेत्र खुला है, लेकिन आपके गरीब देशवासी एक रूखी रोटीके टुकड़ेके लिए मर रहे हैं। मैं जानता हूँ कि बिहारके लोग कितने गरीब हैं, क्योंकि चम्पारनमें मैं काफी समय रहा हूँ। क्या आप इन गरीब लोगोंके प्रति दया और सहानुभूति नहीं दिखायेंगे?

आगे बोलते हुए उन्होंने कहा कि खद्दरके कामको आगे बढ़ानेके लिए पैसेकी जरूरत है। देशमें करोड़ों रुपयोंकी स्थायी बचत करानेके लिए शुरूमें करोड़ों रुपया लगानेकी जरूरत है। मैं आपके दरवाजेपर वही पैसा माँगने आया हूँ। मुझे खेद है कि सभा-स्थलपर कोई खद्दरका माल नहीं रखा गया है, यद्यपि मुझे यहाँ आनेपर बताया गया था कि शहरमें खद्दरकी दुकानें हैं और सभा-स्थलपर कुछ खद्दरका माल अवश्य रखा जायेगा। अस्तु मैं आप लोगोंसे अनुरोध करता हूँ कि आप तुरन्त खद्दरकी दुकानपर जायें और खादी पहनें।

भाषण समाप्त करते हुए महात्माजीने कुछ शब्द अस्पृश्यताकी बुराईपर कहे, और शहीद श्रद्धानन्दजीको भाव-भीनी श्रद्धांजलि अर्पित की, जिन्होंने अछूतोद्धार करनेके प्रयत्नमें मृत्युका आलिंगन किया था।

इसके बाद नगरपालिकाके अध्यक्ष बाबू गिरिवरधरने नगरपालिकाकी ओरसे एक अभिनन्दनपत्र पढ़ा जिसका महात्माजीने संक्षेपमें उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि मुझे इस बातसे बड़ा सन्तोष है कि समस्तीपुरके हिन्दू-मुसलमानोंमें आपसी द्वेष बिलकुल नहीं है। यह बड़ी भारी बात है। मैं आशा करता हूँ कि यह स्थिति बराबर बनी रहेगी।

समस्तीपुरमें एक खद्दर उत्पादन केन्द्र होनेकी इच्छाका उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि यदि आप लोग सचमुच ऐसी संस्था यहाँ चाहते हैं तो राजेन्द्रबाबू अवश्य ही इस मामलेपर विचार करेंगे। मैं आशा करता हूँ कि यदि यहाँके लोगोंने उक्त संस्थाके लिए जरूरी पैसा स्वयं जुटा दिया तो राजेन्द्रबाबू निश्चय ही अपनी पूरी शक्तिसे आपकी मददको आगे आयेंगे।

राष्ट्रीय शालाका उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि खेदकी बात है कि वह जैसी होनी चाहिए, नहीं है। मैंने वहाँ कुछ चरखे देखे और कुछ विद्यार्थी भी उनके पास बैठे दिखाई दिये, लेकिन यह सब मखौल-जैसा था; केवल एक दिखावा था। शिक्षक और विद्यार्थी, दोनों ही कताईके बारेमें कुछ नहीं जानते हैं। मैंने प्रधानाध्यापक-को उचित निर्देश दिया है और वह उस योजनाके अनुसार काम करनेको राजी हो गये हैं। मैं आशा करता हूँ कि एक महीनेके अन्दर मुझे शालाके बारेमें सन्तोषजनक सूचना भेजी जायेगी।

आगे बोलते हुए उन्होंने कहा कि नगरपालिकाएँ चाहें तो बहुत-कुछ काम कर सकती हैं। वे न केवल खद्दर कार्यके लाभके लिए वरन् स्वयं अपने लाभके लिए खद्दर कार्यकी काफी प्रगति कर सकती हैं।

इसके बाद उन्हें २००० रुपयेकी एक थैली भेंट की गई जिसपर उन्होंने कहा कि समस्तीपुरको इतना कम चन्दा नहीं देना चाहिए।

[अंग्रेजीसे]

सर्चलाइट, २६-१-१९२७

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

गांधीजीके प्रश्न और श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा दिये गये उनके उत्तर[1]

प्रश्न १ : आत्मा क्या है? वह कुछ करता है? उसपर कर्मका प्रभाव पड़ता है या नही?

उत्तर : जिस प्रकार घट-पटादि जड़ पदार्थ है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप है। घट-पटादि अनित्य है; उनकी स्थिति ऐसी नही है कि वे त्रिकालमें एक रूप बने रह सकें। पर आत्मा तो अखण्ड एक स्वरूपसे त्रिकालमें सुप्रतिष्ठित रहनेवाला नित्य पदार्थ है। नित्य पदार्थ वह होता है जिसकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे नही हुई हो। आत्माका निर्माण किन्ही संयोगोंसे बन पड़ता हो, ऐसा प्रतीत नही होता; क्योंकि जड़ताके भले ही हजारो सम्मिश्रण-संयोग किये जायें, उनसे चेतनकी उत्पत्ति हो सकना असम्भव ही है। जो धर्म जिस पदार्थमें है ही नही, ऐसे अनेक पदार्थ एकत्रित किये जानेपर भी उनसे उस धर्मकी उत्पत्ति नही हो सकती जो उन पदार्थोंमें है ही नही — इस सत्यकी प्रतीति प्रायः सभीको हो सकती है। घट-पटादि जड़ पदार्थोंमें ज्ञान-स्वरूपता दृष्टिगोचर नही होती। ऐसे पदार्थोंका रूपान्तर किया जाये और पुनः उनका सम्मिश्रण किया जाये अथवा हो जाये तब भी वे उसी जातिके होंगे अर्थात् जड़स्वरूप ही रहेंगे, ज्ञानस्वरूप नही। तब फिर वह आत्मा जिसे ज्ञानीजन मुख्य रूपसे ज्ञानस्वरूप कहते है, इन घट-पटादि (पृथ्वी, जल, वायु, आकाश जैसे) पदार्थोंके सम्मिश्रणसे किसी भी प्रकार उत्पन्न हो, यह सम्भव नही है। ज्ञानस्वरूपत्व आत्माका मुख्य लक्षण है और इसका अभाव ही जड़त्वका मुख्य लक्षण है। जड़ और चेतन दोनोंके ही अपने-अपने ये अनादि सहज स्वभाव है। इस प्रकार इनसे अथवा ऐसे हजारों प्रमाणोसे आत्माके नित्यत्वका प्रतिपादन किया जा सकता है और इसका विशेष गहन विचार किया जाये तो हमें अनुभूति होगी कि आत्मा अपने सहज स्वरूपसे ही नित्य (शाश्वत) है। अतः यह मान लेनेमें कोई दोष या बाधा नही है कि जिस आत्माकी सत्तासे हम सुख-दुःखादिका अनुभव करते है, इन सुख-दुःखोंसे निवृत्ति चाहते है, चिन्तन करते हैं, प्रेरित होते है, वह आत्मा मुख्य रूपसे चेतन (ज्ञान)-धर्मा है और इसी भावमें या इसी स्थितिमें वह त्रिकालाबाधित नित्य पदार्थ है। बल्कि ऐसा करते हुए हम सत्यको ही स्वीकार करते है और जो कि एक अच्छी बात है।

१. गांधीजी द्वारा पूछे गये प्रश्नोंके लिए देखिए खण्ड १, पृष्ठ ९१-९२ भी। श्रीमद् राजचन्द्रने इन प्रश्नोंका जवाब बम्बईसे लिखा था जिसपर शनिवार, आसो वद ६, १९५० [२० अक्टूबर, १८९४] तिथि पड़ी हुई थी।

आपका यह प्रश्न तथा कितने ही दूसरे प्रश्न ऐसे हैं कि जिनके लिए लिखने, चर्चा करने और समझानेकी विशेष आवश्यकता है। इस प्रश्नके लिए यथोचित रूपसे लिखकर उत्तर दिया जाना अभी कठिन है। इसी कारण आपको 'षड्दर्शन समुच्चय' ग्रन्थ पहले भेजा था ताकि उसे पढ़ने और विचार करनेसे आपको, थोड़ा ही सही, समाधान हो। और हो सकता है इस पत्रसे भी कुछ विशेष रूपसे समाधान हो। क्योंकि इस सम्बन्धमें ऐसे अनेक प्रश्न उठाये जाने योग्य हैं, जिनका बारम्बार समाधान होनेपर तथा चिन्तन करनेपर समावेश होनेकी सम्भावना है।

(२) ज्ञानकी स्थितिमें अर्थात् आत्मस्वरूपके यथार्थ बोधसे उत्पन्न स्थितिमें, यह आत्मा निजभावका अर्थात् ज्ञान, दर्शन (यथास्थित निर्धार) और सहज समाधि-परिणामका कर्त्ता है। वही अज्ञानकी स्थितिमें क्रोध, मान, माया, लोभादि प्रवृत्तियोंका कर्त्ता है; और इन भावोंका परिणाम-भोक्ता होते हुए भी प्रसंगवशात् घट-पटादि पदार्थोंका नैमित्तिक कर्त्ता है अर्थात् इन पदार्थोंके मूल द्रव्यका कर्त्ता नहीं परन्तु इन्हें आकार प्रदान करनेवाली क्रियाका कर्त्ता-मात्र है। उसकी इस पिछली स्थितिको जैनधर्म 'कर्म' कहता है; वेदान्त इसका 'भ्रान्ति' के नामसे उल्लेख करता है और अन्य मतमतान्तर भी इसीके अनुसार विभिन्न नाम देते हैं। पर यदि हम ठीक विचार करें तो आत्मा घट-पटादि पदार्थोंका तथा क्रोधादि भावोंका कर्त्ता हो ही नहीं सकता; वह तो केवल ज्ञान-परिणामका ही कर्त्ता है और मात्र निज-स्वरूपमें प्रतिष्ठित है— इस बातका हमें स्पष्ट बोध होगा।

(३) अज्ञान भावसे किये गये कर्म प्रारम्भमें बीज रूप बनते हैं और कालान्तरमें (कालके संयोगसे) वृक्ष रूपमें प्रतिफलित होते हैं अर्थात् इन कर्मोंका भोग आत्माको भोगना पड़ता है; जैसे अग्निके स्पर्शसे उष्णताका सम्बन्ध होता है और उसके परिणामस्वरूप सहज वेदनाकी प्रतीति होती है। ठीक इसी प्रकार आत्माको भी क्रोधादि भावनाके कर्त्तापनके कारण जन्म-जरा और मृत्यु आदिके वेदनापूर्ण परिणाम भोगने पड़ते हैं। इस विचारपर आप विशेष रूपसे चिन्तन करें और इस विषयमें जो प्रश्न उठें, मुझे लिखें; क्योंकि अपनी समझके अनुसार निवृत्तिके लिए प्रयत्न करते रहनेपर ही जीव मोक्ष दशा प्राप्त करता है।

प्र० २: ईश्वर क्या है? क्या यह सच है कि वह जगत्कर्त्ता है?

उ० : (१) हम और आप तो कर्म बंधनमें फँसे जीव हैं; और जो इस जीवका सहज स्वरूप है अर्थात् कर्म बन्धनसे परे एक-मात्र आत्मस्वरूप — वह ईश्वरत्व है। जो ज्ञानादि ऐश्वर्य सम्पन्न है, वही ईश्वर कहलाने योग्य है और ईश्वरका यह ईश्वरत्व ही आत्माका सहज स्वरूप है, कर्म बन्धनोंमें जिसकी प्रतीति नहीं होती। परन्तु यह जाननेपर कि कर्म-बन्धन उसका निजस्वरूप नही है प्रत्युत कोई भिन्न रूप है, आत्मा निज स्वरूपमें अन्तर्दृष्टि करता है और तब अनुक्रमसे सर्वज्ञता आदि ऐश्वर्यकी अनुभूतिकी प्रतीति स्वयं अपनेमें ही करता है। विश्वके समस्त पदार्थोंको देखते हुए आत्मासे बढ़कर विशेष ऐश्वर्य सम्पन्न पदार्थकी अनुभूति हमें नहीं होती। अतः मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर आत्माका ही दूसरा पर्याय है और वह आत्मासे भिन्न कोई विशेष सत्तासम्पन्न पदार्थ नहीं है।

(२) वह जगत्का कर्त्ता नही है; अर्थात् परमाणु, आकाशादि जड़ पदार्थ भी नित्य हैं; वे किसी अन्य पदार्थसे निर्मित होने योग्य नही हैं। यदि यह माना जाये कि वे ईश्वर द्वारा निर्मित हैं तो यह भी उचित नही है, क्योंकि ईश्वरको चेतन स्वरूप माना जाये तो उससे परमाणु, आकाशादिकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? चेतनसे जड़की उत्पत्ति हो, यह सम्भव ही नही है। और यदि हम ईश्वरको जड़ मान लेते हैं तो स्वाभाविक ही वह ऐश्वर्यहीन सिद्ध होगा और उससे जीवरूप चेतन पदार्थकी उत्पत्ति सम्भव नही होगी। यदि उसे जड़-चेतन, उभयरूप माना जाये तो फिर उभयरूप जड़-चेतनमय इस जगत्का ही दूसरा नाम ईश्वर है, यह मानकर सन्तोष कर लेने जैसी बात होगी। जगत्को ईश्वरकी संज्ञा देकर सन्तोष माननेकी अपेक्षा तो जगत्को जगत् कहना अधिक अच्छा होगा। और यदि यह मान लिया जाये कि परमाणु, आकाशादि नित्य पदार्थ है और ईश्वर कर्मादिका फल प्रदाता है, तो भी यह बात सिद्ध नहीं होती। 'षड्दर्शन समुच्चय' में विशेष प्रमाणों द्वारा इस विचारकी पुष्टि की गई है।

प्र० ३ : मोक्ष क्या है?

उ० : क्रोधादि अज्ञानभाव और देहादि, जो आत्माके प्रतिवन्ध हैं, इनमे सर्वथा निवृत्ति और मुक्त होना ही मोक्ष-पद है, ऐसा ज्ञानियोंने कहा है, और सहज विचार करते हुए यह बात प्रमाणभूत लगती है।

प्र० ४ : मोक्षकी प्राप्ति होगी या नहीं, क्या यह बात स्पष्ट रूपसे देह रहते हुए भी जानी जा सकती है?

उ० : एक रस्सीके अनेक लपेटे देकर हाथ बाँधे गये हों तो क्रमशः ज्यों-ज्यों वे लपेटे खोले जायें त्यों-त्यों उस बंधनसे छुटकारेका अनुभव होता है; और इस परिणामकी प्रतीति और अनुभूति होती है कि वह रस्सी अपने लपेटे छोडती जा रही है। इसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानके परिणाम-रूप विविध बन्धनोसे आबद्ध है। ये बन्धन ज्यों-ज्यों छूटते जाते है त्यों-त्यों मोक्षकी अनुभूति होने लगती है और जब ये बन्धन अल्पतम प्रमाणमें रह जाते हैं तब आत्मामें सहज ही निजस्वरूप प्रकाशित हो उठता है तथा अज्ञान-भावरूपी बन्धनसे मुक्त हो सकनेका प्रसंग उपस्थित हो रहा है, ऐसी स्पष्ट अनुभूति उसे होने लगती है। इसी प्रकार अज्ञान-भावकी निवृत्ति होनेपर इस देहके रहते हुए भी आत्मामें अपना निजभाव—आत्मभाव—प्रकट हो सकता है और तब उसे सांसारिक सम्बन्ध-मात्रसे अपनी भिन्नताकी अनुभूति होती है; अर्थात् मोक्ष-पदकी अनुभूति देहके रहते हुए भी सम्भव है।

प्र० ५ : पढनेमें आया है कि मनुष्य, देहके छूटनेपर अपने कर्मानुसार पशुयोनिमें पैदा होता है, पत्थर और वृक्षादि भी बन जाता है; क्या यह मान्यता ठीक है?

उ : जीव देह छोड़नेपर अपने उपार्जित कर्मानुसार गति प्राप्त करता है। अतः वह तिर्यंच (जानवर) भी हो सकता है और पृथ्वीकाय अर्थात् जड़रूप भी धारण कर सकता है और बाकी बची चार इन्द्रियोंसे रहित होकर भी [केवल स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ही] जीवको अपना कर्मभोग भोगनेका प्रसंग आ सकता है, तथापि वह निरा पत्थर अथवा पार्थिव ही बन जाता है, ऐसी बात नही है। प्रस्तर-रूप काया धारण करके भी जीव उसमें अव्यक्त रूपसे जीव ही होता है यद्यपि प्रगट रूपमें हम

उसका अस्तित्व नहीं देख पाते क्योंकि अन्य चार इन्द्रियाँ उस स्थितिमें अव्यक्त (अप्रकट) होती हैं; अतः यह कहा जाता है कि जीव वहाँ 'पृथ्वीकाय रूप' या पार्थिव स्वरूप है। और जब अनुक्रमसे अपना कर्म-भोग भोगकर जीव निवृत्त हो जाता है तो वहाँ परमाणु रूप पत्थर-भर रह जाता है, परन्तु जीव उससे अपना सम्बन्ध छोड़कर चला गया है इसलिए आहारादिका ज्ञान उसे नहीं होता; मतलब यह कि जीव निरा प्रस्तरवत् जड़ बन जाता है, यह बात नहीं है। कर्मके वैषम्यसे चार इन्द्रियोंका संयोग उसमें व्यक्त नहीं हो पाता और केवल स्पर्शेन्द्रियका संयोग-मात्र जीवको जिस कर्मके परिणाम स्वरूप होता है उस कर्मका भोग भोगनेके लिए वह पार्थिव आदि रूपोंमें जन्म लेता है, पर वह निरा पत्थर या पृथ्वी-रूप जड़ नहीं हो जाता; जानवर बनकर भी निरा जानवर ही नहीं बन जाता। देह लेना तो जीवके लिए वेष धारण करना है, वह कोई उसका स्वरूप नहीं है।

[६ और ७][1] छठे प्रश्नका समाधान भी इसीमें हो जाता है। इसी प्रकार ७वें प्रश्नका जवाब भी कि केवल पत्थर या पृथ्वीमें कर्मका कर्तृत्व नहीं है बल्कि उनमें अवतरित जीव ही कर्मका कर्त्ता है; और सो भी दूध और पानीकी तरह है। जिस प्रकार दूध और पानी दोनोंका संयोग होते हुए भी दूध, दूध ही होता है और पानी, पानी, उसी प्रकार कर्मबन्धनके फलस्वरूप एकेन्द्रियादिके संयोगसे जीवको पत्थर या जड़त्व प्राप्त होता है; तथापि अन्ततोगत्वा जीव होगा तो जीवत्व रूप ही और उस स्थितिमें भी उसे 'आहार-भय' आदिका भान तो होता ही है यद्यपि वह रहता अव्यक्तावस्थामें है।

प्र० ८: आर्य धर्म क्या है? क्या सभी धर्मोंकी उत्पत्ति वैदिक धर्मसे ही हुई है?

उ०: (१) आर्य-धर्मकी व्याख्या करते हुए सभी अपने पक्षको आर्य-धर्म कहना चाहते हैं। जैन जैनधर्मको, बौद्ध बुद्ध धर्मको, वेदान्ती वेदान्तको आर्य-धर्म कहें यह साधारण-सी बात है तथापि ज्ञानी पुरुष तो उसीको आर्य-धर्म कहते हैं जो आत्माको निजस्वरूपकी प्राप्ति करवानेवाला उत्तम मार्ग है और यही समुचित है।

(२) सभी धर्मोंकी उत्पत्ति वेदोंसे हो यह संभव नहीं जान पड़ता। वेदोंमें जितना कुछ ज्ञान कहा गया है उससे सहस्र गुना कहीं अधिक गहन ज्ञान श्री तीर्थंकरादि महात्माओंने कहा है, ऐसा मेरा अनुभव है। और इसके आधारपर मैं जानता हूँ कि अल्प पदार्थमें से सम्पूर्णका आविर्भाव नहीं हो सकता और इसलिए वेदोंसे ही सबकी उत्पत्ति है ऐसा कहना समुचित नहीं जान पड़ता। वैष्णवादि सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति वेदोंसे हुई है ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। जैन और बौद्ध तथा अन्तिम महावीरादि महात्माओंसे पूर्व वेद थे, ऐसा जान पड़ता है। यों वे अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ हैं, यह भी जान पड़ता है, तथापि जो कुछ प्राचीन है, वही सम्पूर्ण है या सत्य है ऐसा नहीं कहा जा सकता और न यही कहा जा सकता है कि जो वेदोंके बाद प्रवर्तित हुए हैं वे असम्पूर्ण और असत्य हैं। बाकी वेदोंमें अभिव्यक्त विचार और जैन धर्ममें अभिव्यक्त विचार तो अनादि कालसे चले आते हैं। भाव-मात्र अनादि हैं। हाँ,

१. मूलमें ये प्रश्न गांधीजीके शब्दोंमें नहीं हैं, इसलिए इन्हें खण्ड १ में शामिल नहीं किया गया है।

उसका रूपान्तर होता रहता है। केवल उत्पत्ति या निरा विनाश नही हुआ करता। वैदिक, जैन तथा अन्य सभी धर्मोके मन्तव्य अनादि है ऐसा मान लेनेमें कोई आपत्ति नही हो सकती। तब फिर विवाद किसलिए? तथापि इन सबमें विशेष बलवान और सत्य मान्यताएँ किसकी है यह बात मेरे और आपके तथा हम सबके लिए विचारणीय है।

प्र० ९: वेदोंकी रचना किसने की? क्या वे अनादि है? यदि वे अनादि हैं तो अनादिके क्या मानी हैं?

उ०: (१) यह सम्भव है कि वेदोकी रचना हुए बहुत काल बीत चुका हो।

(२) ग्रंथ-रूपसे कोई शास्त्र अनादि नही हो सकता। किन्तु उनमें निहित तत्त्वके अनुसार तो सारे शास्त्र अनादि है; क्योंकि ऐसे विभिन्न तत्त्वविचार भिन्न-भिन्न जीव भिन्न-भिन्न प्रकारसे कहते आये हैं और यही सम्भावना ठीक प्रतीत होती है। यों तो क्रोधादि भाव भी अनादि है और इसी प्रकार क्षमादि भाव भी; हिंसादि धर्म भी अनादि है और अहिंसादि धर्म भी; किन्तु हमारे लिए कर्त्तव्य रूप वही हो सकता है जो जीवके लिए कल्याणकारी है। अनादि तो दोनों ही है। यह ठीक है कि कभी एककी प्रबलता होती है और कभी दूसरेकी।

प्र० १०: 'गीता' का रचयिता कौन है? वह ईश्वरकृत तो नही है? यदि ऐसी बात हो तो इसका क्या प्रमाण है?

उ०: (१) ऊपर दिये गये उत्तरोंसे इस सम्बन्धमें समाधान होनेकी सम्भावना है। ईश्वरकृतका अर्थ यदि हम ज्ञानी (सम्पूर्ण ज्ञानी) करें तो 'गीता' ईश्वरकृत है ऐसा कहा जा सकता है। पर यदि हम ईश्वरको 'नित्य अक्रिय,' आकाश तत्त्वकी तरह व्यापक मानें तो उसके द्वारा पुस्तकादिकी ऐसी उत्पत्ति होना सम्भव प्रतीत नही होता; क्योंकि यह तो एक साधारण कार्य है और जिसके कर्तृत्वका एक आरम्भ होता है। ऐसा कार्य अनादि नही होता।

(२) 'गीता' के रचयिता व्यासजी भी माने जाते हैं। महात्मा श्रीकृष्णने यह ज्ञान अर्जुनको दिया था; अतः मुख्य रूपसे रचयिता श्रीकृष्ण ही कहलाते है और यह सम्भव प्रतीत होता है। 'गीता' एक श्रेष्ठ ग्रंथ है यह मान्यता अनादि कालसे चली आ रही है। किन्तु वे ही श्लोक अनादि कालसे चले आ रहे है, यह सम्भव नही। ठीक इसी प्रकार ईश्वर जो कि अक्रिय है उसके द्वारा इसकी रचना हुई हो यह भी सम्भव प्रतीत नही होता। यह तो सक्रिय अर्थात् किसी देहधारी द्वारा किया गया कार्य ही हो सकता है। अतः यह बात माननेमें कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि जो सम्पूर्ण ज्ञानी हैं, वे ईश्वर हैं और ऐसे ज्ञानियों द्वारा प्रबोधित शास्त्र ईश्वरीय शास्त्र है।

प्र० ११: क्या यह सच है कि पशु आदिके यज्ञसे किंचित्मात्र भी पुण्यकी सम्भावना है?

उ०: पशुके वधसे, हवनसे या कि उसे दुःख देनेमें पाप ही है, फिर भले ही ऐसा यज्ञमें किया जाये या ईश्वरके धाममें बैठकर किया जाये। हाँ, यज्ञमें जो दानादि क्रियाएँ की जाती है वे अवश्य कुछ पुण्यका हेतु हो सकती है किन्तु हिंसा-मिश्रित होनेसे वे भी अनुमोदन करने योग्य नहीं है।

प्र० १२: यदि यह कहा जाये कि अमुक धर्म उत्तम है तो क्या उसके लिए प्रमाणकी माँग की जा सकती है?

उ०: प्रमाण न माँगा जाये और अमुक धर्म उत्तम भी है बिना प्रमाण ही यदि ऐसा प्रतिपादन किया जाये तब तो अर्थ और अनर्थ, धर्म और अधर्म सभी श्रेष्ठ ही माने जायें। उत्तम-अनुत्तम तो प्रमाण द्वारा ही जाने जा सकते हैं। जो धर्म संसारको परिक्षीण करनेमें सर्वोत्तम और आत्माको निजस्वरूपमें प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ हो वही उत्तम और समर्थ है।

प्र० १३: ईसाई धर्मके सम्बन्धमें आप कुछ जानते हैं? यदि आप कुछ जानकारी रखते हैं तो अपने विचार व्यक्त करें।

उ०: ईसाई धर्मके सम्बन्धमें मैं साधारणरूपसे कुछ जानकारी रखता हूँ। भारतवर्षमें महात्मा पुरुषोंने जैसे धर्मका अन्वेषण एवं चिन्तन किया है वैसे धर्मका चिन्तन-परिशीलन और किसी देशमें नहीं किया गया, यह बात तो थोड़ेसे अध्ययन द्वारा ही जानी जा सकती है। इस ईसाई धर्ममें जीवको सदा पराधीन ही प्रतिपादित किया गया है और मोक्षको लेकर भी जीवकी वैसी ही स्थिति मानी है। जिस धर्ममें जीवके अनादि स्वरूपका प्रतिपादन समुचित रूपसे नहीं किया गया हो और न कर्म व्यवस्था तथा उसकी निवृत्तिके सम्बन्धमें ही योग्य विवेचन किया गया हो, वह धर्म सर्वोत्तम धर्म है, मेरी दृष्टिमें यह कदापि सम्भव नहीं हो सकता। ईसाई धर्ममें जैसा कि मैंने ऊपर कहा है वैसा कोई यथोचित समाधान नहीं दीख पड़ता। मतभेदके वशीभूत होकर मैं यह बात नहीं लिख रहा हूँ। यदि आपको विस्तारसे पूछनेकी आवश्यकता प्रतीत हो तो पूछें। विस्तारसे पृच्छा करनेपर विशेष समाधान करना सम्भव हो सकेगा।

प्र० १४: वे (ईसाई धर्मवाले) कहते हैं कि 'बाइबिल' ईश्वर प्रेरित है और ईसामसीह ईश्वरके अवतार, उसके पुत्र, हैं और थे।

उ०: यह बात तो श्रद्धाके आधारपर मानी जा सकती है परन्तु प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है। जैसा कि 'गीता' और 'वेद'के ईश्वर प्रेरित होनेके बारेमें ऊपर कहा गया है, ठीक वही बात 'बाइबिल'के बारेमें भी मानी जाये। जो जीवन-मृत्युसे मुक्त हो वह ईश्वर अवतार ले यह सम्भव नहीं, क्योंकि रागद्वेषादि परिणाम ही जन्मके हेतु हैं, जो इनसे रहित है वह ईश्वर अवतार धारण करे — विचार करनेपर यह बात यथार्थ प्रतीत नहीं होती। ईसामसीह ईश्वरके पुत्र हैं और थे इसे भी किसी रूपकके तौरपर मान लिया जाये तो बात जम सकती है अन्यथा प्रत्यक्ष प्रमाणके आधारपर तो इसमें बाधा ही पहुँचती है। ऐसी यह और इसी प्रकारकी अन्य बातें विचारणीय हैं और इनका विचार करनेपर मुझे लगता है कि यह बात समुचित नहीं है।

प्र० १५: 'पुराना करार'में जो भविष्य कथन किया गया है, क्या वह ईसाके जीवनमें खरा उतरा है।

उ०: यदि ऐसा हो भी तो उन दोनों शास्त्रोंके विषयमें विचार करना आवश्यक है। इसी प्रकार वह भविष्य भी इस बातका सबल प्रमाण नहीं है कि ईसामसीह

ईश्वरके अवतार हैं। ज्योतिषादिके जरिये भी महात्माओंके आगमनकी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। या भले ही वह बात किसी अन्य ज्ञानके आधारपर कही गई हो पर वे भविष्यवेत्ता उस सम्पूर्ण मोक्ष मार्गके ज्ञाता थे यह निश्चित प्रमाणोंसे सिद्ध नही हो जाता तबतक तो वह भविष्य आदि केवल श्रद्धाग्राह्य प्रमाण ही हैं। और फिर दूसरे प्रमाणोंके जरिये उसमें बाधा नही आयेगी यह बात भी समझमें नही बैठती।

प्र० १६[1]: ईसामसीहके सम्बन्धमे चमत्कारोंकी बात कही जाती है?

उ०: शरीरसे जब जीव निकल चुका हो, और फिर उसी जीवको उसी शरीरमें प्रविष्ट कराया गया हो या कि किसी अन्य जीवको उसमें दाखिल किया हो, यह बात सम्भव नही जान पड़ती। और यदि ऐसा होना सम्भव हो तो कर्मादिकी व्यवस्था निष्फल मानी जायेगी। योगादिकी सिद्धियो द्वारा अनेक चमत्कार होते हैं। ऐसे ही कुछ चमत्कारोंका होना ईसामें साफ झूठ या असम्भव है, यह नहीं कहा जा सकता। पर ये सिद्धियाँ आत्माके ऐश्वर्यके सामने अत्यन्त क्षुद्र हैं। आत्माका ऐश्वर्य तो इनसे अनन्त गुना अधिक है। इस सम्बन्धमे प्रत्यक्ष मिलकर चर्चा की जा सकती है।

प्र० १७: अगला जन्म किस योनिमें होगा, क्या यह बात इस जीवनमें जानी जा सकती है? अथवा पिछले जन्ममें क्या थे, यह बात भी।

उ०: यह सम्भव है। जिसे निर्मल ज्ञानकी उपलब्धि हो चुकी है उसे यह ज्ञान हो सकता है। बादल आदि लक्षणोसे बरसातका अनुमान होता है। उसी प्रकार जीवकी इस जीवनकी चेष्टाओंके आधारपर यह भी जाना जा सकता है कि इस जीवके पूर्व-कारण क्या रहे होगे। यह हो सकता है, कुछ ही अंशोमें यह बात जानी जा सकती हो। इसी प्रकार जीवकी ये चेष्टायें भविष्यमें क्या परिणाम लायेंगी यह भी उसके स्वरूपसे जाना जा सकता है। और यदि इस सम्बन्धमें विशेष चिंतन किया जाये तो यह बात भी ठीक ढंगसे जानी जा सकती है कि अगला जन्म कैसा होगा और पिछला क्या था।

प्र० १८: यह बात कौन जान सकता है?

उ०: इसका जवाब ऊपर दिया जा चुका है।

प्र० १९: आप उन लोगोंके नाम देते हैं, जिन्हें मोक्ष-प्राप्ति हुई है? इस बातका आधार क्या है?

उ०: यदि यह बात खास तौरसे मुझे सम्बोधन करते हुए पूछी जा रही है तो इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि जिसकी सासारिक वृत्तियाँ परिक्षीण हो चुकी हैं, वह व्यक्ति इस प्रकार बोलता है, उसकी चेष्टाएँ ऐसी होती हैं, इसकी अनुभूति मनुष्य अपनी खुदकी आत्मामें कर सकता है और इनके आधारपर बतला सकता है कि किसी मनुष्यका मोक्ष हो चुका है या नही। बहुतांशमे यह अनुमान ठीक ही होता है। ऐसी मान्यताके लिए शास्त्रादिके प्रमाण भी मिल सकते है।

1. खण्ड १ में यह प्रश्न नहीं दिया गया है।

प्र० २० : बुद्धदेवको भी मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ, यह बात आप किस आधारसे कहते हैं ?

. उ० : बौद्ध शास्त्रके सिद्धान्तोंके आधारपर। जैसा उनका शास्त्र-सिद्धान्त है, यदि उनका अभिप्राय (मान्यताएँ) भी वही हो तो उनकी वे मान्यताएँ पूर्वापर विरोधी लगती हैं; और यह सम्पूर्ण ज्ञानका लक्षण नहीं माना जा सकता है।

जबतक सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता तबतक सम्पूर्ण राग-द्वेषका नाश होना सम्भव नहीं; और जबतक राग-द्वेषका क्षय सम्भव नहीं तबतक संसार तो बना ही रहेगा। अतः ऐसे मनुष्यको केवल मुक्ति मिल गई है यह नहीं कहा जा सकता। और यदि यह कहा जाये कि उनका मन्तव्य जो-कुछ उन्होंने अपने शास्त्रोंमें कहा है उससे भिन्न था तो यह बात अन्य साधनों द्वारा जानना हमारे-आपके लिए कठिन कार्य होगा। और इतना होते हुए भी यदि यह कहा जाये और कारणपूर्वक कहा जाये कि बुद्धदेवकी मान्यताएँ जुदा थीं तो ऐसी भी कोई बात नहीं है, यह कथन प्रामाणिक नहीं माना जायेगा।

प्र० २१ : दुनियाकी अन्तिम स्थिति क्या होगी ?

उ० : सारे जीव मोक्ष पा जायेंगे या कि सारी दुनियाका नाश हो जायेगा, यह बात मुझे विश्वसनीय नहीं लगती। इसका प्रवाह तो ज्योंका-त्यों बना रहेगा, यही सम्भव जान पड़ता है। यह सम्भव है कि कोई भाव रूपांतरित होकर क्षीण होगा और कोई वर्धमान। इस सृष्टिकी स्थिति ही यह है कि एक क्षेत्रमें जहाँ एक भाव क्षीण होगा दूसरेमें वृद्धिको प्राप्त होगा। इसके आधारपर और एक गहरे विचारके बाद यह समझ पाना सम्भव प्रतीत होता है कि इस सृष्टिका सर्वथा विनाश या प्रलय हो जाये, यह बात असम्भव है। और सृष्टिका मतलब केवल एक-मात्र यही सृष्टि मानी जाये, सो बात भी नहीं है।

प्र० २२ : क्या इस अनीतिसे उबरकर नीतिका आविर्भाव होगा ?

उ० : इस प्रश्नका उत्तर सुनकर वह व्यक्ति जो अनीतिकी इच्छा करता है, इससे लाभ उठा सकता है पर यह उचित नहीं होगा कि ऐसा होने दिया जाये। 'भाव'-मात्र अनादि हैं — नीति, अनीति सब। परन्तु आप और मैं यदि अनीतिको त्याग कर नीतिको अपनायें तो यह सम्भव है कि हम उसे ग्रहण कर पायें; और आत्माका कर्त्तव्य भी यही है। हाँ, जीवोंमें आश्रित जो अनीति है उसका सर्वथा उन्मूलन हो जाये और केवल नीतिकी ही स्थापना हो जाये, यह बात नहीं कही जा सकती क्योंकि एकमात्र एक ही स्थिति हो जाये, यह सम्भव नहीं जान पड़ता।

प्र० २३ : क्या दुनियाका प्रलय होगा ?

उ० : यदि प्रलयका मतलब एकान्तिक विनाश किया जाये तो यह सम्भव नहीं जान पड़ता क्योंकि 'पदार्थ'का सर्वथा विनाश तो सम्भव ही नहीं है। और प्रलयका मतलब सारे पदार्थोंका ईश्वरादिके प्रति लीन होना है तो कई लोग हैं जो इस सिद्धान्तको मानते और स्वीकार करते हैं। पर मुझे यह सम्भव नहीं जान पड़ता क्योंकि यह संयोग कैसे बन सकता है कि सारे पदार्थ और सारे जीव इस प्रकार 'सम परिणाम'को

प्राप्त हो जायें। और यदि यह बात सम्भव हो तो पुनः विषमताकी स्थिति कैसे बन पड़ेगी? प्रकृति-स्वरूपमे जीवमें विषमता हो सकती है और साकार स्वरूपमें ममत्व — यदि प्रलयकी बात इस प्रकार स्वीकार की जाये तो भी देहादिके आश्रयके बिना विषमताका आधार क्या होगा? यदि देहादि सम्बन्ध मान लिया जाये तो हमें सबके लिए एकेंद्रियत्वका भाव मानना होगा और उसे मान लेनेपर अकारण ही हमें अन्य गतियोंको अस्वीकार करना होगा अर्थात् ऊँची गतिवाले जीवके लिए, जो आवागमनके चक्करसे मुक्त होने जा रहा है, अपनी उस गतिसे च्युत होनेका प्रसंग उपस्थित होगा — इस प्रकार अनेक शंकास्पद बातें खड़ी होंगी। अतः सर्व जीवाश्रयी एकान्तिक प्रलय सम्भव प्रतीत नही होता।

प्र० २४: क्या यह सम्भव है कि एक अपढ़ व्यक्तिको भी भक्तिके सहारे मोक्ष मिल जाये?

उ०: भक्ति ज्ञानका कारण है और ज्ञान मोक्षका। अक्षरज्ञान न होनेसे ही किसीको अपढ़ कहा जाये और इसलिए यह माना जाये कि उसे भक्ति प्राप्त नही होगी तो ऐसी कोई बात नही है। जीव-मात्र ज्ञान-स्वभावी है। भक्तिका बल पाकर ज्ञान निर्मल होता है और निर्मल ज्ञान मोक्षका हेतु होता है। सम्पूर्ण ज्ञानकी समा-वृत्ति हुए बिना पूर्ण मोक्षकी प्राप्ति मुझे सम्भव नही जान पड़ती। और सम्पूर्ण ज्ञान होनेपर समस्त भाषा-ज्ञान होना अनिवार्य है, यह कहनेकी आवश्यकता नही। भाषा-ज्ञान ही मोक्षका हेतु होता है और वह जिसे नही होता उसे मोक्ष प्राप्ति नही होती, ऐसे किसी नियमकी सम्भावना नही है।

प्र० २५: कृष्णावतार और रामावतार क्या सच्ची बातें है? यदि है तो उनका क्या आशय है? क्या वे ईश्वर थे या उसके अंशावतार? उनको माननेसे मोक्ष प्राप्तिकी सम्भावना है?

उ०: (१) दोनों ही महात्मा थे यह तो मेरा भी निश्चय है। वे आत्मस्वरूप थे इसलिए ईश्वर भी थे। यदि उनके सारे आवरण नष्ट हुए हों तो इस बातमे भी कोई विवाद नही कि उन्हें मोक्ष-प्राप्ति हुई हो। कोई जीव ईश्वरका अंश है ऐसा मुझे नही जान पड़ता क्योंकि इसके विरोधमें अनेक प्रमाण देखनेमे आते है। जीवको ईश्वरका अंश मान लेनेपर बन्धन और मोक्ष आदि सब व्यर्थ सिद्ध होंगे क्योंकि उस स्थितिमें स्वयं ईश्वर ही अज्ञानादिका भी कर्त्ता हो जायेगा; और जो अज्ञानादिका कर्त्ता हो उसे तो स्वाभाविक ही अनीश्वरत्व प्राप्त होगा और वह अपना ईश्वरत्व खो बैठेगा। यदि ऐसा हो तो जीवका स्वामी बननेके प्रयासमें ईश्वरको हानि उठानेका ही प्रसंग उपस्थित होनेकी सम्भावना है। दूसरी ओर यदि जीवको ईश्वरका अंश मान लिया जाये तो उसके लिए पुरुषार्थ करनेकी कल्पना क्योंकर ठीक बैठेगी। क्योंकि वह स्वयं तो कुछ कर्त्ता-हर्त्ता नही माना जायेगा। इन्ही विविध कारणोंके आधारपर जीवको ईश्वरका अंश माननेके लिए मेरी बुद्धि तैयार नही होती; फिर श्रीकृष्ण या राम-जैसे महात्माओंको उस कोटिमें गिननेकी मेरी बुद्धि क्योंकर हो? वे दोनो ही 'अव्यक्त' ईश्वर थे ऐसा मान लेनेमें एतराज नही, तथापि उनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रकट हो चुका था या नही, यह बात विवादास्पद है।

(२) इसका उत्तर सहज है। जीवके लिए सम्पूर्ण राग-द्वेषका, अज्ञानका अभाव होना ही मोक्ष है। जिस किसीके उपदेशसे यह बात हो सकती हो उसके प्रति श्रद्धा रखी जाये और उसके परमार्थ स्वरूपका चिन्तन किया जाये तथा इस चिन्तनके परिणाम-स्वरूप स्वात्माके सम्बन्धमें भी हमारी वैसी ही निष्ठा प्रतिष्ठित हो जाये और ऐसे महात्माके आत्मस्वरूपमें हमारा एकात्मभाव हो जाये तो मोक्ष प्राप्ति होना सम्भव है। अन्य उपासनाएँ एकान्तिक मोक्षका हेतु नहीं हो सकतीं, वे केवल उसके साधनका हेतु हो सकती हैं; पर यह निश्चित रूपसे होगा ही, ऐसा कहना समुचित न होगा।

प्र० २६: ब्रह्मा, विष्णु, महेश कौन हैं?

उ०: सृष्टिके कारण-रूप तीन गुण मानकर इनके आधारपर यह स्वरूप निर्धारित किया गया हो तो बात ठीक बैठती है तथा ऐसे ही अन्य कारणोंके आधारपर ब्रह्मादिका स्वरूप समझा जा सकता है। पर पुराणोंमें जैसा उनका स्वरूप वर्णन किया गया है वैसा ही वह है ऐसी मान्यतामें मेरा विशेष रुझान नहीं है। क्योंकि पुराणोंमें उपदेशकी दृष्टिसे अनेक स्थलोंपर रूपक वर्णन भी प्रतीत होते हैं। तथापि मुझे लगता है कि हमें भी उपदेशके तौरपर तो उसका लाभ लेना ही चाहिए; पर ब्रह्मादिके स्वरूपकी सैद्धान्तिक व्याख्याके पचड़ेमें नहीं पड़ना चाहिए।

प्र० २७: यदि मुझे साँप काटने आ रहा हो तो मैं उसे काटने दूँ या मार डालूँ? मुझमें उसे अन्य किसी प्रकारसे दूर करनेकी शक्ति नहीं बच गई है — इस स्थितिका खयाल करके ही यह बात पूछ रहा हूँ।

उ०: यदि यह कहा जाये कि आप साँपको काटने दें तो यह बात उलझनमें डाल देती है। तथापि आपने यदि यह मान लिया हो कि 'देह तो अनित्य है' तब फिर इस असार-भूत देहकी रक्षाके लिए आपका उस साँपको मार डालना कैसे उचित माना जा सकता है, जिसे अपने शरीरके प्रति ममत्व है। जिसे अपने आत्महितकी ही चिन्ता है उसे तो ऐसे प्रसंगपर देहका त्याग कर देना ही उचित है। हाँ, जिस व्यक्तिमें आत्महितकी अभिलाषा नहीं जगी है, उसे क्या करना चाहिए? तो इसका उत्तर तो यही दिया जा सकता है कि उसे नरकादिमें भ्रमण करते रहना चाहिए। स्पष्ट ही उसे भी सर्पको मार डालनेका उपदेश तो किस प्रकार दिया जा सकता है? अनार्य-वृत्ति हो तो मारनेका उपदेश दिया जा सकता है। पर ऐसी वृत्ति तो आपमें और मुझमें स्वप्नमें भी न हो, हम यही अभिलाषा करें। संक्षेपमें ये उत्तर देकर अब मैं पत्र पूरा करता हूँ। 'षड्दर्शन समुच्चय' विशेष रूपसे समझनेका प्रयत्न करें। इन प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने जो-कुछ लिखा है उसकी संक्षिप्तताके कारण आपको कही भी कोई दुविधा या असमंजस हो तो आप विशेष रूपसे उसे स्पष्ट करनेको कहें और जो-कुछ आप पत्र द्वारा पूछना उचित समझें, पूछें। मैं बहुत करके उत्तर दूंगा। प्रत्यक्ष भेंटमें विशेष समाधान होगा और यह उचित जान पड़ता है।

[गुजरातीसे]

श्रीमद् राजचन्द्र

परिशिष्ट २

रोमाँ रोलाँका पत्र गांधीजीके नाम

प्रिय मित्र,

आपका सुखद पत्र[1] मिला जो मीराने मुझे भेजा है। इसके लिए मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। लेकिन मेरी समझमें यह नही आया कि कविने आपसे ऐसी क्या बात कही है। 'लिबर-अमीकोरम' में आपके लेखके सम्बन्धमें मैंने ठाकुर [रवीन्द्रनाथ]से न तो कुछ कहा है और न उन्हे कुछ लिखा ही है। इस सम्बन्धमें कविके दलके किसी व्यक्तिसे भी मेरी कोई बातचीत नही हुई। यदि मैं ऐसा करता भी तो केवल उन शब्दोंसे मुझे जो आनन्द मिला है तथा जितना मैं कृतज्ञ हुआ हूँ उसे प्रकट करने-भरके लिए करता। आप-जैसे व्यक्तिकी विवेक-बुद्धिके विरुद्ध शिकायत करनेका विचार मेरे मनमें आ ही कैसे सकता था? आपकी सेवामें मैं स्वयंको अर्पित कर सका तथा आपके विचारोंका संसारमें प्रचार करनेमें सफल हुआ, इसे तो मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ।

मैं तो एक मुक्त दास होनेका दावा करता ही हूँ — इस बातपर आपत्ति करनेका तो सवाल ही नही उठता। ऐसे विचार रखनेका मुझपर आरोप लगाया गया है, यह देखकर मुझे दुख हुआ है।

मै इस बातको बिलकुल नही समझ पाता। निःसन्देह ये सब रिपोर्टें निराधार हैं जो अकारण शुरू होती हैं, फैलनेके साथ-साथ जिनमें नमक-मिर्च लगता जाता है और फिर इतनी ज्यादा गलतफहमी पैदा हो जाती है। इस बातको मनसे बिलकुल मिटा देना चाहिये, क्योंकि यह बिलकुल निर्मूल है।

प्रिय मित्र, मैं आपसे प्रेम करता हूँ, आपका आदर करता हूँ। मेरी विनती है कि आप सदाकी भाँति अपने जीवन-भर मेरे प्रति और दूसरोंके प्रति वैसे ही ईमानदार व्यक्ति बने रहें जो न किसीकी प्रशंसा करता है न चाटुकारिता, और जो उतनी ही बात कहता है, जितनी सोचता है। आपकी उपस्थितिमें मेरा सारा अहकार काफूर हो जाता है।

महादेव देसाईके हस्तलिखित अंग्रेजी मसविदे (एस० एन० १३२८८) की फोटो-नकलसे।

१. देखिए खण्ड ३१, पृष्ठ ५६५।

परिशिष्ट ३

केनियाके भारतीय : डी० बी० देसाईका पत्र

भड़ौच
१२ दिसम्बर, १९२६

महोदय,

मेरे खयालमें अबतक आप जान गये होंगे कि केनिया (ब्रिटिश पूर्व आफ्रिका) की सरकारने हरेक भारतीयपर गैर-वतनी व्यक्ति-करके रूपमें एक पौंडका अतिरिक्त कर लगानेका फैसला किया है। भारतीय नागरिक संघने मुझे अब निम्निलिखित तार भेजा है:

"एक पौंडका अतिरिक्त व्यक्ति-कर केवल एशियाइयोंके लिए है। समाचारपत्रों, सभाओं द्वारा विरोध कीजिए और कांग्रेस तथा सरकारसे विरोध करनेको कहिए।"

इस तारसे ऐसा लगता है कि स्थिति और खराब हो गई है और वे लोग भारतकी जनताकी तथा भारत सरकारकी भी सहायता चाहते हैं। और मुझे कोई शक नहीं है कि ये दोनों ही इस मामलेमें केनियाके भारतीयोंको खुशीसे सहायता देंगे।

मेरे खयालमें यदि मैं आपको इस गैर-वतनी व्यक्ति-करका कुछ इतिहास बता दूं तो वह उपयोगी होगा। गैर-वतनी व्यक्ति-कर संग्रह करनेका अध्यादेश ब्रिटिश पूर्वी आफ्रिकी सरकारने १९१२ में पास किया था, जिसमें १ जनवरी, १९१३ से हरेक गैर-वतनी वयस्क पुरुषसे सालाना १५ रुपये लेनेकी बात थी। उस समय अर्थात् १९१२ में केनिया विधान परिषदमें कोई भारतीय प्रतिनिधि — नामांकित या निर्वाचित — नहीं था, इसलिए 'प्रतिनिधित्वके बिना कर नहीं' के प्रसिद्ध सिद्धान्तके अनुसार भारतीयोंके विरुद्ध लगाया गया १५ रु० का यह गैर-वतनी व्यक्ति-कर बुरा था और अनुचित भी।

फिर, १९२० तक केनिया (उस समय ब्रिटिश पूर्व आफ्रिका) में भारतीय रुपया चालू और वैध सिक्का था, और १९१२ से लेकर मुद्राके परिवर्तनके दिनतक एक रुपया एक शिलिंग और चार पैंसके बराबर था, इसलिए भारतीयोंको हर साल १५ रुपये देने पड़ते थे जो २० शिलिंगके बराबर थे। बादमें रुपयेके स्थानपर फ्लोरिन मुद्रा आ गई और एक फ्लोरिन एक रुपयेके बराबर हो गया (अर्थात् दूसरे शब्दोंमें ब्रिटिश पूर्व आफ्रिकाके स्थानीय कानूनों और अध्यादेशोंमें जहाँ 'रुपये' लिखा रहता था वहाँ उसके स्थानपर 'फ्लोरिन' का प्रयोग होने लगा।) मुद्राके इस परिवर्तनसे गैर-वतनी व्यक्ति-करके लिए १५ फ्लोरिन लिये जाने लगे। १९२२ में ब्रिटिश पूर्व आफ्रिका (केनिया) में मुद्रामें एक और परिवर्तन किया गया जिससे फ्लोरिनके स्थानपर शिलिंग मुद्राकी शुरुआत की गई और दो शिलिंग एक फ्लोरिनके बराबर माने गये। इस प्रकार मुद्राके दूसरी बारके परिवर्तनके कारण इस करके लिए ३० शिलिंग लिये गये और इस प्रकार इस करको कर-दाताओंके बिना किसी दोषके २० शिलिंगके बजाय ३० शिलिंग

कर दिया गया। इससे ५० प्रतिशतकी बढ़ोतरी हुई, जो मानना होगा कि वास्तवमें अनुचित है।

मैं समझता हूँ कि आपको यह जानकारी भी दिलचस्प लगेगी कि जिस भू-क्षेत्रको अब 'केनियाका उपनिवेश और संरक्षित राज्य' के नामसे जाना जाता है, उसमें १० मील लम्बी तटवर्ती भू-पट्टी शामिल है जो जंजीबारके सुलतानके आधिपत्यमें है और जिसके लिए केनियाकी सरकार, जिस दिनसे उसने देशका शासन सँभाला है उसी दिनसे जंजीबारके सुलतानको सालाना किराया दे रही है। और ब्रिटिश सरकारने जंजीबारके सुलतानके साथ जो संधि की थी उसके अन्तर्गत दोनों पक्ष इस बातपर सहमत हो गये थे कि इस दस मीलकी भू-पट्टीमें रहनेवाले निवासियोंपर उन करोंके अलावा जिनकी परिगणना और उल्लेख तथाकथित संधिमें है, अन्य कोई नये कर नही लगाये जायेंगे और ऐसा समझा जाता है कि इस गैर-वतनी व्यक्ति-कर के लगानेके सम्बन्धमें ब्रिटिश सरकारको जजीबारके सुलतानकी अनुमति प्राप्त नही है।

पिछले महीने केनिया विधान परिषदने गैर-वतनी व्यक्ति-कर (संशोधन) अध्यादेश पास किया है जिसके अनुसार सरकार हरेक गैर-वतनी एशियाई पुरुषसे उपर्युक्त ३० शिलिंगके बजाय ५० शिलिंग लेगी। इस करको तथा दूसरे करोंको (जितना ब्यौरा नीचे दिया गया है) लगानेका कारण यह दिया जाता है कि इससे यूरोपीय और भारतीय बच्चोको शिक्षा दी जायेगी; लेकिन मुझे लगता है कि केनियाकी सरकार उपर्युक्त दलील देते हुए यह भूल गई है कि शुरूसे अबतक केनियाकी सरकार यूरोपीय बच्चोकी शिक्षापर काफी बड़ी राशि व्यय कर चुकी है और वह भी भारतीय बालकों-की शिक्षाकी उपेक्षा करके तथा उनकी शिक्षाको हानि पहुँचाकर। और अबतककी व्यवस्था 'सामान्य कर' में से की जाती थी। लेकिन मुझे लगता है कि भारतीयोंपर कर थोपनेकी दृष्टिसे सरकारने इस नई पद्धतिका प्रयोग किया है जो मेरी रायमें दुष्टतापूर्ण और अनुचित है।

लेकिन केनिया विधान परिषदके दो मनोनीत भारतीय सदस्यों — सर्व श्री जे० बी० पण्ड्या तथा शमसुद्दीन द्वारा पेश की गई अल्पसंख्यक रिपोर्टसे ऐसा लगता है कि केनियाकी सरकारको शिक्षाके लिए ५२,००० पौंडकी जरूरत है और इस राशिका निर्धारण नीचे लिखे प्रकारसे किया गया है।

यूरोपीय	३२,००० पौंड, ९६० बालकोंके लिए अर्थात् प्रति बालक लगभग ३३ पौंड १७ शिलिंग
भारतीय	२०,००० पौंड, २,३१८ बालकोंके लिए अर्थात् प्रति बालक ८ पौंड १२ शिलिंग

इससे कोई भी आसानीसे समझ सकता है कि केनियामें भारतीयोंकी शिक्षाकी कितनी उपेक्षा की गई है। ऊपर बालकोंकी जिस संख्याका उल्लेख किया गया है उसके अलावा २,५४७ भारतीय बालक ऐसे हैं जिनके पास शिक्षा प्राप्त करनेका कोई साधन नही

है। मै मानता हूँ कि यहाँ आपको यह बताना भी फिजूल नहीं होगा कि स्कूल जानेवाले बच्चे प्रति मास जिन-जिन कक्षाओंमें वे पढ़ते हैं उसके मुताबिक क्रमशः २ शिलिंग, ४ शिलिंग और ८ शिलिंग फीस देते हैं, जिसका मतलब यह भी हुआ कि भारतीय बालक अपने यूरोपीय भाई बहनोंकी बनिस्बत कही ज्यादा धन दे रहे हैं, और इस तथ्यपर केनियाकी सरकार ध्यान देना भूल गई।

बहुसंख्यक रिपोर्टमें (जिसपर कमेटीके सदस्य होनेके नाते केनिया सरकारके औपनिवेशिक सचिवके हस्ताक्षर होते हैं), जो केनिया सरकारको पेश की जाती है (और जिस रिपोर्टकी गर्वनर महोदयने बड़ी प्रशंसा की है) और जिसे केनिया विधान परिषदको पास करना है, यह राशि प्राप्त करनेका निम्न ढंग बताया गया है।

मद्यसार (स्पिरिट) २५,०० पौंड, अँगूरी शराब (वाइन) ७,००० पौंड, शैम्पेन ५०० पौड;

घरेलू नौकर (पुरुष) ७,००० पौंड (केवल यूरोपीयोंसे) तथा एशियाई व्यक्ति-कर १२,००० पौड।

उक्त रिपोर्टमें ऐसा कहा गया है और माना गया है कि पहले तीन मुद्दोंसे जो ३२,५०० पौड प्राप्त होने हैं उनमें २४,५०० पौंड तो यूरोपीय देंगे और शेष भारतीय। लेकिन क्योंकि केनिया सरकार अनुपात दिखानेके लिए कोई हिसाब-किताब नहीं रखती, इसलिए किसी पूर्वानुमानपर पहुँचना बुद्धिमत्ता नही होगी। इस ३२,५०० पौंडके अलावा नये करमें १९,००० पौंड शेष रह जाते है जिनका विभाजन यूरोपीयों और भारतीयोंमें करना है; यूरोपीय ७,००० पौंड देंगे और भारतीय १२,००० पौंड।

ऊपरके अनुच्छेदमें जिस घरेलू नौकर-करका उल्लेख किया गया है उसकी अदायगी 'प्रति घर दो नौकरोसे अधिक होनेपर और प्रत्येक घरेलू नौकर (पुरुष) की उम्र स्पष्ट रूपसे १६ वर्षसे अधिक होनेपर दो शिलिंग प्रति नौकर प्रतिमाह होगी'; जिसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे बहुतसे परिवार मिल जायेंगे जिनपर इस करका, जो कि व्यक्तिगत कर नहीं है, बोझ नहीं पड़ेगा। इसके विपरीत, अतिरिक्त एशियाई व्यक्ति-करके सम्बन्धमें प्रत्येक वयस्क एशियाई पुरुषको २० शिलिंग फालतू देने होंगे। यहाँ भी खुले रूपसे अन्याय हुआ है।

एक सदस्यने, जिसने इस बहुसंख्यक रिपोर्टपर हस्ताक्षर किये हैं, केनिया विधान परिषदमें वाद-विवादके दौरान यह कहा: "व्यक्ति-कर के विषयमें यह बात है कि यह खास तौरपर भारतीयोंकी जरूरतोंको पूरा करनेके लिए लगाया गया था, क्योंकि ऐसा महसूस किया गया था कि भारतीय लोग देशमें यूरोपीयोके विपरीत विलास-वस्तुओं पर रुपया खर्च नहीं करते हैं, बल्कि उस रुपयेको देशसे बाहर भेज देते हैं।" उपर्युक्त वक्तव्यसे कोई भी व्यक्ति सहज ही यह जान जाता है कि इस नये करको लगानेमें पूर्वग्रहोंका कितना बड़ा हाथ है। मेरे ख्यालमें एक पौंडके अतिरिक्त नये करके पीछे केनिया सरकारकी मंशा, जिसके शासनकी बागडोर केनियाके गोरे निवासियोंके हाथमें है, केनियाके कानून-परायण भारतीय नागरिकोंको परेशान करना है।

केनियाई भारतीयोंकी ओरसे मेरी आपसे यह प्रार्थना है कि आप इस मामलेको हाथमें लें, और अवसरकी आवश्यकताको देखते हुए इस विषयके साथ न्याय करें। केनियाई भारतीयोंको आप जो सलाह देंगे वे उसकी कद्र करेंगे। अंतमें मैं यह बता दूं कि यदि भारतके लोगोंने या भारत सरकारने इस नये अतिरिक्त करको हटानेके लिए उपाय नहीं किये तो केनिया सरकार १ जनवरी, १९२७ से इसे वसूल करना शुरू कर देगी और यदि इसे एक बार वसूल कर लिया गया तो, जैसा कि मैं समझता हूं, इसे हटवाना मुश्किल हो जायेगा। मेरे खयालमें गौहाटी-कांग्रेसको इस मामलेपर गौर करना चाहिए।

आपका,
डी० बी० देसाई

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, २३-१२-१९२६

सामग्रीके साधन-सूत्र

गांधी स्मारक संग्रहालय, नई दिल्ली: गांधी साहित्य और सम्बन्धित कागजातका केन्द्रीय संग्रहालय तथा पुस्तकालय, देखिए खण्ड १, पृष्ठ ३५९।

साबरमती संग्रहालय: पुस्तकालय तथा संग्रहालय, जिसमें गांधीजीके दक्षिण आफ्रिकी कालके और १९३३ तकके भारतीय कालसे सम्बन्धित कागजात सुरक्षित हैं। देखिए, खण्ड १, पृष्ठ ३६०।

'अमृतबाजार पत्रिका': कलकत्तासे प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक।

'आज': बनारससे प्रकाशित हिन्दी दैनिक।

'नवजीवन': (१९१९-१९३१) गांधीजी द्वारा सम्पादित और अहमदाबादसे प्रकाशित गुजराती साप्ताहिक, जो कभी-कभी सप्ताहमें दो बार भी निकलता था। १९ अगस्त, १९२१ से इसका हिन्दी संस्करण भी आरम्भ किया गया था।

'फॉरवर्ड': कलकत्तासे प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक।

'बॉम्बे क्रॉनिकल': बम्बईसे प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक।

'यंग इंडिया' (१९१८-१९३१): अहमदाबादसे प्रकाशित अंग्रेजी साप्ताहिक।

'लीडर': इलाहाबादसे प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक।

'सर्चलाइट': पटनासे प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक।

'साबरमती': खण्ड ५, वसन्त अंक १९२६: साबरमती आश्रम, अहमदाबादकी राष्ट्रीय पाठशालाकी हस्तलिखित पत्रिका।

'हिन्दुस्तान टाइम्स': नई दिल्लीसे प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक।

'हिन्दू': मद्राससे प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक।

'रिपोर्ट ऑफ द फॉर्टी-फर्स्ट सेशन ऑफ द इंडियन नेशनल कांग्रेस', १९२६।

'गांधीजीनुं गीता-शिक्षण' (गुजराती): सम्पादक, नरहरि परीख; साबरमती आश्रम ट्रस्ट, १९५५।

'बापुना पत्रो: मणिबहेन पटेलने' (गुजराती): सम्पादक, मणिबहन पटेल, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।

'श्रीमद् राजचन्द्र', मनसुखलाल मेहता द्वारा संकलित तथा रेवाशंकर झवेरी द्वारा प्रकाशित पुस्तक।

'हैंड-स्पिनिंग एण्ड हैंड-वीविंग': एस० वी० पुणताम्बेकर और वरदाचारी, अखिल भारतीय चरखा संघ, अहमदाबाद, १९२६।

तारीखवार जीवन-वृत्तान्त

(५ नवम्बर, १९२६ से २० जनवरी, १९२७)

५ नवम्बर: गांधीजी सत्याग्रह आश्रम, साबरमतीमें।

२१ नवम्बर: श्री वी० एस० श्रीनिवास शास्त्रीने गांधीजीसे तीसरे पहर भेंट की।

२८ नवम्बर: गांधीजीने गुजरात विद्यापीठ, अहमदावादके दीक्षान्त समारोहमें भाषण दिया।

३ दिसम्बर: अहमदावादसे वर्धाके लिए रवाना हुए। रास्तेमें सूरतमें रुककर विनय मन्दिर देखा।

४ दिसम्बर: वर्धा पहुँचे।

१९ दिसम्बर: वर्धाकी सार्वजनिक सभाको संदेश भेजा।

२० दिसम्बर: वर्धाकी सार्वजनिक सभामें भाषण दिया।

२१ दिसम्बर: वर्धासे गौहाटीके लिए रवाना हुए। अमरावती और नागपुरकी सार्वजनिक सभाओंमें भाषण दिये। गोदियामें कुछ घंटे ठहरे।

२३ दिसम्बर: कलकत्ता पहुँचे।
स्वामी श्रद्धानन्दजीकी हत्या की गई।

२४ दिसम्बर: गांधीजी गौहाटीके लिए रवाना हुए। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीकी बैठकमें उन्होंने भाषण दिया।

२५ दिसम्बर: गौहाटीकी स्वदेशी प्रदर्शनीके उद्घाटन समारोहमें भाषण दिया।

२६ दिसम्बर: कांग्रेस पंडालमें ध्वजारोहण समारोहके अवसरपर भाषण दिया।
स्वामी श्रद्धानन्दकी हत्या और दक्षिण आफ्रिकामें भारतीय प्रवासियोंके दर्जेसे सम्बन्धित प्रस्ताव रखे और भाषण दिया।

२७ दिसम्बर: कांग्रेसकी विषय समितिमें मताधिकारके नियमको सख्त बनानेकी वांछनीयता पर जोर दिया, ताकि खद्दर न पहननेवालोंको मत देनेका अधिकार न हो।

२८ दिसम्बर: विषय समितिमें स्वतन्त्रताके प्रस्तावपर दो बार बोले। गौहाटी नगरपालिकाकी सभामें भाषण दिया।
एसोसिएटेड प्रेसके प्रतिनिधिको भेंटमें बताया कि अगले साल वह चरखे और खादीके सन्देशके प्रचार-प्रसारका काम करेंगे।
गौहाटीसे कलकत्ताके लिए रवाना हुए।

३१ दिसम्बर: बड़ा बाजार, कलकत्ताके महेश्वरी भवनमें आयोजित बैठकमें भाषण दिया तथा 'शुद्धि' और 'संगठन' के लिए धन संग्रह किया।

२ जनवरी: कलकत्ता और हावड़ाके दलित वर्गके सोलह स्कूलोंके छात्रोंके समक्ष भाषण दिया।

चित्तरंजन सेवासदन, कलकत्तामें भाषण दिया।

अश्विनीकुमार दत्तके स्मारकका शिलान्यास किया।

सोदपुरके खादी प्रतिष्ठानकी कलाशालाके उद्घाटन समारोहमें भाषण दिया।

४ जनवरी: कोमिल्लाके लिए रवाना हुए।

५ जनवरी: कोमिल्लामें अभय आश्रम और सार्वजनिक सभामें भाषण दिये।

६ जनवरी: कोमिल्लामें फ्री प्रेस ऑफ इंडियाके प्रतिनिधिसे भेंट की। महिलाओंकी सभामें भाषण दिया।

९ जनवरी: स्वराज्यके प्रश्नपर बनारसमें डॉ० भगवानदाससे बातचीत की।

काशी विश्वविद्यालय, महिलाओंकी सभा, सार्वजनिक सभा, श्रद्धानन्द स्मारक-सभा तथा अस्पृश्योंकी सभामें भाषण दिये।

१० जनवरी: बनारससे इलाहाबादके लिए रवाना हुए।

११ जनवरी: डाल्टन गंजमें।

१२ जनवरी: धनबादकी सार्वजनिक सभामें भाषण दिया।

१३ जनवरी: धनबाद, कटरास और झरियाकी सार्वजनिक सभाओंमें भाषण दिये।

१५ जनवरी: गया और रमनाकी सभाओंमें भाषण दिये।

१६ जनवरी: छपरा और सिवानकी सभाओंमें भाषण दिये।

१७ जनवरी: छपरामें राजेन्द्रप्रसादके घर ठहरे।

१८ जनवरी: एकमा और महराजगंज गये।

१९ जनवरी: दरभंगाका दौरा किया।

२० जनवरी: मधुबनी और समस्तीपुरकी सभाओंमें भाषण दिये।

शीर्षक-सांकेतिका

विविध

सांकेतिका

उ

ए

ऐ

ओ

औ

क

ख

ग

घ

च

छ

ज

झ

ट

ठ

ड

त

थ

द

प

फ

ब

ह